सम्पादक
शिवदानसिंह चौहान
अमृतराय (सहायक)
रामविलास शर्मा (कविता)

अङ्क ३

वार्षिक ६) : : एक प्रति आठ आना

प्रकाशक

सरस्वती प्रेस, बनारस

वर्ष : १४ | दिसम्बर, १९४३ | अंक : ३

सुमित्रानन्दन पन्त

[राहुल सांकृत्यायन]

सुमित्रानन्दन पन्त हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवि हैं। 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त' हिन्दी की इन त्रिमूर्तियों में से हैं, जिनमें से हर एक अपना-अपना व्यक्तित्व रखता है। पन्त का व्यक्तित्व केवल कविता में है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वह सिर्फ़ कविता के संसार ही में साँस लेते हैं। आँख खोलते ही उन्होंने कौसानी में जो हिमालय के अनुपम सौन्दर्य को देखा था, हो नहीं सकता था कि उनका कवि-हृदय प्रकृति की मनोहर छटा को क्षण भर के लिए भी भूल जाता। बहुत दिनों तक उन्होंने मानव-सन्तानों का प्रकृति की औरस सन्तान होना अस्वीकार किया। मगर प्रकृति के पुजारी को उसके अपने देवता ने ही बतला दिया कि वैसा समझना ग़लत है। प्रकृति चिरतरुणी, चिरविकासोन्मुखी है इसी लिए उसका कवि पन्त भी सदा विकसित होता रहा। पन्त बीसवीं सदी के महान् कवियों में हैं, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन महान् कवि होने के साथ-साथ हिन्दी के लिए उनकी एक और भी बड़ी देन है, वह है हिन्दी की काव्य-भाषा को कोमल और कान्त बनाना। एक सच्चे पारखी की तरह पन्त ने त्रिकाल से मौजूद शब्दों को सेर-छटाँक में नहीं रत्ती और परमाणुओं के भार में तौलकर उनके मोल को बड़ी बारीकी से आँका, और उसे किसी यूनानी प्रस्तरशिल्पी की भाँति अपनी छेनी और हतौड़े को बहुत कोमल और दृढ़ हाथों से काटा-छाँटा, उसे सुन्दर भावों के प्रकट करने का माध्यम बनाया। शब्दों के सुन्दर निर्माण और विन्यास में पन्त अद्वितीय हैं।

जन्म—अल्मोड़ा से ३२ मील उत्तर, समुद्र-तल से साढ़े सात हज़ार फीट ऊपर उपस्थित कौसानी हिमालय की अत्यन्त सुन्दर उपत्यका है। चीड़ और विशाल बाँज (Oak), देवदार और केल से ढँके पर्वतगात्र प्राकृतिक सौन्दर्य में कौसानी को अनुपम बनाते हैं। पिछले महायुद्ध से पहले कौसानी में किसी अँग्रेज का एक विशाल चाय का बगीचा था। साहेब के मुनीम और लकड़ी के ठेकेदार थे पं० गङ्गादत्त पन्त (मृत्यु १९२७)। पं० गङ्गादत्त सीउनराकोट से आकर यहीं—हल्छीना में—बस गये थे। २१ मई सन् १९०० (ज्येष्ठ कृष्ण ८, सं० १९५७) में पं० गङ्गादत्त की पत्नी सरस्वती देवी को चौथा पुत्र पैदा हुआ जिसके संसार में आने के ६ घण्टे बाद ही माँ ने शरीर छोड़ दिया। पिता ने पुत्र का नाम सुमित्रानन्दन पन्त रखा। हरदत्त, रघुवरदत्त, देवदत्त, जैसे नामों के बाद पिता को अपने सबसे छोटे पुत्र का नाम इतना कवितामय रखने का कारण क्या था?

बाल्य—सुमित्रानन्दन को उनकी फूफी ने पाला। वह अपने भाई के पास कौसानी (हच्छीना) में रहा करती थी। फूफी का स्वभाव बहुत नम्र था। पन्त की सबसे पुरानी स्मृति २॥—३ साल की है। बालक सुमित्रानन्दन अपने भाई के हाथ से एक रस्सी खींच रहा था। भाई [illegible] दिया और सुमित्रानन्दन एक जलती हुई अँगीठी में गिर गया, बुरी तरह झुलस गया। [illegible] पैर के अँगूठे में चोट आई। पन्त को [illegible] की पीठ पर चढ़कर वहाँ गया था। माँ के दूध की जगह बालक सुमित्रानन्दन को मिलिन्स फूड (डब्बेवाले दूध) पर पाला गया था। हच्छीना में जिस जगह पं० गङ्गादत्त का घर था उसके आस-पास दो-तीन मील तक कोई घर या टोला नहीं था। हाँ, साहेब का बँगला एक मील दूर पर था, और बग़ीचे में काम करनेवाले १॥—२ हज़ार कुली वहाँ पास में रहा करते थे। यद्यपि सुमित्रानन्दन को बदहज़मी की शिकायत ११ साल तक रहती रही, मगर और तरह से स्वास्थ्य अच्छा और शरीर गोल-मटोल था। चचेरे भाई भी कुछ थे मगर सुमित्रानन्दन सदा घरघुस्सा था। राक्षसों की कहानियाँ, भूतों की कहानियाँ तो बड़े शौक़ से वह सुनता ही था, लेकिन उसके लिए सबसे सुन्दर कहानियाँ थीं बर्फ़ की परियों की। जब बर्फ़ गिर जाती है, तो देवदार और चीड़ के सदा हरित पत्रों पर सफ़ेद गाले की तरह छाकर धरती पर चारों ओर रुपहला फ़र्श बिछा देती है, उस समय परियाँ अपने घरों से निकलती हैं, फिर उनका नाच शुरू होता है। सुमित्रानन्दन को इन परियों के देखने का बड़ा शौक़ था, लेकिन कुछ-कुछ डरता भी था; क्योंकि बुआ और दादी ने कह रखा था कि परियाँ छोटे-छोटे बच्चों को उठा ले जाती हैं। कौसानी में लाल-सफ़ेद रङ्ग के सुन्दर गोल-मटोल पत्थरों की कमी नहीं थी। सुमित्रानन्दन ऐसे पत्थरों को जमा कर फूल-मिठाई से खूब पूजता। घर की स्त्रियों में गाने का शौक था। कभी बहनें गातीं, और कभी दादी देवकी बुढ़ापे के कम्पित स्वर में गुनगुनाती—"माई के मदिरवा में दीपक बारो", जिसे सुनकर सुमित्रानन्दन भी गुनगुनाने की कोशिश करता। मकान के पास विशाल देवदारों का उपवन-सा लगा था, उन्हें निहारना और उनसे गिरते पीले चूर्ण को देखना सुमित्रानन्दन को बहुत पसन्द आता था। कौसानी (कत्यूर घाटी) और हिमालय के बीच में कोई व्यवधान नहीं है, और बालक सुमित्रानन्दन हिमालय के रौप्य-शिखरों को प्रातः-सायं सुवर्णमय होते देख बहुत चकित होता था। कौसानी में साधु अक्सर आया करते थे। पं० गङ्गादत्त पन्त साधुसेवी थे। एक बार पूछने पर गङ्गादत्तजी ने सुमित्रानन्दन के बारे में बतलाया—"यह मेरा सबसे छोटा बेटा है।" साधु ने कहा—"सबसे छोटा या सबसे बड़ा?" हाँ, सुमित्रानन्दन ने पीछे अपने को सबसे बड़ा बेटा साबित किया। सुमित्रानन्दन को न खेलने का शौक़ था न कूदने का, न वह लड़ता झगड़ता था।

शिक्षा—चार-पाँच साल का होने पर पिता ने लकड़ी की तख़्ती पर मृत्तिका-चूर्ण डाल सुमित्रानन्दन को "श्रीगणेशाय नमः" शुरू किया। हच्छीना में एक छोटा-सा स्कूल था, जिसमें चालीस-पचास लड़के पढ़ा करते थे और अध्यापक थे फूफी के लड़के। सुमित्रानन्दन रोज़ स्कूल में जाता। पढ़ने में उसकी दिलचस्पी थी। बड़े भाई अपनी तरुणी पत्नी के मनोरञ्जन के लिए मेघदूत (हिन्दी) को बड़े राग से गाते थे। सुमित्रानन्दन उसे बड़े ध्यान से सुनता था—छन्द को, राग को, अर्थ को। सुमित्रानन्दन को अभी इनके भेद नहीं मालूम थे। भाई के कमरे के बरामदे में पन्त का डेस्क था। भाई और छुट्टियों में आये उनके दोस्त इश्क़िया ग़ज़ल गाया करते

थे। सुमित्रानन्दन को ग़ज़ल की लय अच्छी मालूम हुई और उस सात साल की उम्र में उसने भी अपने पीले काग़ज़ की कापी पर एक ग़ज़ल लिख डाली। १९०९ में सुमित्रानन्दन ने अपर-प्राईमरी दर्जा ४ पास कर लिया था। अँगरेज़ी के स्कूल दूर थे और नौ साल की उम्र में बाहर भेजना पिता पसन्द न करते थे, इसलिए दो साल तक घर ही पर रहते सुमित्रानन्दन पिता और भाई से अँगरेज़ी पढ़ता। बड़े भाई हरदत्त से सुमित्रानन्दन का बहुत प्रेम था।

११ साल की उम्र में (१९११) सुमित्रानन्दन को अल्मोड़ा के गवर्नमेण्ट हाई स्कूल के चौथे दर्जे में दा[illegible] भाई रघुवरदत्त उस समय वहीं नवें दर्जे में पढ़ते थे, इसलिए दोनों सा[illegible]

बचपन ही से सुमित्रानन्दन को साधुओं को देखने-सुनने का बहुत मौक़ा मिलता था। १९१५ में स्वामी सत्यदेव का व्याख्यान सुना। उन्होंने वहाँ एक हिंदी पुस्तकालय की स्थापना की, इससे सुमित्रानन्दन में हिंदी-प्रेम और देशभक्ति का जोश जगा। सुमित्रानन्दन "सरस्वती" और मैथिलीशरण की कविताओं को बड़े शौक़ से पढ़ा करता। १५ साल की उम्र में अपने फुफेरे भाई को सुमित्रानन्दन ने रोला छन्द में एक पत्र भी लिखा। १९१६ में एक पञ्जाबी तरुण साधु अल्मोड़ा में आया। उसके सुन्दर गोरे शरीर पर रेशमी काषाय और भी सुन्दर मालूम होता था। उसके बाहरी वेष-भूषण को ही सुमित्रानन्दन ने ज्ञान-वैराग्य का बाह्य रूप समझा। सुमित्रानन्दन को यह जीवन सुन्दर मालूम होने लगा। महाभारत, रामायण, वैराग्यशतक को वह बड़े चाव से पढ़ने लगा। एक तरफ़ उसका ध्यान योग, वैराग्य की ओर खिंचा हुआ था और वह पढ़ाई के घण्टों को साधु के सत्सङ्ग में बिताता था या धार्मिक पोथियों में डूबा रहता, दूसरी ओर साहित्य की ओर उसकी स्वाभाविक रुचि अब जाग उठी थी। १९१६ में ही "अल्मोड़ा-अख़बार" में पन्त की पहली कविता छपी। इस समय भारत-भारती का छन्द—हरिगीतिका—पन्त को बहुत पसन्द था। साहित्यिक गोविन्दवल्लभ पन्त के भतीजे श्यामाचरण पन्त 'सुधाकर' (१९१६-१७) नाम से एक हस्त-लिखित पत्र निकालते थे। सुमित्रानन्दन बराबर उसमें अपनी कविताएँ देने लगा। उसके दिल में आत्म-विश्वास बढ़ चला था। इसलिए अपने को ज़्यादा साधन-सम्पन्न बनाने के लिए पन्त ने 'छन्द-प्रभाकर', 'काव्य-प्रभाकर' आदि के साथ मध्यकालीन कवियों की कृतियों को बड़े ध्यान से पढ़ा। केशवदास उसे कभी पसन्द नहीं आये। मतिराम और सेनापति पन्त के अत्यन्त प्रिय कवि थे। बिहारी की ओर उसकी रुचि तब गई, जब कि उसने पद्मसिंह की भूमिका को पढ़ा। १९१६ ही में पन्त ने अपने 'तम्बाकू का धुँआ' को 'अल्मोड़ा-अख़बार' में छपवाया था, जिसकी दो पंक्तियाँ हैं—

"सप्रेम पान करके मानव तुझे हृदय में।
रखता जहाँ बसे हैं भगवान विश्व-स्वामी ॥"

धुँआँ पन्त के लिए स्वतन्त्रता का प्रेमी मालूम हुआ। 'सुधाकर' में पन्त अपनी कविता देते थे। लेखों और कविताओं पर मित्र-मण्डली में खण्डन-मण्डन भी होता रहता था। इलाचन्द्र जोशी और श्यामाचरणदत्त पन्त कहा करते कि सुमित्रानन्दन तो मैथिलीशरण का नक़ालची है। 'सुधाकर' में सुमित्रानन्दन उनके आक्षेपों का जवाब भी दे देते, लेकिन साथ ही वह अपने मन में उनके आक्षेप को सत्य भी समझते थे, इसलिए उनकी प्रतिभा स्वच्छन्द होने की फ़िक्र में रहती थी। इसके लिए वह अधिक से अधिक साहित्य को पढ़ते थे। स्कूल के निबन्धों में तो इतने

कठिन-कठिन शब्द इस्तेमाल करते थे कि अध्यापक को भी समझ में नहीं आते थे और वह कह दिया करते कि सुमित्रानन्दन हिन्दी में ज़रूर फ़ेल होगा।

१९१६ में कविता लिखने में वह बहुत व्यस्त रहा करते और एक-एक दिन में दो-दो [illegible] ' में छपी उनकी कविता 'काग़ज़ के फूल' भी उनमें [illegible] उन पर भौंरा भला क्यों आने लगा। इसी को लेकर पन्त ने लिखा था—

"कागज कुसुम बता तू छविहीन क्यों बना है!
तू रूप-रङ्ग में तो उपवन-कुसुम-सदृश है॥"

पन्त को ब्रजभाषा में कविता करने का शौक़ शुरू ही से कभी नहीं हुआ। वह समझते थे कि यह बे ऋतु का गाना होगा। १९१६-१७ की जाड़ों की छुट्टियों में पन्त कौसानी चले गये थे। ठण्डी जगहों में लम्बी छुट्टियाँ गर्मी की जगह जाड़े में होती हैं। यहीं पन्त ने 'अरुण' और 'हिमाचल' आदि कविताएँ लिखीं। इसी समय पन्त ने 'हार' नाम से एक उपन्यास लिखा, जो छपा नहीं। इसमें तरुण-तरुणी का प्रेम और तरुण का संन्यासी बन तिलक के कर्मयोग की ओर जाने का चित्रण है—पन्त स्वयं वैसे संन्यासी बनने की फ़िक्र में थे और स्कूल की एक साल की पढ़ाई को उसी के लिए स्वाहा भी कर दिया।

१९१७ में पन्त ने मिडिल पास किया। छुआछूत का ख़याल पन्त को बचपन ही से नहीं था। कौसानी का साहेब बहुत उदार विचार का था। बालक सुमित्रानन्दन को वह ख़ूब मानता था। जाने पर लाल मिश्री और मिठाइयाँ देता। उसके ख़ानसामा के हाथ से खाने में किसी ने कोई एतराज़ नहीं किया और छुटपन ही से अण्डा उसके खाद्य में शामिल हो गया। बी० ए० करने के बाद बड़े भाई पाँच साल तक घर ही पर रहे। उनके स्वतन्त्र विचारों का प्रभाव पड़ना ही था। इस तरह पुराने ढङ्ग की कट्टरपन्थिता में पड़ना पन्त के लिए सम्भव नहीं था। लेकिन वैसे पन्त की धर्म की ओर रुचि, कुछ बौद्धिक ढङ्ग की, इस समय ज़्यादा थी। आर्यसमाज का उनके ऊपर कुछ असर हुआ था। मूर्ति-पूजा की जगह वह योग को ज़्यादा अच्छा समझते थे और तिलक का गीता-रहस्य उनकी बाइबल थी।

पहाड़ से बाहर—१९१८ में पन्त ने नवाँ दर्जा पास कर लिया था। एक भाई भी बनारस (क्वीन्स कालेजिएट स्कूल) में पढ़ रहे थे। जुलाई (१९१९) में पन्त भी हिन्दू स्कूल में भर्ती होने के लिए चले आये, मगर जगह नहीं मिली, इसलिए उन्होंने जयनारायण स्कूल में नाम लिखा लिया। हिन्दू-विश्वविद्यालय में कविता की प्रतियोगिता हुई। काग़ज़ पेन्सिल ले दो घण्टे में कविता लिख देना था। पन्त प्रतियोगिता में सफल रहे।

नवीन कविता—१९१८-१९ का यह स्कूल का आख़िरी साल है, जब कि अँधेरे में हाथ-पैर मारती पन्त की कविता-सरस्वती ने एक नया रास्ता पाया। उन्होंने "काला बादल" आदि के रूप में एक नई शैली का आविष्कार किया।

"काला तो यह बादल है। कुमुदकला है नहीं किलकती।
वह नभ कैसा निर्मल है, मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ माँ॥"

—पल्लविनी ३७।

इससे पहले पन्त ने कवि रवीन्द्र की कविताओं को पढ़ा था। सरोजिनी की कविताओं ने भी उन पर असर किया था। उन्होंने छन्द और भाषा को ज़्यादा सजीव और सरस बनाने का प्रथम प्रयास किया। 'प्रिय-प्रवास' का स्टाइल उन्हें पसन्द था और शब्दों के चुनाव में भी दूसरों की अपेक्षा उसमें ज़्यादा परिष्कृत रुचि दिखलाई गई थी। पन्त को करुणरस सबसे ज़्यादा प्रिय है। 'प्रिय-प्रवास' के राधा-रुदन को पढ़ते हुए वे अपने आँसुओं को बहाया करते थे। लेकिन तब भी उस समय तक हिन्दी-काव्य में जिस शैली और भाषा का प्रयोग हो रहा था, वह बेरङ्ग-रूप का चटियल मैदा[illegible] १९१९ में पन्त ने मेट्रिक पास किया और दूसरे डिवीज़न में बहुत ज़्यादा न[illegible] कविता की ओर उनकी कोई विशेष रुचि नहीं थी। हाँ बँगला साहित्य के लिए उन्होंने बनारस में बँगला भाषा पढ़ी। उन्होंने इतिहास की विशेष-विशेष घटनाओं को पद्यबद्ध करके रट लिया था।

पन्त ने इस समय तक प्रसादजी के 'झरना' को पढ़ लिया था, लेकिन बनारस में रहते भी, अभी प्रसादजी से मिले नहीं थे। काशी की पूजा-पाखण्ड पन्त को पसन्द न थी। भक्तों के भगवान क़रीब-क़रीब लुप्त हो चुके थे। हाँ, बनारस के फूलों के गजरे उन्हें ज़रूर प्रिय मालूम होते थे। राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं थी।

कॉलेज (प्रयाग में)—अब (२१ जुलाई १९२१) को पन्त म्योर सेन्ट्रल कॉलेज (प्रयाग) में दाख़िल हो गये—अभी प्रयाग-विश्वविद्यालय परीक्षक विद्यालय मात्र था। संस्कृत, इतिहास और तर्कशास्त्र उन्होंने अपने लिए विषय चुने थे। नवम्बर में होस्टल में कवि-सम्मेलन हुआ। पन्त ने 'स्वप्न' कविता पढ़ी—

> "बालक के कम्पित अधरों पर, किस अतीत स्मृति का मृदुहास!
> जग की इस अविरत निद्रा का, करता नित रह-रह उपहास!
> उस स्वप्नों की स्वर्ण-सरित का, सजनि कहाँ शुचि जन्मस्थान!
> मुस्कानों में उछल-उछल मृदु, बहती वह किस ओर अजान!"—पल्लविनी ३७

विद्वानों ने तरुण कवि के कवित्व की दाद दी, श्रोताओं ने बहुत पसन्द किया। अब पन्त नौसिखिये कवि नहीं एक लब्धप्रतिष्ठ कवि हो चुके थे। प्रोफ़ेसर शिवाधार पाण्डे सबसे ज़्यादा प्रभावित हुए। उन्होंने शेक्सपीयर ग्रन्थावली और लफ़्क़ाडियो हर्न की पुस्तकें भेंट कीं। पन्त का अब बहुत-सा समय साहित्य पढ़ने और कविता लिखने में जाता था। कीट्स और शेली की कविताएँ पन्त बहुत पसन्द करते थे।

असहयोग—१९२१ आया। पन्त एफ़० ए० के आख़िरी साल के विद्यार्थी थे। चारों ओर असहयोग की धूम थी। इसी समय महात्माजी प्रयाग पहुँचे। देवदत्त पन्त ने अपने छोटे भाई को इस तूफ़ानी समय में भी कविता और पुस्तकों में डूबे देख एक दिन कहा—"क्या कर रहे हो! महात्माजी का दर्शन भी नहीं करने जाओगे?" पन्त महात्माजी का दर्शन करने आनन्द-भवन गये। महात्माजी ने छात्रों को सम्बोधित करके कहा कि मैं चाहता हूँ कि तुम लोग कॉलेज छोड़ दो। छोड़ने के लिए स्वीकृति देते लोग हाथ उठाने लगे। पन्त ने इसके बारे में कुछ भी नहीं सोचा था। राजनीति की गन्ध भी उन्हें नहीं छू पाई थी। लेकिन आ फँसे थे। दुर्भाग्य से महात्माजी के सामने पहली पाँती में बैठे हुए थे। लाज-शरम के मारे हाथ उठाना ही पड़ा। पन्त ने कॉलेज छोड़ दिया। देवदत्त अपने जहाँ के तहाँ बने रहे। कहने पर उत्तर देते—

"दोनों छोड़ देंगे, तो घरवाले नाराज़ होंगे।" पन्त कवि के रूप में प्रयाग में प्रसिद्ध भी हो चुके थे, इसलिए वह हाथ को उतने हलके दिल से नहीं गिरा सकते थे।

असहयोग करके एकाध सप्ताह पन्त 'इन्डिपेन्डेन्ट' के साइक्लोस्टाईल पर छापने के लिए जाते [illegible] राजनीति इनके लोक की चीज़ हो गई। उनके असहयोग का [illegible] ना-सरस्वती की एकान्त आराधना।

कवि का पहिला पुर [illegible] के एक कवि-सम्मेलन में अपनी कविता 'छाया' पढ़ी थी। सभापति हरिऔधजी ने खुश होकर माला उनके गले में डाल दी। असहयोग के बाद तीन-चार साल तक प्रो० शिवाधार पाण्डे के साथ पन्त का घनिष्ठ सम्पर्क रहा। कालिदास आदि भारतीय कवियों और शेक्सपियर आदि के ग्रन्थों के पढ़ने में ही पाण्डेजी ने सहायता नहीं की, बल्कि वह सदा प्रोत्साहन देते रहते थे। सितम्बर १९२२ में पन्त ने 'उच्छ्‌वास' लिखा और अजमेर में उसे छपाया। शिवाधार पाण्डे ने इसे नया युग कहा, कितने ही और विद्वानों ने हिन्दी में इसे एक नई चीज़ बतलाया। साहित्य सम्मेलन-पत्रिका में किसी ने इसका मज़ाक उड़ाया। 'सरस्वती'-सम्पादक बख्शीजी ने इसे पूरा शब्दाडम्बर कहा। उसकी कुछ पंक्तियाँ थीं—

"—बालिका थी वह भी।
सरलपन ही था उसका मान॥
निरालापन था आभूषन।
कान से मिले अजान नयन॥
सहज था सजा सजीला तन।
रँगीले गीले फूलों से॥
अधखिले भावों से प्रमुदित।
बाल्य सरिता के कूलों से॥
खेलती थी तरंग सी नित।"—पल्लविनी (१७४)

दो साल और बीते। पन्त राजनीति से बिलकुल निर्लेप रहे। न राजनीति की पुस्तक पढ़ते न व्याख्यान सुनते। उनका सारा समय साहित्य के लिए था। अप्रैल १९२२ में कायस्थ पाठशाला में कवि-सम्मेलन था। पन्त ने अपनी कविता 'बादल' सुनाई—

"सुरपति के हम ही हैं अनुचर, जगत प्राण के भी सहचर।
मेघदूत की सजल कल्पना, चातक के चिर जीवनधर॥

× × × ×

भूमि गर्भ में छिप विहङ्ग-से, फैला कोमल, रोमिल पङ्ख।
हम असंख्य अस्फुट बीजों में, सेते साँस, छुड़ा जड़ पङ्क॥

× × × ×

विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की, विविध रूप धर, भर नभ-अङ्क।
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते, छा अनन्त उर में निःशङ्क॥

× × × ×

उमड़ उमड़ हम लहराते हैं, बरसा उपल, तिमिर, घनघोर।

× × × ×

कभी हवा में महल बनाकर, सेतु बाँधकर कभी अपार।
हम विलीन हो जाते सहसा, विभव-भूति ही से निःसार॥
हम सागर के धवल हास हैं, जल के धूम, गगन की धूल।"

उच्छ्वास पर विरुद्ध सम्मति देनेवाले व बख्शीजी इसे सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव के साथ वह पन्त के पास गये। बधाई दी, फिर कविताएँ सुनीं। बख्शीजी ने अब (१९२२) पन्तजी की कविताओं को आग्रहपूर्वक छापना शुरू किया। इस समय पन्त पर दुःखवाद औ[illegible] का ज़बरदस्त प्रभाव था। ठोस दुनिया उनकी आँखों से ओझल थी। सिर्फ़ मानस [illegible] करवटें लेटे रहते। समझते यह पृथ्वी ठोस क्या है, यह तो हलके दबाव को भी बर्दाश्त नहीं कर सकती।

"दुःख"-"दुःख"—दुःख के मारे पन्त का हृदय विदीर्ण होना चाहता था। धर्म की भूल-भुलैयाँ से वह गुज़र चुके थे, इसलिए वह सान्त्वना नहीं दे सकता था। पन्त अब वेदान्त के चक्कर में आये। समझने लगे कि शायद यहाँ सान्त्वना मिले। उपनिषद्, रामकृष्ण विवेकानन्द और रामतीर्थ के ग्रन्थों को बड़ी श्रद्धा से पढ़ने लगे। टालस्टाय के 'मेरा धर्म' और उसके अनन्त पाप के सिद्धान्त ने भी दिल को थोड़ी देर खींचा। लेकिन जहाँ वेदान्त सत्य शिव सुन्दर का ख़्याल दिमाग़ में भरना चाहता था, वहाँ टालस्टाय सभी जगह पाप ही पाप दिखलाना चाहते थे। बुद्धि किसी निश्चय पर नहीं पहुँच रही थी। दिल में एक तरह का तूफ़ान आया हुआ था।

बाबू भगवानदास के ग्रन्थों से कुछ मनोविज्ञान की तरफ़ रुचि हुई फिर पश्चिमी लेखकों के ग्रन्थ पढ़े। काण्ट बहुत पसन्द आया, उसने बुद्धि को कुण्ठित करने में कुछ काम दिया। हेगेल् भी रुचिकर मालूम हुआ, लेकिन दोनों का द्वन्द्व जब सामने आया तो दर्शन से मन कुछ उदासीन हो गया।

इसी समय (१९२४ में) पूरनचन्द जोशी से संबंध हुआ। वह एक दूसरी दृष्टि को सामने रखने लगा, लेकिन मन की अशान्ति कम नहीं होती थी। उस समय पूरन बहुत समझा भी नहीं सकता था, क्योंकि वह अभी कट्टर गान्धीवादी थे। हाँ, जब वह मार्क्सवादी हो गये तो उनकी बातें ज़रूर नई मालूम होने लगीं। भौतिकवाद पर बातें होतीं; लेकिन पन्त हमेशा परमार्थ मूल और परमार्थ सत्य सनातन रहस्य ढूँढ़ने की कोशिश करते। वह हरेक बात को वैयक्तिक दृष्टि से देखते।

१९२६ में मझले भाई मर गये। उन्होंने बहुत भारी कार-बार शुरू किया था। कार-बार की देख-भाल में उतना ख़याल नहीं था और ऊपर से अन्धाधुन्ध ख़र्च। ६२००० रुपये का क़र्ज़ छोड़कर मरे थे। पिता ने जायदाद बेंचकर क़र्ज़ को अदा किया, लेकिन अगले साल (१९२७ में) वह भी चल बसे। परिवार का सारा आर्थिक ढाँचा टूटकर गिर पड़ा। पहले पन्त को पैसों की कभी कमी नहीं होती थी। अब एक ओर यह भीषण आर्थिक परिवर्तन और दूसरी तरफ़ दिमाग़ी परेशानी। १९२९ के आते-आते चिन्ता के बोझ ने पन्त के स्वास्थ्य को चौपट कर दिया। उस समय एक फ़ारसी के विद्वान् की सहायता से इण्डियन प्रेस के लिए वह उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का अनुवाद कर रहे थे। दो बजे दिन की गर्मी में बाहर निकले। लू लग गई। १४-१५ दिन बहुत कष्ट में रहे।

उस समय दिल्लीवाले डॉ० जोशी भरतपुर में रहते थे। वह सम्बन्धी भी लगते थे। पन्त उनके पास पहुँचे। डा० जोशी ने परीक्षा की और पूर्ण विश्राम करने की सलाह दी।

डा० जोशी ने यह भी कहा कि अगर आहार-विहार का ध्यान न रखोगे, तो तपेदिक़ को सर पर आया ही समझो। उन्होंने मांस खाने के लिए ज़ोर दिया। पन्त १४ साल से मांस छोड़े हुए थे। अब मांस खाना शुरू किया और तीन मास तक डॉ० जोशी ही के पास [illegible] और उनका वजन ९८ पौंड से १३६ पौंड हो गया।

[illegible] चले आये और अप्रैल तक वहीं रहे। यहाँ [illegible] प्रकाशित हुईं।

स्वास्थ्य के अच्छे होने के साथ पन्त का दुःखवाद भी कम होने लगा और जल्दी ही वह पूर्ण आशावादी बन गये।

आशावाद—आशावादी पन्त अल्मोड़ा में थे, जिस समय गान्धीजी भी वहाँ आये। यहीं पन्त की भेंट राजा कालाकाँकर और कुँवर सुरेशसिंह से (१९३० में) हुई। राजा साहब के साथ पन्त धारूपुर चले गये। यहाँ राजा साहब का एक पुराना महल था। राजा साहब उस समय स्वयंसेवकों के सङ्गठन में लगे हुए थे। पन्त का निराशावाद यद्यपि घट गया था, मगर अब भी उनकी दुनिया ठोस नहीं थी। कल्पना किसी चीज़ को ठोस नहीं रहने देती। वह हरेक चीज़ को विकृत करके दिखलाती थी और जागते भी स्वप्न देखने सा मालूम होता था। स्वयंसेवक उन्हें बिलकुल नंगे और गन्दे, कुरूपतम दिखलाई पड़ते। हरेक गति उनके अणु-अणु को हिला देती। उनके पैर उखड़ते से मालूम होते थे, और वे खेमे के बाँसों को पकड़ कर खड़े हो जाते। उन्हें थूक और गन्दगी जहाँ-तहाँ पड़ी दिखलाई पड़ती, और वह उसे हटा देना चाहते। इतना ज़रूर वह समझने लगे थे कि गन्दगियाँ हटाई जा सकती हैं। पूरनचन्द जोशी की बातें अब उनके मन में याद आने लगीं, और वे धीरे-धीरे कल्पना-जाल से मुक्त होने की कोशिश करने लगे। अब उन्होंने मार्क्सवाद की पुस्तकें पढ़नी शुरू कीं। शायद गाँवों में न गये होते, तो यह पढ़ने की रुचि न होती। इस समय उन्होंने जो कविताएँ लिखी थीं, उनमें 'गुञ्जन' एक है (फ़रवरी १९३२)

"वन वन, उपवन—
छाया उन्मन उन्मन गुञ्जन नव वय के अलियों का गुञ्जन!
रुपहले सुनहले आम्र बौर, नीले, पीले औ ताम्र भौंर,
रे गन्ध अन्ध हो ठौर-ठौर उड़ पाँति-पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के वन में गुञ्जन वन के विटपों की डाल-डाल
कोमल कलियों से लाल-लाल, फैली नव मधु की रूप ज्वाल
जल जल प्राणों के अलि उन्मन करते स्पन्दन करते गुञ्जन
अब फैला फूलों में विकास, मुकुलों के उर में मदिर वास,
अस्थिर सौरभ से मलय श्वास, जीवन मधु-संचय को उन्मन
करते प्राणों के अलि गुञ्जन ।"

—ज्योत्स्ना से

पन्त ने जीवन में एक नई आशा और उमङ्ग पाई। तीन-चार साल तक वह मार्क्सवाद और रूसी लेखकों के ग्रन्थों को पढ़ते रहे। रहस्यवाद ने पूरे तौर से पिण्ड तो नहीं छोड़ा, लेकिन मार्क्सवाद ने अन्तस्तल तक अपना प्रभाव ज़रूर डाला। भौतिकवाद को कोरा यान्त्रिक जड़वाद

समझकर जो उन्हें कुछ विरक्ति-सी आती थी, वह मार्क्सवादी भौतिकवाद के "गुणात्मक-परिवर्तन" से जाती रही।

युगान्त—अब पन्त का जीवन एक नया जीवन था। कितने ही समय तक उन्होंने क़लम पर अंकुश रखा। उनको डर था, कि कहीं पुरानी बातें उलटकर न आने लगें। १९३४-३५ में उन्होंने जो कविताएँ लिखीं वह 'युगान्त' के नाम से प्रकाशित हो चुकी हैं। फिर उनकी सरस्वती 'युगवाणी' के रूप में फूट निकली। इस समय की इसी नाम की कविता है—

युग की वाणी,
[illegible] रूप बन जायँ भाव स्वर,
[illegible] बन जायँ निखिल
भावना, कल्पना, रानी !
युग की वाणी !
आत्मा ही बन जाय देह नव, ज्ञान ज्योति ही विश्व-स्नेह-नव,
हास, अश्रु, आशाऽकांक्षा बन जायँ खाद्य, मधु, पानी !
युग की वाणी।
स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव, स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अन्तर जग ही बहिर्जगत बन जावे, वीणापाणि, हे !
युग की वाणी।
सर्व मुक्ति हो मुक्ति तत्त्व अब, सामूहिकता ही निजत्व अब,
बने विश्व-जीवन की स्वरलिपि जब जब मर्म कहानी।
कवि की वाणी !

—युगवाणी १४

इस "युग" के आरम्भ ही में पन्त ने 'पुरावन' को रास्ता खाली करने के लिए कहा था—

"द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र।
हे स्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क जीर्ण !
हिमताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन !!
निष्प्राण विगत युग ! मृत विहङ्ग।
× × ×
च्युत अस्त-व्यस्त पंखों से तुम
झर झर अनन्त में हो विलीन !"

—पल्लविनी २४१

पुरावन के ध्वंस से नवीन के निर्माण का सन्देश देते पन्त की "युगवाणी" कहती है—

"रिक्त हो रहीं आज डालियाँ,—डरो न किंचित्,
रक्तपूर्ण, मांसल होगी फिर, जीवन रञ्जित।
जन्मशील है मरण, अमर मर-मरकर जीवन,
झरता नित प्राचीन, पल्लवित होता नूतन।

पतझर यह, मानव जीवन में आया पतझर,
आज युगों के बाद हो रहा नया युगान्तर।
बीत गये बहु हिम, वर्षातप, विभव पराभव,
[illegible] जीवन में फिर वसंत आने को अभिनव।"—युगवाणी २४

[illegible] नये संसार का चित्रण करते कवि लिखता है—

"जाति वर्णों की, श्रेणि वर्ग की, तोड़ भित्तियाँ दुर्धर।
युग-युग के बन्दीगृह से मानवता निकली बाहर।"—ग्राम्या १२

पन्त ने निराला के युगप्रवर्त्तक कविशिल्प के लिए अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

"छंद बंध ध्रुव तोड़-फोड़कर पर्वतकारा
अचल रूढ़ियों की, कवि तेरी कविता-धारा।
मुक्त, अबाध, अमन्द, रजत निर्झर-सी निःसृत,—
गलित, ललित आलोक-राशि, चिर अकलुष अविजित।
स्फटिक-शिलाओं से तूने वाणी का मन्दिर,
शिल्पि, बनाया,—ज्योति-कलश निज यश का धर चिर।"—युगवाणी ९१

१९४० से पन्त ने फिर हिमालय की गोद का आश्रय लिया है, वह अल्मोड़ा रहते हैं। जन-नृत्य और जन-सङ्गीत का चिरतरुण कलाकार उदयशङ्कर, लोकसंस्कृति और "युगवाणी" के कलाकार को अपनी ओर खींचने की क्षमता रखता है। उदयशङ्कर और पन्त दोनों ने जनता की शक्ति को समझा है। लेकिन जिस वातावरण में वह अब तक रहे हैं और अब भी हैं, उसमें वह शक्ति का उपयोग कर सकेंगे इसमें भारी सन्देह है। पन्त में तो और भी सन्देह है, क्योंकि रहस्यवाद का खोल तोड़कर अब भी वह अण्डे से बाहर नहीं आये हैं, इसी लिए आत्मा और पुरानी दुनिया के सामने आते ही उनकी मानसिक विश्लेषण-शक्ति जवाब दे देती है। पन्त की कविताओं में ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं, जिनमें वह इन भूल-भुलैयों में पड़कर दिग्भ्रान्त हो जाते हैं। और उनकी बुद्धि अँधेरे में हाथ-पैर मारती दीख पड़ती है। यह सब होते भी पन्त का विकास रुका नहीं है। मकड़ी के जाले की तरह उनके मन ने एक अवास्तविक किन्तु मोहक दुनिया पैदा कर दी है। हम बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे कि कब इस दुनिया से उनका पिण्ड छूटता है। आजकल पन्त पाँच-छः नाटक लिख रहे हैं, जिनमें 'छाया' (पुरातन शव हमारे जीवन में), 'परिणीता' (भारी परतन्त्रता), 'साधना' (बाहर निकलने के लिए आधुनिक नारी का सङ्घर्ष), 'स्रष्टा' (कलाकार के जीवन का विद्रोह), और 'स्वप्न-भङ्ग' (बुद्धिजीवी का जीवन) मुख्य हैं। पहाड़ी भाषा—जो कि उनकी मातृभाषा है—की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। हाँ, पहाड़ी गीत की स्वर-माधुरी और भाषा की कोमलता उन्हें आकर्षित ज़रूर करती मालूम होती है। कत्यूरी राजाओं के युद्धगीत अब भी अल्मोड़ा के गाँवों में गाये जाते हैं, और वह भी उन्हें सरस लगते हैं। नाटक-कला को भी अब वे विचारों के प्रसार में बहुत उपयोगी समझते हैं।

पन्त की सबसे बड़ी देन हिन्दी-काव्य-साहित्य के लिए है, सुन्दर शब्द-विन्यास और मुक्त शैली।

अन्तर्चेतना

[विष्णु]

रानी ने जब आँखें खोलीं तो कमरे में धुँधला प्रकाश बिखरा पड़ा था और बाहर बड़ी तेज़ी से चक्की पीसने [illegible] माँ ने पुकारा—कब तक सोती रहेगी तू आज !

उसने [illegible]

आती हूँ क्या ! देखती नहीं कितना दिन चढ़ा है, स्कूल नहीं जायेगी !

रानी ने इस बार कोई जवाब नहीं दिया। उठकर बाहर आ गई। वातावरण में काफ़ी ठण्डक थी इसलिये धोती को लपेट-सा लिया। कँपकँपी फिर भी चढ़ आई। ठिठरती-ठिठरती कहने लगी—माँ ! आज तो चाय बना लो।

माँ चिढ़ रही थी, चिल्ला उठी—मेम साहब, चाय पियेगी। पाव भर दूध आता है, उसमें सुरेन का पेट नहीं भरता। दुनिया को पेट भर रोटी नहीं मिलती पर नवाबज़ादी को चाय चाहिये। आख़िर अँगरेज़ी स्कूल में पढ़ती है न ?

रानी खिसियाकर रह गई। उसे अपनी बात पर स्वयं ही अचरज होने लगा कि कैसे उसने चाय की बात कही। जब दूध सस्ता था तब भी बेचारी ने माघ-पूस की ठिठरती सर्दी में पानी उबालकर ही पी लिया था। अब जब दूध का भाव आठ आने सेर तक जा पहुँचा है तो चाय पीने की बात कहना किसी भारतीय अमीरज़ादे के लन्दन जाने से कम नहीं। इसलिए वह चुपचाप रसोईघर में चली गई कि रोज़ की तरह चौका-बासन करके चूल्हे में आग सुलगा दे ताकि उसके स्कूल जाने के पहले माँ उसे रोटी पका दे, लेकिन आज उसका हाथ चला नहीं। ज्योंही चूल्हे की राख तवे में भरी, एक बात दिमाग़ में आकर अटक गई कि कल रात समाज-मन्दिर में एक बच्चे ने कहा था कि दुनिया में एक ऐसा मुल्क है जहाँ औरतें आसमान से बरसती हैं। यह बात याद आते ही उसकी कल्पना बह पड़ी। सच तो यह है कि वह स्वयं सारी रात आसमान में उड़ती रही थी। वहाँ उसने बड़े-बड़े दैत्य, बड़े-बड़े लोक और इसी तरह की बहुत-सी बड़ी-बड़ी बातें देखी थीं। एक बार वहाँ से झाँककर उसने अपने घर को भी देखना चाहा था पर तब जैसे ही वह मुड़ी तो यह सारी विशालकाय पृथ्वी एक तारा बन कर रह गई। वह काँप उठी, भय से उसकी घिग्घी बँध गई और वह चीख़ने ही वाली थी कि माँ ने पुकारा—रानी ! रानी !!

वह हड़बड़ाकर बोली—हाँ, माँ।

डर रही है तू ! क्या बात है ?

कुछ नहीं माँ—उसने कहा और पैरों को छाती में समेट लिहाफ़ को चारों तरफ़ से दबा लिया लेकिन अब तो दिन था। वह रसोईघर में, जिसकी दीवारें काले लेवड़ों से लदी पड़ी थीं, चूल्हे से राख निकाल रही थी और सोच रही थी रूस की बात जहाँ आसमान के बमों के साथ औरतें भी बरसती हैं। बम तो नदी, समुद्र, खेत-खलिहान कहीं भी गिर जाते हैं, आस-पास कोई हुआ मर गया, ज़मीन कट गई, साथ ही बम भी ख़तम; परन्तु वे औरतें आसमान से ज़मीन पर ऐसे उतर आती हैं जैसे कोई चबूतरे से कूद जाता है। उठती हैं, चुपके से दुश्मन की फ़ौज में घुस जाती

हैं, सङ्गीनों से उनका सामना करती हैं, अपनी फ़ौज के घायलों को उठा लाती हैं, दुश्मन के भेद ले लेती हैं और न जाने क्या-क्या......

बाप रे ! कितनी बहादुर नारियाँ हैं वे—रानी एक दम सिहर उठी।

" हैं। आप तो क्या करेंगी अपने पुरुषों को भी घर से बाहर नहीं जाने देता......

उसे याद आया—ठीक तो है, पड़ोस के लाला रामनाथ का लड़का बहुत बड़े ओहदे पर लड़ाई में जा रहा था, परन्तु माँ ने नहीं जाने दिया। बोली—जाने से पहले मुझे ज़हर देता जा...। कि माँ ने चक्की रोककर फिर पुकारा—अरी रानी ! क्या कर रही है तू। आग नहीं जली अभी तक।

एक दम काँपकर बोली—जली है माँ।

और फिर जल्दी-जल्दी राख पोंछ, पोता लगा, लकड़ी पर मिट्टी का तेल डाल दियासलाई दिखा दी कि आग भड़क उठी। माँ फिर चिल्लाई—मट्टी का तेल डाला दिक्खे। तेरा तो रानी दिमाग़ फिर गया है। एक बोतल तेल के लिये प्राण गिरवी रखने पड़ते हैं और तू है कि नवाबज़ादी की तरह लुटाये जा रही है......।

कि तभी बाहर से दातुन चबाते-चबाते गृह-स्वामी देवदत्त आ गये, बोले—क्या हुआ ? सबेरे-सबेरे क्यों शोर मचाया है।

पत्नी बोली—हुआ क्या ? बेटी का नाम रानी क्या रक्खा स्वभाव भी रानियों का-सा हो चला है।

तब तो बड़ी अच्छी बात है—गृह-स्वामी बोले।

बात तो तब बड़ी अच्छी है जब घर में राज भी हो।

और तुमने क्या समझा है रानी किसी फ़क़ीर के घर जायगी। अरे पण्डितजी ने कहा था नहीं कि लड़की रानी बनेगी। तभी तुमने इसका नाम रानी रखा था।

पत्नी का दिल पीड़ा से घनीभूत हो आया, बोली—तब की बात और थी, आज तो पेट भरना भी कठिन हो रहा है। ऊपर से यह लड़ाई आ गई, न जाने कब तक चलेगी। यही हाल रहा तो माँगे भीख भी न मिलेगी।

गृह-स्वामी का स्वर भी गिरा, कहा—भीख आज ही कौन मिलती है। आज भी इस देश में हज़ारों आदमी रोज़ सड़कों पर तड़प-तड़पकर जान दे देते हैं......।

रानी ने तब पुकारा—माँ ! आग जल रही है।

माँ ने सुना नहीं। वह पति से बोली—भगवान् की माया कौन जाने, अपना-अपना भाग्य है।

गृह-स्वामी ने कहा—हाँ जी अपने-अपने भाग्य की बात है। कौन जाने रानी का भाग्य कैसा है !

अच्छा ही है—माँ बोली।

अच्छा ही चाहिये—गृह-स्वामी ने कहा—नहीं तो कलकत्ते में ऐसी-ऐसी लड़कियाँ रुपये-रुपये में वेश्यायें ख़रीद ले जाती हैं।

क्या !—पत्नी जैसे काँप उठी।

कल मैंने पढ़ा था कि पुलिस ने एक दरजन ऐसी लड़कियाँ चकले से बरामद की हैं जिन्हें उनके माँ-बाप ने भूख से तङ्ग आकर दस आने से लेकर डेढ़ रुपये तक में बेच दिया था।

हाय राम! कैसा कलयुग है—पत्नी कुछ और न कह सकी। दिल उसका धक्-धक् कर उठा। आटा समेटती-समेटती सोच में पड़ गई। तब तक रानी वहाँ आ गई थी और सुन चुकी थी कि कलकत्ते में उस जैसी लड़कियाँ दस-दस आने में बिकती हैं। पहले तो वह मज़ाक समझती थी फिर सोचा शायद लड़की कोई चीज़ होगी पर 'उस जैसी' ने उसे आगे न बढ़ने दिया पर तभी माँ बोली—बि[illegible] और नहा ले। मैं तब तक रोटी बनाती हूँ। और देख सुरेन उठा कि नहीं।

और उसके बाद उस गिरस्ती का सब काम अबाध गति से बहने लगा। गृह-स्वामी ने दातुन फेंककर तेल सँभाला, बोले—देखो जी तेल भी घी के मोल बिकता है। कमला उठी और आँख बचाकर बाहर निकल गई। सुरेन चीखता चिल्लाता उसके पीछे भागा। गृह-स्वामिनी रसोई में गई और रानी गुसलखाने में, जो ज़ीने के नीचे लकड़ी खड़ी करके बनाया गया था, रगड़-रगड़कर पैर धोने लगी लेकिन धोते-धोते न जाने कब फिर विचारधारा बहने लगी यह वह जान न सकी। बहते-बहते वह इतनी दूर चली गई कि माँ ने सारी रोटी पकाकर जब उसे पुकारा तो वह चुपचाप बैठी ऊपर छत को देख रही थी। आवाज़ सुनकर काँप उठी। माँ तब वहाँ आ गई थी बोली—क्या बात है रानी!

कुछ नहीं।

कुछ नहीं, छिपाती है!

नहीं माँ।

नहीं क्या! मैं जानती हूँ तेरा जी अच्छा नहीं है।

नहीं माँ! मेरा जी अच्छा है।

ख़ाक अच्छा है। चाय क्या यों ही माँगती थी। रानी! तू अब चौदह बरस की होने-वाली है। नवीं जमात में पढ़ती है पर तुझे ज़रा अक्ल नहीं आई। तेरी जितनी का तो मेरा गौना भी हो गया था। बुख़ार चढ़ते आजकल क्या देर लगती है लेकिन तू सोच तो दवा कहाँ से मिलेगी। तेरे पिता इतना हाड़ पेलते हैं पर पेट भी नहीं भर पा रहा है।

और फिर बाहर निकलकर बोली—सुनते हो रानी की बात?

क्या हुआ जी—तेल मलते-मलते गृह-स्वामी ने कहा।

हुआ क्या! अपनी बिटिया को बुला लीजिये। तन-मन ख़राब है पर कहेगी नहीं। न जाने किस मिट्टी की बनी है।

तन-मन ख़राब है! गृह-स्वामी बोले—क्यों बिटिया इधर तो आ।

रानी अजीब मुसीबत में पड़ी। रात से उसके दिमाग़ में अजीब हलचल मच उठी थी। उस पर सवेरे सवेरे उसने सुनीं कलकत्ते की उन लड़कियों की बातें जो कुछ आनों में जन्म-जन्म के लिये वेश्या बनने को मजबूर की जाती हैं। सोचते-सोचते उसका रोम-रोम काँप आया। वेश्या क्या होती है यह वह ठीक-ठीक नहीं जानती थी पर उसने सुन रखा था कि वेश्यायें बुरी होती हैं, इतनी बुरी कि उनके नाम से गाली दी जाती है और वह गाली भी बड़ी गन्दी समझी जाती है। सबसे बड़ी बात तो यह कि लड़की दस आने में बेची कैसे जाती है! कहीं उसकी माँ भी उसे बेच दे तो...।

यही बात सोचते-सोचते उसका चेहरा ज़रा ज़्यादा उतर गया था और इसी को देखकर माँ समझी थी कि लड़की ज़रूर बीमार है नहीं तो चाय उसे याद ही कैसे आती ! चटोरी तो वह है नहीं । कभी मुँह खोलकर कहा नहीं कि यह खाऊँगी, वह खाऊँगी । लेकिन जब पिता ने पुकारा [illegible] पिताजी ! मैं बिलकुल ठीक हूँ ।

[illegible] या कर रही थी ?

रानी मुस्कराकर रह गई ।

सोच रही होगी ।

हाँ जी ।

परीक्षा की बात सोच रही होगी । पगली बेटी ! तू इस बार भी वज़ीफ़ा लेगी । मैं कहता हूँ ।

रानी क्षण भर के लिये चुप रही फिर साहस करके बोली—पिताजी ! मैं परीक्षा की बात नहीं सोच रही थी ।

फिर ?

आपने अभी कहा था न कि कलकत्ते में माँ-बाप अपनी लड़कियाँ दस-दस आने में वेश्याओं को बेच देते हैं... ।

और कहकर रानी बड़े ज़ोर से काँप उठी । गृह-स्वामी ने उसकी बातें सुनीं । सुनकर उसे देखा फिर न जाने क्या हुआ उसके सिर पर हाथ रखकर बोले—बेटी ! तुम्हारे सोचने की ये बातें नहीं हैं, समझी । पढ़ने की बात सोचा करो । कब है तुम्हारी परीक्षा ?

अगले हफ्ते—रानी खिसियानी-सी बोली ।

तो पाठशाला जाओ । शाम को पूछूँगा तुमने क्या याद किया है लेकिन शाम को आकर जैसे ही उन्होंने रानी से प्रश्न पूछने शुरू किये तो वह बोल उठी धीरे से—पिताजी ! सुना है रूस में औरतें भी लड़ती हैं ।

हाँ बेटी ।

लेक्चर देनेवाले कह रहे थे कि वहाँ औरतें आसमान से बरसती हैं । हमने सुना तो बड़ा अचरज हुआ लेकिन उन्होंने बतलाया कि वे हवाई जहाज़ से चढ़कर ऊपर चली जाती हैं और फिर कूदकर नीचे आ जाती हैं । पिताजी, उनके चोट नहीं लगती ?

गृह-स्वामी अच्छे मूड में थे । बोले—पगली बिटिया ! वे क्या ख़ाली हाथ कूदती हैं ? उनके पास एक तरह की छतरी होती है जिसे पैराशूट कहते हैं; उसमें हवा भर जाती है जो उन्हें थामे रहती है और वे धीरे-धीरे नीचे आ जाती हैं ।

रानी बड़े मनोयोग से सुन रही थी बोल उठी—सच ?

हाँ बेटी ।

बड़ा अच्छा लगता होगा ?

अच्छा लगता है ? मौत से खेलना होता है, बेटी परन्तु वे सब देश के लिये जीवन देने का प्रण कर बैठी हैं । वे आज़ाद हैं ग़ुलाम नहीं बनना चाहतीं ।

और हम ?

हम ग़ुलाम हैं । न हम अपने देश को पहचानते हैं न अपने आपको । हमारा पड़ोसी हमारा देशवासी मरता रहता है और हम आँख उठाकर देखते भी नहीं...... ।

और इतना कह वह स्वयं चौंक उठे। एकदम बोले—लेकिन अपना सबक सुना न !

रानी भी चौंकी। फिर पुस्तक खोलकर उनके आगे कर दी। उन्होंने कई प्रश्न पूछे। सौभाग्य से रानी को सब याद थे। सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। पत्नी को पुकारकर बोले—सुनती हो रानी क्लास में पहिला नम्बर पायेगी।

माँ ने सुना तो बड़ी ख़ुश हुई। कहा—रानी होशियार है।

डाक्टरी पढ़ायेंगे।

इसके ऐसे भाग्य कहाँ हैं। ग़रीब घर में जन्म लिया है। वज़ीफ़ा मिला है तो हाई-स्कूल में गई है [illegible] होगा ! सब दिन क्या एक समान रहते हैं। लड़ाई के कारण इतना [illegible] जागा। और फिर ग़रीबों के बच्चे ही बड़े बनते हैं। बड़े होने पर भी उनके दिल का दर्द बना रहता है।

शायद— -पत्नी बोली और फिर पति पत्नी की बहस रानी को डाक्टरनी बनाने की बात को लेकर भारत पर बम-वर्षा तक पहुँच गई। उस बम-वर्षा में उन्होंने सारे देश को क्षत-विक्षत देखा और देखा अपने को राह का भिखारी या मृत्यु की बाट जोहते घायलों के रूप में परन्तु रानी ने इन बातों से केवल एक ही परिणाम निकाला कि वह भी उन व्यक्तियों में से है जिनका कोई मूल्य है जो चाहें तो इस दुनिया में कुछ कर सकते हैं।

उस बहस से परे हटकर उसका मन बहुत दूर भटकने लगा। कल्पना फिर उसे ऊँचे उड़ाने लगी। उसने अपने माँ-बाप की भाँति अपने को भयाच्छादित नहीं देखा बल्कि उसने देखा कि उस महानाश में वह साहस की साकार मूर्ति-सी चारों ओर घूम रही है। उसके स्पर्शमात्र से जीवन उभर आता है, उसके दर्शन से दृष्टि खुल जाती है, उसके स्वर से बहकर वाणी चारों ओर फैल जाती है, सब उसे ऐसे देखते हैं जैसे चातक स्वाती की बूँद को देखा करता है।

और जैसे ही यह सब कल्पना छिन्न-भिन्न हुई और उसे फिर माँ की पुकार सुनकर सुरेन को सुलाने का उपक्रम करना पड़ा तो वह काँप उठी। इतनी बातें कैसे उसके दिमाग़ में उभर आईं यह वह निर्णय न कर सकी। उसके दिमाग़ में ये सब बातें इतनी स्पष्टता से उभरी थीं यह बात नहीं थी। लड़ाई की बातें रोज़ सुनते-सुनते भी वहाँ सब कुछ धुँधला था। स्पष्ट केवल इतना था कि वह रानी है और डाक्टरनी बन चुकी है। उसका नगर है जो बमों से क्षत-विक्षत हो चुका है, जगह-जगह घायल हैं, लाशें हैं। रानी उन्हीं के बीच में घूम रही है। पट्टी बाँधती है, पानी पिलाती है। वे उसे आशीष देते हैं, वह खिल उठती है पर कोशिश करने पर भी कहीं दुश्मन नज़र नहीं आता और न वह सङ्गीन चला पाती है। चलाती कैसे, बेचारी ने कभी सङ्गीन देखी ही नहीं थी। इसी लिये वह पट्टी बाँधने के क्रम से आगे न बढ़ सकी। घायलों में भी उसने ज़्यादातर अपने जाने-पहचाने परिजनों को देखा। सबसे ज़्यादा स्पष्ट उसके घरवाले थे, फिर थे पड़ोसी। बेहोश रामलाल की पत्नी मरने को पड़ी थी। उसे बमों ने क्षत-विक्षत कर दिया था। रानी ने उसे सँभाला पर बच नहीं पाई। रामलाल चीखकर भाग गये। बेचारी की दो छोटी-छोटी लड़कियाँ भी तड़पने लगीं... कि रानी की कल्पना को झटका लगा... पुलिस ने जिन दरजन भर लड़कियों को चकलों से बरामद किया था वे उसके सामने आ खड़ी हुईं और उनमें उसे उन दोनों लड़कियों के चेहरे साफ़-साफ़ नज़र आये... वह काँप उठी इतने ज़ोर से कि उसकी सारी कल्पना खण्ड-खण्ड होकर उड़ गई। उसने देखा,—सुरेन उसकी गोदी में सिर रखकर सो गया है, कमला चुपचाप गुड़ियों के

खेल में मस्त है। बाहर भीतर धुआँ-सा घुट रहा है और किरोसन तेल का छोटा लैम्प चौक में बहुत धीमा प्रकाश डाल रहा है कि तभी गृह-स्वामी लौट आये। पत्नी ने पुकारकर कहा—खाना खा लो जी।

गृह-स्वामी ने लम्बी साँस ली—खाऊँगा जी।

[illegible] है ?

[illegible]

तो भी।

तो भी यही कि न जाने किस दिन यह खाना मिलना बन्द हो जाये।

ऐसी बातें आप क्यों सोचते हैं। जो होना है वह तो होगा ही।

सोचनी तो नहीं चाहिये पर जो दिन पर दिन आग फैलती ही जा रही है। कोई न कोई घटना ऐसी हो जाती है कि सोचने को विवश होना पड़ता है। इस लड़ाई ने तो सबको मिटाने का जैसे प्रण कर लिया है।

क्या हुआ—किसी आशङ्का से पत्नी बोली।

हुआ क्या घर-घर भूख बेबसी जाग उठी है। अपने मोहल्ले में रामलाल है। घर में स्त्री मरने को पड़ी है। दो छोटी-छोटी लड़कियाँ हैं। न दवा कर पाते हैं न पेट भरता है। कोई रोटी पकानेवाला भी नहीं है। मेरा तो जी भर आता है पर क्या करूँ। अपने आगे ही क्या है जो उठाकर दे दें लेकिन ऐसे लोग क्या खाकर जापान का मुक़ाबिला करेंगे।

अजी कैसा मुक़ाबिला ! भगवान अब प्रलय करनेवाले हैं—पत्नी ने उदासीन होकर कहा। गृह-स्वामी ने कुछ जवाब नहीं दिया। खाट पर बैठ गये। पुकारा—रानी, बेटी। पानी तो ला ज़रा।

लेकिन रानी नहीं बोली। रानी फिर भी नहीं बोली। माँ खीझ उठी—अरी रानी! अरी कमला।

कमला गुड़िया सुलाते-सुलाते स्वयं सो गई थी। चौंककर उठी—हाँ, माँ।

रानी कहाँ है ?

पता नहीं।

सो गई होगी—माँ ने कहा और कमरे में देखने चली पर खाट पर सुरेन अकेला पड़ा था। रानी कहीं नहीं थी। ऊपर-नीचे यहाँ-वहाँ देखा, पुकारा पर कोई नहीं बोला। वह घबरा उठी। दिल धक धक करने लगा, बोली—अरी रानी, कहाँ गई ?

कहाँ गई। वे अचकचाये।

हाँ जी, वह घर में तो नहीं है।

गृह-स्वामी भी उठे और पत्नी के साथ फिर घर का एक चक्कर लगा आये। कमला से पूछा—रानी कहाँ गई कमला ?

कमला इतना ही बता सकी कि बीबी भइया को सुला रही थी।

अब ! उन दोनों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। गई तो कहाँ गई ?

पड़ोस में पूछो न—गृहस्वामी ने कहा।

पत्नी बोली—रात को किस के घर जायेगी ! वह तो कभी घर से निकलती ही नहीं। पढ़ती रहती है।

'लेकिन देखो तो··· ।'

दोनों बाहर निकले। काफ़ी तेज़ सर्दी थी। आठ बज चुके थे। मोहल्ले में बिल्कुल सन्नाटा था, चाँदनी चारों ओर फैली थी। दूर कहीं कोई छायामूर्ति चलती नज़र आ जाती थी। घरों के किवाड़ बन्द थे। कहीं-कहीं किसी के बोलने की तेज़ आवाज़ गूँजकर रह जाती थी।

'किससे पूछूँ'—पत्नी बोली।

'आवा[illegible] ने कहा कि तभी दूर रामलाल के घर से प्रकाश की हल्की रेखा चमकती नज़र [illegible] ।

'वहाँ वह क्या करेगा' [illegible] आगे बढ़ गये। किवाड़ उढ़के हुए थे। उसी में से होकर प्रकाश की एक धुंधली रेखा बाहर [illegible] रही थी। उसी में से झाँककर उन्होंने जो कुछ देखा उससे उनका शरीर काँपा, पुलका, फिर [illegible] हो आया—सामने बरामदे में किरासेन तेल की डिबिया काला प्रकाश उगल रही थी। उसी [illegible] धूमाच्छादित प्रकाश में कई छायामूर्तियाँ वहाँ नज़र आ रही थीं। एक पुरुष था जो दीवार के सहारे गरदन टिकाये ऊपर की ओर देख रहा था। एक नारी थी जो खाट पर इस तरह निश्चि[illegible] पड़ी थी कि जैसे मुरदा अर्थी पर पड़ा होता है। दो छोटे-छोटे बच्चे बड़ी व्यग्रता से खाने में मशगूल थे और सबसे परे हटकर उनकी बिटिया रानी थी जो बड़ी शान्ति से बैठी अँगीठी पर रोटियाँ सेंक [illegible]ही थी··· ।

उन्होंने क्षण भर रुक यह सब देखा, फिर तेज़ी से आगे बढ़ना चाहा पर न जाने क्या हुआ कि वे लौट आये और पत्नी जहाँ खड़ी थी वहाँ आकर बोले—घर के किवाड़ खुले रहने दो। लक्ष्मी आप ही आ जायगी। पत्नी अचकचाकर उन्हें देखती ही रह गई।

— —

बङ्गाल का अकाल

[प्रकाशचन्द्र गुप्त]

बङ्गाल की "शस्य-श्यामला", "सुजला" और "सुफला" भूमि; सोने की धरती, जहाँ [illegible] रहा है; आर्य, मङ्गोल और द्रविड़, फिर पठान और मुग़ल, [illegible] लोलुप। प्रकृति का रूप मानों यहाँ पृथ्वी और आकाश फाड़कर [illegible] तलैये, केले, ताड़, अनन्नास, नारियल, बाँस और कटहल के वन, अनेक नद, सरिता, पर्वतराज हिमालय और सागर की अनन्त जल-राशि। इस वैभव के इच्छुक इतिहास के अनेक डाकू, जगत-सेठ, अलीवर्दी ख़ाँ, पेशवा बालाजी राव, राघोजी, मीर जाफ़र, अमीचन्द, क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्स। इनके विरोध में संघर्ष करती बङ्गाल की अमर आत्माएँ; लौहशलाका समान उसकी सुदृढ़, चमकीली विद्रोह की शक्ति, सिराजुद्दौला, चित्तरञ्जन, कवि-गुरु रवि ठाकुर।

सदियों पर्यन्त उस संस्कृति का गुरुतर विकास हुआ है, जो आज इतिहास के फन्दे में पड़कर काल का ग्रास बन रही है, जिसे आज मनुष्य का गढ़ा अकाल और बर्बर फ़ासिज़्म मुँह बाए लीलने को आ रहे हैं, जिसकी रक्षा आज भारतीय जन-शक्ति का प्रमुख कर्त्तव्य है!

× × × × × ×

बङ्गाल के आदिम निवासी जो प्रकृति की शक्तियों से भयभीत उन्हें पूजते थे; पश्चिम से बढ़ते आर्य आक्रमणकारी जो नया उल्लास और नया आह्लाद मन में लेकर आए थे; उत्तर और पूर्व से छनकर आते पीले रङ्ग और तिरछी आँखोंवाले मङ्गोल। अनेक जातियों और संस्कृतियों के मेल और सङ्गम का इतिहास। इस विशाल नींव पर निर्मित बङ्गाल की शालीन सामन्ती इमारत। अन्त में आधुनिक युग का जागरण और अनन्त आलोक। राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, विवेकानन्द। विज्ञान, साहित्य, सङ्गीत और अन्य ललित-कलाओं का अभूतपूर्व विकास। जगदीश बोस, पी० सी० राय, रवि ठाकुर, नज़रुल इसलाम, दिलीप राय, नन्दलाल बोस। बङ्गाल की संस्कृति की भारतीय जीवन पर अमिट छाप।

वह संस्कृति अकाल और बमों की मार से मानों अब काँच-सी टूटी, अब टूटी। लेकिन नहीं, वह टूट नहीं सकती! वह फ़ौलाद है, अगर हम एक हैं; वह कच्चा धागा नहीं। मज़बूत लोहे की रस्सी है; उसके पीछे चालीस करोड़ का बल है; अगर चीन की तरह हम भी अपने झगड़ों को भूलकर एक हो जायँ।

बङ्गाल आज डूब रहा है। हर हफ़्ते बङ्गाल में एक लाख आदमी मरते हैं! आदमी और कुत्ते कूड़े के ढेर पर खाने की तलाश में एक साथ टूटते हैं; कुत्ता जीतता है, आदमी हारता है, क्योंकि उसके बदन में नाम को भी जान नहीं। जीते आदमियों को स्यार गाँवों से घसीट ले जाते हैं और जीते-जी खा डालते हैं। माँ बच्चों को मुट्ठी भर अन्न के लिए बेच डालती हैं, और पुरुष स्त्रियों को। बङ्गाल का अस्तित्व आज मिट रहा है, लेकिन आदमख़ोर व्यवसायी देश को मरघट बनाकर मोटे हो रहे हैं। नौकरशाही के कान पर जूँ नहीं रेंगती; राष्ट्रीय नेता अब भी जेलों में बन्द हैं और बङ्गाल की दलबन्दियों में कोई शिकन नहीं पड़ती!

× × × × ×

भारत अकाल का देश है। हमने अपने इतिहास में कितने अकाल देखे हैं। लेकिन हम आज भी उसी तरह खेत गोड़ते हैं और बीज बोते हैं, जैसे चार हज़ार वर्ष पूर्व हमारे पुरखे। विज्ञान के आविष्कारों का हमारी खेती-बारी पर कोई असर ही नहीं हुआ! लेकिन रेल, नहर और तारों के जाल ने अकाल की मार कुछ कम ज़रूर कर दी।

सूखा पड़ा, बाढ़ आई, लाखों मरे! इस बार न सूखा, न बाढ़। आदमी का बनाया यह अकाल है। नफ़ाखोरों के स्वार्थ का गढ़ा यह अकाल है! क्लाइव के सिपाहियों की तरह चावल का माँड़ पीकर आदमी जीते हैं! मक्खियों अथवा टीड़ी-दल की भाँति वह मरते हैं, किन्तु यह नरमेध करके अ[illegible] में अपना सिक्का चलाते हैं।

अब [illegible] विमान मँडराने लगे। मुर्दे सूँघकर मरघट में चील-कौए और गिद्ध उतरने लगे। उनके लिए यह स्वर्ण-अवसर है। उन्हें बुलाने का मन्त्र बङ्गाल के कापालिक ने ही जगाया है। जिसकी देशभक्ति का मन्त्र भी आज उल्टा पड़ रहा है, जो विभीषण और जयचन्द की परम्परा को आज आगे बढ़ा रहा है!

अगर चालीस करोड़ की संख्या में कुछ बल है, तो उसकी आज ज़रूरत है। रवि ठाकुर का देश, कविता, सङ्गीत और सभी ललित कलाओं का देश बङ्गाल आज डूब रहा है! चालीस करोड़ का संयुक्त बल ही उसे उबार सकता है।

———

मौत के सन्नाटे में

[अशोक]

और हाहाकार और उसके बाद मौत का सा सन्नाटा।

आगरे की कम्यूनिस्ट पार्टी ने एकता सप्ताह मनाते हुए जब सड़क पर लोगों को इकट्ठा करके बुलन्द आवाज़ में नारे लगाये, तब अच्छी तरह मालूम हुआ कि सन्नाटा कितना घना और गहरा था।

लोग नारे लगाना भूल सा गये हैं। इन्क़लाब ज़िन्दाबाद की आवाज़ उन्हें अजीब सी मालूम होती है और पहले तो वे सुनते ही रह जाते हैं। उनसे कहना पड़ता है, "क्या इन्क़लाब ज़िन्दाबाद का नारा भूल गये?" लेकिन फिर वे सोते से जगते हैं और पहली बार कुछ गला साफ़ करके और दूसरी बार भरपूर आवाज़ से और तीसरी बार अपने उसी पुराने जोश के साथ वे उस मौत के सन्नाटे को तोड़ देते हैं।

यह इन्क़लाब ज़िन्दाबाद का नारा तोड़-फोड़ के लिये नहीं है। यह नारा कांग्रेसी नेताओं को छुड़ाने के लिये, हिन्दू-मुस्लिम एका करने के लिये, भूख का सवाल हल करने के लिये, फ़ासिज़्म का मुक़ाबला करने के लिये और आज़ादी लेने के लिये है।

एक ने पूछा—यह किसका झण्डा है?

दूसरे ने कहा—किसान पार्टी का।

पाँचवें दस्ते ने फुसफुसाया—सरकारी मशीन के पुर्ज़े हैं ये!

लेकिन "आज़ाद करेंगे हिन्द तुझे आज़ाद" की आवाज़ में उसकी फुसफुसाहट खो गई।

बूढ़े तेली ने अपने बेटे से पूछा—क्या कह रहे हैं ये?

बेटे ने बूढ़े बाप के कान के पास मुँह ले जाकर चिल्लाकर कहा—"आज़ादी की बात कह रहे हैं, आज़ादी की।" बूढ़े ने कुछ न समझने का सा भाव दिखाया। बेटे ने स्वर और ऊँचा करके कहा—"आज़ादी की बात, हिन्दुस्तान की आज़ादी की बात। समझे?"

बूढ़े ने श्रद्धा से सिर हिलाकर "हाँ" की।

बहरे कानों के सात पर्दों को पार करके यह आवाज़ पहुँच रही है—"आज़ाद करेंगे हिन्द तुझे आज़ाद!"

पुलिस को देखकर कुछ लोग डर रहे थे, कहीं लाठी-चार्ज न हो। खटिक ने कहा—अभी लिख्खर देंगे और धर लिये जायँगे। खोंचेवाले ने कहा—लिख्खर क्या देंगे, पुलिस तो पहले ही पकड़े लिये जा रही है!

लेकिन नाज के बारे में कुछ बात-चीत होते देखकर लोग नज़दीक खिसक आये। कन्धे पर बसूला रक्खे बूढ़ा मजूर मुँह बाये सुनता रहा। पगड़ी लगाये सेठजी दो मिनट तक खड़े रहे; इधर-उधर नज़र डालकर मुँह बनाकर मुस्कराये लेकिन किसी ने साथ न दिया तब झेंपकर आगे बढ़ गये। नानबाई का नौकर एक मुसलमान लड़का गन्दी तहमत बाँधे सिर पर बड़ा-सा डेग रक्खे चुपचाप सुन रहा था। डेग से गर्दन दुखने लगी; थोड़ी देर के लिये उसने उसे हाथों पर उठा लिया और फिर खोया-सा, नाज, एका और बङ्गाल की बातें सुनता रहा। बातचीत ख़त्म होने पर

बसूलेवाले मजूर के साथ वह दूसरी जगह तक साथ आया, उन्हीं बातों को फिर सुनने और समझने के लिये।

कुछ दूकानदार दूकान छोड़कर न आना चाहते थे। राजामण्डी की मीटिङ्ग खत्म होने पर एक ने कुछ चिढ़ाकर एक बुजुर्ग, कुछ परेशान से, मुसलमान से पूछा—"क्यों जी, क्या कह रहे थे ये! कुछ समझ में आया?"

बुजुर्ग ने तेज़ी से जवाब दिया—"दोनों भाई मिलकर चोरों से नाज छीन लो; और क्या कह रहे थे!"

दूकानद[illegible] [illegible]ड़ी।

मोटे-मोटे सफ़ेदपोश भीड़ के पास आते थे। सफ़ेद शेरवानी में किसी नेता को न देखकर कुछ निराश से होकर लौट जाते थे। पगड़ीधारी सेठ दूसरों की तरफ़ देखकर व्यङ्ग से मुस्कराते और किसी का साथ न देने पर खिसियाकर आगे बढ़ जाते थे। राह-चलते मज़दूर, छोटे-मोटे नौकरी-पेशा लोग, मटमैले कपड़े पहने हिन्दू और मुसलमान बड़े ध्यान से सभी बातें सुनते थे। एक दूकान पर कुछ गन्ने रखे थे; लड़के नज़दीक आने के लिये उनकी पत्तियों पर खरभर कर रहे थे। मटमैली जमात खरभर से परेशान हुई और दो-एक ने लड़कों को जल्द ही जगह पर बिठा दिया। यह मटमैली जमात ही इस मौत के सन्नाटे को तोड़ सकती है, और तोड़ रही है।

यह मटमैली जमात ही इस बात को समझ रही है कि बिना कांग्रेसी नेताओं के छूटे, बिना कांग्रेस-लीग में एका हुए उसके अन्न का सवाल हल नहीं हो सकता। आज वह नारे लगाती है, पहले धीमे, उलझे हुए स्वर में; फिर साफ़ और बुलन्द आवाज़ में। कांग्रेस और लीग और ब्रिटिश हुकूमत को इसकी आवाज़ सुननी ही पड़ेगी—

कांग्रेस लीग एक हो! कांग्रेसी नेताओं को छोड़ दो! हिन्दुस्तान हमारा है! उसकी हिफ़ाज़त हम करेंगे!

सोहाग-बिन्दी

[अमृतराय]

शाम [illegible] का चौपाल भी दो टिमटिमाती ढिबरियों से आलोकित है। ढिबरियों [illegible] क ज़मीन पर बैठे हुए लोगों के मुँह पर सेंदुर और कालिख का एक अजीब घोल पोत रहा है। ज़मीन पर बैठे हुए वे पचास से ऊपर लोग काँसे की मूर्तियों-से लग रहे हैं।

यों तो भगत महतो की चौपाल हमेशा गुलज़ार रहती है, क्योंकि भगत महतो गाँव के सबसे बूढ़े, पुराने आदमी हैं, सरपञ्च हैं और सब उनकी बहुत इज्ज़त करते हैं, लेकिन आजकल चौपाल में जमाव कम ही होता है—सबके यहाँ गुड़ के कड़ाह चढ़े हुए हैं न।

मगर आज ख़ास दिन है। गाँव की कमेटी ने आज एक ज़रूरी सभा बुलाई है, इसी लिए सभी जो आ सकते थे, आये हैं। बात यह है कि आज ही साँवल के मरने की ख़बर आई है।

भगत महतो के चौपाल में घुसते ही सरगोशियाँ बन्द हो गईं—सन-से बाल, गालों पर झुर्रियाँ, माथे पर गहरी-गहरी क्यारियाँ जिनसे उम्र का अन्दाज़ लगता है। महतो के साथ में थी साँवल की बहू पुनिया। उसके नौजवान चेहरे को जैसे पाला मार गया हो और वह ढिबरियों के मद्धिम आलोक में और भी बुझा-बुझा दीख पड़ता था।

भगत महतो ने कहना शुरू किया—"यह पुनिया है, नादान बच्ची। इसका पति साँवल अब नहीं है। आज ही ख़बर मिली है कि साँवल अकयाब की लड़ाई में मारा गया।"

"कौन है गाँव में जो साँवल को नहीं जानता। साँवल सचमुच गाँव भर के नौजवानों के गले का हार था। चढ़ती उम्र, कसरती बदन, भरी-भरी कसी हुई बाँहें, चौड़ी मर्दानी छाती और बड़ी-बड़ी आँखें जिनमें अबोध शिशु की आँखों-सी नमी थी। उसे गाँव में हर आदमी प्यार करता था। बच्चे उसे छेड़ते न थे, क्योंकि उसका-सा आज्ञाकारी घोड़ा गाँव भर में दूसरा न था। नौजवानों के गले का तो हार ही था वह। ऐसा छबीला जवान, तैराकी में, मछली पकड़ने में सबसे आगे, गुल्ली-डण्डा और कबड्डी में और पके आमों पर ढेले चलाने में बेजोड़, वह नहीं तो फिर कौन बनता उनके गले का हार! अधेड़ और बूढ़े तो उसे बहुत ही चाहते, क्योंकि उसने कभी किसी काम के लिए नाहीं-नुकुर न किया। वह बड़ों की इज्ज़त करता और हमेशा नीची निगाह करके चलता। गाँव में बदनामी पेड़ पर फलती और जङ्गली घास की तरह उगती है, लेकिन तो भी साँवल बदनाम न हुआ। साँवल ने किसी को छेड़ा हो, यह आज तक नहीं सुना गया—आज तक यानी कल तक या दो महीने पहले तक जब कि वह ज़िन्दा था, क्योंकि आज तो वह नहीं है।"

साँवल का लँगोटिया यार मङ्गल बोल रहा था, ग़म ने उसके चेहरे पर राख मल दी थी। फिर उसने कहा—"और क्या कहूँ, जोश के मारे उसका अङ्ग-अङ्ग फड़कता था। उसके अङ्ग-अङ्ग से जैसे चिनगारी छूटती हो। ज़िन्दगी का तो मोह करना ही न जाना उसने। आग-पानी से तो खेलता था वह—"

तभी कोई बीच में बोल उठा—देखा नहीं जब सम्पतिया के घर में आग लगी थी! जान पर खेलकर निकाल लाया था उसके बच्चे को—सचमुच शेर का कलेजा था उसका।

"तो एक रोज़ वह किसी काम से बाहर गया। लौटा तो सीधे मेरे घर आया। मैं तो यकायक पहचान भी न सका उसको। मुझे लगा जैसे वह मेरा साँवल नहीं है—इतना गम्भीर और ख़ामोश हो रहा था वह। उसकी हँसी के फ़ौवारों का कहीं नाम न था और कब की रुख़सत हो चुकी थी उसकी शोख़ी, उसकी मस्ती, तन्दुरुस्त नौजवान की-सी उसकी वह चुलबुलाहट। सबको जैसे किसी बहुत ज़हरीले साँप ने फूँककर जला दिया हो। उसका चेहरा बहुत कठोर हो रहा था। मैंने उसे ख़ुशी में भी देखा है—यानी था और रञ्ज में भी, लेकिन उसका चेहरा जैसा कठोर उस दिन था... कैसा कठोर था, उफ़. एकदम पत्थर; जैसे उसके भीतर ही भीतर एक बहुत बड़ी भट्ठी धधक रही हो और शायद उसे [illegible] वह एक जीती-जागती बर्फ़ की सिल बन गया हो। झूठ न कहूँगा, इस नये अपरिचि[illegible] गया। मैंने पूछा—'क्यों साँवल, जी तो ठीक है? क्या हो गया है तुम्हें [illegible] उड़ रही हैं!' साँवल ने कहा—'हवाइयाँ!' और थोड़ा-सा मुसकराया और यकायक फिर बहुत गम्भीर होकर कहने लगा—'तुम झूठ नहीं कहते मङ्गल, मेरे चेहरे पर शायद सचमुच हवाइयाँ उड़ रही हैं। मेरे अन्दर आग सुलग रही है, हाँ सुलग रही है, धधकती नहीं। अब मुझसे नहीं रहा जाता...' मैंने बिगड़ते हुए कहा - 'यह क्या वाही-तबाही बक रहे हो! क्या हुआ है कुछ मुँह से भी तो बोलो!' साँवल ने शान्तिपूर्वक जवाब दिया—'मैं झूठ नहीं कहता मंगल! मेरे अन्दर सचमुच आग सुलग रही है। और किसका ख़ून ऐसा पानी होगा कि वह सब बातें सुनकर भी उसमें गर्मी न आये। उनको सुनकर तो सभी के अन्दर आग सुलगने लगेगी।' मैंने पूछा—'कौन-सी बात?' साँवल बोला—'मैंने सुना है जापानियों ने अपने पैर बर्मा में अच्छी तरह जमा लिए हैं और हमारे देश पर हमला करने की उनकी तैयारियाँ भी अब पूरी हो चुकी हैं।' मैंने कहा—'करने न दो हमला, इसमें हमारा क्या!' साँवल बोला—'हमारा ही तो सब कुछ है। तुम्हीं बोलो, जब हमारी धरती पर लड़ाई होगी, तो मारे कौन जायँगे!' मैं और कहता भी क्या, बोला—'हम।' फिर तो उसने सवालों की झड़ी-सी लगा दी—'जापानी बम किस पर गिरेंगे, हम पर या किसी और पर! जापानी मशीनगनें किन पर चलेंगी, हम पर या किसी और पर? मारा कौन जायगा, तेरा मोहना या और कोई? बेआबरू कौन होगी, मेरी पुनिया या और कोई! और तुम पूछते हो, इसमें हमारा क्या! हमारा ही तो सब कुछ है। हमीं तो दाँव पर लगे हैं। जापानियों ने औरतों और बच्चों पर जो-जो अत्याचार किये हैं, उन्हें सुनकर तो मेरे रोंगटे खड़े हो गये। सड़क के चौराहे पर एक आदमी चिल्ला-चिल्लाकर कुछ कह रहा था। मैं भी यों ही दो मिनट को खड़ा हो गया। उसकी बातें सुनकर तो मेरी आँखें खुल गईं।'

"मैंने योंही मज़ाक किया—'तुम तो ख़ुद ही लिक्चर झाड़ने लगे साँवल!' साँवल मुसकराया तक नहीं, उसने उसी लहजे में कहा—'यह सच है कि आज वह हमसे थोड़ी दूर पर हैं, मगर कल वह हमारी धरती पर होंगे। आज दूसरों की औरतें सरे-बाज़ार नंगी की जा रही हैं, कल मेरी पुनिया होगी। आज दूसरों के बच्चे उछाल-उछालकर संगीनों पर लोके जाते हैं, कल तेरा मोहना होगा, मंगल। कल के दिन हमारी धरती भी हमारे ख़ून से, हमारे बच्चों के ख़ून से तरबतर होगी यह मत भूलो, मंगल।' मैंने पूछा—'तो क्या करें हम!' साँवल ने कहा—'अगर अपने बच्चों को बचाना है, तो हमें इन जापानी हत्यारों को आगे बढ़कर रोकना होगा—हिन्दुस्तान के बाहर ही इनसे लोहा लेना होगा। मैं फ़ौज में भरती हो गया हूँ।' मैंने कहा—'तो मैं भी हो जाऊँ!' साँवल ने कहा—'नहीं, यह कोई ज़रूरी नहीं। जो जहाँ हो, भारत-माता की देह को अपने शरीर से ढँक ले

जिस पर जापानी ख़ंजर का वार पहले उस पर हो—यही कहा उस आदमी ने। वह रास्ता बतला रहा था कि किस तरह हम अपना असली राष्ट्रीय मोर्चा मज़बूत बना सकते हैं, हाँ सचमुच इतना मज़बूत कि एक-एक जापानी को यहीं खोदकर गाड़ दें, उनकी खाद अपने खेतों को दें अगर हमें यह डर न हो कि उन राक्षसों की खाद भी, जिनकी हड्डी-हड्डी और रग-रग में हत्या और बलात्कार [illegible] है [illegible] खेती को सड़ा देगी, सुखा देगी, जलाकर राख कर देगी! मेरे सामने [illegible] ठिंगने-ठिंगने राक्षस मेरी पुनिया [illegible] और मोहना को अपने ख़ूनी पंजे से झँझोड़ने के लिए बढ़ रहे हैं और [illegible] बढ़कर अपनी छाती से उनका रास्ता रोकना है, बस एक बार भिड़ जाना है पूरे ज़ोर से, फिर जो होना हो हो ले.... अच्छा खाया-पिया है, ज़ोर किया है, कबड्डी खेला हूँ—आज ही के लिए तो!' साँवल का चेहरा तमतमा उठा था। दूसरे दिन वह चला गया। वही उससे मेरी आख़री मुलाक़ात थी।"

पुनिया भगत महतो के बग़ल में बैठी थी। आँसुओं का तार उसकी आँख से जारी था। मंगल के बोलते समय उसकी आँखों के सामने अपने पति की तसवीर नाच रही थी। वह भोला-भाला-सा मुखड़ा, वह पानी की-सी स्वच्छ हँसी, वह हमेशा गीली-गीली-सी आँखें—रोते-रोते उसका हाल बेहाल था। आँसू थमना जानते ही न थे।

तभी भगत महतो ने फिर कहना शुरू किया—"रो मत बेटी, रोती क्यों है? आज तेरा रोने का दिन नहीं है। तेरा पति वीर-पुत्र था। उसने लड़ाई के मैदान में वीरों की तरह जान दी है—आख़री साँस तक लड़ते-लड़ते। बेटी, मेरा ख़ून अब ठण्डा पड़ गया है, उसमें वह गर्मी नहीं, लेकिन तो भी मैं समझ सकता हूँ कि साँवल ने बर्मा में जाकर जान क्यों दी। उसने जान इसी लिए दी कि हरिहरपुर में उसकी पुनिया है जिसे वह जान से भी ज़्यादा चाहता है और समूचे भारतवर्ष में लाखों हरिहरपुर हैं और उनमें करोड़ों पुनिया हैं। आज तेरे रोने का दिन नहीं है पुनिया। तेरे स्वामी ने वीर-गति पाई है—अपनी माँ-बहनों की लाज बचाने के लिए वह खेत रहा है। उसने इसी लिए जान दी है कि फूल-से बच्चों पर आँच न आए।"

भगत महतो की आँखें भी गीली हो आई थीं, लेकिन अपने उमड़ते हुए आँसुओं को पीकर उन्होंने अपने हाथ से पुनिया के आँसू पोंछे और किंचित् उदास ढंग से मुसकराते हुए कहा—"छिः, तेरे इतने भाई यहाँ पर हैं और तू असहाय की तरह रोती है! आँसू पोंछ डाल।... और यह क्या! तूने सोहाग-बिन्दी क्यों पोंछ डाली है...उहुँक, यह न होगा, यह न होगा" और उन्होंने सन-से सफ़ेद बालोंवाले अपने सर को दो बार इस ओर से उस ओर हिलाया और पुकारकर कहा—"गौरा बिटिया, अपने सेंदुर की डिबिया तो ज़रा ले आ..."

पुनिया ने सोहाग-बिन्दी का विरोध करते हुए कहा—"मेरा सोहाग तो लुट चुका, बाबा—अब यह क्या?"

उत्तर में भगत महतो ने किंचित् रोष के साथ कहा—"कौन कहता है, तेरा सोहाग लुट चुका, तू चिर-सोहागिन है, तेरे पति ने देश के लिए जान दी है। उसने इसलिए जान दी है कि तेरे जैसी करोड़ों सोहागिनों की माँग का सेंदुर न पुँछे। साँवल ने करोड़ों सोहागिनों के माथे की बिन्दी की

रक्षा करते हुए जान दी है। उस साँवल की पुनिया का सोहाग अमर न होगा, तो फिर भला किसका होगा, बोल तो !...पुनिया, तू सचमुच चिर-सोहागिन है। तेरा पति चाहे न हो, लेकिन साँवल तो उन सभी देशवासियों में साँस लेता है जो अपने देश की रक्षा के लिए अपनी निष्ठा और सङ्कल्प, अपनी आशा और विश्वास का खड्ग लिए खड़े हैं।"

पुनिया की सोहाग-बिन्दी ढिबरी के उस टिमटिम आलोक में भी ऐसी प्रखर होकर चमक रही थी जैसे समुद्र की-सी गहराइयोंवाले, नीले, निरभ्र, इस छोर से उस छोर तक फैले हुए आकाश में असंख्य छोटे-छोटे दीपों के ज्योति-पुञ्ज-सा शुक्र-तारा।*

---

* ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली के सौजन्य से।

पिता का प्रतिशोध

[कुजमा चोर्नी]

उसे अपनी बाल्यावस्था के वे दिन याद आये जब यही सड़क खुले मैदान को पार करती हुई जङ्गल में जाकर विलीन हो जाती थी, किन्तु उन दिनों सड़क के दोनों ओर वृक्षों की पंक्तियाँ न थीं। सुदूर क्षितिज की दोनों पहाड़ियाँ देवदारु के सुनील जङ्गल से ढकी थीं और बीच के सपाट मैदान में विशाल एल्म के अतिरिक्त कहीं भी कुछ दिखाई नहीं देता था।

तब से आज तक वह अपने पिता को देखती आई है। उन दिनों आज की तरह उसका सिर गञ्जा न था, किन्तु मूछें खिचड़ी होने लगी थीं। अब तो पिता काफ़ी बूढ़ा हो चला है और वह खुद एक बारह वर्ष की बालिका की माता हो चुकी है। समय कितनी जल्दी गुज़र गया। अब वह इकतीस वर्ष की है, किन्तु लगता ऐसा है कि जैसे अभी कल की ही बात हो और जैसे कुछ ही समय पहले वह अपनी नास्तोत्स्का जैसी बालिका ही थी।

............और आज—अब उसका पिता कहाँ है ? उसकी लाड़ली नास्तोत्स्का कहाँ है ? अब वह सब कुछ नहीं है। सब मिट चुका है। इस समय तो वह अँधेरी दीवारों से घिरी खड़ी है। उसकी बोटी बोटी पीड़ा से छटपटा रही है। उसका चेहरा बन्द दरवाज़े से सटा हुआ है।

बाहर ताला खुलने की आवाज़ हुई और दरवाज़ा खुला। जर्मनों ने एक बार उससे फिर प्रश्न किया—"तुम्हारा भाई कहाँ है ? सोच लो, केवल एक ही मिनट बाक़ी है।"

"मैं नहीं जानती भाई कहाँ है।"

लाल बालवाले जर्मन ने आँख से इशारा किया और नास्तोत्स्का उसके सामने उपस्थित कर दी गई। एक दूसरा जर्मन कन्धा पकड़कर उसे साधे हुए था। अरे, बच्ची का क्या हाल हुआ है ! अपने हृदय के टुकड़े की ऐसी दशा देखने से पहले ऐसी कौन माता है, जो ज़मीन में समा जाना न चाहेगी। नास्तोत्स्का झुकी हुई उसके सामने खड़ी थी। पहले ऐसी तो वह नहीं थी। उसका चेहरा दुबला हो गया था और चेहरे पर धूल लगी हुई थी। शायद बड़ी देर तक उसे ज़मीन पर डाल रखा गया था। हाथ काँप रहे थे, घुटने झुके थे और गर्दन बाईं तरफ़ के कन्धे पर लटक गई थी।

नास्तोत्स्का का शरीर निर्जीव-सा था, केवल उसकी आँखों से सजीवता टपक रही थी। माता को देखते ही बालिका का चेहरा आभा से चमक उठा, किन्तु फिर उसने देखा कि माता का सिर दीवार के सहारे झुका हुआ है। वह रोने लगी। माता ने सिर उठाया और नास्तोत्स्का के पास चली गई। किन्तु लाल बालोंवाले जर्मन ने कन्धे पकड़कर उसे झकझोर दिया—"तुम्हारा भाई कहाँ है !"

वह खड़ी हुई काँपती रही।

"तुम्हारा भाई घर ही है। वह कहाँ छिपा हुआ है ! बोलो, बताओगी या नहीं ? यदि तुमने नहीं बताया तो उसे (जर्मन ने नास्तोत्स्का की तरफ़ इशारा किया) अभी गोली मार दी जायगी।"

अभागी माता ने अपने मुँह से एक शब्द भी नहीं निकाला। जर्मन ने लड़की को गोली मार दी। उसकी उँगलियाँ धीरे से हिलीं और फिर सदा के लिए शान्त हो गईं।

माता अपनी पुत्री के शव की ओर सारी शक्ति सञ्चित करके दौड़ पड़ी। किन्तु निष्ठुर जर्मनों ने उसे पकड़ लिया और ठोकरों से ख़ूब मारा। किन्तु स्त्री फिर उठी और पुत्री की तरफ़ दौड़ पड़ी।

"तुम्हारा भाई कहाँ है!" ये शब्द उसके कानों में रह-रहकर गूँज जाते थे। अचानक न जाने कहाँ से शक्ति बटोरकर वह खड़ी हो गई। उसके सिर का दर्द भी जाने कहाँ चला गया। वह केवल यही अनुभव कर रही थी कि उसके कानों और मुख से ख़ून की धाराएँ निकल रही हैं। साँस तेज़ी से चलने के कारण उसका दम फूल रहा था और वह बड़ी भयानक दृष्टि से जर्मनों को देख रही थी। वह कर्कश और झनझनाते स्वर में ज़ोर से बोल उठी—"मेरा जार्ज तुमसे नास्तोत्स्का का बदला ज़रूर लेगा। उसके पास राइफल है। वह युवक-सङ्घ का सदस्य है। किन्तु मैं नहीं बताऊँगी कि वह कहाँ है। मेरा पति लाल सेना में है और तुम कभी भी हमें अपनी अधीनता में न कर सकोगे। हरगिज़ तुम इस बात का पता न लगा सकोगे कि जार्ज कहाँ है।"

जर्मन ने उसकी छाती में गोली मार दी और वह गिर गई। फिर सभी ओर शान्ति छा गई—श्मशान जैसी शान्ति। दस मिनट गुज़र गये। एक बुड्ढा, जिसका चेहरा शान्त, सिर गंजा और मूछें सफ़ेद थीं, बग़ीचे से सहन में आया। उसके हाथ में हँसिया और कन्धे पर ज़मीन समतल करने का औज़ार था।

उसे घर से बाहर गये एक घंटा हो चुका था। दूर नदी के पास से उसने जर्मनों की लारी को आते देखा था और तुरन्त ही वह घर के लिए चल पड़ा था।

सहन में घुसते ही उसने खलिहान का द्वार खुला देखा। दरवाज़े की सीढ़ी पर नास्तोत्स्का का शव नीले कपड़ों में लिपटा पड़ा था। बुड्ढा स्तब्ध रह गया। एक क़दम आगे बढ़ाकर उसने देखा कि दरवाज़े से कुछ भीतर उसकी एकमात्र पुत्री का भी शव पड़ा हुआ है। अनाज की एक खाली बाल उसके सिर के नीचे दबी थी और उसका अगला भाग उसके गाल पर टूटा हुआ पड़ा था।

पिता ने दरवाज़ा खोला और भीतर प्रवेश किया। दोनों जर्मन वहाँ अब भी थे। लाल बालवाला मेज़ के पास बैठा हुआ किसी काग़ज़ को ज़ोरों से पढ़ रहा था। दूसरा वहीं बैठा हुआ किसी बेकार काम में लगा था।

बुड्ढे ने पास पड़े फावड़े को उठा लिया और धार का भाग सामने कर शत्रु के सिर पर पूरी शक्ति से वार किया। जर्मन लड़खड़ाकर फ़र्श पर गिर पड़ा, किन्तु बुड्ढा उधर दृष्टिपात किये बिना ही मेज़ के पास दूसरे जर्मन की ओर झपटा और उसे मारने के लिए फावड़ा उठाया।

लाल बालवाले जर्मन ने तुरन्त पिस्तौल हाथ में ले लिया, किन्तु गोली छूटने से पहले ही बुड्ढे का वार उसके हाथ पर हुआ और पिस्तौल उसके हाथ से छूटकर गिर पड़ा। जर्मन चिल्ला उठा। फिर दाँत किटकिटाकर वह बुड्ढे की ओर झपटा। बुड्ढा इस बीच में दूसरा वार करने के लिए अपने हथियार को सिर के ऊपर उठा चुका था। जर्मन वार से बचने के लिए ज़मीन

पर गिर गया, किन्तु फावड़े की चोट उसके चेहरे पर हो ही गई। जर्मन चीत्कार करता दरवाज़े की ओर भागा। बुड्ढे ने उसका पीछा किया, पहले बाग़ में और फिर सामने के खेत में।

चेहरे की चोट के कारण जर्मन का सिर चक्कर खा रहा था। कुछ दूर सीधा दौड़ चुकने के बाद वह नदी में कूद पड़ा और दूसरे किनारे की ओर जाने लगा। बुड्ढा साँस फूल जाने के कारण धीमा पड़ गया, किन्तु नदी पार करने का विचार उसने भी नहीं त्यागा। जर्मन में अब दौड़ने का दम नहीं रह गया था, इसलिए वह नदी के दूसरे किनारे के सहारे-सहारे चलने लगा। बुड्ढा भी उसका पीछा करता रहा।

सूर्य डूब चुका था। जर्मन ने एक जङ्गल में प्रवेश किया। बुड्ढा उसके पीछे था। चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य था और एक दूसरे की उपस्थिति का पता उन्हें केवल पत्तों की खड़खड़ाहट से ही लगता था। सहसा जर्मन एक ओर को मुड़ गया। अब बुड्ढे की बन आई। वह जङ्गल के कोने-कोने से परिचित था, इसलिए बड़ी आसानी से उस स्थान के पीछे आ गया जहाँ जर्मन खड़ा होकर कुछ बड़बड़ा रहा था। दोनों आधे घण्टे तक चुपचाप खड़े रहे। जर्मन को पता न था कि शत्रु उसके पास खड़ा आक्रमण के पहले अपनी थकावट मिटा रहा है। चन्द्रमा आकाश में मेघमालाओं से आँख-मिचौनी खेल रहा था। खेत के चारों तरफ़ जङ्गल साँय-साँय कर रहा था। बुड्ढे ने पूरी शक्ति से शत्रु के सिर पर फावड़े से आघात किया और उसके गिर जाने के बाद भी तब तक करता रहा जब तक वह बिलकुल निःशब्द न हो गया। बुड्ढा भयावने वन में भूत की तरह घुसा और बीच की ख़ाली ज़मीन में सो गया। अब आकाश में चन्द्रमा मेघमालाओं के जाल से मुक्त होकर अपनी चाँदनी दूर-दूर तक फैला रहा था। घास ओस से भीगी हुई थी।

सवेरे की तेज़ हवा चल पड़ी और जङ्गल गर्जन कर उठा। बुड्ढे ने आँखें खुलने पर देखा कि सूर्य सिर पर चढ़ आया है। कुछ दूर चल चुकने के बाद उसे स्थिति का ज्ञान हुआ कि वह कहाँ है और किधर जा रहा है। धीरे-धीरे उसने विचार कर लिया कि दिन में गाँव जाना ख़तरे से ख़ाली नहीं। इसलिए वह रात के वक्त अपने गाँव में घुसा।

अब घर पर उसकी पुत्री अथवा नास्तोल्का में से कोई नहीं थी। बुड्ढे ने एक पड़ोसी का दरवाज़ा खटखटाया। पड़ोसी ने बताया गाँववालों ने गुप्त रूप से दोनों के शव दफना दिये हैं। दिन निकलने से पहले बुड्ढा एक बार फिर पड़ोसी के घर गया और पूछा कि उसका पुत्र जार्ज तो वहाँ नहीं आया? पड़ोसी ने उत्तर दिया—नहीं।

बुड्ढा गाँव की सीमा के बाहर चला गया और जार्ज का इन्तज़ार करता रहा। इसी प्रकार वह कई दिन तक अपने घर के पास भटकता रहा। जङ्गल में पेड़ों के पीछे छिपा हुआ जर्मनों को लारियों में आते देखता। उसने अपने मकान में आग लगाये जाने का दृश्य भी देखा। रात में उषःकाल से पहले ही बुड्ढा गाँव में अपने मकान के भग्नावशेष को देखने गया। कितनी ही जगह अब भी ज्वालाएँ भीतर ही भीतर जल रही थीं। पहले जो पेड़ हरा-भरा था, उसकी डालियाँ और पत्तियाँ जल चुकी थीं और केवल ठूँठ आकाश की ओर मुँह किये खड़ा था। पेड़ के इस एकाकी तने से सटा हुआ बूढ़ा सूर्य निकलने तक चुपचाप खड़ा रहा।

पड़ोसी ने आकर उससे कहा—जार्ज आ गया है। अरे सुनो तो! जार्ज आ गया है।

"कहाँ है?"

"मेरे घर सो रहा है। आओ, बातें कर लो।"

बुड्ढा चुपचाप पड़ोसी के पीछे चला। जार्ज ने आँखें मलते हुए देखा कि उसका पिता सामने खड़ा है। बुड्ढा आँखें फाड़-फाड़कर देखता रहा। वह कुछ कह नहीं पा रहा था, उसका गला तो भर आया था।

"मैं जानता हूँ। सब कुछ जानता हूँ।" जार्ज ने कहा। उसने घास फूस के ढेर से एक राइफल निकालकर अपने पिता को दी और दूसरी पड़ोसी को। उसी स्थान से एक रिवाल्वर निकालकर उसने अपने लिए रख लिया।

"अब कहाँ जायँगे।"—पिता ने पूछा।

"यहीं ठहरकर प्रतीक्षा करेंगे। हमारे आदमी नदी के पास वाले खेत में हैं। अभी कुछ समय में जर्मन वापस आनेवाले हैं।"

इसके बाद वे चुपचाप बैठे रहे। जार्ज ने दरवाज़े को खोलकर उसकी दरार से झाँककर देखा कि जर्मन सिपाहियों से भरी दो लारियाँ चली आ रही हैं। जर्मन सैनिक किसानों के झोपड़ों की ओर चले गये और लारी के पास केवल ड्राइवर और एक पहरेदार रह गया। पड़ोसी ने किवाड़ की दरार में से निशाना लगाकर बन्दूक दागी और सन्तरी वहीं का वहीं ढेर हो गया। जार्ज ने दौड़कर लारी के नीचे एक हथगोला फेंका, जिसके परिणामस्वरूप धूल के गुब्बार उछल पड़े और आकाश धुएँ से भर गया। जर्मन भी गोली चलाते हुए सड़क की ओर दौड़ पड़े। जार्ज भागकर एक कोठरी की दीवार के पीछे छिप गया और रिवाल्वर से धुआँधार गोलियाँ बरसाने लगा।

नदी के पार वाले खेत को पार करके और आदमी भी आ गये। युद्ध आरम्भ हो गया। धुएँ के गुब्बार बुड्ढे के सामने कुछ ही दूरी पर उठे थे। वह गोली चलाता रहा। पास ही एक जर्मन का सिर ऊपर उठा। बुड्ढे के सामने धुआँ छाया हुआ था। हाथ काँप रहे थे—अब वह निशाना लगाये तो कैसे लगाये। आखिर बुड्ढे ने राइफल के घोड़े को दबा ही दिया। जर्मन धराशायी हो गया। आज बुड्ढे के आनन्द का पारावार नहीं था। इस बीच उसे केवल एक ही बात का ज्ञान रह गया था—निशाना लगाकर गोली छोड़ देना। आखिर युद्ध रुक गया।

"पिता!" जार्ज ने बुलाया। बुड्ढा उठ खड़ा हुआ और देखने लगा कि पुत्र उसे कहाँ से बुला रहा है।

"चलकर थैले में से रोटी खाओ।"

"वह थैला कहाँ है!"

"वहाँ सब तैयार है।" पड़ोसी बोला और सब खलिहान की ओर चले। पड़ोसी ने दरवाज़े को धकेला, किन्तु वह खुला नहीं।

"यह बड़ी विचित्र बात है।" पड़ोसी ने कहा—मैंने तो ताला लगाया न था।

उसने बन्दूक की नली से एक बार दरवाज़े को फिर धक्का दिया।

इतने में एक छापामार सैनिक नंगे सिर भागता हुआ पसीने से लथपथ आया। और हाँफता हुआ बोला—जर्मन उधर से गोली चला रहे हैं।

"उनके पास छिपने को कोई स्थान न था। इसलिए वे ताला बन्द करके भीतर बैठ गये हैं।"

सब चुप हो गये। एक बाग़ के एक ओर मशीनगन किटकिटा उठी।

"उधर भी—उधर भी जर्मन हैं।"

अब दूसरी लड़ाई आरम्भ हुई।

जिधर से गोलियाँ आ रही थीं जार्ज उधर को दौड़ा और छापामार सैनिक ने भी उसका अनुसरण किया। अब पिता को अपने पुत्र की चिन्ता न थी। उसे केवल इस बात का ज्ञान था कि खलिहान के जर्मन पूरी तरह उसके चंगुल में फँस चुके हैं।

दरवाज़ा खुला और दरार के भीतर से बन्दूक़ की नली बाहर निकली। उत्तर में बुड्ढे की रायफल गरज उठी। दरवाज़ा फिर बन्द हो गया। बुड्ढे ने दरवाज़े के बाहर घास-फूस इकट्ठा किया और आग लगा दी। आग की लपटें धू-धू करके जल उठीं। एक जर्मन दरवाज़ा खोलकर गिरता-पड़ता भागा। आग उसके कोट में लग गई थी। बुड्ढे ने गोली चला दी और इस बार वह ऐसा गिरा कि फिर न उठा। कुछ ही समय में खलिहान की दीवार गिर पड़ी। छत की धन्नियाँ गिर गईं थीं और चटख-चटखकर जल रही थीं। मृत जर्मन सैनिकों के हाथ-पैर उनके नीचे से दोनों ओर को निकले हुए थे।

आधे घण्टे के भीतर शान्ति छा गई। जार्ज तथा अन्य लोगों से मिलने के लिए बुड्ढा गाँव से चल पड़ा। सूर्य डूब चुका था।

बुड्ढे को मार्ग में कितने ही जर्मन मरे पड़े मिले—शायद उसके सन्तोष के लिए उनकी संख्या काफ़ी न थी। एक करोड़ जर्मन मारे जाने पर भी क्या उसके अन्तर की पीड़ा मिट सकती थी! क्या उसके हृदय को शान्ति मिल सकती थी?

वह चौड़ी सड़क पर उन वृक्षों की बड़ी-बड़ी डालियों की छाया में आगे बढ़ा, जिन्हें उसने स्वयं अपने हाथों से लगाया था। उसे आशा थी कि अपने जीवन भर वह उन्हें यहीं देखता रहेगा और वे निरन्तर बड़े ही होते जायेंगे।

संगीत की स्वर-लहरी पर जूझनेवाला चीन

नवीन चीन के सूर्योदय ने कला और साहित्य पर नया ही प्रकाश डाला है। काम करनेवाले श्रमजीवियों तथा ग्रामीण किसानों तक की ज़बान पर आज चीन के नवीन गीत नृत्य कर रहे हैं। सभी उन्हें गुनगुना रहे हैं।

चीन के अस्पतालों में काम करनेवाले नवयुवकों और नर्सों में राष्ट्रीय गीतों का प्रचार हो रहा है। परिचर्या के साथ-साथ उन्हें लोक-गीतों का अभ्यास भी करना पड़ता है। आज़ाद चीन की गलियों में रावण-हत्या (जिस पर कि नाथ-सम्प्रदाय के साधु गाया करते हैं) जैसे साज (वाद्य) को लेकर सङ्गीतकार घूमते रहते और हृदय को उत्साहित करनेवाला सङ्गीत सुनाते रहते हैं। उन गीतों में चीन का इतिहास ग्रथित किया गया है और जिस वीरता के साथ आज चीन अपने शत्रु से टक्कर ले रहा है, उसका गुण-गान किया गया है। ढोलक की ताल पर आज राष्ट्रवाद की ताल पड़ रही है।

× × × ×

उन गीतों में फूलों के गजरे गूँथकर जीवन बितानेवाली युवतियों का उल्लेख नहीं किया जाता और न उनमें कृषकों का करुण-रोदन ही व्यक्त किया जाता है। इसी प्रकार स्वामी के कोड़े से पिटनेवाले ग़ुलाम की चीत्कार ही आज स्वाधीन चीन में सुनाई नहीं देती। विधाता पर बात-बात में दोषों का टोकरा उँडेलने की भावना भी चीन से बिदा हो गई है।

आज के चीनी गीतों में जीवन-संग्राम के घात-प्रतिघात और देश की स्वाधीनता के लिए मृत्यु का भय त्याग देनेवाले वीरों की गाथाएँ लहराती तथा गूँजती सुनाई देती हैं।

बुढ़िया मींग टॉय के सातों पुत्र रणभूमि पर सदा के लिए सो गये। किन्तु इतने पर भी उसने शोक से व्याकुल होकर ज़मीन पर पछाड़ नहीं खाई। सबसे छोटा लड़का गोलियों से घायल होकर जब माता के पास पहुँचा तो बूढ़ी मींग टॉय ने उसका सत्कार किया। किन्तु रुदन से नहीं और न किसी विकल-वाणी से, बल्कि वीर-वाणी में सम्बोधन कर बलैयाँ लेते हुए।

इस पर छोटे लड़के के कहा—"माँ! मेरे छहों भाई मेरी अपेक्षा अधिक भाग्यशाली हैं जो कि रणभूमि पर ही मर मिटे।......किन्तु मैं सबसे छोटा था। इसलिए तेरे दर्शन का सुयोग दुश्मन की इस गोली ने ला दिया। सीसे की गोली पिघल गई। अम्मा! तेरे स्नेह का उसने सम्मान किया।"

"आ बेटा, मेरी गोदी में अपना सिर रख दे। जब तू बिलकुल बच्चा था और रात में सोता नहीं था, उस समय मैं जो लोरी तुझे सुनाया करती थी, वही आज सुनाती हूँ।"

"सच है माँ! तेरे लिए तो मैं आज भी वही बालक हूँ न। बड़ा अच्छा किया तूने, जो मुझे केवल खिलौना देकर ही नहीं बहलाया।......अनन्त उपकार है माँ! मुझे अपनी गोद में सुलाकर तूने स्वतन्त्र चीन की लोरी सुनाई। माँ......तेरी गोद...और मातृभूमि की

गोद मुझे तो समान ही मालूम होती है। अहा! जन्मभूमि कितनी सुन्दर है—देखो, वह सूर्य टेकड़ी की आड़ में छिप गया।......'ज़रा पानी देना तो......"

मींग टॉय ने मरते हुए पुत्र को पानी पिलाया और मातृभूमि की गोद अपनी सातवीं और अन्तिम भेंट भी अर्पण कर दी।......उस समय बूढ़ी माता के नेत्रों में आँसू थे। किन्तु उन आँसुओं में माता के स्नेह के साथ ही मातृभूमि का प्रेम भी मिला हुआ था। मींग टॉय को यद्यपि पुत्र-वियोग पर दुःख अवश्य होता था; किन्तु इस बात पर उसे परम सन्तोष था कि उसके सातों पुत्र देश की स्वतन्त्रता के संग्राम में भेंट चढ़े।

इस प्रकार की कहानियाँ और घटनाएँ नवीन चीन के साहित्य और कला में ग्रथित कर दी गई हैं।

× × × ×

लोक-गीतों की लय को नवीन गीतों में मिला दिया गया है। नाविक का गम्भीर आलाप, गलियों के संवाद, कारख़ाने के मज़दूरों का श्रम-हारक राग तथा ताल-स्वर के साथ का संगीत आदि सब नवीन शब्दों में ग्रथित कर लिये गये हैं। इसी कारण रक्त में भिद जानेवाले स्वरों से चीनी-दल जाग उठते हैं और कान पर नवीन वाणी नृत्य करने लगती है।

कविता के लिए अनेक प्रकार के विवेचन प्रकट किये गये हैं। किसी ने कविता को 'निरा स्वप्न' बतलाकर यथार्थता की सतह से नीचे उतार दिया है, तो कोई कविता को अवकाश के समय गुनगुनाते हुए आनन्द पाने का साधन मान रहा है।

इसी प्रकार कुछ लोग वहाँ ऐसे भी निकल पड़े हैं जो कविता को व्यक्तिगत अनुभव-विशेष के कारण कविता की उत्पत्ति मानकर उसे सामुदायिक साहित्य के अयोग्य बताते हैं। किन्तु इन लोगों ने कविता को जीवन के बाँध पर बैठते हुए नहीं देखा; क्योंकि कविता के द्वारा मानसिक अवस्था खड़ी की जा सकती है और ख़ासकर यदि उसे स्वर के तारों पर दौड़ाया जाय तो वह सीधी लोक-मानस तक पहुँच सकती है।

अन्यथा इस विकट जीवन-प्रसङ्ग पर चीन के साहित्यकारों को कविता रचने की स्फूर्ति ही न होती। उन्हें ज्ञात हो चुका है कि कविता मानव-जाति के आत्माभिमान को सजीव और मानव-स्वभाव की ज्योति को जाग्रत् रखती है।

चीन का सङ्गीत अति प्राचीन है। हज़ारों वर्ष पूर्व चीन के सम्राटों ने कलाकारों से जिस प्रकार के सङ्गीत की माँग की थी, उसके स्वर आज भी सजीव हैं। किन्तु नवीन चीन स्वरों के नूतन प्रयोग का अनुभव कर रहा है।

शास्त्रीय सङ्गीत विद्यमान है और लोक-गीत भी मौजूद हैं। अवकाशभोगी समाज ने तो केवल कठिन या श्रम-साध्य सङ्गीत का ही अभ्यास किया है, किन्तु समूह के कण्ठ में तो लोक-गीत ही गूँज रहे हैं।

जो चीनी लोग मातृभूमि को छोड़कर विदेश चले गये थे, उन्होंने विदेशी सङ्गीत का अभ्यास किया और जिन स्वरों में 'शक्ति' थी, उनके आसपास चीन के नवीन गीतों को खड़ा कर दिया। किन्तु उन्होंने केवल बन्दर जैसी नक़ल नहीं की; अर्थात् पाश्चात्य-सङ्गीत की अनेक बाजुओं को उन्होंने धता बताकर केवल उन्हीं को पसन्द किया, जिनमें मधुर-मंजुल-

स्वर था। इसके बाद चीन में रेडियो के स्वर ने प्रवेश किया और उसके साथ-साथ नये और विभिन्न देशों का संगीत भी प्रविष्ट हो गया।

हलका (साधारण) सङ्गीत आज चीन में अदृश्य हो गया है; क्योंकि वहाँ का जीवन भारी या गम्भीर बन गया है। अब तो वहाँ बमगोलों के नीचे मङ्गल मनाया जा रहा है। मृत्यु की छाया के नीचे जीवन चमक रहा है। इसी कारण उनमें गम्भीर स्वरों का अनायास प्रवेश हो गया है। सङ्कट की भट्ठी में कला का सुवर्ण तपाकर शुद्ध किया गया है और उस पर कठिन, विकट तथा गम्भीर सङ्गीत द्वारा ओप चढ़ाया गया है।

नगाड़े की ध्वनि के द्वारा चीन में जो बात करने की वर्षों की पुरानी रीति है, उसके प्रभाव के साथ नये 'ऑपेरा' रचे गये हैं।

"जन्मभूमि" (बम्बई)

उसकी समाधि पर

[ललितमोहन अवस्थी]

खर, खर, खर!

"'मशीन चल रही थी; और बुड्ढा करीम अपनी पुरानी, छोटी सी दूकान के सँकरे दरवाज़े के पास बैठा कपड़े सिल रहा था। उसकी बूढ़ी आँखों पर चश्मा था, और चेहरा झुर्रियोंदार। ढीले होंठ मूँछों से ढँके थे, और लम्बी सफ़ेद दाढ़ी छाती पर लटकती थी। सर गञ्जा, नंगे बदन, तहमत लपेटे, एक टीन के मोढ़े पर बैठा वह मशीन पर झुका था। पैर हिल रहे थे, मशीन चल रही थी, और कपड़ा सिलता जा रहा था। साथ में मुँह से गुनगुनाहट-सी निकल रही थी, और हृदय में विचार—

"मेरा बेटा यूसुफ़'''ख़ूबसूरत, जवान, पढ़ा लिखा।'''ओह, कैसी-कैसी मुसीबतों से मैंने उसे पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है। कितनी तकलीफ़ें उठाकर उसे एफ़० ए० तक पढ़ाया है।'''अब वह बड़ा है, लायक़ है, बीस बरस का जवान है।'' या अल्लाह! परवरदिगार! उसकी ख़ैर करे'' मेरे आँख का तारा, ज़िन्दगी का सहारा, बुढ़ापे की लकड़ी''ख़ुदा! उसे लम्बी उम्र बख़्शे।''मेरी इकलौती औलाद यूसुफ़!

"—दो महीना; ओह! अरे सिर्फ़ दो महीना!''यह तो बहुत कम वक़्त रह गया। उसकी शादी'''उसकी शादी के सिर्फ़ दो महीने? या अल्लाह! अभी तो बहुत तैयारी करनी है''' अभी सारा इन्तज़ाम बाक़ी है। मुझे तो बहुत कपड़े सिलने हैं—कुरते, पाजामे, शलवार, अचकन, बुर्क़े, टोपियाँ— अरे, अभी तो सब कपड़े सिलने हैं। मेरे दो महीने तो इसी में बीत जायँगे। मैं क्या करूँ!...और मेरी आँखें— उनसे भी कम दिखता है। या अल्लाह! बुढ़ापे में तूने यह बहुत बुरा किया। ख़ैर!

"मेरा मकान''हाँ आँ''मुझे मेरा मकान! अरे! मगर वह तो साफ़ हो गया, उसकी मरम्मत करवा दी, रँगाई-पुताई भी हो गई, सब कुछ हो गया।'' ओह, मेरी उम्र से भी तिगुना पुराना पुश्त दर पुश्त का यह ख़ान्दानी मकान''कितना अच्छा लगता है। किसी नवाब के महल की तरह ख़ूबसूरत हो गया है। और जब इसमें मेरे बेटे की शादी की भीड़ लगेगी, सजावट होगी— तब तो यह किसी लखनऊ के नवाब के महल जैसा ही हो जायगा। ओह, अब तो इस बूढ़े मकान में भी जान और शबाब आ गया है। रौनक़ से चमक उठेगा' सिर्फ़ दो महीने।

"—और मेरी दूकान! ओह, मेरी ज़िन्दगी के अब दिन कितने! पाँव तो क़ब्र में लटकाए बैठा हूँ, अब कूदा कि तब कूदा। दूकान तो मेरे बेटे की है। वह भी यहीं काम करेगा—दर्ज़ीगीरी।'''अरे, यह तो हमारा ख़ान्दानी पेशा है। मैं दर्ज़ी हूँ; मेरे अब्बा भी अपने ज़माने में शहर के अव्वल दर्ज़ी मशहूर थे। उनके अब्बा की भी ज़िन्दगी इसी मकान, इसी दूकान, और इसी काम में बीती।'' और मेरे बाप-दादे तो लखनऊ के नवाबों के यहाँ शाही दर्ज़ी थे, बेगमों और नवाबों के कपड़े सिला करते थे। मेरे अब्बा कहा करते थे कि अचकन और कुरता सिलनेवाला मेरे परबाबा के बराबर कोई भी दूसरा आदमी लखनऊ के आस-पास के इलाक़ों में न था। अरे, उनके हाथ के सिले कुरते दिल्ली के महलों में जाया करते थे। यह तो पुश्त दर पुश्त का काम है।

कहीं जा नहीं सकता। मेरे ख़ान्दान की ज़िन्दगी इसी काम और दूकान में बीत गई और मेरी भी। अब बस! मेरा बेटा युसुफ़ ''वह तो ख़ान्दान की नाक है, पढ़ा-लिखा है, दर्ज़ीगीरी सीख रहा है। मगर वह तो कोई बहुत बड़ी और आलीशान दूकान खोलेगा—यही कह रहा था। मगर, ख़ैर ख़ान्दान का तो नाम होगा। पक्की, रोशनी से जगमगाती दूकान खुलेगी। शहर में शोहरत होगी। बड़े बड़े आदमी सब उसी की दूकान पर कपड़े सिलाने आया करेंगे—बहुत-बहुत दाम देकर। मेरे बेटे का नाम होगा, दूकान का नाम होगा। ओह, ''वह टेलरिंग शाप'''''

—और यह सोचते-सोचते वह विचार-सागर में एकदम डूब गया, और इतना आत्मविस्मृत तथा आनन्दविभोर हो गया कि हाथ पैर हिलने बन्द हो गए और साथ में मशीन का चलना और कपड़ा सिलना भी। पर इसका उसे कुछ बोध न था। उसे कुछ रोमाञ्च-सा हो आया, और वह दोनों हाथ ऊपर उठाकर आँखें बन्द कर बैठ गया। फिर अपने हृदय में उस कल्पित 'टेलरिंग शाप' का चित्र देखने लगा।

"अब्बा! अब्बा!!"

अचानक इतने में ही दो तेज़ और काँपती हुई आवाज़ें उसके कानों में पड़ीं। वह कुछ चौंक-सा गया, और उसने घबड़ाकर आँखें खोल दीं। देखा—उसका बेटा यूसुफ़ हाथ में एक लिफ़ाफ़ा लिए घबड़ाया और परेशान-सा लपकता हुआ आ रहा है, और उसके पीछे-पीछे एक चपरासी भी!'''उसका स्वप्न समाप्त हो गया।

वह समझ न सका कि क्या बात है। बेटे को परेशान देखकर वह ख़ुद घबड़ा गया। वह तो हक्काबक्का-सा बैठा रहा। यूसुफ़ ने आगे बढ़कर वह लिफ़ाफ़ा मशीन पर रख दिया, और चिल्ला उठा—"अब्बा!"

करीम ने वह लिफ़ाफ़ा उठाया और बेटे से पूछा—"क्या बात है बेटा!"

यूसुफ़ एकदम उत्तर देने लगा—"अब्बा, म्यूनिसिपैलिटी से यह नोटिस लेकर आया है। आपको तो मालूम है कि 'विरहाना स्कीम' में फूलबाग़ से नयागञ्ज तक एक सड़क निकल रही है, जिसमें इन दो इलाक़ों के बीच जितने मुहल्ले थे वह ज़बरन ख़ाली करा लिए गए हैं और सरकार ने उन ज़मीनों को ख़रीद लिया है। अब उन सब पुराने और घने मकानों को गिराकर नई सड़क निकलेगी, ताकि शहर की गन्दगी कम हो, बीमारियाँ कम हों, और रौनक़ बढ़े। शहर नये तरीक़े से अमीरों के लिए बसाया जायगा। इसकी ख़ूबसूरती बढ़ाई जायगी।"

"तो क्या होगा बेटा!"—घबड़ाकर करीम एकदम पूछ उठा। उसका गला भारी था, आवाज़ काँप रही थी।

"होगा क्या! सरकारी नोटिस है कि एक महीने के अन्दर-अन्दर हमें यह मकान ज़बरदस्ती छोड़ देना होगा। यह मकान गिराया जायगा। सरकार हमें मकान की पूरी क़ीमत नक़द रुपयों में देगी।"

"आह! मेरे अल्लाह!!"—और उस बुड्ढे का सर मशीन पर गिर पड़ा।

'''वज्रपात!'''

पन्द्रह दिन तक मकान में कुहराम मचा रहा। म्यूनिसिपैलिटी के चपरासी कई बार आए और लौट गए। अन्त में विवशता की ज़ंजीरें हाथ-पैर और मुँह में बाँधकर मकान की पूरी लिखाई-पढ़ाई हो गई। सिर्फ़ एक हज़ार रुपया नक़द करीम को उस ख़ान्दानी मकान की क़ीमत

मिली—जो कि उसके लिए बहुमूल्य था, किसी शाही महल से कम न था, अपने इकलौते बेटे से कम प्यारा न था।

और फिर बुड्ढा करीम अपने बेटे और बीवी को साथ ले, मकान ख़ाली कर अपने चाचा-ज़ाद भाई के यहाँ गाँव चला गया। सूना मकान काटने दौड़ता; मुँह बाए खड़ा रहता। रोता हुआ मालूम देता। मानो शरीर से प्राण विदा होकर चले गए थे।

× × × ×

गाँव जाकर बुड्ढा करीम पन्द्रह दिन में ही एकदम दीवाना-सा, पागल, और फ़क़ीर-सा हो गया। क्योंकि, यूसुफ़ की बुड्ढी माँ आठ दिन बाद ही दुःख और शोक में रो-रोकर इस दुनिया से चली गयी थी; और स्वयं यूसुफ़ भी निराशा और असफलता को दोनों हाथों में लिए इस जग, जीवन, और घर से ऊबकर तथा परेशान होकर अपने बुड्ढे बाप को अकेला छोड़ न मालूम कहाँ भाग गया था। अकेला करीम दिन-रात शोक और चिन्ता में डूबा पड़ा रहता। उसे अपनी बीवी बच्चे के लिए उतना अफ़सोस तथा चिन्ता न थी, जितनी कि उस ख़ान्दानी मकान के चले जाने की। उसे चौबीसों घंटे अपने मकान की याद सताया करती। न दिन में चैन पड़ती, न रात में नींद। उसका तो सारा संसार ही उजड़ गया था। अन्त में वह स्वयं भी बीमार पड़ गया और जीवन की अन्तिम साँसें गिनने की तैयारी करने लगा।

उसके पीड़ित और आहत हृदय में विद्रोह की चिनगारी चमकती रहती। वह सोचा करता "इस सरकार को, इन अमीरों को क्या हक़ था जो उन्होंने मेरा ख़ान्दानी मकान छीन लिया। मेरा वह मकान जो मुझे दुनिया भर की दौलत से ज़्यादा प्यारा था, मेरा वह मकान जिसमें मेरे बाप-दादों ने पनाह पाई, जो इसके आँगन में खेल-खेलकर बड़े हुए, जो इसकी दालानों में झूले, जिसकी दीवारों ने एक माँ की तरह उनको पाला-पोसा, और जिनकी ज़िन्दगियाँ इन्हीं ईंटों के बीच बीतीं—वह ईंटें जो कि ख़ान्दान के जगमगाते कारनामों से और उनकी ज़िन्दगी की क़ुर्बानियों तथा उनके ख़ून से जुड़ी थीं—ओह! आज वही मकान मुझसे छीन लिया गया। हम बेगाने जैसे उससे निकाल दिए गए, जैसे वह हमारा न था. हमारा उस पर कोई हक़ न था या अल्लाह! आज उसी ख़ान्दान के एक शख़्स ने अपने हाथों उसे लुट जाने दिया। या परवरदिगार!···आख़िर वह और करता भी क्या!—यह म्यूनिसिपैलिटी··· यह अमीर···उफ़! आह, अब वह मेरा मकान गिराया जाता होगा, मेरा वह ख़ान्दानी मकान"—और यह ख़याल आते ही उसके शरीर भर के रोएँ खड़े हो गए। तत्क्षण अपने मकान का दृश्य उसकी आँखों के सामने आ गया। उसने उसे गिरते देखा—सहम और सिहर उठा। उसे मालूम हुआ मानो कुछ दानव-पशु किसी पतिव्रता, सती स्त्री का चीर-हरण कर रहे हैं, और वह निस्सहाय है, विवश है, अबला है। उससे देखा न गया। उसके शरीर के रोएँ-रोएँ से पसीना बहने लगा। वह अपनी चारपाई पर उठ बैठा। फिर न मालूम हृदय में क्या विचार आया वह काँपते बदन फ़र्श पर उतरकर खड़ा हो गया। तभी उसकी आँखों के सामने फिर उसी मकान का दृश्य आया, मानो वह सहायता के लिए उसे बुला रहा हो। बुड्ढा करीम आगे बढ़ा, मकान भी और आगे। करीम फिर आगे बढ़ा, किन्तु दीवार से टकराकर फ़र्श पर गिर पड़ा, और "मेरा मकान, मेरा मकान" कहकर चिल्लाता रहा।

बैलगाड़ी तैयार की गई। करीम की ज़िद पूरी की जा रही थी। केवल अन्तिम बार वह अपना मकान देखना चाहता था, अपना वह प्यारा ख़ान्दानी मकान जो कि सफ़ाई और

मरम्मत कराकर बुढ़ापे में भी जवान बनाया गया था, और जिसमें सिर्फ़ दो महीने बाद बेटे यूसुफ़ की शादी थी।

...और बुड्ढा करीम अपने किसान भाई के साथ शहर पहुँचा, अपने मुहल्ले भी। वह मुहल्ला अब उसे केवल बीस दिन बाद ही बिलकुल वीरान और क़ब्रिस्तान की तरह उजाड़ और डरावना मालूम हुआ। वहाँ न कोई आदमी था, न कोई मकान। मालूम होता था पिछली रात वहाँ कोई बहुत बड़ा भूकम्प या तूफ़ान आया था। सब मकान गिरे हुए खंडहर बने पड़े थे। केवल तमाम मज़दूर मलबे को गधों और ठेलों पर लाद रहे थे। इधर-उधर एक दो मकान और भी गिराए जा रहे थे। म्यूनिसिपैलिटी के सड़क-निर्माण का काम ख़ूब तेज़ी से चल रहा था।

यह सब देखकर बुड्ढे करीम का दिल टूटकर काँच की तरह टुकड़े-टुकड़े हो गया। आँखों से ख़ून के आँसू निकलने लगे। शरीर का बुख़ार न मालूम कहाँ चला गया और उसकी जगह एक नई स्फूर्ति तथा शक्ति सी आ गई। वह बैलगाड़ी से उतरकर, भाई के बदन का सहारा ले, अपने मकान की तरफ़ पैदल चला।

मकान के सामने पहुँचते ही उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह उसी दिन गिराया जा रहा था। करीम ने अपनी आँखों के सामने अपना मकान गिरते देखा। उसने किटकिटाकर नेत्र बन्द कर लिए। उसका हृदय मसोसने लगा। उसे मालूम हुआ मानो उसके ख़ान्दान भर की सञ्चित गाढ़ी कमाई लूटी जा रही है, जैसे उसकी ज़िन्दगी भर की सारी एकत्रित आशाओं और अरमानों का ऊँचा महल गिराकर धूल में मिलाया जा रहा है, जैसे कि उसकी मुद्दतों पहले की ख़ान्दान भर की पुरानी यादगारें मिटाई जा रही हैं। वह तिलमिला उठा। आँखें खोलीं तो देखा—मकान का मलबा नीचे गिर रहा है। तमाम शोर मच रहा है, धूल उड़ रही है; और सरकारी सिपाही तथा म्यूनिसिपैलिटी के चपरासी आने-जानेवालों को उधर जाने से रोक रहे हैं। देखकर उसके हृदय में उबाल उठा। दिमाग़ में विद्रोह की ख़ुमारी सी छा गई। किन्तु तभी उसे अपनी विवशता का ध्यान आया। वह मकान एक हज़ार रुपये में बेच चुका है। उसका अब उस पर कोई अधिकार नहीं। उसके शरीर भर में काँटे से चुभने लगे। उसे फिर मालूम हुआ मानो वह एक खम्भे से कसकर बाँध दिया गया है और उसके सामने उसके इकलौते बेटे की हत्या हो रही है। कुछ क़साई बड़ी बेरहमी से उसके अंग-अंग काट रहे हैं और वह अपनी आँखों से यह सब देख रहा है। किन्तु बँधा है, विवश है, केवल छटपटाकर रह जाता है।

तभी उससे रहा न गया। न मालूम किसने उसके दुर्बल पैरों में अपूर्व शक्ति फूँककर उन्हें बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ा दिया। वह अपने गिरते हुए मकान की ओर दौड़ा—अपने इकलौते बेटे को उन क़साइयों के हाथ से छुड़ाने के लिए।

किन्तु वह आगे बढ़ने से मजबूर हो गया। उसकी दोनों बाँहें जकड़ ली गई थीं, और कोई शक्ति बरबस उसे पीछे घसीट रही थी। उसने अपने आस-पास देखा कि दो सिपाही उसे पकड़े खड़े हैं, और डाँटकर कह रहे हैं—"क्यों बे बुड्ढे! देखता नहीं ऊपर से मलबा गिर रहा है, मकान गिराया जा रहा है। मरना है क्या?"

उसके कानों में यह कड़कती आवाज़ें पड़ीं, पर तब भी जैसे उसे कुछ सुनाई नहीं दिया। एकदम उसकी सूखी बाँहें तपे हुए लोहे की तरह गर्म और मज़बूत हो गईं। उसने एक बार फिर अपने गिरते हुए मकान की ओर देखा, और हाथ छुड़ाकर बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ा।

थोड़ी देर बाद ही वह अचानक कटे हुए पेड़ की तरह पछाड़ खाकर ज़मीन पर गिर पड़ा, और तभी गिरते हुए मकान की दो ईंटें भी—दो आँसुओं की तरह—लुढ़ककर उसके पास आ गिरीं।

चपरासी चिल्लाते हुए दौड़ पड़े। पास जाकर उसे उठाने लगे। किन्तु वे आश्चर्य से काँप उठे जब कि उसका शरीर स्पर्श करने से उन्हें पता चला कि वह तो बिलकुल ठंढा और निर्जीव था।

···और तब तक ··

उस पुण्यभूमि पर उसके वर्षों पुराने ख़ान्दानी मकान की समाधि, उसके जीवन की सारी आशाओं और अरमानों की समाधि, तथा स्वयं उसके प्रपीड़ित जीवन की समाधि बन चुकी थी।

× × × ×

दो साल बीत गए।

'विरहाना स्कीम' सफल हुई। पचास फ़ीट से भी ज़्यादा चौड़ी, पक्की और सीमेंट से बनी ख़ूबसूरत सड़क का निर्माण हुआ—मानो नगर-युवती के उलझे हुए बालों को सँवारकर उसके सर के बीच माँग निकाली गई। नगर बड़ा है, उसमें तमाम पूँजीपति और अफ़सर रहते हैं। सब भू-देवता हैं, धन-ऐश्वर्य-पूर्ण हैं। नगर-युवती को भी ऐसा होना चाहिए। पत्नी भी पति जैसी होगी तभी दाम्पत्य जीवन आदर्श है, सफल है, स्वर्ग है। नगर-युवती सुन्दर और सुहागिन होनी चाहिए—नगर-पतियों की तरह। किन्तु उसके पतियों द्वारा निकाली गई उसके सर के बीच इस नई माँग में अभी सिन्दूर भरना बाक़ी थी। नगर-युवती सदा सुहागिन रहे ··और माँग सिन्दूर से रञ्जित हो उठी। सैकड़ों ग़रीबों का दमन हुआ, वे बे घर-बार बनाए गए, लूटे गए; उनके जीवन के साथ होली खेली गई; और फिर उनके ख़ून से—उस लाल सिन्दूर से नगर-युवती की माँग भरी गई।

सड़क का निर्माण हुआ, और उसके आस पास दोनों ओर विशाल, रोशनी से जगमगाती, पक्की-रंगीन, चौमंज़िली, पश्चिमीय स्थापत्य की नक़ल पर आलीशान इमारतें बनीं। सड़क लन्दन के किसी बाज़ार जैसी ही सुन्दर हो उठी।

अब शहर की रौनक़ बढ़ गई है। रोज़ शाम को उस सड़क पर मेला-सा लगता है। शहर के आदमी औरतें बन-ठनकर प्रदर्शन करने आते हैं, बाज़ार की रौनक़ देखने। दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे महल, सजी हुई दूकानें, रोशनी, चहल-पहल, शोर, युवतियाँ, सिनेमाघर—ओह! वहाँ आधुनिक सभ्यता की क्या चीज़ नहीं!—होटल, शराब-घर, प्राइवेट-हाउस—सब कुछ। और अब दिन-रात उस सड़क की छाती पर उसे रौंदती हुई सैकड़ों रङ्ग-बिरङ्गी, चमचमाती कारें निकला करती हैं।

ठीक उसी स्थान पर, उसी पुण्य-भूमि पर, बिलकुल सड़क के किनारे, जहाँ दो साल पहले बुड्ढे करीम का घर था, उसी समाधि-स्थान पर एक भव्य इमारत का निर्माण हुआ है। उस सड़क भर में वही सबसे सुन्दर इमारत है। उसका माडल बिलकुल नया है। अमेरिका के इञ्जीनियर ने उसे बनाया है। वह एक पूँजीपति का मकान है।

उस भव्य महल में सबसे ऊपर एक प्राइवेट-हाउस है जिसमें एंग्लोइण्डियन और हिन्दुस्तानी माडर्न सोसाइटी की युवतियाँ अच्छे घरों से आया करती हैं—स्वर्ग देखने, नारीत्व बेचने—पशुत्व की

पूर्ति के लिये, धन के लिये। आह री प्रवञ्चना!...फिर दूसरी मञ्ज़िल में शहर का एक नामी होटल है। सबसे नीचे सड़क पर है एक "बार एण्ड रेस्ट्राँ"—शराबघर और जलपानघर—नाम है "एडल्फी"। रात को इसी के सामने सैकड़ों मोटरें लाइन लगाकर खड़ी होती हैं। इमारत जगमगा उठती है। बोतलों पर बोतलें ख़ाली होती हैं। रुपये पर रुपये फेंके जाते हैं। नाच होते हैं, गाने होते हैं—आमोद-प्रमोद। और बिल्डिङ्ग के बाहरी हिस्से पर रङ्ग-बिरङ्गी बत्तियों से—जो जलती-बुझती हैं—लिखा है "एडल्फी"। यहीं पर रात भर देखनेवालों की भीड़ लगी रहती है और यह नित्य होता रहता है। उस पुण्य-भूमि पर, उसकी समाधि पर।

काश, वह बुड्ढा करीम यह सब देखने को जीवित होता...

———

मिल

[विजयकुमार]

कैसी अजीब पहाड़ी है। इस बुरी तरह बर्फ़ मे ढँकी हुई है कि कुछ न पूछो। चारों तरफ़ बर्फ़ ही बर्फ़। जहाँ तक नज़र दौड़ाइये, बर्फ़ ही बिखरी हुई दिखाई पड़ती है। इस पर तो चलना भी मुश्किल है, पैर बर्फ़ में धँस-धँस जाते हैं और फिसलने का डर भी कम नहीं है। और सचमुच यह दोनों तरफ़ के खड्ड बहुत भयावने हैं, उनकी गहराई में एक न जाने क्या चीज़ है जो अपनी ओर खींचती है और बहुत बुरी तरह खींचती है। मैं बहुत सँभाल-सँभालकर पैर रख रहा हूँ क्योंकि ज़रा-सी ग़ल्ती हुई नहीं, एक बार पैर फिसला नहीं कि मैं नीचे आया—वह नीचे, हज़ारों फ़ुट नीचे। इस जोखिम बर्फ़ पर चलना और तलवार की धार पर चलना एक काम है। लेकिन कैसी अजीब पहाड़ी है। बर्फ़ तो बर्फ़, सँकरी कितनी है। फैलाव तो ज़रा नहीं है। दो खड्डों के बीच एक पतली दीवार की तरह उठी हुई है। पहाड़ी का गुण तो इसमें इतना ही है कि बर्फ़ से ढँकी हुई है और नहीं तो भला इसे कोई पहाड़ी कह सकता है! किसी बहुत बड़े और पुराने क़िले की दीवार सी मालूम होती है।

'उफ़, कितना बचाकर पैर रखना पड़ता है, ज़रा चूक हुई कि गये नीचे, हड्डी-पसली तक तो ढूँढ़े न मिलेगी। पर कोई क्या करे, बर्फ़ का भी कोई ठिकाना है और बर्फ़ भी कैसी? अङ्गारे की तरह जलती है। पैर तो कटकर अलग हुआ जा रहा है। अभी तो बहुत दूर जाना है, कैसे जाओगे! बर्फ़ की जलन तो हर पल बढ़ती ही जा रही है न! वाह रे, अजीब बात है, कितनी जलती है यह बर्फ़ और किस बुरी तरह लद गई है, जूतों पर, कपड़ों पर, टाँगों पर। मन-मन भर के तो पैर हो रहे हैं। ख़ून की हरकत तो जैसे जाती ही रही। पैर अपने हों ही न मानो। गोया लकड़ी के पैर लगे हुए हैं। झटका दो तो कहीं उठते हैं और फिर जहाँ पड़ते हैं वहीं जैसे गड़-से जाते हैं। कितनी मेहनत पड़ रही है।

क़मीज़ तर हो रही है। पसीना-पसीना हो रहा हूँ। कहाँ यह बर्फ़ और कहाँ यह पसीना, अच्छी दिल्लगी है। लेकिन देखो न, कोई झूठ कहता हूँ, क़मीज़ पीठ से बिलकुल चिपकी हुई है।

और यह क्या! ये पैर के निशान! अजीब पहाड़ी है, यहाँ भालू भी रहते हैं क्या! नहीं-नहीं, भालू नहीं ये तो मेरे ही पैर हैं। ये गज़-गज़ भर के पैर तुम्हारे! गज़-गज़ नहीं, बीघे-बीघे भर के ही क्यों न हों, पैर हैं मेरे ही। यहाँ और कोई आया ही नहीं जिसके पैर हों। ये पैर मेरे सिवा और किसी के नहीं हो सकते। यही न कि बहुत बड़े हैं! लेकिन अजीब गावदी हो, ठण्डक भी तो देखो, बड़े न होंगे! होंगे और ज़रूर होंगे। मालूम होता है तुमने साइंस बिलकुल नहीं पढ़ी। वरना तुम्हें मालूम होता कि ठण्डक पाने से चीज़ें बढ़ती हैं। चीज़ें यानी मेरा पैर।

लेकिन यह नहीं समझ में आता, बर्फ़ चीरकर पैर भला बाहर क्यों निकल जाते हैं! अजीब पहाड़ी है और अजीब बर्फ़। गोया बर्फ़ न हुई किसी ने हवा में चँदोवा तान दिया हो। नहीं-नहीं, यह बड़ी ख़तरनाक चीज़ है। बार-बार पैरों का इस तरह चादर फाड़कर निकल जाना ठीक बात नहीं। उँहुक्, अब मैं फिर इधर कभी नहीं आऊँगा। बस एक बार गिरने भर की देर—

और तभी पैर फिसला। मैं गिर पड़ा। मैंने कुछ पकड़ने की कोशिश की लेकिन कोई चीज़ हाथ न आई। दोनों मुट्ठियों में बर्फ़ अलबत्ता बहुत-सी आ गई। अब मैं लुढ़कने लगा। खड्ड की ओर लुढ़क चला, बहुत तेज़ी से लुढ़क चला। लगता है मैं गया अब, बच नहीं सकता। किनारे तक तो आ ही गया हूँ और पैर भी निकल गये हैं। हाथ छूटने भर की देर है। आख़िर कब तक पकड़े रहूँगा किनारे को। और हाथ भी तो फटने लगे—

'और तभी मेरे हाथ के पास एक कँटीली झाड़ी आ गई। मैंने चट उसको पकड़ लिया और ज़ोर लगाकर पैर फेंका। ख़ुदा का शुक्र है कि किसी तरह ऊपर आ तो गया। लेकिन मैंने नीचे जो नज़र डाली तो डर के मारे ख़ून सर्द हो गया। समुद्र लहरा रहा था। क्या ऊँची-ऊँची, आसमान से बातें करती हुई लहरें थीं। एक लहर तो इतनी ऊँची उठी कि उसके पैर के तलुए को जला गई। पर इनका रंग कैसा है ! पानी की लहरें भी भला कभी लाल होती हैं। लाल तो ख़ून होता है या लाल झण्डा होता है जो किसानों-मज़दूरों के ख़ून से रँगा है। यानी लाल तो ख़ून ही होता है। यह समुद्र ज़रूर आदमियों के ख़ून से भरा है—आदमी का ख़ून सचमुच बहुत सस्ता होगा जो समुद्र भर जाता है। लेकिन ठीक है, जहाँ सब चीज़ें महँगी हो रही हैं, वहाँ कुछ तो सस्ता होना ही चाहिए। हाँ, हाँ, ज़रूर ये लहरें आदमी के ख़ून की हैं। आदमी के ख़ून की लहरें हैं तभी तो छूते ही पैर को जला गईं, छन्न-से, जैसे गरम तवे से पैर छू गया हो। और यह क्या ! मेरा हाथ क्यों लहू-लोहान हो रहा है ? ठीक है, झाड़ी कँटीली थी न ! कितनी तेज़ी से ख़ून बह रहा है। बर्फ़ की सफ़ेदी और उस पर मेरे ख़ून की यह लाली। अच्छा लगता है लेकिन ग़श आ रहा है। तो भी कितना ख़ूबसूरत है यह ख़ून—यहाँ से वहाँ तक एक लाल लकीर चली गई है, जैसे साँप—

मेरा 'साँप' कहना था कि आ ही तो गया एक बड़ा मोटा सा साँप। मैं डर गया। मेरे पास कोई हथियार नहीं। क्या करूँ। साँप बड़े ख़राब होते हैं, उनका कोई भरोसा नहीं। शेर इस मामले में बड़े नेक होते हैं, उन्हें न छेड़ो तो वह भी अपनी राह चले जाते हैं। लेकिन साँप नहीं। साँप बड़ा बुरा जानवर होता है। नाहक़ चोट करता है। तुम निकलने की कोशिश करो तो भी वह तुम्हें काटेगा। काटेगा तो वह तुम्हें ज़रूर। छोड़ नहीं सकता। दौड़कर काटेगा। और उस पर से यह अजगर ? जानते नहीं, अजगर की तो साँस ही में इतनी ताक़त होती है कि एक मील तक में जानवर खींचकर उसके भाड़ से मुँह में चले जाते हैं। अरे राम, खोला उसने अपना मुँह। क्या करूँ। कोई हथियार भी नहीं। कुन्द छुरी भी नहीं। पेंसिल बनाने का चाक़ू तक नहीं। अरे कोई दौड़ो, मुझे बचाओ···ले गया अजगर मुझको···ले गया···कोई बचाओ···

'बचने की अब कोई सूरत नहीं। अब मैं अजगर की ओर खिंचता जा रहा हूँ। जल्दी ही अजगर मुझे अपने मौत के जबड़े में ले लेगा। तभी मुझे सुन पड़ता है जैसे अजगर के गले से घरघराती हुई आवाज़ निकल रही है—हम तुम्हारे दोस्त हैं।

मैं आवाज़ सुनता हूँ लेकिन मेरी समझ में ख़ाक-पत्थर कुछ भी नहीं आता। कैसे समझूँ ! फ़ुर्सत कहाँ ? अजगर साँस ले रहा है और मैं खिंचा हुआ अजगर के जबड़े यानी अपनी मौत की ओर जो बढ़ रहा हूँ। मगर इस कठिन घड़ी में भी मुझे मन ही मन हँसी आई। मैंने कहा—कैसा अनोखा ढंग है दोस्ती निभाने का !

'अब तो मैं सचमुच बहुत पास आ गया। इतने पास कि अजगर का चेहरा मुझे साफ़-साफ़ दीख पड़ने लगा। मैंने देखा कि उसके माथे पर एक निशान बना हुआ है। और पास

आने पर दिखाई पड़ा कि वह एक उगते सूरज का निशान है। ज़रूर इस अजगर ने सूर्य की पूजा की होगी। सूर्य देवता से इसे अवश्य कोई सिद्धि प्राप्त है। तभी तो सूर्य देवता ने अपनी मोहर माथे पर डाल दी है—जैसे बूचड़ के यहाँ लटकते बकरे पर म्यूनिसिपैलिटी अपनी मोहर डाल देती है। सूर्य देवता ने इसे ज़रूर हत्या करने का लैसंस दे दिया है। अब बचना मुशकिल है, कोई हथियार भी नहीं मेरे पास। क्या करूँ ? क्या करूँ ! भगवान् बचाओ। लेकिन शायद कोई भगवान् भी मुझे नहीं बचा सकता—सिद्ध अजगर है न, सूर्य देवता से इसे सिद्धि मिली है, माथे पर उन्हीं का निशान लिये है – लेकिन क्यों नहीं, हनुमान् तो हैं। अञ्जनिपुत्र हनुमान्। क्या आज वह भी मुझे नहीं बचायेंगे ? ज़रूर बचायेंगे। सूर्य देवता को निगलना ही वे नहीं जानते अपने भक्तों की रक्षा करना भी जानते हैं—हम भक्तन के, भक्त हमारे। भक्त हमारे। उन्होंने कहा है, भक्त हमारे।

'बस क्या था, मैंने हनुमानचालीसा का पाठ करना शुरू कर दिया और साथ ही मन में कहा, कचौड़ीगली के बैजनाथप्रसाद बुकसेलर ने मानवता का बड़ा उपकार किया है, सस्ते में हनुमान चालीसा छापा है जो अब इतना सर्वजनसुलभ है और ऐसे गाढ़े वक्त में काम आता है। ···लेकिन यह बहुत बुरा हुआ। यह विचार आते ही हनुमानचालीसा की पंक्तियाँ दिमाग़ से निकल गईं। अब तो मैं बहुत डरा। व्यर्थ मरा। बेमौत मरा। लेकिन बचने का कोई उपाय न देख मैंने निहत्थे ही लड़ने का इरादा किया। कहा, गर्दन मरोड़ दूँगा।

'लेकिन अब अजगर ने मुझे अपने फ़ौलादी शिकंजे में कसना शुरू कर दिया था, पहले टाँगों को लिया, फिर कमर पर पहुँचा और अब उसने छाती को अच्छी तरह अपनी गेंडुली में ले लिया था। और अब वह ज़ोर से अपनी गेंडुली को ऐंठने लगा। दबाव बढ़ने लगा। छाती दबने लगी। शिकंजे में फँसकर पसलियाँ टूटने लगीं। साँस रुकने लगी। साँस रुकते रुकते मैंने कहा—अंतिम विदा, ओ पार्वत्य प्रदेश—

'लेकिन अजगर की दोस्ती की बात सोचकर मुझे उस वक्त भी हँसी आये बिना न रही। मैंने पेड़ के तने जैसी उसकी गर्दन को अपनी मुश्कों में कसते और अपने टूटते हुए ज़ोर को आख़िरी बार लगाते और उसकी आँखों में घूरते हुए अपनी समझ में चिल्लाकर लेकिन वस्तुतः बड़ी पतली आवाज़ में कहा—धन्य हो, मित्रप्रवर, हत्या करना तो कोई तुमसे सीखे···लेकिन जो हो, जब तक मेरे दम में दम है—

'और तभी मुझे हिचकी आई जो शायद मौत—'

मनोहर घबड़ाकर जाग पड़ा। ओह, कैसा डरावना सपना था ! और अजगर भी कैसा, बरगद के पेड़ की तरह। उसे अपनी छाती पर दबाव-सा मालूम हुआ जैसे किसी ने सिल रख दी हो।

मनोहर ने मन ही मन कहा—सिल नहीं पहाड़।

उसे कल शाम से अपनी छाती पर सिल-सी रक्खी मालूम हो रही है। हाँ, कल शाम से—

कल शाम ही तो सतीश ने बात ही बात में कहा था—पाँच लाख जनता के लिए एक सुपरिंटेंडेंट पुलिस भारी है। हमारे पास हथियार नहीं, कुन्द छुरी तक नहीं, हम क्या कर सकते हैं। हम अपने आप कभी आज़ाद नहीं हो सकते। हमें जापान की मदद लेनी ही पड़ेगी। और जापान है भी तो हमारा सबसे बड़ा दोस्त। वह तो सिर्फ़ इतना चाहता है कि एशिया पर एशिया-वालों का राज हो। वह तो हमारा दोस्त है, उससे हमारी क्या लड़ाई।

सो कल शाम से ही मनोहर को अपनी छाती पर सिल सी रक्खी मालूम हो रही है।

सपने को याद-सा करते हुए वह बुदबुदाया—साँप।

बारजा

[कृष्णचन्द्र]

मैं जिस होटल में रहता था उसे फ़िरदौस कहते थे। यह एक तिमंज़िला मकान था और चीड़ की लकड़ी का बना हुआ था। दूर से होटल के बजाय कोई पुराना जहाज़ मालूम होता था। मेरा कमरा बिचली मंज़िल के पच्छिमी कोने पर था और उसके बारजे में से गुलमर्ग का गॉल्फ़कोर्स नाडोज़ होटल और देवदार के दरख़्तों में घिरे हुए बँगले और उनके परे खलनमर्ग का ऊँचा मैदान और उससे भी परे अलप्थर की चोटी साफ़ नज़र आती थी। गुलमर्ग का प्रभात मुझे बहुत पसन्द है, और यहाँ से तो प्रभात का दृश्य बहुत भला मालूम होता था। इसलिए भी मैंने इस कमरे में रहना पसन्द किया। बहुत से लोग, जो यों ही बे-सोचे-समझे कमरे किराये पर लेते थे, बाद में मेरे बारजे की तरफ़ हसरत भरी निगाहों से देखते और अक्सर मेरी आज्ञा लेकर मेरे बारजे में सूर्यास्त देखने आया करते। इस तरह मेरी मुलाक़ात बहुत से ऐसे लोगों से हो गई जिनका मैं अभी इस ख़त में ज़िक्र करूँगा। इन लोगों में बैंकर भी थे और व्यापारी भी; ठेकेदार भी थे और पाँच बच्चों वाली माएँ भी; विद्याप्रेमी भी थे और चितवन-प्रेमी भी, तरह-तरह के लोग—मराठे, ईरानी, एंग्लो इंडियन, दोगरे, पञ्जाबी, देहलवी—मुख़्तलिफ़ ज़बानें, मुख़्तलिफ़ लिबास, अजीब-अजीब बातें, अनोखी मुस्कानें, निराले क़हक़हे, जीवन का सारा वैचित्र्य उस बारजे में इकट्ठा हो गया था। और यह सब अजीब लोग सूर्यास्त का दृश्य देखना पसन्द करते थे। यह बड़े दुनियादार आदमी थे। इनके जीवन का चरम उद्देश्य रुपया था। लेकिन यह लोग अधिकांश में दो हज़ार मील चलकर गुलमर्ग का प्रभात देखने आये थे, मशीन युग में प्रत्येक व्यक्ति रुपया चाहता है, पूँजीशाही ने उसकी ज़िन्दगी कड़वी, उसके दिल को कमीना, उसकी आत्मा को गन्दा बना दिया है। लेकिन ख़ूबसूरती की चाह अभी मिटी नहीं। वह मानव-जीवन के किसी कोने में किसी ज़ख़्मी रग की तरह अभी तड़प रही है। नहीं तो प्रभात देखने के लिए इस क़दर बेक़रारी क्यों? वह साँझ की लाली देखते थे और मैं उनके चेहरों को देखता था। वही चेहरे जो दिन में बुझे-बुझे भूखे और डरे हुए से नज़र आते थे, इस वक़्त किसी अज्ञात अदृश्य प्रकाश की ज्योति से दीप्त जान पड़ते थे। उनके चेहरों की कृपणता, आँखों की मुजरिमाना कैफ़ियत एक अजीब सुख में बदल जाती थी। वह उस वक़्त सन्ध्या की लाली को ऐसे आतुर नेत्रों से देखते, जैसे बच्चे कल्पना में अपनी परियों की शाहज़ादी के महल को देखते हैं और वह औरत जो पाँच बच्चों की मा थी और जिसके चेहरे पर उसके पति की निर्मम भूख ने झाँइयाँ पैदा कर दी थीं, अपने लुटे हुए सौन्दर्य को दुबारा पा लेती थी। और उस वक़्त उसके अधखुले होंठों की चमक और गालों की फबन उसे सचमुच किसी परिस्तान की रानी बना देती थी। यह कार्य कैसा आनन्ददायक है कि इन्सान के दिल में अभी तक वह बेचैनी की आग भड़क रही है। उसके दिल का शायर, उसका कल्पना-शिशु, उसके परीदेश की रानी अभी तक ज़िन्दा है, और जब तक वह ज़िन्दा है इन्सान भी ज़िन्दा है। पूँजीशाही, निर्दय समाज, साम्राज्य-लिप्सा, फ़ासिज़्म, दुनिया की क्रूर से क्रूर व्यवस्था भी उसे नहीं मिटा सकती। मैं मानव के भविष्य की ओर से निराश नहीं हूँ।

फ़िरदौस अमीर यात्रियों की नज़रों में एक घटिया सस्ता सा होटल था। लेकिन मेरे लिए फिर भी महँगा था। लेकिन क्या करता, किसी हिन्दोस्तानी होटल में जगह ख़ाली न थी। लाचार यहाँ आना पड़ा। फ़िरदौस में जो लोग ठहरे थे उनमें आधे से ज़्यादः पश्चिमी थे और बाक़ी एशियाई। बैरे एक अजीब क़िस्म की ज़बान बोलते थे, जो न अंग्रेज़ी थी न हिन्दुस्तानी, बल्कि दोनों के नाजायज़ ताल्लुक़ से पैदा हुई थी। खाना छुरी-काँटों से खाया जाता। लेकिन अक्सर छुरियाँ कुन्द मिलतीं और काँटे बग़ैर मुलम्मे के और शोरबे में हिन्दोस्तानी खाने की तरह लाल मिरचों की इतनी भरमार होती कि बेचारी लंकाशायर की रहनेवाली आयाओं और नर्सों की ज़बान जलने लगती; और वह होटल के बड़े बैरे को ऐसी डाट-फटकार सुनातीं कि वह ख़ुशी से अपनी छाती का उभार और भी बढ़ा लेता। बैरे की ख़ुशी का भेद यह है कि उसे जितनी गालियाँ मिलें वह उतना ही ख़ुश रहता और बैरा जितना बड़ा हो उसे उतनी ही बड़ी गाली मिलनी चाहिए, वरन वह नाख़ुश रहेगा। और दो-एक दिन के बाद उदास होकर होटल से चला जायगा। गाली और बख़्शीश बैरे की ज़िन्दगी की ख़ुराक हैं। कभी उसे, पहले गाली मिलती है और फिर बख़्शीश, कभी पहले बख़्शीश, बाद में गाली। हर हालत में वह ख़ुश रहता है और अँगरेज़ी राजनीति की सबसे बड़ी चाल यह है कि वह अपने बैरों से हिन्दोस्तानी क़ौम का अन्दाज़ा करते हैं। वह पूरी हिन्दोस्तानी क़ौम से अपने बैरों का सा सुलूक करते हैं और चाहते हैं कि हिन्दोस्तानी भी उनसे उनके बैरों की तरह ख़ुश रहें। अब उन हिन्दोस्तानियों की अंधी तबियत को क्या किया जाय कि वह किसी हालत में भी सन्तुष्ट नहीं दीख पड़ते। वह न गाली पसन्द करते हैं न बख़्शीश।

होटल का मैनेजर एक मुसलमान काश्मीरी था। नाम था अहदजू। दुबला-पतला कश्मीरी, बी. ए. पास, होंठों पर नाउम्मीदी की राख, आँखों में उन तमाम सपनों की चाह जो पूरे न हुए, चालीस रुपये तनख़्वाह। होटल का मालिक अली जू बढ़ई था, जिसने यह होटल बड़ी मेहनत से जंगल से लकड़ी चुरा-चुराकर बनाया था। ख़ुद चोर था इसलिए अपने होटल के मैनेजर को भी चोर समझता था। हर रोज़ बिला नाग़ा फ़िरदौस के हिसाब-किताब की पड़ताल करता। दूध, शहद और मक्खन अपने हाथ से बाँटता। लेकिन इस पर भी उसकी तसल्ली न होती। कड़ी निगरानी के लिए उसने एक सिख नौजवान को भी नौकर रख लिया था और अब पाकिस्तान और खालस्तान एक दूसरे के क़रीब रहते हुए एक दूसरे से डरने लगे। निगरानी से ईमान में ख़ुद-ब-ख़ुद फ़र्क़ पैदा होने लगा, सीधी-सादी बातों में फ़रेब नज़र आने लगा, दिल ख़ुद-ब-ख़ुद बददियानती की तरफ़ झुकने लगा। हर वक़्त हर तरफ़ से शक-शुबहे का तूफ़ान उमड़ता हुआ दिखाई देने लगा। आँखों का सौंदर्य और उनकी अबोधता नष्ट हो गई। अब आँखें कनखियों से देखने की आदी हो गईं। दिल अपने ग़ुस्से और अपने दुश्मन को क़त्ल कर देने की स्वाभाविक इच्छा को एक झूठी अस्वाभाविक मुस्कराहट में छुपाने लगा। होते होते यह इस हद तक बढ़ गई कि मैनेजर और मुख़बिर साये की तरह एक दूसरे का पीछा करने लगे और होटल का सारा इन्तज़ाम बड़े बैरे के हाथों चला गया। भारत का इतिहास फ़िरदौस में भी अपने आपको दोहरा रहा था।

बड़ा बैरा हर वक़्त मुस्कराता रहता था। ख़ासकर बख़्शीश के वक़्त तो उसकी अजीब हालत होती थी। उस वक़्त मुझे वज़न मापनेवाली वह ख़रीदार मशीन याद आती थी। उधर झरी में एक आना डाला, दूसरे क्षण खट से टिकट बरामद, जिस पर वज़न लिखा होता था। बस, यही हालत बड़े बैरे की थी। उधर आपने बख़्शीश उसके हाथ में थमाई और खट से बत्तीसी

हाज़िर। मुझे इस मुस्कराहट से एक तरह का प्रेम हो गया था और मैं बख़्शीश के बहाने इस मशीनी क्रिया को देखने के लिए बैरे को अक्सर टिप किया करता। वल्लाह किस फुर्ती से वह बत्तीसी खिलती थी। बिजली की सी तेज़ी से। वह वज़न नापनेवाली मशीन भी तो इतनी जल्द काम न करती थी। जो लोग यह कहते हैं कि मशीन की रफ़्तार आदमी से ज़्यादा तेज़ होती है, उन्हें फ़िरदौस के बड़े बैरे को देखना चाहिए।

फ़िरदौस के बड़े भिश्ती का नाम अब्दुल्ला था। अब्दुल्ला एक उजड्ड कश्मीरी किसान था, बदसूरत, बेढंगी चाल, आँखों के गिर्द बड़े-बड़े गड्ढे, लाल गालों पर नीली नसें बाहर उभरी हुईं, सामने के दाँत ग़ायब, उम्र भी कोई साठ साल से ऊपर ही होगी। अब्दुल्ला का एक लड़का था। बाप के होते हुए भी अनाथ सा जान पड़ता था। उम्र ग्यारह-बारह बरस, हाथ-पाँव बुरी तरह मैले, घुटनों तक ऊँचा पायजामा, क़मीज़ की बाँहें फटी हुईं; हाँ, आँखें कमल की तरह चमकती थीं। बड़ी-बड़ी आँखें और भोला चेहरा। बाल बढ़े हुए और परेशान और गर्दन पर मैल की तहें। एक निरीह आत्मा जो ग़रीबी के कीचड़ में धँसी हुई थी और बाहर न निकल सकती थी और मदद के लिए चिल्ला रही थी। उसे सब लोग छोटा भिश्ती कहते थे। अब्दुल्ला अपने बेटे को प्यार से ग़रीब कहा करता। अजीब नाम है ग़रीब। यह नाम सुनकर मेरे जिस्म के तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ग़रीबी दुनिया का सबसे बड़ा गुनाह है। और दुनिया के किसी बाप को यह हक़ नहीं है कि वह अपने बेटे को ग़रीब कहे। लेकिन शायद अब्दुल्ला एक हक़ीक़त बयान कर रहा था। वह अपने बेटे को 'मेरा राजा बेटा' कहकर अपने आपको और दुनिया को धोखा न देना चाहता था।

होटल में एक और भिश्ती भी था। यूसुफ़ शकल से कंजड़ दिखाई देता था। बड़ा बददिमाग़ भिश्ती था। हर रोज़ पिटता, फिर भी गाली के बग़ैर काम न चलता। इसके अलावा वह चरस का दम भी लगाता था और औरतों की दलाली भी करता था। यूसुफ़ छोटे बैरे का बड़ा दोस्त था। छोटा बैरा एक तरह का व्यक्ति था, बड़ा आज्ञाकारी। 'जी' के सिवाय उसके मुँह से कभी कोई और शब्द नहीं सुना। बोलचाल में ऐसा चिकना था कि आदमी के बजाय वनस्पति घी का डब्बा मालूम होता था। इस क़दर भी ख़ुशामद क्या कि हर वक़्त हाथ जोड़ रहे हैं, मरे जा रहे हैं। बातचीत में ऐसी चापलूसी पैदा कर रहे हैं कि हर शरीफ़ आदमी के लिए बेहद शर्मनाक है। मैंने ऐसे मीठे बोल का ख़ुशामदी चलता-पुरज़ा आदमी अपनी ज़िन्दगी में नहीं देखा। यह भी औरतों का दलाल था, लेकिन सिर्फ़ अँग्रेज़ औरतों या ऐंग्लो इंडियन छोकरियों की दलाली करता था। कभी-कदास किसी हिन्दोस्तानी फ़िल्म ऐक्ट्रेस का काम भी कर देता। उसका नाम था, क्या नाम था, भला-सा नाम था, दिमाग़ में फिर रहा है, ज़बान पर नहीं आ रहा है। हाँ, ज़मान ख़ाँ, ज़मान ख़ाँ। यह नाम मैं इसलिए लिख रहा हूँ कि मुमकिन है तुम्हारे दिल में कभी इस क़िस्म की ख़्वाहिश फिर जाग उठे और तुम फ़िरदौस में जा उतरो। हाँ, तो ज़मान ख़ाँ का नाम न भूलना, एक ही हरामी है इस फ़िरदौस में।

इस जहाज़नुमा होटल का परिचय अधूरा रह जायगा, अगर मैं यहाँ के एक स्थायी रहनेवाले का ज़िक्र न करूँ। यह एक आयरिश बुड्ढा था, और पिछले दस साल से गुलमर्ग में इसी होटल में रहता था। मलगजी दाढ़ी, आइंस्टाइन का-सा सर, वही उलझे हुए बाल, वही चौड़ा पर था। हाँ, होंठों और नाक की तराश यहूदियों की-सी न थी। नाक के दायें नथने पर एक छोटा-सा मस्सा था जो उसके चेहरे की बुद्धिमत्ता को और भी स्पष्ट कर देता था। उसकी आँखों के

रङ्ग का मैं कभी ठीक तौर से अन्दाज़ा न कर सका। कभी तो वह आसमान की छिपी चीज़ों की तरह मालूम होतीं और कभी किसी पुरानी, ठहरी हुई झील की गहराइयों की तरह हरी दिखाई देने लगतीं और फिर उसके चेहरे पर किसी अनजान धुँधलके का ग़ुबार हर वक़्त छाया रहता। उस मजेदार धुंध की तरह हलका-सा जो अक्सर मेरे कमरे में गुलमर्ग के बादलों से छुटकर भागती हुई आ जाया करती। ओब्रायन ख़ूब पीता था और हमेशा बढ़िया शराब पीता था, और जब नशे में चूर होता तो बहुत अच्छी बातें करता था, उल्लसित भाव, सुलझी दार्शनिक बातें, व्यङ्गोक्तियाँ जिनमें एक वैयक्तिक अनुभव की सारी गम्भीरता भरी रहती। वह कभी तो घंटों बातें करता और कभी घंटों चुप रहता। उसे न शिकार का शौक़ था न औरतों का; और अजब बात यह है कि गोश्त भी न खाता था। हाँ, पनीर उसे बहुत पसन्द थी। कहता था कि पनीर के एक टुकड़े पर मैं दस दिन जिन्दा रह सकता हूँ। तुम अभी बच्चे हो। जब मेरी उम्र को पहुँचोगे तो मालूम होगा कि नारी के यौवन में भी वह ताज़गी नहीं है जो इस पनीर के टुकड़े में और इस शराब की एक बूँद में, पियो, पियो और पियो और इस गुलमर्ग की अरुणिमा को देखो जिसके उबलते हुए ख़ून में इस वक़्त पश्चिमी क्षितिज का सौन्दर्य मिल गया है......। ओब्रायन फ़िरदौस का दार्शनिक है। अगर कभी गुलमर्ग जाओ तो उससे ज़रूर मिलना। वह जिन्दगी की उन हक़ीक़तों को बयान करता है जिन्हें उसने अपने जीवन के घावों से निचोड़ा है। उसका बयान एक कटु स्वप्न है, एक पिचपिचाता हुआ घाव है, एक भयानक विष की धारा है। लेकिन इस ज़हरीली धारा की लहरों पर एक ऐसी विनाशकारी मुसकान का साया है कि तुम उससे प्रभावित हुए बग़ैर नहीं रह सकोगे......। और अगर सच पूछो तो अभी तक ज़िन्दगी में इसके सिवा और है भी क्या!

अब्दुल्ला के बेटे को लिखने-पढ़ने का बड़ा शौक़ था। वह उर्दू का क़ायदा ख़त्म कर चुका था और अब उर्दू की पहली किताब पढ़ रहा था जिसके पहले सफ़े पर उसका बाप हुक्का पी रहा है। अब्दुल्ला को जब कभी फ़ुर्सत मिलती वह अपनी कोठरी में जाकर हुक्का पीता या कभी-कदास जब मुझे फ़ुर्सत मिलती तो वह बारजे में आ बैठता। उसका बेटा मुझसे सबक़ लिया करता और अब्दुल्ला अपनी जिन्दगी की रामकहानी सुनाता। यह कहानी उसने टुकड़ों में, फाँकों में, आँसुओं और मुसकराहटों के बीच नहाने के टब के पास खड़े होकर खाँसते हुए, दमे के रोग से लड़ते हुए सुनाई थी। यह कोई बड़ी रोमाञ्चकारी कहानी नहीं थी। कोई बड़ी करुण कहानी न थी। एक सीधे-सादे देहाती की ज़िन्दगी थी। चन्द ख़ुशियाँ थीं और अनगिनत आँसू। वह एक किसान था, चन्द बीघे ज़मीन थी। जवानी में उसने मुहब्बत भी की थी। शादी भी की। चन्द साल बहुत भले मालूम हुए। जीवन का लक्ष्य सुहावना था। कठिनाइयाँ आईं, लेकिन जवानी के ताज़े ख़ून ने उन्हें धो दिया। बाप के मरने के बाद उसने गाँव के महाजन का क़र्ज़ा चुकाया और खेतों की पैदावार बढ़ाने के लिए दूसरे दूसरे तरीक़े सोचने लगा। अपने खेतों का एक हिस्सा उसने फलदार दरख़्तों की खेती के लिए अलग कर दिया। दिल में उमंगें थीं। चाहता था कि वह मामूली किसान न रहे, गाँव का एक समृद्ध ज़मींदार बन जाये। इमारत हासिल करने के लिए उसने महाजन से क़र्ज़ा लिया। लेकिन बराबर दो साल बर्फ़ और पानी का वह ज़ोर रहा कि बाग़ पनप न सका। फिर अकाल पड़ा, ज़मीन बिक गई। बड़ा लड़का मर गया, बीवी भी इसी अकाल की भेंट चढ़ी। वह अपने छोटे और आख़िरी बच्चे को अपनी छाती से लगाये देश-विदेश घूमा, गालों का रङ्ग उड़ गया, आँखों की चमक ग़ायब हो गई। दूकानों पर

कोयला उठाते-उठाते दमे की बीमारी हो गई। अब खाँसी होती है। गले में बलग़म फँस जाता है। गला रुँध जाता है। आँखें फटी पड़ती हैं। पाँच-छः साल इधर-उधर घूमने के बाद अपने देश वापस आया, क्योंकि देश की मिट्टी हर भटकी हुई आत्मा को हर वक़्त वापस बुलाती रहती है। अब छः साल से वह उसी होटल में नौकर है। ग़नीमत है यह ज़िन्दगी। अल्लाह का शुक्र है साहब। दो वक़्त रोटी मिल जाती है। साहब इनाम भी देते रहते हैं। यह मेरा यतीम बच्चा है—ग़रीब—ख़ुदा इसकी उम्र दराज़ करे। यहाँ इसी तरह पड़ा रहेगा तो भिश्ती के सिवा और क्या बन सकेगा। दो-चार हरफ़ पढ़ जायगा तो ज़िन्दगी सँभल जायगी। ख़ुदा आपको इसका इनाम देगा। मेरे ग़रीब को सबक़ बताइए। अच्छा, मैं अब चलता हूँ। विलियम साहब के नहाने के लिए पानी रख आऊँ।

उफ़्फ़ोह, किस कदर बेहया है यह ख़ुदाई। अब किन उमीदों पर आदमी जिये। हज़ारों लाखों, करोड़ों आदमियों की यही ज़िन्दगी है। हर मुल्क में, हर क़ौम में, ज़मीन के हर हिस्से में गिनती के लोगों और जमातों को छोड़कर हम सबको अपनी संस्कृति पर, अपने धर्म पर, अपनी सभ्यता पर, अपनी सूझ-बूझ पर, अपनी अक़्लमन्दी पर घमण्ड है। यह हेकड़ी, यह रोब, यह मुलम्मासाज़ी......। आदमी के झूठ और आत्मप्रवञ्चना की कोई सीमा नहीं है और अब्दुल्ला को देखिए कि नाख़ुश है। खाँस रहा है, फिर भी जिये जा रहा है; इस उम्मीद पर कि अगर दुनिया ने उसे पनपने का मौक़ा नहीं दिया, अगर समाज के अत्याचार ने उसके जीवन के सारे आनन्द और सुखों को उसकी आँखों के सामने गला घोंटकर उसे यों दिखा दिखाकर मार डाला तो अब यही समाज, यही दुनिया, जीवन की यही व्यवस्था उसके बेटे को पनपने का अवसर देगी। लेकिन अब्दुल्ला आख़िर मनुष्य है, जीवन-संघर्ष उसकी घुट्टी में है। लड़े जाता है। शाबाश बेटा, लड़े जा, मरे जा। एक दिन तेरा बेटा जवान होगा। उसकी लहकती हुई उमंगों की सिद्धि में तू एक बार फिर जी उठेगा। उसकी जवानी की ताज़गी में, उसके सौन्दर्य और प्रेम की रङ्गीन कहानियों में, सुख की उसकी अनुभूतियों में तेरी आत्मा अपने आपको पा लेगी।

बारजे के मुलाक़ातियों में से एक ख़ूबसूरत जोड़े की याद अब भी दिल में बाक़ी है। दोनों नौजवान थे, ख़ूबसूरत और पढ़े-लिखे। नयी नयी शादी हुई थी। इसी लिए गुलमर्ग में हनीमून मनाने आये थे। इसी लिए गुलमर्ग को देखने के बजाय एक दूसरे को देखने में अधिक व्यस्त रहते थे! लड़का लड़की की आँखों में आँखें डालकर कहता—जानेमन, यह शफ़क़ कितनी ख़ूबसूरत है। और लड़की अपना नर्म हाथ उसके कंधे से छुलाकर कहती—और यह फूलों से महकी हुई फ़िज़ा! हाय, मैं तो मर जाऊँगी।...बस, यह दोनों दिन भर मरते रहते थे। शफ़क़ पर मर रहे हैं, फूलों पर मर रहे हैं, गॉफ़कोर्स पर मर रहे हैं, चाँदनी पर मर रहे हैं। देवदार के दरख़्तों से लेकर पहाड़ी टट्टुओं पर मर रहे हैं। बाद में यह भी मालूम हुआ कि यह दोनों दिन भर तो मरते रहते हैं और रात को जागते रहते हैं। संयोग से इनका कमरा मेरे कमरे की छत पर था—तीसरी मंज़िल पर। बस, रात को कभी गिलास टूटने की आवाज़ आती थी, कभी चारपाई औंधी हो जाती, कभी बिल्लियाँ गुर्रातीं। ओब्रायन का ख़्याल था कि दोनों एक सपना देख रहे हैं और नहीं जानते कि इस अलिफ़लैलावाले सपने की हद पर हक़ीक़त का आसेब भी रहता है। मैंने कहा, 'बुड्ढे, तेरी अक़्ल मारी गई है। क्या शादी करना बुरा है! शादी होती है, बच्चे पैदा होते हैं। इस सपने से इंसानों की सुहावनी बस्ती में एक नये घर की वृद्धि होती है।'

ओब्रायन कहता—'शादी बुरी नहीं, सपने का टूटना बुरा होता है और यह सपने बहुत जल्द टूट फूट जाते हैं। प्रकृति अपने जाल बिछाती है। इसी लिए तो उसने फूलों में ख़ुशबू, हिरन में कस्तूरी और नारी में सौन्दर्य रखा; और जब प्रकृति का उद्देश्य पूरा हो जाता है तो फूल मुरझा जाते हैं, हिरन शिकार हो जाते हैं, औरतें बूढ़ी हो जाती हैं और तुम्हारे सपने टूट जाते हैं।'

'जिस तरह रात को मेरे हाथ से शीशे का गिलास टूट गया था।' लड़की ने मुस्कराकर कहा और कनखियों से अपने प्रियतम को देखने लगी। दोनों ने किसी ऐसे दिलचस्प वाक़ये को अपनी निगाहों में दुहराया जिसकी हैसियत इस वक़्त दोहरी मिठास की सी हो गई थी। —

मैंने पूछा, 'फिर क्या हुआ?' वह दोनों हँसने लगे। लड़की बोली, 'रात का वक़्त था। गिलास टूट गया और पानी फ़र्श पर बह निकला। फ़र्श लकड़ी का था और नीचे आपका कमरा था।' मैंने कहा, 'वह तो यूँ समझिए, ख़ैरियत हुई। मेरा बिस्तर ज़रा एक तरफ़ था··· । हाँ, कमरे की दरी अभी तक गीली है।'

'वाह डार्लिंग, देखो वह चिड़िया। उसके रङ्ग कितने भले लगते हैं।'—लड़की ने मुझे टूटे हुए गिलास की तरह बेकार समझकर अपने पति से कहा। और वह दोनों एक दूसरे का हाथ दबाते हुए बारजे से बाहर देखने लगे। ओब्रायन बोला, 'सौन्दर्य चिरस्थायी नहीं है। बस, मुझे सृष्टि और उसके रचनेवाले पर रह-रहकर यही ग़ुस्सा आता है, आख़िर ऐसा क्यों है।'

मैंने कहा, 'कौन कहता है, चिरस्थायी नहीं है। तुम सौंदर्य को व्यक्तिगत दृष्टि से देखते हो, बहुत बड़े प्रतिक्रियावादी हो तुम। सौंदर्य को सामूहिक दृष्टि से देखो। फूल हमेशा मुसकराते हैं, नाभि में कस्तूरी हमेशा महकती है, नारियों का सौन्दर्य...' मैंने नौजवान लड़की की तरफ़ देखकर वाक्य को अधूरा ही रहने दिया—ओब्रायन की आँखें गहरी हरी हो गई।

और फिर ग़ौर करो—कि सौन्दर्य समय का एक अंश है। उसके सौन्दर्य का प्रभाव सब पर है। जब तक समय नहीं होता, सौन्दर्य कैसे मर सकता है। नारी अपनी लड़की में, फूल अपनी कली में, हिरन अपनी नाभि में उस सौन्दर्य को जीवित देखता है।

'और अब्दुल्ला अपने बेटे में।'—ओब्रायन ने व्यंग से कहा।

हम बहुत देर चुप रहे। लड़का और लड़की चले गये, फिर भी ख़ामोशी रही। बैरे ने चाय रख दी। हम दोनों ख़ामोशी से उसे पीने लगे। पहाड़ों पर धुंध गहरी हो गई थी। गॉल्फ़कोर्स पर बदलियों के नाज़ुक-नाज़ुक हाथ बढ़ते हुए नज़र आये, बारजे तक आ पहुँचे, हमारे गालों को छूने लगे। ये नाज़ुक नाज़ुक हाथ...।

इस गुलमर्ग में मुझे यही चीज़ पसंद है। यह सुन्दर अङ्ग, यह धुंध की सफ़ेद उँगलियाँ, अपने गाँव का एक दृश्य है। ओब्रायन अपनी पुरानी यादों में खो गया।

फिर यकायक कहने लगा—शराब कभी बूढ़ी नहीं होती। बस यही एक चीज़ दुनिया में अजर है···मैंने एक औरत से मुहब्बत की, उसने मुझे ठुकरा दिया। मैंने अपनी मुहब्बत के नशे को बहुत दिन तक ताज़ा रखा। फिर यह मुहब्बत भी बूढ़ी हो गई। मैंने उसे जवान रखना चाहा, लेकिन हर पल उसके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ती गई।

"और वह औरत!"

"पता नहीं कहीं होगी। मैं अब उसे देखना नहीं चाहता। मैं अपने देश वापस जाना नहीं चाहता। बीस साल पहले मैंने उसे देखा था। वह पियानो पर बैठी हुई एक दिलफ़रेब गत बजा रही थी।"

ओब्रायन धीरे-धीरे सीटी में वह गत बजाने लगा। उसकी आँखें गीली हो गईं। बाहर धुन्ध में वह लड़का और लड़की ग़ायब हो रहे थे।

फ़िरदौस का प्रेम बड़ा अजीब है। फ़िरदौस में हर इतवार को टङ्गमिर्ग से नर्सें आती थीं और आया लोग और नाश्ता खिलानेवाली लड़कियों को हर बुधवार को छुट्टी मिलती थी। इसलिये फ़िरदौस में बुध और इतवार की रात को खाने और पीने के लिये ख़ास व्यवस्था होती। पहली बात तो यह कि खाना ज़्यादा तैयार किया जाता, शराब ज़्यादा मात्रा में इकट्ठी की जाती और फिर उसी दिन गोरे और अमरीकन फ़ौजी भी न जाने कहाँ से टपक पड़ते, बिलकुल बच्चों के से चेहरे, बाहरी कुरूपता के बावजूद वे मुझे बड़े निरीह दिखाई पड़ते। पतलूनों की तराश, टोपी के कोण और छाती के फैलाव के बावजूद ये लोग मुझे बुरे न लगते। उनके चेहरे जैसे कुछ माँग रहे थे, जैसे किसी चीज़ को खोज रहे हों, भूखे थे, प्यासे थे, कुछ पाना चाहते थे।

ये प्रेम पाना चाहते थे। इसलिए उनकी ज़रूरत ज़मान ख़ाँ, जो फ़िरदौस में प्रेम का व्यापारी था, पूरी कर देता। अंदाज़ यह होता—

"वेल बैरा!"

"यस सर।"

"क्या बात है!"

"सब ठीक है। टंगमिर्ग से नया मिस साहब आया है। लेकिन साहब, उसको सुबह चार बजे टंगमिर्ग में मेजर साहब के बँगले पर हाज़िर होना माँगटा—"

"वह सब ठीक है। हम खोद—सुना तुमने! हम खोद पहुँचायेगा।"

एक अंदाज़ यह होता—

"हलो डार्लिंग!"—वह कहता।

"हलो स्वाइन (सूअर के बच्चे)"—नर्स कहती।

"कम इन"

"यू स्टूपिड (तुम अहमक़ हो!)"

"डोन्ट बी सिली" (जाहिल न बनो)" "कम ऑन" (अब आ भी जाओ)

"You are very cheeky"

"Shut up"

इस सुन्दर परिचय के बाद दोनों देवदार के जंगलों में बनफ़शे के फूल जमा करने के लिए चले जाते।

ओब्रायन इन फ़ाक़ामस्तों को माफ़ कर देता। ये बेचारे चन्द दिनों के लिए छुट्टी पर आये थे। उसके बाद फिर लाम पर चले जायँगे। ये फ़ौजी इन चन्द दिनों में अपनी जवानी से सारा रस निचोड़ लेना चाहते थे। अपनी गोद को सौंदर्य से भर लेना चाहते थे, अपने अरमानों की दुनिया को चुम्बनों के मधुमय स्वर से मिला देना चाहते थे। फिर उसके बाद वही रेतीले मैदान होंगे, वही खंदकें, जङ्गलों में दुश्मन की घात।...

"मैं सिपाही को हमेशा माफ़ कर देता हूँ। वह एक स्त्री के सतीत्व पर हाथ डालता है तो हज़ारों स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा करता है।"—ओब्रायन का यह वाक्य मुझे अब तक याद है। शायद उस वक़्त बर्मा से भागे हुए एक ठीकेदार ने कहा था—साहब किसका सतीत्व-बतीत्व, यह दार्श-

निक बातें खाना खाने के बाद सूझती हैं। अजी साहब, जब हम बर्मा से भागे तो मेरे साथ मेरा पूरा ख़ानदान था। बीवी थी, नौजवान लड़कियाँ थीं, छोटे-छोटे बच्चे थे। सब रास्ते में मर गये। मैंने अपनी आँखों से अपने बच्चों को, अपनी बीवी को रोटी के एक टुकड़े के लिए तरसते देखा। मेरी लड़कियाँ पेट की आग बुझाने के लिए अपना सतीत्व उस ख़ूनी सड़क पर बेचती दीख पड़तीं। सतीत्व! उल्लू का पट्ठा है, हरामज़ादा है वह जो सतीत्व की पवित्रता को सच मानता है। ये सब दार्शनिक बातें पेट भरने के बाद सूझती हैं।.......

वह देर तक इसी तरह बकता-झकता रहा। ओब्रायन के चेहरे से ग़ुबार हटने लगा। कहने लगा—शराब मँगाओ, शराब। बस, शराब कभी बूढ़ी नहीं होती, शराब कभी कृतघ्न नहीं होती, शराब कभी धोखा नहीं देती। वह इंसान की तरह ज़ालिम नहीं है। ख़ुदा की क़सम, मरियम के बेटे (ईसु) की क़सम। वह हरगिज़-हरगिज़ ज़ालिम नहीं है।

गहरे नीले आसमान में तारे चमकने लगे। नीडोज़ होटल की पहाड़ी पर एकाएक बिजली के क़ुमक़ुमों की क़तार रोशन हो उठी। ऐसा मालूम हुआ गोया किसी ने बनफ़शे के फूलों की छड़ी हवा में उछाल दी और फिर चाँद पश्चिमी क्षितिज पर, सान्ध्य लाली की आख़री लकीर पर शरमाया हुआ निकल आया। उस ख़ूबसूरत साक़ी की तरह जिसने अपने नाज़ुक हाथों में पहली बार मीना उठाई हो।

ओब्रायन पीने लगा। अब उसकी आँखें नीली थीं, आसमान की तरह साफ़।

कमरा नं० ७ में एक इतालवी बुड्ढा और उसकी लड़की मेरिया रहते थे। मेरिया दिन भर अपने कमरे में पियानो बजाती रहती और शाम को अपने बाप के साथ सैर करने जाया करती। मेरिया के रङ्ग-रूप में एशियाईपन था। शायद इसी लिए मैं उसे इतना पसन्द करता था। बुड्ढा इतालवी यहाँ पचीस-तीस साल से रहता था। बाज़ार में उसकी दूकान थी जहाँ यह खाने-पीने का सामान रखता। किताबों की एक छोटी-सी लायब्रेरी भी थी जिसमें ज़्यादातर जासूसी उपन्यास, गन्दे क़िस्से, भूतों की कहानियाँ और इसी तरह का साहित्य था जो सिपाहियों को और पढ़े-लिखे रईसों को बड़ा पसन्द होता है। वह उसकी लायब्रेरी में से किताबें किराये पर पढ़ने के लिये ले जाते। बुड्ढे इतालवी को छड़ी बनाने का बहुत शौक़ था और वह जङ्गल की लकड़ियों से ऐसी ख़ूबसूरत छड़ियाँ बनाता था जो गुलमर्ग की सौग़ात में शुमार होती थीं और यात्री उन्हें ख़रीदकर बड़े शौक़ से अपने देश ले जाते। इसके अलावा उसे Concertina बजाने का बहुत शौक़ था। रात को वह खाना खाकर कंसर्टिना के साथ गाया करता और मेरिया पियानो बजाती। मेरिया पियानो बहुत अच्छा बजाती थी और लड़ाई से पहले गुलमर्ग में बहुत से सम्भ्रान्त अँगरेज़ी परिवारों में पियानो सिखाने जाया करती। लड़ाई शुरू होते ही ये दोनों बाप-बेटी हिरासत में ले लिये गये। बाद में जब उन्होंने अपने हिन्दुस्तानी बाशिन्दे होने का सबूत दिया तो उन्हें छोड़ दिया गया। फिर भी उन पर कड़ी निगरानी थी। लड़ाई से पहले बुड्ढे की दूकान का नाम 'इतालवी स्टोर' था। लड़ाई शुरू होते ही उसने यह नाम बदलकर 'ऐंटी-इतालवी स्टोर' कर दिया। हिरासत के बाद इसी स्टोर का नाम 'ऐलाइड स्टोर' हो गया। दरअसल इस बुड्ढे को राजनीति से नाममात्र को भी दिलचस्पी न थी। मेरा ख़याल है कि अगर कल गुलमर्ग पर जङ्गल के रीछों की हुकूमत हो जाय तो यही इतालवी बुड्ढा अपनी दूकान का नाम बदलकर 'रीछ स्टोर' कर देगा। और साथ ही मोटे अक्षरों में यह 'यहाँ पर रीछों को शहद मुफ़्त मिलता

है'। लेकिन फ़िलहाल तो इस हुकूमत के रह जाने की कोई सम्भावना न थी। लड़ाई शुरू हो जाने के बाद मेरिया का अँगरेज़ी परिवारों में आना-जाना बन्द हो गया और पियानो सिखाने से जो आमदनी होती थी वह भी ख़त्म हो चुकी थी। उधर 'इतालवी' यानी 'ऐंटी इतालवी' यानी 'ऐलाइड स्टोर' की आमदनी भी कम हो गई थी। इसलिए हालत ज़रा पतली थी। फ़िरदौस के छोटे बैरे ज़मान ख़ाँ ने ये सब हालतें देखकर मेरिया पर अपना जाल फेंका था लेकिन मेरिया क़ाबू में न आई। बाज़ ग़रीब लोग बड़े ढीठ होते हैं, बड़ी मुश्किल से क़ाबू में आते हैं। मेरिया का शुमार इन्हीं बड़ी मुश्किलों में होता था। ज़मान ख़ाँ उसकी वजह से बेहद परीशान था। होटल के बड़े भिश्ती अबदुल्ला को इसी वजह से मेरिया और उसके रूप से हमदर्दी थी क्योंकि वह ख़ुद एक लुटा हुआ किसान था, सीने में एक ज़ख्मी दिल रखता था, इसी वजह से उसकी लड़ाई ज़मान ख़ाँ और छोटे भिश्ती से हुई जो कमरे नं० ७ का काम दिलजमई से न करते थे और ज़मान ख़ाँ तो कमरा नं० ७ का काम करने के बजाय लड़की को उल्टा परीशान करता था। अबदुल्ला इस लड़ाई में बुरी तरह पीटा गया। हाथ-पाँव में चोटें भी आईं और मैनेजर ने अलग डाँटा क्योंकि नं० ७ की देख भाल ज़मान ख़ाँ और यूसूफ़ के सिपुर्द थी। अबदुल्ला को बेजा हस्तक्षेप करने का क्या हक़ था। अगर फिर उसने अपनी हमदर्दी यों ज़ाहिर की तो नौकरी से अलग कर दिया जायगा।

मेरिया मुझे पसन्द थी। उसका प्रभात का-सा सौन्दर्य, कमल की तरह खिला हुआ चेहरा, आँखों की ख़तरनाक मासूमियत, जिस्म का नाज़ुक बाँकपन, होंठों की वह उजली-उजली चमक। लेकिन मेरिया का लजाना मुझे बहुत बुरा मालूम होता था। मैं चाहता था कि यह लड़की न लजाये। उन मासूम आँखों में शोख़ी झलकने लगे, कमल की पत्तियों पर हँसी की तेजी नाचने लगे। इस उजली चमक में शरारत की बिजली तड़प जाय, उसके सारे रगो-रेशे में ऐसी थरथरी आये कि उसके जीवन का कोना-कोना जाग उठे और उसकी ज़िन्दगी का बहाव किसी तूफ़ानी नदी की तरह उमड़ता हुआ दीख पड़े,...मेरिया...मेरिया...मेरिया...। एक दिन वह पियानो पर Nutcrackers की धुन बजा रही थी। मुझसे न रहा गया। मैंने कहा—या तो तुम निरी अहमक़ हो, बेवक़ूफ़ हो, जाहिल हो या......

"या?......"

"या तुम औरत के भेस में रासपुटीन हो। Nutcracker की धुन सुनकर मुझ जैसे कोदमग्ज़ एशियाई का जी भी नाचने को चाहता है और एक तुम हो कि बुझे हुए बल्ब की तरह बिलकुल ठस बैठी हो! क्या बात है आख़िर? उठो, भागो, दौड़ो, नाचो, नाचो, नाचो, यहाँ तक कि तुम्हारे जीवन का कण-कण थिरक उठे और तुम्हारे शरीर का एक-एक रोंआ थककर चूर हो जाय।" यह कहकर मैंने उसे बाज़ुओं से पकड़कर पियानो पर से उठा लिया।

और दो-तीन चक्कर कमरे में तेज़ी से नाचते हुए लगाये, फिर एकाएक ठहर गया। अब वह मेरी बाँहों के अन्दर थी। मैंने उसके होंठ चूमते हुए कहा—"इस लड़ाई के बारे में तुम्हारा क्या ख़याल है?"

उसने अपने आपको मेरी बाँहों की पकड़ से आज़ाद कर लिया और मेरे मुँह पर एक हलका-सा तमाचा मारकर बोली—तुम बड़े जङ्गली हो जी।

मैंने कहा—मैं यही ग़ुस्सा देखना चाहता था। मुझे तुम्हारी इस लाज-भरी मुसकराहट से सख़्त चिढ़ है। तुम्हारे अन्दाज़ इतालवी लड़कियों-जैसे नहीं हैं, वह पागलपन का जोश, वह बेमौक़ा

हँसी, उछल-कूद, वह—वह सब कुछ तुममें नहीं है। वल्लाह तुम औरत नहीं हो। संगमर्मर की मूर्ति हो और या तो तुम अपनी ज़िन्दगी पर जान-बूझकर लज्जा का एक मोटा परदा डाले हुए हो ताकि लोग तुम्हारी ओर आकृष्ट हों। यू रासपुटीन गर्ल·········इधर आओ, मेरे पास बैठो।

वह कहने लगी—"जब तुम मेरी उम्र को पहुँचोगे तो तुम्हें मालूम होगा।"

मैंने कहा—"मैं तुमसे उम्र में दस साल बड़ा हूँ।"

मेरिया बोली—"मेरा मतलब ज़ेहनी उम्र से था। असली उम्र वही होती है। यों तो शायद तुम मुझसे उम्र में दस साल बड़े होगे, लेकिन तुम्हारा दिमाग़, तुम्हारी अक़्ल और तुम्हारी सूझ-बूझ मुर्ग़ी के चूज़े की तरह है।"

"अच्छा, तो गोया मैं चूज़ा हूँ।" मैंने ग़ुस्से से उसकी कमर में हाथ डालते हुए कहा।

"एक बहुत छोटा चूज़ा!" यह कहकर वह मुस्कराई। वही लाज-भरी, करुण मुसकराहट।

मैंने पूछा—"इस लड़ाई के बारे में तुम्हारा क्या ख़्याल है।"

वह कहने लगी, "लड़ाई···लड़ाई तुम्हारा चुम्बन बड़ा अच्छा था···लड़ाई बड़ी बुरी चीज़ है। मैं एक औरत हूँ। मैं आदमी के चुम्बन को समझ सकती हूँ। उसकी हिंस्र भावनाओं को नहीं समझ सकती। यह मारकाट क्यों होती है। मेरा भाई इस वक़्त फ़ौजी क़ैदी है।" उसकी आँखें शोक से भर आईं।

मैंने कहा—"माफ़ करना, यह लड़ाई तुम्हारे फ़ासिस्तों ने शुरू की है।"

वह बोली—"मैं फ़ासिस्त नहीं हूँ और न मेरा भाई फ़ासिस्त था। मेरा बाप ख़ूबसूरत छड़ियाँ बनाता है और रात को कंसर्टिना पर गाना पसन्द करता है। मुझे पियानो से प्रेम है। मैंने कभी राजनीति के बारे में नहीं सोचा। हमेशा आज़ाद और विलग रही। इसी लिये मुझे फ़ासिज़्म पसन्द नहीं। जब मैं पैदा हुई तो वार्साई की सन्धि पर हस्ताक्षर हो चुके थे और मैं हिन्दुस्तान में थी। मुझे मुसोलिनी से कोई हमदर्दी नहीं। उसने तो मेरा पियानो सिखाना भी बन्द कर दिया।" उसकी आँखें शोकपूर्ण हो गईं। मैंने कहा—"तुम किसी पुलिस अफ़सर के सामने बयान नहीं दे रही हो।"

वह बोली—"मुझसे तो सभी पुलीस अफ़सरों का-सा बर्ताव करते हैं। मेरे लिए यह नई बात है मगर सचमुच यह हमारी ग़लती थी। हम ख़ुशी के राग अलापते रहे, कंसर्टिना बजाते रहे और राजनीति से अलग रहे और हमने फ़ासिस्तों को मनमानी कार्रवाई करने का मौक़ा दिया..." उसकी साँस रुकने लगी।

मैंने उसकी ठोढ़ी छूकर कहा—"अच्छा चलो, जाने दो··· यह आख़िरी लड़ाई नहीं है। अगर हम लोग पचीस-तीस बरस और ज़िन्दा रहे तो एक और लड़ाई देखेंगे, इससे कहीं भयानक और डरावनी लड़ाई। यह लड़ाई फ़ासिस्तों को तो शायद तबाह कर दे मगर पूरब और पच्छिम की समस्याओं को न सुलझा सकेगी। न यह दुनिया फिर उस साम्यवादी व्यवस्था की बुनियाद रख सकेगी जिसके बग़ैर भूख, बेकारी और जहालत का इस दुनिया से दूर होना नामुमकिन है। इसलिए आओ बीथो वेन का Moonlight Sonata शुरू करो, ताकि ज़िन्दगी की बदनसीबी और अपनी प्रेयसी की दूरी की अनुभूति दूर हो जाय।

मेरिया ने अपने आँसू पोंछ डाले और पियानो बजाने लगी।

चाँदनी रात थी। मैं और ओब्रायन खाने के बाद बारजे में बैठे हुए अपनी कल्पना में परीदेश के क़िले बना रहे थे। मैं सोच रहा था कि अलपथर की झील में बर्फ़ के ग्लेशियरों के दरमियान एक ख़ूबसूरत महल हो और उसमें मेरिया हो और एक बहुत बड़ा पियानो चाँदी का और मेरिया का लिबास सेब के फूलों का हो........ और मेरिया हो और मैं—और—बस और कोई नहीं..... उल्लू कहीं का, लोग भूखों मर रहे हैं, आटा रुपए का दो सेर बिक रहा है और जनाब सोच रहे हैं कि एक चाँदी का पियानो, झील के बीच एक महल हो। यह हो, वह हो...... बस, हमेशा यही मुसीबत होती है। ऐसे ख़ूबसूरत सपने इसी तरह जल्द टूट फूट जाते हैं लेकिन आदमी ऐसे सपने क्यों देखता है? आदमी से क्या मतलब? अब्दुल्ला भी तो आदमी है। अब्दुल्ला ने भी कभी ऐसे सपने देखे थे। अब भी अपने बेटे के लिए दिन-रात ऐसे ही सपने देखता है। इंसान को यह सपनों की दुनिया बहुत प्यारी है और क्यों वह इन सपनों को सच नहीं कर लेता? सूरज, पानी, चाँद, हवा की तरह अगर ज़मीन और उसकी सारी पैदावार भी सब इंसानों में बराबर-बराबर बँट जाय तो हर घर इन सुन्दर सपनों का जगमगाता हुआ शीशमहल बन जाय। फिर इंसान ऐसा क्यों नहीं करता। वह क्यों दूसरों की चीज़ हड़प लेता है? साम्यवादी क्यों नहीं? क्या उसमें इतनी-सी अक़्ल भी नहीं कि इस सीधी सादी बात को समझ ले .....

ओब्रायन सिगार की राख झाड़कर बोला—"हेनरी फ़ोर्ड का लड़का मर गया।"

मैंने पूछा—"फिर! इससे मोटरों के कारबार पर क्या असर पड़ेगा? शहतूत के दरख़्तों पर फल लगने बन्द हो जायँगे क्या?"

ओब्रायन बोला—"नहीं .....मैं दरअसल ग़ौर कर रहा था कि वह हेनरी फ़ोर्ड का एकलौता बेटा था। हेनरी फ़ोर्ड अमरीका में पूँजीवाद का द्योतक है.. अब मैं सोचता हूँ पूँजीपति हेनरी फ़ोर्ड ख़ुश है? ख़ुश था? ख़ुश रहेगा? आख़िर यह दौलत के अंबार क्यों? इनका मसरफ़ ही क्या जब कि हेनरी फ़ोर्ड दो बिस्कुट और आध पाव दूध भी दिन में हज़म नहीं कर सकता।"

मैंने कहा—"हेनरी फ़ोर्ड बहुत बड़ा आदमी है। वह इस क़दर मेहनत करता है कि कुछ खा नहीं सकता।"

ओब्रायन बोला—माउंट एवरेस्ट भी बहुत बड़ा पहाड़ है। बड़ाई दोनों में है। हेनरी फ़ोर्ड और माउंट एवरेस्ट में भी। लेकिन हेनरी फ़ोर्ड की बड़ाई अस्वाभाविक है. बनावटी है। उसकी हैसियत नश्वर है। माउन्ट एवरेस्ट की मोहकता एक अबोध बालक की-सी है जो सफ़ेद बर्फ़ से खेल रहा है। वह अनश्वर है।

मैंने पूछा—"गांधी के बारे में तुम्हारा क्या ख़्याल है?"

ओब्रायन बोला—एक मुद्दत तक मुझे काले आदमियों से नफ़रत रही। अब भी कभी-कभी यह नफ़रत जाग उठती है। मुझे उनका रङ्ग पसन्द नहीं, उनकी आत्महीनता पसन्द नहीं, उनका ख़ुशामदाना लहजा पसन्द नहीं। मेरा ख़्याल रहा है कि इनमें बिल्ली की सी चालाकी और लोमड़ी की धोकाबाज़ी पाई जाती है। और हब्शियों को तो मुद्दतों इन्सान समझने से इनकार करता रहा।...गान्धी काला आदमी है। वह कभी सफ़ेद आदमी का दोस्त नहीं हो सकता। बाज़ लोग उसे ईसामसीह की तरह मासूम समझते हैं। मैं उस धोखे में नहीं फँसा हूँ। मेरा अब भी यही ख़्याल है कि वह सफ़ेद नस्ल के इन्सानों का जानी दुश्मन है।

मैंने कहा—"वह तो सिर्फ़ यह चाहता है कि हिन्दोस्तान में हिन्दोस्तानियों की हुकूमत हो।"

ओब्रायन बारजे पर झुक गया। बोला—मुमकिन है मेरे विचार वंशगत पक्षपात से रहित न हों। आख़िर मेरा भी सफ़ेद नस्ल से सम्बन्ध है। लेकिन इस वक़्त उसने हमें बड़ी मुश्किल में डाल दिया है। हिन्दोस्तान भर में एक आग-सी फैली हुई है। और यह अशान्ति हमें जापानियों से मुक़ाबला करने से रोक रही है।

ठीक इसी वक़्त ज़ोर से बिगुल बजने की आवाज़ आई और बहुत-से घोड़ों की चाप. अँगरेज़ घुड़सवारों का एक क़ाफ़िला हमारे बारजे के नीचे से जा रहा था। यह लोग पिस्तौलों, रायफ़लों से सुसज्जित थे। आगे-आगे दो अँगरेज़ बिगुल बजा रहे थे।

यह क़ाफ़िला बारजे के नीचे से गुज़रता हुआ गॉफ़ कोर्स की तरफ़ चला गया। मैंने कहा—अविश्वास से अविश्वास पैदा होता है। यह ज़िन्दगी का उसूल है अँगरेज़ों को हिन्दोस्तानियों की राष्ट्रीय भावना पर विश्वास नहीं है और हिन्दुस्तानियों को अँगरेज़ों की हमदर्दी पर। अब देखिए यहाँ गुलमर्ग में कोई फ़साद नहीं लेकिन यहाँ भी यह लोग हर रोज़ रात को गश्त करते हैं और एक बँगले से दूसरे बँगले तक घूमते हुए सारे गुलमर्ग का चक्कर लगाते हैं। ऐसा न हो कि कहीं कोई कांग्रेसी बम फेंक दे।

सर्किल रोड की ओर से वह नौजवान जोड़ा चला आ रहा था—चाँदनी में शराबोर। मन को आनन्द देनेवाली उमङ्गों से भरपूर। निचली मञ्ज़िल में मिस क्वायस—जो लंकाशायर की रहनेवाली थी—निहायत उदास सुरों में अपने देश का एक देहाती गीत गा रही थी। उसका नया यार शराबी लहजे में बार-बार कह रहा था—डार्लिङ्ग, मैं भी लङ्काशायर का रहनेवाला हूँ।

चाँदनी में नहाई रजतमूर्ति को अपने अङ्क में भरकर वह नौजवान लड़का सड़क पर खड़ा होकर वहीं अपनी बीवी को चूमने लगा।

निचली मंज़िल पर यकायक नर्स रोने लगी—मैं घर जाना चाहती हूँ डार्लिङ्ग बॉय, मैं घर जाना चाहती हूँ।

ओब्रायन कहने लगा—इन्सान अभी भौगोलिक प्रेम से स्वतन्त्र नहीं हुआ। गान्धी हिन्दोस्तानी है। उसे हिन्दोस्तान से प्रेम है। यह नर्स लङ्काशायर की रहनेवाली है। इसे लङ्काशायर से प्रेम है, हालाँ कि हक़ीक़त यह है कि गुलमर्ग के मुक़ाबले में लङ्काशायर बिलकुल ··।

वह सर हिलाकर चुप हो गया। मैंने कहा—परसों बक्कमल की दूकान पर मेरी मुलाक़ात एक अँगरेज़ दर्ज़िन से हुई थी। वह इँग्लिस्तान की लेबर पार्टी की मेम्बर थी। वह भी तुम्हारी तरह गान्धी को बुरा-भला कह रही थी। कहती थी कि अब गुलमर्ग में भी फ़साद होगा और यही लोग जो आज हमारे पास शहद, डबल रोटी और शलजम बेचने के लिये आते हैं, हम पर छुरों और लाठियों से हमला करेंगे।

फिर वह मुसकराकर कहने लगी—यह बेहतर है कि मैं उन लोगों के हाथों मारी जाऊँ जो मुझे जानते हैं। मुझे अजनबियों के हाथ मरना पसन्द नहीं।

ओब्रायन बोला—तुमने उसका व्यंग देखा?

मैंने कहा—यह व्यंग सरासर ग़लत था। गांधी किसी अँगरेज़ की हत्या करना नहीं चाहता और फिर इस अँगरेज़ कुमारी को, जो लेबर पार्टी की मेम्बर भी थी, हिन्दुस्तानियों से इस क़दर ख़ौफ़ क्यों महसूस हो रहा था। यह इतना अविश्वास किस लिये? तुम्हारे ख़याल में क्या इसमें रत्ती भर गुनाह का एहसास शामिल न था?

नीचे नर्स अब ज़ोर ज़ोर से चिल्ला रही थी—मैं लङ्काशायर जाना चाहती हूँ—सिल्ली बॉय.........।

ओब्रायन मुसकराकर कहने लगा—और यही गांधी चाहता है।

एकाएक अब्दुल्ला का लड़का ग़रीब भागता हुआ आया और छूटते ही बोला—बाबूजी! बाबूजी! अब्बा को कुछ हो गया है। अभी भले चंगे थे। बैठे हुक्का पी रहे थे, फिर खाँसने लगे और एकदम चुप हो गये। मैंने कहा—'अब्बा! अब्बा!' वह नहीं बोले। वह बोलते ही नहीं बाबू जी.........।

मैं भागा-भागा नीचे गया। अब्दुल्ला अपनी कोठरी में मरा पड़ा था। आँखों की पुतलियाँ ऊपर चढ़ गई थीं। सपनों का इन्तज़ार करते-करते। हाय कितनी नाउम्मेदी थी उन आँखों में। यह सपने कभी सच नहीं होते।

मैनेजर दरवाज़े तक भागा हुआ आया। उसने अब्दुल्ला या मेरी तरफ़ देखा तक नहीं। ग़रीब को देखकर बोला—मेजर साहब को पानी—गरम पानी—चाहिये। जल्दी टब भर दो।

और वह भागता हुआ वापस चला गया।

ग़रीब ने क़ायदा* ज़मीन पर रख दिया और बालटी उठाने लगा।

मेरे अब्बा को जगा दीजिये। उसने निराशा भरे स्वर में अत्यन्त दीनता से कहा—मैं मेजर साहब के लिये पानी रख आऊँ।

पास के किसी कमरे से आवाज़ आ रही थी। लङ्काशायर की रहनेवाली नर्स को उसका नया प्रेमी चूम रहा था और उसे मस्त शराबी लहजे में दिलासा देते हुए—लङ्काशायर ले जाऊँगा। मक यू माई बेबी। मैं तुझे – मक यू लङ्काशायर ले जाऊँगा। मक यू माई स्वीटी।

अब्दुल्ला आज ही क्यों मरा? ऐसी सुन्दर चाँदनी रात में वह नौजवान लड़का और लड़की अभी तक गुलमर्ग की चाँदनी में नहा रहे थे। हवाओं में जङ्गली फलों की महक बसी हुई थी। क्या अब्दुल्ला आज से चन्द साल बाद न मर सकता था! शायद उसका बेटा पढ़-लिखकर उसके कल्पना के स्वप्न सच्चे कर देता। यानी यह कौन सा तरीक़ा है मरने का कि साहब लोगों के लिये पानी की बालटी भरते भरते मर गया। क्या वह अपने खेतों में, अपने छोटे से बग़ीचे में अपने मिट्टी के घर में न मर सकता था! मैं पूछता हूँ यह कैसा मज़ाक़ है? उसे इस तरह मरने का क्या हक़ था? वह इस तरह क्यों फ़ाक़े करते-करते, एड़ियाँ रगड़ते-रगड़ते, झूठे सपने देखते-देखते मर गया। दुनिया में यह लाखों करोड़ों अब्दुल्ला दिन-रात इस तरह क्यों मरते हैं? क्यों जीते हैं? क्यों रहते हैं? यह क्या मज़ाक़ है, कैसा तमाशा है, कैसी ख़ुदाई है?

"अब्दुल्ला, अबे सुअर के बच्चे, मेजर साहब पानी माँग रहे हैं।" मैनेजर कहीं दूर से चिल्लाया। बोल, बोल, ऐ सुअर के बच्चे। सफ़ेद-सफ़ेद पुतलियोंवाले ग़लीज़ बुड्ढे, गंजी चाँद वाले, खुरदरे हाथ-पाँव वाले, अधनंगे, फ़ाक़ामस्त इन्सान, बोल! क्या मरकर भी तुझे गाली का जवाब देना न आयगा।

फ़िरदौस में देखे हुए कुछ अजीब से चेहरे याद आ रहे थे। एक सिख और उसकी ख़ूबसूरत बीबी, जो गुलमर्ग देखने आये थे और इसलिये वापस चले गये कि गुलमर्ग में पहाड़ के सिवाय और कुछ न था।

---

* पहली पुस्तक = वर्ण-परिचय

सरदार की बीवी ठोढ़ी पर उँगली रखकर बड़े नखरे से कहने लगी—ऐ-है यहाँ है क्या ? पहाड़ ही पहाड़ है।

गलियों के कुत्ते !

एक बूढ़ा पेन्शनयाफ़्ता वज़ीर और उसके साथ एक ग़रीब अँगरेज़ पादरी। पादरी फ़ौज में मुलाज़िम था। सरकारी फ़ौज में ईसाइयत का मुबल्लिग़। फिर भी यह आत्महीनता का भाव उसे खाये जाता था कि हाय वह पादरी है। काश वह व्यापारी, सिपाही, ऐक्टर या मिनिस्टर क्यों नहीं। 'पादरी'—कितनी बेज़ारगी थी उन आँखों में। वह परेशान खोई-खोई आँखें।

बूढ़ा वज़ीर हर वक़्त अपने बड़े लड़के का ज़िक्र करता जो स्काटलैंड में था और हिन्दुस्तानी होते हुए भी एक स्काच के घर परवरिश पा रहा था। बूढ़ा वज़ीर बड़े गर्व से इस बात को बार-बार होटल के मुलाक़ातियों के सामने दुहराता 'जमाल मेरा बेटा है। जमाल स्काटलैंड में है।' 'जमाल मेरा बेटा है। जमाल स्काटलैंड में है।' इसके सिवा उसमें एक और बुरी आदत भी थी। वह मेरे बारजे में मुझसे इजाज़त लिये बग़ैर आ बैठता। मेरा बाथरूम भी इस्तेमाल में ले आता—जो बारजे से कुछ दूर भी था। एक दिन मैंने चिढ़कर कहा—साहब, आप यह बारजा और यह बाथरूम मेरी इजाज़त के बग़ैर इस्तेमाल नहीं कर सकते।

"क्यों ?" उसने बेहद नाराज़ होकर पूछा।

"इसलिये कि जमाल आपका लड़का है, और जमाल स्काटलैंड में है। और जब तक वह ज़ात शरीफ़ तशरीफ़ लाये मैं आपको आपके पादरी दोस्त समेत इस बारजे से नीचे फेंक देने का ख़ौफ़नाक इरादा रखता हूँ।"

"लेकिन आप मुझे नहीं जानते।" उसने और भी भड़ककर कहा—"यहाँ के सब लोग—सब बड़े बड़े लोग मेरे दोस्त हैं। मैं मिनिस्टर रह चुका हूँ। और वायसराय बहादुर का मेहमान भी। मैं आपको जेल में भिजवा सकता हूँ। आप किससे बात कर रहे हैं ? मेरा लड़का जमाल स्काटलैंड में है।"

मैंने रौद्ररूप में उसे घूँसा दिखाते हुए कहा—बेहतर होगा कि आप भी स्काटलैंड तशरीफ़ ले जायँ। कम अज़ कम इस बारजे की तरफ़ तशरीफ़ न लायें। वरना—।

पाँच छः तमाशा देखनेवाले मुलाक़ाती इकट्ठे हो गये। आपने उनकी तरफ मुड़ते हुए कहा—वाह, यह भी कोई बात है। मेरी इस तरह कोई बेइज़्ज़ती करे ? मैं पेंशनयाफ़्ता मिनिस्टर हूँ। मेरा लड़का जमाल स्काटलैंड में है। और.........।

पादरी उसे घसीटकर अलग ले गया।

एक हिन्दोस्तानी लड़की आई थी। बयालीस नम्बर के कमरे में आकर रही। वह ऐक्ट्रेस मालूम होती थी। न हेडमिस्ट्रेस, न वेश्या, न विवाहित महिला। लेकिन फिर भी अकेली आई थी और जितने दिन गुलमर्ग में रही अकेली रही, और अकेली वापस गई।

ओब्रायन कहने लगा—इस लड़की को देखकर मेरे दिल में अपनी प्रेमिका की याद ताज़ा हो जाती है। बारजे के दृश्य ने मेरे उसको भी मुझसे परिचित होने का अवसर दिया। ओब्रायन ने पूछा—क्या आप पिछले जन्म में किसी आयरिश ख़ान्दान में पैदा हुई थीं ?

उसने निहायत सादगी से जवाब दिया—"मुझे याद नहीं।"

हाय, क्या भोलापन था। कितनी प्यारी मासूमियत थी। ओब्रायन का बुरा हाल हो गया। कहने लगा—'हो न हो यह वही है। मुझे धोखा देने के लिए हिन्दोस्तानी लड़की के बहरूप में आई है। कुछ दिन और यहाँ रही तो मैं मर जाऊँगा। मेरी सारी फ़िलासफ़ी ख़तम हो जायगी ·· मुझे याद नहीं···हाय···हाय।'

ख़ैरियत हुई कि कुछ दिन बाद वह वापस चली गई। बारजे में एक सुहावने दोपहर, सुन्दर हलकी धूप, प्लेटों में सेब और मिसरी आलूचे। मेरिया की सुनहरी बाहें और फूल की कलियों की तरह नाज़ुक-नाज़ुक उँगलियाँ ··। मेरिया कहने लगी—'वह पिकनिक तुम्हें याद है। हम दोनों ने फ़ीरोज़पूर के नाले में से मछलियाँ पकड़ने की नाकाम कोशिश की थी! और वह फिशरीज़ Fisheries विभाग के एक कर्मचारी ने हमें बिना आज्ञा मछलियाँ पकड़ने पर गिरफ़्तार करना चाहा था।

मैंने जवाब दिया—'उम्···उम्···।'

उसने एक और आलूचा उठाते हुए कहा—'मेरा मतलब है कि वह पिकनिक बुरी तो न थी। अब फिर कभी चलो। अबकी हम फिशरीज़ विभाग से आज्ञा भी ले लेंगे।

मैंने कहा—'मुझे तो उस पिकनिक में सिर्फ़ अखरोटों का तला पसन्द आया था। और या बेदमजनूँ* का झुण्ड जहाँ नाले का पानी भी सोया हुआ मालूम होता था, और बेदमजनूँ की शाखाएँ पानी पर झुकी हुई थीं।'

और चिनार के पत्तों का रङ्ग शराबी था। मेरिया ने स्वप्न देखते ढङ्ग से कहा।

'बिलकुल तुम्हारे होठों की तरह।'—मैंने शोख़ी से कहा।

'बच्चे हो। बस मिठाई देखकर ललचा जाते हो। तुम्हें तो प्रेम करना आता ही नहीं।' मेरिया ने गम्भीरता से कहा। 'शायद इसी लिए तुम मुझे इस तरह पसन्द हो।'

बहुत देर तक ख़ामोशी रही। मैं अपनी खाल सहलाता रहा। फिर वह बोली—'लड़ाई के बाद मैं अपने देश लौट जाऊँगी। वहाँ कम्यूनिस्ट पार्टी में सम्मिलित होकर राजनैतिक कार्य करूँगी। प्यानो बजाने से काम न चलेगा। यह कमबख़्त लड़ाई ख़तम हो जाय। फिर हम सब मिलकर पूरी कोशिश करेंगे कि लड़ाई दुबारा न हो। क्यों ठीक है न?'

मैंने कहा—'मुझे साथ ले चलोगी?'

'ज़रूर।' वह आनन्द भरे लहजे में बोली—'हमारा गाँव लम्बार्डी में है। वहाँ अंगूर की बेलें हैं और शहतूत के पेड़ और खेतों के किनारे-किनारे नीबू के पेड़। तब तक मेरा भाई भी स्वतन्त्र हो जायगा। फिर हम सब मिलकर खेत बोयेंगे और रेशम के कोये इकट्ठे करेंगे, और पापा को एक ऊँची सी कुरसी पर बिठाकर इटली की असली शराब पिलायेंगे। और कभी-कभी··· लड़ाई न होने देंगे।'

दूसरे दिन मेरिया और उसके पिता को पुलिस ने फिर हिरासत में ले लिया। यह गिरफ़्तारी सहसा की गई थी। लड़ाई आख़िर लड़ाई है और आज कल के दिनों में साम्यवादी इटालियनों में भेद करना कठिन ही नहीं असम्भव है। और अधिकारियों को इन दोनों लोगों पर सन्देह न था। फिर भी सावधानी उचित थी।

---

* एक प्रकार का वृक्ष।

चलते समय मेरिया के पिता ने मुझे एक छड़ी उपहार में दी थी।

मेरिया ने एक दुखी मुस्कराहट के साथ कहा—'और मैं तुम्हें क्या दूँ, अधकचरे नवयुवक?'

मैंने प्यानो की ओर संकेत कर कहा—'मैं तुमसे वसन्त का गाना सुनना चाहता हूँ। बे-मौसम का वसन्त-गान। मेरा यक़ीन है कि वसन्त ज़रूर आयगा।'

वह प्यानो पर वसन्त-गीत गाने लगी। उसकी आँखों से आँसू गिर रहे थे। और गीत की लय में मनोहर स्वर गूँजने लगे। फूलों भरी डालियाँ लहराने लगीं। शहतूत के पत्ते ख़ुशी से नाचने लगे। बुलबुल के गीत और रमणियों के आनन्द भरे क़हक़हे और निर्द्वन्द्व बच्चों की अबोध चपलता! वसन्त...वसन्त...वसन्त! मेरिया की आँखों से आँसू गिर रहे थे।

वसन्त ज़रूर आयेगा। एक दिन इन्सान की उजड़ी दुनिया में वसन्त ज़रूर आयगा। यह गीत कह रहा है—'मेरिया तेरे आँसू बेकार न जायँगे। पुलिस मेरिया और उसके पिता को गिरफ़्तार करके ले गई। मैं बारजे में खड़ा रह गया...।

———

बाढ़

[प्रभाकर माचवे]

आवेग से
आ मेघ से
घनघोर झड़ियाँ छूटतीं फैलीं मचाती शोर
यों पुरज़ोर।
नभ के शैल से उत्तुंग
गहरी कन्दराओं तक,
समन्दर से उठी कैलाश तक पहुँची,
कि अम्बर से पुनः कन्याकुमारी तक,
अचानक एक-सा है रङ्ग
मानों सैकड़ों ग्रामीण मिलकर
एक दिन त्यौहार के हुरदंग में हैं दंग
पीकर भङ्ग।
बजती खंजड़ी अभ्यस्त
नचती बेड़नी सस्ती,
कि ढोलक पर किसी की मस्त
पड़ती ताल से ठपकार,
वैसे ही गगन में कुछ गरजते मेघ।
ज्यों अक्षौहिणी सेना
डटी हो और गज-दल ने
किया आह्वान कर चिंघाड़
ऐसी बाढ़।
कानन में किसी दुर्गम
अँधेरी खोह से नाहर
क्षुधा से आर्त देता हो पुकार दहाड़।
ऐसी बाढ़।
बिखरी धुंध-सी चहुँ ओर
भूरी और मटमैली।
बिछा दी धारयित्री ने भिखारिन-सी
फटी, बेछोर, चितकबरी, बड़ी थैली।

बिषैली व्यालिनी ने भी
उतारी काँचली;
पहने हरी चोली चली ये घाटियाँ निचली
बिछाती पुतलियाँ बिछलीं
किये स्मृतियाँ नई, पिछली,
किसी फूलों-फलोंवाले
बिसरती मनचले साथी-सँगाती के लिए मचली।
कि भादों की यही शैली!
मची है कीच औ' काँदों
कहीं पर पैर-घुटनों तक,
कहीं पर जाँघ तक पानी,
कहीं पर खूब कम्मर-डूब,
किसी कौटिल्य ने निर्मूल करके तोड़ फेंकी
भूल से इस धूल में हो खोद अम्बर-दूब!
ऊर्वि से
ये ऊर्मियाँ मिलने चलीं यों
हर गली में और ही है ढंग,
उछली जो अनेकों वक्र, चक्रिल गर्त्त
औ' आवर्त्त करती पार,
आई बाढ़!
व्योम का अन्तर प्रगाढ़ असाढ़-घुमड़न से भरा
उतरा, न की परवाह
पथ में झाड़ हैं कि पहाड़
सिकता, खेत या चट्टान
सबकी शक्ल-अक्ल बिगाड़
आई बाढ़!
बहती वारिधारा, सर्वहारा,
खड्ग ज्यों चलता दुधारा
स्वर्ग से निर्वासिता
वातास-शोषण-शासिता
पृथ्वी-मिलन-प्यासी
कि पागल-सी उदासी पंथ में रोती चली
ये सिर पछाड़-पछाड़
ऐसी बाढ़!
तीर तज, बहती अधीरा
नीर से आप्लाविता ये आपगा,

है छुट गई कुलकानि औ' मरजाद
औ' सब बाँध।
वन की पीर
ऐसी चल पड़ी है चीर
सब प्राचीन के प्राचीर,
मानों जा लगा हो तीर विद्युत् का
व छूटी रक्त की हो धार
ऐसी बाढ़
आई आज सरिताएँ
कहाँ तक आज वह थामे
उमड़ती, मुक्त, पर्युत्सुक,
अरुक, गुरु वासना का भार
ऐसा ज्वार
ऐसी बाढ़ !!

खिड़की से : एक स्केच

[प्रभाकर माचवे]

बात कहूँ इस वातायन की : या कि कहो छुट्टी के दिन की
चढ़ती दुपहर,
रजकण की ढेरी को ठोकर
देता, अंधड़ जेता-सा आता है छुपकर;
दरवाज़े की धड़कन बढ़ती,
पर्दे उड़ते हैं फर-फर-फर,
किस सींखचों-बन्द विहग के दर्द भरे पर...
बात कहूँ इस वातायन की
जहाँ उमड़ती ही आती हैं
हहर-हहरकर उर-सरिता में लहरी सूनेपन की
जो गढ़ती प्रतिमाएँ मन की
एक हाथ से, और दूसरे से उन पर प्रहार करती है।
ठहर-ठहरकर सुन पड़ता है,
किसी शून्य गुम्बद् में गूँज रहा कपोत का;
गूढ़, भयाकुल, नाद एकसाँ,
याद बिदाई के उस दिन की,
और रुलाई थी उस क्षण की!

बात कहूँ मैं वातायन की—
बिछे हुए मैदान अछोर
जा सकती है दूर जहाँ तक इन पलकों की कोर।
नहीं एक भी उनमें छायामय तरु
चला भोर से, उमर, कारवाँ
किन अजान देशों से आया,
नाप सकेगा तप्त घोर मरु!
वैसा ही यह दिशाहीन यात्रा की माया-सा
अंधड़ जो चला ज़ोर से
जैसे होवे कोई सनकी।
बात कहूँ मैं वातायन की—।
बिल्कुल इधर एक टेढ़ा-मेढ़ा-सा
जीवन की अनंत विकृतियों पर खासा व्यंग,
विवर्ण, जीर्ण, निष्पर्ण,
सकल सुन्दरताओं से रूठ,
खड़ा है ठूँठ,
कि जैसे अपराधी के अन्दर गड़ा घुमड़ता ही जाता है
कोई झूठ अटूट!
यह सूखा-सा पेड़,
खेत की फटी बिवाई-सी यह प्यासी मेंड़,
चर रही वहीं पास में भेड़···
वृक्ष यह शुष्क, रुक्ष पर,
लक्ष-लक्ष पक्षीजन का है अक्षय रक्षागृह-सा।
इसकी ये चक्रिल शाखाएँ
भीषण नृत्य-कृत्य में मानों हैं निमग्न,
गठिया से जकड़ा अष्टावक्र,
किन्तु फिर भी आकर्षक, अन्य तरुओं से भिन्न,
खड़ा हुआ है वहीं अरक्षित
उस कनिष्क-कालीन शीश-विच्छिन्न,
यक्ष-प्रतिमा-सा खिन्न,
भग्न औ' नग्न, ध्वंस का चिन्ह,
कहानी कहता उस अंधड़ के प्रति-रंजकन की।
बात कहूँ मैं वातायन की।

　　टीले-खड्डे सब उलाँघकर
　　उसी पेड़ से आँख टाँगकर,

चकरीले पदपथ से आता,
थका, रुका, बैठा, सुस्ताता,
लौटा किसी गाँव से गँवई,
कितने बचे गाँठ में उसके आना पाई,
लो, गिनता वह पैसे।
सूखे तृण पीले लघु-लघुतर
अंधड़ में कुछ सिहर-सिहरकर
फिर वैसे-के-वैसे।
उसे न चिन्ता धूप ऊप की;
जीवन के इस अंधकूप की,
सीढ़ी सीढ़ी है पहिचानी
फिर भी ठण्डक के प्यासे ने कब ऊपर आने की ठानी,
उसे न चिन्ता तन की,
बात कहूँ मैं वातायन की···

मज़दूरों की लड़ाई

(दिल्ली की एक मज़दूर सभा में पढ़ा गया आल्हा)

[किरण सौनरिक्सा]

दुनिया के मज़दूर भाइयो ! सुन लो एक बात तुम आज।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज ॥
सिर्फ़ एकता के बल पर कमज़ोर जो थे शहजोर बने।
अपने से बलवान पछाड़े, औ' आफ़त में रहे तने ॥
सिर्फ़ एकता के बल पर भूपाल झुकाये जाते हैं।
सिर्फ़ एकता के बल बिगड़े काम बनाये जाते हैं ॥
बिना एकता इस दुनिया में लगता नहीं ठिकाना आज।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज ॥
मानव आज़ादी को ख़तरा आज हिटलरी गोलों से।
बरस रहे जो इस दुनिया पर माह पूस के ओलों से ॥
आज ज़िन्दगी के अरमा तुलते हैं छुन की तोलों पे।
और जवानी बिकती है पूँजी के थोथे मोलों पे ॥
दुनिया के आज़ाद परिन्दों पर हिटलर गिरता बन बाज़।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज ॥
उल्टी चाल ज़माने की है, साथी ! देखो आँखें खोल।
मेहनतकश की मेहनत बिकती इस जग में मिट्टी के मोल ॥

महल अटारी रचने वाले झोपड़ियों में करें निवास।
मलमल मख़मल के निर्माता को चिथड़े गुदड़ों की आस॥
जग-पालन कर्ता किसान ख़ुद खाने पाता नहीं अनाज।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज॥
थोड़े ताँबे के टुकड़ों पर करते बारह घण्टे काम।
सस्ते दिन थे तब भी हमको तनिक न मिलता था आराम॥
मोटा अन्न पेट भरने को औ अधनङ्गा तन का चाम।
नहीं जानते सुबह जवानी की कब हो जाती है शाम॥
उस पर यह महँगाई देखो, हुई कोढ़ पर मानो खाज।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज॥
पूँजीवाद! आज इस जग में सब आराम तुम्हारे हैं।
मेहनतकश मेहनत करते भी फिरते मारे-मारे हैं॥
पर उनको जीने देना भी अगर तुझे मंज़ूर नहीं।
तो तू भी मिटने वाला है, वह दिन भी अब दूर नहीं॥
जीने का अधिकार हमें है, तू ख़ुश हो या हो नाराज़।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज॥
हम निर्बल थे, लेकिन हममें आज एकता का बल है।
"अपनी रोटी कैसे लें,"—यह इसी समस्या का हल है॥
आज सुनाऊँ एक कथा जो अपनी आप ज़बानी है।
मालिक झुकें नौकरों आगे यह नज़ीर लासानी है॥
हो कैसे अन्याय, अगर हम सबकी एकसाँ (ऊँची हो) हो आवाज़।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज॥
देहली;—सन चालिस की बात, मालिकों से जाकर बोले मज़दूर।
साहब थोड़ी सी बातें करनी होंगी अब तो मन्ज़ूर॥
एक साल में एक माह की छुट्टी, (वेतन साथ मिले)।
दस दिन बीमारी की छुट्टी, पूनो मावस मिल न चलें॥
मिले कटौती साथ, हमारी इतनी सिर्फ़ गुज़ारिश आज।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज॥
मज़दूरों की माँगें सुनकर तड़प उठे पूँजीवाले।
निकल जाओ बदमाश! कमीने, उल्लू के पट्ठे साले॥
टुकड़ों पर पलने वाले तुम, आज हमें धमकाते हो।
माँगें पूरी कर दो कहकर, योथा रोब जमाते हो॥
तो कल हिस्सादारी माँगो, परसों लोगे माँग स्वराज।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज॥
मज़दूरों ने रोटी के बदले में जब गाली खाई।
उन कमज़ोर जिस्म इन्सानों को भी तब तेज़ी आई॥

"मज़दूरों का दमख़म इनको आज दिखा देना भाई!"
कहकर, होली की टोली मिल के फाटक पर चिल्लाई ॥
"काम छोड़ दो सभी जिन्हें है माँ के दूध पिये की लाज।"
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज ॥
काम छोड़ मज़दूर सभी अपने अपने घर को आये।
बीता फिर सप्ताह इस तरह, तब मिल-मालिक घबराये ॥
बाहर से मज़दूर मजूरी ज़्यादा देकर बुलवाये।
लेकर उनको साथ मिलों के फाटक पर तब वे आये ॥
उन्हें देख धरना देनेवालों ने की ऊँची आवाज़।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज ॥
अरे भाइयो! क्यों तुम मज़दूरों का नाम डुबोते हो।
थोड़े से पैसों पर यूँ ईमान आज क्यों खोते हो ॥
और साथियों के हक़ में ख़ुद ही क्यों काँटे बोते हो।
अरे न्याय का साथ न देते जाग रहे या सोते हो ॥
साथ हमारे हो जाओ तो बिगड़े बन जावेंगे काज।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज ॥
और किराये के टट्टू भी भला बुरा पहचान गये।
अपने साथी मज़दूरों के कहने को वे मान गये ॥
आये मज़दूरी करने, पर वे भी गहरी छान गये।
लालच छोड़ मजूरी का सड़कों पर लम्बी तान गये ॥
उठे शाम को, गली गली में घूम लगाते थे आवाज़।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज ॥
टूटी न हड़ताल, रचे हथकंडे जो, बेकार हुआ।
तेरह दिन मिल बंद रही, मिल-मालिक तब लाचार हुआ ॥
मज़दूरों के मुखिया को समझा कर बात कही सारी।
तोड़ो भी हड़ताल तुम्हारी अक़ल गई है क्यों मारी ॥
तकलीफ़ें हम दूर करेंगे, नाहक होते हो नाराज़।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज ॥
पहली माँगें सभी तुम्हारी, कल तक पूरी कर देंगे।
उस पर महँगाई का भत्ता अगला पिछला सब देंगे ॥
दाल मसाले औ अनाज की खुलवायेंगे एक दुकान।
जो तुम को कुछ सस्ता देगी, अब तो कहना लो तुम मान ॥
करो देश का काम, मुल्क पर मँडराते हैं युद्ध जहाज़।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज ॥
"विजय, विजय है आज हमारी" मज़दूरों ने गाये गीत।
रक्खेंगे हम याद युगों तक यह अपनी छोटी-सी जीत ॥

क्योंकि इसने हमें एकता का रहस्य समझाया है।
एक एक मिल ग्यारह होते यह प्रत्यक्ष दिखाया है॥
आओ अपनी प्रथम विजय का रक्खें इसके माथे ताज।
सिर्फ़ एकता में ही बसता इस दुनिया के सुख का राज॥

दो गीत

[स्व० बुद्धिभद्र]

(१)

अन-धन लक्ष्मी से घर भर दो
हे अन्नपूरना।

जन्म-जन्म के बन्धन काटो,
दुख दारिद सब हमरे बाँटो,
हों कष्ट दूर ना।
हे अन्नपूरना।

आज परीक्षा का दिन आया,
कैसी अद्भुत प्रभु की माया,
हो पूर्ण कामना,
हे अन्नपूरना।

(२)

भरे पुरे खलिहान भैया
जागे भाग हमारे।
मोती मटरा, सोना गेहूँ,
जौ चाँदी तन धारे।
चना चना सब काम बना है
सरसों से मन भाय घना है,
नाच गाय सुख पारे।
भैया जागे भाग हमारे।

दो बँगला गीत

(१)

क्षुधितेर सेवार सब भार लओ, लओ काँधे तुले।
कोटि शिशु नर-नारी
मरे असहाय अनाहारी,
महा श्मशाने जागो महामानव
आगुआन होओ भेद भुले। क्षुधितेर सेवार सब भार०
मानुषेर माँझे मरे भगवान
पिशाच दुआरे हँसे खलखल,
दीनता हीनता भीरुतारे कर
दूर, आशार आलो धरो तुले। क्षुधितेर सेवार सब भार०

—विनय राय

(भूखों की सेवा का भार तुम स्वयं अपने ऊपर लो। करोड़ों बच्चे और स्त्री-पुरुष बिना अन्न के निःसहाय मर रहे हैं। इस भयानक श्मशान में, हे मनुष्य, तुम जाओ और भेद-भाव भूलकर आगे बढ़ो। मनुष्यों के बीच में भगवान यन्त्रणा पा रहे हैं; दरवाज़े पर राक्षस अट्टहास कर रहा है। अपनी दीनता और कायरता दूर करके प्रकाश की ओर बढ़ो।)

(२)

जोर से चालाओ हात ओरे ओ, ओ भाई कारीगर।
जिरिये नेबार समय जे नाइ, देख ओइ सामने जागे झड़। ओ भाई कारीगर०
घरे तोर जापान डाकात,
सहसा आनलो आघात,
बाँचा तोर आपन स्वजन
बाँचा रे बाँचा आपन घर। ओ भाई कारीगर०
तोर देशेर ओइ बीर सेनारा
बुकेर रक्त करछे पात;
जोगाओ तादेर असन-बसन
भरोसा जोगाओ दिवस-रात।
कामान, बन्दूक, टैङ्क, बोमा बीमान,
गर्जे उठुक तोमार हातेर दान।
भाँगो जापानीर दीमाक
देशरक्षार प्राचीर खड़ाकर। ओ भाई०
बोयालारेर कोयला जोगाओ
कारखाना-कल करो चालोन।
मजूर, तोमार एक हथियार
लड़ाई तोमार उत्पादन।

देशेर अभाव मिटाओ सब आज
एई तो सारा देश-प्रेमिकेर काज,
जातीर पथ देखाते देशप्रेमी
निशान तुले धर। ओ भाई०

—सत्येन्द्र सेन

(भाई कारीगर, हाथ ज़ोर से चलाओ।
वक्त आराम करने का नहीं है। देखो, सामने
तूफ़ान आ रहा है।
जापानी डाकू तुम्हारे घर का दरवाज़ा तोड़ रहा है;
तुम अपना घर बचाओ; घरवालों की रक्षा करो।
तुम्हारे देश के वीर सिपाही अपना ख़ून बहा रहे हैं।
उनके लिये खाने-पहनने का सामना तैयार करके
उन्हें हिम्मत बँधाओ।
तुम्हारे हाथ की बनाई बन्दूक़, टैङ्क, हवाई जहाज़
दुश्मन के सिर पर गरज उठें और उसका दिमाग़
ठीक कर दें। आओ, देशरक्षा की दीवार मज़बूत करो।
ब्वायलर के लिये कोयला भेजो; कल-कारख़ाने
चालू करो। मज़दूर, तुम्हारा एक ही हथियार, एक
ही लड़ाई है, माल बनाना। देश का अभाव दूर
करो। यही सब देशप्रेमियों का कर्तव्य है। देश को
राह दिखाने के लिये तुम स्वयं आगे झंडा लेकर चलो।)

बङ्गाल के मुनाफ़ाखोरों से

[अंचल]

इस "सुजला सुफला शस्य श्यामला" को तुमने वीरान किया।
लाखों का ख़ून किया—पूरे सूबे को ही बे जान किया॥
लाखों को तड़पा-तड़पाकर चावल गोदामों में ठूँसा।
मानवता को भूखों मारा तुमने जनता का तन चूसा॥
भूखे बिललाते बच्चों पर तुमको न तनिक करुणा आई।
कितनी ललनाओं की अस्मत तुमने न वहाँ पर लुटवाई॥
फुटपाथों पर तुमने नर का कुत्तों का विकट द्वन्द्व देखा।
तुमने उन्मत्त शृगालों को जीवित लाशें खाते देखा॥
तुमने अघनङ्गी भूखी माँ की गोदी में शिशु को मारा।
हिलती हड्डी के ढाँचों को तुमने निष्ठुर हो संहारा॥

तुमने असंख्य परिवारों को धन-तृष्णा में बरबाद किया।
सड़कों-खेतों खलिहानों को तुमने लाशों से लाद दिया॥
तुमने न तनिक सोचा यह भी आख़िर इन्सान तुम्हीं से थे।
ये तनिक अन्न के भूखे थे ये तनिक माड़ के प्यासे थे॥
यह सब फल है कस्साब! तुम्हारी नग्न मुनाफाखोरी का।
अम्बार मरभुखों का यह है परिणाम तुम्हारी चोरी का॥
ऊपर दुश्मन मँडराता है बरसाता है बम के गोले।
नीचे भूखे जन जन के अङ्गों में लाचारी के शोले॥
इस रोगी भूखी जनता की अवरुद्ध पड़ी हैं चीत्कारें।
आतङ्क दानवी फैला है—ढहतीं रक्षा की दीवारें॥
हम में बल है हम बङ्गभूमि को हरी भरी फिर कर देंगे।
इस शोषण का इन पापों का पर तुम से भी उत्तर लेंगे॥

कलाकारों से

[शिवसिंह सरोज]

आज न जिसने क़लम गड़ाई पशुवत् अत्याचारों में।
उस कायर कवि की गिनती है, नवयुग के हत्यारों में॥

× × × ×

जिसके मन के भाव, घाव मानवता के भर नहीं सके।
जिस भावुक के अश्रु आज परवशता में झर नहीं सके॥
आज मनुजता के दंशन से, जिसे न कुछ पीड़ा पहुँची,
उस पशु को हम गिनें भला क्यों साहित्यिक कृतिकारों में।

+ × × ×

लेकर अपनी कला कमल सा, जो कीचड़ में फूल बना।
मानवता के महायज्ञ में जो जन जलती तूल बना,
जीवित रहकर इस जगती के चुभते काँटे चुन डाले,
और धन्य है वही, भरा जो जनता के जयकारों में।

× × × ×

आज वही कवि, जिसने पैदा कर दी बलि की बेचैनी,
आज वही रवि चीर गई तम को जिसकी किरनें पैनी।
कलाकार है वही जला जो जलती जगती के कारण—
'रोम्यां रोलां' सा शहीद बन फ़ासिस्ती फुफकारों में।

मज़दूरों का गीत

[रामविलास शर्मा]

और बढ़े रफ्तार
चले फिर हाथ ज़रा फुर्ती से
साथी, यह है अपनी जङ्ग
कि अपनी आज़ादी की जङ्ग।
कि साथी बढ़ी रहे रफ़ार
और हो माल अधिक तैयार,
बचेंगे तब अपने घर-बार
चले जब हाथ ज़रा फुर्ती से,
हाँ हाँ, हाथ ज़रा फुर्ती से
साथी यह है अपनी जङ्ग
कि अपनी आज़ादी की जङ्ग।
कि साथी ढालो यह फौलाद,
कि जिससे दुश्मन हो बरबाद,
तभी दुश्मन होगा बरबाद,
चले जब हाथ ज़रा फुर्ती से
हाँ, हाँ, हाथ ज़रा फुर्ती से
साथी यह है अपनी जङ्ग
कि अपनी आजादी की जङ्ग।
यहीं पर हार, यहीं पर जीत,
हमारी हार, हमारी जीत,
कि होगी मज़दूरों की जीत
और पूँजीपतियों की हार
चले तब हाथ ज़रा फुर्ती से
साथी यह है अपनी जङ्ग
कि अपनी आज़ादी की जङ्ग

एक अवधी गीत

[रामविलास शर्मा]

सब बढ़े चलौ,
सब मिलिके आगे बढ़े चलौ।
अब लाखन हिन्दू-मुसलमान,
समुझौ दुइ तन माँ एकु प्रान,

अब लाख करोरिन बढ़े चलौ,
सब मिलि कै आगे बढ़े चलौ।
नेता जेहलन माँ दिन काटैं,
बाहेर जनता पर बम फाटैं,
अब चलौ छोड़ाई नेतन का
आजाद होय हिन्दोस्तान।
ए भाई हिन्दू-मुसलमान।
सब बढ़े चलौ।
सब मिलि कै आगे बढ़े चलौ।
बङ्गाल मैं आज अकाल परा,
लाखन मनई बिन मौत मरा,
मजबूर मजूर उपासु करैं,
भूखे मरिगे आधे किसान।
अब च्यातौ हिन्दू-मुसलमान
सब बढ़े चलौ।

———

नीर-क्षीर

अजेय चीन—लेखक, श्री कृष्णदास, एम० ए०, प्रकाशक—किताब-महल, प्रयाग। मूल्य ||=), छपाई साफ़ है।

इसमें सन्देह नहीं कि चीन के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा बहुत बढ़ गई है। जिस अद्भुत पराक्रम से चीन आज छ साल से जापान का मुक़ाबला कर रहा है, उसके कारण सभी के मन में यह प्रश्न उठा है—और यह स्वाभाविक भी है—कि चीन की इस अजेयता का क्या रहस्य है। विद्वान् लेखक ने बतलाया है कि चीन की अजेयता का सबसे बड़ा कारण वहाँ की राष्ट्रीय एकता है। चीन का एक-एक नागरिक अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाले से लड़ता है, बच्चा-बच्चा अपने देश को पराधीन होने से बचाने के लिए लड़ता है, इसी लिए चीन अजेय है।

चीन के इस स्वाधीनता-संग्राम में वहाँ की महिलाओं, वहाँ के विद्यार्थियों, वहाँ के गायकों, वहाँ के साहित्यिकों का क्या स्थान है; वे किस प्रकार अपने स्वाधीनता-युद्ध में सहयोग दे रहे हैं इसका भी परिचय पुस्तिका से मिलता है। चउवन पृष्ठों की इस पुस्तिका में उन सभी प्रश्नों का उत्तर मिल जायगा जो सामान्यतः हमको तङ्ग करते हैं।

सभी जिज्ञासुओं को इस पुस्तक का अवलोकन करना चाहिए।

रक्त की दस बूँदें—प्रकाशक : जन-प्रकाशनगृह, राजभवन, सैण्डहर्स्ट रोड, बम्बई ४; मूल्य ||), छपाई साफ़, गेट-अप आकर्षक।

इस पुस्तक में सोवियत जनता की वीरता की पाँच अमर कहानियाँ हैं। 'दादी की झोंपड़ी' को छोड़कर बाक़ी चारों कहानियाँ समय-समय पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के हिन्दी मुखपत्र 'लोक-युद्ध' में प्रकाशित हुई हैं। कहानियों को पढ़ने से पता चलेगा कि सोवियत की माँएँ और बहिनें और प्रेमिकाएँ इस फ़ासिस्ट-विरोधी जन-युद्ध में किस भाँति अपना सर्वस्व बलिदान करके विश्व को फ़ासिस्टों की ग़ुलामी से बचाने में योग दे रही हैं। सभी कहानियाँ इतनी ओजस्विनी हैं कि लगता है मृत व्यक्ति को भी एक बार उठाकर खड़ा कर देंगी। 'दादी की झोंपड़ी', 'रक्त की दस बूँदें' और 'माँ' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सभी देश-प्रेमियों को इसका अवलोकन करना चाहिए।

मजूरी और पूँजी—लेखक : कार्ल मार्क्स, अनुवादक, ओमप्रकाश सङ्गल; प्रकाशक : जन प्रकाशनगृह, राजभवन, सैण्डहर्स्ट रोड, बम्बई; मूल्य अजिल्द ||=) सजिल्द १=); छपाई साफ़, गेट-अप आकर्षक।

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र के समझने के लिए यह पुस्तक एकदम अनिवार्य है। इसमें मार्क्स ने सबसे पहले अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है और सिद्ध किया है कि पूँजीपति मजूर से जितना काम लेता है उतनी मजूरी नहीं देता और मुनाफ़ा बचाता है। मुनाफ़ा वास्तव में वह अतिरिक्त मूल्य है जिसका उत्पादक स्वयम् मजूर है पर जिससे वह वञ्चित कर दिया जाता है। इसी अतिरिक्त मूल्य को पूँजीपति मुनाफ़ा कह कर अपनी टेंट में खोंसता है और इसी प्रकार मजूरों के शोषण से अपनी पूँजी की राशि को बढ़ाता चलता है। यह अतिरिक्त मूल्य ही शोषण की जड़ है। पूँजीवाद के अन्याय और शोषण को समझने के लिए सबको इस

पुस्तक को पढ़ना और इस पर गम्भीर चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि सोवियत रूस के नेतृत्व में मानवता आज इसी पूँजीवाद के सबसे हिंस्र रूप फ़ासिज़्म का संहार करने और एक नये स्वतन्त्र विश्व की रचना के लिए आगे बढ़ रही है जिसमें मजूरों या औपनिवेशिक जनता की गाढ़ी कमाई को टेंट में खोंसनेवाला कोई पूँजीपति या साम्राज्यवादी न होगा; कल-कारखानों पर सबका समान रूप से अधिकार होगा; किसी एक वर्ण के पूँजीपति उपनिवेशों की जनता का शोषण न कर सकेंगे और उपनिवेश उपनिवेश न रहेंगे, स्वतन्त्र देश होंगे।

स्तालिनगढ़ का आल्हा—लेखक : खेमसिंह नागर, प्रकाशक जन-प्रकाशनगृह, राज-भवन, सैण्डहर्स्ट रोड, बम्बई ४, मूल्य ।=); छपाई साफ़, गेट-अप आकर्षक।

भूमिका-लेखक के शब्दों में—"स्तालिनग्राद का युद्ध संसार के इतिहास में अमर रहेगा। विश्व-इतिहास का वह सबसे बड़ा युद्ध है। स्तालिनग्राद का युद्ध केवल एक नगर, एक मोर्चे अथवा एक देश का ही युद्ध नहीं था। स्तालिनग्राद के रक्तरंजित मोर्चे पर सत्य और झूठ का, तथा मानवता और पशुता का संग्राम हुआ था। काकेशस के द्वार पर अन्धकार और उजाला जीवन-मरण के संघर्ष में आ गुँथे थे। इसी संघर्ष के परिणाम पर सदियों का भाग्य निर्भर था।"

इसी युद्ध का कवित्व-पूर्ण इतिहास इस आल्हे में है। आल्हों के द्वारा वीरों का गुणगान हमेशा होता रहा है। स्वाभाविक ही है कि इस आल्हे में इतिहास के सबसे अदम्य वीरों का बखान किया गया है।

स्तालिनग्राद के वीरों की गाथा सुना लेने के पश्चात् कवि हम भारतीयों के लिए कुछ सन्देश देता है—

जो अपने पर करै भरोसा वही जगत में मर्द कहाय—

अपनी शक्ति पर भरोसा करो और अपनी एकता की शक्ति से नेताओं को छुड़ा लो—

सब कोइ मेल करौ आपस में अपने नेतनु लेव छुड़ाय—

भाषा पर कवि का अधिकार है लेकिन वास्तव में इस आल्हे में वीरदर्प किस परिमाण में है यह तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक किसी के मुँह से इसे ढोल-मजीरे के साथ गाते न सुना जाय।

—अमृत राय

सम्पादकीय

हमारे मित्र

सहयोगी विश्व-भारती पत्रिका के जुलाई और अक्तूबर १६४३ के अंकों में आचार्य हज़ारीप्रसाद जी के दो लेख प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों का विशेष महत्व इस बात में है कि लेखक ने सारी विरोधी आलोचनाओं से ऊपर उठकर प्रगतिवाद को समझने का वास्तविक प्रयत्न किया है जो कि बहुत सराहनीय है।

हिन्दी साहित्य में आज प्रगतिवादी विचार-धारा का समावेश इतना अवश्य हो चुका है कि उसके विषय में सभी अपना मत प्रकट करने को बाध्य हो गये हैं। अधिकांश लोग जो प्रगतिवाद का विरोध करते हैं वह सुनी-सुनाई बातों पर। निष्पक्ष रूप से प्रगतिवाद के दर्शन को कसौटी पर कसने और तदुपरान्त उसे खरा या खोटा के विशेषण से अभिषिक्त करने की पद्धति का प्रचलन अभी नहीं हुआ है। सुनी-सुनाई बातों पर आधारित आलोचना में भावावेश तो पर्य्याप्त मात्रा में मिलता है किन्तु उसमें चिन्तन के गांभीर्य और आलोचक के उत्तरदायित्व की गुरुता का आभास भी नहीं मिलता।

आचार्य हज़ारीप्रसादजी के लेखों में एक सच्चे मनीषी का चिन्तन है। उन्होंने प्रगतिवाद को 'ईमानदारी के साथ समझने की चेष्टा की है।' इस चेष्टा के फलस्वरूप वे जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं उनसे किसी प्रगतिवादी को सम्भवतः विरोध न होगा।

प्रगतिवाद की विवेचना करने के उपरान्त आचार्य जी ने बताया है कि प्रगतिवाद 'न तो हमारी प्राचीन काव्य परम्परा के स्वाभाविक विकास का परिपन्थी है न आधुनिक सहृदय के मानस-संस्कारों का प्रतिगामी।' आचार्य जी के इन शब्दों से अधिक अच्छे रूप में हम अपने उन रूढ़ि-वादी 'आलोचकों' को उत्तर नहीं दे सकते जो रूढ़ियों के प्रति इतना ममत्व रखते हैं कि उनकी रक्षा के लिए हर अप्रीतिकर विचार-धारा को 'विदेशी' करार देकर उसे अस्वीकार्य सिद्ध करने में ही अपनी शक्ति का सदुपयोग करते रहते हैं। इन रूढ़िपन्थियों की आँख आचार्य जी के शब्दों से खुलनी चाहिए। प्रगतिवाद निश्चय ही ऐसी वस्तु नहीं है जो भारत-भूमि पर पनप ही न सकती हो। आचार्य जी का 'विश्वास है कि एक समय आयेगा जब भारतवर्ष के सभी क्षेत्रों पर समाजवाद के किसी न किसी रूप का आधिपत्य होगा।' प्रगतिवाद और समाजवाद को और किसी कारण से नहीं योंही राह चलते 'अभारतीय' और 'विजातीय' कहकर तिरस्कृत करनेवाली अभद्र रूढ़िपन्थी तर्क-प्रणाली का समय निश्चय ही अब नहीं है। अब किसी वस्तु या विचारधारा को स्वीकृत या अस्वीकृत करने के पूर्व उसकी परीक्षा करनी पड़ती है।

आचार्य जी ने हम प्रगतिवादियों को एक बहुत उत्तम सलाह दी है कि हमें अपने देश के सञ्चित ज्ञान की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

यदि हमारे विवेचनात्मक साहित्य से ऐसी किसी दुर्भावना या ऐसे दुष्कृत्य की आशङ्का का परिचय मिलता है तो हम अपने मित्रों को विश्वास दिलाना चाहते हैं—यदि इसकी आवश्यकता हो—कि हम ऐसी भूल कभी न करेंगे; हम अपने को देश के समस्त सञ्चित ज्ञान का उत्तराधिकारी समझते

हैं और उसका एक अणु भी नष्ट नहीं होने देंगे। जैसा कि आचार्य जी ने स्वयं लिखा है, 'मार्क्सवादी के लिए कोई सत्य लोहे की मोटी दीवारों से घिरा नहीं है और इसी लिए वह संसार के प्रत्येक स्टेज में अर्जित ज्ञान को अपने काम (नवीन संस्कृति का निर्माण—ले०) में लाने से नहीं हिचकता।'

आचार्य जी के लेख 'साहित्य का नया रास्ता' में एक बात है जिससे मैं नम्रतापूर्वक अपनी असहमति प्रकट करूँगा। आचार्य जी ने कहा है कि प्रत्येक ज्ञान का एक स्थिरतर रूप भी है जो अपने उद्भावक वर्ग के नष्ट हो जाने पर भी बना रहता है और जिसे हमको 'शाश्वत' की संज्ञा देनी ही होगी। परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन आने के साथ बहुत-सी प्राचीन मान्यताओं की उपयोगिता का नष्ट हो जाना स्वाभाविक ही होगा, क्योंकि समाज को अग्रसर करने, उन्नत और समृद्ध बनाने की क्षमता उनमें न रह जायगी। बहुत-सी आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ जो आज हमारे समादर की पात्र हैं, सम्भवतः कल न रहेंगी। इन व्यवस्थाओं का पोषण करनेवाली आस्थाएँ, मान्यताएँ, मानदण्ड, दार्शनिक आधार भी न रहेंगे। उनका कुछ अंश सम्भव है परिवर्तित और परिवर्द्धित होकर आगे भी निर्म्माण के कार्य में आ सके, लेकिन जो बात ध्रुव है वह यही कि भावी समाज उनको अपने मूल रूप में, ज्यों का त्यों, बिना संशोधित किये स्वीकार न करेगा। इस ज्ञान-राशि में बहुत-सी चीज़ें ऐसी होंगी जो नये समाज को बनाने में सहायक होंगी, उसी तरह बहुत-सी चीज़ें ऐसी भी होंगी जिनका तिरस्कार करना पड़ेगा। एक युग का शासकवर्ग अपनी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रभुता स्थापित करने के लिए जिस ज्ञान-विज्ञान की सृष्टि करता है, उसकी उपयोगिता एक नये समाज के निर्म्माण के लिए वैसी ही न रहेगी क्योंकि इस नये समाज से उस शासकवर्ग की प्रभुता नष्ट की जा चुकी होगी। और न केवल निर्म्माण के समय वरन् अपने सङ्घर्ष के काल में भी जन-शक्तियों को जो चीज़ें पुराने दर्शन, पुराने साहित्य और पुरानी कला में ऐसी मिलेंगी जो नवनिर्म्माण की ओर अग्रसर होती हुई क्रान्तिकारी जनता का पथावरोध करेंगी, उनका प्रतिकार उसे करना ही होगा। यह अवश्य है कि इस बात के लिए सचेष्ट और सावधान रहना पड़ेगा कि यह प्रतिकार की क्रिया अन्धी न हो जाय और हम अपनी उन मूल्यवान् निधियों को भी न फेंक दें जो नई संस्कृति के निर्म्माण में सहायक हो सकती हैं। परन्तु हमें यह भी न भूलना चाहिए कि 'शाश्वतता' की दोहाई देकर प्रतिगामिता को प्रश्रय देना भी बहुत बड़ी भूल होगी। और हमें इन 'शाश्वत' तत्वों की ओर से सावधान भी रहना चाहिए क्योंकि प्रतिगामी शक्तियाँ आज शाश्वतता के परिधान से वेष्टित होकर ही हमारे बीच विचरण कर रही हैं। यही बात मैं आचार्य जी से विनयपूर्वक निवेदित करना चाहता हूँ।

एक बात और।

प्रगतिवादी यही नहीं कहते कि प्रत्येक ज्ञान का एक ही रूप होता है और उसका सम्बन्ध वर्ग-विशेष के अर्थार्जन से होता है। इसी ज्ञान के अन्तर्गत हम रेखागणित को लेंगे जैसा कि स्वयम् आचार्य जी ने लिया है। इस प्रकार के ज्ञान के विरुद्ध संघर्ष करना जड़ता होगी क्योंकि हमें आज भी रेखागणित की आवश्यकता पड़ती है, और नये समाज में भी पड़ेगी। प्रगतिवादी प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, कला, साहित्य के उन तत्वों से संघर्ष करता है जो अपने समय में विकासोन्मुख होते हुए भी आज ह्रासोन्मुख शक्तियों के आधारस्तंभ का कार्य कर रहे हैं। वह पूँजीवादी कला और साहित्य जिसने मानव को सामन्तवाद से मुक्ति दी थी आज स्वयम्

उसकी कारा बन गया है जब मानव अपनी सच्ची अन्तिम मुक्ति की ओर अग्रसर होने का पथ पहचान रहा है। एक युग में जिसने मानव का हित किया था आज उसके घोर अहित का कारण है। इसलिए किसी ज्ञान को absolute रूप में 'शाश्वत' पुकारना ठीक न होगा क्योंकि सभी ज्ञान परिस्थिति-सापेक्ष है। प्रगतिवाद अपने को प्राचीन ज्ञान के श्रेष्ठतम अंशों का उत्तराधिकारी मानता है, उनकी परम्परा को आगे ले जाता है; वह प्राचीन ज्ञान के उन अंशों पर प्रहार करता है जो आज मानव-समाज को आगे बढ़ने से, नई संस्कृति, नये विश्व के निर्माण से रोकते हैं। जैसा कि आचार्य जी ने स्वयम् लिखा है, 'मार्क्स का प्रचारित तत्वज्ञान कोई शास्त्रीय मतवाद नहीं है बल्कि दुनिया को बदलकर मनुष्य के सुख-सौविध्य के अनुकूल निर्माण करने का विज्ञान है।' प्राचीन ज्ञान के प्रति प्रगतिवादी दृष्टिकोण क्या होगा, इस उद्धरण में ही इस प्रश्न का उत्तर निहित है। जो ज्ञान आज 'दुनिया को बदलकर मनुष्य के सुख-सौविध्य के अनुकूल निर्माण करने' में सहायक होगा, उसे हम अपने मूर्द्धन्य पर आसीन करेंगे; जो ज्ञान इसके विपरीत है और शोषक वर्ग के हाथ में मनुष्य को अन्याय की कारा में बन्द रखने का अस्त्र है, उसका हम प्राणपण से प्रतिकार करेंगे, जनता को उसके अवांछनीय प्रभाव से मुक्त करेंगे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हम अपने देश के सञ्चित ज्ञान की उपेक्षा कदापि न करेंगे परन्तु उस ज्ञान के सर्वांश को हम आँख मूँदकर इसी लिए स्वीकार भी न कर लेंगे कि वह प्राचीन है।

आचार्य जी ने हमें सावधान करने के लिए जो सलाह दी है उसका मूल्य तब भी बहुत है। हमको सदैव इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि देश के सञ्चित ज्ञान की उपेक्षा हम न करें। इस बात को जितनी बार कहा जाय थोड़ा है। आचार्य जी ने इस बात की ओर ध्यान आकर्षित कर हमारा बहुत उपकार किया है।

'आज साहित्यकार के सामने प्रश्न केवल अच्छी बातें सुनाने का ही नहीं है, उस सड़ी हुई समाज-व्यवस्था को बदल देने का भी है जो अच्छी बातों को सुनाने में बाधक है।' इस सड़ी हुई समाज-व्यवस्था को बदलने का यही महायज्ञ हमारे पथ को आलोकित कर रहा है और उसी के आलोक में हम उन वस्तुओं का वर्गीकरण करते हैं जो सड़ी हुई समाज-व्यवस्था को बदलने में सहायक हैं और जो इस कार्य में बाधक हैं। इसी एक कसौटी पर हम समस्त पुरातन और नवीन साहित्य को कसने का प्रयास करते हैं क्योंकि आचार्य जी ही के समान हमें भी मनुष्य की अतुलनीय शक्ति पर विश्वास है और उसी विश्वास के बल पर हम भी यही आशा करते हैं कि हम अपनी भाषा और साहित्य के द्वारा इस विषम परिस्थिति को अवश्य बदल देंगे।

काशी में बङ्गाल-सहायतार्थ नाटक

गत मास एक बँगला-नाटक-समिति ने 'सिराजुद्दौला' नाटक बङ्गाल के दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायतार्थ किया था। नाटक को देखते हुए हमारा प्राचीन इतिहास एक बार फिर आँखों के सामने नाच गया। भारतीय राष्ट्रीयता के प्रतीक सिराजुद्दौला ने किस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी और क्लाइव से मोर्चा लेकर भारत को पराधीनता की शृङ्खलाओं में कसे जाने से बचाने का महान् प्रयत्न किया था, इसे सभी जानते हैं। अपने इस प्रयत्न में वह असफल रहा और पलासी के युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत पर अपना आधिपत्य पूरी तरह जमा लिया, इस बात से सिराजुद्दौला की महत्ता और उसकी उदात्त राष्ट्रीयता पर कोई बल नहीं आता। मीरजाफर, अमीचन्द और राय

दुर्लभ जैसे ग़द्दारों ने देश को क्लाइव के हाथ बेच दिया। इसी लिए जब पलासी के युद्ध के बाद सिराजुद्दौला यह पीड़ा अनुभव करता है कि उसकी समस्त चेष्टाओं के बावजूद इन लोगों ने देशद्रोह किया, तब दर्शक को भी पीड़ा होती है और पीड़ा के साथ-साथ वह इन देशद्रोहियों के प्रति घृणा भी अनुभव करता है।

नाटक का सामयिक सन्देश भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आज प्रायः दो सौ साल बाद दूसरे विदेशी आक्रमणकारी उसी सीमान्त पर दीख पड़ने लगे हैं। उन से मोर्चा लेने का भी वही मूलमन्त्र है—हिन्दू-मुस्लिम एकता—जिसका स्वप्न और जिसकी अमर साध लेकर सिराजुद्दौला का प्राणान्त हुआ। नाटक के अन्त में जब सिराजुद्दौला कहता है कि अगर हिन्दू और मुसलमान एक हो जायँ तो उन्हें स्वाधीन होने से कोई नहीं रोक सकता, तब लगता है कि सिराजुद्दौला आज से दो सौ वर्ष पहले का वीर नहीं बल्कि आज ही का एक देशभक्त है जो मानों मञ्च पर खड़े होकर अपने सामने बैठे हुए श्रोताओं को एकता का सन्देश दे रहा हो, उन्हें बता रहा हो कि आज जब विश्व की जनता शक्तिशाली हो रही है और साम्राज्यवादी कमज़ोर पड़ रहे हैं, राष्ट्रीय एकता भीतरी और बाहरी दोनों दुश्मनों को हरा सकेगी, मीरजाफ़र और अमीचन्द जैसे ग़द्दारों को ख़तम करके देश को स्वाधीनता की ओर ले जायगी।

बङ्गाल के लिए हिन्दी-साहित्यिकों का प्रतिनिधि-मंडल

आज यह बताने की कोई आवश्यकता नहीं है कि बङ्गाल में दुर्भिक्ष और महामारी का भयानक ताण्डव नृत्य हो रहा है। शायद ही कोई भारतीय होगा जिसका हृदय बङ्गाल की इस विभीषिका को जानकर क्रन्दन न कर उठा हो। इसलिए स्वाभाविक ही है कि हिन्दी के कुछ सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारों के मन में यह बात आई कि वे बङ्गाल जाकर परिस्थितियों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करें और उसके आधार पर रचनाएँ करके लोगों को दिशा का ज्ञान करा सकें। श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्रीमती महादेवी वर्मा, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, श्री नरेन्द्र शर्मा, श्री आनन्द कौसल्यायन आदि के एक प्रतिनिधि-मण्डल का बङ्गाल जाना निश्चित हुआ है। अपने बङ्गाली देशभाइयों की विपत्ति से उनका द्रवित हो उठना स्वाभाविक तो है ही, साथ ही उनके व्यक्तित्व की ऊँचाई और अपनी कला के प्रति उनकी निष्ठा का परिचय भी देता है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी-संसार हमारे साथ इन साहित्यकारों का अभिनन्दन करेगा और यह आशा प्रकट करेगा कि ये महान् साहित्यिक वहाँ से लौटकर अपनी लेखनी से हमारी चेतना शक्ति को जगायेंगे और वह पथ बतलायेंगे जिस पर चलकर बङ्गाल की रक्षा हो सकेगी और समस्त देश बङ्गाल की-सी विपत्ति में पड़ने से बच जायगा।

'मधुकर' का प्रान्त-निर्माण-अङ्क

'मधुकर' के इस विशेषांक को देखकर हमें बहुत प्रसन्नता हुई। चार सौ पृष्ठों में वह समस्त सामग्री एकत्र कर दी गई है जिसका सम्बन्ध बुन्देलखण्डी भाषा के आधार पर बुन्देलखण्ड प्रान्त-निर्माण से है। लेख प्रान्त-निर्माण के पक्ष और विपक्ष दोनों में हैं। पक्षवाले लेखों की संख्या अधिक है। निर्णय का भार स्वयम् पाठक पर छोड़ दिया गया है।

प्रान्त-निर्माण का प्रश्न आज का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, क्योंकि उसका सीधा सम्बन्ध जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार से है। इसी प्रश्न के सही सुलझाव पर आज देश की

राजनीति निर्भर करती है, देश की स्वाधीनता का प्रश्न निर्भर करता है। बुन्देलखण्ड प्रान्त-निर्माण की माँग के पीछे भी वही भावना काम कर रही है जो मुसलमान जातियों के आत्मनिर्णय की माँग के पीछे। जिस प्रकार मुसलमान जातियाँ एक मत से आज अपनी इस माँग के पीछे सङ्गठित हो रही हैं, उसी प्रकार हिन्दू जातियों में भी यह माँग ज़ोर पकड़ रही है। आन्ध्र, केरल, महाराष्ट्र, महाकोशल, बुन्देलखण्ड, बिहार आदि प्रान्तों से यह माँग अब प्रबल रूप से उठ रही है। यह केवल इस बात का द्योतक है कि अब हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन इतना आगे बढ़ चुका है, इतना विकसित हो चुका है कि देश में रहनेवाली जातियाँ अपनी जातीय स्वाधीनता को देश की बृहत्तर स्वाधीनता के एक अभिन्न अङ्ग के रूप में देखने लगी हैं। वे इस बात को उत्तरोत्तर स्पष्ट रूप से समझने लगी हैं कि देश की स्वाधीनता का अभिप्राय यह होगा कि अफ़ग़ानों, सिन्धियों, बलूचियों, पञ्जाबियों, बङ्गालियों, बिहारियों, बुन्देलखण्डियों, आन्ध्र वालों, केरल वालों, महाराष्ट्रियों, महाकोशलियों आदि को इस बात की स्वाधीनता होगी कि वे अपनी जातीय संस्कृति और अपनी ऐतिहासिक परम्परा के अनुरूप स्वाधीन जनपदों का निर्माण कर सकेंगे।

भारत एक बहुजातीय राष्ट्र है, इसलिए स्वतन्त्र भारत इस अर्थ में अखण्ड नहीं होगा कि एक सरकार सभी जातियों के भाग्य का निबटारा करेगी, बल्कि उस अर्थ में अखण्ड होगा जिस अर्थ में स्वाधीन जातियों का एक परिवार अखण्ड होता है, जिस अर्थ में एक सौ अस्सी जातियों का सोवियत् रूस अखण्ड है। हमारी समझ में बुन्देलखण्ड प्रान्त-निर्माण की माँग उतनी ही न्याय्य है जितनी अफ़ग़ानों, बलूचियों, सिन्धियों आदि की, मुसलमान जातियों की, आत्म-निर्णय की माँग। स्वतन्त्र भारत की कल्पना हम इस प्रकार के स्वतंत्र जनपदों के सुखी परिवार के रूप में ही करते हैं। इन स्वाधीन जनपदों का निर्माण केवल भाषा की एकता के आधार पर नहीं वरन् उसके साथ ही साथ ऐतिहासिक परम्परा, आर्थिक जीवन और मानसिक गठन की एकता के आधार पर होगा। जो जनसमूह इस चतुर्मुखी एकता की परिभाषा के अन्तर्गत आयेगा, उसे ही जाति की संज्ञा दी जा सकेगी और उसे ही स्वाधीन जनपद के निर्माण का अधिकार होगा।

हम चिन्तनशील हिन्दी जनता का ध्यान इस अङ्क की ओर आकर्षित करते हैं और उन से प्रार्थना करते हैं कि आज जब हर ओर जातियाँ और केवल मुसलमान जातियाँ ही नहीं हिन्दू जातियाँ भी अपने आत्मनिर्णय के अधिकार की घोषणा कर रही हैं वे इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर ठण्ढे मन से विचार करें और मुसलमानों के आत्मनिर्णय की माँग को न्याय्य समझते हुए स्वीकार करें और इस प्रकार देश की राज-नीतिक जिच को दूर करने में योग दें जिसके कारण आज देश भूख और महामारी से श्मशान बन रहा है। इस प्रश्न पर जब हम इस दृष्टिकोण से विचार करेंगे, तब यह स्पष्ट हो जायगा कि जातियों की स्वाधीनता और देश की स्वाधीनता में परस्पर कोई सङ्घर्ष नहीं है, वरन् जातियों की स्वाधीनता देश की स्वाधीनता का एक अङ्ग है। देश जब स्वतन्त्र होगा, तभी ये जातियाँ भी स्वतन्त्र होंगी; देश के पराधीन रहते हुए ये जातियाँ भी स्वाधीन नहीं हो सकतीं और देश जब स्वाधीन होगा तब इन जातियों को आत्म-निर्णय का अधिकार मिलना भी न्यायसङ्गत होगा। अब हम लोगों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम जातियों के आत्मनिर्णय के प्रश्न पर ठण्ढे मन से विचार करें। जब देश में चारों ओर जातीय चेतना की लहर आई हुई दीखती है और हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों को एक ही-सा आन्दोलित कर रही है, हमें भारत की 'अखण्डता' का ढोल पीटना छोड़ना होगा और इस यथार्थ से सही निष्कर्ष निकालना होगा कि सरहद पर के मुसलमान, जिनमें राष्ट्रीय चेतना सबसे अधिक पाई

जाती है आज आत्म-निर्णय के प्रश्न पर, पठान जाति के स्वतन्त्र जनपद के प्रश्न पर एकमत हैं। आज राष्ट्रीय चेतना अपने विकास के एक निश्चित धरातल पर पहुँच कर जातियों को अपनी स्वाधीनता का बोध करा रही है। बुन्देलखण्ड प्रान्त-निर्माण के पीछे काम करनेवाली भावना देश की स्वाधीनता का निषेध करनेवाली सङ्कीर्णता नहीं वरन् स्वस्थ जातीयता है जो स्वस्थ राष्ट्रीयता से पूरी तरह मेल खाती है।

भूल-सुधार

अगस्त १९४३ के अङ्क में हमने जापानी दलालों द्वारा बँगला के लेखक श्री रणेश दास-गुप्ता की हत्या के समाचार के आधार पर एक सम्पादकीय टिप्पणी दी थी। बाद के समाचारों से पता चलता है कि श्री दास-गुप्ता अस्पताल में जाकर अच्छे हो गये। हमें अपनी भूल सुधारते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है क्योंकि हमारी स्वाधीनता का एक सैनिक हमारे बीच से उठा नहीं और उसे इस बात का अवसर मिला कि वह अपनी आहुति के ज़रिये नहीं बल्कि अपने जीवित कर्मों के ज़रिये सामान्य जनता को दिखला सके कि देश की स्वाधीनता का असली सिपाही, असली देशभक्त वह है, देशभक्त का चेहरा लगाये हुए वे जापानी दलाल नहीं जो रात के अँधेरे में हत्या का व्यापार चलाते हैं।

लेखक अपने देश के साथ

इलाहाबाद के कवियों और लेखकों का वक्तव्य

"बङ्गाल की भयङ्कर दुरवस्था से हम लेखकों को महान् दुःख हुआ है। हज़ारों व्यक्ति प्रतिदिन सड़कों और गलियों में प्राण त्याग रहे हैं। स्त्रियाँ और बच्चे मुट्ठी भर चावल पर बिक रहे हैं। बङ्गाल की शस्य-श्यामला भूमि आज भुखमरी, मौत और असह्य अपमान की क्रीड़ास्थली बनी हुई है। मौसमी बुखार तथा दूसरी महामारियाँ पूरे ज़िलों को निगले जा रही हैं।

इस मानव-निर्मित अकाल के साथ-साथ जापानी बममारी तबाही ढा रही है। यह उस महान् विपत्ति की चेतावनी है जो हमारे पूरे देश पर छा जाना चाहती है।

जनता के संयुक्त प्रयत्न से ही देश को इस आसन्न सङ्कट से बचाया जा सकता है।

हम अपने देशवासियों से अपील करते हैं कि सारा भेद-भाव भुला कर वे बङ्गाल की सहायता के लिए आगे बढ़ें, उसके लिए जो भी मदद भेज सकते हों भेजें, और बङ्गाल में सर्वदली मन्त्रिमण्डल की स्थापना की माँग करें। फ़ासिस्ट आक्रमण के ख़तरे को दूर करने और आन्तरिक सङ्कट को मिटाने के लिए बङ्गाल की जनता को प्रेरित करने और आगे बढ़ाने का यही एक रास्ता है।"

यह वक्तव्य इलाहाबाद के प्रमुख हिन्दी साहित्यकारों के दस्तख़त से प्रकाशित हुआ है। प्रसिद्ध कवि श्री 'निराला' और श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी इस पर हस्ताक्षर किये हैं। पूरी सूची इस प्रकार है :—

१. 'निराला'
२. महादेवी वर्मा
३. रामविलास शर्मा
४. इलाचन्द्र जोशी
५. पहाड़ी
६. रमेश सिनहा
७. अमृतराय
८. भागीरथ पाण्डेय
९. विष्णुदत्त मिश्र
१०. भगवतीप्रसाद वाजपेयी
११. ब्रजमोहन गुप्त
१२. शिवनन्दन खन्ना
१३. विश्वनाथ मिश्र
१४. गङ्गाप्रसाद पाण्डेय
१५. मोहम्मद तक़ी
१६. विद्यावती 'कोकिल'
१७. कमल कुलश्रेष्ठ
१८. नरोत्तमप्रसाद नागर
१९. रघुपतिसहाय 'फ़िराक़'
२०. इन्द्रप्रताप तिवारी
२१. 'अञ्चल'
२२. 'विनोद'
२३. प्रकाशचन्द्र गुप्त
२४. आर. एन. देब
२५. गंगाप्रसाद मिश्र
२६. रामनाथ 'सुमन'

———

वर्ष १४ : नवम्बर १९४३ : अङ्क २

वार्षिक ६) : **: एक प्रति आठ आना**

प्रकाशक

सरस्वती प्रेस, बनारस

हंस

वर्ष : १४] नवम्बर, १९४३ [अंक : २

निदान

[विष्णु]

पात्र

निरञ्जनलाल	:	एक अधेड़ क्लर्क	सरला	:	रमेश की पत्नी
रमेश	:	निरंजनलाल का लड़का	माँ	:	किशुन की माँ
किशुन	:	रमेश का मित्र	लालाजी, चपरासी इत्यादि		

स्थान—युद्धकालीन भारत का एक साधारण क़स्बा।

पहिला सीन

[स्टेज के एक कोने में एक साधारण चारपाई पड़ी है। उस पर एक अधेड़ व्यक्ति लेटा है। उसका चेहरा सफ़ेद पड़ गया है और वह ज़ोर से कराह रहा है। इसी व्यक्ति का नाम निरञ्जनलाल है। पास एक कुरसी पर एक युवक बैठा लिख रहा है। वह कुरता और पाजामा पहिने है। उसके चेहरे पर सौम्यता है परन्तु कभी खीझ, कभी मुस्कान उसके भाव बदलती रहती है। यह रमेश है। दूसरे कोने में एक युवती घूँघट डाले कुछ बीन रही है। वह बार-बार घूँघट उठाकर चारो तरफ़ देख लेती है। उसका चेहरा एकदम पीला है, पेट बहुत बढ़ गया है। कभी-कभी हाँफने का नाट्य करती है। इसका नाम सरला है। रमेश लिखना ख़तम करके निरंजनलाल की ओर मुख़ातिब होता है।]

रमेश—लो पिताजी! दस्तख़त कर दो।

नि० ला०—(आँखें खोलकर) कहाँ दस्तख़त करूँ! ओह—आह···जान निकल रही है (काग़ज़ लेकर पढ़ना चाहते हैं)। रमेश! बड़े बाबू से कहना मैं उठ नहीं सकता। अगर ज़रा भी साँस ले सकता तो ज़रूर आता और कहना ठीक होते ही आऊँगा···

[काँपते-काँपते दस्तख़त करता है और लुढ़क जाता है।]

रमेश—जी मैं कह दूँगा, लेकिन पिताजी, आप इतना घबराते क्यों हैं! बीमार हैं तभी आप छुट्टी ले रहे हैं···

नि० ला०—(अस्फुट स्वर से) तुम नहीं जानते रमेश। तुम नहीं जानते···आह···!

रमेश—क्या कष्ट है?

नि० ला०—कष्ट! आह···न जाने कम्बख़्तों ने आटे में क्या मिलाया है! (उठता है) मैं पाख़ाने जाऊँगा, पानी देता जा···ओह-ओह (फिर रुककर) और रास्ते में तार भी देते जाना।

रमेश—तार !

नि० ला०—हाँ, तार ! बहू को क्या जान से मार डालेगा ! उसे आना ही पड़ेगा। बाप का घर है।

रमेश—(मुस्कराता है) लेकिन ग़रीब बाप का, पिताजी। मैं जानता हूँ वे लोग प्रभा को नहीं भेजेंगे। मैं जा नहीं सकूँगा इसी लिए मैंने किशुन की माँ से कहा था ''।

[इसी समय स्टेज पर किशुन की माँ का प्रवेश]

माँ—क्या बात है, रमेश !

रमेश (मुस्कराता है)—लो चाची आ गई। मैं अभी पिताजी से कह रहा था कि चाची···

माँ—झूठ बोलता है ! तू कह रहा था 'किशुन की माँ'।

[सब हँसते हैं और निरञ्जनलाल बाहर जाते हैं।]

रमेश—(हँसता हुआ) एक ही बात है, चाची। गुलाब को किसी नाम से पुकारो वह सुगन्ध देना नहीं छोड़ेगा।

माँ—(प्रसन्न है) हमेशा ज्ञानियों की तरह बोलता है। मैं कहती हूँ, बोलने से ही तो सब काम नहीं हो जाते। बहू की भी कुछ फ़िकर है ? पल का भरोसा नहीं।

रमेश—सुनो चाची, ज्ञान बोलता है, बुद्धि सुनती है। मैं ज्ञानी हूँ, बोलता रहूँगा। तुम बुद्धि हो, सुनती रहोगी। रही फ़िकर की बात, सो माँ के होते बेटे को उसकी कोई ज़रूरत नहीं है। मैं पिताजी की अरज़ी लेकर दफ़्तर जा रहा हूँ, तब तक तुम बहू के साथ फ़िकर की बातें करो।

[रमेश स्टेज से बाहर जाता है। माँ सरला के पास बैठ जाती है। निरंजनलाल फिर आकर चारपाई पर लेट जाते हैं। सोने की चेष्टा करते हैं, परन्तु बेचैनी बार-बार उभर आती है और वे भारी स्वर में बड़बड़ाते हैं, भइया···भइया !]

सरला—कैसे होगा, चाचीजी ! पिताजी का बुख़ार नहीं उतरता। पेचिश अलग तङ्ग कर रही है।

माँ—घर-घर यही हाल है बहू ! न जाने क्या बीमारी है !

सरला—बीमारी क्या जी ! लड़ाई के कारण सारी हवा गन्दी हो रही है। गैसों की लड़ाई है न ?

माँ—बेशक बहू ! पिछली लड़ाई के बाद भी इसी तरह बीमारी फैली थी। घर घर मौत के बादल बरसे थे।

सरला—इस बार तो और भी बुरी हालत है। कलकत्ता पर बम पड़ने लगे हैं।

माँ—बम्ब तो घर-घर में पड़ेंगे बहू। किशुन कहता था, रंगून में सड़कों पर लाशों का ढेर लगा रहता है। न जाने इस दईमारे जप्फान (माँ हमेशा जापान को जप्फान बोलती है) की लोगों से क्या दुश्मनी है। सच कहती हूँ बहू ! सारी रात आँखों में निकाल देती हूँ। देवकुमार फिर कलकत्ते चला गया। मैंने मना लिखवाई थी तो जवाब में लिखा है, माँ से कहना आज-कल बुज़दिली से काम नहीं चलेगा। जापान बढ़ा चला आ रहा है। वह दिन दूर नहीं जब हमें अपने-अपने घरों में उसके साथ लड़ना पड़ेगा···।

सरला—सच चाचीजी ! ये भी कहते हैं कि अब डरने से काम नहीं चलेगा। हमें सदा जापान से लड़ने के लिये तैयार रहना चाहिए।

माँ—(खीझकर) ख़ाक लड़ेंगे। जो आपस में प्रेम से नहीं रह सकते, जो एक दूसरे को चूसने की फ़िकर में लगे रहते हैं, वे भला कैसे किसी का मुक़ाबिला करेंगे। अपने पड़ोसियों को देखो न ! लड़ाई में सट्टा लगा-लगाकर पैसा कमा लिया है तो बस किसी को समझते ही नहीं ''।

[स्टेज पर रमेश का प्रवेश, अरज़ी हाथ में है। सब उसे अचरज से देखते हैं।]

रमेश—पिताजी ! बड़े बाबू ने आपकी अरज़ी नहीं ली।

नि० ला०—(चौंक कर) नहीं ली ! क्यों नहीं ली ! क्या कहा !

रमेश—उन्होंने कहा है कि छुट्टी नहीं मिल सकती।

नि० ला०—नहीं मिल सकती ! (बात काटकर) आख़िर'''(बेचैनी)

रमेश—मैंने कहा, बाबूजी ! वे तो उठ नहीं सकते तो बोले मैं क्या करूँ ? मैंने कहा अरज़ी मंज़ूर करवा दीजिए तो बोले, अरज़ी मैं नहीं मंज़ूर करता, साहब करता है। मैंने अर्ज़ की कि बाबूजी हमारे लिये आप ही साहब हैं, तो ज़रा गुनगुनाये और अरजी रख ली। मैं मुड़ा ही था कि ज़ोर से चिल्ला उठे—मुझे बेवकूफ़ समझा है ? Sick leave भी कभी बिना डाक्टरी सर्टिफ़िकेट के मिलती है ! मैंने फिर निवेदन किया बाबूजी, कुल दो दिन की छुट्टी है उसके लिये तो''' बीच ही में वे बोले—दो दिन ! दो दिन क्यों ! दो दिन पहले भी है। तीन दिन के बाद Medical certificate होना ज़रूरी है। जाइये बाबू ! Certificate लेकर आइये।

नि० ला०—सर्टीफ़िकेट लेकर आइये ! सर्टीफ़िकेट ''अब''' !

रमेश—अब मैं डाक्टर के पास जाता हूँ।

नि० ला०—भइया ! ये डाक्टर भी तो बाबूजी की तरह इन्सान हैं। वे बिना देखे कैसे सर्टीफ़िकेट देंगे ?

रमेश—तो मैं उन्हें घर बुला लाता हूँ।

नि० ला०—घर ! तुम पागल हो ! रुपये कहाँ हैं ?

रमेश—(लापरवाही से) रुपये कहाँ हैं सो तो मैं जानता हूँ। ला० करोड़ीमल, उजागरसिंह, बंशीधर सभी की तिजोरियाँ ठसाठस भरी हैं। कहें तो उठा लाऊँ। (हँसता है)

नि० ला०—रमेश ! मैं दफ़्तर जाऊँगा।

रमेश—ज़रूर जाइये पिताजी।

माँ—क्या कह रहा है तू ! कहीं ऐसे में भी दफ़्तर जाया जाता है।

नि० ला०—जाया जाता है या नहीं ! यही तो आज देखना है।

[उठता है, लेकिन ताक़त नहीं है। काँपकर गिर पड़ता है]

नि० ला०—ओह भगवान् ! भगवान् !!

[रमेश शीघ्रता से उन्हें सँभालता है। माँ और सरला घबराकर उठती हैं।]

रमेश—(उठाते-उठाते) पिताजी, आज-कल भगवान् छुट्टी पर हैं'''

नि० ला०—(हाँफते-हाँफते बीच ही में) रमेश !

रमेश—जी पिताजी।

नि० ला०—भगवान् कहीं पर हों, मैं उनसे एक ही प्रार्थना करता हूँ।

रमेश—क्या पिताजी ?

नि० ला०—कि तू क्लर्क न बने ! कोई कभी क्लर्क न बने।

रमेश—(उसी अल्हड़ता से) आप ग़लत कह गये पिताजी।

नि० ला०—ग़लत?

रमेश—हाँ पिताजी, ग़लत, आप यह प्रार्थना कीजिये कि मेरे होनेवाली औलाद इन्सान न हो! पृथ्वी पर अब कभी इन्सान न हो।

[शीघ्रता से बाहर भाग जाता है, सब काँपते हैं।]

नि० ला० (चौंककर)—रमेश, रमेश! तूने क्या कहा!

माँ (चौंककर)—क्या कहा अभागे, क्या कहा!

[सरला बड़ी तेज़ी से काँपकर बैठ जाती है, माँ शीघ्रता से उसे सँभालती है। निरंजनलाल पागल-से देखते हैं। परदा यहीं गिर जाता है।]

दूसरा सीन

[स्टेज पर एक साधारण कमरे का दृश्य। एक कोने में खाट है, दूसरे में एक मेज़ और एक कुर्सी। मेज़ पर दावात, क़लम, कैलेण्डर तथा दो-चार किताबें हैं। एक खूँटी पर दो-तीन कपड़े टँगे हैं। एक आलमारीनुमा चीड़ की लकड़ी का रैक है; उसमें पाँच-सात किताबें बेतरतीबी से पड़ी हैं। रमेश इसी स्थान पर पीठ पर हाथ बाँधे टहल रहा है। चारों तरफ़ सन्नाटा है। केवल उसी की पद-चाप धीमी-धीमी आवाज़ पैदा करती है। काफ़ी देर तक यही आवाज़ होती रहती है और उसकी गम्भीर मुख-मुद्रा तनी रहती है। बाहर दिन धुँधलाता है, सरला वहाँ आती है।]

सरला—साँझ हो गई! आप अभी तक घूम रहे हैं। आख़िर बात क्या है?

रमेश—(रुककर सरला को ग़ौर से देखता है) सरला, मैं आज बहुत कुछ सोच लेना चाहता हूँ, बहुत कुछ। और मैं भी समझता हूँ कि टहलते हुए सोचना ज़्यादा ठीक रहता है। तुमने कभी चिड़ियाघर देखा है। जानवर हमेशा कठघरों में घूमते रहते हैं। वे सोचा करते हैं कि हम कैसे क़ैद हुए और कैसे छूट सकेंगे। मैं भी सोचता हूँ कि मैं क्यों पैदा हुआ और कैसे मुझे मुक्ति मिलेगी।

सरला—आपकी बातें मैं समझ नहीं पाती, बुद्धिहीन हूँ, परन्तु इतना ज़रूर जानती हूँ कि न कभी उन जानवरों ने चिड़ियाघर से छुटकारा पाया है न आप कभी इस समस्या को हल कर सकेंगे। इस सोचने का एक ही परिणाम मैं देखती हूँ कि अक्सर आप पागलों जैसी बातें किया करते हैं।

रमेश (हँसता-हँसता रुक जाता है)—नाराज़ हो गईं सरले। तुम नहीं जानतीं मुझे कितना दुःख हो रहा है। सचमुच सवेरे मैं पागल हो रहा था। मैंने माँ के दिल को ज़बरदस्त ठेस पहुँचाई है, मैं गुनहगार हूँ··· । (स्वर गिरता है)

सरला—(एकदम पास आकर)—नहीं, नहीं! आप इतने दुखी क्यों होते हैं! उस बात का तो मुझे ज़रा भी ख़्याल नहीं है।

रमेश—(सरला का हाथ अपने हाथ में लेकर)—लेकिन मुझे है। मैंने चन्द इंसानों के कमीनेपन को लेकर सारी जाति को मिटाने की बात कह दी, यही बात मुझे खटक रही है। किशुन से जब मैंने कहा तो वे बोले इंसान की हालत देखकर मन में ऐसा ही उठता है कि सारी दुनिया नष्ट हो जाये परन्तु नष्ट होना तो समस्या का हल नहीं है। व्यक्ति नष्ट हो सकता है परन्तु

क्रम नष्ट नहीं होगा। मनुष्य फिर पैदा होंगे इसी लिए मैं सोचता हूँ कि हमें इस कमीनेपन को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सरला—वे शायद ठीक कहते हैं लेकिन भगवान् की इन बातों में हम कैसे दख़ल दे सकते हैं! पर अब छोड़िये इन बातों को। मैं पूछने आई थी कि आपने मेरे लिये क्या सोचा!

रमेश—(मुस्कराता है)—तुम्हारे लिये या···(संकेत करता है)

सरला—(मुस्कराती है)—जो भी हो। आप आज चाचीजी को ज़रूर बुला लाइये।

रमेश—आज!

सरला—अभी!

रमेश—(गम्भीर) लेकिन वे तो शायद आ नहीं सकेंगी।

सरला—(भय-मिश्रित गम्भीरता से) नहीं आ सकेंगी! आपने पूछा था!

रमेश—पूछा था तभी तो···

सरला—नहीं-नहीं। आप फिर जाइये, विनती कीजिये। वे मना नहीं करेंगी···जाइये···

[कहते-कहते सरला एकदम निस्तेज होती है और बाहिर चली जाती है। रमेश उसे देखता है। काँपता है, फिर एकदम मेज़ के नीचे से जूता खींचता है। भय की एक हल्की रेखा उसके चेहरे की सब गम्भीरता नष्ट कर देती है, इसी समय किशुन वहाँ प्रवेश करता है]

किशुन—हलो रमेश! कहाँ जा रहे हो!

रमेश—(जल्दी से) किशुन! तुम्हारी बड़ी उमर है। चलो न ज़रा चाची के पास। उनसे कहना है कि दो-तीन दिन के लिए सरला को सँभाल लें। प्रभा नहीं आ सकी। रास्ते को···।

किशुन—(शान्त स्वर) माँ मेरे साथ आई हैं।

रमेश—(प्रसन्न स्वर से) आई हैं। ओह तुम बड़े अच्छे हो किशुन···।

किशुन—(कुरसी पर बैठकर हँसता है) और तुम बहुत बुरे हो, रमेश!

[दोनों हँसते हैं।]

रमेश—तो तुम्हारे मेहमान चले गये मालूम होते हैं।

किशुन—गये भाई! वे भी एक मुसीबत थे। दो दिन में मेरे १५) ख़र्च हो गये, परन्तु उनका मिज़ाज चढ़ा ही रहा। चुरा-चुराकर मिठाई खाते थे। क्यों न खाते, पैसा छनाछन बरस रहा है। बेचारे उसका उपयोग जानते ही नहीं।

रमेश—किशुन! पैसा तो सभी पर बरस रहा है। बेचारे मज़दूरों और कम वेतनवाले सरकारी नौकरों की मुसीबत है। मज़दूर तो फिर भी नङ्गा नहा लेगा पर यह सफ़ेदपोश बाबू तो कलप की हुई पोशाक के नीचे लाश बने फिरते हैं।

किशुन—बेशक रमेश! यह भूख लाखों इंसानों को खा जायेगी और लाशें सड़कों पर इस तरह बिखरती फिरेंगी जिस तरह रोड़े फिरते हैं। यह इन्सान उनको भी नोच-नोचकर खा जायेगा।

रमेश (घृणा से)—नोच-नोचकर खा जायगा!

किशुन—ज़रूर खा जायगा। देवकुमार की कहानी शायद तुमने नहीं पढ़ी। पिछले मास की 'लोकवाणी' में निकली है। पढ़ोगे तो काँप उठोगे! कैसी भयानक भविष्यवाणी की है उसने।

रमेश—(उठकर टहलता है) मैं सोचता हूँ यह सब ठीक है, पृथ्वी का भार हल्का होना ही चाहिए।

किशुन—परन्तु रमेश ! यह तो आत्महत्या है, बुज़दिली है। आत्महत्या करने से कहीं भार हल्का होता है, बुज़दिली दिखाने से कहीं सफलता मिलती है···

[बाहर से उसकी माँ पुकार रही है।]

माँ—अरे किशुन, अरे रमेश।

[कोई नहीं सुनता।]

माँ (तेज़ स्वर)—अरे तुम सुनते नहीं, अरे रमेश !

[दोनों चौंकते हैं।]

रमेश—क्या है चाची ?

किशुन—माँ, क्या बात है !

[माँ वहीं आ जाती है मुस्करा रही है।]

माँ—रमेश ! बड़े बेफ़िकर हो, सब कुछ भगवान् के ऊपर छोड़ बैठे, इतनी श्रद्धा ! वह तो मैं आ गई। ला मिठाई खिला, बाल गोपाल पधारे हैं।

[रमेश के मुख के भाव बड़ी तेज़ी से आश्चर्य, लज्जा और प्रसन्नता का रङ्ग लेकर पलटते हैं; फिर मुस्कराकर ऊपर देखता है।]

रमेश—तो हज़रत आ गये ! मैं तो समझा था कि इस विडम्बना में रास्ता न भूल गये हों !

किशुन—(हँसता है) इस रास्ते को कौन भूलता है, रमेश। चाँद-सूरज भी इसी चक्र में फँस दिन-रात घूमते रहते हैं, घूमते रहते हैं, रुकते ही नहीं।

रमेश—(जाते-जाते)—कौन जानता है किशुन ! इस विश्व का क्या रहस्य है। सोचता हूँ तो मस्तिष्क काँप उठता है।

किशुन—(जाते-जाते)—रहस्य तो मैं भी नहीं जानता पर इतना ज़रूर जानता हूँ कि इस रहस्य को सुलझाते रहने में ही जीवन पैदा हो जाता है।

[दोनों जाते हैं, माँ भी पीछे-पीछे जाती है।]

तीसरा सीन

[स्टेज के एक कोने में निरञ्जनलाल पूर्ववत् चारपाई पर लेटे हैं। आज अपेक्षाकृत शान्त हैं। अन्दर से बालक के रोने की आवाज़ रुक-रुककर आती है। स्टेज पर दो-तीन स्त्रियाँ एक ओर से आती हैं, अन्दर चली जाती हैं। वे फुस-फुस बातें करती हैं, फिर अन्दर से धीमी-धीमी गाने की ध्वनि आकर वहाँ फैल जाती है।]

धन्य धन्य वह मातु जिसने जाये सुत योधा।

ऐसे जाये कौशल्या ने रामचन्द्र महाराज ऐसे सुत योधा ॥ धन्य धन्य···

ऐसे जाये देवकी ने श्रीकृष्ण महाराज ऐसे सुत योधा ॥ धन्य धन्य···

[वह आवाज़ इसी तरह गिरती-उठती है। निरञ्जनलाल सुनते हैं और मुस्कराते हैं। चेहरा खिल उठता है तभी रमेश स्टेज पर प्रवेश करता है।]

रमेश—(पास जाकर) पिताजी ! मैं उजागरसिंह के पास गया था। उन्होंने मना कर दिया।

नि० ला०—(सहसा चिन्तित होकर)—मना कर दिया ? लेकिन···

रमेश—जी नहीं। वह भी नहीं दिया। कहा कि पहिला भुगतान किये बिना एक पाई का सामान नहीं दूँगा।

नि० ला०—तब !

रमेश—तब···।

[एक क्षण वे चुप रहते हैं। गीत का स्वर फिर सुन पड़ता है 'मेरे पैदा हुए नन्दकिशोर, तुम सो रहे।'···दोनों सुनकर चौंकते और मुस्कराते हैं।]

नि० ला०—तू किशुन से पूछ देख। शायद वह ··।

रमेश—(एकदम)—नहीं पिताजी! मैं किशुन से कुछ नहीं कह सकूँगा। उन्हीं की बदौलत इतना कुछ हो सका है नहीं तो···

नि० ला०—(रुष्ट स्वर)—तो फिर!

रमेश—तो फिर···

नि० ला०—(एकदम ग़ुस्से में)—मेरी नक़ल उतारता है, बदतमीज़। नहीं कोई देता तो मैं क्या करूँ! ख़ून-पसीना एक करके जो कुछ लाता हूँ तुम्हारे लिए ही है। मेरा क्या है, मरने के पड़ा हूँ, किसी भी वक्त मर सकता हूँ, किसी भी वक्त···

[रमेश हठात् चौंककर बीच में बोलता है 'पिताजी' 'पिताजी' पर वे सुनते नहीं, बोलते रहते हैं।]

नि० ला०—और तेरा भी क्या क़सूर है। वक्त की बात है। दुनिया पागल हो रही है। मैं असमर्थ हूँ, लुञ्ज हूँ। नहीं तो मैं ही चला जाता ··

रमेश—(व्यग्र स्वर से)—पिताजी, आप नाराज़ हो गये।

नि० ला०—(कुछ शान्त, कुछ कुण्ठित, कुछ अशक्त)—नाराज़ हो गया। नाराज़ हूँगा? तुमसे नाराज़ हूँगा! मैं अभागा! मैं भाग्यहीन··

[धीरे-धीरे वाणी गिरती है, आँसू उमड़ते हैं, गला भर आता है। वे चुप हो जाते हैं। रमेश उनके सिर पर हाथ फेरता है। अन्दर की आवाज़ फिर तेज़ होती है 'अलबेली जच्चा पिया पियारी' पर अब कोई उस ओर ध्यान नहीं देता।]

रमेश—पिताजी, आप घबरा गये, आप तो भगवान् को मानते हैं।

नि० ला०—भगवान्! आह बेटा! तुम नहीं जानते वे घट-घट-व्यापी हैं इसलिए मेरे पिछले जन्म के पाप-कर्मों को वे भुला नहीं सकेंगे।

(किशुन का प्रवेश)

किशुन—रमेश! उन्होंने दूध देने से इन्कार कर दिया। कहने लगे आप हमारे मुस्तक़िल ग्राहक नहीं हैं। आपको किसी भी भाव दूध नहीं मिल सकता। मैंने उन्हें असल बात बताई तो हँसकर बोले—सब इसी तरह बहाने बनाते हैं।

नि० ला०—क्या कहा, बहाने बनाते हैं!

किशुन—जी।

(बाहर से तेज आवाज़)

आवाज़—बाबूजी, बाबूजी।

रमेश—कौन जी, आ जाइये।

[स्टेज पर एक लाला का प्रवेश। बेहद मैला कुरता धोती पहिने है। सिर पर तेल से चिकटी दुपल्ली टोपी लगाये है। चेहरे से मनहूसियत टपक रही है।]

लालाजी—मेरी मूँग वापिस करो।

नि० ला०—कैसी मूँग !

लालाजी—कैसी मूँग ! अरे वही जो रमेश सवेरे घर से तुलवाकर लो आया है। औरतों को धोखा देते शरम नहीं आई। भाव २॥ सेर का है और तुलवा लाये ३ सेर। आध सेर मूँग वापिस करो।

रमेश—(अपने को रोक कर)—लालाजी, मैं कल आप से कह आया था कि मेरे लिये मूँग तोल रखना। मैं किसी वक्त उठा ले जाऊँगा, वही आज लाया हूँ।

लालाजी—आज लाये हो तो आज का भाव लगेगा। आज कल छन-छन में भाव पलटते बाबूजी। और कल क्या तुम मुझे रुपया दे आये थे ! अभी तो…

रमेश—(उठता है)—बस लालाजी…

लालाजी—(काँपकर)—लड़ते भी हो…

रमेश—(क्रोध से काँपता है)—मैं कहता हूँ आप चले जायें नहीं तो…

[किशुन उसे बिठा देता है।]

लालाजी—(पीछे हटता है फिर आगे बढ़ता है) नहीं तो मार दोगे ! बड़े आये नवाब-साहब। घर में नहीं दाने मुन्ना चली भुनाने। कुरकी करवा लूँगा। समझे भला ! कालेज में पढ़े हो तो…लाओ, मूँग वापिस करो, सब वापिस करो।

रमेश—(उसी तरह)—भाग जाओ…

[किशुन अन्दर जाता है और एक गठरी उठा लाता है।]

किशुन—यह आपकी मूँग है ले जाइये। (रमेश की ओर मुड़ कर) रमेश ! मूँग मेरे पास काफ़ी है, तीन सेर ले आता हूँ।

[लालाजी मूँग उठाकर बड़बड़ाते हुए जाते हैं। किशुन भी जाता है। रमेश बेबस-सा उन्हें देखता है। उसकी आँखें सहसा गीली-गीली हो जाती हैं फिर एकदम उठकर अन्दर चला जाता है। औरतें चली गई हैं। वह सरला से बात करता है जिसकी आवाज़ स्टेज पर फैलती है। निरञ्जन-लाल बड़े ग़ौर से सुनते और चौंकते हैं।]

रमेश का स्वर—रो रही हो सरला !

सरला का स्वर—नहीं तो।

रमेश—नहीं सरला ! रोना ही चाहिए। बात तो उससे भी ज़्यादा है।

सरला—नहीं, नहीं। आप दुखी न हों। मैं नहीं रोऊँगी। मैं सुखी हूँ।

रमेश—सरला, कब तक धोखा खाती रहोगी।

सरला—जब तक आप प्रेम करते रहेंगे।

रमेश—सरला ! (क्षणिक सन्नाटा)।

रमेश—तुम चली जाओ, सरला।

सरला—कहाँ जाऊँ !

रमेश—अपने पिता के घर चली जाओ। यहाँ तुम जी नहीं सकोगी और मैं कहता हूँ अपने बच्चे के लिये, अपने देश के लिये तुम्हें जीना ही होगा।

सरला—मैं कुछ नहीं जानती, समझती भी नहीं; आप कहेंगे तो चली जाऊँगी परन्तु……।

रमेश—परन्तु की बात मैं जानता हूँ। मैं यहाँ नहीं रहूँगा। दिल्ली चला जाऊँगा।

सरला—(चौंके हुए स्वर से) लड़ाई में नौकरी करने के लिये। तो सुन लो। लौटने पर आप मुझे ज़िन्दा नहीं पायेंगे।

रमेश—(धीमे स्वर से) नहीं सरला! यह तो दफ़्तर की नौकरी है। (उठते स्वर से) लेकिन अगर ज़रूरत पड़ी तो मैं अब युद्ध-भूमि में भी जाऊँगा। इस जीते-जी की मौत से तो…।

(बाहर से तेज़ आवाज़)

आवाज़—बाबू निरञ्जनलाल जी।

(रमेश शीघ्रता से बाहर आता है)

रमेश—कौन है?

नि० ला०—दफ़्तर का चपरासी है। पूछ ले क्या कहता है।

रमेश—आओ भाई, क्या बात है?

(स्टेज पर चपरासी का प्रवेश)

चपरासी—सलाम बाबू जी! कैसी तबियत है? बड़े बाबू ने सलाम दिया है और कहा है कि तबियत ठीक हो तो दफ़्तर आ जायँ। काम बहुत है। लड़ाई का ज़माना है। आडर वक्त पर नहीं गये तो भाव बढ़ जायँगे, सरकार को नुक़सान होगा।

रमेश—और कुछ……।

चपरासी—और क्या जी? वे तो बड़े तेज़ हो रहे थे। मैंने कहा, 'बाबू जी, ला० निरञ्जनलाल ऐसे-वैसे नहीं हैं। दम होगा तो सबसे पहिले आयेंगे' तो बोले 'तुम कौन हो वकालत करनेवाले, जाओ बुलाकर लाओ।'

नि० ला०—ऐसी बात! तो कह दो डाक्टर का सारटीफ़िकेट दिया है। तीन दिन और नहीं आ सकता। (हाँफते हैं) बिलकुल नहीं आ सकता।

चपरासी—ज़रूर बाबू। पूरा आराम होने पर आना। साला काम तो होगा ही। बड़े बाबू सारे दिन डाट-डाँट ही लगाते हैं। अच्छा, सलाम बाबूजी…छोटे बाबू के…।

नि० ला०—बधाई ज़रूर मिलेगी, ज़रूर।

चपरासी—(झुककर सलाम करता है) सलाम बाबू जी, सलाम भइया जी! मैं सब कह दूँगा, सब।

(बाहर जाता है)

नि० ला०—रमेश!

रमेश—पिताजी।

नि० ला०—बहू को एक महीना होते ही मायके भेज दो। उन्होंने बुलाया है।

रमेश—अच्छा जी।

नि० ला०—और…(अटकते हैं)

रमेश—जी…

नि० ला० —(अटकता है फिर तेज़ होता है) और तुम दिल्ली चले जाओ।

रमेश—(ख़ुश होकर) पिताजी, पिताजी !

[रमेश एकदम अन्दर भाग जाता है। निरंजनलाल एक बार मुस्कराते हैं, फिर सहसा आँखें भर आती हैं और निढाल होकर खाट पर लुढ़क पड़ते हैं, परदा गिरता है।]

चौथा सीन

[स्टेज पर वही बाबू निरञ्जनलाल की चारपाई एक कोने में पड़ी है लेकिन आज उसपर कोई नहीं लेटा है। स्टेज भी ख़ाली है। अन्दर की तरफ़ से बातें करने की बड़ी तेज़ आवाज़ आ रही है। रमेश बोल रहा है।]

रमेश की आवाज़—मैंने ठीक लिखा है किशुन ! इस बार जल-प्रलय बिल्कुल नहीं हो सकता।

किशुन की आवाज़—जी हाँ ! आपने ठीक लिखा है इस बार जल-प्रलय बिल्कुल नहीं होगा बल्कि अग्नि-प्रलय, बम-प्रलय, रोग-प्रलय, भूख-प्रलय··· ।

(सबके ज़ोर से हँसने की आवाज़)

रमेश—आप हँसते हैं अभी ज़रा सुनिये तो इन प्रलयों से बचने के लिये हम एक नाव बनायेंगे··· ।

(फिर हँसने की आवाज़)

किशुन—और वह नाव आग में तैरेगी···(तेज़ हँसी)

रमेश—जी हाँ। जल में सबकी नाव तैरती है, हमारी नाव आग में तैरेगी, आग में, (तेज़ स्वर) वह बमों को निगल जावेगी, भूख को खा जायेगी, रोगों को जला देगी। वह काठ की नाव नहीं होगी बल्कि आत्म-विश्वास की नाव होगी। उसमें बाँस के चप्पू नहीं होंगे बल्कि समता और सहयोग की पतवारें होंगी। आपने सूरज की किरणों को ज़मीन पर उतरते देखा है। कितनी शान्ति से वे अन्धकार की छाती चीरकर अपना रास्ता बना लेती हैं ! कितनी जल्दी सारे अन्धकार को पी जाती हैं ! इसी तरह हमारी नाव इस भयङ्कर आग की छाती चीरती हुई चली जावेगी और फिर आराम से उसे पी जायेगी··· ।

[हँसी की खिलखिलाहट के बाद रमेश की गम्भीर तेज़ आवाज़ स्टेज पर निनाद करती है। बाबू निरञ्जनलाल प्रवेश करते हैं, चौंकते हैं, फिर खाट पर बैठकर पुकारते हैं।]

नि० ला०—रमेश।

(रमेश दौड़कर आता है)

रमेश – जी पिताजी।

नि० ला०—तो तुमने क्या निश्चय किया ?

रमेश—(कुछ चकित होकर) किस बारे में पिताजी ?

नि० ला०—वही दिल्ली जाने के बारे में।

रमेश—दिल्ली जाना ? वह तो निश्चित हो चुका है। मैं आज ही जा रहा हूँ।

नि० ला०—आज !

रमेश—जी। रात की गाड़ी से, आप ही ने तो कहा था।

नि० ला०—(सोचते-से) कहा तो था पर…(एकदम चुप रह जाते हैं)

रमेश—पिताजी, आप मुझे माफ़ कर दें मैं एक बात कहता हूँ।

नि० ला०—हाँ, हाँ, कहो।

रमेश (गम्भीर स्वर)—मेरे जाने का प्रश्न नया नहीं है। कई बार आप हाँ करके मना कर चुके हैं। मैं आपका दिल नहीं दुखाना चाहता परन्तु केवल भावुकता के कारण या भय की कोरी कल्पना के कारण तो किसी का भविष्य नहीं बिगाड़ा जा सकता…।

नि० ला०—(बीच ही में) नहीं बेटा, नहीं। मैं तुम्हें जाने से नहीं रोकता परन्तु मैं सोचता हूँ…

(रमेश नहीं बोलता)

नि० ला०—मैं केवल अपने मन की शङ्काओं या भय के कारण ही तुम्हें जाने से मना नहीं करता, परन्तु ऐसे कारण काफ़ी मज़बूत हैं जो मुझे सोचने पर विवश करते हैं कि तुम्हारा दिल्ली जाना किसी भी तरह ठीक नहीं है।

रमेश (कुछ चिन्तित)—वे कारण बतायेंगे ?

नि० ला० (धीमे स्वर में)—रमेश ! मैं सरकार का नौकर हूँ। उसके विरुद्ध कोई बात नहीं कर सकता, कह भी नहीं सकता, परन्तु मेरे भी दिल है दिमाग़ है, मैं भी सोच सकता हूँ देख सकता हूँ कि यह…यह…हमें किस तरह मौत के पञ्जे में फँसाकर…।

रमेश—(मुस्कराकर) किस तरह मौत के पञ्जे में फँसाकर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं।

नि० ला०—बेशक-बेशक यही बात है, अभी-अभी वे सज्जन कह रहे थे…

रमेश—कौन सज्जन ?

नि० ला०—मैं तो उन्हें नहीं जानता, परन्तु अभी मैं उजागरसिंह से बातें कर रहा था तो वे भाव पूछने आ गये थे। बेचारे बड़े दयालु थे। बातों ही बातों में तुम्हारे जाने का ज़िकर आ गया तो सुनकर बोले—तुम बड़े भोले हो। उनकी चालें नहीं समझ सकते। ये देश का नाश करना चाहते हैं। हमें इनके साथ किसी भी तरह सहयोग नहीं करना चाहिए। जापान आनेवाला है। वह हमें सताने के लिये नहीं बल्कि आज़ाद करने आ रहा है…।

रमेश—(हँसता है) पिताजी ! वे सज्जन ज़रूर जापान के वेतन-भोगी एजेण्ट थे।

नि० ला०—(चकित होकर) जापान के एजेंट !

रमेश—जी।

नि० ला—लेकिन वह तो शुद्ध खद्दर पहिने था।

रमेश—और क्या आप समझते हैं वह जापानी पोशाक पहनकर आता ! ऐसे काम उसी वेश में किये जाते हैं जो सबसे प्रिय, जो सबसे पवित्र समझा जाता है। पिताजी, आज जापान और जर्मनी के दूत इसी वेश में हमारे देश में बिखरे पड़े हैं।

(निरञ्जनलाल नहीं बोलते, किशुन अन्दर से आता है)

रमेश—लेकिन पिताजी ! हमें न तो जापान की मोहब्बत और न ब्रिटेन के क्रोध की चिन्ता करनी है। हमें तो केवल यही सोचना है कि हम इस दुनिया में किस तरह जी सकते हैं।

किशुन—(मुस्कराकर) और उसके लिये हमें केवल एक नाव और दो पतवारों की ज़रूरत है। वह हमें इस भयङ्कर अग्नि-काण्ड से सकुशल पार ले जायेंगे। (हँसता है)

नि० ला०—(नहीं समझता) नाव और आग !

किशुन—जी चाचाजी ! ये रमेश कहते हैं कि हमारी नाव आग में तैरेगी। लेकिन वह काठ की नहीं होगी, वह आत्म-विश्वास की नाव होगी जिसमें बैठकर मनुष्य समता और सहयोग की पतवारों के सहारे इस अग्नि-प्रलय को चीरकर पार उतर जायगा।

नि० ला०—(प्रभावित होता है) बात तो ठीक है।

किशुन—बिल्कुल ठीक है चाचाजी ! इस मास की 'लोक-वाणी' में रमेश का एक लेख छपा है; उसी में ये सब बातें लिखी हैं। लेकिन खैर ! ये आज रात को जा रहे हैं इसलिए माँ ने कहा था आज खाना हमारे बनेगा सो चलिये चाचाजी, चलो रमेश।

नि० ला० (बेबस और प्रसन्न) अभी !

किशुन—जी।

नि० ला०—चलो बेटा। लेकिन वह लेख कहाँ है ?

किशुन—शायद सरला पढ़ रही है। लाऊँ ?

नि० ला०—नहीं, नहीं, पढ़ने दो···।

(सब चलते हैं, सरला बाहर आती है, हाथ में 'लोक-वाणी' है)

नि० ला०—इसे सँभालकर रखो बेटी, दफ़्तर ले जाऊँगा।

किशुन—दफ़्तर ! क्यों ?

नि० ला०—(सगर्व) साहब को दिखाऊँगा। कहूँगा, मेरा लड़का देश-रक्षा के लिये युद्ध-प्रयत्नों में कितना सहयोग कर रहा है; आजकल बिना शोर मचाये···।

[बातें करते-करते बाहर जाते हैं, बातें करने की धीमी आवाज़ आती है, बच्चा रो उठता है, सरला दौड़कर उठाती है, पुचकारती हुई लाती है।]

सरला—तू भी रोता है ! तेरा भी जी दुखता है ? तेरे पिताजी आज जा रहे हैं न ! पर तुझे क्या पता, आज दुनिया में कैसी आग लगी है। तेरे पिताजी कहते हैं कि इसी आग को पीने के लिये हमें जीना होगा। तू जियेगा···।

[कहती-कहती सरला हँस पड़ती है और बार-बार बच्चे को चूमती है।]

सरला—बेशक तू जियेगा ! ज़रूर जियेगा। इसी लिए हँस पगले, हँस, तेरे लिये मैं आत्म-विश्वास की नाव बनाऊँगी। उसमें समता और सहयोग की दो पतवारें होंगी। उसी नाव में हम, तुम, तुम्हारे पिताजी, दादा, दादी, चाचा सब बैठकर पार उतर जायँगे, बिना जले पार उतर जायेंगे···

[फिर ज़ोर से हँस पड़ती है, बच्चा भी हँसता है, इसी हँसी की खिलखिलाहट पर परदा धीरे-धीरे गिर जाता है।]

———

एक डायरी के पन्ने

[प्रकाशचन्द्र गुप्त]

४ अगस्त १९३९। पानी मूसलाधार बरस रहा है। बाहर चरवाहे गला खोलकर बिरहा गा रहे हैं। एक अजब सरूर मेरी आत्मा पर छा गया है। मैं झूम-झूमकर गुनगुनाता हूँ: "एकाकिनी बरसात"। मेरे मकान के बाहर ताल में बटु-समुदाय वेद-पाठ करते हैं। वह जेठ की विकट गरमी; वह आषाढ़ का "पके जामुन के रँग-सा पाग"; और अब सावन-भादों की यह शीतल, कमल की पँखुड़ियों सी रिमझिम, और घन की चोट-सी मूसलाधार बरसात।

अनेक चित्र मेरे मन में बनते-बिगड़ते हैं। हिटलर की तानाशाही... युरोप पर आतङ्क... एक के बाद दूसरे देश की स्वाधीनता का अन्त...चीन...स्पेन...अबीसीनिया...आस्ट्रिया...चेकोस्लोवाकिया...आलबेनिया... मानव की कुंठित आत्मा...All Quiet On the Western Front की प्रतियों की होली... म्यूनिक की घूस। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का प्रपञ्च और आज उनकी घबराहट...फिर भी रूस और समाजवाद के प्रति भय और संशय...अन्त में शतरंजी चालों में चेम्बरलेन की पूर्ण पराजय...

कॉलेज के दिन। फुटबाल के मैच। छात्रों का उत्साह। शिक्षकों की परीक्षक बनने के लिए चालें। और बाक़ी वही बेमानी, बे सर-पैर की बातें: कौन किस लड़की अथवा लड़के के साथ बात कर रहा था? किसके कपड़े ज़्यादा क़ीमती हैं? कौन कितना ख़राब आदमी है? मानो संसार-व्यापी लोमहर्षण युद्ध के बादल आकाश में घिरे ही न हों! मानो वेल्स की भविष्य-वाणी The Shape of Things To Come से उनका कुछ सम्बन्ध ही न हो। और यह युद्ध इस पृथ्वी की संस्कृति नहीं; वरन् शुक्र, शनि अथवा मङ्गल आदि किसी दूरस्थ ग्रह-उपग्रह की संस्कृति को नष्ट करेगा!

४ सितम्बर १९४०। युद्ध को एक वर्ष हो गया। इस बीच बहुत-कुछ उथल-पुथल और विचारों में रद्दोबदल हुआ है। फ़ासिस्ट सेनाएँ युरोप पर हावी हैं, मानो उनकी गति में कोई प्रतिरोध पड़ ही नहीं सकता। पुराने साम्राज्यवादों की जड़ें हिल रही हैं। दीवारों के पीछे छिपकर लड़ना असम्भव हो रहा है। यह युद्ध गतिशील है। वायुयान और टैङ्क इसके वाहन हैं। पैट्रोल इसकी जीवनी-शक्ति है। पुराने पढ़े तोते इस युद्ध में ठीक नेतृत्व नहीं कर पाते। वे पुराने सबक़ ही नहीं भूल सकते।

इस भूकम्प के सागर में समाजवाद की दृढ़ नीति ही हमारा अवलम्ब है। शोषित मानव साम्राज्यवादों के संघर्ष से अलग रहकर ही जी सकेगा और पनप सकेगा।

भारत में घोर दमन। कांग्रेस की अकर्मण्यता। व्यक्तिगत सत्याग्रह का खेल। कम्यूनिस्ट पार्टी का ग़ैरक़ानूनी जीवन। रात में भाग-दौड़ और मीटिंग, पकड़-धकड़। देवली। समाजवादियों की विराट नज़रबन्दी।

एक विरसता और ग्लानि का भाव मन में पैदा होता है। मानव की इस अभूतपूर्व बलि का क्या फल होगा? इतिहास की शक्तियाँ मनुष्य को किधर घसीट रही हैं! उनका स्वामी होने के बजाय आज वह उनका दास बन गया है।

२२ जून, १९४१। अलमोड़े के गर्मी भरे दिन। नङ्गे, लाल पहाड़ों की घाटियों में हवा टकराया करती है, किन्तु कोई स्निग्धता अथवा शीतलता उसमें नहीं। यही हवा गर्मी से झुलसे मैदानों में लू बन जाती है और दोपहर में बाहर निकलनेवालों को भून डालती है। हम बरांडे में बैठकर हवा की लहरों में डूबना चाहते हैं, लेकिन लहरें दूर-दूर से ही लौट जाती हैं। देवदार के पेड़ों में हवा की सनसनाहट भरती है और उसे सुनकर हमारे कान शीतल होते हैं।

दोपहर के लगभग अख़बार आया। उस दिन की ख़बर पढ़कर हम सन्नाटे में आ गये। जर्मनी ने रूस पर आक्रमण कर दिया। यह युद्ध की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी।

फ़ासिज़्म ने आख़िरकार अपने जन्म को सार्थक किया! जिस कारण पूँजीवाद ने उसे लाड़-प्यार से पाला-पोसा था, उसका फल आज मिला। लेकिन आज पूँजीवाद स्वयं दो दलों में बँट रहा था और एक की हार दूसरे की जीत न होगी, क्योंकि जनता का प्रभाव युद्ध की गति पर अधिकाधिक गहरा होता जायगा।

आज प्राण-पण से हम फ़ासिज़्म की पराजय चाहते हैं, क्योंकि उसने समाजवाद के दुर्ग पर हथियार उठाने का दुस्साहस किया है।

७ मई १९४२। प्रयाग में आल-इण्डिया-कांग्रेस-कमेटी की बैठकें हो रही हैं। शाम होते होते भीड़ का हजूम टैगोर-नगर में एकत्रित होता है और खुले मैदान में कलापूर्ण वातावरण में बैठकर राष्ट्रीय नेताओं के भाषण सुनता है। इन जोशीली स्पीचों का एक ही टेक है : ब्रिटिश साम्राज्यवाद बालू की कच्ची दीवार है। जापान के एक ही धक्के से वह हिल चुकी है। हमने एक धक्का दिया और वह गिरी। पं० गोविन्दवल्लभ पन्त के भाषण में यह बात खुले तौर से थी। पं० जवाहरलाल नेहरू भी कहते थे कि यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद बड़ा खोखला निकला। एक अजब हैरत और अचम्भा इस छोटी कांग्रेस में हम देखते थे कि ताश के पत्तों की तरह अँगरेज़ों के साम्राज्य का क़िला गिर रहा था।

क्रिप्स-प्रस्ताव कांग्रेस ने नामञ्ज़ूर कर दिये थे। पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'गेरिला' लड़ाई का ज़िक्र किया था और फिर गान्धीजी के कुछ वक्तव्यों के कारण अपने सींग अन्दर खींच लिये थे। जापान भारत की सरहद पर था। प्रगतिवादी नेता कहते थे, उनसे मोर्चा लेना ज़रूरी है। वे जातियों को आत्म-निर्णय का अधिकार देने के पक्ष में भी थे।

परिस्थिति बड़ी जटिल और उलझी थी। इस धुँआधार अँधेरे में हाथ मारा न सूझता था। हम बढ़े चले जा रहे थे। शायद शीघ्र ही चट्टानें हमें चकनाचूर कर देंगी। एक हल्की लौ जो दिल्ली में चमकी थी, प्रयाग में बुझ चली।

२६ मई १९४२। दिल्ली में अखिल भारतीय फ़ासिस्ट-विरोधी लेखक कान्फ़्रेन्स हो रही थी। इस कान्फ़्रेन्स के नाम बड़े और दर्शन छोटे थे। हाँ, हिन्दी और उर्दू के लेखकों की यहाँ अच्छी भीड़ थी। कुछ लेखक प्रत्येक कान्फ़्रेन्स में पहुँचना अपना फ़र्ज़ भी समझते हैं। ऐसे लेखकों ने छूटते ही पूछा—"हमें फ़ासिज़्म से क्या मतलब?" वे केवल कविता सुनाने आये थे। हरेन चट्टोपाध्याय अपना प्रारम्भिक भाषण देने के समय न जाने कहाँ थे। जो विभूतियाँ फ़ासिज़्म से टक्कर लेने के लिए आतुर थीं, उनमें वात्स्यायन, कृष्णचन्द्र, सज्जाद ज़हीर, शिवदानसिंह चौहान, डा० अलीम, अली सरदार जाफ़री, मजाज़ आदि नाम प्रमुख थे। किन्तु हम इस विचार से सान्त्वना और सुख लेते थे कि छोटे आरम्भ से ही बड़े फल निकलते हैं।

इस बीच हमें धूप, लू, गर्मी, पसीना, भाग-दौड़, बेवक्त खाना-पीना और काफ़ी-हाउस में अगणित काफ़ी के प्यालों की याद ही अधिक ताज़ी है।

रेडियोवालों ने हमारा मुशायरा अपने क़ब्ज़े में कर लिया। उन्होंने ही कविताओं का सङ्कलन और सम्पादन किया और कवियों को ख़ुश और नाराज़ किया। इस प्रहसन के लिए हमें रेडियो के कर्णधारों का आभारी होना चाहिए।

७ अगस्त १९४२। "एकाकिनी बरसात" फिर घिरी है। काले बादल आकाश में घिरते हैं, बरस पड़ते हैं और फिर एक बार घिर आते हैं। भारत के राजनैतिक आकाश में भी काले बादल घिरे हैं। बम्बई में ऑल-इण्डिया-कांग्रेस-कमिटी की बैठक हो रही है। कांग्रेस जापानी फ़ासिज़्म के विरुद्ध देश की रक्षा करना चाहती है और इसके लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद से ताक़त छीनना चाहती है। बिना हथियारों के देश की रक्षा सम्भव नहीं। हथियार हमारे पास हैं नहीं। उन्हीं के लिए हमें ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लड़ना होगा। यह कांग्रेस की दुविधा है। हम जिसके विरुद्ध देश की रक्षा का बीड़ा उठा रहे हैं, आज हमारा हर क़दम मानो उसकी मदद करता है। देश की रक्षा के लिए जो आन्दोलन हम तैयार करते हैं, वह देश-रक्षा असम्भव कर देता है।

एक कच्चे धागे से तलवार हमारे सिर पर लटक रही थी। उसके बोझ से धागा कट रहा था। हमने मानो उस धागे को सहारा देने के लिए एक चाक़ू ऊपर उछाला!

२५ मई १९४३। परिस्थिति बिगड़ती ही जा रही है। हर चीज़ मँहगी। हमारे ऐसे मध्यवर्ग के लोगों की मुसीबत हो गई है, ग़रीबों की क्या कहें। अकसर बाज़ार में गेहूँ नहीं मिलता, ज्वार और बाजरा ख़रीदना पड़ता है। हर चीज़ के दाम चौगुने-पँचगुने हो रहे हैं। घी-दूध नसीब ही नहीं होता। दूध कम से-कम बच्चों के लिए तो ज़रूरी है। तेल के दाम बढ़कर घी के बराबर हो गये। दालदा पर जीवन-रथ चलता है अब तो। लेकिन वह भी आठ रुपए का टीन हो गया। दोस्त कहते हैं, दुबले हुए जा रहे हो! मैं जवाब देता हूँ: "दालदा!" फिर भी हम दालदा का आभार मानते हैं; कम-से-कम उसके कारण खाने में कोई गन्दगी तो नहीं आती और स्निग्धता तो मिलती ही है।

इस युद्ध ने पहली बार हमारे देश को उन आपत्तियों से परिचित कराया है, जो साम्राज्यवाद दुनिया पर लादता है। यह भी एक तरह से अच्छा है, क्योंकि यह दुनिया की जनता के लिए हमेशा को चेतावनी होगी।

हमारे देश की हालत भी सचमुच दयनीय है। हमारी नाव की पतवार दूसरों के हाथ में है और हम असहाय चट्टानों की ओर बहे चले जा रहे हैं।

४ अगस्त १९४३। आख़िरकार नाव चट्टानों से टकरा ही गई। हमने उस शक्ति और सूझ का परिचय न दिया, जो परिस्थिति हमसे माँग रही थी।

बङ्गाल में अकाल। मनुष्य मक्खियों की तरह दिन-प्रतिदिन मर रहे हैं। और हम कुछ नहीं कर पाते। यह मनुष्य का गढ़ा हुआ अकाल है, सूखा-पानी से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। देश में अन्न है, लेकिन अन्न-पीड़ितों तक नहीं पहुँच रहा। अनाज-चोर से लड़ने के लिए हिन्दू-मुसलिम जनता एकताबद्ध और सङ्गठित नहीं है।

असल में बात यह है कि हम बहते ही जा रहे हैं, और चट्टानों से टकराकर भी हमें कोई

समझ नहीं आती। अगर हमने दृढ़ सशक्त हाथों से नाव की पतवार सम्हाल नहीं ली, तो मलय और बर्मा की अवस्था हमारी भी होगी।

हमारे सुन्दर देश में प्रकृति का आज भी पट-परिवर्त्तन होता है। सुनहले बादल सुबह-शाम आकाश में छा जाते हैं, रङ्ग की होली मचती है। लेकिन हमारे मन में एक घना अवसाद भर गया है, एक घनघोर विरसता बरसात के बादलों की तरह आत्मा पर छा गई है। हमें आज 'एकाकिनी बरसात' नहीं सुहाती।

४ सितम्बर १९४३। युद्ध को छिड़े चार वर्ष हो गये, किन्तु हमारी हालत उत्तरोत्तर बिगड़ती ही गई है। बङ्गाल का अकाल फैलता जा रहा है। इस तूफ़ानी सागर में नाव को हम अब बिना लक्ष्य भटकने नहीं दे सकते। आख़िर को हमें कम्यूनिस्टों की बात माननी ही होगी। आत्म-निर्णय के आधार पर जातियों में समझौता कर एकता के अस्त्र से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दुर्ग पर हम हमला करेंगे, तभी हमारा सङ्कट मिटेगा। यही रास्ता राष्ट्रीय सरकार बनाने का है, और बिना राष्ट्रीय सरकार के हमारा त्राण नहीं।

वह हँसी

[ठाकुरप्रसाद सिंह]

हाँ, हँसी ही तो थी वह –

पानी बरस रहा है। ऐसा-वैसा नहीं, भयङ्कर पानी गिर रहा है। लकड़ी का छाजन किसी भी समय किसी भी जगह से चू जाता है। मैं देह हिलाकर रह जाता हूँ। लकड़ी की दूकान और सो भी जलाने की। सच तो यह है कि यदि उससे कोल्हू में पेरकर पानी निकाला जाय तो पीने भर को निकल जायगा। लकड़ीवाला लकड़ी भी बेच रहा है और पीने का पानी भी...

वर्षा दो दिन से थमी नहीं और न थमेगी। साँझ हो जाती है और मैं सोचता हूँ कि अब कौन आवेगा। मुझसे उकताहट के मारे रहा नहीं जाता और मैं बोल उठता हूँ :

"क्या ढम-ढम पीट रहे हैं रामलीलावाले!"

"वह तो हमेशा का नियम है जी। पीटना पड़ेगा उन्हें।"—एक रामभक्त बोल उठे। लकड़ीवाले बसन्तू ने भी दाद दी।

"और तुम्हीं कौन नियम पाल रहे हो? देखता हूँ बेकार दूकान खोले राम-राम भज रहे हो। बन्द करो बाबा यह झंझट। खट्-खट् पट्-पट् के मारे तो तबियत परीशान हो गई। इतनी लकड़ी चीर डाल रहे हो जैसे कल बरात आनेवाली हो।"

"बरात आवे तभी लकड़ी चीरी जाय! यहाँ बोहनी के समय ऐसा-वैसा मत कहो बाबू। रामलीला तो एक दिन के लिये जरूरी है पर लकड़ी तो रोज़ की चीज़ है। यह लकड़ी है लकड़ी।"

मैं अविश्वास की हँसी हँस रहा हूँ। सोचता हूँ कि इस पानी में...

'बसन्तू...लकड़ी चाहिए।'

मैंने एक आकृति को पानी में सिर पर टाट लपेटे घिसकते देखा।

पाँच मिनट में वह आकृति फिर पानी में लौटती चली गई।

बसन्तू पैसे खनखना रहा है।

मैं सोचता हूँ कि कैसे यह भीगी लकड़ी जलेगी और ये खा सकेंगे!

'छप्-छप्-छप्।'

मैं चौंक उठता हूँ और साथ ही साथ पानी का छींटा भी मेरे ऊपर आता है। मैं चिल्ला उठता हूँ—'यहाँ कहाँ!'

"लकड़ी लेने।"

आवाज़ में तनिक भी खीझ नहीं, लाचारी नहीं, थकान नहीं।

"वह ऐसे ही रोज़ आता है बाबू! बड़ा शरारती है।"—बसन्तू उसकी वकालत करता है।

उसे भी लकड़ी मिल जाती है और फिर वही छप्...छप्...धीरे-धीरे लीन हो जाती है।

"पैसे आज नहीं हैं, कल दूँगा।"

"अरे, नहीं भाई।"

"अरे दे दो बसन्तू, मैं तो रोज़ ही आता हूँ।"

"क्या बसन्तू, हमको लकड़ी नहीं दोगे !"

× × × ×

"यह ले हरामी कहीं का···तड़-तड़···कह दिया कि आज बसन्तू की दूकान पर मेरे पैसे दे देना पर तुमने आज भी धोखेबाज़ी की। समझा था कि मैं पानी में क्यों आऊँगा।"

"देखो बसन्तू, मार डाला साले ने।"

और बसन्तू उसी तरह बीच में आ जाता है।

उसी समय दूर पर चौकाघाट का भोंपा बजता है। बसन्तू अपनी कमर कसकर लकड़ी चीरने लगता है।

फच-फच्

मैं हूँ। बसन्तू है और लकड़ी की आवाज़··· ।

× × × × × ×

"बसन्तू, पाँच सेर लकड़ियाँ। अब रात भर खाना ही बनाना तो है" कहता हुआ ऊदी वर्दी पहने नम्बर ५७ आकर खड़ा हो जाता है।

'नम्बर ५७' मेरी नज़रों में बिजली की तरह, भीगी बिजली की तरह, चमक जाता है।

"आज नौ घण्टे फाटक पर खड़ा रहा बसन्तू, क्या बताऊँ रोज़ की तरह आज बात करना नहीं बदा था, ज़रा पानी बरस रहा था। पर इससे क्या ?"

"इससे क्यों नहीं"—मैं चिल्ला उठा।

"अरे बाबू, ऐसी बरसात क्या आज ही देखी है जो डर जाऊँ। पुराना काँग्रेसी हूँ। गान्धी-आश्रम का खद्दर पहिनता हूँ। बड़ी बाज़ारवाले जलते हैं कि यह कैसा है। पर बनारस में मैं ही एक काँग्रेसी हूँ जिसने हर बार जेल काटा है। दिन भर डण्डे खाये हैं। दिन भर धूप तापी है और दिन भर पानी पिया है।"

'अरे' मैं आँखें फाड़कर देख रहा था। सचमुच वह पहला मुसलमान मुझे दिखाई पड़ा।

"तो इस बार क्यों नहीं आगे बढ़े ! क्या जिन्ना ने रोक लिया ?"

"नहीं, वह नहीं। पर बात रही आन्दोलन की सो गान्धी ने तो कहा नहीं कि तार काटो, रेल तोड़ो। लड़के रहे, जोश में पागल हो गये। बाबू, अभी तक गान्धी-जवाहिर के साथ रहा हूँ। उनको ग़लत नहीं समझा है। मिल में काम कर रहा हूँ। जब आडर होगा, छोड़ दूँगा।" सिर का पानी पोंछते हुए वह मुस्कराने लगा।

"धच्···ओह···यह क्या ?" मैं चिल्ला उठा। उसी समय मैंने पानी से एक लँगोट बाँधे लड़के को उठते देखा।

बसन्तू मेरी ओर ताककर हँसा और बोला—"वह इसी तरह लकड़ी बीनता है। आज भी पानी में उछल-उछलकर लकड़ी बटोर रहा है।"

मैं खीझ उठा।

"बसन्तू बेटा, रामहरख घर आया है। थोड़ी लकड़ी दे दो तो।"—एक बुढ़िया सीढ़ियों पर चढ़ने लगी।

"वहीं रहो, मैं देता हूँ"— बसन्तू चिल्ला उठा।

"सारे शहर को आज ही लकड़ी लेनी थी क्या बसन्तू ?"—मैं ग़ुस्सा कर बोला।

"क्यों ! सारा शहर तो नहीं, हाँ जो रोज़ कमाते हैं वे ही आते हैं। जैसे आपको रोज़ खाना आवश्यक है वैसे इन्हें रोज़ कमाना आवश्यक है।"

'यह लो लकड़ी और जाओ।'

बसन्तू का ध्यान बँट गया था।

मैंने देखा एक पानी में भीगी युवती खड़ी है और उसके पीछे उसका जवान पति खड़ा हँस रहा है।

बसन्तू अब दूकान बन्द कर रहा है और मैं अन्धकार में उस युवती को हँसते देख रहा हूँ, जैसे अन्धकार में दूध उँडेल गया हो।

और तब उस प्रलय की रात में हाथ मिलाये वे अन्धकार की ओर छप्-छप् करते चले जाते हैं।

बसन्तू ने दूकान बन्द कर दी है और हँसता हुआ पानी में घुस जाता है।

"बाबूजी प्रलय के समय तक भी दुनिया काम करती है। इस प्रलय में भी जीवन चलता ही है।"

और तब मुझे उस दूध-सी हँसी का ध्यान हो आता है।

मैं सोचता हूँ कि यह भी एक कार्यालय है जहाँ जीवन चलाना सिखाया जाता है।

फिर मैं सोचता हूँ कि जहाँ इतना विश्वास बिखरा हुआ है, जहाँ अभी भी हँसी जी रही है, करुणा जी रही है वह अभागा भारत प्रलय में भी नष्ट नहीं होगा।

मैं देखता हूँ कि अन्धकार घिर रहा है, रात पर थक्के के थक्के अन्धकार की पर्तें पड़ रही है, पर वह—

हाँ, वह दूध-सी हँसी···

हमारी प्रगतिशीलता

[राहुल सांकृत्यायन]

प्रगतिशील साहित्य आज उस अवस्था से आगे बढ़ चुका है जब कि उसके प्रति मौन व्रत रखकर ही उसका गला घोंटा जा सकता हो। अब प्रगतिशीलता के ख़िलाफ़ काफ़ी और खुलकर लिखा जाता है। इस पर होनेवाले आक्षेप अधिकांश बे-जड़-मूल के और सिर्फ़ द्वेषवश हो सकते हैं, मगर कुछ ऐसे भी आक्षेप हैं जिन पर प्रगतिशील साहित्यिकों को ध्यान देना है, और अपने भीतर की कमज़ोरियों को हटाना है। कुछ समीक्षक कहते हैं कि प्रगतिशील लेखकों में अध्ययन और चिन्तन की गम्भीरता नहीं होती और वह सिर्फ़ नारे को ले उड़ना चाहते हैं। मगर जहाँ तक अध्ययन और चिन्तन की गम्भीरता का आक्षेप है, वह हिन्दी के दूसरे विचारवाले साहित्यिकों पर और भी ज़्यादा हो सकता है, मगर प्रगतिशीलों को उनकी पंक्ति में अपने को रखकर बचने की कोशिश करना प्रगतिशीलता के लिए भारी बाधक होगा। प्रगतिशील वही हो सकता है जो कि आज से बीस या पचास बरस पहले नहीं, दस और पाँच बरस पहले भी नहीं बल्कि आज इस वक़्त जो कुछ भी मानवता का ज्ञानभंडार बना है, बन रहा है, उससे पूरे तौर से आगाही रखता है। और यह काम ज़रूर मुशकिल है। लेकिन प्रगतिशीलता का रास्ता स्थितिशील—स्थिर—नहीं गतिशील है। जहाँ चलनेवाला, उसका रास्ता और सारी परिस्थिति क्षण-क्षण बदल रही हो, वहाँ राहगीर का काम कितना कठिन हो जाता है, इसे आसानी से समझा जा सकता है। इसी लिए स्थिर पथ के अनुगामी साहित्यिकों की छाँह में प्रगतिशील अपने को छिपा नहीं सकते। प्रगतिशीलता जीवन के हर एक अङ्ग—ज्ञान और कर्म दोनों—से सम्बन्ध रखती है और ज़रूरी है कि उनके प्रति प्रगतिशील साहित्यिक अपने दृष्टिकोण को साफ़ साफ़ समझें। बाज़ वक़्त इस तरह की नासमझी से प्रगतिशीलता को बहुत धक्का लगता है—हाँ, दृष्टिकोण से ही मेरा मतलब है और वह भी गतिशील, स्थितिशील नहीं।

कितने ही लोग आक्षेप करते हैं कि प्रगतिशील तो हर चीज़ का ध्वंस, हर चीज़ का प्रतिषेध करने के लिए तुले हुए हैं और हर चीज़ से वह यह अर्थ लगाना चाहते हैं कि मानों प्रगतिशीलता बिना माँ-बाप के ऐसे ही अकस्मात् पैदा हो गई है। प्रगतिशीलता कभी अपने को अपनी पूर्वगामी संस्कृति-धारा की विरासत से महरूम नहीं कर सकती। यदि कोई प्रगतिशीलता के नाम पर हमारे पुराने अमर कलाकारों—वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, बाण, सरहपा, जायसी, सूर, तुलसी से लेकर प्रेमचन्द और प्रसाद तक—से हाथ धो लेना अपना कर्तव्य समझता हो तो यह प्रगतिशीलता नहीं है। एंगेल्स ने जर्मन प्रोफ़ेसर डूरिंग के इसी तरह के ऊटपटाँग विचारों की ख़बर लेते हुए कहा था कि अब गेटे और दूसरे महान् कवि तो ख़तम कर दिये जायँगे, क्योंकि वह डूरिंग के 'समाजवादी' युग में पैदा नहीं हुए और डूरिंग साहब उनकी जगह नये गेटे को पैदा नहीं कर सकते। हिन्दुस्तान में भी हमारे अपने गेटे, वर्जिल और शेक्सपियर हैं, प्रगतिशीलता के नाम पर उनको अपमानित और स्थानच्युत करने का प्रयास एक पागलपन या लड़कपन के सिवा और कुछ नहीं है। प्रगतिशीलता तो बल्कि यह चाहती है कि आज जो हमारे उन कलाकारों को जनता

के इतने कम लोग जानते हैं, उस कमी को दूर करके उन्हें सर्वसाधारण के हृदय में बिठाया जाय। रूस के प्रगतिशील लेखकों ने पिछले पचीस सालों में ऐसा करके दिखला दिया है। शेक्सपियर इँगलैंड का नहीं, सारे विश्व का महान् नाट्यकार है। उसकी तीसरी शताब्दी इन लड़ाई के दिनों में जहाँ सोवियत रूस में इतनी धूमधाम से मनाई गई थी वहाँ शेक्सपियर की जन्मभूमि इँगलैंड को इसका पता तक नहीं था। यह उदाहरण बतलाता है कि प्रगतिशीलता का अपनी और दूसरी संस्कृतियों के प्राचीन प्रकाश-स्तम्भों के प्रति कैसा मनोभाव होना चाहिए। स्तालिनग्राद में शेक्सपियर के नाम की एक बड़ी सड़क है। हमारे खुद अपने देश के महान् गौरव कालिदास और उनकी अद्वितीय कृति अभिज्ञानशाकुंतल का सोवियत के प्रगतिशील समाज ने कितना आदर किया यह इसी से मालूम होगा कि कुछ साल पहले वहाँ के एक प्रसिद्ध नाट्यगृह में अभिज्ञानशाकुंतल को बड़ी तैयारी के साथ खेला गया था। अभिज्ञान शाकुंतल के एक नहीं तीन-तीन रूसी अनुवाद मौजूद हैं जिनका सोवियत जनता में काफ़ी प्रचार है। हमारे रवीन्द्र की बहुत-सी पुस्तकें सोवियत की भाषाओं में प्रकाशित हुई हैं। इस युद्धकाल में भी सोवियत के विद्वान् भारतीय संस्कृति के महान् ग्रंथ महाभारत के एक प्रामाणिक अनुवाद में संलग्न हैं। यह बतलाता है कि वह महाभारत को कूड़ा करकट नहीं समझते। यह साफ़ है कि प्रगतिशीलता से हमारी संस्कृति के गौरव को कोई हानि नहीं पहुँच सकती है। जिस तरह हमारे शरीर का एक-एक जीवकोष (Cell) अपने क्रोमोसोम के भीतर हज़ारों पीढ़ियों की आनुवंशिकता—कार्यक्षमता—को रखे हुए है, आगे बढ़ता रहता है, उसी तरह हमारी सारी मानसिक क्षमता अपनी पुरानी संस्कृति, अपनी कला की ऋणी रहेगी। हाँ, इसका यह मतलब नहीं है कि आनुवंशिकता ने हमारे लिए जो कुछ निर्बलताएँ, कुछ बीमारियाँ ला रखी हैं, हम उनको हटाने की कोशिश न करें। जीवन के लिए, गति के लिए, हमें वैसा करना ही होगा।

प्रगतिशीलता का अपने पुराने दर्शन के प्रति उसी तरह का एक सम्मान-भाव रहेगा। वह हेगेल का सम्मान करेगी क्योंकि वह भी विश्व का एक महान् विचारक हुआ है, साथ ही वह अपने धर्मकीर्ति को नहीं भूल जायगी जो इस जर्मन दार्शनिक से बारह शताब्दियों पूर्व होने पर भी कितनी ही बातों में उससे भी आगे रहा और यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि सिर्फ़ भारत ही नहीं सारे विश्व की मण्डली में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति का दर्शन अति ऊँचा स्थान रखेगा। बुद्ध, चार्वाक, अक्षपाद, कणाद सभी को हमारी प्रगतिशीलता भुलाने के लिए तैयार नहीं होगी—ताज्जुब है कि आज-कल के हमारे विश्वविद्यालयों में उन्हें भूलने की कोशिश की जाती है; विश्वविद्यालय तो विश्वविद्यालय ही, संस्कृत के लिए सारा जीवन देनेवाली हमारी पण्डित-मण्डली भी शब्दों के पीछे इतनी उलझी हुई है कि दर्शन में हमारे तत्त्वज्ञानियों की अपनी ख़ास देनों की ओर उनका ध्यान नहीं जाता। वस्तुतः हम अपने महान् विचारकों की क़ीमत ठीक से आँक नहीं सकते जब तक कि विश्व के बाज़ार की दूसरी विभूतियों के सामने उनको रखा न जाय। लेकिन हमारी प्रगतिशीलता शङ्कर और गङ्गेश तक लाकर दर्शन को ख़त्म करने के लिए तैयार नहीं हो सकती, उसे हम और आगे ले चलना है—सपूत बेटे का यही कर्तव्य है कि पैतृक दायभाग को और आगे बढ़ावे और समृद्ध करे।

यही बात वैद्यक, ज्योतिष, गणित के बारे में भारत के मनीषियों ने जो महान् प्रयत्न किये हैं, और यूनानी तथा अरबी दुभाषियों के द्वारा विश्व के ज्ञान को बढ़ाया है, उसे हम अपने गौरव की चीज़ समझते हैं। हम मानते हैं कि अभी उस गौरव को हम दूसरों से मनवा नहीं सके हैं। हो

सकता है इसमें हमारी राजनीतिक ग़ुलामी भी कारण हो, लेकिन साथ ही हमारा वह दोष भी सहायक हुआ है जो कि पूर्वजों की बासी खाकर जीते रहने की हमारी प्रवृत्ति में है।

संक्षेप में हमारे सामने जो मार्ग है उसका कितना ही भाग बीत चुका है, कुछ हमारे सामने है और बहुत अधिक आगे आनेवाला है। बीते हुए से हम सहायता लेते हैं, आत्मविश्वास प्राप्त करते हैं, लेकिन बीते की ओर लौटना यह प्रगति नहीं प्रतिगति—पीछे लौटना—होगी। हम लौट तो सकते नहीं, क्योंकि अतीत को वर्तमान बनाना प्रकृति ने हमारे हाथ में नहीं दे रक्खा है। फिर जो कुछ आज इस क्षण हमारे सामने कर्मपथ है, यदि केवल उस पर ही डटे रहना हम चाहते हैं तो यह प्रतिगति नहीं है, यह ठीक है, किन्तु यह प्रगति भी नहीं हो सकती, यह होगी सहगति—लग्गू-भग्गू होकर चलना—जो कि जीवन का चिह्न नहीं है। लहरों के थपेड़े के साथ बढ़नेवाला सूखा काष्ठ जीवनवाला नहीं कहा जा सकता। मनुष्य होने से, चेतनावान् समाज होने से हमारा कर्तव्य है कि हम सूखे काष्ठ की तरह बहने का ख़याल छोड़ दें और अपने अतीत और वर्तमान को देखते हुए भविष्य के रास्ते को साफ़ करें जिसमें हमारी आनेवाली सन्तानों का रास्ता ज़्यादा सुगम रहे और हम उनके शाप नहीं आशीर्वाद के भागी हों। हमारे हिन्दी साहित्य में इसी शताब्दी में जब कविता की भाषा का सवाल आया था तो कितने ही लोग बड़े ज़ोर के साथ फ़तवा दे रहे थे कि खड़ी बोली कविता की भाषा कभी नहीं हो सकती। वह किसी बीते युग की भाषा को कविता का माध्यम बनाना चाहते थे। यह काव्य में प्रतिगति थी जो ज़्यादा दिन तक चल नहीं सकी। मजमा आगे बढ़ गया, बेचारा पलटूदास अकेला बियाबान में पड़ा रह गया। इसके बाद भाषा में तो प्रगतिशीलता स्वीकार की गई लेकिन भाव में सिर्फ़ तत्कालीन रुचि और उद्देश्य का ख़याल करके हिन्दी में कविताएँ लिखी गई जो एक समय काफ़ी जनप्रिय भी हुई मगर सहगति जिन लोगों के साथ थी वह धराधाम छोड़कर सिधार गये, और उत्तराधिकारी बहुत आगे खींचे लिये जा रहे थे। सहगतिशील साहित्यिक पिछड़ गये और पन्त, प्रसाद, निराला के साहित्य के हाथ में मैदान आया। इसने हमें भाषा भाव सब में एक नवीनता, नवनिर्माण—जिसे ही जीवन कहते हैं—प्रदान किया। हाँ, प्रगति में यह हमेशा ख़तरा रहता है कि ज़रा भी आप सुस्ताने के लिए बैठे कि पिछड़े। यहाँ कहीं भी विश्राम लेने का ठाँव नहीं है। अगर एक पीढ़ी थक जाती है, तो उसे ख़याल रखना चाहिए कि प्रगति का इजारा उसको नहीं मिला हुआ है, उसकी जगह लेने के लिए अगली पीढ़ी तैयार है।

प्रगतिशील लेखकों के बारे में कभी-कभी आक्षेप सुना जाता है कि वह नग्नता, अश्लीलता और यौन दुराचार को अपनी लेखनी का विषय बनाते हैं। दर असल यदि कोई प्रगतिशील लेखक ऐसा करता है तो वह भारी ग़ैरज़िम्मेवारी दिखलाता है और प्रगतिशील कहे जाने का कभी अधिकारी नहीं हो सकता। प्रगतिशील साहित्य या लेखक को समझने की सबसे बड़ी बात यह होनी चाहिए कि वह दुनिया की व्याख्या करने के लिए नहीं आया है और न उसके लिए दो-चार आँसू बहा देने या दो-चार ठहाके लगा देने से ही उसका फ़र्ज़ पूरा हो जाता है। गति ठोस ज़मीन या साकार माध्यम का आधार लेकर होती है। और वह निरुद्देश्य नहीं एक महान् लक्ष्य को लेकर है। हमने संसार को जैसा पाया उससे बेहतर अवस्था में आने वालों के हाथ में देना है। ज़रूर ही इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी जिसके ऊपर है वह कभी यौन दुराचार-जैसी सस्ती सफलताओं के पीछे भागकर अपने उद्देश्य को नहीं ख़तम कर सकता। जीवन में यौन सम्बन्ध का भी स्थान है। इसे यदि हम इनकार करते हैं तो हम दूसरी अति पर पहुँचते हैं और वास्तविक नहीं अवास्तविक चीज़ का चित्रण करते हैं, इसलिए हमारा

यह हरगिज़ मतलब नहीं कि हमारे साहित्य और कला में यौन सम्बन्धों का ज़िक्र न आये। लेकिन उसी का रोज़गार खोल देना और आज के समाज की बुराइयों के कारण उत्पन्न वैयक्तिक कमज़ोरियों से फ़ायदा उठाने की कोशिश करना कभी अच्छा नहीं समझा जा सकता। और दर-असल ऐसी बात वही कर सकते हैं जो और तरह से अपने को साधनहीन और अक्षम समझते हैं।

प्रगतिशील जगत् का ही एक अङ्ग है प्रगतिशील साहित्य। सङ्गीत, साहित्य, कला किसी समय कुछ चुनींदे आदमियों की चीज समझी जाती थी। बड़े-बड़े सामन्त—राजा और पुरोहित—ही इससे मनोविनोद किया करते थे। पूँजीवादी युग ने यन्त्रों के आविष्कार से पुस्तकों, चित्रों, फ़िल्मों, रिकार्डों के द्वारा कला-साहित्य का और व्यापक क्षेत्र में प्रचार किया; तो भी अभी साहित्य, सङ्गीत, कला-प्रेमियों की जमाअत एक चुनींदा जमाअत ही बनी रही। यह लम्बी नाकवालों का वर्ग समझने लगा कि साहित्य, सङ्गीत और कला के जनक वही हैं और वही अधिकारी भी हैं। साधारण जनता को पुच्छविषाणहीन साक्षात् पशु बना रखने की उन्होंने कोशिश की। सामन्तों या पूँजीशाही मध्य-वित्तकों, बुद्धि-जीवियों को कभी यह ख़याल में भी नहीं आया कि कला और साहित्य के जनक वह नहीं हैं, उसी तरह जैसे गेहूँ और कपड़े के। हाँ, बिगाड़नेवाले ज़रूर हैं। साहित्य के माध्यम भाषा ही को ले लीजिए। ध्वनि, अलङ्कार जिस दृष्टि से भी देखिये भाषा को समृद्ध बनाने में कहावतों, मुहावरों का सबसे बड़ा हाथ है। वस्तुतः भाषा निर्जीव यान्त्रिक तौर से या सीधे तर्जुमावाले शब्दों के द्वारा हमारे भावों को प्रकट करने में समर्थ नहीं होती। बल्कि यदि हम अपने शब्दों के प्रयोग के पहले की मानसिक अवस्था पर किसी वक्त भी विचार करें तो मालूम होगा कि भाव बिना शब्द के ही मस्तिष्क की गीली मज्जा के खास तरङ्गों के रूप में आ उपस्थित होते हैं और वह बाहर आने के लिए शब्दों को ढूँढ़ने लगते हैं। इस ओर को नज़र डालने से हम आसानी से समझ सकते हैं कि भाव सारे ही इन शब्दों के अलग अलग रूपों में व्यक्त नहीं हो सकते। भावों को वे वाक्य ज़्यादा व्यक्त कर सकते हैं जो अपने शब्दार्थों से दूर तक ध्वनित करते हों और यह सामर्थ्य भाषा में तभी आती है जब उसमें निर्जीव शब्दावलियों की जगह सजीव मुहावरेवाले वाक्य लाये जायँ और इन मुहावरों की ओर अगर आप ध्यान दें तो मालूम होगा कि सौ में निन्नानवे से भी ज़्यादा के जनक सफ़ेदपोश नागरिक नहीं साधारण जनता है। उसी ने 'जिसकी लाठी उसकी भैंस', 'दूर के ढोल सुहावन', 'रस्सी जल गई ऐंठन नहीं गई' जैसे हज़ारों मुहावरों को प्रदान कर भाषा को समृद्ध किया। आज हमारी हिन्दी और उर्दू के आँख मूँद कर संस्कृत या अरबी फ़ारसी से हज़ारों हज़ार शब्द क़र्ज़ लेने पर भी उनमें जो भाव-प्रकाशन और लोन की दरिद्रता पाई जाती है, उसका एक बहुत बड़ा कारण है साधारण जनता के बनाये इन मुहावरों और कहावतों से वञ्चित होना। न वञ्चित होने के लिए हिन्दी को (और उर्दू को भी) आसमान से नीचे उतरना होगा और अपनी जननी कौरवी (मेरठ कमिश्नरी के पौने चार ज़िलों की स्थानीय भाषा) से फिर अटूट सम्बन्ध स्थापित करना होगा। सफ़ेद-पोश भद्रवर्ग को तब पता लगेगा कि साधारण जनता के सम्पर्क से ही 'पारस परस कुधात सुहाई' हो जाता है।

शायद सङ्गीत के बारे में यह ख़याल हो कि वह तो ज़रूर किसी समुद्रगुप्त या अकबर के दरबार की उपज होगी मगर यहाँ भी भीतर घुसकर देखने से मालूम होता है कि बात उल्टी है। परीक्षा से तो यह मालूम होता है कि कामचोरवर्ग—सामन्त, पुरोहित, सेठ, महाजन—बनाने नहीं बिगाड़ने का काम ज़्यादा कर सकते हैं। समुद्रगुप्त के समय में (ईसा की चौथी शताब्दी) सङ्गीत के

कोई हरिदास या तानसेन पैदा हुए। कहा नहीं जा सकता कि वह तानसेन सामन्त, पुरोहित-जैसे भद्रवंश में पैदा हुए या साधारण जनता के घर में। अस्वाभाविक तौर से ठोंक-पीटकर प्रतिभाओं के तैयार करने का प्रयत्न भद्रवर्ग में ज़्यादा है, मगर साधारण ग्राम की जनता इसमें पिछड़ी नहीं देखी जाती। कुछ भी हो समुद्रगुप्त के दरबार का तानसेन साधारण जनता के गीतों और तानों के विकास से अच्छी तरह परिचित था। उसने मौर्यों या पहले से चले आये दरबारी गीतों और तानों को समुद्रगुप्त या उसके पिता के दरबार में सुना होगा। वह उसे फ़िज़ूल की गलेबाज़ी मालूम हुई होगी। उसने अपनी सङ्गीत की प्रतिभा को गाँव में बिखरे रागों के परखने और चुनने में लगाया और एक नया सङ्गीत प्रदान किया, जो उस समय कालिदास के काव्यों और अजन्ता के चित्रों, उदयगिरि की मूर्तियों की तरह ही भव्य रहे होंगे। लेकिन उस सङ्गीत के हमारे पास पहुँचने के लिए कोई साधन नहीं रहा। इसलिए उसके बारे में हम इतना ही कह सकते हैं कि गुप्त-काल की सर्वतोमुखीन प्रगति में सङ्गीत पिछड़ा नहीं रह सकता था। शायद समुद्रगुप्त के तानसेन और उसके सहकारियों का नवाविष्कृत सङ्गीत अपने नालायक़ उत्तराधिकारियों के हाथ में पहुँचा जिन्होंने समझा कि इस महान् सङ्गीत का जनक उनका दिमाग़ है। फिर दिमाग़ी कलाबाज़ी और गलाबाज़ी ख़ूब हुई और ग्यारह-बारह सौ साल के बाद अकबर के समय किस अवस्था में पहुँचा था इसे भी हम अच्छी तरह नहीं बतला सकते। हाँ, वह विकृत, अत्यन्त कृत्रिम और जड़ ज़रूर हो गया था; नहीं तो हरिदास और तानसेन को श्रेय किस बात का? तानसेन फिर इस कृत्रिमता के दूर करने के लिए साधारण जनता की झोपड़ियों की ओर दौड़ता है। उसने सिन्ध से सिन्धी, पहाड़ से पहाड़ी, मालवा से मालव औ 'दिहाती' रागों और सुरों से महान् हिन्दुस्तानी सङ्गीत का निर्माण किया। तानसेन के बाद पीढ़ियाँ बीतती गईं, भद्रवर्ग और उसके आश्रित सङ्गीतज्ञों के दिमाग़ में फिर वही खुराफ़ात पैदा होने लगी और उन्होंने सङ्गीत के नाम सुनते ही एकाएक नाता तोड़ दिया। आज फिर वह कृत्रिम और मृतक-से सङ्गीत के रूप में हमारे सामने है। हमारे गलाबाज़ उस्ताद अनाड़ी कहलाने के डर से गलाबाज़ी करते हैं, मगर वह ज़्यादा दिन तक चल नहीं सकता। प्रगति रुकी हुई है और उसे चालू करने के लिए फिर सङ्गीत के जनक जन-सङ्गीत के पास पहुँचना होगा। नृत्य में तो यह काम उदय शङ्कर ने कुछ-कुछ, झिझकते हुए ही सही, शुरू भी कर दिया है।

प्रगतिशील साहित्यिक को इस गली में क़दम रखते ही अपनी झूठी, लंबी मोम की नाक को उतारकर अलग रख देना चाहिए। उसे समझ लेना चाहिए कि प्रगति का स्रोत उसका दिमाग़ नहीं है बल्कि वह चीज़ है जिससे प्रगति के लिए शक्ति मिलती है और यह शक्ति का स्रोत जनता है। उसको अपनी प्रतिभा और निर्म्माण के लिए जिसका आश्रय लेना है वह है साधारण जनता। सामन्तों और थैलीशाहों के आगे बढ़कर अब उसे उस बड़े दरबार का दरबारी नहीं बल्कि एक अङ्ग बनना है जिसकी ही ओर भविष्य की दृष्टि गड़ी हुई है। सफ़ेदपोश भद्रवर्ग ने अपने निकम्मेपन, अपने कमीनेपन, अपनी स्वार्थान्धता और लुच्चेपन का काफ़ी सबूत दे दिया और यदि दुनिया उसी की ओर आसरा लगाये हुए है तो शैतान ही उसे बचावे। फिर प्रगतिशील कलाकारों का काम है हमेशा अपनी सफलता के लिए जनता के साधुवाद को कसौटी मानना, जहाँ दो-चार आदमियों का सवाल नहीं है कि किसी की लल्लो-चप्पो, शील-मुरौवत या सिफ़ारिश से कुछ लिखवा लिया जाये। यह समझना चाहिए कि सफल हम तभी हो सकते हैं जब जनता हमें सफल समझकर दाद दे। इसी लिए पुराने 'देवताओं की भाषा' (वाणी) से यहाँ काम नहीं चलेगा। हमें जनता की

भाषा को अपनाना पड़ेगा—नहीं, दुरदुराने से परहेज़ करना पड़ेगा। ऐसे लोग तो बहुत कम हैं जिनकी मातृभाषा कोई न कोई जनभाषा नहीं है। हमारे बहुत-से भाई भद्रवर्ग द्वारा दुरदुराई इन भाषाओं को 'बोली' कहकर उड़ा देना चाहते हैं। वह समझते हैं कि उत्तरी भारत के बीस करोड़ लोग जल्दी ही अपनी मातृभाषाओं को छोड़कर हिन्दी या उर्दू दोनों भाषाओं में से एक को अपना लेंगे। यदि पिछले चालीस वर्षों की अवस्था पर ही वे विचार करते तो ऐसी ग़लती कभी न करते। पण्डित उदयनारायण तिवारी बलिया के बारे में कह रहे थे कि अब तो वहाँ के अध्यापक हाई स्कूलों में उर्दू-हिन्दी नहीं सिर्फ़ बलिया की भाषा में बीजगणित, अङ्कगणित, रेखागणित समझाते हैं। चालीस बरस में तो हमें आशा करनी चाहिए थी कि बलिया की भाषा कम से कम हाई स्कूलों से तो बहिष्कृत हो जाती मगर वहाँ तो पिछले दस-बारह वर्षों के भीतर ज़बरदस्ती वह चौखट के भीतर घुस आई। हिन्दी का अपना महत्त्व है। हिन्दी जो अन्तर्प्रान्तीय भाषा बनी है, वह किसी के प्रोपेगैण्डा के बल पर नहीं बल्कि उसका कारण है सारे देश को एक बड़े कुटुम्ब के रूप में परिणत करने की सर्वव्यापी आधुनिक प्रवृत्ति। आधुनिक यातायात, शिक्षा और दूसरे साधनों ने हमें एक दूसरे प्रान्तों के बहुत नज़दीक ला दिया है। फिर एक सम्मिलित भाषा बहुत ज़रूरी है इसे साहित्य-सम्मेलन और गांधी महात्मा के हिन्दुस्तानी आन्दोलन से सैकड़ों बरस पहले भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों ने अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, कांची और उज्जैन में इकट्ठे होकर देख लिया था। जो लोग मातृभाषाओं की बात सुनते ही चौंक पड़ते हैं और समझते हैं कि अब तो हिन्दी की ख़ैर नहीं, वह प्रगति की शक्ति को नहीं पहचानते। अब फिर एक-एक बोलीवाले प्रान्त अपने अंडे की खोल के भीतर लौटकर छिप नहीं सकते। फिर अन्तर्प्रान्तीय भाषा की आवश्यकता कैसे कम हो सकती है। राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक सभी दृष्टियों से देखने से इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी बहुत उपयोगी है, इसी लिए उसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है। लेकिन साथ ही हिन्दी की वेदी पर मातृभाषाओं की बलि चढ़ाने का स्वप्न भी सिर्फ़ स्वप्न मात्र है। इससे यदि कुछ हो सकता है तो यही कि जनता की शक्ति को देश के जीवन, प्रगति में पूर्णतया उपयोग में लाने से वंचित होना। साहित्य में प्रगतिशीलता हमसे माँग करती है कि वह जितनी ही विस्तृत हो उतनी ही गहरी भी हो, जितना ही देश में फैली हो उतनी ही एक-एक व्यक्ति के पास पहुँची भी हो। इस गहराई के लाने के लिए मातृभाषाओं के द्वारा शीघ्र से शीघ्र सारी जनता को साक्षर और शिक्षित कला-साहित्य-पारखी बनाने के सिवा और कोई रास्ता नहीं। संगीत में प्रगतिशीलता हमसे माँग करती है कि हम जन-सङ्गीत से अपनी सङ्गीत-प्रतिभा को जोड़कर एक नये सङ्गीत का निर्म्माण करें। नृत्यकला में प्रगतिशीलता हमसे माँग करती है कि हम अश्लील, दरबारी, निर्जीव नृत्य के स्थान पर जननृत्य—अहीर-नृत्य आदि—को कला के क्षेत्र में लायें। जनता की शक्ति को साथ लेकर ही हम प्रगति कर सकते हैं, इसलिए आज के साहित्यिक, कलाकार या विचारक का लक्ष्यबिन्दु जनता होनी चाहिए।

———

लैला की शादी

[राधाकृष्ण]

आखिर को लैला की माँ ने मञ्ज़ूर कर लिया; कहा—अब लैला को मजनू के हाथ ही सौंप दूँगी!

सुननेवाले इस समाचार से ख़ुश हो गये। लोगों ने लैला की माँ को बधाइयाँ दीं। मजनू बिचारा कितनी मुद्दत से लैला के पीछे तड़प रहा था। आशिक़ी के कारण वह इस दुनिया और उस दुनिया दोनों जगह बदनाम हो गया था। मिट्टी भारी हो गई थी और प्राणों में केवल आह भर ही बच रही थी। चलो, लैला की माँ का यह फ़ैसला बड़ा अच्छा हुआ। आशिक़-माशूक़ की जोड़ी मिल जायगी। दोनों का भला होगा।

और उधर लैला की माँ शादी का बजट बना रही थी—सत्तर गज़ किमख़ाब, एक सौ सत्तर गज तंज़ेब, सत्रह बोरा गेहूँ, बीस बोरा चावल, पन्द्रह कनस्टर घी ··· !!

बजट तो बन गया, पास-पड़ोसवालों ने पास भी कर दिया; लेकिन अब सौदा कैसे मिले! लैला की माँ ने बाज़ार में पहुँचकर देखा कि किरानावालों के यहाँ ख़रीदारों का मेला लगा हुआ है, किरासन तेलवाले अपनी-अपनी दूकान बन्द करके सो रहे हैं, बजाज की दूकानों में लाठियाँ चल रही हैं। लैला की मा घबरा गई। भीड़ के इस धक्के में हड्डी-पसली किसी का भी पता नहीं मिलेगा। या रब्बुले आल्मीन, अब मैं क्या करूँ!

सहसा अँधेरे में बिजली की चमक की तरह वहाँ मजनू दिखलाई दे गया। शादी की ख़ुशी में वह अपने दोस्तों के साथ सैर करने को निकला था। लैला की माँ उसके पास पहुँचकर गिड़गिड़ाने लगी—शादी क्या हुई, आफ़त हो गई; कोई भी जिन्स नहीं मिलती बेटा! देखो, मदद करो। तुम्हारी ही शादी की चीज़ें हैं। शुक्रगुज़ार होऊँगी।

मजनू हक्का बक्का। आँखें फाड़कर उसने पूछा—तुम चाहती हो कि इस भीड़ में घुसकर मैं गेहूँ ख़रीद लाऊं?

हाँ बेटा, ज़्यादा नहीं; फ़क़त सत्रह बोरा!

सत्रह बोरा! सुनते ही मजनू की आँखों के आगे सत्रह हज़ार तारे नाचने लगे। आसमान को घूँसा मार आना आसान है; लेकिन सत्रह बोरा गेहूँ ख़रीद सकना उससे भी ज़्यादा मुश्किल है। पसीने-पसीने होकर मजनू ने जवाब दिया—यह तो नामुमकिन है अम्मा जान! तीन सेर का सवाल हो तो कहो; मैं लँगोट कसकर और लैला का नाम लेकर भीड़ में घुस जाता हूँ और तीन सेर गेहूँ ख़रीद लाता हूँ।

लैला की माँ ने कहा—लेकिन शादी की बात है; सत्रह बोरा से कम में तो काम चल नहीं सकता।

मजनू ने एक आह भरकर जवाब दिया—अब शादी हो या न हो, सत्रह बोरा गेहूँ तो तुम्हें किसी हालत में नहीं मिल सकता।

मजनू के जवाब से लैला की माँ की हिम्मत टूट गई। आँखों में आँसू भरकर बोली—तो क्या तुम चाहते हो कि गेहूँ के चलते मैं तुम्हारे साथ लैला की शादी मंसूख़ कर दूँ?

मजनू ने कहा—चाहता तो मैं नहीं हूँ; लेकिन लाचारी है !

तो यह शादी नहीं होगी ?

शादी तो हो सकती है; लेकिन शादी में गेहूँ नहीं होंगे।

मैं कहती हूँ गेहूँ के बिना शादी नहीं हो सकती।

तो शादी मुश्किल है !

यानी तुम कुछ कर न सकोगे ?

इस मामले में मैं कर ही क्या सकता हूँ ?

× × × ×

तब लैला की माँ आँखों से आँसू बहाती बाज़ार में खड़ी थी।

शहर के नामी गुण्डे उसमान की नज़र उस ओर गई। लैला की माँ के पास पहुँचकर वह उसके रोने का कारण पूछने लगा।

लैला की माँ रोती गई, सिसकती गई, फफकती गई और कारण बताती गई। सब कुछ सुन लेने के बाद उसमान ने कहा—इन सारी चीज़ों का मिलना कोई बड़ी बात नहीं है। तुम जो कहो मैं सारी चीज़ें ख़रीद दूँ; लेकिन···लेकिन दुनिया में एक मजनू ही तो लड़का नहीं। मैं भी लैला के लिए कब से तरस रहा हूँ; लेकिन हाँ, मजनू की तरह चिल्ला-चिल्लाकर मुझसे आह नहीं भरी जाती। तो देखो, अगर लैला की शादी मेरे साथ कर सको···

और भीड़ को चीरकर उसमान दूकानदार के पास पहुँच गया—क्या सेठजी, लगाऊँ दो रद्दे या देते हो सत्रह बोरा गेहूँ ?

दूकानदार ने घबराकर कहा—सत्रह बोरा !

हाँ-हाँ, सत्रह से लेकर सत्रह सौ बोरा तक गेहूँ तुम्हें देना पड़ेगा, समझ रखो, वर्ना तुम हो और मैं हूँ !···

दूकानदार उसमान के कान में जाकर फुसफुसाने लगा—भाई, तुम्हें जो-जो चीज़ें चाहिए उसकी लिस्ट देते जाओ; मैं सारी जिन्स जहाँ तुम कहो वहीं पहुँचवा दूँगा। दाम के लिए भी कोई बात नहीं। हाँ !

और गेहूँ, गल्ला, कपड़े, किरासन सब ठेले पर लद-लदकर लैला की माँ के दरवाज़े पर पहुँचने लगा।

× × × ×

अब आज के समाचारपत्र में पढ़ रहा हूँ कि लैला की शादी उसी उसमान से होनेवाली है। मजनू बेचारा निराश होकर मिलिटरी में भर्ती हो गया।

— —

क्या जाने, आगे

[राधाकृष्ण]

[एक मकान, बढ़िया। दरवाज़े पर गमले और फूल। सीढ़ी पर औरतों की भीड़]

१ औरत—महामाया का पति बड़े भाग्यवाला है!

२ औरत—वह हँसकर बोल सकता है!

३ औरत—वह दोनों वक्त खा सकता है!

४ औरत—उनकी अमीरी की हद नहीं!

५ औरत—उसने कल एक जोड़ा साड़ी ख़रीदी है!

सभी—साड़ी ?! ...!!! (महान् विस्मय! अलौकिक घटना !!)

१ औरत—कैसी साड़ी ?

५ औरत—हाँ, दो पाड़ की साड़ी है, बढ़िया रङ्गीन किनारी!

सभी—धन्य हैं महामाया के भाग्य!

१ औरत—(पुकारना) महामाया देवी! ओ महामाया!! (महामाया का आना)

महामाया—क्या है ?

२ औरत—सुना तुम्हारे लिये साड़ी ख़रीदी गई है!

महामाया—हाँ, ख़रीदी तो गई है! तुमने कैसे जाना!

३ औरत—अख़बारों में पढ़ा है! रेडियो में सुना है! चारों ओर शोहरत मच गई है कि महामाया देवी के पति ने साड़ी ख़रीदी है!

महामाया—हाँ, मेरे पति ने अपार पराक्रम और अपूर्व शौर्य दिखलाया है। उन्होंने साड़ी ख़रीदी है।

४ औरत—भई देखें ज़रा; हमने महीनों से कोई नई साड़ी नहीं देखी है।

महामाया—अच्छा, लाती हूँ! [अन्दर जाकर बहुत-सी नई चीज़ें लाकर टेबिल पर रखती है। साड़ी, जूता, आटा, घी, आभूषण आदि हैं। औरतें टेबिल पर टूट पड़ती हैं और पूछती हैं]

१ औरत—भई, साड़ी तो बड़ी अच्छी है। कैसे जोड़ा के भाव मिली!

महामाया—कण्ट्रोल-रेट तो दूसरा है; लेकिन आजकल साड़ी बारह सौ रुपये जोड़ा के भाव बिक रही है!

२ औरत—यह जूता! बड़ा बढ़िया है, कीट लेदर!

महामाया—कीट लेदर नहीं, काफ़ लेदर!

३ औरत—काफ़ लेदर !! (महान् आश्चर्य! सुनते ही वह औरत चक्कर खाकर बेहोश हो जाती है।)

महामाया—पानी दो, बिचारी को पानी दो !! (घबराहट)

३ औरत—(पड़े-पड़े) पानी नहीं, पानी से मुझे कुछ नहीं होगा। मुझे पाव भर सत्तू खिलाओ तो होश आ जाय।

५ औरत—अभी तक लोग संसार में काफ़ लेदर की चीज़ ख़रीद सकते हैं !

६ औरत—सो भी गृहस्थ औरत !

४ औरत—यह काफ़ लेदर का शू कितने में ख़रीदा गया है, महामाया देवी !

महामाया—ग्यारह हज़ार बीस रुपयों में !

सभी—अहा, धन्य हो महामाया, धन्य तेरे भाग्य !

१ औरत—हमें चाहिए कि हम महामाया देवी की आरती उतारें !

२ औरत—ये काफ़ लेदर का शू ख़रीद सकती हैं।

३ औरत—इनके लिए बारह सौ रुपयों में नयनसुख की धारीदार साड़ी ख़रीदी गई है।

४ औरत—हम इनका पूजन करें।

५ औरत—आओ, हम सब इस महान् देवी के सामने अपना माथा झुकावें।

(भक्तिपूर्वक सभी माथा झुकाती हैं)

७ औरत—महामाया देवी, आप तो सोने के गहने भी गढ़ाती होंगी !

महामाया—हाँ, कभी-कभी !

७ औरत—सोना आजकल क्या भाव है !

महामाया—आठ हज़ार रुपये !

५ औरत—आठ हज़ार रुपये तोला तो बड़ा मँहगा है !

महामाया—तोला ? नहीं देवी, सोना आज-कल आठ हज़ार रुपये रत्ती के भाव मिलता है !

४ औरत—और गेहूँ !

महामाया—तीन सौ बासठ रुपये !

५ औरत—(साश्चर्य) तीन सौ बासठ रुपये मन !

महामाया—मन नहीं, पसेरी !

५ औरत—पसेरी ! हे भगवान् !! (चक्कर खाकर गिरना)

१ औरत—पानी दो बिचारी को ! नहीं, एक तोला सत्तू दे दो !

५ औरत—(पड़े-पड़े) नहीं-नहीं, मुझे कुछ नहीं चाहिए। मुझे एक पसेरी गेहूँ दिखला दो, मैं उसे देखते ही स्फूर्ति और बल पा लूँगी।

[दृश्यान्तर]

[महामाया देवी का सुन्दर ड्राइङ्ग रूम। उस सजे-सजाये ड्राइङ्ग-रूम में श्री विष्णु भगवान् का प्रकट होना।]

श्री विष्णु—(गाना—राग धनाश्री) हम भक्तन के भक्त हमारे।

सुनु अरजुन परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे

[विष्णु भगवान् मगन मन गीत गा रहे हैं। दूसरी ओर माथा हिलाते, वीणा बजाते श्री नारदजी प्रकट होते हैं।]

श्री नारद—(गाना राग सोरठ) ऐसो को उदार जग माहीं।

बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं।

(गाना को टेक पर पहुँचाकर ताबड़तोड़ वीणा बजाते हैं, धुन में माथा धुनते हैं कि दृष्टि श्री विष्णु भगवान् पर पड़ती है। श्री नारद साश्चर्य मुँह फाड़ देते हैं।)

श्री नारद—अहा श्री भगवान् हैं! नमो नमो, भगवन्!! (नमन)

श्री विष्णु—क्यों नारद, प्रसन्न तो हैं आप?

श्री नारद—हाँ, कृपानिकेतन, मैं प्रसन्न हूँ; पर मुझे अभी तक दुख यही है कि मैं आज तक आपकी लीलाओं को नहीं जान सका। आज आप इस मर्त्यलोक-वासिनी सुन्दरी के कमरे में कैसे?

श्री विष्णु—नारद, यह अवतार हुआ है!

श्री नारद—अवतार?

श्री विष्णु—हाँ नारद, अवतार!

श्री नारद—कैसा अवतार, भगवन्?

श्री विष्णु—कैसा अवतार? हे नारद मुनि, क्या तुमने गीता नहीं पढ़ी? गीता पढ़ो नारद! अगर संस्कृत समझ में न आवे, तो लोकमान्य तिलक का कर्मयोग-शास्त्र पढ़ो। मैंने अर्जुन से कहा था—यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत···

श्री नारद—सो तो विदित है भगवन्! लेकिन इस धनशाली व्यक्ति के यहाँ आपने क्यों अवतार लिया?

श्री विष्णु—हे नारद, आज तक हमारा अवतार किसी ग़रीब के यहाँ हुआ नहीं, तो फिर आज मैं अपने सनातन धर्म की परम्परा को कैसे तोड़ूँ। मेरा अवतार निर्धन के यहाँ नहीं होता।

श्री नारद—किन्तु भगवन्, धर्म की ग्लानि का फल तो निर्धन भुगत रहे हैं। दीनानाथ, वे मर रहे हैं, सचमुच मर रहे हैं।

श्री विष्णु—इसके लिए मैंने यमराज को शिक्षण दे दिया है कि भारतीय निर्धनों को शीघ्र न मरने दें। जब वे तिल-तिल करके बिलकुल मर ही जायँ तब उन्हें यमलोक में पहुँचाया जाय।

श्री नारद—प्रभो, संसार में प्रबल अनाचार है। आज कल संसार में फ़ासिज़्म नाम का असुर उत्पन्न हो गया है। उसका नाश होना चाहिए भगवन्!

श्री विष्णु—होगा नारद; संसार के समस्त असुरों का नाश होगा! इसी लिए मेरा अवतार हुआ है।

श्री नारद—और इस देश के कोटिपति और लक्षाधीश तो फ़ासिस्त असुरों से भी अधिक भयानक हैं। वे वाणिज्य के स्टॉक नाम की वस्तु को गुप्त और लुप्त करने की कला में दक्ष हो गये हैं। इससे भारतवर्ष की मानवता को अपार कष्ट हो रहा है।

श्री विष्णु—(सुदर्शन चक्र हिलाकर) मैं इन स्टाकी वणिकों को यमलोक भेजूँगा। मैं भारत का कल्याण करूँगा।

श्री नारद—मगर भगवन्, शान्त हूजिए। मेरी बात सुनिये; आपका यह अवतार व्यर्थ ही हुआ। आप कुछ नहीं कर सकेंगे।

श्री विष्णु—क्यों नारद?

श्री नारद—क्या आपने डी० आई० आर० तथा दूसरे समस्त आर्डिनेंसों का अध्ययन नहीं किया है?

श्री विष्णु—नहीं नारद, क्या वेद के बाद भी कोई ऐसी पुस्तक है जो मेरे अवलोकन की अपेक्षा करती हो?

श्री नारद—हाँ भगवन्, डी० आई० आर० के सभी नियम और उपनियम, धारायें और उपधारायें।

श्री विष्णु—तो उसके अध्ययन से मुझे क्या मालूम होगा?

श्री नारद—(अपनी झोली से निकालकर ग्रन्थ देते हुए) अध्ययन अवलोकन करके देख लीजिए। अगर फिर भी आपको अवतार लेने की आवश्यकता जान पड़े तो शुभ ही होगा।

श्री विष्णु—लाओ, देखें। अब तुम जा सकते हो।

[नारद का अन्तर्धान होना। श्री विष्णु मन लगाकर डी० आई० आर० का अध्ययन करते हैं। पढ़ते-पढ़ते उन्हें ज्ञान हो जाता है कि अब अवतार लेकर कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी पढ़ते ही जाते हैं। पढ़ते-पढ़ते अकस्मात् उनकी ज्योतिर्मयी चतुर्भुजी मूर्ति अन्तर्धान हो जाती है. मानो किसी ने बिजली बत्ती की स्विच बन्द कर दी हो। कमरे में झुटपुटा हो जाता है, अँधेरे के समान।]

(परदा)

पूरनचन्द जोशी

[रामविलास शर्मा]

अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के सिलसिले में जब मैं बम्बई गया था, तब वहाँ भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के मन्त्री पूरनचन्द जोशी से भी मिला। मैंने उनसे कुछ सवाल किये जिनका सम्बन्ध भाषा और साहित्य से था राजनीति पर मैंने कुछ इसलिये न पूछा कि उनके विचार पीपुल्स वार में पढ़ने को मिल जाते हैं और एक दिन प्रेस-प्रतिनिधियों से मिलकर उन्होंने जो बातचीत की उससे भी उनकी नीति पर आवश्यक प्रकाश पड़ गया।

जोशी के अँगरेज़ी लिखने का मैं क़ायल था। डा० अधिकारी की विद्वत्ता की प्रशंसा के बावजूद मैं उनके लिखने से प्रभावित नहीं हुआ। कारण यह कि डा० अधिकारी में उस कलाकार का अभाव है जो शब्दों की ध्वनि और उनके संकेत आदि को ध्यान में रखकर वाक्य-रचना करता है। कभी-कभी अनावश्यक विस्तार हो जाने पर भी जोशी के लेखों की प्रभावपूर्णता कम नहीं होती। वह तर्क के साथ किसी हद तक भावुकता का भी सहारा लेते हैं जिससे उनकी बात सुनने-वाले के दिमाग़ को ही नहीं, उसके दिल को भी छू सके। मेरे एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था कि वह इंटरनेशनल छोड़कर कोई गीत गाते या गुनगुनाते नहीं हैं जिस पर मुझे अचरज हुआ क्योंकि मूलतः वह एक भावुक व्यक्ति हैं और उनके लेखों में सबसे सुन्दर स्थल वही होते हैं जहाँ उनके व्यक्तित्व के इस अंश की छाप रहती है। कय्यूर के शहीदों से उनकी मुलाक़ातवाले लेख ने उन लोगों को भी प्रभावित किया जो उनके तर्कों से प्रभावित नहीं होते थे और उन्होंने हज़ारों रुपये उस भावुकता के उभारे जाने पर ही पार्टी को दे दिये।

हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी का नेता होने के लिए जोशी अभी कम उम्र के हैं। मेरठ षड्यन्त्र के अभियुक्तों में वह सबसे छोटे, कुल २१ वर्ष के थे। सन् ३६ में वह पार्टी के मन्त्री चुने गये। सङ्गठनकर्ता के गुणों में सबसे बड़ा गुण उनके व्यक्तित्व का आकर्षण है जिससे उनके साथी अपने को उनके साथ एक व्यक्तिगत बन्धुत्व के सूत्र में बँधा हुआ पाते हैं। मैंने जोशी से मुलाक़ात के बाद एक नौजवान कम्यूनिस्ट से पूछा कि जोशी के बारे में और ख़ास बात क्या कही जा सकती है तो उसने छूटते ही उत्तर दिया—"He is the best loved man in the Party" (पार्टी में लोग सबसे ज़्यादा उन्हीं को प्यार करते हैं।) शायद यही वजह है कि एक समय बम्बई में सैकड़ों सी० आई० डी० जोशी का पता लगाकर हार गये, लेकिन उन्हें उनके पैरों की धूल भी न मिली।

क़द ठिंगना, सिर भारी, रंग गोरा, आँखों पर चश्मा—वह हिन्दी कवि सुमित्रानन्दन के प्रान्त के निवासी हैं। तेज़ बोलने में दक्षिण-निवासियों के भी कान काटते हैं, यद्यपि थोड़ा हकलाते हैं जिससे सुननेवालों की परेशानी और बढ़ जाती है। कम्यूनिस्ट कांग्रेस में प्रतिनिधि उन्हें बारबार धीरे बोलने के लिए कहते थे लेकिन वह ख़ामोश चाहे, आधे मिनट के लिये हो जायँ, जब बोलते थे तब शब्द-प्रवाह में वही गति होती थी। सुरती से उन्हें विशेष प्रेम है; जेल में आदत पड़ गई थी। मंच पर बैग खोलकर शौक़ करने में उन्हें शर्म नहीं है। कम से कम इस बात में निराला जी उनके साथी हैं। वास्तव में नेतावाली बात उनमें कहीं देखने को नहीं मिलती। कामगार

मैदान में वह मंच के नीचे बैठे हुए लोगों के साथ अधिक रहते थे, मंच पर कम। वालंटियरों के साथ बीड़ी पीना तो शायद कुछ लोगों को असभ्यता की पराकाष्ठा मालूम होगा।

प्रेस कान्फ्रेंस में जोशी ने अद्भुत धैर्य का परिचय दिया। अधिकांश प्रतिनिधियों का रवैया कुछ पूछने और सुनने का नहीं वरन् जोशी को तङ्ग करने और बनाने का था। उनके प्रश्न विचित्र होते थे, यहाँ तक कि एक बार जोशी को कहना ही पड़ा, "You don't expect me to answer preposterous questions." बेहूदा सवालों का क्या जवाब दिया जाय! जिन महाशय के प्रश्न के उत्तर में यह बात कही गई थी, वह जोशी के जल्दी बोलने के कारण उसे समझ न सके और "बेग योर पार्डन" कहने पर जोशी ने जब अपनी बात दुहराई, तब भी वह कुछ अनमने से बैठे रहे। शायद वह अब भी उस बात का मतलब नहीं समझे। प्रेस-कान्फ्रेंस में एक डिबेटिंग क्लब का-सा वातावरण था जो मई के महीने में पंखे के अभाव में और भी गरम हो उठा था। लीग के प्रति वहाँ के लोगों का कटुभाव स्पष्ट था; इसके साथ लड़ाई के बारे में उनकी नीति कुछ इस तरह की थी—देश हमारा है नहीं, हम क्यों उसके लिये लड़ें?

प्रश्नों के उत्तर में जोशी ने जो बातें कहीं वे, संक्षेप में, इस प्रकार हैं।

अँगरेज़ों के यहाँ होने से देश उनका नहीं हो जाता। वह तुम्हारा ही है। देश हिन्दुओं और मुसलमानों का है। उन्हें मिलकर उसे बचाना है, जापानियों से उसकी रक्षा करना है। जापानी बिना हमारी सहायता के नहीं हराये जा सकते। रूस-जर्मन लड़ाई से कम्यूनिस्ट फासिज़्म का विरोध नहीं करने लगे। फासिज़्म का जब से जन्म हुआ था, तब से वे उसके ख़िलाफ़ लड़ते रहे हैं। जो लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तानियों को इससे क्या मतलब कि उन पर कौन हुकूमत करता है, वे मैक्सवेल की तरह बातें करते हैं। राष्ट्रीय सरकार के बिना हमारी राष्ट्रीय सेना नहीं बन सकती और राष्ट्रीय सरकार बनाने के लिए आत्म-निर्णय का अधिकार देना आवश्यक है। उसमें हिंदुओं का भी स्वार्थ है क्योंकि आत्म-निर्णय का अधिकार देने से ही वह राष्ट्रीय सरकार बना सकते हैं। महासभा से समझौता करने पर हम इसलिये ज़ोर नहीं देते कि महासभा के साथ हिन्दुओं का बहुमत नहीं है। आत्मनिर्णय का अधिकार धर्म के आधार पर नहीं, संस्कृति और भाषा के आधार पर है। हमें अपनी रक्षा करनी है, अपने लिए; रूस के लिए नहीं।

क्या रूस हिन्दुस्तान में लाल सेना भेज देगा? इसके जवाब में जोशी ने कहा—लाल फ़ौज ने जब फ़िनलैण्ड में प्रवेश किया था, तब आपने कितना हो हल्ला मचाया था। क्या उसके हिन्दुस्तान आने पर आप उसका स्वागत करेंगे। और इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या कांग्रेस हिन्दुओं की ही संस्था है? जोशी ने कहा—कांग्रेस हिन्दुओं की ही संस्था नहीं है, वह देशभक्तों का एक प्रजातन्त्रात्मक (Democratic) संगठन है।

प्रश्नोत्तर के साथ साथ चायपानी का भी प्रबन्ध किया गया था। एक बार कुछ शोर होने पर मैंने अपनी प्लेट को पेंसिल से बजा दिया जिससे लोग शान्त हो जायँ। लेकिन चाय-पानी के प्रबन्धकों ने समझा कि मैं खाना माँग रहा हूँ इसलिये वे कुछ और चीज़ें लाकर मेरे सामने रख गये।

अपनी इंटर्व्यू में मेरा पहला प्रश्न जोशी के हिन्दी पढ़ने-लिखने के बारे में था। उन्होंने कहा—मैंने आठ साल से हिन्दी नहीं लिखी। जेल में सीखी थी। वहाँ कुछ किताबों का अनुवाद भी किया था जिनमें कम्यूनिस्ट पार्टी की मैनिफेस्टो भी थी। कानपुर में हैंडबिलों के लिये

हिन्दी लिखनी पड़ी थी। हिन्दी लिख लेनेवाले साथी कम थे। मेरी हिन्दी सीधी-सादी होती थी; इसलिये साथियों में मैं सबसे अच्छा हिन्दी-लेखक समझा जाता था। उसके बाद हिन्दी न लिखने का कारण यह है। पार्टी के बड़े और छोटे नेताओं से अँगरेज़ी में बातचीत होती थी। मज़दूरों की सभा वग़ैर: में बोलना पड़ता था; लिखने की ज़रूरत न थी। पार्टी के क़ानूनी होने पर उसे सङ्गठित करके आगे बढ़ाना था। उत्तर भारत की सभी भाषाएँ मैं समझ लेता हूँ और मेरी हिन्दी भी सब लोग समझ लेते हैं। दक्षिण में भाषण करते समय दुभाषिये मेरी बातों का अनुवाद करते जाते हैं। अब पार्टी जनता की पार्टी हो रही है। मैं हिन्दी सीखूँगा और लिखूँगा भी।

दूसरे प्रश्नों के सिलसिले में उन्होंने कहा—

प्रेमचन्द को मैंने जेल में पढ़ा था। बङ्गाल के मध्यवर्ग और किसानों के बीच में जो फ़ासला है, वह प्रेमचन्द के लिए नहीं था। जनता के लिये उनके हृदय में अगाध प्रेम था, (Very very intense love for the people) उनमें लेखक का चरित्र बल था। आज-कल के लेखक तीन-चार साल में ख़तम हो जाते हैं, सिनेमा चले जाते हैं, समाज में अपनी स्थिति सुधारने में पड़े रहते हैं। वे साधारण जनता में रहकर उसके बारे में नहीं लिखते। हम लोग जो प्रकाशन कर रहे हैं, उसके अनुभव से कह सकते हैं कि हिन्दी और उर्दू के प्रकाशक लेखकों को बुरी तरह ठगते हैं। कांग्रेस इस काम को हाथ में लेती या साहित्य-सम्मेलन ही यह काम करता तो कोई कारण नहीं कि लेखकों को उचित पारिश्रमिक न मिल सकता। हिन्दी के लिये तो बड़ा भारी क्षेत्र है। बङ्गाल तक में हिन्दुस्तानी पढ़ने बोलनेवाले मज़दूर हैं। प्रगतिशील लेखक-सङ्घ सङ्गठित होकर इस ओर बहुत कुछ कर सकता है।

जोशी ने बातचीत हिन्दी में शुरू की थी क्योंकि मेरे प्रश्न हिन्दी में थे लेकिन थोड़ी ही देर में इस बात को भूल गये और अँग्रेज़ी में एक दिहाती मुहावरे के अनुसार वह पानी सी चरने लगे। कुछ मिनट के बाद उन्हें ध्यान आया तो उन्होंने मुझसे पूछा—"आप अँगरेज़ी समझते हैं न?" लेकिन यह प्रश्न भी उनका अँगरेज़ी में था।

प्रेमचन्द के बारे में दो-चार बातें मैंने अपनी ओर से भी कहीं। जोशी ने सन् '३४ के पहले तक की ही उनकी रचनाएँ पढ़ी थीं; मैंने 'हंस' के सम्पादकीय लेखों और 'गोदान' की ओर भी उनका ध्यान आकर्षित किया। सुमित्रानन्दन पन्त और नरेन्द्र शर्मा का भी ज़िक्र आया और दोनों के सम्बन्ध में ही जोशी ने एक एक मज़ेदार वाक्य कहा, लेकिन उसे दोहराकर मैं पाठकों की उत्सुकता पूर्ण करने में असमर्थ हूँ।

अन्तिम प्रश्न डण्ड-बैठक के सम्बन्ध में था। जोशी ने कहा—हममें जो शरीर या मन से बीमार नहीं हैं (जैसे, उन्होंने एक साथी का नाम लिया) वे कसरत ज़रूर करते हैं। मैं थोड़ी सी डण्ड-बैठक करता हूँ और स्वस्थ रहता हूँ। मैं समझता हूँ कि डण्ड-बैठक अच्छी चीज़ है।

मैं उनसे कभी-कभी हिन्दी में भी लिखने का वादा कराके विदा हुआ।

युद्धकालीन चीन में शिक्षा और साहित्य

[अमृतराय]

चीन और जापान की लड़ाई को यह छठा साल चल रहा है। इस बीच में, सभी अखबार पढ़नेवालों ने एक न एक बार यह सवाल अपने आप से ज़रूर किया होगा कि आखिर किस तरह चीन-जैसे पिछड़े हुए, अफ़ीमचियों के देश ने जापान-जैसी मज़बूत फ़ौजी ताक़त का मुक़ाबिला इतने सालों तक, ऐसी शान के साथ किया कि प्रिंस कोनोय ने अपने पद से इस्तीफ़ा देते हुए जापानी डायट के सामने इस बात के लिए माफ़ी माँगी कि उसने चीन के खिलाफ़ लड़ाई शुरू की! यह क्या भेद है कि छः सालों के अन्दर भी जापान चीन को न जीत सका, और आज उसे लेने के देने पड़ रहे हैं!

चीन इतने ज़ोरों के साथ जापान का मुक़ाबला कर सका, इसकी खास वजह यही है कि चीन की तमाम जनता ने इस लड़ाई में हिस्सा लिया, चीन में बहुत ज़ोरदार राष्ट्रीय एकता थी और चीन के बच्चे-बच्चे ने डटकर दुश्मन का मुक़ाबिला किया।

इस जापानी आक्रमण से चीनी जनता के जीवन का कोई भी पहलू अछूता नहीं बच पाया है। वहाँ के शिक्षा-केन्द्रों, शिक्षकों तथा छात्र-छात्राओं पर भी इसका गहरा असर पड़ा है। जापानी बमों ने उसके न जाने कितने शिक्षा-केन्द्रों को तहस-नहस कर दिया। युद्ध के कारण अध्यापकों और छात्र-छात्राओं को एक से एक बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ा और उन्होंने देश की समूची जनता ही की तरह बहादुरी से सारी मुसीबतों का सामना किया और उन पर विजय पाई। अध्यापकों तथा छात्र-छात्राओं ने इस युद्ध में जो सहयोग दिया है, उसे देखकर तो दङ्ग रह जाना पड़ता है। १९३१ से ही उन्होंने जापान-विरोधी तैयारी शुरू कर दी थी। १९३७ में युद्ध छिड़ते ही उनकी बहुत बड़ी संख्या फ़ौज में भरती हो गई। दुश्मन के बमों और गोलों से वे ज़रा भी न डरे और शिक्षा-केन्द्रों के साथ ही चीन के भीतरी भाग में हटते गये।

शिक्षा-केन्द्रों को हटाकर सुरक्षित जगह में ले जाना ज़रूरी था, क्योंकि जापानी ताक-ताककर शिक्षा और संस्कृति के केन्द्रों पर बम बरसाते और मशीनगन चलाते थे। उन्होंने जिस ज़ोर-शोर के साथ यूनिवर्सिटियों, कालेजों, पुस्तकालयों, कला-भवनों और दूसरे संस्कृति-केन्द्रों पर बमबारी की, उसे देखकर जापानियों के वहशीपन पर दाँत-तले उँगली देनी पड़ती है। उन्होंने जिन-जिन शिक्षा-केन्द्रों को तहस-नहस कर दिया, उनकी पूरी फ़ेहरिस्त बनाना भी मुश्किल है। जून १९३९ में उन्होंने चेङ्गतू के पश्चिमी संयुक्त विश्वविद्यालय पर बम गिराये। इसके अलावा, पश्चिमी सेच्वान में आये हुए वूहान के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, जुलाई १९४० में शौपियांगकाका में आये हुए राष्ट्रीय केन्द्रीय विश्वविद्यालय, १४ अगस्त १९४१ को कूमिंग स्थित राष्ट्रीय दक्षिण-पश्चिमी संयुक्त विश्व-विद्यालय, ओबरलिन विद्यालय, १३ अगस्त १९३७ को शङ्घाई के चौदह शिक्षा-केन्द्रों, नानकिङ्ग के राष्ट्रीय केन्द्रीय विश्वविद्यालय, ईसाइयों के शिक्षा-केन्द्र शङ्घाई और सेंट जोन्स विश्वविद्यालय पर बम बरसाये गये और मशीनगनों से एक-एक चीज को तहस-नहस किया गया। लूकोशियाओ काण्ड के बाद तुरन्त ही, जापान ने पीपिङ्ग, तियेंतसीन और पाओतिङ्ग के आठ विश्वविद्यालयों, ग्यारह कालेजों और तीन औद्योगिक शिक्षालयों पर बम बरसाये। पीपिंग के चौदह शिक्षालयों में से दस नष्ट-भ्रष्ट कर

दिये गये। १९०० में स्थापित, चीन के साहित्यिक पुनर्जागरण के केन्द्र राष्ट्रीय पीकिंग विश्वविद्यालय तथा नानकाई और तिएन्तसीन और सिंगुआ विश्वविद्यालयों पर भी बम बरसाये गये। इनके अलावा और न जाने कितने शिक्षा केन्द्रों को उन्होंने बरबाद कर दिया। कोई भी इस बात को आसानी से समझ सकता है कि शिक्षा, कला और संस्कृति केन्द्रों पर सङ्गठित रूप से बम बरसानेवाली ताक़त से बढ़कर, संस्कृति का, तहज़ीब का दुश्मन दूसरा कोई नहीं हो सकता। इससे बढ़कर व्यङ्ग दूसरा नहीं हो सकता कि कला-भवनों को तबाह करके उनके खँडहरों में अपने घोड़े बाँधनेवाले अपने आपको एशियाई तहज़ीब का अगुआ कहें!

इन पीले जापानी हब्शियों की लुटेरी फ़ौजों, उनके बमों और गोलों, उनके ख़ूनी पञ्जे से बचने के लिए चीनी विश्वविद्यालयों और शिक्षा-केन्द्रों को हटाना पड़ा। तो भी लाखों छात्रों पर इसका असर पड़ा ही है। कुछ छात्र अपने निश्चित पाठ्यक्रम को निश्चित समय में पूरा न करने के कारण पिछड़ गये। कुछ ने सेना, नौ-सेना और हवाई सेना में भर्ती होकर आगे की पढ़ाई का ध्यान ही छोड़ दिया। अकेले पीपिंग के छात्रों की संख्या सिर्फ़ एक तिहाई रह गई। जो छात्र अपने विद्यालयों या विश्वविद्यालयों के साथ स्थानान्तरित होते गये, उनमें से अनेक अपनी शारीरिक तथा आर्थिक अवस्था के कारण बीच ही में छूट गये। बहुत-से छात्रों और अध्यापकों ने अध्ययन-अध्यापन छोड़कर गुरिल्ला-युद्ध के सङ्गठन-सञ्चालन, प्रकाशन और प्रोपेगैण्डा, सैनिक और राजनीतिक कार्यों को अपना लिया। बहुत-सी छात्राओं ने पढ़ाई छोड़कर सैनिकों के लिए कपड़े सीने, खाने-पीने की चीज़ें तैयार करने तथा घायलों की मरहम-पट्टी करने का काम अपने ज़िम्मे लिया। मेडिकल कालेज के अध्यापकों और छात्र-छात्राओं ने घायलों की सेवा-शुश्रूषा के लिए टुकड़ियाँ बनाकर काम करना शुरू किया। कैंटन के ३२० छात्र-छात्राओं द्वारा संगठित टुकड़ी ने तो चुचुङ्ग के समीप पीछे हटनेवाली चीनी टुकड़ियों को बड़ी तोपें पीछे हटाने में सक्रिय सहायता भी दी, जिसमें जापानी बमबारी के कारण बहुतों के प्राण गये और बहुत-से घायल हुए। १९३७ में क्वांगसी में जो छात्र-सेना संगठित हुई उसमें कुल १७०० छात्र थे जिनमें से ३०० छात्राएँ थीं। पिंगयांग से जब चीनी सेनाएँ पीछे हटीं, तो छात्राओं की टुकड़ियों ने नानिङ्ग के आस-पास के लोगों को जाकर शान्तिपूर्वक स्थानान्तरित होने के लिए व्यवस्थित किया। यही नहीं, शत्रु की प्रगति को रोकने के लिए उन्होंने खुरपी और दूसरे औज़ारों से सड़कें खोदने का काम भी किया है। यह सब काम करते समय वे जो राष्ट्रीय गीत गाती थीं, उनकी संगीत-लहरी न जाने कितने थके, डरे, निराश और उदास लोगों के चेहरों को खिला देती थी।

जापानी आक्रमण ने विद्यार्थियों के जीवन को उलट-पुलटकर रख दिया, इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन जहाँ यह सब नुक़सान हुआ है, वहाँ इन सबसे लाभ भी हुआ है। शिक्षा-केन्द्रों के स्थानान्तरित होने से विविध प्रान्तों के छात्र-छात्राओं और अध्यापकों में स्नेह सम्पर्क बढ़ा है और प्रान्तीयता, धर्म, जाति और अमीर-ग़रीब की सङ्कीर्ण भावनाएँ स्वतः नष्ट हो गई हैं। प्रत्येक शिक्षा-केन्द्र में आज सभी प्रान्तों के, सभी जातियों के और सभी धर्मों और स्थितियों के छात्र हैं। लड़के-लड़कियों के पारस्परिक सम्बन्ध भी पुरानी रूढ़ियों और बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर नये दृष्टिकोण के परिचायक हो गये हैं।

युद्ध ने जिस प्रकार चीनी जीवन के दूसरे अंगों को एकदम बदल दिया है और युद्ध का ख़ाकी रंग दे दिया है, उसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी आमूल परिवर्तन ला दिया है। छात्र-

छात्राओं ने कितने विलक्षण ढंग से अपने देश के स्वाधीनता-संग्राम में सहयोग दिया है, यह हम अभी देख आये हैं। लेकिन युद्ध ने न सिर्फ़ शिक्षार्थियों के रूप को बदल डाला है, बल्कि शिक्षा के रूप को भी। आज चीन की जनता और चीन की सरकार का एक ही मुख्य उद्देश्य है: जापानी शत्रुओं को अपनी पुनीत मातृ-भूमि से निकाल बाहर करना। चीन की शिक्षा की व्यवस्था भी इसी आधार पर परिवर्तित कर दी गई है क्योंकि युद्ध का निर्णय जितना मोर्चों पर होता है उतना ही कल-कारखानों में भी होता है। युद्ध-क्षेत्र में जितनी आवश्यक अच्छी सेना है, उतने ही आवश्यक उसके पीछे औद्योगिक कार्यकर्ता भी हैं। इनकी संख्या और शिक्षा की उन्नति के लिए चीन सतत प्रयत्नशील है, ताकि उसके सुयोग्य एवं वीर सैनिकों के पास बराबर हथियार और युद्ध-सामग्री पहुँचती रहे। इस फ़ौजी आवश्यकता ही के कारण आज वहाँ औद्योगिक शिक्षा पर विशेष ज़ोर दिया जाता है। चीन के छात्रों ने इस दिशा में विशेष उत्साह का परिचय दिया है। उनका नारा है 'हर स्कूल को कारख़ाना और हर छात्र को कारीगर बना दो'। चीन के पुनर्निर्माण और युद्ध में इन औद्योगिक शिक्षालयों के सीखे हुए छात्रों ने जो काम किया है, उसका महत्त्व कम नहीं है। आनन-फ़ानन नई सड़कें और इमारतें बनाना, बनी हुई इमारतों और सड़कों को दुश्मन के हाथों में पड़ने से पहले नष्ट करना, बड़े-बड़े कारख़ानों को एक जगह से हटाकर दूसरी जगह ले जाना, राष्ट्रीय सम्पत्ति के अपव्यय को रोकना, पेट्रोल तथा गैसोलीन से चलनेवाली मोटरों को कोयले तथा वनस्पति-तेल से चलाना, नये-नये तरीक़े से वनस्पति-तेल निकालना आदि इन शिक्षालयों से निकले हुए इञ्जीनियरों ही का काम है। नागरिकों और सैनिकों के उपयोग के लिए उन्होंने बहुत थोड़े समय में ६०० किलोमीटर रेल-पथ और ११००० किलोमीटर सड़कें तैयार की हैं और कितनी ही अब भी तैयार हो रही हैं। रासायनिक ढंग से बिजली पैदा करके उन्होंने उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में दिन-रात युद्ध-सामग्री तैयार करनेवाले कारख़ानों को चालू रखा है। सेच्वान, कान्सू, युन्नान, क्वांगसी और क्वीशो के सूती तथा ऊनी कपड़े तैयार करनेवाले कारख़ानों की सुदक्षता उन्हीं के परिश्रम का परिणाम है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आज चीन में जैसे और सभी चीज़ें ज़िन्दा हैं, उसी तरह शिक्षा भी ज़िन्दा है और उन पीले जापानी हब्शियों का प्रतिकार कर रही है जो चीन को, उसकी स्वाधीनता को, उसकी पुरानी सभ्यता को अपने पैरों-तले रौंदना चाहते हैं। चीन के छात्र उनसे लोहा लेने के लिए किस तरह कमर कसे हुए हैं और किस तरह उन हब्शियों के ज़हरीले दाँतों को तोड़ रहे हैं, इसका थोड़ा-सा परिचय कुछ छात्रों के निबन्धों से मिलेगा। इन निबन्धों का कुछ अंश हाथार्न चैंग ने **चीन और स्वाधीनता-संग्राम के पाँच वर्ष** में उद्धृत किया है। कुमारी नैन्सी एच-चांग लिखती हैं, "बमों के हमलों से लोगों में अब कोई विशेष बेचैनी नहीं है, बल्कि जापानी जितना अधिक नुक़सान करते हैं, उन लोगों का मुक़ाबला करने की हमारी भावना उतनी ही अधिक सुदृढ़ होती जाती है। × × × हम लोग आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी कठिनाइयों से लड़ रहे हैं, किसान अनाज-सम्बन्धी कठिनाई से, ग़रीब जीविका की कठिनाई से, पर हममें से कोई भी निराश और निरुत्साह नहीं है। जिन आशाओं और विश्वास के साथ हमने यह युद्ध आरम्भ किया था, वे आज भी हमारे साथ हैं और उन्हीं के सहारे हम अन्त तक लड़ते रहेंगे।"

एक दूसरे छात्र कुओसिन चांग ने लिखा है: भले ही जापानी बमों से हमारा सर्वस्व नष्ट हो जाय, पर हम अपने पथ से रत्ती भर भी विचलित नहीं होंगे।

एक दूसरे छात्र चोपिनसिया ने बहुत-सी कठिनाइयों का ज़िक्र करने के बाद लिखा है : पर मातृ-भूमि के लिए यह सब सहने में किसी को कोई गिला नहीं। इन कठिनाइयों के बावजूद कोई निराशा या निरुत्साह नहीं है और प्रत्येक पूर्ण विजय की आशा और विश्वास के साथ जो बन पड़ता है, देश की सेवा करता है।

आज चीन का प्रत्येक युवक मन और शरीर से जो इतना सबल-सुदृढ़ है वह जापानी आक्रमण ही के कारण। जिस दिन जापान ने चीन पर हमला किया उसी दिन से चीनी युवकों ने शत्रु से मुक़ाबला करने और उसे चीन की सीमा से बाहर निकालने का निश्चय किया है।

इसका मुख्य कारण यह था कि चीन पर हमला होते ही शिक्षा-विभाग ने देश की शिक्षा-प्रणाली का मौलिक सुधार किया और युवकों का दृष्टि-कोण बदलने का प्रयत्न किया। उनकी शिक्षा का प्रधान आधार है—राष्ट्र के लिए क़ुरबानी करने की भावना। राष्ट्र के प्रति वफ़ादारी और वीरता का सबक़ प्रत्येक चीनी युवक को सिखाया जाता है। इसके साथ ही शारीरिक शिक्षा—व्यायाम, स्वास्थ्यरक्षा और सफ़ाई के नियमों का पालन, फ़ौजी शिक्षा, नियमित और उद्योगी जीवन बिताने पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता है। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा केन्द्रों में दी जाने-वाली युद्धकालीन शिक्षा में भी कई सुधार किये गये हैं। युद्ध की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है। बिजली, रसायन, डाक्टरी, इञ्जीनियरी, मोटर, यन्त्र, नर्सिंग आदि की शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। शत्रु के आने से पूर्व और आने के बाद जनता का क्या कर्त्तव्य है इसकी राजनीतिक शिक्षा भी उसे दी जाती है। विद्यार्थियों को देशरक्षा के लिए संगठित करने की दृष्टि से युवकसङ्घ, स्काउटों और गर्ल गाइडों के दल हैं जो कि देश के स्वाधीनता-संग्राम में जनता और फ़ौज की सहायता करते हैं।

चीनी युवक-युवतियों की शिक्षा में सरकार का एक ही ध्येय है—और वह है वर्तमान युद्ध में विजय लाभ करना और उसके बाद, तहस-नहस हुए देश का पुनर्निर्माण करना। युद्ध का वातावरण युवकों के दृष्टिकोण को बदलने और उन्हें नई परिस्थिति के अनुकूल बनाने तथा राष्ट्र के युद्धोद्योग में अधिक से अधिक सङ्गठित रूप से योग देने की स्वतः प्रेरणा देता है। युवक-युवतियों की नई शिक्षा और व्यवस्था के फल-स्वरूप ही चीन आज असाधारण सामाजिक उन्नति करने में सफल हुआ है। चीन की यह नई पीढ़ी आज भयङ्कर से भयङ्कर कष्ट और असुविधा सहने तथा बड़ी से बड़ी क़ुरबानी करने से भी डरती या झिझकती नहीं है। युद्ध से पहले उन्हें जो सुख-सुविधाएँ थीं, आज वे उन सबसे वंचित हो गये हैं। पर इसकी उन्हें कोई शिकायत नहीं है। वे भावी सुख, स्वतन्त्रता और शान्ति की आशा से ही असाधारण कष्टों और असुविधाओं के मुक़ाबले में भी सतत परिश्रम कर रहे हैं।

जिस दृढ़ता से विद्यार्थी जापानी आक्रमणकारियों का मुक़ाबला कर रहे हैं, उसी दृढ़ता से चीन के साहित्यकार भी। आज चीनी साहित्यिक के पास प्रेम-कहानियाँ लिखने का समय नहीं है। आज तो उसे ऐसे साहित्य की सृष्टि करनी है जो जापानी लुटेरों के प्रति चीनी जनता के हृदय में नफ़रत की आग लगा दे, और ऐसे ही साहित्य की सृष्टि वह कर रहा है। युद्ध के दौरान में एक हज़ार से ऊपर नाटक लिखे और खेले गये हैं। तिंग लिंग, माओ तुन और दूसरे अनेक नाटककार अपनी-अपनी नाटक-कम्पनियाँ लेकर देश भर में घूमते हैं और जनता को मातृभूमि की पुकार सुनाते हैं, उसके देशप्रेम को जगाते हैं और जापानी आक्रमण से लोहा लेने के लिए उसके मनोबल को,

उसकी प्रतिरोध शक्ति को दृढ़ बनाते हैं। हिन्दी के प्रमुख आलोचक श्री शिवदान सिंह चौहान लिखते हैं—

"नौजवानों की नाटक-मण्डलियाँ, जिन्हें जनता की जापान-विरोधी नाटक-समिति ने संगठित किया है, गाँवों-गाँवों में घूमती हैं, नाटक खेलती हैं, स्वदेश-रक्षा का पैग़ाम पहुँचाती हैं। जनता उन्हें देखकर करुणा से रो उठती है, ग़ुस्से से भर जाती है और गुरिल्ला फ़ौजों में भरती हो जाती है। साधारण सादे स्टेज पर या सड़क पर या गाँव की किसी चौपाल में ये नाटक खेले जाते हैं। अनेक नाटक समितियाँ इस समय चीन में काम कर रही हैं, जैसे लूसुन नाटक समिति, जन-नाटक-समिति, प्रेक्टिकल नाटक समिति, लड़कियों की नाटक-समिति आदि।..........नाटक-मण्डलियों और गायक-मण्डलियों ने इन छः वर्षों में चीन की सुप्त आत्मा को जगा दिया है। चीन में जो नाटक सबसे ज़्यादा प्रचलित और लोकप्रिय हैं उनमें 'आक्रमण', 'मंचूरिया विजय', '१८ सितम्बर से', 'गरजो चीन', 'हथियार' आदि प्रमुख हैं। ये सभी नाटक जापानी आक्रमण, जापानियों के पाशविक अत्याचार और चीनी जनता के ऐक्य और लड़ने के दृढ़ निश्चय से सम्बन्ध रखते हैं।

साहित्यिकों ने जननाटक-समितियों के अलावा जन-गायन-मण्डलियाँ भी सङ्गठित की हैं। इन्होंने भी देश की प्रतिरोध-शक्ति को सबल बनाने में अपूर्व काम किया है। जो गीत इन जन-गायन-मण्डलियों के द्वारा देश के कोने-कोने में प्रतिध्वनित हो उठे हैं, उनमें The March of the Guerillas, The Song of the Lone Battalion, Guerilla Song, Song of young women, Partisan song आदि मुख्य हैं।

इस प्रकार चीन के विद्यार्थियों और साहित्यिकों ने चीन को ज़िन्दा रखने में योग दिया है। चीन के स्वाधीनता-संग्राम में उनकी अपनी जगह है।*

---

* ऑल इंडिया रेडिओ, लखनऊ के सौजन्य से

बुभुक्षितः किं न करोति पापं

[प्रभाकर माचवे]

पात्र —

रामदीन—फौज में नये-नये भर्ती हुए पुलीस के जवान
दयाराम—पच्चीस रुपये माहवार पानेवाला ग़रीब मास्टर
मूँजीराम—किराने और अनाज की दूकान का बनिया
राम बाबू—दौलतराम लछमीचन्द थोक कपड़े के व्योपारी का अढ़तिया
मि० गुप्ता—रेशनिंग अफ़सर
मङ्गल— एक मिल-मज़दूर
कॉलेज-विद्यार्थी, एक फ़क़ीर, टिकिट-चेकर, स्टेशन पर बेचनेवाले आदि

(दृश्य—कलकत्ता से लौटनेवाली मेल का थर्ड क्लास)

मंगल—(कॉलेज विद्यार्थी जो अखबार पढ़ रहा है, उसकी ओर मुख़ातिब होकर) कहो बाबू, जंग की ख़बर सुनाओ। रूस का का भवा? जर्मन हार गया या नहीं अभी पूरा?

विद्यार्थी—(हिक़ारत से एक नज़र उसके देहातीपन पर डालकर फिर अख़बार में मुँह छुपा लेता है। वह खद्दर की पैण्ट और शर्ट पहिने, ऐनक लगाये हुए है और एम० एन० राय का 'इण्डिपेंडेण्ट' साप्ताहिक पढ़ रहा है।)

मंगल—(अपनी स्त्री से) बाबू तो अख़बार पढ़ने में ख़ुद ही मस्त हो रहे हैं। मेरा बीड़ी-बण्डल कहाँ रख दिया रामू की माँ?

दयाराम—(कॉलेज-विद्यार्थी से जो तत्क्षेक अख़बार नीचे रखकर शून्य दृष्टि से बाहर आसमान के बादल और तेज़ी से गोल-गोल घूमकर आनेवाले पेड़ों की ओर यों देख रहा है मानों उसमें उसे रायवादियों के दर्शन हो रहे हों) महाशय, आप अपना समाचारपत्र ज़रा मुझे पढ़ने के लिए देंगे? (विद्यार्थी अख़बार आगे बढ़ा देता है। दयाराम उसपर एम० एन० राय का नाम पढ़कर उसे पढ़ने का थोड़ा बहुत प्रयत्न करते हैं पर उसमें की कुछ पंक्तियाँ पढ़कर नाक-भौं सिकोड़कर अख़बार लौटा देते हैं) क्या आप इस पर्चे की नीति से सहमत हैं?

कॉलेज विद्यार्थी—हाँ···नहीं तो· वैसे अगस्त की 'मूवमेंट' में मैं कुछ दिनों के लिए जेल गया था, वहीं राय साहब के 'वर्क्स' पढ़ गया। मुझे अब लगने लगा है कि जो वो सोचते हैं, बिलकुल तर्कसंगत और सच है। वैसे अभी मैं किसी पार्टी का सदस्य नहीं।

दयाराम—क्या वे कांग्रेस के नेता और गान्धीजी को फ़ासिस्ट कहते हैं यह ठीक है?

कॉलेज विद्यार्थी—बात विवादास्पद ज़रूर है। मगर उन्हें छोड़ने या न छोड़ने से ही क्या हो जायगा? यह अन्न-सङ्कट, यह जापानी ख़तरा, यह तबाही···

दयाराम—कलकत्ते आप कितने दिन रहे?

कॉ० वि०—क़रीब एक हफ़्ता।

दयाराम—आपने वहाँ क्या देखा? क्या अख़बारों में निकलता है वह सब सच है। क्या गली-गली में इसी तरह मरभुखे मँडराते हैं ज्यों चील और कौए···।

कॉ॰ वि॰—ख़ैर, अख़बारों में बहुत-सा अतिरञ्जन भी होता है। अब वहाँ स्थिति सँभलती जा रही है। परन्तु आरम्भ में भूख और उसमें हैज़ा और पूर्व-सीमान्त पर हो जानेवाले दुश्मन के मामूली हमले—जनता उद्विग्न ज़रूर थी।

मि॰ गुप्ता—वहाँ तो जनता को चुनना पड़ेगा फ़ाशिज़्म या फ़ाशिज़्म-विरोध में से एक वस्तु। स्पष्टतः फ़ाशिस्त-विरोधी यदि वह नहीं होती, तो उसका भविष्य काला है।

दयाराम—आप मुझे बड़े-बड़े नामों से चौंकाइये नहीं। भूख और जापान का क्या सम्बन्ध! फाशिस्त-विरोध और मँहगाई का क्या सम्बन्ध!

रामदीन—अजी, मिलिट्री ही खा जाय है बहुत सारा।

मि॰ गुप्ता—यों मत कहिये, सरकार ने बार-बार सप्लाई-विभाग और U. K. C. C. के विषय में स्पष्टीकरण किये हैं। वहाँ पहिले कुछ अनाज प्रान्त के बाहर भेजा गया हो, अब वे कारण उतने प्रमुख नहीं हैं, जितने मुनाफ़ाख़ोर। ये सेठ और हवेलीवाले।

राम बाबू—(यों उबल पड़े ज्यों उन्हीं के न्यस्त स्वार्थों पर आघात हो रहा हो) आ-जाकर आप लोगों को सेठ-व्यापारियों को गालियाँ देना आता है। उनकी भी गर्दन कैसी फँसी है, आप नहीं जानते। ये कंट्रोल, किसी सेठ ने उसे कहा है कण्ठ-रोक।

मङ्गल—अरे, जाने भी दो बाबू, ये बहकाने की बातें और किसी को सिखाना। सेठों का और थैलीशाहों का कब कुछ बिगड़ता है। गये साल दस लाख कमाया हो तो इस साल पाँच लाख। सच्ची आफ़त तो ग़रीबन की है। अनाज तो अनाज, ससुर किरासीन और माचिस और तमाखू तक मँहगी हो गई।

रामदीन—(अपनी अक्लमन्दी जतलाने के इरादे से) भाई, सेठ भी नहीं, सरकार भी नहीं, असल अड़चन तो यह है कि चावल जो उधर से आते थे सारा रंगून-सिंगापुर जापान ने ले लिया है। अब चावल नहीं आते उधर से।

मूँजीराम—(जो इतनी देर चुप था) कल ही जापान-रेडियो बोल रहा था अरे जहाज़ भर-भर के चावल हम भेज देंगे, सुभाष बाबू को कप्तान बनाकर जहाज़ के। मगर ये (दो न लिखने योग्य गालियाँ देकर) सरकार जो है, सो कब आने देगी सुभाष बाबू को और चावल सारा गोरे खा जायँगे।

रामदीन—हम मिलिटरी के जवान हैं। हम बताउत हैं—गोरा चावल नहीं खाता, वो तो मटन खाता है।

कॉ॰ विद्यार्थी—सुभाष का नाम मत लो, वह 'क्विसलिंग' है।

मङ्गल—कौन लिंग बोले ये! भाई, लड़ाई के वक़्त जो दुश्मन से यारी करे वो तो घर का भेदी विभीषण है। सच बात कई इन मिस्टर ने (मि॰ गुप्ता की ओर इशारा कर)—सच्चा सच्चा दोष तो उन बनियों का है जिन्होंने कोठे के कोठे अनाज से भर रखे हैं और कपड़ा तो परसों कहीं बीस हज़ार का पकड़ा गया। असल में जे साहूकार सोचत हैं कि बस भाव बढ़ेगा सो पाँचों उँगली इनकी घी में होगी। मुनाफ़ा ही मुनाफ़ा कमाएँगे।

मि॰ गुप्ता—मगर एक बात और ध्यान देने योग्य यह भी है आज हमें हिन्दुस्तान भर में एक-सा भाव-नियन्त्रण करना है। हम चाहते हैं कि गेहूँ हो या चावल सब ओर एक ही भाव से मिले। हम अपनी आदतें भी सुधारें। जो Waste....

दयाराम—Waste तो साहब मिलिटरी में भी बहुत होता है।

रामदीन—क्या बोले ये मास्टर मिलिटरी के ख़िलाफ़ ! नुक़सान तो जनाब ये दावतें और खाने और पार्टियाँ, ये ब्याह-शादियाँ और जाति-भोजनों में क्या कम होता है ! धरम के नाम पर अधरम ।

मूँजीराम बनिया—देखो जी ! धरम-वरम की बात मत करो । वैसे ही गैया-बैल रोज़ के न जाने कितने कटे जा रहे हैं और तुम सारा हिन्दुस्तान मुसलमानों को दे दो । असल में हिन्दुओं में कुछ दम ही बचा रहा ।

मंगल—क्या बकवास है हिन्दू और मुसलमानवाली ! जात सिर्फ़ दो हैं : एक अमीर, एक ग़रीब; एक तुम जो गले में सोने का कंठा पहिरे हो, एक हम जिनके बच्चों को दूध नहीं नसीब होता, समझे ! ये हिन्दू-हिन्दू में लुटिया डुबोई है तुम्हीं ब्यौपारियों ने । हमारी मजूर सभा का एक नेता कह रहा था कि ये बड़े-बड़े सेठ, जैसे बिड़ला, एक तरफ़ तो गाँधीजी के भगत, दूसरी ओर लाखों-करोड़ों का मुनाफ़ा कमा रहे हैं । यह कौन-सी इन्सानियत है ?

दयाराम—बिड़लाजी ने तो दान भी वैसा ही किया है !

कॉलेज विद्यार्थी—अगर एक क़साई मस्जिद में जाकर तीन बार नमाज़ पढ़ आता है तो उससे क़साईपन कम नहीं होता और अपना सारा मुनाफ़ा लुटाकर फ़क़ीर बन बैठनेवाला ब्यौपारी अभी हिन्दुस्तान क्या दुनिया की पीठ पर जन्मा नहीं ।

दयाराम—अरे भाई, लोगों की बुराई क्यों देखते हो, अच्छाई देखो ।

रामदीन—जङ्ग में अच्छाई-बुराई बराबर ।

फ़क़ीर—(कोने में से) अरे, तीन दिन के भूखे हैं रे, कोई है अल्ला का प्यारा, मौला का मुरीद—एक पैसा दे दे रे—न हो एक बीड़ी ही दे दो (ठिठुरता है) ।

[अब सब चुप हैं । डिब्बे में जैसे तीन दल हो गये हैं : मूँजीराम, राम बाबू, इन व्यापारियों का पक्ष लेकर बोलनेवाला दयाराम, (जैसे फ़ाशिस्ट राष्ट्रों में Official philosophers होते हैं, वैसा ही); दूसरी ओर मि० गुप्ता और रामदीन, एक सरकार के प्रेषित, दूसरे दिल से तो पैसे के प्रेषित पर एक दिमाग़-हीन लट्ठमार सिपाही के नाते दुश्मन की बहादुरी के प्रशंसक और गोरों के हाथों के नीचे काम करना पड़ता है इस कारण हीन-भाव पीड़ित; तीसरी ओर मंगल और कॉलेज-विद्यार्थी समाजवाद के समर्थक । इतने में टिकटचेकर आता है—फ़क़ीर के पास टिकट न होने के कारण गाली-गलौज, धमकी, मार-पीट करता हुआ, औरों से टिकिट माँग कर राम बाबू के बड़े होल्डौल पर अपना 'पञ्च' बजाते हुए 'यह किसका सामान है ?' पूछता है । और धौंस देता है 'तुलवाना पड़ेगा अगले स्टेशन पर' । तिस पर राम बाबू टिकटचेकर को अपने पास बैठा लेते हैं । वे 'अग्रवाल-हितैषी' का अंक मूँद कर रख देते हैं । फिर वार्त्तालाप शुरू होता है ।]

टि० चे०—आज कितनी 'डेथ-रिपोर्ट्स' हैं अख़बार में ?

कॉ० विद्यार्थी—होंगी तीस-चालीस !

टि० चे०—बड़ी बुरी हालत है साहब । इस तरह आदमी रोज़ के मरते जायेंगे तो सोनार-बाँगला उजड़ जायगा ।

रामदीन—है भी बहुत ज़्यादा आबादी वहाँ ।

मंगल—और मरते हैं तो उन पर आँसू बहाने से क्या होगा ?

राम बाबू—मारवाड़ी रिलीफ़ सोसायटी बहुत अच्छा काम कर रही है। इस वक्त उसी ने कई अन्न-सत्र और भोजनालय चलाये हैं।

मूँजीराम—और हमारी हिन्दू सभा के डाक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी।

मि० गुप्ता—और सरकार बेचारी को कोई श्रेय ही नहीं?

दयाराम—हाँ, है। इतने निकम्मों को यमराज के दरबार पहुँचाने का श्रेय है। मैं तो कहूँ, कोई मदद-वदद मत करो—ऐसे ही मरने दो। ख़ूब असन्तोष इसमें घुमड़ेगा और फिर क्रान्ति?

मंगल—क्यों मास्टर, यही तुम्हारे खद्दर पहिनने का असर है? यही इन्सानियत है? क्यों? क्रान्ति ऐसी चुटकियों से नहीं हुआ करती। वह जादू मन्तर नहीं है। उसके लिए तैयारी लगती है, बहुत बड़ी। मैं मज़दूरों की बात कहता हूँ—पाँच साल पहिले हड़ताल का तब तो ऐसी अनाज की हालत नहीं थी, निर्भा नहीं। जब पेट में चूहे कुलबुलाने लगे—

मि० गुप्ता—मगर अब तो हड़ताल का प्रश्न ही नहीं उठता। पगार, मँहगाई, सब कुछ अच्छा मिल रहा है तुम्हें। और आप भूखों की बग़ावत की बात करते हैं। परसों कलकत्ते में एक मज़ेदार क़िस्सा हुआ। कहीं किसी अफ़सर के यहाँ डिनर-पार्टी थी। एक भिखारिन थी, उसने जाकर टेबुल पर के बिस्कुट उड़ा दिये। (सब हँसते हैं।)

कॉ० विद्यार्थी—चोरी तो ठीक, औरतें अपनी बच्चियाँ वेश्याओं को बेच रही हैं। कुत्ते और बच्चे में रोटी के टुकड़े पर मारा-मारी हो रही है। सियार और गीदड़ भूखे अर्धमृतों को खींच-कर ले जा रहे हैं। यह सब क्या है? और यह सब उस वक्त जब उधर से जापानी बमबाज़ देश के दरवाज़े पर थपकियाँ दे रहे हैं।

टि० चेकर—क्यों बे फ़क़ीर—तू भी कलकत्ते से आ रहा है क्या?

फ़क़ीर (गिड़गिड़ाकर)—माई-बाप, सरकार हो आप तो, मैं तो पिछले टेसन से बैठा हूँ—दूर देश है बङ्गाल—भूखा सो रूखा हुज़ूर—आगे चले जाने दो—अजमेर शरीफ़ पहुँच जाऊँगा।

टि० चेकर—अरे, यह गाड़ी थोड़े ही अजमेर जावेगी। और अफ़ीम, चरस, गाँजा कुछ छुपा कर रखा है कि नहीं अपने झोले में?

फ़क़ीर—कहाँ की अफ़ीम हुज़ूर! वह भी खाने को मिल जाती तो जल्दी से ज़िन्दगी से छुटकारा हो जाता।

दयाराम—वैसे ही अधमरा हो रहा है, जाने भी दो बेचारे को।

मूँजीराम—हाँ, ज़रा-सी दया दिखा दो, साहब!

टि० चेकर—दया, रहम? इन्हीं के मारे तो ग़रीबी पलती है। ग़रीब समझता है कि कोई न कोई आप जैसा दाता मिल ही जावेगा। बने रहो ग़रीब। भिखाई पेशा बन जाती है। जो आदमी भूखा रहता है वह समझता है यह भी उसकी काबलीयत का एक सर्टिफ़िकेट है।

मूँजीराम—तो वह क्या अपनी मर्ज़ी से भूखा रहता है? क्या भूखा रहना उसे अच्छा लगता है? काम नहीं मिलता सो वह भूखा रहता है।

(इतने में गाड़ी एक स्टेशन के क़रीब आ रही है। मङ्गल खिड़की से झाँककर पूछता है—कौन स्टेशन आ रहा है टिकिस-चक्कर बाबू?)

टि० चेकर—अच्छा जी, आपका सामान तुलेगा आढ़तिया साहब, मुझे शक है कि यह आपका बिछाना न होकर पूरा बिकाई सामान से भरा है। चल बे फ़क़ीर, उतर जा यहाँ—वैसे ही हम कहते

हैं कि सफ़र कम करो, ट्रेनों की सिपाहियों के लिए ज़रूरत है—और ये विदाउट टिकिट भरे चले जाते हैं।

राम बाबू—देखिये बाबू साहब, मैं आपसे गौ की शपथ कहता हूँ कि इसमें कुछ नहीं। यही लिहाफ़ तकिये ओढ़ने-बिछाने का सामान है; यहा तो वो यों हो गया कि नया-नया कपास रज़ाई में। रही वज़न की बात सो जो एक्सेस हो, थोड़ा-सा आप अपने चाय-पानी के लिए······

[ट्रेन रुकती है। एक चायवाला जा रहा है। राम बाबू उससे एक स्पेशल चा—टिकिट-चेकर बाबू के लिए मँगवाते हैं। टी. सी. नहीं मानते। राम बाबू दस रुपयों का एक नोट टी. सी. के जेब में सरकाते हैं। उसे लेकर बाबू उतर जाते हैं। ऊपर जो होल्डौल रखा है उसे फ़क़ीर की लाठी लगती है, वह गिर पड़ता है—उसमें से चावल, शक्कर चोरी से जो ले जाया जा रहा था बिखर पड़ता है। फ़क़ीर उसी में से थोड़ा-सा समेटकर अपने लोटे में भर लेता है। बाहर बेचनेवाले चीख़ रहे हैं। दयाराम चाय-तमाखूबन्दी के आन्दोलन पर नैतिक चर्चा कर रहे हैं।]

अस्पताल

[कृष्णा सोबती]

यह अस्पताल है ! जी हाँ, यह मरीज़ों की दुनिया है। यहाँ पर सिर्फ़ बिस्तर के ग़ुलाम रहते हैं—दवाई के कड़वे घूँट पीकर दिन-रात मौत की घुड़कियाँ सहते हैं। दिन की हलचल और रात के सन्नाटे में इनकी उखड़ी हुई साँसें और पथराई हुई आँखें, अकसर मौत की गहरी छाया में डूबती हुई दिखाई देती हैं। सीमेन्ट के चिकने फ़र्श पर नर्सों की ऊँची एड़ियाँ मौत के ख़ूनी और तीखें पैरों की तरह बीमारों की क्षीण छातियाँ चीरती हुई आर-पार हो जाती हैं। और सामने के 'आपरेशन-रूम' की छत पर खड़ा हुआ बिजली का घण्टा हमेशा लम्बी-लम्बी आहें भरा करता है। इसकी किसी भी साँस के साथ मौत के बर्फ़ीले हाथ जीवन की आशा में सोए हुए किसी अभागे रोगी को इन्जैकशनों और औज़ारों की छाया से घसीटकर मरघट के उस निर्जन कोने में सुला दे सकते हैं।

गले में 'प्राइवेट-वार्ड' और 'जनरल वार्ड' की तख़्तियाँ लटकाये हुए यह दो ऊँचे-ऊँचे फाटक ! हास और रुदन की, उल्लास और विषाद की दो धाराएँ !! जी, ठीक है। जहाँ पर मीठे जल के सोते बहते हों, क्या वहीं पर समाज के कोढ़ की बदबू और सड़ाँध से भरे हुए गन्दे नाले बह सकते हैं। छिः, लेकिन बुरा हो इस मौत का जो 'जनरल वार्ड' के चिथड़ों और 'प्राइवेट वार्ड' के रेशमी गद्दों का कोई लिहाज़ नहीं जानती और श्मशान के एक ही पत्थर पर भिखमङ्गों और रईसों को पटककर सब कुछ शेष कर देती है।

अस्पताल के एकदम पिछले वार्ड में लाल पत्थर का बना हुआ 'मिटरनिटी वार्ड' है। हाड़-मास की मशीनों से निकली हुई 'हाय, हाय' की आवाज़ें रात और दिन की सीमाओं को लाँघकर, न जाने दुनिया के किस कोने में विलीन हो जाती हैं। लेकिन नहीं। उनकी विरासत तो चिर-पुरातन है—शाश्वत है। यह तो नारी की पूर्णता है जिसे वह मरकर, मिटकर प्राप्त कर पाती है और फिर यहीं पर अपने पैदा किए हुए ग़ुलामों की तरफ़ गर्व से देखती हुई, मौन खड़े हुए 'मुर्दाघर' को अँगूठा दिखाकर हमेशा के लिए सो जाती है। हाय, जाने दीजिए। लेकिन आप इतना तो देखिए कि जहाँ से 'मिटरनिटी वार्ड' की बजरीवाली सड़क शुरू होती है वहीं पर मुर्दाघर की पक्की सड़क ख़त्म होती है। और जहाँ से मुर्दाघर शुरू होता है वहाँ 'मिटरनिटी वार्ड' ख़त्म ! समझे आप। यह भी एक क़िस्म की मिल है। कुछ बनता है, कुछ बिगड़ता है, कुछ रद्दी···

हाँ जी, यह अस्पताल है।

———

'देशद्रोही'

[रामविलास शर्मा]

कथाकार यशपाल का यह दूसरा उपन्यास है। पहला था—दादा कामरेड। उसका सम्बन्ध था आतंकवादियों के जीवन से। विज्ञापन के अनुसार वह शरत् बाबू के 'पथेर दाबी' का एक प्रकार से उत्तर था; आतंकवादियों के जीवन पर प्रकाश डालकर उनका सही चित्र पाठकों के सामने पेश करता था। उसकी भूमिका में लेखक ने स्पष्ट कर दिया था कि राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर प्रकाश डालना उसका मुख्य ध्येय था। शैल और हरीश के रोमांस ने इन समस्याओं को रङ्गीन बना दिया था। "देशद्रोही" का सम्बन्ध पिछले असहयोग-आन्दोलन—सन् '३० वाले—से लेकर लोक-युद्ध तक की राजनीतिक घटनाओं से है। रोमांस का रङ्ग पहले से कुछ गहरा ही है। चाहे जिस दृष्टिकोण से देखा जाय, यह उपन्यास दादा कामरेड को बहुत पीछे छोड़ आया है। शरत् को पसन्द करनेवालों के लिए इसमें काफ़ी मसाला है। उन्हें दादा कामरेड से असन्तोष हुआ भी हो तो इससे उन्हें आशातीत तृप्ति होगी। "पथेर दाबी" का ही आनन्द उन्हें यहाँ न मिलेगा; श्रीकान्त की आत्मकथा का रस भी उनकी आत्मा को शीतल करेगा।

उपन्यास लिखने के पहले यशपालजी से उसके सम्बन्ध में मेरी थोड़ी-सी बात-चीत हुई थी। मुझे उन्होंने बताया था कि उसका नायक हिन्दुस्तान से अफ़ग़ानिस्तान और दक्षिण रूस जाता है और फिर हिन्दुस्तान वापस आकर एक कम्यूनिस्ट की हैसियत से राजनीतिक कार्य करता है। मैंने तभी इस तरह के कथानक से असन्तोष प्रकट किया था। मुझे भय था कि उपन्यास का ढाँचा कल्पना पर अधिक निर्भर होकर अपनी यथार्थवादी सचाई न खो बैठे। यशपालजी ने मुझे बताया कि उनकी कहानी "या साईं सच्चे" में वर्णित प्रदेश भी उनका देखा हुआ न था परन्तु मैं उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर चुका था। इस तर्क का मुझ पर काफ़ी असर हुआ यानी मुझे स्वीकार करना पड़ा कि "या साईं सच्चे" के लेखक को मुझे धोखा देने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी। "देश-द्रोही" पढ़ते समय मैं धोखा न खाने के लिये तैयार था परन्तु मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि मेरे विवेक से यशपालजी की धोखा देनेवाली प्रतिभा बहुत बढ़कर है।

उपन्यास ख़त्म करने पर अरस्तू और कोलरिज की याद आ गई जिन्होंने कला और धोखे के मसले पर विचार किया है। अरस्तू ने शायद कहा था कि कला के लिए वैज्ञानिक सत्य की अपेक्षा नहीं है; पाठक या दर्शक को जँच जाय कि यह सच है तो बस उसी से काम चल जाना चाहिए। और कोलरिज ने छायालोक के प्राणियों को अपनी कल्पना से ऐसा सप्राण कर दिया था कि वे यथार्थ और उससे बढ़कर मालूम पड़ने लगे थे। "देशद्रोही" उपन्यास का घटना-क्रम हमें अफ़ग़ानिस्तान से दक्षिण रूस तक की सैर कराता है लेकिन सच तो यह है कि जैसे कोलरिज का मेरिनर वर्ड्स्वर्थ के पीटर बेल से बढ़कर है वैसे ही दूर देशों के उन सुन्दर दृश्यों के आगे हिन्दुस्तान के दृश्य—जिनमें दिल्ली भी है—फीके लगने लगते हैं। दृश्य क्या, ग़ज़नी और समरक़न्द की सुन्दरियों के आगे भारतवर्ष की महिलाएँ भी कुछ हीन-सी लगती हैं। पाठक इसी से इस उपन्यास की रोचकता का अन्दाज़ा लगा सकते हैं।

कथा का आरम्भ होता है "अजानी अँधेरी राह में" जहाँ कथानायक डा० भगवानदास खन्ना को कुछ वज़ीरी पकड़े लिये जा रहे हैं। खन्ना फ़ौजी डाक्टर यानी लेफ़्टिनेन्ट डाक्टर खन्ना हैं। वज़ीरियों के प्रदेश के वर्णन में लेखक ने कमाल किया है। छोटे-छोटे बच्चों की पोशाक, काली नीली चादरें ओढ़े स्त्रियाँ, खूँटों से बेतरतीब बिना पिछाड़े के बँधे हुए खच्चर आदि-आदि बातों का उल्लेख कर उसने अपने वर्णन को यथार्थ की सजीवता दे दी है और उसे यथार्थ से भी अधिक आकर्षक बना दिया है। इसके साथ डा० खन्ना की शारीरिक दुर्दशा, उसकी मानसिक उलझन, अपनी धर्मपत्नी राज का बारबार याद आना आदि मनोवैज्ञानिक धरातल की वे बातें हैं जो सहृदय पाठकों के मर्म को सहज ही स्पर्श कर लेंगी। पठानों की बात-चीत, आपस का हिस्सा-बाँट, अँगरेज़ी राज्य की आलोचना, उनकी आत्मसन्तोषयुक्त ज्ञानगम्भीरता आदि वे बातें हैं जो उपन्यास में हास्य का पुट देकर उसे आकर्षक बनाती हैं।

दूसरा अध्याय "समय का प्रवाह" हमें खन्ना के विद्यार्थी-जीवन और दिल्ली के उस वातावरण से परिचित कराता है जिसमें वह पला और बढ़ा था। उसका एक साथी था शिवनाथ। कांग्रेस-आन्दोलन में जनता पर अत्याचार होते देखकर शिवनाथ का ख़ून खौल उठा था और खन्ना का साथ पाकर उसने बम बनाने की तैयारी की थी। परन्तु बिना "ऐक्शन" के ही वह चुङ्गी पर हाँडी में बम लिये हुए पकड़ा गया और अपनी बहन यमुना को निस्सहाय छोड़कर जेल भेज दिया गया। खन्ना डाक्टरी पढ़ने लगा और समय पाकर डाक्टर भी हो गया। शिवनाथ जेल से छूटने पर कांग्रेस में काम करने लगा। उसके सहायक थे बद्री बाबू जो कांग्रेस के दक्षिण दल के प्रतिनिधि हैं। शिवनाथ धीरे-धीरे कांग्रेस सोशलिस्ट हो जाता है। इन दो पात्रों को लेकर लेखक ने कांग्रेस की राजनीति का एक रेखाचित्र प्रस्तुत किया है।

डा० खन्ना ने वज़ीरियों की क़ैद से छुटकारा पाने के लिये अपने भाई को रुपया भेजने के लिए लिखा परन्तु रुपया न आज आया न कल। दो-तीन पठान सुन्दरियाँ उसकी ओर अवश्य आकृष्ट हुईं। इनमें एक थी इब्बा जो "आते-जाते अपनी सुरमा भरी बड़ी-बड़ी आँखों से डाक्टर की ओर कटाक्ष कर जाती।" परन्तु डाक्टर उन कटाक्षों से अपने ब्रह्मचर्य की रक्षा कर रहा था। इसी लिये—"कभी कोई समीप देखने सुननेवाला न होता तो धीमे से कह जाती—हिश्त बोद्दा।" बोद्दा यानी नामर्द। इब्बा के नामकरण की सार्थकता पाठक आगे देखेंगे। इब्बा की एक सहेली थी नूरन। "वे एक दूसरे को दिखाकर डाक्टर से मज़ाक करतीं और हाथ का अँगूठा चूमकर संकेत करतीं।" डाक्टर क़ैदी होने से दूसरों की बेगार करता था। एक दिन उसकी बारी नूरन के यहाँ मक्का पीसने की थी। नूरन ने मौक़ा पाकर डाक्टर की बाँह पकड़ ली और कहा—अब! "भय से डाक्टर का हृदय धक-धक करने लगा। नूरन ने डाक्टर को बाँहों में ले माथे पर दाँत मार दिया। नूरन के गले की चाँदी की भारी हमेल उसकी हँसली में चुभ गई। डाक्टर का चेहरा पुराने काग़ज़ की तरह पीला पड़ गया और शरीर पसीना-पसीना हो गया।" इसी तरह की घटना शरत् बाबू के चरित्रहीन में है जहाँ किरण दिवाकर को घसीट कर एक ही बिस्तर पर सुलाना चाहती है और वह बलि के बकरे की तरह मिमियाकर भागना चाहता है परन्तु भाग नहीं पाता। किरण सबेरे उससे कहती है—मैंने तुम्हारा ब्रह्मचर्य व्यर्थ ही नष्ट किया। परन्तु यहाँ उसकी नौबत नहीं आती। पठानिन चतुर थी। वह सब कुछ समझ गई—"उसे काँपते देख नूरन शिथिल हो पीछे हट गई। डाँटकर उसने कहा—'उठा ले जा

गठरी ! क्या देखता है ?' गठरी ले जाते हुए डाक्टर की कमर पर आ पड़ी नूरन की लात ! जिसने उसे और जल्दी बाहर ढकेल दिया।'' इसके बाद जब नूरन डाक्टर को देखती तो थूक देती और कहती—नामर्द ! धर्मपत्नी को छोड़कर बोद्दा का यह पहला रोमांस था।

छुटकारे की कोई राह न थी। घर से कोई जवाब आ नहीं रहा था और वज़ीरी उसे ग़ज़नी में बेच देने की बात चला रहे थे। केवल इब्बा निराश न होकर उससे कहती कि वह उसे भगा ले चले—उसे ग़ज़नी की राह भी मालूम है। डाक्टर उसकी बातों पर विचार करता। "मुझे सुलेमान खेल के मामज़ाई के शहर ले चल। तू तो इलमदार है। मेरा मर्द तो मुझे बहुत मारता है। उसे औरत से क्या मतलब ! वह तो मुझे ही मर्द समझता है। मैं तो औरत हूँ ?... नहीं क्या !" डाक्टर इलमदार तो था लेकिन...

ईद के दिन कलमा पढ़ाकर उसे मुसलमान बना लिया गया। ग़ज़नी में पोस्तीनों के व्यापारी अब्दुल्ला के हाथ वह बेच भी दिया गया। अब्दुल्ला के बेटे नासिर से उसकी दोस्ती हो गई। नासिर को अमानुल्ला के स्कूलों की हवा लग चुकी थी, इसलिए देश-विदेश के बारे में जानने की उसकी प्रबल उत्कण्ठा थी। वह डाक्टर का अन्तरङ्ग मित्र और फिर साला भी बन गया। डाक्टर नूरन के प्रॉलिटेरियन प्रेम से घबरा गया था परन्तु बुज़ुर्आ अब्दुल्ला की लड़की—"अदब और नज़ाकत से उसका हाथ उठा कर सलाम करना, डाक्टर घण्टों उसी की बात सोचता रहता।" कहाँ यह अदब और नज़ाकत का सलाम और कहाँ वह नूरन का हाथ पकड़कर कहना, अब ! या अन्त में उसकी लात और इब्बा का "हिश्त बोद्दा" ! बद्री बाबू की सहायता से उधर खन्ना की धर्मपत्नी राजदुलारी उर्फ़ राज सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करती है। मिलों में हड़ताल और बद्री बाबू का अनशन, मिल-मालिकों से समझौता—यह कहानी दिल्ली की है। इधर ग़ज़नी में—"दो मञ्ज़िल की खिड़की से झलक दिखा कल्पना को उन्मत्त कर देनेवाली नर्गिस ने जब, हंस की ग्रीवा के समान कोमल अपनी बाँहें डाक्टर की गर्दन में डाल कस्तूरी की भीनी और मादक गन्ध से सुवासित अपना सिर उसके हृदय पर रख आत्म-समर्पण कर दिया" तब भय से डाक्टर का हृदय धक-धक नहीं करने लगा और न पुराने काग़ज़ की तरह उसका चेहरा ही पीला पड़ गया। यहाँ पर कल्पना का वह चाँद उसे मिल गया जिसे पाने की आकांक्षा एकपत्नीव्रत के बावजूद उसके हृदय में विद्यमान थी। उसकी कल्पना की दूरगामी उड़ान, बाँहों में सिमटी, रसभीनी वास्तविकता के चारों ओर लिपटकर रह गई।" शरत् बाबू भी अपने शब्दों को इस तरह मधुमय नहीं बना सके। जैसा मोहक प्रेम है, वैसी ही रोमांटिक वह चित्र-भूमि है जिस पर ये दो प्रेमी अंकित किये गये हैं। "रङ्गीन उपवनों से छिटकी और उत्तुङ्ग हिरमजी पहाड़ों से घिरी ग़ज़नी की उपत्यका से परे संसार का अस्तित्व उसके लिए रह ही नहीं गया।" लेकिन कब तक ? जब तक "कल्पना की दूरगामी उड़ान" थोड़ी ही दूर में थककर उस उपत्यका में निढाल होकर गिर न पड़ी। नर्गिस के समीप बैठे रहना डाक्टर के लिए यन्त्रणा बन जाता। वह झल्लाहट में उठकर चल देता और फिर स्वयं ही नर्गिस के प्रति अपनी इस निष्ठुरता से लज्जित हो तर्क करने लगता, इस बेचारी का क्या अपराध है ? और वह रोमांटिक चित्रभूमि "ग़ज़नी की वह अत्यन्त सुन्दर और रमणीक उपत्यका डाक्टर के लिए जेल का आँगन बन गई।" इसके साथ बुर्ज़ुआ अब्दुल्ला के शोषण-व्यापार से भी उसे घृणा होने लगी और एक दिन अपने अन्तरङ्ग नासिर के साथ वह कल्पना-परी नर्गिस के कस्तूरी-वासित केशपाश से सहज ही अपना दिल निकालकर रूस की सीमा में जा पहुँचा।

स्तालिनाबाद का वर्णन, डाक्टर और नासिर का बिना पासपोर्ट के पकड़े जाना, उनका क्रास इग्ज़ामिनेशन और फिर डाक्टर का समरक़न्द के सैनिटोरियम में काम करना—कहीं भी लेखक ने चित्रण की सजीवता को फीका नहीं होने दिया। डाक्टर खन्ना का परिचय हुआ शिशुशाला की अध्यक्ष कामरेड खतून से—"शोषित जनता पर होनेवाले अन्याय को स्मरण कर उनकी आँखों से चिनगारियाँ छूटने लगतीं।" डाक्टर कम्यूनिज़्म के अधिक निकट आता गया। और भी महत्त्वपूर्ण यह कि "तीन पहर रात गये तक खतून की बग़ल बैठ, उसकी निरावरण बाँहों और शरीर के अनेक अङ्गों को देखकर भी डाक्टर को ख़याल न आता कि वह एक स्त्री के साथ एकान्त में है।" पता नहीं पाठक लेखक की इस बात से कहाँ तक सहमत होंगे कि "खतून को भी ख़याल न आता कि एक पूर्ण युवा पुरुष उसके बिस्तर पर बैठा है।" विशेषकर इसलिए कि खतून को दिल डूबने की बीमारी है। इसी का दौरा होने पर डाक्टर ने उसके हृदय पर हाथ रख उसकी गति देखी। कुछ क्षण चुप रहकर उसने सलाह दी 'तुम सो जाओ! विश्राम करो! तुम्हारे लिये एक खुराक दवा मैं अभी ला देता हूँ।" शरत् के पाठक यहाँ समझ जायँगे कि खतून क्या जवाब देगी। गृहदाह में अचला जैसे सुरेश का हाथ अपने हृदय पर दबा लेती है वैसे ही "अपने हृदय पर रखा डाक्टर का हाथ दबा खतून ने उसे उठने न दिया" और कहा—"नहीं, तुम बैठो! औषध मैं बहुत दिन पी चुकी हूँ।" वह कामरेड पोपोलोफ से अपनी प्रतिद्वन्द्विता की बातें करने लगी। लेकिन डाक्टर उसे सोने की दवा पिलाकर चला ही गया। ऐसा था यह डाक्टर जो दिल डूबने की बीमारी का इलाज न कर सकता था। नतीजा यह हुआ कि "खतून के हृदय में डाक्टर के लिए एक वात्सल्यपूर्ण ममता उमड़ आई।" इसी वात्सल्य रस से प्रेरित होकर "खतून गुलशाँ को डाक्टर की ओर ढकेलने का यत्न करती परन्तु डाक्टर का विवेक कह रहा था, नहीं!" लेकिन कब तक? वह "काग़ज़ पर क़लम न चला, बिजली के लैम्प के अत्यन्त समीप गुलशाँ की झुकी हुई लम्बी पलकों की ओर देखता रह जाता।" बीच की सीढ़ियों पर छलाँग मारकर हम उसी पुराने नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि गुलशन के प्रेम-निवेदन ने डाक्टर के प्रेम को ठण्ढा कर दिया। वह राज से गुलशाँ की तुलना करने लगा। कहाँ राज के साथ "प्रणय का मैदान जीतना" और कहाँ गुलशाँ का "यह जबरन प्रेम का बोझ लादते फिरना।" परिणाम—"उसका मन गुलशाँ के प्रति वितृष्णा से भर गया।"

वात्सल्य रस में डूबी हुई खतून को यह अच्छा नहीं लगा। वह डाक्टर को खुला इशारा करती है—"सोवियट प्रजातन्त्र को सफल बनाने के लिए हमें स्वस्थ संतानों की आवश्यकता है।" इस आवश्यकता से पीछा छुड़ाकर डाक्टर राजनीतिक शिक्षा के लिए मास्को चला गया। लेकिन जब वह गुलशाँ से दूर हो गया तब "आँखें मूँदे कल्पना में वह राज की गोद में सिर रखे विश्राम करना चाहता परन्तु उससे पहले आ जाती गुलशाँ।" उसने पत्र लिखकर उससे क्षमा माँगी और जीवन भर उसे याद रखने का वचन दिया!

शिक्षा समाप्त करके खन्ना भारत आता है। बम्बई आकर उसने राज को एक पत्र लिखा; फिर उसे जला दिया। जर्मनी के रूस पर आक्रमण करने से वह जगह-जगह जाकर जन-युद्ध की नीति लोगों को समझाने लगा। बम्बई में वह जमालदीन था; कानपुर में आकर वह डा० बी० डी० वर्मा हो गया। एक दिन वह शिवनाथ की बहिन यमुना से भेंट करता है। वहाँ उसे मालूम होता है कि उसकी स्त्री राज ने कांग्रेसी कार्यकर्ता बद्री बाबू के साथ विवाह कर लिया है।

क्रमश: उसकी भेंट अपनी साली चन्दा और उसके पति राजाराम से होती है। डाक्टर का रोमांस फिर शुरू होता है। क्या मौक़े से लेखक ने शरत् के चरित्रहीन को याद किया है—चन्दा को 'चरित्रहीन' बहुत पसन्द है और अब उसका नायक ही उससे मिलनेवाला है। एक ओर पति, दूसरी ओर खन्ना,— चन्दा का हृदय संघर्ष से मथ जाता है, विशेषकर इसलिए कि पति बड़ा शक्की है! चन्दा को इस बात से और दुख होता है कि शारीरिक सम्पर्क न होने पर भी पति को इतना सन्देह होता है! अपने चरित्र को निभाने के लिए वह सभी कुछ सहती है परन्तु पति को फिर भी सन्तोष नहीं होता।

चन्दा की छोटी बच्ची को पानी में खेलने से ज्वर हो आता है। काश, डाक्टर भी पानी में खेला होता और उसे ज्वर हो आता। जैसा कि वह चन्दा से कहता है—"हो जाता तो मैं आपके पास आकर लेट रहता। मेरा सिर दबाना पड़ता। आपको ज़हमत होती और मुझे अच्छा लगता।" चन्दा पूछती है, क्या बिना बीमार हुए नहीं लेट सकते! डाक्टर कहता है "वैसे तो लेटा ही हूँ परन्तु बीमार का अधिकार अधिक हो जाता है।" डाक्टर तकिया लेकर सहारा नहीं लेना चाहता; चन्दा पूछती है, वह उसे किस तरह सहारा दे सकती है। डाक्टर कहता है—"अपनी गोद में स्थान देकर।" इति शुभम्। खन्ना के प्रेम का यही वास्तविक रूप है। एक बार असली बात उसने कही डाली। गुलशाँ, खतून, नर्गिस, पठान लड़कियाँ,—उसे गोद में सिर रखने को अब तक न मिला था। चन्दा उसकी इच्छा एकदम ही पूरी नहीं कर सकती। वह मान और क्रोध करता है लेकिन दूसरी बार चन्दा ने लेटे हुए खन्ना के माथे पर हाथ रखकर कहा—'तुम्हारा माथा कुछ गरम है!' आख़िर माथा गरम हो ही गया! चन्दा "खन्ना का सिर अपनी गोद में ले उसके माथे को सहलाने लगी।" पूरी हुई मनोकामना जी की। चन्दा ने पूछा—"ऐसे तुम्हें सन्तोष होता है!" बोद्धा ने उत्तर दिया—"बहुत!"

और भी, चन्दा की छोटी बच्ची की तरह वह उसकी गोद में खो जाना चाहता है। "मन चाहता है, जैसे शशि तुम्हारी गोद में छिप जाती है, वैसे ही शशि बन जाऊँ!" चन्दा ने सिर झुकाये, अधमुँदी आँखों से उत्तर दिया—"तो क्या उससे कम हो!" और "उसका मन चाह रहा था, खन्ना का सिर उठा कर हृदय से लगा ले!"

चन्दा ने ठीक प्रश्न किया था। यह उपन्यास का चरितनायक छोटी बच्ची शशि से किस बात में कम है? क्या वह अपनी बाल्य भावनाओं पर विजय पाकर विकसित पुरुषत्व प्राप्त कर सका है! क्या उसका समाजवाद शरत् के पात्रों की इसी गोद में सिर रखने की इच्छा से विशेष महत्त्व रखता है! और भी थोड़ा साहस सञ्चय करके यह पूछने की इच्छा होती है कि खन्ना को फ़ौज का डाक्टर बनाकर, अफ़रीदियों द्वारा उसे उड़वाकर, अफ़ग़ानिस्तान और रूस की सैर कराकर, हिन्दुस्तान में कम्यूनिस्ट बनाकर और अन्त में प्रेम की वेदी पर उसका बलिदान कराके लेखक ने क्या बालसुलभ कल्पना का ही परिचय नहीं दिया! निश्चय ही लेखक चतुर है; उसकी बुद्धि बच्चों की सी नहीं है। वह इस काल्पनिक कहानी को यथार्थ के रङ्ग में रँग देता है, इस बात में उसकी प्रौढ़ों जैसी चतुरता है, परन्तु उसकी भाव-धारा का मूल स्रोत क्या है? उसके निगूढ़ व्यक्तित्व का रहस्य क्या इस वाक्य में निहित नहीं है—"मन चाहता है, जैसे शशि तुम्हारी गोद में छिप जाती है, वैसे ही शशि बन जाऊँ!"

पति की शङ्काओं से परेशान होकर चन्दा एक रात छत से नीचे कूद पड़ती है। झाड़ियों पर गिरने से वह मरने से बच जाती है। खन्ना उसका उपचार करता है। बच्चों की तरह होने की बात को वह फिर दोहराता है।

९ अगस्त और उसके बाद तोड़-फोड़। कांग्रेस सोशलिस्ट शिवनाथ फ़रार हो जाता है। खन्ना चन्दा के पति राजाराम के यहाँ कम आता है लेकिन "कभी बहुत थकावट अनुभव होने पर वह घण्टे आध घण्टे के लिए चन्दा के समीप आ तख़्त पर लेट जाता। चन्दा का हाथ अपने माथे पर अनुभव कर उसकी गोद में अपना सिर रख आँखें मूँद लेट जाने से उसे विश्राम और स्फूर्ति मिलती।" एक दिन इसी दशा में उसके माथे पर चन्दा की आँखों से निकले दो बूँद आँसू आ टपके। उसने उठकर "अपनी बाँह उसकी गर्दन में डाल उसका सिर अपने हृदय पर रख लिया।...चन्दा का मुख उठा उसने उसकी आँखों के आँसू चूम लिये।" चन्दा रोई क्यों? इसलिए कि वह घर के जीवन से ऊबकर खन्ना के साथ निकल जाना चाहती है। लेकिन शरत् के पात्रों की तरह खन्ना टाल-मटूल करता है। वह उसकी गोद में लेटना भर चाहता है; उसे सँभालने, साथ रखने, उसका खर्चा बर्दाश्त करने के लिए वह तैयार नहीं है। वह राजाराम के रहते आ जाता तो यों ही इधर-उधर की बातें और विनोद कर चला जाता। कभी चन्दा के अकेले रहते आता तो उसके समीप लेट जाता या मचल कर उसकी गोद में सिर रख लेता और चाहता, कुछ क्षण के लिए सब कुछ भूल जाय। पति के सन्देह से ऊबकर चन्दा अपना मार्ग ढूँढ़ने के लिए छिपकर खन्ना से रेती पर मिलती है। "आज निश्चय किया था, इस समय यहाँ आकर तुमसे कहूँगी, अब लौट नहीं सकती। अपनी बहन, माँ, बेटी जो कुछ भी समझो, मुझे ले चलो। या फिर सामने गङ्गा है।" लेकिन देवदास की तरह खन्ना उसे सहारा नहीं दे सकता। वह तो खुद गोद में सिर रखकर सब कुछ भूल जाना चाहता है; चन्दा का भार अपने सिर पर कैसे ले ले? वह युक्ति भिड़ाता है—"तुमने अपना बलिदान कर सब सहा, अब उसके प्रति विद्रोह भी करो तो क्या कर सकती हो! जब तक जीवन में खड़े होने का साधन तुम्हारे पास न हो!" लेकिन खन्ना जितना उसकी गोद में लेटने का इच्छुक है, क्या उतना ही इच्छुक वह उसे अपने पैरों पर खड़ा देखने के लिए भी है? चन्दा के जीवन में एक सङ्घर्ष पैदा करके वह उसका अन्त करने के लिए किसी तरह की भी सहायता उसे नहीं देता, देने की चेष्टा भी नहीं करता। चन्दा निराश होकर फिर घर लौट गई।

मिल में हड़ताल होती है। खन्ना मज़दूरों को समझाने जाता है। वहाँ घायल हो जाता है। शिवनाथ को मालूम था कि खन्ना रूस से जाली पासपोर्ट बनाकर आया है। वह उसे धमकी देता है कि कानपुर छोड़कर न गया तो वह सारा भेद पुलिस के पास लिख भेजेगा। अब खन्ना को छिपकर इलाज कराने की ज़रूरत है। चन्दा उसे लेकर अपनी बहन राज के यहाँ चलती है। रानीखेत पहुँचकर दोनों "रज्ञाड़ा" की चढ़ाई चढ़ते हैं। पहाड़ी बियाबान में थकी हुई चन्दा अपनी बहन राज के यहाँ पहुँचती है लेकिन राज के जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ हो चुका है। अब उसका पति आया है, लोग सुनकर क्या कहेंगे? चन्दा घायल खन्ना के साथ उसी रात को बहन के यहाँ बिना ठहरे वापस चल देती है।

जब चन्दा कानपुर से चली थी तब उसके पति बाहर थे। लौटकर उन्होंने उसे गायब देखा। ढूँढ़ने निकले और पहाड़ी रास्ते में उन्हें चन्दा मिल भी गई। लात, तमाचा, सभी से काम लिया। घायल खन्ना मना करता है; राजाराम डाटता है—"चुप धूर्त, देशद्रोही, बदमाश"। बेहोश चन्दा को डाँडी में लिटाया गया और घायल खन्ना को वहीं छोड़कर राजाराम घर की ओर चल दिया। उसकी प्राणशक्ति क्षीण हो रही थी। "सिर पत्थरों के ढेलों पर टिका था

परन्तु मन में विश्वास था, चन्दा उसका सिर गोद में लिये है, जीवन-संग्राम में फिर से लड़ने के लिये वह स्वास्थ्य-लाभ कर रहा है।" इस प्रकार देशद्रोही कहलाकर, देश की सेवा करके भी देशवासियों की ठोकर खाकर खन्ना शहीद हो जाता है।

× × × ×

कहानी बिलकुल ऐसी ही नहीं है जैसी इतना लेख पढ़ने पर शायद मालूम हो, लेकिन है बहुत कुछ ऐसी ही। जन-युद्ध और कांग्रेस सोशलिस्टों की नीति को लेकर लम्बे-चौड़े विवाद भी हैं और कांग्रेस के आन्दोलन और हड़तालों का भी चित्रण किया गया है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि 'देशद्रोही' मूलतः एक रोमांटिक कृति है जिसमें खन्ना के रोमांसों की प्रधानता है। जिस वर्ग के लिये खन्ना काम करता है, उस वर्ग का इसमें उतना और वैसा चित्रण नहीं है, जितना खन्ना के हृदय की प्रेम-सम्बन्धी उथल-पुथल का। दूसरे शब्दों में उपन्यास पढ़कर क्या पाठक को यह निश्चय नहीं हो जाता कि लेखक की निगाह जहाँ खन्ना के हृदय में पैठकर उसके निगूढ़ रहस्यों को टटोला करती है, वहाँ मज़दूर-वर्ग और उसकी आर्थिक या सामाजिक समस्याओं को वह केवल छूकर ही रह जाती है?

इसे हम राजनीतिक उपन्यास न कहकर "श्रीकान्त" की कोटि का एक सामाजिक उपन्यास ही कह सकते हैं जिसमें प्रेम-कहानी प्रधान है। हमें उपन्यास से वह चीज़ माँगने का चाहे अधिकार न हो जो लेखक को देना अभीष्ट न थी लेकिन यशपाल का ध्येय यहाँ राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रकाश डालना ही है। क्या यह कहानी जन-युद्ध के पेचीदा सवाल पर काफ़ी रोशनी डालती है? ९ अगस्त की घोषणा ने लोगों में कौन-सी प्रतिक्रिया उत्पन्न की, भोले-भाले और धूर्त—दोनों ही तरह के लोगों ने किस तरह देश में अशान्ति को जन्म दिया, मज़दूरों और किसानों में इस तोड़-फोड़ का क्या असर हुआ, इत्यादि-इत्यादि सैकड़ों ऐसी बातें हैं जिनका विशद विवेचन हम इस तरह के उपन्यास में पाना चाहते हैं। यदि "पथेर दाबी" या "श्रीकान्त" को हम प्रगतिवाद की सीमा मान लें तो दूसरी बात है; परन्तु यदि प्रगतिवाद उससे बढ़कर कुछ और भी है तो इस रोमांस से छुटकारा पाकर लेखक को समाज की हलचल का एक नये सिरे से अध्ययन और चित्रण करना होगा। और यह प्रेम-कहानी भी कैसी है! एक ऐसे निकम्मे आदमी की—जिसे नालायक़ भी कहें तो बेजा न होगा। नर्गिस से वह प्रेम करता है; फिर एक दिन ऊबकर, उसे छोड़कर चल देता है। मर्द का क्या यही काम है? यह नहीं कि नर्गिस से प्रेम करके उसने ग़लती की हो और अब वह इससे बचा रहेगा। श्रीकान्त की तरह वह स्त्रियों के साथ आकर्षण-प्रत्याकर्षण का खेल छोड़कर और करता क्या है? नर्गिस से भागे तो कहीं ख़तून मिल गई, तो कहीं गुलशाँ, तो कहीं चन्दा। औरत के नज़दीक आने पर वह भाग खड़ा होता है; दूर होने पर प्रेम करता है। कारण यह है कि वह आध्यात्मिक प्रेम में विश्वास करता है—शायद बिना जाने ही। गोद में सुख से लेटना चाहता है, लेकिन चन्दा को उसके दुष्ट पति से छुटकारा दिलाने के लिये वह एक क़दम आगे नहीं बढ़ता।

दूसरी बात यह कि कम्यूनिस्टों के ख़िलाफ़ वैसे ही दुनिया भर की झूठी बातें कही जाती हैं। एक आवारा नामर्द को जनयुद्धविषयक उपन्यास का नायक बनाकर साथी यशपाल ने ग़लतफ़हमियों के बढ़ जाने का ख़तरा पैदा कर दिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि गृहस्थ-जीवन की समस्याओं के चित्रण में उन्हें बहुत बड़ी सफलता मिली है। राजाराम का चरित्र उनकी कुशल लेखनी का प्रमाण है। व्यंग्य और हास्य पर उनका अधिकार है। अजाने प्रदेशों को भी कल्पना और पुस्तकों के सहारे उन्होंने सजीव और सचित्र कर दिया है। फिर भी एक प्रगतिवादी लेखक की हैसियत से उनका रोमांस-प्रेम, मध्यवर्ग के असफल और अस्वस्थ नवयुवकों के प्रेम का चित्रण अखरता ज़रूर है। युवकों की इस कमज़ोरी पर हँसा जा सकता है; उनके साथ आँसू बहाना असम्भव है। लेकिन लेखक अपने व्यंग्य और हास्य के तीर खन्ना को बचाकर छोड़ता है, अथवा खन्ना को देखकर वह अपने व्यंग्य तीर छोड़ना भूल ही जाता है।

कुछ लोगों को यह उपन्यास बहुत पसन्द है। मेरी सम्मति है कि "देशद्रोही" एक रोचक रोमांटिक कहानी है, परन्तु प्रगतिवाद की कसौटी पर वह खरा नहीं उतरता। राहुलजी को वह बहुत पसन्द है। यशपालजी की सम्मति से उनके उस पत्र को यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ जिसे उन्होंने उनके पास भेजा था :

"देशद्रोही पढ़ गया। तुम्हारी क़लम को बधाई। देशद्रोही को दुनिया की किसी भी समृद्ध भाषा के श्रेष्ठ उपन्यासों के मुक़ाबिले में रखा जा सकता है। तुम्हारी लेखनी में कहीं झिझक नहीं, कहीं विच्छेद नहीं, कहीं अस्पष्टता और दुरूहता नहीं। नायक का चित्रण सुन्दर सुन्दर, और प्रति नायक का भी अति सुन्दर। समाज और व्यक्ति के वातावरण तथा मनोविज्ञान का क्या सुन्दर विश्लेषण।"

जानते हैं पंक्ति-पंक्ति पढ़ते वक्त मैंने देशद्रोही के पृष्ठों पर क्या लिखा—

"(पृष्ठ ३३, पैरा १) भाषा में प्रसाद, प्रवाह और सादगी। (पृष्ठ ५१—पैरा ३) युक्ति-पूर्ण विवेचन। (पृ० ८८—पै० ३) सुन्दर गम्भीर निर्वाह। (पृ० ११४—पै० ४) वर्ग-मनोवृत्ति का सुन्दर वर्णन। (पृ० ११७—पै० ४) उपसंहार भी अप्रयास। (पृ० ११९—पै० १) मधुर-मधुर संयत वर्णन। (पृ० १४२—पै० ३) सुन्दर। (पृ० १५०—पै० २) सोवियत् जीवन का वास्तविक और सुन्दर चित्रण। (पृ० १६४—पै० २) उचित शृङ्गार और माधुर्य। (पृ० १६५-१६६) बधाई क़लम को। (पृ० १६८) बड़ी उच्च श्रेणी के गान्धीवादी, Contrast ठीक। (पृ० १६९) विरोधी आलोचक भी लोहा मानेंगे। (पृ० २२६—पै १) सुन्दर-सुन्दर नाटक। (पृ० २६०—पै० १) समय का ख़्याल। (पृ० २६८) यशपाल की यह तूलिका उतावलेपन के लिए नहीं, बल्कि स्थायी मूल्य की चीज़ के लिए है। आख़िरी नोट का ख़्याल रखना। उतावलेपन में रद्दी चीज़ें न निकालना। गति चाहे जितनी तीव्र रख सकते हो।

"तुम्हारे मार्क्सवाद को पढ़कर मैं बहुत निराश हुआ था। बिना समुचित अध्ययन के वह लिखा गया था। देशद्रोही देखकर चित्त प्रफुल्लित हो गया। बहुत ऊँचे तल पर पहुँच गये हो। इसलिए अगली कहानियाँ उससे नीचे नहीं आनी चाहिए। प्रकाश को बधाई, उसकी किरणें देशद्रोही में जगह-ब-जगह दीख पड़ती हैं।

"अब थोड़ा उन नोटों को भी पढ़ो जिन्हें विपक्ष में लिखा गया है। (पृ० १२९—पै० २) तर्क और हृदय की जगह बुद्धि और हृदय अच्छा होता। (पृ० १३२—पै० ४) ओ० जी० पा० यू० के अफ़सर की नीली वर्दी मैंने कहीं नहीं देखी। (पृ० १३८—पै० २) दक्षिण रूस नहीं मध्य एशिया। (पृ० १३८—पै० १) कोलखोज़ है कलेक्टिव फ़ार्म या पञ्चायती खेती, सोव-खोज़ है स्टेट फ़ार्म या सरकारी खेती। (पृ० १३९—पै० २) निरंकुश नहीं स्वतन्त्र। (पृ० १८५—पै० २) मज़दूरों के काम और सङ्गठन से अपरिचित खन्ना को एकदम मज़दूरों को सङ्गठित कर

राजनीतिक सङ्घर्ष में लाने का काम सौंपा गया। (पृ० १९५—पै० ३) पार्टी के मज़दूर-संगठनों की क्लासों का विद्यार्थी बनना चाहिए। (पृ० २४४—पै० ४) प्रेयसी के बिना जीवन निःशक्त (? निस्सार) और आदमी कुछ भी नहीं।

"अन्त में कहूँगा, वर्ग की पाठशाला में, वर्ग-पार्टी के चरणों में सीखने का यत्न करो—मेम्बर नहीं Sympathiser के तौर पर। बम्बई, कलकत्ता, कानपुर के मज़दूरों में कुछ सप्ताहों का निवास भी आगे के लिए भारी प्रेरणा देगा। साकार (Concrete) से हमें Inspiration लेना है। निराकार (Abstract) से नहीं।"

राहुलजी ने यह सब एक पोस्टकार्ड में ही अङ्कित किया था; सम्भव है, कहीं कुछ अशुद्ध पढ़ लिया हो। उसके लिए क्षमा चाहूँगा।

पहली बात ध्यान देने की यह है कि उन्होंने सोवियत जीवन के चित्रण को वास्तविक कहा है; इसलिए लेखक की चतुरता की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी चाहिए। उन्होंने नीली वर्दी का उल्लेख किया है लेकिन यशपालजी के अनुसार रोसीटा फोर्म्स ने अपनी एक पुस्तक में नीली वर्दी का ही ज़िक्र किया है। उसने भी और किसी पुस्तक में पढ़ा हो, तो वह जाने। मज़दूरों के जीवन के निकट आने से लेखक को नई प्रेरणा मिलेगी, इस बात को रेखाङ्कित कर देने की ज़रूरत है।

परन्तु सविनय यह भी निवेदन करना आवश्यक है कि राहुलजी प्रेम और सौन्दर्य के रङ्गीन वर्णन से ख़ुद भी थोड़ा बह गये हैं और उपन्यास में खन्ना के प्रेम का उचित अनुपात नहीं लगा सके। हम यह नहीं भूल सकते कि प्रेम और सौन्दर्य के मधुर-मधुर वर्णन के नीचे मध्य वर्ग के युवक का निकम्मापन छिपा है जो देवदास की तरह विद्रोह करने में असमर्थ है परन्तु तबियतदार ऐसा है कि जहाँ जाता है वहीं नर्गिस, गुलशाँ या चन्दा उससे प्रेम करने को ज़रूर मिल जाती हैं।

यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि शरत् की छाया हिन्दी साहित्य पर अब भी गहरी है। यशपाल-जैसे लेखक पर भी उसका प्रभाव स्पष्ट है। मुझे "देशद्रोही" को श्रीकान्त के साथ या उससे ऊँचा रखने में कोई सङ्कोच नहीं है, लेकिन आज के लेखक के लिए यह प्रशंसा की बात नहीं हो सकती। यशपालजी के पास व्यंग्य और हास्य के पैने अस्त्र हैं जो शरत् बाबू के पास नहीं थे। तर्क और बुद्धि की दृष्टि से वह समाजवादी हैं। फिर भी कथा-साहित्य में वह घरेलू जीवन की परिधि के बाहर नहीं निकल पा रहे। एक पत्नी, एक पति और एक मित्र—यह सनातन त्रिकोण उनकी रचनाओं में बार-बार उभरकर आता है। आज के सामाजिक जीवन में भी यह त्रिकोण है लेकिन वह त्रिकोण ही नहीं, और भी बहुत-सी बातें हैं। ऐसा भी नहीं है कि इस त्रिकोण ने सामाजिक जीवन को ऐसा बाँध लिया हो कि आगे के लिए प्रगति असम्भव हो। राजनीतिक या विचारक नेता के गृहस्थ जीवन या उसकी व्यक्तिगत समस्याओं को हम भूल नहीं सकते परन्तु एक राजनीतिक उपन्यास में उन्हें तूल देकर हम सन्तुष्ट भी नहीं हो सकते। निकम्मे नवयुवकों का चित्रण न किया जाय, सो बात भी नहीं; उनका चित्रण किया जाय लेकिन तटस्थता से, व्यंग्य अस्त्र साधकर। देशद्रोही पढ़कर साधारण पाठकों को यह भ्रम हो सकता है कि कम्यूनिस्ट किसी न किसी की गोद में सिर रखकर सो रहने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं। जिस कष्ट-सहिष्णुता, अथक परिश्रम और उत्कट लगन से एक कम्यूनिस्ट का निर्माण होता है या होना चाहिए उसका आभास पाठक को इस उपन्यास से नहीं मिलता। यह उसकी एक बहुत बड़ी कमज़ोरी है।

राह चलते

[अमृतराय]

म०—अरे भाई कमलाकर ! किधर को !

क०—ओः तुम महेश ! कब आये !

म०—आज सबेरे ही तो। किधर चले, बिलकुल छैला बने हुए हो ''नहीं-नहीं, मेरा मतलब नई रोशनी के, अँगरेज़ी ज़ात के।

क०—यार तुम तो हमेशा मेरे पीछे पड़े रहते हो।

म०—बुरा मान गये।

क०—तुम्हारी बात को बुरा मानूँगा। घास तो नहीं खा गये हो! लेकिन महेश, जीना अब सचमुच दूभर हो रहा है।

म०—क्यों, रङ्ग कुछ अच्छे नहीं हैं क्या!

क०—हुँः।

म०—यह क्या?

क०—आज-कल रङ्ग की पूछते हो? सब बदरङ्ग है। एकदम वॉश आउट।

म०—ऐसी भी क्या बात है?

क०—यार, जले पर नमक मत छिड़को। जब से तुम और मोहन गये, मेरे लेखे तो यूनिवर्सिटी अस्तबल हो गई—खच्चरों की।

म०—नहीं, यह न कहो कमलाकर। कुछ नये संगी-साथी—

क०—नये संगी-साथी, वाह-वाह नये संगी-साथी। क्या अजीब भोलापन है आपका! मैं तो क़ुरबान गया।

म०—क्यों भाई! मैं भी तो आख़िर सुनूँ।

क०—सुनेंगे आप सब कुछ। लेकिन अपना बनना छोड़िये, नहीं तो मैं आपका सर तोड़ दूँगा।

म०—इतना ग़ुस्सा!

क०—ग़ुस्सा न करूँ तो क्या पूजूँ आपको? मुझसे खच्चरों से दोस्ती नहीं होती।

म०—ओह'''तो यह बात है। बहुत बुरी तरह जले बैठे हो?

क०—क्या बताऊँ महेश, मेरी तो समझ ही में कुछ नहीं आता। लड़कों में नाम को स्पिरिट नहीं है ''जैसे किसी ने दियासलाई छुआ दी हो और एक-एक बूँद उड़ गई हो।

म०—मुझे तो तुम्हारी बात पर हँसी भी आती है और यक़ीन भी नहीं होता। लॉ के लड़के तो शैतानी के बादशाह हुआ करते थे।

क०—जब होते थे होते थे, अब नहीं। अब तो सब ग़ुलाम हो रहे हैं और सो भी चिड़ी के। और क्या कहूँ एक प्रॉक्सी की ही बात ले लो। चलन ही उठ गया उसका तो, और ऐसे जैसे कभी था ही नहीं। सब के सब बैठे रहते हैं गावदुम की तरह—मन चाहे एक-एक अदद गिन लीजिए।

म०—तब तो भाई, मैं तुम्हारा हमदर्द हूँ। हाल सचमुच बहुत पतला है।

क०—ऐसी कोफ़्त होती है कि न पूछो। मोहन साहब सेक्रेटेरियट में हो गये, तुम घर बैठकर मौज उड़ाते हो। एक अख़बार निकलता है, जो जी में आया अनाप-शनाप लिख दिया। मौत तो मेरी है।

म०—दुनिया तो मौज कर ही रही है लेकिन आप ही कौन पहाड़ ढकेल रहे हैं?

क०—तुम यक़ीन न करोगे, लेकिन पहाड़ ही हो रही है अब यूनिवर्सिटी की ज़िन्दगी, काटे नहीं कटती। बैठो लॉ क्लास में, लगता है एन्ट्रेन्स में हो—एक-एक लौंडा बैठा, कापी में आँख गड़ाये नोट लिये जा रहा है, लिये जा रहा है—नोट न हुआ शैतान की आँत हो गई, ख़त्म ही नहीं होने आता। घुच्चू की तरह बैठे पढ़ रहे हैं, बेहया।

म०—घोष के क्लास में भी!

क०—घोष! घोष तो फिर भी घोष है। कोढ़मग्ज़ ही सही लेकिन आदमी तो है। यहाँ तो अब यह हाल है कि उसकी जगह किसी गधे को भी ला बिठाओ तो लोग उसके भी नोट लेंगे—जी, अब तो ऐसे ही लोगों का बोलबाला है। किसी शायर ने कहा है, क्या पूछते हो यार ज़माना बदल गया।

म०—यानी लोग घोष की बकवास सुनते और उसका नोट लेते हैं!

क०—जी हाँ, लोग नोट लेते हैं, घोष के नोट लेते हैं और सिर्फ़ लेते ही नहीं उसे घोखते भी हैं।

म०—तब तो सचमुच बड़ा अन्धेर है। हम तो दूसरे ही ढंग से नोट लेते थे।

क०—उसकी याद मत दिलाओ यार, कलेजे में शहतीर न भोंको··ऐसा पैर घिसते थे कि बंगाली बाबू को भागते ही बनता था—

म०—हम लोगों के क्लास में आते उसकी बोटी-बोटी काँपती थी।

क०—क्या करता बेचारा, रोज़ी का सवाल बड़ा टेढ़ा है नहीं पगहा तुड़ाकर भाग खड़ा होता।···अब तो सपने हो गये वे दिन—न मोती के पान हैं, न रेस्तोराँ की पूरे-पूरे दिन की वह बैठकें, न वह गपाष्टक, न वह दिल्लगी—हवा हो गया सब।

म०—लेकिन अपने पुराने साथियों का क्या हुआ? रैना, कपूर, सेट, बोस, मदन, असग़र, वर्मा कितने ही तो थे। सबों ने तो लॉ लिया था!

क०—लिया तो था लेकिन रह कहाँ पाये? रैना, मदन, असग़र वग़ैरह को तो जैसे कमीशन मिल गया।

म०—और···

क०—और रहे बोस, मुकर्जी, वर्मा—वह तो आन्दोलन शुरू होते ही पकड़ गये। पहले ही से निगाह थी पुलिसवालों की। लेकिन भाई फिर काम भी सबों ने ख़ूब किया, दिल खोलकर। जान पर खेल गये। इलाहाबाद में तो सब कुछ उन्हीं का किया है—सब कुछ। बड़े दिलेर थे सब—क्या कपूर, क्या बोस, क्या मुकर्जी, क्या वर्मा, एक से एक बढ़कर। आज़ादी की लड़ाई में भी वैसे ही चमके जैसे शरारतों में।

म०—सचमुच बड़े प्यारे आदमी हैं सभी। सच्चे हीरे। तो सब आन्दोलन में आ गये?

क०—हाँ, एक सिरे से। बड़े जोशीले थे न! अंग-अंग फड़कता था। फिर जब आज़ादी की लड़ाई का बिगुल बजा तो भला वह पीछे रह सकते थे! दूसरी ही मिट्टी के बने थे हमारे ये शेर।

म०—झूठ नहीं कमलाकर, तुम तो बड़ी ज़ोरदार स्पीच देने लग गये हो। तुम्हारी बातें सुनकर तो मुझ-जैसे तोड़-फोड़ के विरोधी को भी लगने लगा कि ज़रूर वही हमारी आज़ादी की लड़ाई थी।

क०—सो तो थी ही।

म०—माफ़ करो मैं तो नहीं समझता ऐसा।

क०—क्यों ? जब देश के प्यारे नेताओं को क़ैद कर लिया गया तो देश की पुकार क्या यह न थी कि उन्हें छुड़ाया जाय और उनके क़ैद करनेवालों को निकाल बाहर किया जाय ?

म०—अपने नेताओं को अपने बीच ले आना तो देश की पुकार थी। लेकिन क्या को छुड़ाने का यह रास्ता है ? तुम्हीं सोचो, क्या हमने उनकी ज़ंजीरें और कस नहीं दी हैं ? देश की पुकार को साफ़-साफ़ सुनने के लिए अच्छे सैनिक का ठण्ढा दिमाग़ चाहिए नहीं कुछ का कुछ सुनाई पड़ने लग जाता है, कमलाकर। देश की पुकार थी कि हिन्दू-मुसलमान एक हों और अपनी सम्मिलित ताक़त से जेल के फाटक खोल दें। देश की पुकार यह न थी कि ग़ुस्से में आकर अपना गला काट लो—

क०—अच्छा अच्छा बहुत लेक्चर झाड़ चुके। तो तुम्हारी समझ में यह आन्दोलन अपना गला काटना था ?

म०—तुम्हीं सोच देखो न ?

क०—मैं तो ऐसा नहीं समझता। लड़ाई तो आख़िर एक जुआ है। हार-जीत तो उसके साथ लगी ही रहती है। कोई बग़ावत नाकाम रही, इससे वह ग़लत नहीं हो जाती। 'गिरते हैं शहसवार ही मैदाने जंग में; वह तिफ़्ल क्या गिरेगा जो घुटनों के बल चले।' वही मसल है। लड़ाई तो आख़िर लड़ाई है, फूलों की सेज तो है नहीं। उसमें हार के दिन भी होते हैं और जीत के भी।

म०—अभी तो हार ही हार दीख पड़ रही है। जीत के दिन तो जब आयेंगे तब आयेंगे। लेकिन तब तक जीत मनाने को बैठा कौन रहेगा—लोग तो कीड़ों की मौत मर रहे हैं—

क०—मरेंगे नहीं ! सारा अनाज तो सरकार ने हड़प लिया और सुभाष बाबू बर्मा से चावल भेजने कहते हैं तो आने नहीं देते। ये जब मारने ही पर लगे हैं तो मरेंगे नहीं ? क्यों ढीले पड़ गये ? क्यों नहीं निकाल बाहर किया इन जल्लादों को ? अब रोयें नानी के नाम !

म०—ओ हो हो हो। हो यार तुम भी बड़े मसख़रे। अब समझा मैं कि तुम लोगों को इस बात की सज़ा दे रहे हो कि उन्होंने इतना काफ़ी तोड़-फोड़ क्यों नहीं किया कि जापानी तुम्हें आज़ाद करने के लिए अपना फ़ौज-फाटा लेकर आ धमकते। बड़े जल्लाद मुदर्रिस हो यार।

क०—दिल्लगी नहीं, मुझे तो बाहरी मदद बग़ैर आज़ादी मिलती नहीं दीखती। न टैंक न हवाई जहाज़, न बम, न बन्दूक़—और तो और पाजियों ने बाबूजी की दुनाली भी छीन ली नहीं तो कभी-कभी चिड़ियाँ मारने में आता था। एक छूरी तक तो आप रख नहीं सकते—चाहे फिर वह ऐसी तेज़ ही क्यों न हो कि नाक काटे न कटे—आज़ाद क्या होंगे पत्थर !

म०—तो भाई, कांग्रेस फिर यह क्यों कहती रही कि आज़ादी हमें अपने बाहुबल से ही मिलेगी, हमें किसी बाहरी की मदद न चाहिए ?

क०—कांग्रेस की बात तुमने एक ही चलाई। कांग्रेस जब कहती होगी, कहती होगी। अब कांग्रेस है कहाँ—

म०—एक-एक भारतवासी के दिल में—

क०—बस, अब वहीं है वह। कांग्रेस! हुँ:। देख तो ली उसकी कारगुज़ारी।

म०—क्यों फ़िज़ूल बदनाम करते हो! कांग्रेस ने भला कब तोड़-फोड़ का एलान किया?

क०—एलान न करने से क्या होता है?

म०—तो एमरी साहब ठीक कहते हैं कि इस सारे ख़ून-खचरों के लिए कांग्रेस ही ज़िम्मेदार है?

क०—झूठ थोड़े ही न कहते हैं।

म०—यह बताओ तुमने वह दो आनेवाली किताब तो नहीं पढ़ी है?

क०—'तोड़-फोड़ के लिए कांग्रेस का उत्तरदायित्व'! पढ़ी क्यों नहीं? बाबूजी के पास आई थी। क्यों?

म०—उसी की ज़बान बोल रहे थे अभी तुम।

क०—तुम भी क्या ख़ूब मज़ाक़ करते हो महेश।

म०—मज़ाक़ तो यह है ही, बहुत बड़ा मज़ाक़, बहुत ही बड़ा मज़ाक़ कि हम अपने जान से प्यारे नेताओं के सिर वे ही जुर्म थोपें जो हमारे दुश्मन उन पर थोप रहे हैं। यह कोई छोटा-मोटा मज़ाक़ नहीं है कमलाकर।

[ख़ामोशी]

म०—अच्छा तो सभी जेल में पड़े सड़ रहे हैं एक सिरे से या कोई बाहर भी है?

क०—हैं एकाध मटियाफूस। जैसे प्रियनाथ।

म०—अच्छा तो प्रियनाथ बाहर है! मैं तो समझता था वह भी अपनी पूरी मण्डली के साथ किसी जेल में उत्पात मचा रहा होगा।

क०—उत्पात और प्रियनाथ?

म०—क्यों वह तो सबसे उत्पाती था! याद नहीं कैसी साँसत में जान डाल दी थी मिसेज़ खन्ना की। चली जा रही थीं अपने मियाँ के साथ। जा ही तो खड़ा हुआ सामने और फिर तो जानते ही हो क्या हुआ। मियाँ-बीवी दोनों शर्म से पानी-पानी हो गये। वह तो बेहद उत्पाती है!

क०—अब नहीं। देखकर शायद पहचान भी न सको। पुराने प्रियनाथ की कोई सिफ़त अब उसमें नहीं।

म०—क्यों? ऐसा असर हुआ है जेल का?

क०—और क्या, यही समझो। थके तैराक की तरह हाथ डाल दिये हैं उसने। किसी से मिलता-जुलता तक नहीं। घर से बाहर भी बहुत कम आता है।

म०—तुम्हारे पास भी नहीं?

क०—उसे गाली देने से फ़ुर्सत भी हो।

म०—गाली! गाली कैसी?

क०—दुनिया में शायद ही कोई हो जिसे प्रियनाथ गाली न देता हो।

म०—मतलब!

क०—यही कि दुनिया भर से वह खीझा हुआ है। अजीब है ग़ुस्सा उसका और अजीब है उसकी खीझ। अपने को गाली देता है कि तोड़-फोड़ में हिस्सा क्यों लिया, औरों को गाली देता है कि उन्होंने तोड़-फोड़ में हिस्सा क्यों नहीं लिया; अँगरेज़ों को गाली देता है कि जापान से

लड़ने के लिए उन्होंने हमारी राष्ट्रीय सरकार क्यों नहीं बनाई, जापानियों को गाली देता है कि मदद पहुँचाने के लिए वे वक़्त पर आये क्यों नहीं, झूठे वादे उन्होंने क्यों किये, चार टो नारङ्गी बराबर बराबर बम गिराकर क्यों रुक गये साले; अमरीकनों को गाली देता है कि वे भी अँगरेज़ों की ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, वैसे ही ठग; रूसियों को गाली देता है कि उनमें अब राष्ट्रीय संकीर्णता आ गई है, स्तालिन को दुनिया की आज़ादी की फ़िक्र नहीं है; हिन्दुओं को गाली देता है कि वह मुसलमानों को उनका हक़ क्यों नहीं देते, अपने भाई की तरह उन्हें क्यों नहीं अपनाते, मुसलमानों को गाली देता है कि वह अपनी पाकिस्तान की डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग क्यों पका रहे हैं। ग़रज़ सारे जहान को गाली देता है। दुनिया भर से लड़ाई टाने हुए है। भगवान ही मालिक है उसका।

म०— नहीं कमलाकर, भगवान् ही मालिक है उस देश का जिसके सबसे दिलेर और सच्चे नौजवानों ने, जैसा तुम कहते हो, थके तैराक की तरह हाथ डाल दिये हों। और सो भी आज जब अँधेरे और मौत की ऊँची-ऊँची लहरें गरजती हुई हमारे ऊपर चढ़ी आ रही हैं, जब हत्या और बलात्कार का दानव खोह की तरह अपना मुँह फाड़े···सचमुच भगवान् ही मालिक है उस अभागे देश का। उसी दानव पर हमें-तुम्हें आज वार करना है कमलाकर।

क०—बख़्शो। जैक दि जायंट-किलर बनने का शौक़ मुझे नहीं चर्राया है···और यह लो बात करते-करते हम पैलेस पहुँच भी गये। आओ, तुम भी देखो न। अरेबियन नाइट्स यानी अलिफ़लैला अँगरेज़ी में। ख़ूब स्पेक्टैकल है, रैविशिंग।

म०—न भाई, माफ़ करो, काम है।

क०—तुम लोगों को तो बस काम-काम ही लगा रहता है। यहाँ और कुछ नहीं तो वार करने के लिए दानव तो तुम्हें मिलेंगे ही— छोटे-मोटे, लम्बे-नाटे, गोरे-काले-मटीले ग़रज़ हर रङ्ग और हर तर्ज़ के—

म०—आओ काम बाँट न लें, कमलाकर? मैं तुम्हें अलिफ़लैला के पन्नों से झाँकते राक्षसों का सफ़ाया करने के लिए कमांडर मुक़र्रर करता हूँ—

क०—और हे जैक दि जायंट-किलर, मैं तुम्हें···लेकिन ख़ैर जाने दो। आज तो अलिफ़-लैलावालों को पहचान ही लूँ। एक बार पहचान हो जाने से अच्छा रहेगा।

म०—ज़रूर, ज़रूर! क्यों नहीं! सचमुच के राक्षसों से मुलाक़ात होते ही तुम उन्हें तुरन्त पहचान लोगे। बहुत बड़ा फ़ायदा है यह तो लेकिन एक बात का ख़याल रखना। सचमुच के इन राक्षसों के न तो कान सूप के बराबर बराबर होंगे और न इनके माथे पर सींग ही जमे होंगे, बिलकुल अच्छे-भले आदमी होंगे ये। इस बात का ख़याल ज़रूर रखना, नहीं मुलाक़ात होने पर भी न पहचान सकोगे—अच्छा, नमस्ते।

क०—नमस्ते भाई, अब तो शायद तुमसे मुलाक़ात न होगी—पर एक काम तुम ज़रूर करो कि मुझे 'लोकयुद्ध' पढ़ने को मिल जाया करे और आने पर मिलना ज़रूर मुझसे। तुमसे बातें करने में बड़ा मज़ा आता है।

रूसी लोग

(लोकप्रिय नाटक का एक अंश)

[कोंस्तांतिन सिमोनोफ़
अनुवादक : अमृतराय]

[हारितनोफ़ का घर। एक पुराना, मज़बूत बना हुआ मकान जो एक देहाती डाक्टर का मकान है। एक बहुत बड़ा-सा खाने का कमरा जिससे गोल कमरे का काम लिया जाता है। कुछ दरवाज़े। दो खाने की आलमारियाँ।]

रोज़ेनबर्ग—(एक सफ़री, ज़िपदार बैग खोलते हुए और अपने सामने बहुत-सी यादगार की चीज़ें फैलाते हुए : फ़ोटो और काग़ज़ात) वर्नर, तुम्हारा रूसी सीखना जारी है ?

वर्नर—हाँ।

रोज़ेनबर्ग—यह तुम बहुत अच्छा कर रहे हो। अभी हमें यहाँ बहुत दिन रहना है।

वर्नर—तुम्हारा ख़याल है लड़ाई···!

रोज़ेनबर्ग—नहीं, लड़ाई नहीं—लड़ाई ज़्यादा दिन न चलेगी। मैं लड़ाई के बाद की बात सोच रहा हूँ। विजेता अपने ग़ुलामों से कितनी ही नफ़रत क्यों न करे, उसे उनकी ज़बान सीखनी ही पड़ती है, चाहे फिर वह कुत्ते की तरह भूँकना ही क्यों न हो। अजनबी देश में, वर्नर, किसी पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता।

वर्नर—लेकिन तुम हारितनोफ़ पर तो विश्वास करते हो न ?

रोज़ेनबर्ग—हाँ, क्योंकि वह सूअर है। अगर रूसी आये तो उसे फाँसी दे देंगे यानी गोली मार देंगे क्योंकि वे किसी को फाँसी नहीं देते। लेकिन उसकी बीवी—मैं उस पर विश्वास नहीं करता। अगर वे आये तो शायद उसे गोली न मारेंगे, मैं समझता हूँ। (फोटो को सिलसिलेवार ठीक करता रहता है) क्राउस ने मुझे आज यह दूसरा सूटकेस दिया जिसमें इसी क़िस्म की चीज़ें भरी हैं। मेरी तरफ़ इस तरह न देखो, मुझे इसके साथ खेलने में मज़ा आता है।

वर्नर—बस भंगी ही रहे तुम।

रोज़ेनबर्ग—धत्। इन काग़ज़ात और फोटो के ज़रिये मैं मनोविज्ञान का अध्ययन करता हूँ और कभी-कभी मुझे अजीब-अजीब बातें मिलती हैं। जैसे यह देखो जूनियर लेफ्टिनेण्ट एन० एस० हारितनोफ़ का शिनाख़्त का कार्ड। एन० एस०, समझे ? एक गोली काग़ज़ को छेदती निकल गई है। यक़ीनन इसका मालिक मारा गया है। लेकिन मेरी दिलचस्पी इस बात में नहीं है। मेरी दिलचस्पी है नाम के शुरूवाले दो दो अक्षरों, एन० एस० में। अच्छा हमारे मकान मालिक का नाम है एस० ए०, क्यों ? इस चीज़ को मान लेना ज़रूर बहुत मुश्किल है लेकिन आओ थोड़ी देर को यह मान ही लें कि यह उसका लड़का है। उसका एक लड़का फ़ौज में है यह मैं ख़ूब जानता हूँ। इससे हम क्या नतीजा निकाल सकते हैं ? मैं समझता हूँ, बहुत कुछ। पहली बात तो यह, चाहे फिर बाद में यही क्यों न मालूम हो कि यह एक संयोग था, कि हम एक दिलचस्प मनोवैज्ञानिक प्रयोग कर सकते हैं। पहचानना, न पहचानना, भूल, माँ का दर्द वग़ैरह। लोगों के बर्ताव को समझने की मेरी विधि में इसका शुमार है। हाँ, तो मैं क्या कह रहा था ?

वर्नर—तुमने हारितनोफ़ की बीवी का नाम लिया था—

हारितनोफ़—(दरवाज़ा खोलते हुए) आपने मुझे याद किया है ?

रोज़ेनबर्ग—नहीं, लेकिन चूँकि तुम अन्दर आ ही गये हो डाक्टर, तो हमें यह बताते ही जाओ कि तुम्हारी बीबी का वतन कहाँ है !

हारितनोफ़—वोलोग्दा ।

रोज़ेनबर्ग—यह बात, वर्नर ! वह वोलोग्दा की है और हमने अभी उसे नहीं लिया है। (हारितनोफ़ से) उसके रिश्तेदार भी हैं !

हारितनोफ़—(घबराहट में) हाँ, क्यों नहीं, कुछ ।

रोज़ेनबर्ग—कुछ क्या ?

हारितनोफ़—बहनें ।

रोज़ेनबर्ग—बहनें—और तुम उसे कहते हो कुछ ! इन बहनों के पति हैं, हैं न ! और शायद वे असली रूसी हैं, तुम्हारी तरह नहीं । क्यों ?

हारितनोफ़—हुज़ूर कप्तान, मैं आपकी बात नहीं समझा ।

रोज़ेनबर्ग—तुम मेरी बात ख़ूब समझते हो । अपनी बीवी से कहो कि समोवार में चाय ले आये । (हारितनोफ़ चला जाता है) तुमने देखा, वर्नर, तो उसकी बहनों के ख़ाविन्द हैं। उनमें से एक शायद इञ्जीनियर है, दूसरा मेजर—लेकिन मैं इसके बारे में कुछ नहीं जानता। लेकिन यह मेजर कल यहाँ आवेगा । और वह—उसकी बीवी की बहन—हमें मारने का मौक़ा उसे देगी न कि उसे मारने का हमें । काफ़ी आसान बात है यह तो । (चाय का सामान लेकर मारिया निकोलायवेना अन्दर आती है) बताओ, मारिया निकोलायवेना, तुम्हारी बहनों के शौहर हैं !

मारिया निकोलायवेना—जी हुज़ूर, कप्तान ।

रोज़ेनबर्ग—वे रूसी हैं ?

मारिया निकोलायवेना—जी, आपको दूध चाहिए !

रोज़ेनबर्ग—नहीं, तुम्हें उनसे ईर्ष्या नहीं होती कि उनके ख़ाविन्द सच्चे रूसी हैं और तुम्हारा ख़ाविन्द एक अजीब क़िस्म की मिलावटवाली जाति का है जिसका पता-ठिकाना ही नहीं लगता ?

मारिया निकोलायवेना—मेरा ख़ाविन्द भी रूसी है ।

रोज़ेनबर्ग—वह बात नहीं । तुम अच्छी तरह जानती हो मेरा इशारा किस तरफ़ है ।

मारिया निकोलायवेना—आपके लिए समोवार ले आऊँ !

रोज़ेनबर्ग (उठते हुए)—हाँ, हम लोग अभी एक मिनट में आ जायेंगे। (मारिया निकोलायवेना बाहर चली जाती है) (वर्नर से) तुम्हारा क्या ख़याल है, अब इस चीज़ के बाद भी क्या मैं उस पर विश्वास कर सकता हूँ ? (वे अपने कमरे को चले जाते हैं । मारिया निकोलायवेना और उसके पीछे-पीछे हारितनोफ़ दाख़िल होता है । बाहर गोली की आवाज़ । मारिया निकोलायवेना अपने हाथ से हवा में सलीब का निशान बनाती है ।)

हारितनोफ़—इस तरह अपने ऊपर सलीब का निशान क्यों बना रही हो !

मारिया निकोलायवेना—उनकी ख़ातिर ।

हारितनोफ़—इसका क्या मतलब—उनकी ख़ातिर ?

मारिया निकोलायवेना—अपने देश के लोगों की ख़ातिर ।

हारितनोफ़—अपनी ज़बान पर लगाम देना तुम्हें कब आयेगा !

मारिया निकोलायवेना—तीस साल से सीख रही हूँ।

हारितनोफ़—फिर वही!

मारिया निकोलायवेना—हाँ।

हारितनोफ़ (नरमी से)—प्यारी मारिया, इधर आओ। तुम सैफ़नोवा के पास गई थीं?

मारिया निकोलायवेना—हाँ।

हारितनोफ़—उसे बताने के लिए मैंने तुमसे जो बातें कही थीं, तुमने सब कह दीं!

मारिया निकोलायवेना—हाँ, (ख़ामोशी) अब मुझसे यह न होगा!

हारितनोफ़—अच्छा, तो अब तुमसे यह न होगा, क्यों? और अगर मैं मारा जाऊँ, तो तुमसे होगा या नहीं?

मारिया निकोलायवेना—लेकिन तुम्हें इससे क्या!

हारितनोफ़—यही—कल तुम उसके पास फिर जाओ और उससे कहो—यों ही बात-बात में कह देना—कि मुझे तकलीफ़ है। तकलीफ़ है। समझीं? हाँ, तकलीफ़ है'''उससे कहो कि मैं जर्मनों से तङ्ग आ गया हूँ, मैं उन्हें नहीं पसन्द करता; उससे कहो कि मैं उनसे पीछा छुड़ाना चाहता हूँ और मुझे कोई ख़ुशी न हुई जब उन्होंने मुझे शहर का मेयर बनाया। समझी?

मारिया निकोलायवेना—हाँ, लेकिन इस सब की ज़रूरत?

हारितनोफ़—क्योंकि यह सत्य है। क्योंकि मैं डर से काँपने के बजाय पूरे महीने कोठरी में बन्द रहना पसन्द करता। हाँ, मैं अपनी रग-रग से इस बात को जानता हूँ कि उस बुड्ढी औरत के यहाँ वे लोग आते हैं, तुम जानती हो, छापेमार मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ। वह जर्मनों को यह न बतायेगी कि मैं उनको नहीं पसन्द करता लेकिन छापेमारों को ज़रूर बतला देगी। खेरसन में मेयर मार डाला गया, मैं नहीं चाहता कि इस शहर का मेयर मारा जाय।

मारिया निकोलायवेना—हे भगवान्, यह सब बर्दाश्त करने से कितना अच्छा हो कि सब कुछ छोड़-छाड़कर भाग चला जाये—किसी गाँव में छिप जाया जाये, जैसा कि मैंने पहले भी कहा था।

हारितनोफ़ (ग़ुस्से से फुफकारते हुए)—कहाँ छिप सकते हैं हम? और हमारी चीज़ों का क्या होगा! मेरी चीज़ें तो मेरे बग़ैर भी चीज़ें ही रहेंगी, लेकिन अपनी चीज़ों के बग़ैर मैं तो राख की ढेर हो जाऊँगा। हाँ, हाँ, राख—धूल। समझी, बेवक़ूफ़? (किसी ने डेवढ़ी पर दस्तक दी) जाओ दरवाज़ा खोलो।

(मारिया निकोलायवेना चली जाती है और तुरन्त ही वापस आती है, उसके पीछे-पीछे मार्था पेत्रोवना सैफ़नोवा है, परीशान, बाल बिखरे हुए, स्कार्फ़ एक तरफ़ को।)

मार्था पेत्रोवना—सूअर के बच्चे!

हारितनोफ़—श् श् श्।

मार्था पेत्रोवना—उसको मार डाला, उसको मार डाला! मेरी आँखों के सामने!

हारितनोफ़—कौन मार डाला गया!

मार्था पेत्रोवना—तान्या, तान्या, मेरी पड़ोसिन। मैंने अपने आपसे कहा—भाड़ में जाय वह, लेकिन तुम तो आख़िर डाक्टर हो और उसे बच्चा होनेवाला था। इसी लिए मैं उसे यहाँ ले आई। अच्छे आदमी के पास लाई! अब वह तुम्हारी खिड़की के नीचे मरी पड़ी है।

हारितनोफ़—श् श्, मुझे इससे क्या!

मार्था पेत्रोवना—सब कुछ। तुम्हीं ने तो इस हुक्मनामे पर दस्तख़त किये थे कि पाँच बजे के बाद किसी को सड़क पर निकलने की मुमानियत है; सज़ा, गोली मार दी जायगी।

हारितनोफ़—मैं नहीं—शहर के कमाण्डैण्ट ने सब कुछ किया था।

मार्था पेत्रोवना—तुम थे! तुम! तुम पर ख़ुदा का क़हर गिरे! (उसकी तेज़ चिल्लाहट सुनकर रोज़ेनबर्ग बग़ल के कमरे से निकल कर दरवाज़े में खड़ा हो जाता है।)

रोज़ेनबर्ग—कौन चिल्ला रहा है यहाँ?

मार्था पेत्रोवना—मैं चिल्ला रही हूँ। उस औरत को सड़क पर क्यों मार डाला गया?

रोज़ेनबर्ग—यह औरत कौन है?

हारितनोफ़—यह···उँह, योंही एक औरत···मुझसे मिलने आई थी। उसकी पड़ोसिन को बच्चा होनेवाला था ··और सन्तरियों ने उसे गोली मार दी।

रोज़ेनबर्ग—ठीक तो किया। पाँच बजे के बाद किसी को सड़क पर दीख पड़ने की सख़्त मुमानियत है। क्यों, ठीक नहीं कह रहा हूँ?

हारितनोफ़—जी हाँ, ठीक, बिलकुल ठीक।

रोज़ेनबर्ग—पाँच बजे के बाद अगर किसी पर—मर्द या औरत, इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता—गोली चलाई जाती है, तो बिलकुल ठीक बात है। और तुम पाँच बजे के बाद निकलने के लिए गिरफ़्तार की जाओगी और तुम पर मुक़दमा चलेगा।

मार्था पेत्रोवना—ठीक है, चलाओ मुझ पर मुक़दमा। मार डालो मुझे जैसे तुमने उसको मार डाला···(उसकी ओर पैर बढ़ाती है) काश कि तुम्हारी गर्दन मेरे हाथ में आ जाती···

रोज़ेनबर्ग—(दूसरे कमरे के दरवाज़े की तरफ़ घूमता है) वर्नर! सन्तरी को बुलओ! (शान्तिपूर्वक) लगता है अब तो तुम्हें फाँसी पर चढ़ाना पड़ेगा।

मार्था पेत्रोवना—अच्छा-अच्छा, मुझे चढ़ा दो फाँसी पर और ख़ुद जहन्नुम का रास्ता लो।

रोज़ेनबर्ग (हारितनोफ़ से)—इस औरत का नाम क्या है?

हारितनोफ़—सैफ़नोवा।

रोज़ेनबर्ग—फ़ौज में उसका शायद है कोई, है न? ख़ाविन्द? बेटे?

हारितनोफ़—अ··अ···नहीं, शायद कोई नहीं है। या मुमकिन है, हो। मैं नहीं जानता।

मार्था पेत्रोवना—हाँ, है। मेरा ख़ाविन्द और मेरे बेटे। सब फ़ौज में हैं।

रोज़ेनबर्ग—श्रीमतीजी, हमें तुमको फाँसी पर चढ़ाना ही पड़ेगा।

मारिया निकोलायवेना (एकाएक मार्था पेत्रोवना से लिपट जाती है, उसे गले लगाती है और उसके कन्धे से कन्धा भिड़ाकर खड़ी हो जाती है।)—और मेरा भी एक बेटा फ़ौज में है! मुझे भी तो फाँसी दो! मैं तुमसे नफ़रत करती हूँ! नफ़रत करती हूँ! नफ़रत करती हूँ!

हारितनोफ़—प्यारी मारिया, तुम···

मारिया निकोलायवेना—और मैं तुमसे भी नफ़रत करती हूँ! तुम सबसे नफ़रत करती हूँ, सूअर के बच्चो! हम दोनों सङ्गिनें हैं···और हम दोनों के बेटे फ़ौज में हैं···हाँ ··(सिसकती है)

रोज़ेनबर्ग—(सन्तरी से)—ले जाओ··(एक पल की हिचकिचाहट) इसे (मार्था पेत्रोवना की तरफ़ इशारा करता है) दूसरी को यहीं रहने दो।

हारितनोफ़—ओह, शुक्रिया, हुज़ूर कप्तान! वह फिर न करेगी···

मार्था पेत्रोवना—शाबाश, शुक्रिया अदा करो उसका, शुक्रिया अदा करो उसका, गद्दार! शुक्रिया अदा करने के लिए दण्डवत् करो न! (सैनिक उसका हाथ पकड़ लेते हैं। हारितनोफ़ से) कितना चाहती हूँ मैं कि इस जर्मन के थूथन में थूक दूँ लेकिन नहीं मैं तुम्हारे ही में थूकूँगी (उसके ऊपर थूकती है)

(सैनिक उसे घसीट ले जाते हैं। मारिया निकोलायवेना फूट पड़ती है और सिसकने लग जाती है)

हारितनोफ़—हुज़ूर कप्तान, उसका ख़याल न करें! वह…ज़रा जल्दी तैश में आ जाती है… और कुछ नहीं। वे एक-दूसरे की संगिनें है न!

रोज़ेनबर्ग—बहुत अच्छा, डाक्टर, बहुत अच्छा। मैं तुम्हारी बीबी को माफ़ करता हूँ क्योंकि तुम्हारी ख़िदमतों को मैं भूला नहीं हूँ। (धीरे-धीरे, लफ़्ज़ों को चबा-चबाकर बोलता है, मारिया निकोलायवेना पर आँखें गड़ाये हुए) सच तो यह है कि मैं कभी तुम्हारी ख़िदमतों को नहीं भूल सकता। क्यों, आख़िर तुम्हीं ने तो मेरे लिए सत्रह कम्यूनिस्टों की फ़ेहरिस्त तैयार की थी, और कल तुमने उसमें पाँच नामों का इज़ाफ़ा और किया। तुमने यह भी बतलाया कि छापेमार दस्तों का सरदार गावरिलोफ़ कहाँ पर मिलेगा। और तुमने यह भी बतलाया कि बैंक की तिजोरी कहाँ पर है। तुमने यह भी…मगर जाने दो, इतना काफ़ी है; तुम्हारी ख़िदमतों की फ़ेहरिस्त से तुम्हारी बीबी को बड़ी चोट पहुँच रही है शायद। तुम हमारी इतनी मदद कर रहे हो, इससे तो उसे ख़ुश होना चाहिए था पर वह तो उल्टे रो रही है। ख़ैर, इसकी कोई बात नहीं, इसकी कोई बात नहीं। उसे शान्त करने की कोशिश करो। (दूसरे कमरे में चला जाता है)

(ख़ामोशी)

मारिया निकोलायवेना (धीमे से)—क्या यह सब सच है?

हारितनोफ़—सच, हाँ, हाँ, हाँ, सच! तुम्हें अपना भाग्य सराहना चाहिए कि अपनी उस नादानी के बावजूद तुम ज़िन्दा हो!

मारिया निकोलायवेना—मैं ज़िन्दा रहना नहीं चाहती, जीना बेकार है अब। अगर मेरा बेटा निकोलस न होता तो बस मैं ख़ामोशी से मर जाना पसन्द करती।

रोज़ेनबर्ग—(वर्नर के साथ दाख़िल होता है) मारिया निकोलायवेना, चाय ले आना मत भूलना। (मारिया निकोलायवेना बाहर चली जाती है)

रोज़ेनबर्ग (वर्नर से, धीमे स्वर में)—अब हम एक दिलचस्प मनोवैज्ञानिक प्रयोग करेंगे। बस ज़रा-सा आदमी के मनोविज्ञान का अध्ययन, जो तुम्हें इस क़दर नापसन्द है…डाक्टर!

हारितनोफ़—आया सरकार।

रोज़ेनबर्ग—मुझे विश्वास है, डॉक्टर, कि तुम ईमानदारी के साथ हमारे भक्त हो!

हारितनोफ़—ईमानदारी के साथ, हुज़ूर कप्तान।

रोज़ेनबर्ग—हमारे ख़िलाफ़ लड़नेवाले तुम्हारे भी दुश्मन हैं, क्यों डाक्टर! हैं कि नहीं!

हारितनोफ़—हैं, हुज़ूर कप्तान—

रोज़ेनबर्ग—'हैं' से तुम्हारा क्या मतलब! और साफ़-साफ़ कहो।

हारितनोफ़—वे मेरे भी दुश्मन हैं, हुज़ूर कप्तान—

रोज़ेनबर्ग—और वे जब मारे जाते हैं तो तुम्हें भी ख़ुश होना चाहिए न, डाक्टर!

हारितनोफ़—हाँ मुझे भी होना चाहिए, हुज़ूर कप्तान।

रोज़ेनबर्ग—न, न, इससे काम न चलेगा। 'होना चाहिए' नहीं, 'हूँ'। क्यों ठीक है न?

हारितनोफ़—मैं ख़ुश हूँ, हुज़ूर कप्तान।

रोज़ेनबर्ग—क्या यह मेरा विश्वास ठीक है कि तुम्हारी बीवी झूठ बोल रही थी और तुम्हारा बेटा, सचमुच हमारे ख़िलाफ़ नहीं लड़ रहा है?

हारितनोफ़—हुज़ूर कप्तान, मुझे अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि यह सच है, वह फ़ौज में है, बहुत दिनों से उसकी मेरी बोलचाल बन्द है; लेकिन यह मैं जानता हूँ कि वह फ़ौज में है।

रोज़ेनबर्ग—तुम्हें इस बात का सख़्त अफ़सोस है न?

हारितनोफ़—ज़रूर, हुज़ूर कप्तान—

रोज़ेनबर्ग—और अब अगर वह फ़ौज में न हो, तो तुम्हें इसका अफ़सोस तो नहीं होगा?

हारितनोफ़—नहीं, हुज़ूर कप्तान—

रोज़ेनबर्ग—ज़रा मेरे पास आओ (शिनाख़्त के कार्ड पर लगी फ़ोटो दिखलाता है और बाक़ी छिपाये रहता है) इस शक़्ल को तुम पहचानते हो?

हारितनोफ़—निकोलस!

रोज़ेनबर्ग—आह, तो तुम उसे जानते हो (पूरा शिनाख़्त का कार्ड खोल देता है) तो इस कार्ड में जो छेद तुम्हें दीख पड़ रहे हैं उनका तुम्हें अफ़सोस न होना चाहिए। ख़ुश होओ। तुम्हारा बेटा अब फ़ौज में नहीं है। यह सच है कि मैंने अपनी आँखों से नहीं देखा, लेकिन मुझे यक़ीन है कि यह सही है। तुम्हें अफ़सोस न होना चाहिए। (हारितनोफ़ ख़ामोश है) क्यों डॉक्टर, तुम ख़ुश हो?

वर्नर—रोज़ेनबर्ग!

रोज़ेनबर्ग (उसकी तरफ़ मुड़ते हुए, निर्ममता से)—हाँ! सिर्फ़ एक मिनट और। तुम ख़ुश हो, डॉक्टर? (तीखेपन से) हाँ या नहीं!

हारितनोफ़—(धीमी आवाज़ में)—हाँ, मैं ख़ुश हूँ।

रोज़ेनबर्ग (वर्नर से)—हाँ तो, वर्नर, देखो डॉक्टर ख़ुश है। और हम लोगों को इसमें शक था, नाहक़ शक था। डॉक्टर, तुम जा सकते हो। सब चीज़ अब साफ़ हो गई। तुम्हारी साफ़गोई के लिए शुक्रिया। तुम सचमुच हमारे भक्त हो; तुम्हारे मुल्क में ऐसे लोग बहुत नहीं मिलते और इसी लिए हम तुम्हें और भी चाहते हैं।

(हारितनोफ़ बाहर चला जाता है)

वर्नर—इधर देखो, इस सब ख़ुराफ़ात का क्या मतलब? तुम अगर किसी आदमी को गोली मारना चाहते हो तो मार दो, लेकिन अगर तुम्हें अपने ऊपर भरोसा न हो और तुम ऐसा न कर सकते हो तो कह दो, मैं मार दूँगा। लेकिन तुम इस वक़्त जो कर रहे हो, एक सिपाही को ज़ेब नहीं देता।

रोज़ेनबर्ग—ओह, तुम्हारे ख़यालात दक़ियानूसी हैं वर्नर। मनोविज्ञान का अध्ययन तुम्हारा फ़र्ज़ है।

वर्नर—मैं तुम्हारे मनोविज्ञान के अध्ययन से तङ्ग आ गया हूँ। मेरा ख़याल है मैं कल रेजिमेंट में ले लिये जाने की दरख़ास्त दूँगा जिसमें तुम्हारे ये मनोविज्ञान के अध्ययन मुझे और न

देखने पड़ें। मैं इन हरामज़ादे रूसियों को अनथक मारता जाऊँगा लेकिन तुम्हारी गदहपन की ये बातें मुझसे बर्दाश्त न होंगी। मैं इस सारी चीज़ से तङ्ग आ गया हूँ।

रोज़ेनबर्ग—तुम चाय तो न पिओगे?

वर्नर—(जाते हुए) नहीं।

(हारितनोफ़ दाख़िल होता है और कमज़ोरी महसूस करते हुए दरवाज़े के मुट्ठे का सहारा लिये खड़ा रहता है। समोवार लिये मारिया निकोलायवेना दाख़िल होती है)

हारितनोफ़—(धीमे से) प्यारी मारिया, सुनो ज़रा, बहुत एहसान होगा।

मारिया निकोलायवेना—क्या है?

हारितनोफ़—मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ...

मारिया निकोलायवेना—मुझे अब और क्या बताना चाहते हो तुम!

हारितनोफ़—मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ...नहीं, मुझसे नहीं बनता। (जाता है)

मारिया निकोलायवेना—मैं तुरत चाय बनाये देती हूँ।

रोज़ेनबर्ग—(आँख की कोर से उसकी ओर देखते हुए, शिनाख़्त का कार्ड हाथ में) तुम्हारा एक बेटा है जो शायद फ़ौज में था।

मारिया निकोलायवेना—'था' क्यों? अब भी है।

रोज़ेनबर्ग—नहीं 'था'। या जैसा कि तुम्हारा पति इस बात के लिए अफ़सोस ज़ाहिर करते हुए कहता है, 'था'। लेकिन, फिर तुम्हारे पति के शब्दों में, ख़ुशी की बात है कि अब वह नहीं है। तुम्हें जानना चाहिए तुम्हारे पति को इस बात की ख़ुशी है कि अब वह नहीं है।

मारिया निकोलायवेना—आप क्या कह रहे हैं! आप क्या कह रहे हैं!

रोज़ेनबर्ग—नहीं...यह न समझना कि मेरा कोई सीधा ताल्लुक़ है इस बात से। मैं एक माँ के प्रति इतना निर्मम नहीं हो सकता। लेकिन यह अचानक मेरे हाथ लग गया—इसी लिए कहता हूँ, 'था'।

(मारिया निकोलायवेना शिनाख़्त का कार्ड ले लेती है, बुझी हुई निगाहों से उसको देखती है और फिर उसे लिये-लिये मेज़ पर बैठ जाती है। वह चुपचाप बैठी रहती है, जड़ और निःस्पन्द।)

रोज़ेनबर्ग (थोड़ी देर की ख़ामोशी के बाद)—मैंने तुम्हें यह बतलाने की ग़लती न की होती अगर मेरा ख़याल यह न होता कि तुम्हारे भी वही ख़यालात हैं जो तुम्हारे पति के हैं। और तुम्हारे पति ने मुझे बतलाया कि वह पिता है तो भी क्या, उसे इस बात की ख़ुशी हुई कि ऐसा हुआ। (मारिया निकोलायवेना जवाब नहीं देती) क्या तुम कुछ नहीं कहना चाहतीं? हाँ, ठीक यही बात उसने कही। डॉक्टर! (हारितनोफ़ दाख़िल होता है) डॉक्टर, तुमने कहा कि तुम्हें ख़ुशी हुई, कहा न आँ! (मारिया निकोलायवेना सर उठाती है और हारितनोफ़ को देखती है। हारितनोफ़ ख़ामोश है) या तुमने मुझसे झूठ कहा! तुम ख़ुश नहीं हो! (हारितनो॰ जवाब नहीं देता)

(मारिया निकोलायवेना ख़ामोशी से शिनाख़्त का कार्ड अलग रख देती है और मशीन की तरह बोलती है)—लाइये अब मैं आपकी चाय उबाल दूँ।

रोज़ेनबर्ग—बहुत ख़ूब, शुक्रिया।

(रोज़ेनबर्ग और हारितनोफ़ के पीछे मारिया निकोलायवेना, चायदानी लिये-लिये पहले एक आलमारी के पास जाती है और फिर दूसरी आलमारी के जिसमें दवाएँ रक्खी हैं। वह इधर-उधर कुछ ढूँढ़ती है और फिर मेज़ के पास वापस आ जाती है)

मारिया निकोलायवेना—यह रही आपकी चाय।

रोज़ेनबर्ग—बराय मेहरबानी ढाल दीजिए। सिपाही को बड़ी ख़ुशी होती है जब कोई औरत उसके लिए चाय या क़हवा ढालकर देती है। क्यों ठीक है न, डॉक्टर! (हारितनोफ़ जवाब नहीं देता) तुम्हारे पास क्या सचमुच कुछ भी कहने को नहीं! अब बढ़-बढ़कर नहीं बोलते बनता! (मारिया निकोलायवेना रोज़ेनबर्ग के लिए चाय का प्याला तैयार करती है) क्यों डॉक्टर, तुम शायद मेरे साथ चाय का एक प्याला पीना पसन्द करोगे, अँ? तुम लोग तो एकदम उखड़े-उखड़े-से दीख रहे हो। लेकिन ख़ैर, कोई बात नहीं, कोई बात नहीं, चाय पिओ। तुम हमारे राजभक्त दोस्त हो, और तुम्हारे साथ उसी मेज़ पर बैठते मुझे ख़ुशी होती है।

हारितनोफ़—शुक्रिया—

रोज़ेनबर्ग—मारिया निकोलायवेना, अपने पति के लिए एक अच्छा प्याला चाय तो तैयार करो।

(ख़ामोशी। मारिया निकोलायवेना हारितनोफ़ को देखती है और फिर उसी मशीन के पुर्ज़े की तरह ख़ामोशी के साथ एक प्याला चाय तैयार करती है।)

रोज़ेनबर्ग—तो फिर, डाक्टर!

हारितनोफ़—मुझे माफ़ कीजिये, हुज़ूर कप्तान, मेरी तबीअत ठीक नहीं है...मैं नहीं—

रोज़ेनबर्ग—जैसी तुम्हारी मर्ज़ी; परीशान मत हो।

मारिया निकोलायवेना—(शान्तिपूर्वक) आपको और कुछ चाहिए, हुज़ूर कप्तान!

रोज़ेनबर्ग—नहीं, शुक्रिया। वर्नर, मैं तुम्हारे कमरे में आ रहा हूँ!

(अपना प्याला लिये हुए वह बाहर चला जाता है। हारितनोफ़ सर को हाथ से पकड़कर आरामकुर्सी पर बैठ जाता है। मारिया निकोलायवेना दीवाल के सहारे खड़ी है। ख़ामोशी।)

हारितनोफ़—मारिया, प्यारी—

मारिया निकोलायवेना—क्या है?

हारितनोफ़—मारिया, अब मुझसे नहीं सहा जाता!

मारिया निकोलायवेना—मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो, मैं तुमसे बात नहीं करना चाहती।

हारितनोफ़—आओ, हम लोग सब कुछ छोड़कर चल दें, भाग जायँ। मुझे उन सबों से बहुत डर लगता है। अब मुझे किसी भी चीज़ की परवाह नहीं है।

मारिया निकोलायवेना—अब बहुत देर हो गई। मैंने तुमसे यही बात पहले कही थी। लेकिन बहुत देर हो गई। कितनी देर हो गई, तुम यह भी नहीं जानते!

(बग़ल के कमरे से कुर्सी के उलटने की आवाज़ आती है। दरवाज़ा खुलता है, रोज़ेनबर्ग लड़खड़ाता हुआ अन्दर आता है और रुक जाता है।)

रोज़ेनबर्ग—तुमने इसमें क्या मिला दिया! तुमने इसमें क्या मिला दिया, तुम, तुम! (मुँह के बल फ़र्श पर गिर पड़ता है और दर्द से कराहता है। मारिया निकोलायवेना निश्चल खड़ी रहती है।)

हारितनोफ़—(घबड़ाहट के साथ) आपको क्या हुआ? आपको क्या हो गया? (दौड़कर रोज़ेनबर्ग के पास जाता है, उसे फ़र्श पर से उठाने की कोशिश करता है; घूमता है। निश्चल मारिया निकोलायवेना दीवार के सहारे ख़ामोश खड़ी है।)

वर्नर—(तेज़ी से अन्दर आता है, रोज़ेनबर्ग के पास जाता है और उसके ऊपर झुकते हुए उसकी बाँह पकड़ता है और उसे उठाता है।) किसने किया यह ?

मारिया निकोलायवेना—हमने। हमने उसे ज़हर दे दिया, मैंने और मेरे पति ने।

हारितनोफ़ (घुटने टेकते हुए)—नहीं, हुज़ूर कप्तान, वह झूठ कह रही है। ऐसा कुछ नहीं···हमने नहीं किया यह।

मारिया निकोलायवेना—हाँ, हमने किया, ज़रूर किया। उठ, कायर ! (हारितनोफ़ के पास जाती है और उसे दोनों बाँह पकड़कर उठाती है) उठो, साशा उठो ! (जल्दी से) इसने और मैंने किया यह। हम तुमसे नफ़रत करते हैं ! हमने किया यह, हम दोनों ने—यह और मैं।

हारितनोफ़—हुज़ूर वर्नर ! हुज़ूर वर्नर !

वर्नर—तुम्हारा क्या ख़याल है, मैं तुम पर मुक़दमा चलाऊँगा ?

हारितनोफ़—हुज़ूर वर्नर, मैं नहीं, मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ, यह सब इसका अकेले का काम है।

मारिया निकोलायवेना—नहीं, यह हम दोनों का काम है। तुमने हमारे बेटे को मार डाला और हमने तुम्हारे इस बदमाश को ज़हर दे दिया।

वर्नर—मैं तुम पर मुक़दमा नहीं चलाऊँगा, मैं तुम दोनों को फाँसी पर चढ़ा दूँगा, और बस। हाँ—दो मिनट में ! ज़रा ग़म खाओ ! (बाहरवाला दरवाज़ा खोलता है।) कोई है ? इधर आओ !

मारिया निकोलायवेना—(बुरी तरह घबराये हुए हारितनोफ़ को अपने आपसे चिपका लेती है और दीवार के सहारे टिकी-टिकी चिल्लाती है) बहुत अच्छा, अब देर मत करो। चढ़ाओ हमें फाँसी पर और जाओ जहन्नुम को !

छः कवितायें—

क्षुधा-सिन्धु

[नरेन्द्र शर्म्मा]

कलकत्ता के महानगर से क्षुधा-सिन्धु जो टकराया,
क्षुब्ध तरङ्गों पर उतराता कंकालों का दल आया!
मृत मानव, कुछ जीवित शव, सब हाथ पसारे आते हैं,
दो दानों को मुट्ठी बाँधे, मिट्टी में सो जाते हैं!—
वह देखो—वह मरे लाल की मुट्ठी खोल रही जाया!
क्षुब्ध तरङ्गों पर उतराता कंकालों का दल आया!
भूख, भूख, सब ओर भूख की लपटें! ईंधन तन दुर्बल!
किसे आज कहने की क्षमता और किसे सुनने का बल!
हाथ बँधे, मुँह बन्द, और सिर पर विनाश-बादल छाया!
क्षुब्ध तरङ्गों पर उतराता कंकालों का दल आया!
गली-गली, वह भद्र कुलों की ललनायें बिकते देखो!
माताओं के हाथों पथ में शिशुओं को फिकते देखो!
कहाँ रहा कुल-शील, कहाँ अब मानव की ममता-माया,
क्षुब्ध तरङ्गों पर उतराता कंकालों का दल आया!
क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, हैं एक प्राण, है भूख वही;
हिन्दू मुसलिम नफ़ाख़ोर की धन-दौलत में भेद नहीं;
और मौत का घाट एक ही, जहाँ राज्य सबको लाया!
क्षुब्ध तरङ्गों पर उतराता कंकालों का दल आया!
कहाँ दाह देने का अवसर! कब दफ़नाने की फ़ुरसत!
सदियों की तहज़ीब कहाँ अब! कहाँ आज मज़हब-मिल्लत!
मरनेवालों में एका है, सब पर नीला नभ छाया!
क्षुब्ध तरङ्गों पर उतराता कंकालों का दल आया!
हिली राष्ट्र की नींव, मिट गये गाँव, कहाँ घर-बार रहे!
आज जाति की जाति डूबती, परिवारों की कौन कहे!
कृषक खेत का बीज खा गये, मिट्टी ने मानव खाया!
क्षुब्ध तरङ्गों पर उतराता कंकालों का दल आया!

हाय, आज भी राष्ट्र बँटा है, बारहबाट शक्तियाँ सब—
इसी लिये शासन परदेसी औ' धनपतियों का वैभव!
आओ, एक बार मिल जाओ, अब अन्तिम अवसर आया!
लुब्ध तरङ्गों पर उतराता कंकालों का दल आया!
आओ इन्हें शक्ति दो, जीवन आये मानव-प्रेतों में,
हरे धान लहरायें फिर से बङ्गभूमि के खेतों में,
स्वस्थ, सबल, सुन्दर हो जागे फिर भारत भू की काया!
कलकत्ता के महानगर से क्षुधा-सिन्धु है टकराया,
क्षुधा-तरङ्गों पर उतराता कंकालों का दल आया!

गीत

[अंचल]

चोट डंके पर पड़ी, उठ मोर्चा पहचान ले।
क्रान्ति की लपटें बढ़ी हैं, रोशनी छाई हुई।
युद्ध में जा, शत्रु की सेना जहाँ आई हुई॥
लड़! मिले जिससे न तेरी लाश शरमाई हुई।
गिर रहे गोले जहाँ पर मौत का तूफ़ान ले॥
ज़ख़्म सीने पर, फफोले पैर में, मुँह पर हँसी।
मुड़ न पीछे, हो भले संगीन छाती में धँसी॥
जानता है बन्धनों में आज मानवता फँसी।
अन्त में तेरी विजय ध्रुव सत्य है, यह मान ले॥
मर अगर तो बन कहानी स्वत्व पर बलिदान की।
यदि रहे जीवित, निशानी बन गये निर्माण की॥
हो अगर घायल, कहे जग,—'बात यह ईमान की।'
बच सकेगा कौन, भागेगा अगर तू प्राण ले॥
माँगने से और रोने से न मिलता इनक़लाब।
तू स्वयं बढ़कर उलट दे मौत के मुँह के नक़ाब॥
नाज़ियों जापानियों को दे यही ख़ूनी जवाब।
चल बढ़ा चल, हाथ में तू आज लाल निशान ले॥
जङ्ग यह इन्सानियत की, यह शहादत की घड़ी।
आज अपने देश पर जापान की आँखें गड़ीं॥
मेल कर! टूटे ग़ुलामी की पुरानी हथकड़ी।
साथ बढ़! इन्सानियत के दुश्मनों की जान ले॥

स्वप्नद्रष्टा से

[केदारनाथ अग्रवाल]

ज़िन्दगी की भीड़ में कन्धा रगड़ने और चलने से परे हो।
आदमी की आफ़तों से, आदमी की मौत से एकदम डरे हो॥
रेंगते हैं नाग बस्ती में धुएँ के, देखकर तुम भाग आये।
ख़ून-आँसू का—पसीने का धरातल दूर पीछे त्याग आये॥
कायरों की माँद में बैठे अकेले अन्ध चिंतन कर रहे हो।
हीन दुर्बल भावनाओं का निरर्थक सिन्धु मन्थन कर रहे हो॥
वृद्ध वेश्या कल्पना की ओर मारुत-मन उड़ाते जा रहे हो।
धृष्ट बौने ज्ञान का लघु हाथ ऊपर ही उठाते जा रहे हो॥
तार साँसों के असामाजिक बजाकर मूर्च्छना में झूमते हो।
पास लेटी देह की निज रुग्ण छाया के अधर को चूमते हो॥
जन्म को प्रारम्भ काली रात का—संदिग्ध मति से मानते हो।
और जीवन को निराश्रित दीर्घ रजनी ही निरन्तर जानते हो॥
लोचनों में गाढ़ तन्द्रा ले, स्वयं को भूल, गहरे सो रहे हो।
चेतना की चातुरी को, जागरण को मूढ़ बनकर खो रहे हो॥
मार डाली वासनाएँ, कामनाएँ और इच्छाएँ रँगीली।
किन्तु स्वप्नों में उन्हीं की देखते हो मूर्तियाँ चञ्चल छबीली॥
स्वप्न में जो प्राप्त तुमको, जागते में ही उसे हम भोगते हैं।
आपदा की भीड़ में, कन्धा रगड़ते, स्वर्ग का सुख भोगते हैं॥
जन्म, जीवन, जागरण; संघर्ष में हम गर्व गौरव खोजते हैं।
तार लोहे के बजाकर आँसुओं की माधुरी को मोहते हैं॥

युग-साँझ

[गिरिजाकुमार माथुर]

संध्या वेला,

अब छिन्न पुष्प सी छिपी हुई लघु धूप हुई,
है ठिठक रहा धरती की रेखा के ऊपर,
वह गोल रक्त-पत्थर के टुकड़े सा सूरज,
निष्प्राण, अचल,
इस महासमर की बोझल छाँहों में दबकर।

है ताम्रवर्ण पश्चिम जिससे,
पड़ता है धुन्धभरा उजियाला दूर दूर,
निर्जीव चर्म से आसमान में उठे हुए,
भारी भवनों, मिल शिखरों, खम्भों, पेड़ों पर ।
सुनसान हवा, आच्छन्न हो रहीं सभी दिशा,
गिरता मीनार सभ्यता का,
दैनिक पत्रों की प्रथम पंक्ति के ढूहों से ।
अब फैलीं राक्षस की बाँहों जैसी छाहें,
अवरुद्ध प्रभंजन छूट रहा,
वह तिमिर-ग्रन्थि, घन धमक,
अन्ध पार्वत्य-नाद,
लो युग का अन्तिम पतन हुआ,
उस एक घोरतम लौह रोर के सागर में ।
मैं देख रहा संस्कृति का यह भीषण उतार,
बोझीली ध्वनि का स्वर-निपात, आधार भङ्ग,
विंशति शताब्दि के काले मरघट के ऊपर,
जलकर गिरते वे अग्नि-पिंड,
जिनके रक्तिम उजियाले में,
इस्पात प्रेत चलता भूकंप-चरण धरकर ।
गर्जन में उल्का खंड भरे,
साँसों में अविरल गली आग
नयनों की लौह-भट्टियों में शत हाहुताश,
लावा-सी पदचापों के नीचे भस्मसात्
सागर होते । धरणी बनती है श्याम-राख
नभ टूट-टूट गिरता है पुञ्जल तारों में ।
पड़ती झुलसे ध्रुव से ध्रुव तक,
वह भीमकाय छाया, जिससे निर्मित होता,
धुँधला-सा लम्बा प्रेत-मार्ग,
जिस पर अविरल मृतगति से चलती जाती है,
नर-कङ्कालों की अन्तहीन शृङ्खला एक,
जिसमें युग को है जकड़ लिया,
इस महा मृत्यु के दानव ने कर अट्टहास ।
अब वर्तमान के खँडहर पर,
यह महाकपाली घूम रहा,
जिसके ओंकार-नाद में आकर डूब गया,
संस्कृति का छोटा कम्पित स्वर,

युग की सारी निर्बल पुकार।
वह एक विषम धूर्ज्जटी बना,
है खड़ा हुआ मुरदों की किंचिजिगा पर।
पैशाचिक मन्त्रों के बल से, निज लौह उँगलियों से विद्युत्-शर निःसृत कर
है भस्म कर रहा पाप-पुण्य दोनों समान,
सत, असत, स्वप्न, आदर्श, ज्ञान।
यह महाशून्य का दिक् अपार,
जिसमें गुञ्जित हो रही भयङ्कर प्रेत-शान्ति,
निर्मम, अशेष।
केवल दूरी से सुन पड़ती,
अगणित चरणों की अस्थि-चाप;
उन कंकालों की अन्तहीन शृङ्खला एक,
मृत गति से चलती जाती है,
इस युग के काले, तम-डूबे इतिहासों पर।

गुरुदेव की पुण्य-भूमि

[निरञ्जन]

यह शस्य-श्यामला वसुन्धरा है,
जिसे देखकर कवि ने मन में स्वर्ग रचा था सुन्दर।
यह पुण्यभूमि है, जिसे देखकर
आन्दोलित हो उठता था कवि का भावाकुल अन्तर।
वे भरे धान के खेत यहीं थे,
जिन्हें देखकर साँझ-सवेरे, फूटे थे कवि के स्वर!
इस बङ्गभूमि से ही जग को
सन्देश दिया था कवि ने,—"अजर अमर है मानव-जीवन!"
इस पुण्यभूमि से कवि ने घोषित किया—
"क्षुद्र है मानव द्वारा मानव का उत्पीड़न!"
बर्बर फाशिस्तवाद को यहीं चुनौती दी;
साम्राज्यवाद से युद्ध किया आजीवन!
इस शस्य-श्यामला वसुन्धरा पर
क्रूर प्रेत-सी घिर आई किस विभीषिका की छाया!
उस अजर-अमर जीवन पर यह विनाश की छाया,—
किसकी दारुण सर्वग्रासिनी माया!
इस पुण्यभूमि की तीस हज़ार युवतियों ने

क्यों वेश्यालय में जाकर आश्रय पाया !
उन भरे धान के खेतों में
दिनरात भूख, बस भूख महामारी का आकुल क्रन्दन !
हड्डी-हड्डी में सुलग रही है
आग भूख की; सुलग रहा है भीतर-भीतर रक्तहीन मानव-तन !
पट गया अधजली लाशों से
कवि-गुरु का प्रिय यह हरा-भरा नन्दन-वन !
भाई-भाई से जुदा,
चिता पर लड़ते हैं भाई-भाई, दो भीरु श्वान से कायर !
लाखों की रकमें काट रहे हैं,
काट रहे हैं गले करोड़ों को छिप-छिपकर कायर !
कायर, वह जो नेता बनता था,
चला गया, मिल गया लुटेरों की सेना में, कायर !
कायर, जो भी मुँह देख रहा हो
चीनी जनता के बर्बर हत्यारों का, वह कायर !
लाखों को मरते देख रहा है,
धरे हाथ पर हाथ नपुंसक नौजवान, वह कायर !
यह पुण्यभूमि है मानवता के कवि-गुरु की,
प्राचीन तपोवन-सी ही सुन्दर, पावन !
बलिदान त्याग की भूमि,
अभी निःस्वार्थ युवक हैं, जीवित है अब भी सामाजिक जीवन !
हड्डी-हड्डी है चूर, जला सब ख़ून;
अडिग है फिर भी सूखे तन में इस्पाती मन !
दानव ने आज चुनौती दी है नवयुवकों को,
"आओ, यह पहाड़-सा भार उठाओ !
दुर्भिक्ष महामारी से, दुष्ट लुटेरों से,
आओ, यह अपना प्यारा देश बचाओ !"
ऐ नौजवान भारत के !
गरम लहू को आज चुनौती है : सब मिलकर भार उठाओ !
दिन-रात यही हैरानी, भूली भूख प्यास !—
वीरान न हो यह प्यारा शान्ति-निकेतन !
यह हरा-भरा बङ्गाल !
न योंही उजड़ जाय इस भूख महामारी से शान्ति-निकेतन !
उस नीच नगूची को न मिले
यह रवि ठाकुर का, प्राणों से भी प्यारा शान्ति-निकेतन !
बङ्गाल,—कसौटी देशभक्ति की

आज यहीं पर केन्द्रित है सारे भारत का जीवन !
बङ्गाल देश का सिंहद्वार !
प्रहरी है केवल मृत्यु, और जनता करती है अनशन !
बङ्गाल चिता पर जलता है !
क्या बचा रहेगा देश ! बचेगा किस स्वार्थी का जीवन ?

जन-गीत

[साहबसिंह मेहरा]

मेरी चौखट पै धरि पाँव अधरमी घँसन न पावैगो।
बालम सोइ रह्यो अँगना में जो सुनि पावैगो।
लैकै पैना[1] हाथ मारि तेरी खाल उड़ावैगो ।। मेरी०
नाज, दारि[2], आटे ते जो तू हाथ लगावैगो।
देवर चतुर सुजान नारि[3] तेरी धरि के दबावैगो ।। मेरी०
जानति हूँ तू खूनी सबको खून बहावैगो।
परो न पालो तोइ भींग[4] ते हा हा खावैगो ।। मेरी०
देखि पराई नारि जो तेरो मन ललचावैगो।
मेरो जीवन-पूत पकरि तोई मजा चखावैगो ।। मेरी०
तेरो दल कछु करि न सकैगो पीठ दिखावैगो।
जिस दम कारो नाग पैनिया[5] पीछे धावैगो ।। मेरी०
तेरो सङ्ग सँगाती कोई बचन न पावैगो।
डारि जाय हथियार भागि के पिण्ड छुड़ावैगो ।। मेरी०
भूखे नङ्गे जानि हमें तू का डरपावैगो।
मेरो एक एक वीर देस की लाज बचावैगो ।। मेरी०
मैं काटूँगी खेत सङ्ग पति लाई[6] लावैगो।
फसल चौगुनी होय मसीता[7] खेत निरावैगो ।। मेरी०

अलीगढ़ ज़िले की किसान-स्त्रियों का गीत।
(१) गँड़ासा।
(२) दाल।
(३) गला।
(४) ज़बर्दस्त।
(५) उड़कर हमला करनेवाला साँप। किसान साँप की तरह छापा मारेंगे।
(६) कटे नाज के पूले।
(७) किसान का नाम।

सम्पादकीय

नवम्बर क्रान्ति-दिवस

७ नवम्बर को संसार के क्रान्तिकारी किसान-मजदूर नवम्बर क्रान्ति-दिवस मनाते हैं। यह उनका बहुत बड़ा त्यौहार है क्योंकि आज से छब्बीस बरस पहले, इसी दिन, रूस के किसान-मजदूरों ने पूँजीपतियों का तख्ता उलटकर अपना राज्य क़ायम कर लिया था। ७ नवम्बर सन् १९१७ को दुनिया के छठे हिस्से पर एक नई दुनिया का जन्म हुआ।

नवम्बर क्रान्ति ने पूँजीपतियों और ज़मींदारों को ख़त्म करके मजदूरों और किसानों को मिलों, खेतों, रेलवे, बैंक आदि सभी उत्पादन के साधनों का मालिक बना दिया।

नवम्बर क्रान्ति ने ज़ारशाही रूस की ग़ुलाम जातियों को स्वतन्त्र कर दिया और रूस जातियों के क़ैदख़ाने से बदलकर स्वतन्त्र जातियों का एक सुखी परिवार हो गया जिसमें सभी जातियाँ बराबर का अधिकार रखती हैं।

नवम्बर क्रान्ति ने स्त्रियों पर पुरुषों द्वारा होनेवाले अत्याचार का उन्मूलन किया और स्त्रियों तथा पुरुषों को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बिलकुल समान अधिकार दिये।

नवम्बर क्रान्ति ने ग़रीबी, अशिक्षा और बीमारी का ख़ात्मा कर दिया और सबको समृद्ध, शिक्षित और स्वस्थ होने का समान अवसर दिया।

नवम्बर क्रान्ति ने स्वतन्त्र जातियों की भाषा, संस्कृति, कला और साहित्य को पूरी तरह पनपने का अवसर दिया।

नवम्बर क्रान्ति ने सोवियत जनता के राज को स्थापित किया, इसी लिए आज यह बात पूरी तरह प्रमाणित हो पाई है कि सोवियत रूस वास्तव में अजेय है। सोवियत भूमि में हिटलर की हारों के बारे में पढ़कर हमें अक्सर आश्चर्य होता है। लेकिन इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। हिटलर के डाकुओं से लड़ते हुए सोवियत जनता केवल अपने अधिकारों की रक्षा कर रही है जिन्हें उसने नदियों ख़ून बहाकर हासिल किया है। सोवियत की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में ही सोवियत जनता के इस्पाती मनोबल और सोवियत रूस की अजेयता का रहस्य है। अगर अब तक किसी को सन्देह रहा हो, तो अब यह अच्छी तरह जान लेने की बात है कि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करनेवाली जनता अजेय होती है।

विश्व की जनता २२ जून १९४१ के पहले सोवियत रूस को जितना जानती थी, उससे कहीं ज़्यादा आज जानती है। आज सोवियत रूस की प्रतिरोध-शक्ति ने सभी को स्तम्भित कर दिया है और सब उस आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के विषय में सोचने पर मजबूर हुए हैं जिसे हिटलर भी नष्ट न कर सका। इस अग्नि-परीक्षा ने यह अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है कि सोवियत राज सुदृढ़ है और इसी लिए सुदृढ़ है कि वह जनता की शक्ति पर स्थापित है।

इसी लिए सोवियत रूस की जीतें दुनिया में जगह जगह आज़ादी की लहरें उठाती हैं और जनता को प्रोत्साहित करती हैं कि वह अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए आगे बढ़े, संघर्ष करे और

अपने भाग्य को अपने हाथों में ले। मास्को और तेहरान की कान्फ्रेंसें हाल ही में खत्म हुई हैं। इन कान्फ्रेंसों ने युद्ध और युद्धोत्तर शान्ति के प्रश्नों पर, दूसरे मोर्चे के प्रश्न पर, योरप की आज़ादी के प्रश्न पर ऐतिहासिक निर्णय किये। वस्तुतः इन कान्फ्रेंसों को बहुत पहले ही होना चाहिए था लेकिन ऐसा न हो सका, क्योंकि सोवियत रूस के साथ सम्बन्ध स्थापित करनेवाले ब्रिटिश और अमरीकन साम्राज्यवादी सोवियत रूस से कतरा रहे थे। वे उसके साथ रहते हुए भी बच-बचकर निकल जाना चाहते थे क्योंकि उन्हें यह स्वाभाविक भय था कि सोवियत रूस से गहरा सम्बन्ध स्थापित होने से जनता में आज़ादी की, समाजवाद की, उमंगें ज़ोर पकड़ेंगी अर्थात् ब्रिटिश और अमरीकन जनता ज़ोर पकड़ेगी और उनकी अपनी गद्दी संकट में पड़ जायगी।

लेकिन इस तरह कतराकर निकल जानेवाली उनकी यह चाल भला कब तक चलती? लाल फ़ौज की जीतों से ब्रिटिश और अमरीकन जनता सोवियत रूस की ओर खिंचे बग़ैर, उससे और गहरा सम्बन्ध स्थापित करने की कामना किये बग़ैर न रह सकती थी। और हुआ भी यही। ब्रिटिश और अमरीकन जनता का प्रभाव इतना बढ़ा कि पहले मास्को कान्फ्रेन्स हुई जिसमें बहुत महत्त्वपूर्ण निश्चय किये गये। जो कुछ बाक़ी रहा, वह तेहरान में तय हो गया। सभी जानते हैं कि सोवियत रूस और विश्व की जनता (मुख्यतः ब्रिटिश और अमरीकन जनता) प्रायः दो साल से दूसरे मोर्चे की माँग करती आ रही है लेकिन साम्राज्यवादी एक न एक बहाने से अब तक इसे टालते आ रहे थे। तेहरान कान्फ्रेन्स ने दूसरे मोर्चे का समय, स्थान आदि सारी बातें तय कर दीं। दूसरा मोर्चा कब खुलेगा, कहाँ खुलेगा, अब यह सारी बातें तय हो गई हैं। यह कान्फ्रेन्स इसी लिए इतनी सफल हो सकी कि इसके पीछे चेतनाशील, सङ्गठित जनता की शक्ति थी।

इसके अलावा और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे ब्रिटिश और अमरीकन जनता की बढ़ती हुई शक्ति का पता चलता है। इधर कुछ महीनों से हमारे राष्ट्रीय नेताओं की रिहाई और भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना का आन्दोलन ब्रिटेन में बहुत ज़ोर पकड़ गया है। प्रायः चार मास पूर्व ब्रिटेन के साठ लाख मज़दूरों ने हमारे बन्दी नेताओं की रिहाई की माँग की। एमरी को हटाने, राष्ट्रीय नेताओं को छोड़ने, अकाल और जापानी आक्रमण से लड़ने के निमित्त राष्ट्रीय सरकार स्थापित करने की माँगों को लेकर जो आन्दोलन आज ब्रिटेन में चल रहा है, वह प्रतिदिन शक्तिशाली होता जा रहा है। लेकिन वह अभी तक सफल नहीं हो पाया है क्योंकि हमारे देश में इस समय भी हिन्दू-मुसलिम एकता नहीं है। हमारी फूट के ही कारण आज अनाजचोर हमारे लाखों भाइयों और बहनों को भूखों मार रहा है। हमारी फूट के ही कारण आज ब्रिटिश नौकरशाही हमारे नेताओं को जेल में डाले हुए है। अगर आज कांग्रेस और लीग एक हो जायँ तो हम कुछ ही समय में अनाजचोर को खत्म कर सकते हैं, गान्धी और जवाहर को फिर अपने बीच पा सकते हैं और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर सकते हैं जो हमको भूख और जापानी बम से बचायेगी। आज जिस तरह आज़ादी की लहरें हर जगह, स्वयं ब्रिटेन में, उठ रही हैं उन्हें देखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज हमारी एकता में वह शक्ति है जो जेल के फाटकों को खोल देगी और राष्ट्रीय सरकार स्थापित करेगी। हमारी फूट पर ही आज नौकरशाह क़ायम हैं। हमारी एकता के सामने उन्हें विवश होकर झुकना पड़ेगा क्योंकि विश्व की, ब्रिटेन और अमरीका की जनता उन्हें विवश कर रही है कि वह भारत के साथ समझौता करें जिसमें भारत का जापान-विरोधी मोर्चा भी मज़बूत हो सके (जो आज ताश के महल की तरह कमज़ोर है) और जापान के विरुद्ध

होनेवाली लड़ाई भी जल्द से जल्द समाप्त की जा सके। विश्व की जनता आज हमारी आज़ादी के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रही है लेकिन वह सफल नहीं हो पाती क्योंकि हमारी फूट से एमरी और चर्चिल को बल मिलता है। यह सत्य है कि हर जगह जनता की शक्ति बढ़ रही है लेकिन जब तक हम एक नहीं होते और हमारी कमज़ोरी बनी रहती है, तब तक हमारे नेताओं का छूटना, राष्ट्रीय सरकार का स्थापित होना और भूख तथा जापानी बम से बचना हमारे लिए कठिन है। जब हमारी एकता की शक्ति विश्व की मुक्तिकामी जनता की शक्ति से मिल जायगी, तभी हमारा राष्ट्रीय सङ्कट दूर हो सकेगा। सोवियत के नेतृत्व में आज जो जनता की शक्तियाँ प्रबल हो रही हैं, और होती जायँगी, उन्हीं को देखकर कम्यूनिस्ट कहते हैं कि हिन्दू-मुसलिम-एकता स्वयं एक शक्ति है जो नेताओं को मुक्त करा सकती है, राष्ट्रीय सरकार स्थापित कर सकती है। कम्यूनिस्ट साम्राज्य-वादियों के हृदयपरिवर्तन में विश्वास नहीं रखते, उनकी आँखें उन नई शक्तियों, जन शक्तियों को देख रही हैं जिनके हाथ में भविष्य है। आज मानवता न केवल हिटलर और तोजो की बर्बरता के ख़िलाफ़ बल्कि एक नये स्वतन्त्र विश्व की स्थापना के लिए लड़ रही है। अगर वह विश्व की स्वतन्त्रता का अपहरण करने की कामना रखनेवाले हिटलर और तोजो का ध्वंस कर सकती है तो उन पुराने साम्राज्यवादियों का भी जो विश्व में अब भी अपना प्रभुत्व जमाये रखने का स्वप्न देख रहे हैं। इसी अर्थ में यह युद्ध जन-युद्ध है कि इसके दौरान में ही जनता शक्तिशाली होती है और सोवियत रूस के नेतृत्व में आगे बढ़ते हुए फ़ाशिज़्म का ध्वंस करती है और एक स्वतन्त्र विश्व की स्थापना करती है जिसमें सभी देश आज़ाद होंगे, भारत आज़ाद होगा। यह प्रश्न हो सकता है कि उन ब्रिटिश और अमरीकन साम्राज्यवादियों का क्या होगा, जो आज जनता के खेमे में, सोवियत के खेमे में इसलिए हैं कि वे अपना साम्राज्य बचा लेना चाहते हैं और हिटलर के ध्वंस पर एक बार फिर अपने प्रभुत्व का प्रासाद खड़ा करने का स्वप्न देखते हैं! उत्तर यही हो सकता है कि आज के संसार में स्वप्नचारियों के लिए स्थान नहीं है और यथार्थ यह है कि इन साम्राज्यवादियों की दाल नहीं गल रही है। इस नये स्वतन्त्र विश्व की स्थापना के रास्ते में वे रुकावटें डालते जा रहे हैं और और भी डालते जायँगे लेकिन विश्व की जनता आज बहुत सतर्क है, बहुत निर्भीक है—जैसे कि उसका नेतृत्व करनेवाला सोवियत सङ्घ। क्रूर फ़ाशिस्तों द्वारा बहाये गये अपने और अपनों के रक्त से अभिषिक्त मानवता आज अबोध शिशुओं के रक्त के फ़ौवारों, फ़ाशिस्तों की आसुरी वासना के लिए बलिदान होनेवाली नारियों की चीत्कारों, लाशों की चिराइँध और कँटीले तारों के बीच होकर नये, जनता के, स्वतन्त्र विश्व की ओर अपने लम्बे-लम्बे डग बढ़ाती चली जा रही है। उसके इस अभियान को रोकने की शक्ति किसी में नहीं है। अपने रक्त की नदियाँ बहाकर जनता ने अब यह सीख लिया है कि एक नये विश्व की स्थापना करनी ही होगी जिसमें, तेहरान कान्फ्रेन्स के शब्दों में, किसी प्रकार का अत्याचार, पराधीनता, दमन और अनुदारता न होगा।

इस नये विश्व की स्थापना के लिए जो भी क़ीमत उसे देनी पड़े, जितना भी रक्त उसे बहाना पड़े, उसके लिए वह पूरी तरह तैयार है। वह सतर्क भी है और निर्भीक भी; सतर्क उनके प्रति जो उसके साथ हैं लेकिन विश्व साम्राज्य के अपने सपनों को सँजोये हुए, निर्भीक उनके प्रति जो आज अबोध शिशुओं के शरीर से रक्त खींचते हैं, स्त्रियों पर बलात्कार करते हैं, हज़ारों-हज़ार व्यक्तियों को गोली से उड़ा देते हैं और हत्या तथा बलात्कार की ऐसी विभीषिका रचे हुए हैं जिसे देखकर पौराणिक असुर भी काँप जायँ। इन्हीं राहुओं से आज अपनी स्वाधीनता, अपनी भाषा और साहित्य, अपनी कला

और संस्कृति की रक्षा करते हुए आज मानवता नये विश्व की ओर बढ़ रही है। विश्व से सदा के लिए भूख और ग़रीबी, पराधीनता और अशिक्षा और युद्ध और रक्तपात को निर्वासित करने का उद्योग जितना ही महान् है उतना ही श्रेयस्कर। इस उद्योग की पूर्ति के लिए जितने बलिदान की भावना और आत्मोत्सर्ग की आवश्यकता है उससे सहस्रगुना, करोड़ गुना आत्मोत्सर्ग और बलिदान की भावना आज जनता के अक्षय भाण्डार में है। जिस युग में स्टालिनग्राड हुआ हो, उस युग को साहस, आत्मोत्सर्ग और वीरता की कमी नहीं पड़ सकती।

हमें अपने देश में अनाजचोर और जापानी आक्रमण से मोर्चा लेने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करने का प्रण करना चाहिए। आज इस एकता में हमको स्वाधीन करने की शक्ति है क्योंकि विश्व की जनता हमारे साथ है, सोवियत सङ्घ हमारे साथ है। एकताबद्ध भारत पर क़ब्ज़ा रखने की शक्ति आज नौकरशाही में नहीं है।

सामयिक

बङ्गाल की सहायता में कवि-सम्मेलन

गत ३० नवम्बर १९४३ को रात आठ बजे से इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के छात्रावास हालैण्ड हाल में हिन्दी और उर्दू कवियों के सहयोग से बङ्गाल के दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता के लिए एक अत्यन्त सफल कवि-सम्मेलन हुआ। सम्मेलन की सफलता केवल इसी अर्थ में न थी कि कवियों ने सुन्दर कविता-पाठ किया और श्रोताओं ने उसका आनन्द लिया, वरन् इसलिए भी कि राष्ट्र के जीवन-मरण की इस समस्या पर हिन्दी और उर्दू कवियों ने समान रूप से सहर्ष सहयोग दिया।

यह कवि-सम्मेलन प्रयाग के प्रगतिशील लेखक-सङ्घ की ओर से आयोजित किया गया था, किन्तु सङ्घ के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य बहुत से प्रसिद्ध कवियों का सहयोग इस अवसर पर प्राप्त हुआ। इन कवियों में अग्रगण्य हैं, हिन्दी के महारथी पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", अनेक लोकप्रिय साहित्यिक गीतों के गायक, श्री बच्चन, उर्दू के लब्धप्रतिष्ठ कवि, रविश सिद्दीक़ी साहब और "ग़रीबों की ईद" के लेखक, नशूर वाहिदी साहब। प्र० लेखक-सङ्घ के सदस्यों में से श्री अञ्चल और श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, समयाभाव से उपस्थित न हो सके थे। सङ्घ के उपस्थित कवियों में जनाब 'फ़िराक़' साहब, श्रीमती "कोकिल" और श्री नरेन्द्र शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं।

सम्मेलन के हॉल की दीवारों पर दुर्भिक्ष-पीड़ित बङ्गाल के प्रभावशाली कई चित्रों का प्रदर्शन किया था। सङ्घ के सदस्य और प्रयाग-विश्वविद्यालय में अँगरेज़ी साहित्य के शिक्षक, श्री रवीन्द्रनाथ देव ने चित्रों का अंकन किया था।

सरस्वती प्रेस के नये प्रकाशन

१—कमला—एक छोटी-सी बालिका के जीवन की अतिशय करुण कहानी। यह एक ढहती हुई सामाजिक व्यवस्था का भी चित्र है। इधर हिन्दी में इतना सुन्दर मौलिक उपन्यास नहीं निकला है। इसके लेखक हैं, श्रीरामचन्द्र तिवारी। मूल्य ३)

२—अशान्त—श्रीविनोदशङ्कर व्यास से हिन्दी के कथा-साहित्य के पाठक अपरिचित नहीं होंगे। यह उनकी एक छोटी-सी प्रेम-कथा है जो बहुत ही रोचक है। मूल्य ।।।)

३—उपन्यास-कला—श्रीविनोदशङ्कर व्यास ने पाश्चात्य तथा भारतीय उपन्यासों के गम्भीर अध्ययन के बाद उपन्यास-कला पर यह पुस्तक प्रस्तुत की है। संसार के श्रेष्ठ उपन्यासों से उद्धरण देकर उपन्यासों की विशेषता और उनके महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। विद्यार्थियों तथा उपन्यास-प्रेमियों के लिए विशेष उपयोगी साबित होगी। मूल्य २)

४—'प्रसाद' और उनका साहित्य—स्व० जयशंकर 'प्रसाद' की कला और उनके व्यक्तित्व के विषय में हिंदी का कौन पाठक जानने को उत्सुक न होगा; और इस विषय पर लिखने के लिए श्रीविनोदशङ्कर व्यास से अधिक अधिकारी व्यक्ति मिलना भी कठिन है। 'प्रसाद' के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। मूल्य २।।)

५—फॉन्टामारा—इग्नैज़ियो सिलोनी आधुनिक इटली के सर्वश्रेष्ठ कलाकारों में से है और मुसोलिनी के फासिज़्म के विरुद्ध उसने जनता की आवाज़ का जो ताक़तवर प्रतिनिधित्व किया है वह संसार के इतिहास में अमर रहेगा। यह उपन्यास फासिज़्म द्वारा चलाये गए व्यवस्थित लूट और ज़िनाकारी के खिलाफ़ जनता की ज़बरदस्त आवाज़ है और भारत के जनसाधारण के लिए आज इसका एक बहुत बड़ा सामयिक महत्त्व है। अनुवाद सुन्दर शैली में किया गया है। प्रत्येक विचारशील पाठक को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए। मूल्य २।।)

—:०:—

सरस्वती प्रेस के स्थायी ग्राहकों से अनुरोध है कि वे इन पाँचों पुस्तकों का आर्डर शीघ्र से शीघ्र हमारे पास भिजवाएँ या फिर हमारी किसी शाखा से इन्हें अवश्य खरीद लें।

सरस्वती प्रेस, बनारस कैंट।

शाखाएँ : बाँस फाटक, बनारस सिटी : जीरो रोड इलाहाबाद : दरीबा कलाँ, दिल्ली : अमीनुद्दौला पार्क, लखनऊ।

प्रकाशक और मुद्रक—जगतनारायण शङ्कधर, सरस्वती प्रेस बनारस।
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, बनारस ब्रांच में मुद्रित।

हंस
सम्पादक
शिवदानसिंह चौहान
अमृतराय (सहायक)
रामविलास शर्मा (कविता)

वर्ष १४ : अक्टूबर १९४३ : अङ्क १

वार्षिक ६) : : एक प्रति आठ आना

प्रकाशक

सरस्वती प्रेस, बनारस

हंस

वर्ष : १४] अक्टूबर, १९४३ [अंक : १

कर्तव्य की वेदी

[शिवरानी देवी 'प्रेमचन्द']

माधो जब बर्मा गया तो वहाँ उसका काम ऐसा जमा, कि महीने दो महीने बाद आकर अपने बेटे और बहू सबको ले गया।

मिट्टी के तेल की आढ़त बड़ी भारी—यह था उसकी आमदनी का ख़ास ज़रिया। कई साल उसको बर्मा में रहते हो गये। बर्मा उसके लिए कोई नयी जगह नहीं थी। बहुओं ने भी काफ़ी उम्र बिताई।

दोनों बेटों का परिवार उसी जगह रहता रहा। जिस वक़्त कि बर्मा की बमबारी हुई उसी समय से सफ़ेद झण्डा दिखाया बर्मियों ने! दो बेटे, दो के दोनों जापानियों के हाथ में क़ैद, बाक़ी बचा एक बुड्ढा। घर में दो स्त्रियाँ—उन स्त्रियों में उनकी बहू मनोरमा। मनोरमा एक पढ़ी-लिखी ख़ूबसूरत लड़की, अपने आदमियों के इस तरह पकड़े जाने में उसने अपमान महसूस किया। फ़ौज के आदमियों के सफ़ेद झण्डा दिखाने पर उसको क्रोध आया। क्या ये जवान हैं! अपने बुड्ढे ससुर से बोली—ये मुल्क के आदमी बिलकुल निकम्मे हो गये हैं क्या!

ससुर—बहू, भगवान की गति को कोई नहीं जानता!

मनोरमा—भगवान की गति तो अलग होती है। यह तो अपने हाथों का काम है। रात-दिन शहर में हाहाकार मचा हुआ है। किसी की बहू बेटी की इज़्ज़त नहीं। जिन नर-पिशाच जापानियों ने हमारा भरा-पुरा बाग़ उजाड़ दिया, उन्हीं के हाथ हमारी इज़्ज़त लूटी जा रही है। यह क्या कोहराम मचा हुआ है, आपको नहीं सुनाई पड़ता!

बुड्ढा—उनके शोर-ग़ुल को सुनना है तुम्हें! मुझे भूख लगी है। कुछ खाने को भी तो दो!

मनोरमा—तुम खाने को माँग रहे हो। तुम जिसको शोर-ग़ुल समझते हो वही आफ़त हम लोगों के साथ होगी।

बुड्ढा—तो क्या मौत के पहले मारना चाहती है तू!

मनोरमा—मौत के तो पहले ही मर चुके, जिस वक़्त कि तुम्हारी आँखों के सामने—तुम्हारी बहू-बेटी की न सही—दूसरे की बहू-बेटियों की इज़्ज़त लूटी जा रही है। मैं तो समझती हूँ कि इस बेइज़्ज़ती से मर जाना कहीं अच्छा था तुमको और मुझे—हम लोगों को।

बुड्ढा—मौत के पहले, बहू, कोई नहीं मरता।

बहू—स्वाभिमानी तो मरते हैं। तुम्हारे बदन में शायद गर्मी ही न हो।

बुड्ढा—तो आखिर मैं कर ही क्या सकता हूँ ? मैं बुड्ढा हुआ। उठा तक तो मुझसे जाता नहीं।

मनोरमा—तो फिर उठा जिससे नहीं जाता, उसे जीने की फिर लालसा ही क्या ! मैं तो समझती हूँ कि मुल्क को अगर ज़िन्दा रहना हो तो बहादुरी से ज़िन्दा रहे, नहीं तो इससे यही बेहतर है कि वह मर जाय ! तुम्हारे ज़िन्दा रहने में न तुम सुखी हो न तुम्हारी ज़ात से दूसरा ही कोई सुखी हो सकता है।

बुड्ढा—यह सरकार का काम था, बहू, हम लोगों का, पबलिक का, काम नहीं था जापानियों से मुल्क को बचाना।

मनोरमा—यह दुर्दशा गोरे आदमियों की हो रही है कि हम लोगों की ! यह मुल्क हमारा था कि गोरों का ?

बुड्ढा—राज तो हमारे ऊपर वे गोरे ही कर रहे हैं।

बहू—जिन जापानियों के लिए सिपाहियों ने सफ़ेद झण्डा दिखाया क्या उन जापानियों ने राज तुम्हें दे दिया ? जिन गोरी पल्टनों ने मुल्क दिया, क्या उनमें आपके मुल्क के आदमी नहीं थे ?

बुड्ढा—कौन अपनी सरकार हमको स्वराज देती ?

मनोरमा—अपनी सरकार अगर स्वराज नहीं देती तो क्या आप समझते हैं कि यह आपको स्वराज देती, जिसका स्वागत किया गया है—जिसके लिए हथियार रखा है आपने ? और उससे उनका विशेष बिगड़ता क्या है ? शायद आप मुझसे ज़्यादा ही जानते हैं। सन् १४ का इतिहास क्या आप भूल गये हैं ? अभी उस लड़ाई में जो-जो मुल्क जीता था जर्मनों ने उसको वापिस नहीं लिया ? इसी तरह—जिस तरह सिङ्गापुर और मलाया अपने हाथ से निकल गये हैं, अपने हाथ क्या उनको वापिस नहीं ले लेंगे ?

बुड्ढा—अपना क्या है ? कभी वह कुचलते हैं, कभी ये कुचलते हैं। हमको क्या है, कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरी छाँड़ि न होउब रानी।

मनोरमा—यही जो भावनाएँ हैं आपकी, चेरी और रानी वाली, इन्हींने तो मुल्क को तबाह कर रखा है, दूसरी चीज़ थोड़े ही है। आप लोगों को तो, मैं समझती हूँ, कि अगर स्वराज मिल भी जाय तो रखने में तकलीफ़ होगी।

बुड्ढा—तो क्या मैं फ़ौजी अफ़सर था जो बचा लेता या फ़ौज आगे ले जाता ? मैं क्या हूँ !

मनोरमा—मैं आप ही को थोड़े कह रही हूँ। मैं तो सिर्फ़ आपकी भावनावालों को, सबों को, कह रही हूँ। हमारे मुल्क में यह सबसे बड़ी ग़लती है, जो मरने से घबराते हैं। कुत्तों की तरह ज़िन्दा रहना जानते हैं। बहादुरों की मौत उनको प्यारी नहीं।

बुड्ढा—बहू, यह सब समय की गति होती है। यह सब भगवान की लीलाएँ हैं।

मनोरमा—गति-वति मैं कुछ नहीं समझती। रात-दिन तो पूजा करते थे। क्यों मुल्क गया तुम्हारा ? रात-दिन तो हाहाकार मचा हुआ है।

बुड्ढा—वह औतार लेनेवाले हैं।

मनोरमा—मैं तो समझती हूँ कि जहाँ कायरों की बस्ती है वहाँ शायद भगवान का नाम ही लेना पाप है, अगर हैं भगवान कहीं। और जहाँ कायर पैदा करना हो वहाँ जाकर भगवान को रख

देना चाहिए। उलटे पड़े तब भी भगवान हैं, सीधे पड़े तब भी भगवान हैं। भगवान को आज तक किसी ने देखा नहीं कि कहाँ उपदेश कर गया, मुल्क को विजयी कर गया।

मनोरमा को बुड्ढे की बातों से नफ़रत-सी होती गई। तब तक और पास में कोहराम सुनाई पड़ा स्त्रियों का, गोद के छोटे-छोटे बच्चे पटके जा रहे थे। एक-एक घर में दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह फ़ौज के सिपाही घुस रहे थे, लूट रहे थे। यह हाहाकार सुनकर मनोरमा दहल-सी जाती थी : क्या यही आफ़त चन्द मिनटों में मेरे सर पर आने वाली है? भागना भी चाहूँ तो आख़िर भागकर कहाँ जाऊँ? अभी थोड़ी देर के बाद यही गति मेरी भी है।

मनोरमा भीतर गई। जाकर अन्दर अपने अच्छे-अच्छे ज़ेवर पहने, कपड़े पहने। होली में उसके लिए, बच्चों के लिए पिचकारियाँ आई थीं। पिचकारियों में तेज़ाब भरी। बुड्ढा देख-देखकर कुढ़ रहा है। बुड्ढा समझ रहा है कि शायद यह जापानियों के ऊपर आशिक़ हो गई है। नहीं, क्या यह सिङ्गार करने का समय है?

वह सब सिङ्गार पूरा कर भी नहीं पाई है अभी, कि तब तक पाँच जापानी फ़ौजी उसके घर में घुस आये। फिर देखती है कि उसके छोटे बच्चे को वह उठाता है, वह जापानी।

बहुत नर्मी के साथ—इस बच्चे को क्या कीजियेगा?

जापानी—यह तुम्हारे बीच का काँटा है। तुम्हारी ऐसी ख़ूबसूरत बीबी के लिए यह काँटा नहीं रखना चाहता।

मनोरमा—यह काँटा-वाँटा कुछ नहीं। मुझे पहले तो तुम लोगों से नफ़रत थी। इसे दे दो उसे, वह बुड्ढा जो बैठा है। मैं तो तुम दोनों के साथ चलने के लिए पहले से तैयार हूँ। मुझे मालूम होता है तुम्हारा मुँह सूखा-सूखा सा है। क्या कई दिनों से तुम्हें खाना ठीक से नहीं मिला?

जापानियों के दिल में उत्साह आया। अपनापा मिला। बोले—हम लोगों को कई दिन से अच्छा खाना नहीं मिल रहा है। जो स्टाक यहाँ जमा किया था उन लोगों ने उसको फूँक दिया है। हमारे मुल्क से आते ही जहाज़ के जहाज़ डुबा दिये जाते हैं।

मनोरमा—मैं इसी से तो पूछ रही हूँ। यहाँ तुम्हें खाना भी मिल सकता है, आराम भी मिल सकता है। आओ—और मैं तुम्हारे साथ चलने को तैयार हूँ। तुम रहना चाहो इसी में रह सकते हो।

मनोरमा ने सबों के लिए खाना बनाया, शराब मँगाई।

मनोरमा—क्या तुम्हारे साथ तुम्हीं लोग हो कि और कोई भूखे हैं? बुलाओ, आज उन सबों को खाना खिलाओ।

जापानी सिपाही—बहुत-से हैं। बहुत भूखे हैं।

मनोरमा—मैं नहीं मरूँगी। मैं और सबों को बुला देती हूँ। बहुत-सी स्त्रियाँ तुम्हारा स्वागत करने के लिए हैं।

पास-पड़ोस में देखा उन जापानियों ने। कुल पचास-साठ फ़ौजी उनको मिले। जब सब रात को खा-पी करके सोये, तब उस गिरोह का जो फ़ौजी अफ़सर था उससे बोली—अब आप लोग इसी घर में सो रहें, आराम से। इसमें कोई नहीं। सब बदमाश यहाँ से भग गये।

यह हरकत देख कर बुड्ढा दाँत पीस रहा था। यह कमबख़्त कुलटा अपने मारनेवालों को दावत दे रही है, इन्हीं के साथ जाने को तैयार है।

उनमें से एक सिपाही बोला—यह क्या बक रहा है?

मनोरमा—जो मैं आप लोगों का स्वागत कर रही हूँ, आराम पहुँचा रही हूँ, वह जल रहा है मुझसे।

सिपाही- इसको क़त्ल कर देना चाहिए।

मनोरमा—इस एक कुत्ते को मार कर क्या पाइयेगा! यह कर ही क्या सकता है!

शराब पीकर जब नशे में सब चूर हो गये, मनोरमा ने चुपके से आकर, जा करके मिट्टी के तेल के पीपों में थोड़ा-थोड़ा सा कपड़ा जला कर डाल दिया। और गोद में बच्चे को लिए हुए वह बाहर निकल गई, बाहर से ज़ञ्जीर देकर। वह इस तरीक़े से भागने लगी, कि रातों-रात किसी तरह से बर्मा की सरहद छोड़ दे।

सुबह होने लगी...एक-एक टिन जब टूटता था तो आकाश से बातें करता था। वह मिट्टी के तेल का एक-एक कनस्टर चार-चार बम-गोले से कम नहीं था।

वह रातों-रात भागी। बुड्ढे के कान में कहती गई थी कि तुम खिड़की के रास्ते बाहर निकल जाना। वह उस स्थान में रातों-रात भागकर पहुँची, जिसे जापानियों ने अभी विजय नहीं किया था। दिन भर वह झाड़ियों में छिपी रही। भूखी प्यासी मनोरमा, बच्चे को भी न उठा ले जा सकी गोद में। वह जब सरहद पार हो गई.. बेहोशी की हालत में उसको एक सिपाही ने उठाया। वहाँ जाकर उसने अपनी कैफ़ियत दी।

—महाराज, मुझे थोड़ा पानी दो!

उसकी ख़ूबसूरती देखकर उस सिपाही को भी हमदर्दी हुई। वह जो कुछ खाना अपने थैले में रखे हुए था, उसको देते हुए बोला— लो, इसे खा लो। तब उसकी चेतना-शक्ति कुछ ठीक हुई।

उस दिन से वह उस स्थान से आसाम के एक शहर में आकर घर-घर बताने लगी कि आख़िर दुश्मनों से अपनी रक्षा कैसे की जा सकती है।

इसके बाद उसकी इच्छा हुई—वह एटा की रहनेवाली थी—आख़िर यह आफ़त मेरे मुल्क में भी तो आयेगी। वहाँ क्यों न मैं अपने लोगों को समझाऊँ।

यहाँ की स्त्रियाँ उसका मज़ाक़ उड़ाती हैं, यह सब ग़लत बात है। तुम इतने आदमियों को कैसे जला सकती हो! तुम अपने छोटे से बच्चे को छोड़कर भाग आई, जिनको वे पटक-पटककर मार रहे हैं।

—मैं तो वहाँ एक को छोड़कर आई। तुम वहाँ जाकर देखो। पटक-पटककर मारे जाते हैं। सर के टुकड़े हो जाते हैं। मेरे बच्चे को शायद कोई दयालु देख लेगा, क्योंकि मैंने ऐन रास्ते में छोड़ा था—बीच सड़क पर।

जब तक मनोरमा को मुल्क का जोश था, आज़ादी का ख़याल था, स्वयं अपने को बचाना था, तब तक तो वह बच्चे की याद और मोहब्बत भूली हुई थी। जब इत्मीनान हुआ, उसको शान्ति मिली—उसको रात दिन उस बच्चे के लिए तड़पन होने लगी। मगर करती क्या। उसकी हिम्मत नहीं थी कि वही दृश्य देखने के लिए फिर घर वापिस जाय।

उस रोज़ से उसका जोश कुछ ठण्डा-सा हो गया। इसी शोक में वह बीमार भी पड़ी।

चार माह के बाद उसका वह बुड्ढा ससुर अपने घर पहुँचा, गोद में लिए हुए वही बच्चा। मनोरमा उस समय चन्द मिनट, चन्द घण्टे की मेहमान थी।

अपना घर खुला हुआ देखकर लोगों से पूछा—आख़िर इसमें कौन है, मेरे मकान में!

आने-जाने वालों की भीड़ थी वहाँ। लोगों ने बताया—इसमें मनोरमा देवी रहती हैं, जो अपने बहुत से दुश्मनों को मार कर आई हैं। आज वह ख़ुद मर रही हैं और अपने बच्चे के लिए तड़प रही हैं।

बुड्ढा जैसे बौखला पड़ा—एँ! वह मर रही हैं! कहाँ हैं?

बुड्ढा भीतर गया जहाँ मनोरमा लेटी थी, बच्चे को उसकी खाट पर लिटाते हुए बोला—मनोरमा, मेरे कर्मों पर तू न ख़याल कर। यह तेरा बच्चा सड़क पर मुझे मिला और तो मेरे पास कुछ नहीं रह गया। बहू गई, बेटा गया। बस एक यही अमानत तेरा बेटा मैं लाया हूँ। तू क्षमा कर दे। मैंने तेरी रक्षा नहीं की, तूने मेरी रक्षा की। तू मेरे इस घर योग्य नहीं थी। तू मेरी ही नहीं बल्कि भारत की सच्ची सुपुत्री है।

इस समय मनोरमा की आँखों में आँसू छलछला आये। जैसे थोड़ी देर के लिए, चिराग़ गुल होते-होते अपनी रोशनी तेज़ कर देता है, उसी तरह- वह बच्चे को सीने से चिपकाये हुए थी—जिस समय उसका दम निकल रहा था, उसके चेहरे पर एक लाली थी, होंठों पर एक मुस्कराहट और सदैव के लिए उसने आँखें मींच लीं।

उसके मरने के बाद बुड्ढे ससुर ने उसकी कहानी अपनी ज़बानी लोगों को सुनाई।

सबके मुँह से यही निकला—धन्य थी वह माँ!

————

कात्या

[यूजीन पेत्रोव]

अनुवादक : शमशेर बहादुर सिंह

छोटी-सी है, मोटी-सी, कात्या नोवीकोवा; गुलाबी गाल, भरा हुआ चेहरा, लड़कों की तरह भूरे-भूरे बाल, और चमकती हुई काली पुतलियाँ। मैं कल्पना कर सकता हूँ जब पहली बार वह मोर्चे पर गई होगी तो जगह-जगह से उसकी वर्दी उठी हुई रही होगी, और यह लड़की काफ़ी अजीब और तमाशा-सी लगती होगी। अब तो वह एक छोटी-सी चुस्त चतुर सिपाहिनी है, 'टाप-बूट' पहने हुए जिनसे जूते पानी से बचे रहते हैं, ख़ाकी वर्दी को अपनी उस चौड़ी पेटी से कसे हुए जिसे अब वह एक पुराने सिपाही के से अभ्यस्त हाथों से ठीक कर लेती है। उसके बराबर से, पीछे की तरफ़ को, एक चमड़े के काफ़ी घिसे हुए बटुए में से उस रिवाल्वर का हत्था निकला हुआ दिखाई देता है, जो ख़ासी लड़ाइयों में काम दे चुका है। कालर के लाल बिल्लों पर टँके हुए चार लाल-लाल त्रिकोण ज़ाहिर करते हैं कि वह 'स्टारशीना' के पद को प्राप्त कर चुकी है।

उससे परिचय हो जाने से बहुत पहिले मैं उसके कारनामों को सुना करता था; और उन लोगों से सुना करता था जिन्होंने सब बातें अपनी आँखों से देखी थीं। मुझे इस समय जो चाव था, वह यह देखने का कि स्वयं अपने बारे में सब बातें वह किस तरह से सुनाती है। जैसा कि मैं पहले से सोचता था, वैसा ही निकला। कात्या नोवीकोवा यथार्थ में वीरांगना है और सभी सच्चे वीरों की तरह, जिनसे मिलने का मुझे मौक़ा मिला है, समान रूप से उसमें भी यह एक बात मिलती है—यानी बेहद सङ्कोच और विनम्रता। यह झूटी विनम्रता नहीं है, कपट की सगी बहन। यह योग्य व्यक्तियों में एक तरह का संयम होता है; अपने निजी मामलों को वह विस्तार नहीं देता, क्योंकि वह समझता है कि वह जो कुछ करता है वह साधारण ही तो है, रोज़ का कार्य, अत्यन्त कठिन कार्य, यह सच है, पर किञ्चित् भी असाधारण नहीं, अतः वह एक ऐसा कार्य है जिसमें मुश्किल से किसी अन्य व्यक्ति को दिलचस्पी हो सकती है। दुश्मन के वायुयान से टक्कर लेना, अपने जलते हुए वायुयान की दिशा को शत्रु की गैसोलीन-तेल की टैंक-लारियों की पंक्ति की ओर बदलना या किसी प्रकार से दुश्मन के मोर्चे के पीछे पहुँचकर पुल को बारूद से उड़ा देना, ये वह महत्वपूर्ण कारनामे हैं जो कि सुनाने के क़ाबिल हैं। मगर जो-जो काम कात्या नोवीकोवा ने मोर्चे पर किये हैं और जो हज़ारों रूसी युवक-युवतियाँ आज कर रहे हैं उनको वे केवल अपने रोज़ की दिनचर्य्या में गिनते हैं, बस। ऐसा सरल अर्थ अपने लक्ष्य की महान् पूर्ति को देना ही वीरों का यथार्थ उत्कर्ष है।

१९४१ की २१ जून को मास्को के डिग्री स्कूलों में से एक की फ़ायनल क्लासों ने जलसा किया। छात्र और छात्राओं ने इस बात की ख़ुशी मनाई कि वे अब 'युवक' और 'युवतियाँ' हो गये।

"बड़ा शान का जल्सा था", कात्या ने हमें बताया, "और मेरे लिये सचमुच बड़े आनन्द का दिन था। हम लोग सबके सब अपने-अपने सपनों में रम रहे थे, कि हम क्या-क्या होंगे, किस विश्वविद्यालय में अब नाम लिखायँगे। मेरी सदा से आकांक्षा थी उड़ाका बनने की, और हवाई शिक्षा के स्कूलों में से एक को कई बार प्रार्थना-पत्र भेज चुकी थी—लेकिन वे लोग मुझे भर्ती ही न करते थे, इतनी छोटी जो थी मैं। देखो न, बिलकुल ठिंगनी अँगूठे-सी तो हूँ, और सभी लड़के-

लड़कियाँ उस शाम को मुझे चिढ़ाने के लिये मेरा मज़ाक़ उड़ा रहे थे। हम सबों के लिये बड़े आनन्द का दिन था।"

जब ये सब सुखी, प्रसन्न बच्चे, जो सहसा वयस्क हो गये थे, अपनी पहली वयस्क नींद ले रहे थे, तो उसी रात को उनके देश पर हज़ारों बमों की बौछार हुई। एक सौ अस्सी चुने हुए जर्मन डिवीज़नों और हज़ारों टैंकों ने हमारे शान्त नगरों, हमारे घरों और परिवारों पर कि जिनके ऊपर पहला अस्पष्ट धुँआ उठकर अभी हलका-हलका छा चला था, हमला बोल दिया, और पैराशूट की टुकड़ियाँ, सिर से पैर तक हथियारों से लैस, डाकुओं की तरह आसमान से झपटने लगीं। युद्ध आरम्भ हो गया था।

सुबह होते ही उसी दिन कात्या नोवीकोवा अपनी परम मित्र ल्योल्या के साथ सबसे निकटस्थ भर्ती के दफ़्तर में स्वयंसेवकों में नाम लिखाने दौड़ी हुई गई। दौड़ती हुई गईं दोनों, अपनी छोटी-छोटी मुट्ठियाँ भींचे हुए; और जब वे भरती-अफ़सर के सामने जाकर खड़ी हुईं तो पहले तो मुश्किल से कोई शब्द उनके मुँह से निकला, क्योंकि उनकी साँस फूल गई थी, फिर भावों की अधिकता के कारण उन्हें हाँफा-सा आ रहा था। फ़ौज ने उन्हें लेना स्वीकार नहीं किया; उन्हें अपनी पढ़ाई ही जारी रखने की सलाह दी गई। ये लड़कियाँ नौजवानों की एक टुकड़ी में जाकर मिल गईं जो खाइयाँ खोदने और किले बनाने के लिये आगे भेजी गई थी। जब यह टुकड़ी उस जगह पहुँची जहाँ मोर्चे की क़िलाबन्दी करनी थी, तो जर्मन स्मोलेंस्क के निकट आ चुके थे। जहाँ ये लड़कियाँ काम कर रही थीं, वहाँ से थोड़ी दूर पर ही, एक रेजिमेंट ने, आगे जाते हुए पड़ाव डाला। मालूम होता था, इस रेजिमेंट को पश्चिमी मोर्चे के हाई कमाण्ड ने रक्षित फ़ौज यानी रिज़र्व के रूप में रखा था। जुलाई का अन्त हो रहा था। कात्या और ल्योल्या रेजिमेंट में अपनी भर्ती के स्वप्न अभी तक हृदय से लगाये हुए थीं। वे केवल अवसर की प्रतीक्षा में थीं, उपयुक्त मौक़े की राह देख रही थीं। वे यह खोज निकालने के लिये हर वक्त लाल सैनिकों से गप-शप करती रहती थीं कि रेजिमेण्ट का सदर दफ़्तर कहाँ है। ये लड़कियाँ आशा लगाये हुए थीं कि एक दफ़ा वहाँ पहुँच जाने पर फिर उन्हें, बिना किसी लम्बे-चौड़े सवाल-जवाब की झंझट के, रेजिमेण्ट में भर्ती कर ही लिया जायगा। पर उन भले आदमियों में से एक ने भी उन्हें यह न बतलाया कि सदर दफ़्तर कहाँ है, क्योंकि यह फ़ौजी भेद था। इन लड़कियों ने एक चालाकी चलने की सोची। वे सीधी उसी जगह गईं, जहाँ रेजिमेण्ट ने पड़ाव डाल रखा था। एक सन्तरी ने उन्हें टोंका। उन्होंने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसने दोबारा उन्हें टोंका। फिर भी उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया, लेकिन बहुत तेज़क़दमी के साथ बराबर अपने रास्ते पर बढ़ती गईं। उन्हें रोका गया, और सन्दिग्ध व्यक्ति समझकर, निगरानी में, उन्हें हेडक्वार्टर के अधिकारियों के पास भेज दिया गया। ये लड़कियाँ जो सब कुछ सहकर भी लड़ाई के अगले मोर्चों पर जाने के लिये आतुर थीं, इनकी चालाकी पर रेजिमेण्ट का कमाण्डर दिल खोलकर हँसा। वह हँसा, पर फिर गम्भीर हो गया, और मामले पर कुछ देर विचार करके उन्हें रेडक्रास नर्सों की तरह अपने रेजिमेण्ट में भर्ती कर लिया। वर्दियाँ और रेडक्रास के थैले उन्हें दिये गये। अगले दिन मोर्चे के लिये वह रेजिमेण्ट रवाना हो गया, और कुछ ही घण्टों बाद ये लड़कियाँ अपने कर्तव्य-पालन में लग गईं। जब रेजिमेण्ट मार्च कर रहा था, जर्मनों के झपाटेमार वायुयानों ने हमला कर दिया।

"मैं एकदम डर गई," कात्या ने कहा, "और ल्योल्या और मैं दौड़कर एक खेत में चले गये

और ज़मीन पर औंधे लेट गये, क्योंकि और सबों ने भी यही किया। बाद को मैंने जाना कि यह सब, जो भी हो, ऐसा कुछ विशेष भीषण नहीं था, क्योंकि सारी लाइन में कुछ थोड़े से लोग ही घायल हुए। जब हम लोग स्कूल में पढ़ते थे तो ल्योल्या ने और मैंने मशीनगन हाथ से चलानी और घायलों की मरहम-पट्टी करना सीख ली थी। पर रेजिमेण्ट के कमाण्डर ने हमसे कहा कि यहाँ मशीनगन के बारे में भूल जाओ।

और जब हम लोगों ने घायलों की मरहम-पट्टी करना शुरू किया तब हमें मालूम हुआ कि मोर्चे पर मरहम-पट्टी करना मरहम-पट्टी की शिक्षा से एकदम भिन्न चीज़ है। यों कहिए तो साधारणतया ल्योल्या और मैं भावुक व्यक्तियों में से नहीं हैं। लेकिन यहाँ तो मोर्चे पर हमने सचमुच के घायलों को देखा, जिनके लिये हमारे हृदय में इतनी करुणा उमड़ती थी, इतनी वेदना, कि हम लोग पट्टी बाँधते जाते थे और रोते जाते थे, और आँसुओं के पर्दे में से हमें मुश्किल से कुछ साफ़ साफ़ दिखाई पड़ता। हमें बाद में भी उनके लिये बड़ा दुःख होता था, मगर मरहम-पट्टी करते समय अब हम रोते नहीं थे। कभी-कभी ऐसा अवश्य होता कि हम लोग आपस में ही चुपचाप रात को रो लेते, जिसमें कोई हमें आँसू बहाता न देख ले—इतनी यातना के दृश्य जो हमें देखने पड़ते थे और फिर कभी-कभी, आप समझ सकते हैं, कि थोड़ा बहुत रोकर हमें अपने जी को भी हलका करना होता ही था।"

अस्तु, कात्या नोवीकोवा जङ्ग के मोर्चे पर अपनी ड्यूटी पूरा करने लगी और ऐसे भयानक मोर्चे पर कि दुनिया के ज्ञान में शायद ही कभी आया हो। बटालियनों में से एक से कात्या का सम्बन्ध जोड़ दिया गया। वह बटालियन जब भी युद्ध-क्षेत्र में जाता, वह भी साथ-साथ जाती। वह भी ज़मीन से लगी-लगी अपने हाथ-पाँव पर चलकर पैदल सेना के हमले के साथ-साथ आगे बढ़ती थी और जब सिपाही अपना गश्त लगाने निकलते थे तो वह भी उनके साथ जाती। दो बार वह साधारण रूप से घायल हुई, लेकिन सेना की पिछली सफ़ों में जाना उसने स्वीकार नहीं किया। अस्तु, इसी प्रकार एक महीना बीत गया। वह अपने काम में अभ्यस्त हो गई, और सब कुछ होते हुए भी वह एक बड़ी कुशल रेड-क्रास नर्स निकली। रेजिमेण्ट भर इन लड़कियों को प्यार करता था।

"सभी अपने-अपने यूनिट में आ जाने के लिये हमसे कहते," कात्या यह कहकर ज़ोर से हँस पड़ी। ट्रेंचमार्टर के तोपची हमसे कहते, लड़कियो हमारे साथ आओ तो हम तुम्हें ट्रेंचमार्टर चलाना सिखा देंगे। दूसरी साधारण तोपचियों की टुकड़ी भी हमेशा हमें बुलाती ही रहती। टैङ्क-वाले भी। वे हमेशा हमें यही कहते 'हमेशा तुम हमारे साथ एक टैङ्क पर चढ़कर चलोगी, देखो आख़िर कितना अच्छा होगा तुम्हारे लिये।' लेकिन मेरे और ल्योल्या के पास उन सबों के लिये बस एक जवाब था: हमारी तो पैदल फ़ौज ही अच्छी, हम तो उसी के साथ रहेंगे।"

एक घायल लेफ्टिनेण्ट ने, जिसे कात्या ने सुरक्षित स्थान में पहुँचाया था, एक दिन उसे एक रिवाल्वर और तीन पेटे कारतूसों के भेंट किये।

"बाद में बड़ी मुसीबत में पड़ गई मैं" कात्या ने अपनी परिस्थिति का खुलासा करते हुए कहा, "युद्ध में कुछ ढील थी उस दिन और उस रिवाल्वर का टेस्ट लेने के लिये ल्योल्या और मैं एक बड़ी भारी खन्दक की ओर चले। हम दोनों एक ही खन्दक का विचार कर रहे थे, एक बड़ी लम्बी-चौड़ी खन्दक का जो एक बड़े भारी फटनेवाले बम के गिरने से बन गई थी। तो हम लोग पञ्जों के बल सरक-सरक कर उसकी गहराई में उतरे ताकि कोई हमें देख न ले और वहाँ एक बोतल का निशाना बनाकर हम लोग निशानेबाज़ी करने लगे। हम लोग इतने तन्मय थे कि हमने

तीनों पेटे कारतूसों के समाप्त कर दिये। फिर आप कल्पना कीजिए कि उसी समय चेतावनी का बिगुल बजा, क्योंकि हमारे सैनिकों को भ्रम हो गया था कि जर्मन हमारी पंक्तियों को तोड़कर बढ़ आये हैं। निश्चय ही अपना महान् अपराध हमने स्वीकार कर लिया। फिर तो रेजिमेण्ट के कमाण्डर ने हमें ऐसी झाड़ बताई, कि बाप रे बाप! मेरा रिवाल्वर उसने छीन लिया, और मुझे आगे के लिये चेतावनी दी कि फिर दुबारा ऐसा कुछ हुआ तो फ़ौज से निकाल दी जाऊँगी।"

एक हमले में रेजिमेण्ट-कमाण्डर का दाहिना हाथ बुरी तरह घायल हो गया। वह बेहोश हो गया और युद्धक्षेत्र से कात्या उसे ले आई। उसके सङ्ग मास्को अस्पताल जाने का उसे आदेश मिला। वह उसके साथ गई। वहाँ तब उसके मन में उठा कि चलो नगर में घूम ही आयें। वह मोर-सी गर्वीली, अपनी फ़ौजी वर्दी पहने, और सारे समय यह कल्पना करते हुए कि कितना अच्छा हो अगर कहीं कुछ पुराने दोस्तों से उसकी मुलाक़ात हो जाय, अपने प्यारे नगर मास्को की गलियों में घूमने लगी। और तभी लूसिया ही उसे क्यों न मिल जाय।

"और लूसिया, आपको मालूम हो, इस तमाम अर्से इसी चिन्ता में सर खपाती रही थी कि किस तरह मोर्चे पर पहुँचा जाय, और जब मुझ पर उसकी दृष्टि पड़ी तो वह भावों के आवेश से व्याकुल हो उठी। 'आख़िर तू कौन-सी तरकीब लगाकर मोर्चे पर जा पहुँची?' उसने पूछा। मैंने उसमे बताया कि मैंने कैसी तिकड़म लड़ाई, अब मैं वहाँ क्या-क्या कर रही हूँ, कैसे अभी ही मैं रेजिमेण्ट कमाण्डर को मास्को लाई हूँ, मेरी सहूलियत के लिये एक कार और शोफ़र भी मौजूद हैं, और कि अब अगले दिन अपने यूनिट को वापिस लौट रही हूँ। सुनकर लूसिया कहती है मुझसे, 'कात्या, तुम्हें अब ले चलना है मुझे अपने साथ।' वह इतने आवेश में थी कि स्थिर खड़ी न रह सकती थी। वह मुझ जैसी ज़रा भी नहीं। लम्बी, दुबली-पतली, वास्तव में एक सुन्दरी और फिर शिष्ट! मुझसे कहीं बड़ी है वह। बीस की वह तब हो चुकी थी, यूनीवर्सिटी से डिग्री भी ले चुकी थी। मैंने उससे कहा: 'पागल मत बनो, लूसिया। मैं अपने साथ कैसे तुम्हें ले जा सकती हूँ! क्या सोचती हो, कुछ ऐसा आसान है मोर्चे पर पहुँच पाना! सौ दफ़ा तो हमारे काग़ज़ात की छानबीन होगी, रास्ते में!' ख़ैर, हम लोग सोचते रहे, सोचते रहे, और हमने अन्त में इस प्रकार तय किया। हम अस्पताल में अपने रेजिमेण्ट के कमाण्डर के पास गये और उसको राज़ी करने की भरसक कोशिश की। यह तो निश्चय ही उन्हें पता था कि रेजिमेण्ट में हम लड़कियों का काम कुछ बुरा न था। अस्तु, अपने बायें हाथ से—दाहिना हाथ, आपको मालूम है, घायल था—उन्होंने हुक्म लिखा कि लूसिया को रेजिमेण्ट में नर्स की जगह दी जाय। अगली सुबह हम लोग मास्को से रवाना हो गये, और इतने ख़ुश थे हम लोग कि रास्ते भर गाते गये।"

रेजिमेण्ट में अब तीन रेडक्रास नर्सें हो गई थीं, तीनों अलग-अलग बटालियनों के साथ कर दी गई थीं। सब कठिनाइयों में वे उनके साथ रहती थीं। उनके हाथ भद्दे और कड़े हो गये। जो-जो काम उन्हें सौंपा गया उन्होंने पूरा किया,—मसलन् ज़मीन पर रेंग-रेंगकर एक आदमी से दूसरे आदमी तक जाना और घायलों की मरहम-पट्टी करना। जब वे किसी को पुकारते सुनतीं: 'अस्पतालवालो!' तो वे उस सैनिक की जाँच लगाकर उस तक पहुँचतीं। रेजिमेण्ट आगे बढ़ता ही जा रहा था, और जर्मन रक्षापंक्तियों को प्रत्येक दिन सैकड़ों गज़ तक ध्वंस करता जा रहा था। ये लड़कियाँ इतनी व्यस्त रहती थीं कि कदाचित् ही एक दूसरे से कभी मिल पाती थीं।

"एक दिन ऐसा हुआ" कात्या ने बताया, "कुछ तोहफ़े रेजिमेण्ट को मिले और हम लोग रेजिमेण्ट के हेड क्वार्टर के पास इकट्ठा हुए। हम तीनों के लिये, यह सत्य है कि, एक सेब था, मगर एक बड़ा-सा सेब—इतना बड़ा!—और एक जोड़ी पतली जुराबें, बड़ी रङ्गीन ख़ुशनुमा जुराबें थीं—आप जानते हैं, क़ीमतीवाली। यों हमने एक दूसरे की तरफ़ ज़रा इशारा तक नहीं किया, मगर अन्दर ही अन्दर हमारे प्राण उसे पहनकर देखने के लिये व्याकुल हो रहे थे, क्योंकि आख़िर तो हम लड़कियाँ ठहरीं हम उन मोज़ों को अपने हाथों में लिये रहीं, उन मुलायम-मुलायम रेशमी मोज़ों को, और उनको देखने से हमें बड़ी गुदगुदी-सी लगती थी। मैंने कहा—'तुम ले लो इन्हें, लूसिया, क्योंकि हममें आख़िर तुम्हीं सबसे बड़ी हो, और सबसे सुन्दर लगती हो।' तब लूसिया कहती है—'तू तो पगली है, कात्या। हमें किसी न किसी तरह बाँटना है आपस में।' हम लोग ख़ूब हँसे, ख़ूब हँसे, और उनको तीन हिस्सों में काटा, और उससे हममें से हरेक ने एक-एक जोड़ी मोज़े तैयार किये जिन्हें हम अपनी पट्टियों के ऊपर पहने थे। और वह सेब भी हम तीन टुकड़ों में काट-कर खा गये। फिर उसके बाद, वह शाम हमने साथ ही साथ बिताई, और अपने बीते हुए दिनों को याद किया। लूसिया ने उस अवसर पर कहा—'सुनो री, लड़कियो, आओ आज हम तीनों प्रण कर लें कि हम में से हरेक पाँच जर्मनों को जान से मारेगी, क्योंकि मुझे विश्वास है कि अन्त में हम लोग अवश्य सैनिकों की पंक्ति में आ जायँगी।' हम लोगों ने गम्भीरता से इसका प्रण कर लिया और एक दूसरे को चुम्बन देकर बिदा हुए। यह हमने ख़ूब ही किया उस दिन, क्योंकि इसके बाद मैंने लूसिया को नहीं देखा। दूसरे ही दिन रेजिमेण्ट ने एक हमला शुरू किया जिसमें लूसिया काम आई। एक बम से वह बुरी तरह घायल हो गई। उसे मोर्चे की लाइन के पीछे लगभग आध मील दूर ले जाया गया। तब वह होश में आई और उसने अपने चारों ओर कई अस्पतालवालों को खड़े देखा। सभी उसके लिये, आप जानते हैं, कितने दुखी थे। उसने उनकी ओर देखा और बोली: 'यहाँ तुम किस लिये खड़े हो? वह उस तरफ़, लड़ाई चल रही है—जाओ अपने काम में लगो।' ये अन्तिम शब्द उसके ओठों पर थे जब उसने प्राण छोड़े। यह सब मैंने बाद में जाना। और यह वह दिन था, जिसने मेरे भाग्य की दिशा ही बदल दी, क्योंकि उसी सुबह आख़िर मुझे फ़ौज में एक सैनिक की तरह भर्ती कर लिया गया था।"

उसी दिन कात्या के साथ यह घटना बीती। रेजिमेण्ट आगे बढ़ रहा था। हमारी एक मशीनगन दाहिने पार्श्व में एक स्थान पर जमा कर स्थित की गई थी, जहाँ से वह आटोमैटिक रायफ़लबाज़ जर्मनों के जत्थों से झाड़ियों को हलका कर रही थी। एकाएक मशीनगन की फ़ायरिङ्ग बन्द हो गई।

"तो मैं यह सोचकर कि मशीनगन चलानेवाला घायल हो गया है, करती क्या, रेंगकर उसके पास गई। घिसटकर उसके पास पहुँची और देखा कि वह मारा गया है। वह मशीनगन के ऊपर लटका हुआ था; उसके हाथ कसकर घोड़े को पकड़े हुए थे। मैंने मशीनगन पर से उसकी मुट्ठी का कसाव ढीला किया और तुरन्त फ़ायर करने को रेडी हो गई। ठीक तभी बटालियन कमाण्डर सरककर मेरे पास आये। 'क्या करने जा रही हो, कात्या?' उन्होंने पूछा। मैं सहसा डरकर स्तम्भित रह गई, क्योंकि मुझे लगा कि वह मुझे फ़ायर करने नहीं देंगे। मैंने उनसे कहा: 'कामरेड कप्तान, मैंने स्कूल में मशीनगन चलाने की शिक्षा पाई है।' वह बोले: 'तब ठीक है, कात्या, बरसाओ उन पर गोलियाँ, जितना भी तुम बरसा सकती हो, कात्या।

फ़ायर किये जाओ, सफ़ाई कर दो इन झाड़ियों की।' मैंने कहा, 'बिलकुल यही तो मैं करने जा रही थी।' 'बहुत ठीक है', वे बोले, 'जल्दी करो, दो उन्हें परसाद गरम-गरम।' उन झाड़ियों से जर्मनों को हमने भगा दिया, और फिर हमारा हमला आगे बढ़ा। सामने के गाँव पर हमारा क़ब्ज़ा हो गया। जब हम गाँव के क़ब्रिस्तान तक पहुँचे तो जर्मनों ने अपनी भारी तोपों से ग़ज़ब की खूँदनेवाली बौछार की। गोलों की घनी बौछार तेज़ी से हो रही थी। इस तरह की और दूसरी किसी गोलाबारी का सीन मुझे याद नहीं आता। बस, गोलों ने ज़मीन पर हल-सा चला दिया। दफ़नाये हुए मुर्दे सर्राटे के साथ क़ब्रों से निकलकर चारों ओर गिरने लगे और यह बताना मुश्किल हो गया कि उनमें लड़ाई से कौन-कौन मरा था और कब। मैंने अपना सर अपनी मशीनगन के नीचे छिपा लिया। हम अख़ीर तक डटे रहे। इसके बाद हम लोग फिर आगे बढ़े। हाँ, उस मशीनगन को घसीटते ले चलना ज़रा कठिन था। मुझे तब तक उसकी आदत नहीं थी। बाद को तो मैं इसकी अभ्यस्त हो गई।"

एक महीने से अधिक काल तक कात्या मशीनगन चलानेवाली रही और लूसिया ने जिस प्रण की योजना की थी उससे कहीं बढ़कर उसको पूरा कर दिखाया। बहुत कुशल मशीनगन चलानेवाली थी वह, उसका निशाना ख़ूब होता था, और अन्दाज़ बेढब।

सितम्बर में कात्या को एक बम-विस्फोट का भारी धक्का लगा और उसे मास्को अस्पताल में भेज दिया गया। वहाँ नवम्बर के आने तक उन्होंने उसको रक्खा। जब वहाँ से उसको छुट्टी दी गई, तब उसको एक सर्टिफ़िकेट मिला जिसमें लिखा था कि वह फ़ौजी सर्विस के लिये नाक़ाबिल है और उसमें ग़ैर-फ़ौजी व्यवस्था के कर्मचारियों को निर्देश था कि वे उसका शिक्षाक्रम जारी रखें।

"लेकिन अपनी शिक्षा के बारे में कैसे कोई सोच सकता है जब कि जर्मनों की शक्ति अभी हमें तोड़नी है," कात्या ने एक कठोर मुस्कान के साथ कहा, "अपने चारों ओर सभी कुछ मुझे फीका फीका सा लग रहा था। इतना भी मुझे मालूम नहीं था कि मेरे रेजिमेण्ट ने कहाँ पड़ाव डाल रखा है। तब क्या करना होगा मुझे? मैंने सब तरफ़ ध्यान दौड़ाया और अन्त में आख़िर एक छतरीदल के आटोमैटिक रायफ़लमैनों में नाम लिखा लिया।"

"इसके लिये तुमने क्या तरकीब भिड़ाई, कात्या?" मैंने पूछा, "वह अस्पताल से जो सर्टिफ़िकेट तुम्हें मिला था उसका क्या हुआ?"

"मैंने उन लोगों को वह सर्टिफ़िकेट नहीं दिखाया। मैंने एक और चीज़ उन्हें दिखा दी—एक प्रमाणपत्र जो रेजिमेण्ट की ओर से मुझे मिला था।"

वह एक उत्कृष्ट प्रमाणपत्र था। उसमें लिखा था कि कात्या ने पहले रेडक्रास नर्स और फिर मशीनगन चलानेवाली की हैसियत से फ़ौज में काम किया था और उसकी बहादुरी के उपलक्ष में एक सम्मान-पदक की उसके लिये सिफ़ारिश की गई थी।

मैंने जब उसे पढ़ा तो कात्या के गालों पर सुर्ख़ी दौड़ गई और वह कुछ सङ्कोच-सा अनुभव करने लगी।

"सारांश इस क़िस्से का यह कि मैं ले ली गई" उसने कहा, "इस समय हम लोगों को एक विशेष शिक्षा दी जा रही है। ऐसा सुनते हैं कि शीघ्र ही हम लोग मोर्चे पर जायँगे।"

---

९ अगस्त

[अशोक]

यह उस ९ अगस्त की बात नहीं है जिसने हिन्दुस्तान में तहलका मचा दिया था, अच्छे-अच्छे दिमाग़ों को भी बौखला दिया था। यह उसके एक साल बाद ९ अगस्त सन् ४३ की बात है जब बौखलाये हुए दिमाग़ सही हो रहे थे और ज़िद की बात को छोड़ दें तो उस तहलके से प्रभावित हुए सभी लोग अपनी ग़लती महसूस कर रहे थे जिसका मतलब यह नहीं है कि वह सही रास्ते को भी पहचान रहे थे।

बात ८ अगस्त की रात की है। विद्यार्थियों की टोलियाँ जहाँ-तहाँ जमा होकर कल के कार्यक्रम पर विचार कर रही थीं और वह कार्यक्रम यही था कि दूसरे दिन शान्तिपूर्ण व्यवहार से यह दिखा दिया जाय कि हम तोड़-फोड़ की नीति को ग़लत समझते हैं। कुछ लड़के ऐसे भी थे जो कहते थे, हड़ताल हो नहीं सकती, इसलिए न करनी चाहिए, वैसे होनी तो चाहिए। जो लोग चाहते थे, हड़ताल हो, उनकी संख्या बहुत ही कम थी।

मैं इधर-उधर घूमकर और निश्चिन्त होकर कि कल हड़ताल न होगी अपने कमरे में आकर लेटा था कि दरवाज़े पर थपकी देकर एक नौजवान भीतर आया जिससे तीन-चार दिन पहले मेरी मुलाक़ात हुई थी। वह युवक आकर बैठ गया और इधर-उधर की बातचीत होने लगी। उसकी उमर तीस के लगभग थी और मुझे याद है, जब वह पहले दिन मिला था तो उसने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा था—शेव करने से आदमी की उम्र कुछ कम मालूम होने लगती है। उसके मुँह के एक तरफ़ एक गहरा घाव का निशान था जिससे वह कुछ मुँह को एक तरफ़ टेढ़ा करके बातें करता था। वह अपनी ही ज़्यादा कहता था, दूसरों की कम सुनता था।

उसने एक लम्बी साँस खींचकर कहा—"मैं पहले ही जानता था, इस कांग्रेस के किये कुछ न होगा। आख़िर लुटिया डुबो दी न! मैं नई पीढ़ी के निर्माण में विश्वास करता हूँ। जब तक हम १०-१५ साल के अन्दर एक नई पीढ़ी नहीं बना लेते जो हर तरह के बलिदान के लिये तैयार हो, तब तक हम कुछ नहीं कर सकते।"

मैंने हँसकर कहा—"क्या जापान की ओर से आप बिल्कुल निराश हो गये हैं?"

उसने पूर्ववत् गम्भीरता से कहा—"जापानी पर साल हमला करनेवाले थे लेकिन सुना कि पहले आस्ट्रेलिया को ख़त्म करेंगे। सो न हिन्दुस्तान पर हमला किया, न आस्ट्रेलिया पर!"

मैंने कहा—"तब आपका क्या कार्यक्रम है?"

उसने अपनी उदासी का बाँध-सा तोड़ते हुए कहा—"अब क्या कार्यक्रम है! मैंने व्रत लिया है कि मैं एक नई पीढ़ी का निर्माण करूँगा लेकिन अफ़सोस, जिसने कहा था कि मैं लड़कियों में एक नई पीढ़ी का निर्माण करूँगी, उसने ब्याह कर लिया है। मैं अकेले लड़कों में काम करूँ या लड़कियों में!"

मैं उत्सुकता से उठकर बैठ गया। सहानुभूति के स्वर में कहा—"निस्सन्देह यह देश का दुर्भाग्य है कि उस देवी ने विवाह कर लिया। काश पहले आपने उसी का निर्माण कर लिया होता जिससे लड़कियों की एक नई पीढ़ी बनाने में आपको सहायता मिलती।"

पता नहीं मेरे मित्र ने यह बात सुनी या नहीं; कुछ देर तक ग़ैरहाज़िर रहने के बाद उसने कहना आरम्भ किया—"जब मैं पढ़ता था तब एक दिन साथियों से बहस छिड़ गई कि मैं एक वेश्या की लड़की से विवाह कर सकता हूँ या नहीं। मैंने कहा, कर क्यों नहीं सकता लेकिन पता नहीं, उस लड़की का बाप कौन है। इसलिए उस लड़की की माँ अगर हम दोनों के इँगलैण्ड जाने और वहाँ दो साल तक रहने और पढ़ने का रुपया दे तो मैं उससे दो साल के बाद शादी करूँगा अगर उसके चरित्र में परिवर्तन हुआ और वह मुझे पसन्द आई।"

मैंने अधीरता से पूछा—"तो क्या उस लड़की ने ब्याह कर लिया!"

मेरे मित्र ने फिर बात अनसुनी करके एक सर्द आह खींचकर कहा—"मेरे दोस्त मेरी बात पर खिलखिलाकर हँस पड़े हालाँकि उसमें हँसने की कोई बात न थी। वह रंडी अमीर थी, इँगलैण्ड में मेरी पढ़ाई का रुपया क्यों न देती! और उसकी लड़की को बिना दो साल तक चरित्र-परिवर्तन का मौक़ा दिये मैं कैसे उससे शादी कर लेता!"

मेरे सहमत होने पर मित्र आगे बढ़े—"दोस्तों ने कहा, दो साल तक तो तुम्हारे लिये यह ज़रूर बैठी रहेगी। ऐसे ही ख़ूबसूरत हो तो सेठ ··की लड़की से क्यों नहीं शादी कर लेते। उन्होंने नगर के एक प्रसिद्ध नेता का नाम लिया जिनकी लड़की बड़ी सुन्दर थी। मैंने कहा—वह भी आदमी की ही लड़की है; शादी करना कौन बड़ी बात है। दोस्त फिर हँस पड़े, बोले, उसकी जूती पोंछने लायक़ तो हो जाओ। मुझे ताव आ गया। मैंने कहा—शादी करूँगा तो उसी से नहीं तो कुँवारा ही रहूँगा। बात ख़त्म हो गई।"

मित्र को चुप होते देखकर मैं दो क्षण के लिये सन्देह में पड़ गया कि बात क्या सचमुच ख़त्म ही गई। लेकिन मेरे मित्र खोये हुए थे; उनके वापस आने की राह देखता मैं चुप रहा। उन्होंने ख़ुद ही मेरी अधीरता का अन्त किया। बोले—"मुझे मानव-समाज पर एक पुस्तक लिखना थी लेकिन मैंने प्रेम कभी किया न था। पड़ोस में एक लड़की रहती थी; वह खिड़की के पास खड़ी होकर आँचल खिसकाकर, कभी अँगड़ाई लेकर मुझे अपनी ओर आकर्षित करती थी। मैं भी उसे देखता था और अपनी पुस्तक के लिये प्रेम सम्बन्धी यह प्रयोग कर रहा था। जब मेरा मन अधीर होने लगा तो मैंने एक काग़ज़ पर लिखा कि मैंने देश के लिये एक नई पीढ़ी के निर्माण करने का व्रत लिया है इसलिये मैं तुमसे विवाह नहीं कर सकता। और मैंने वह काग़ज़ एक छोटे से पत्थर के साथ गुड़ी-मुड़ी करके उसकी खिड़की में फेंक दिया। उसने काग़ज़ पढ़ा और पढ़ते ही उसका चेहरा क्रोध से लाल हो गया। उसने वह काग़ज़ वैसे ही मोड़कर नीचे मेरे मुँह पर फेंक दिया और झल्ल से भीतर चली गई। मुझे अपनी पुस्तक के लिये मसाला मिल गया और मैं घर चला आया।"

मित्र फिर कुछ क्षणों के लिये स्तब्ध हो रहा। फिर अपने आप ही कथा-सूत्र सुलझाते हुए बोला—"मैं मित्रों से सेठ की लड़की की बात भूल रहा था कि कांग्रेस का जलसा हुआ। मैं भी गया। अपनी जगह से खिसकता हुआ लीडरों के पास तक पहुँचा। वहीं पास में लड़कियों का घेरा था। उनमें एक मुझे बार-बार देखती थी और मुँह से अपना नाख़ून काट कर मैंने भी उसे बता दिया कि मैं समझ रहा हूँ कि तुम मुझे देख रही हो। कुछ देर बाद वहाँ सेठजी आये और वह लड़की उनके साथ उठकर बाहर चली गई। तब मैं समझा कि यह तो वही लड़की है जिससे मैंने विवाह की प्रतिज्ञा की थी।"

मित्र की आवाज़ भारी हो रही थी; गला साफ़ करके उसने कहा—"फिर वह विदेश चली गई। यूरुप में लड़ाइ छिड़ गई और मुझे डर लगे कि कहीं वह भी बमों का निशाना न बन जाय। लेकिन मैंने कहा, अगर मेरा प्रेम सच्चा है तो तेरा बाल भी बाँका न होगा। कांग्रेस का जलसा हुआ। लेकिन मैं जाना न चाहता था। लड़कियों के घेरे में उसे न देखकर मेरे हृदय पर कैसी बीतती, आप सोच सकते हैं। समय कम हो रहा था और मित्रों का आग्रह बढ़ रहा था; वैसे ही मेरे हृदय में दुख के बादल घिरते आ रहे थे। ऐसा लगता था, जैसे कोई बर्छों से हृदय छेद रहा हो। उसी समय मानों मेरे साथ सहानुभूति दिखाने के लिये अचानक आकाश में एक किनारे बिजली चमकने लगी—बिल्कुल हृदय में चुभनेवाले बर्छों की तरह। फिर तो बादल घुमड़ आये और मूसलाधार पानी ने मेरे मित्रों के मंसूबों पर पानी फेर दिया। एक वर्ष और बीता और मैं उस जीवन-सङ्गिनी के लौटने की राह देख रहा था कि आवे तो नई पीढ़ी के निर्माण का कार्य आरम्भ किया जाय। एक दिन वह नगर में आई और मैं उससे मिलने गया। वह घूमने गई थी। मैं उसके आने की राह देखने लगा। वह मोटर में आई लेकिन उसकी बग़ल में एक और आदमी बैठा था। मैं पोर्टिको में खड़ा था। मोटर से उतरकर उसने मुझे ऐसे देखा जैसे पहचानती ही न हो! बोली—आप मुझसे मिलने आये हैं? मैंने हृदय का आवेग रोककर कहा—हाँ! उसने पूछा—कितनी देर लगेगी? मुझे ऐसा लगा जैसे उस लड़की की तरह इसने भी मेरे मुँह पर काग़ज़ फेंककर मारा हो। मैंने मन में कहा—यूरुप की हवा तुम्हें भी लग गई! और तुम्हारे लिये मैं साल भर से अपना कार्यक्रम रोके हुए था! लेकिन मैं अपना बैलेंस ऑव माइण्ड कभी नहीं खोता। मैंने एक क्षण में उत्तर दिया—जितना समय आप दे सकें। उसने कहा—अच्छा मैं अभी आती हूँ। और उस साथ के आदमी को छोड़कर ऊपर चली गई। उसने मुझसे पूछा—आप किसी संस्था को रेप्रिज़ेण्ट करते हैं? मुझे बड़ा गुस्सा आया; मिलने किससे आया, सवाल पूछ रहा है कौन? फिर भी चेहरा अपना ज्यों का त्यों रखकर मैंने जवाब दिया, जब यहाँ आया हूँ तो किसी न किसी को रेप्रिज़ेण्ट करता ही हूँगा। मैं नई पीढ़ी को रेप्रिज़ेण्ट करता हूँ। वह मूर्ख हँसकर ऊपर चला गया। थोड़ी देर बाद वह लड़की आई और मुझे ड्राइङ्ग रूम में ले जाकर बात करने लगी। प्रेम का जवाब तो 'कितनी देर लगेगी' से ही मिल गया था; अब केवल राजनीति पर बात करनी थी। मैंने उससे लड़कियों में नई पीढ़ी के निर्माण की बात कही। उसने बड़े ध्यान से मेरी बातें सुनीं लेकिन इस काम के लिये अपने आपको बहुत कमज़ोर बताया। मैं उसे अपनी मानव-समाज पर पुस्तक भेजने के लिये कहकर चला आया। एक हफ़्ते में मालूम हुआ कि उसका विवाह हो गया है और उसी आदमी के साथ जो उसे मोटर में घुमाने ले गया था। मुझे यूरुप की सभ्यता से घृणा हो गई है। मेरा सारा कार्यक्रम चौपट हो गया। वह लड़की क्या जानती है कि मेरे प्रेम ने बम के गोलों से उसकी रक्षा की है।" मित्र मौन हो गये; मैं भी मौन था। फिर अचानक उठते हुए बोले—"जूते पोंछनेवाली बात पर आप चाहें तो एक कहानी लिख डालियेगा।" और एक फीकी हँसी हँसते हुए वह कमरे से बाहर हो गये।

———

इक्केवाला

[प्रकाशचन्द्र गुप्त]

उस दिन खूब लू चली थी। दिन भर बदन झुलसा था। शाम को हम लोग इक्के पर बैठकर कुछ सामान ख़रीदने और चाट खाने के लिए चौक चले गये। यूनीवर्सिटी बन्द थी, इसलिए मनमानी कर सकते थे। सोचा, किसी तरह तो गर्मी और लू को भूल सकें।

चौक गुलज़ार था। घण्टा-घर साढ़े-सात बजा रहा था। हवा हल्की पड़ गई थी, लेकिन फिर भी गरमाहट से झुलसे बदन को सेंक जाती थी। दूकानों पर बत्तियाँ जगमगा उठी थीं। चारों ओर ख़ासी भीड़-भाड़ थी। सड़कों पर इक्के-ताँगों, साइकिलों और एकाध मोटरों का अविरल प्रवाह था। मानों कोई नदी पहाड़ से उतर कर मैदान की समतल भूमि में धीर, मन्थर गति से, किन्तु अविराम बही जाती हो। यह भीड़ की सरिता बिना लक्ष्य के इधर-उधर भटकती थी और इसकी गति तीर की तरह सीधी न होकर मण्डलाकार थी, और आगे न बढ़कर फिर-फिर अपने उद्गम की दिशा पकड़ती थी। नदी अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ती है, वन उपवनों को सींचकर, अपने दोनों किनारों के देश को धन-धान्य से परिपूर्ण कर सागर से जा मिलती है और एक बार फिर बादल बनकर खेत-खलिहानों पर अपने श्रम-बिन्दु बरसाती है, और उन्हें सोने से लाद देती है। किन्तु यह मानवी सरिता लक्ष्य-भ्रष्ट होकर मरुभूमि में भटक रही थी। इस सरिता के एक किनारे खड़े होकर हम सोच रहे थे, इस प्रवाह पर लड़ाई, मँहगी और अकाल का कोई असर नहीं! लेकिन असलियत यह न थी।

× × × × ×

मेरे एक वकील दोस्त चीनी ख़रीद रहे थे। सेर-सेर भर चीनी उन्होंने दो दूकानों से ली। दूसरे मित्र बच्चों के लिए दवा ख़रीद रहे थे। ग्राइप वॉटर की दो शीशियाँ चाहते थे, लेकिन एक ही मिली। दाम काफ़ी बढ़ गये थे।

मैं चुपचाप इक्के पर बैठा दीन-दुनिया की बातें सोचने में लगा था। न जाने लड़ाई कब ख़त्म होगी! कब यूरोप में दूसरा मोर्चा खुलेगा! कब जापान के ख़िलाफ़ कार्रवाई शुरू होगी। गेहूँ ढाई सेर हो गया था। कपड़ा ख़रीदना जान पर खेलना था। छुट्टी थी, मगर कहीं बाहर निकलना असम्भव था। गाड़ियों में न मालूम कहाँ की भीड़ उमड़ पड़ी थी। आदमी के ऊपर आदमी टूटता था। एक हफ़्ते के लिए बम्बई जाने में सब दुर्गति हो जाती थी।

विचारों की लड़ी तोड़ते हुए इक्केवाले ने पूछा: "बाबूजी, चीनी किस भाव ली?"

"साढ़े छै आना। और काफ़ी गन्दी और मैली।"

"सभी चीज़ की मुसीबत है, बाबूजी।"

"हाँ भई, मुसीबत पूरी है। इस बार आटे-दाल का भाव मालूम हो रहा है।"

"मुसीबत हम ग़रीबों की है बाबूजी। खाना-पहनना मुश्किल है।"

"कितना कमा लेते हो?"

"कया तो दो-ढाई लेता हूँ, लेकिन दो-डेढ़ तो जानवर ही खा लेता है। दाना भी मँहगा, घास भी मँहगी। लेकिन इसे तो पालना ही है, चाहे आप भूखे रह लें!"

"क्यों जी, बाज़ार में सरकारी कपड़ा आया है। क्यों नहीं उसमें से कुछ ख़रीदते?"

"कहाँ मारे-मारे फिरें, बाबूजी? पेट की चिन्ता-फ़िकर करें या सरकारी दफ़्तरों में जूतियाँ चटकाते फिरें?"

मैं सोचने लगा, हमारे देश में नौकरशाही का कैसा रोब है! लोग भूखे मर जायँगे लेकिन सरकारी दफ़्तर न जायँगे। सदियों की दुर्व्यवस्था का आज यह विषैला फल निकल रहा है।

इक्केवाला—"बाबूजी, सब चीज़ मँहगी हो गई, लेकिन एक चीज़ बहुत सस्ती है—आदमी की जान। उसकी कोई क़ीमत नहीं। जिधर देखो उधर ही आदमी मक्खियों की तरह पटापट मर रहे हैं।"

"हाँ भई, हालत काफ़ी नाज़ुक हो गई है। भूख और रोग लड़ाई से भी बढ़कर आदमी के दुश्मन हो रहे हैं। बङ्गाल में लोग हज़ारों की संख्या में मर रहे हैं। कुछ दिन बाद हमारे यहाँ भी वही होगा, अगर हमने अपना फ़र्ज़ पूरा न किया!"

इक्के०—"यही चौक लीजिए, रात भर गुलज़ार रहता था। अब शाम से ही उजड़ जाता है।..." उसने शहर के चकलों का बीभत्स वर्णन करते हुए कहा: "जहाँ पहले चवन्नी लगती थी, अब दोअन्नी से काम चल जाता है।"

ठीक ही था। सब चीज़ मँहगी हो रही थी; मनुष्य का मोल घट रहा था।

× × × × ×

वकील दोस्त के आने पर मैंने उससे कहा—"This is an old sinner. He talks of women the whole time!"

वकील साहब—"क्यों जी, तुम कहाँ रहते हो?"

"कटरे में ही रहता हूँ, हुज़ूर।"

"कटरे में तो हम भी रहते हैं। तब तो हम लोग पड़ोसी हुए।...क्यों जी, आज-कल कौन-कौन बाज़ार जाता है?"

इसके बाद बहुत-से रईसों की बातें हुईं। कौन सँभले, कौन बिगड़े, इक्केवाले ने बताया। वह भी इसी मर्ज़ में बिगड़ा था। पहले ताँगा चलाता था तो अच्छी कमाई थी। किसी से इश्क़ हो गया, बस उसी में वह बर्बाद हुआ। और आज भी लड़ाई और मँहगी के बावजूद वही रङ्ग उसके दिमाग़ पर चढ़ा था।

बड़ी दुनिया देख चुका था वह। बड़े घाटों का पानी पी चुका था। फ़्रांस घूम आया था। पिछली लड़ाई में 'लड़ाई कोर' में था। तीन-चार साल पहले बम्बई में था। गांधी जी का आन्दोलन देख चुका था। दो-एक लाठियाँ भी खाई थीं।

हमने पूछा: "क्या सन् ३० में तुम बम्बई थे?"

"जी, पण्डित मोतीलाल की स्पेशल बम्बई आई थी। मैं भी देखने गया था। बड़ी भीड़ें थीं। गोरों ने भीड़ पर ख़ूब लाठी चलाई। जिसे गांधी टोपी पहने देखते थे, उसी को पीटते थे। मैंने अपनी गान्धी टोपी उतार कर छिपाई, तब कहीं जान बची।"

कुछ देर बाद : "गान्धी जी ने क्या किया ? फ़िज़ूल में लोगों को कटवा दिया।"

हम : "गान्धी जी के आन्दोलन ने मुल्क को जगा दिया। पहले तो मानों सोता पड़ा था।"

इक्के० : "ग़रीबों का कुछ भला नहीं हुआ। ग़रीबों को कौन पूछता है ! वह तो ठोकर ही खायँगे। उनका कोई भला नहीं करेगा।"

हम: "ठीक कहते हो। ग़रीबों को अपने पैरों पर खड़ा होना है। अपनी ताक़त से दुनिया बदलनी है। दूसरों के मोहताज होकर कभी कुछ नहीं होता। आज भी अपनी एकता और सङ्गठित शक्ति से तुम सब सङ्कट काट सकते हो। जनता की ताक़त के आगे बड़ी से बड़ी हुकूमत को झुकना पड़ता है।"

लेकिन इक्केवाले को राजनीति से कोई ख़ास दिलचस्पी न थी। वह किसी पुराने युग का बिगड़ा, मनचला जवान रहा होगा। अब अधेड़ होकर ग़रीबी और मँहगाई से मजबूर अकाल की आशङ्का से वह चिन्तित था। पुरानी स्मृतियों को एक बार फिर सहेजते हुए उसने कहा :—

"कांग्रेस के जुलूस में भी बड़ी औरतें जुड़ी थीं। हम तो मेला समझ कर वहाँ गये थे। किसे मालूम था कि लाठियाँ बरसेंगी !"

हमने उसे समझाया : "इन बातों को छोड़ो। जब तक सब मिल-जुल कर सङ्गठन नहीं करते, हालत बिगड़ती ही जायगी।"

उसने सिर हिला कर सम्मति जाहिर की : "ठीक है, बाबूजी।" फिर मानों इन बातों का अन्त करने के लिए घोड़ा बढ़ाया और स्वर खोलकर गाना शुरू किया : "हाँ-आँ, पिया मिलन को जाना।"

सोवियत रूस में जातियों की समस्या

[चिमनाज़ अस्लानोवा
अनुवादक : रामावतार]

(लेखक सोवियत सङ्घ की सुप्रीम सोवियत के जातियों की सोवियत के वाइस चेयरमैन और बाकू तथा अज़रबैजान हाई स्कूल के प्रिंसिपल हैं—सम्पादक)

सोवियत रूस कई जातियों के सम्मेलन से बना है। उसकी विशाल भूमि बीसियों जाति के लोगों से आबाद है। रूसी, यूक्रेनियन, बेलो रूसी, उज़्बेक, जार्जियन, काज़क, अज़रबैजानी, तुर्कमानी, याकुत, चुकची, ताजिक, यहूदी, पोल, नेन्तसी, ओसोसियन, लेफ्फिन, मिस्री, तातार, कलमुक, बुरयत, युकफ्फिर, एलेत आदि जातियाँ सोवियत सङ्घ की उस विशाल भूमि में बसती हैं।

ज़ारशाही के समय में इन जातियों के भाग्य में केवल दरिद्रता ही दरिद्रता थी। उनका जीवन बराबर आपत्तियों के बोझ से दबा रहता था। यातनाओं की मार से लाखों आदमियों के प्राण पखेरू उड़ जाते थे। जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। लेनिन ज़ारशाही रूस को "जातियों की कारागार" के नाम से सम्बोधित करता था।

महान् अक्तूबर क्रान्ति के पूर्व केवल रूसी लोग ही वहाँ के वास्तविक निवासी समझे जाते थे। दूसरी जातियों के लोगों को विदेशी समझा जाता था। लेकिन रूसियों में भी केवल कुछ थोड़े से लोगों को ही खास सुविधाएँ थीं। बहुसंख्यक किसानों और मज़दूरों को राजनीतिक आज़ादी का उपभोग करने का अधिकार भी नहीं था। दूसरी ओर आर्थिक सङ्कट की मार से उनकी जान निकल रही थी।

सुदूर उत्तरी प्रदेश के निवासी व्यवसायियों के लोभ से वे बुरी तरह परीशान थे। वे शोषक व्यापारी उनके ग्रामों में जाकर सुई और एक बोतल वोदका (रूसी शराब) या एक डिब्बा चाय के बदले में उनसे एक हिरन और एक सुन्दर जानवर का चमड़ा ले जाते थे। उत्तरी युराल प्रदेश से वे टँगारी के बदले में बहुमूल्य नीली लोमड़ी का चमड़ा ले जाते थे।

काकेशस की पहाड़ी जातियाँ अपनी आज़ादी के लिए वर्षों तक घमासान युद्ध करने के बाद अपने गाँवों, बाग़ों और चरागाहों को छोड़कर सुदूर पहाड़ियों में चली गईं और उन्होंने ग़ुलामी के बदले में दरिद्रता का नङ्गा जीवन व्यतीत करना ही बेहतर समझा। इसी तरह मध्य एशिया के पहाड़ी ज़िलों में बहुत से किरगिज़, ताजिक और दूसरी जातियों के लोग भी अपनी उपजाऊ ज़मीन को छोड़कर पहाड़ी इलाक़ों में चले गये।

काकेशस और मध्य एशिया के निवासियों को अपनी आज़ादी की लड़ाई में बहुत बार बुरी तरह हार खानी पड़ी और उनके ख़ून की नदियाँ बहीं। लेकिन उन हारों से न उनकी हिम्मत टूटी और न उनके स्वातन्त्र्य-प्रेम में ही किसी प्रकार की कमी हुई। यही कारण थे कि ज़ारकालीन रूस में क्रान्ति की आग बराबर सुलगती रही।

ज़ारशाही ग़ुलाम जातियों के स्वातन्त्र्य संग्राम को दबाने के ख़याल से बराबर इस बात का प्रयत्न करती थी कि वह विभिन्न जातियों के बीच घृणा तथा अविश्वास के भाव का सृजन करे और एक को दूसरे के ख़िलाफ़ उकसावे ताकि उसका ख़ूनी शासन ज्यों का त्यों बना रहे। इस ख़याल से उसने रूसियों को यहूदियों, आरमेनियों को अज़रबैजानियों आदि के ख़िलाफ़ लड़ाने का बराबर

प्रयत्न किया। यहूदी-विरोधी दंगे तथा दूसरी जातियों की हत्या तो ज़ारशाही के समय में आम बात थी। काकेशस के शूशा नामक शहर को बिलकुल धराशायी कर दिया गया था और वहाँ के बीस हज़ार निवासियों का दिन दहाड़े क़त्लेआम कर दिया गया था। दङ्गों और एक जाति को दूसरी जाति के ख़िलाफ़ उकसाने के कुकर्म का आश्रय ज़ारशाही क्रान्ति की बढ़ती हुई आग को दबाने के विचार से ही लेती थी। इस प्रकार से ज़ारकालीन अफ़सर ज़ारशाही के ख़िलाफ़ जनता के उमड़ते हुए क्रोध तथा ग़ुस्से को यह कहकर मोड़ने की कोशिश करते थे कि उनकी दिक़्क़तों की ज़िम्मेदारी तत्कालीन विभिन्न जातियों पर थी।

यहूदी, अज़ुरबैजानी, उज़्बेक तथा अन्य दूसरी जातियों को सरकारी नौकरी करने का हक़ नहीं था। ज़ारशाही ख़ासकर यहूदियों के साथ बहुत ही निर्दयता से पेश आती थी। इस बात में जर्मन फासिस्त ज़ारकालीन "ब्लैक हण्ड्रेड" के सच्चे और योग्य उत्तराधिकारी हैं।

यहूदी लोग तथाकथित पेल ऑफ सेटलमेण्ट तक ही सीमाबद्ध थे। उन्हें मध्य रूस, सेण्ट पीटर्सबर्ग तथा अन्य दूसरे बड़े-बड़े शहरों में बसने का अधिकार नहीं था। एक बार की बात है कि रूस के महान् कलाकार लेवीतान को यहूदी होने के कारण मास्को से निर्वासित कर दिया गया था। यहूदियों को खेती-बारी करने का अधिकार भी नहीं था। उनके बच्चों को स्कूल तथा कालेजों में भर्ती करने की तादाद निश्चित कर दी गई थी, ताकि सेण्ट पीटर्सबर्ग और मास्को तथा दूसरे शहरों के स्कूल-कालेजों में उनकी संख्या क्रमशः तीन और पाँच प्रतिशत से अधिक न हो सके।

ज़ारकालीन रूस की विभिन्न जातियाँ ग़ुलामी की दोहरी चक्की में पीसी जाती थीं। एक ओर ज़ारशाही की और दूसरी ओर ज़मींदारों, सामन्तों, पुजारियों और व्यवसायियों की मार से वे तबाह और बर्बाद हो रही थीं। ज़ार की नीति अपने उपनिवेशों की ग़ुलाम जातियों को अज्ञान और अन्धकार में रखने की थी। क्रान्ति के पहले किरग़िज़िया के दो सौ आदमियों में केवल एक आदमी लिखना पढ़ना जानता था। क़ाज़क़स्तान, किरग़िज़िया, आरमेनिया और दूसरे उपनिवेश में एक भी कालेज या विश्वविद्यालय नहीं था। वहाँ पर स्कूलों की तादाद उँगली पर गिनने लायक थी। वहाँ पर राष्ट्रीय भाषाओं का व्यवहार वर्जित था। ग़ुलामों के लिए अपनी भाषा में साहित्यिक रचना करना मना था। ग़ैर रूसी जातियों के बुद्धिजीवियों को दबा दिया गया था। सार्वजनिक कला तथा यूक्रेन, जार्जिया, आरमेनिया, किरगिज़ और दूसरे राष्ट्रों की प्राचीन संस्कृतियों को दफ़ना दिया गया था। जार्जिया के निवासियों को लोकप्रिय राष्ट्रीय गाना गाने के अभियोग में फाँसी पर झुला दिया जाता था। यूक्रेनियनों को अपना थियेटर बनाने का अधिकार नहीं था। रूस की बासियों जातियों के पास अपनी वर्णमाला भी नहीं थी।

श्रमजीवी क्रान्ति ने रूस से ज़ारशाही का ख़ात्मा कर वहाँ पर एक आज़ाद, जनतांत्रिक तथा श्रमजीवी राज्य की स्थापना की, जिसने वहाँ से हमेशा के लिए जातीय ज़ुल्मों का नाम-निशान मिटा दिया। उसने रूस की सभी जातियों को आज़ाद बना दिया और तब से उन्हें अपने भाग्य का फ़ैसला करने का पूरा अधिकार है।

रूसी क्रान्ति के एक सप्ताह बाद १५ नवम्बर सन् १९१७ को लेनिन और स्तालिन ने अपने हस्ताक्षर से "रूसियों के अधिकार का घोषणापत्र" प्रकाशित किया। उस घोषणापत्र के द्वारा सोवियत सरकार ने अपनी राष्ट्रीय नीति के विषय में निम्नाङ्कित सिद्धान्तों का एलान किया :—

१—सोवियत की सभी जातियों को समानता और आज़ादी का अधिकार होगा।

२—विभिन्न रूसी जातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार होगा, जिसमें पृथक् होने और स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्थापना करने का अधिकार भी शामिल होगा।

३—सभी तरह के राष्ट्रीय और जातियों के धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले प्रतिबन्धों का खात्मा होगा।

४ - अल्पसंख्यक जातियों और एकजातीय दलों को पूर्ण विकास का अधिकार होगा।

रूसी जनता के अधिकार-सम्बन्धी एलान ने विभिन्न जातियों की श्रमजीवी जनता को अपनी मुक्ति और आज़ादी के एकमात्र मार्ग का निर्देश किया है। वह मार्ग है, सम्पत्तिजीवी वर्ग के खिलाफ़ वहाँ की जनता का अपने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भाईचारे का सङ्गठन। इसी विचार से वहाँ के किसानों एवं मज़दूरों ने सोवियत सङ्घ की सभी जातियों के श्रमजीवी वर्ग के साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा कर घरेलू और बाहरी दुश्मनों—क्रान्ति-विरोधियों और आक्रमणकारियों से अपने मुल्क और आज़ादी की रक्षा की। उस ऐतिहासिक विजय के फलस्वरूप सोवियत श्रमजीवी वर्ग की ताक़त अजेय और महान् बन गई, जिसके जोड़ की ताक़त आज तक दुनिया में नहीं देखी गई।

विदेशी दुश्मनों की हार तथा गृहयुद्ध की समाप्ति के थोड़े ही दिनों बाद यानी सन् १९२२ में अखिल रूसी कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन मास्को में हुआ। उस कांग्रेस में एकमत से सोवियत सङ्घ का निर्माण करने का निश्चय किया गया। कांग्रेस के निश्चयों द्वारा इस बात पर विशेष ज़ोर दिया गया कि सोवियत सङ्घ में शामिल होने न होने के लिए सभी प्रजातन्त्रों को पूरी स्वतन्त्रता होगी, और उन पर किसी क़िस्म का दबाव नहीं डाला जायगा। साथ ही उन्हें सोवियत सङ्घ से पृथक् होने का हक़ भी होगा।

सभी प्रजातन्त्रों को एक सङ्घ में सङ्गठित करने पर इसलिए ज़ोर दिया गया था कि युद्ध के कारण उसकी जो तबाही और बर्बादी हुई थी उसमें सुधार किया जा सके और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की अस्थिरता के कारण उस पर बाहरी आक्रमण का जो खतरा था, उससे बचाव की व्यवस्था की जा सके, क्योंकि सोवियत सङ्घ चारों तरफ़ से अपने पूँजीवादी दुश्मनों से घिरा हुआ है।

समाजवादी क्रान्ति ने रूस से सभी प्रकार के विशेषाधिकार और प्रतिबन्धों का खात्मा कर दिया। फिर भी वहाँ पर वैषम्य के कुछ पुराने चिह्न बाक़ी रह गये थे जैसे ज़ारशाही द्वारा उत्पन्न की गई विभिन्न जातियों की सांस्कृतिक विषमताएँ। इसी के फलस्वरूप वहाँ के निवासियों में आर्थिक और सांस्कृतिक विभेद पाये जाते थे। लेकिन सोवियत सङ्घ की स्थापना होते ही वे सारी विषमताएँ दूर हो गईं।

ग्रेट रूस के जाँगर चलानेवालों और सदियों से विकसित उनकी गौरवपूर्ण संस्कृति ने वहाँ की पिछड़ी हुई जातियों के आर्थिक और सांस्कृतिक उत्थान में काफ़ी सहायता पहुँचाई। रूसी संस्कृति का सुन्दर और लाभदायक प्रभाव वहाँ की सभी जातियों की संस्कृति पर पड़ा। राजनीतिक विषमता और एक के द्वारा दूसरे का शोषण मिट जाने से जातीय दुश्मनी की सम्भावनाएँ हमेशा के लिए मिट गईं। दाग़िस्तान के सुप्रसिद्ध कवि सुलेमान स्ताल्स्की ने एक बार कहा था—"बोल्शेविक क्रान्ति ने, जिसने सम्पूर्ण संसार को हिला दिया, हमारे रहन-सहन की प्राचीन परम्परा को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। अक्तूबर क्रान्ति ने हमारी विशाल भूमि को निरन्तर जलनेवाली चमकीली चिनगारी से

आलोकित कर दिया।" क्रान्ति-अग्नि का आलोक काकेशस की सुदूर पहाड़ियों से लेकर मध्य एशिया की मरुभूमि, सुदूर पूर्व और सुदूर उत्तर के टुण्ड्रा प्रदेश तक पहुँच चुका है।

सोवियत सङ्घ की जनता दो पीढ़ी के दरम्यान ही अपनी पिछड़ी हुई आदिम अवस्था से छलाँग मार कर बीसवीं सदी की उच्चतम अवस्था को आ पहुँची है। आधुनिक समाजवादी संस्कृति सोवियत रूस के घर घर तक पहुँच चुकी है। वे जातियाँ भी आज उससे अछूती नहीं बची हैं जो ज़ारशाही आक्रमण से जान छुड़ा कर इधर-उधर भागती फिरती थीं।

सोवियत सङ्घ के सभी राष्ट्रों की उन्नति बहुत तेज़ी से हो रही है। आज उनकी खनिज सम्पत्ति पुराने ज़माने की तरह बेकार नहीं पड़ी है। हर साल सोना, जस्ता, कोयला, मैंगनीज़, तेल, टीन, लोहा, सीसा, गन्धक आदि द्रव्यों की नयी-नयी खानों का पता लग रहा है। विभिन्न प्रजातन्त्रों में बहुत ही मशहूर और उपयोगी कल-कारखाने हैं। कोयला, ताँबा और सीसे की पैदावार काज़कस्तान में, मैंगनीज़ और ट्रान्सकाकेशिया में, कोयला किरगिज़ प्रजातन्त्र में, और तेल चेचेनो इङ्गुशेतिया में पैदा होता है। ये सभी खनिज पदार्थ विभिन्न प्रजातन्त्रों की औद्योगिक उन्नति के आधार-स्तम्भ हैं।

पुराने समय में काज़कस्तान की कोयले, ताँबे और सीसे की खानों को यों ही छोड़ दिया जाता था। ऐसी भयानक स्थिति थी कि क्रान्ति के पूर्व वहाँ पर कोई रेल का नाम भी न जानता था। काज़कस्तान में सर्व प्रथम सन् १६२८-३२ में रेलवे लाइन बनी थी। वह लाइन तुर्किस्तान को साइबेरिया से जोड़ती है, और उसके फलस्वरूप एक विशाल भूभाग, जो अर्धमरुस्थल की शक्ल में बेकार पड़ा था, आबाद हो गया।

साम्यवादी राज्य बनते ही उज्बेकिस्तान के आर्थिक क्षेत्र में एक नई ज़िन्दगी आ गई है। वहाँ पर बहुत से बड़े-बड़े सूती कारखाने हैं। सिंचाई के सुन्दर प्रबन्ध के कारण वहाँ कपास की उपज बहुत बढ़ गई है।

पहले अज़रबैजान में केवल बाकू ही औद्योगिक केन्द्र था। बाकू अपने तेल के लिए दुनिया में मशहूर है। लेकिन वहाँ के तेल का इस्तेमाल बहुत बुरी तरह से किया जाता था। बाकू के तैल-कूपों के मालिकों ने उससे काफ़ी मुनाफ़ा पैदा किया, जब कि दूसरी तरफ़ अज़रबैजान की जनता ग़रीबी की मार से तबाह हो रही थी। इन दिनों वहाँ पर बहुत-से नये-नये कल-कारखानों का निर्माण हो रहा है। तेल का उत्पादन तिगुना बढ़ गया है।

सोवियत सङ्घ के ग्यारहों समाजवादी प्रजातन्त्रों की आर्थिक उन्नति बहुत तेज़ी के साथ हो रही है। केवल यूक्रेन की रेल ने एक साल में सन् १६१३ ई० के सम्पूर्ण रेलवे स्टेशनों की अपेक्षा अधिक माल ढोया। जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, और फ्रांस की सम्मिलित तुलना में ट्रान्सकाकेशिया, मध्य एशिया और काज़कस्तान हवाई जहाज़ों द्वारा अधिक माल और डाक ढोते हैं।

सोवियत प्रजातन्त्रों में औद्योगिक उन्नति के साथ-साथ कृषि की उन्नति भी तेज़ी के साथ हुई। सामूहिक खेती ने वहाँ की प्राचीन कृषि-व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन ला दिया। जहाँ पर प्राचीन ख़ानाबदोश आर्थिक व्यवस्था का बोलबाला था, वहाँ पर उपज और गल्ले की मिकदार बढ़ाने के नये वैज्ञानिक साधनों की पैदाइश हुई। सामूहिक और सरकारी खेतों पर सैकड़ों हज़ार ट्रैक्टर, कटनी मशीन (हारवेस्टर-कमबाइन) तथा दूसरी मशीनों का इस्तेमाल किया जा रहा है। पहाड़ी इलाक़ों और असीम स्टेप के भूभागों पर जहाँ पहले लकड़ी के हलों से काम लिया जाता था, आज वहाँ के

निवासियों के पास अपनी कृषि को सफल बनाने के लिए आधुनिक कृषि-सम्बन्धी औज़ार मौजूद हैं। केवल यूक्रेन में ८८,००० ट्रैक्टर और २७,००० कटनी मशीनों से काम लिया जाता है। बेलो रूस के सामूहिक और सरकारी खेतों के पास ८,१०० ट्रैक्टर, ४,००० अनाज अलग करने की मशीन, ४,००० ट्रक (माल ढोनेवाली मोटर), और १,२०० कपास पैदा करने की मशीन हैं। किरगिज की तराइयों और पथरीली भूमि पर खेती के लिए ३,६६४ ट्रैक्टरों का व्यवहार किया जाता है। तातारिया, अज़रबैजान आदि प्रजातन्त्रों में क्रमशः ६,८८५ ट्रैक्टर, और २,८७१ हारवेस्टर कमबाइन तथा ५,५६२ ट्रैक्टरों से खेती की जाती है।

इन प्रजातन्त्रों में नयी-नयी फ़सलों का आविष्कार भी हुआ है। यूक्रेन में चावल पैदा करने की विधि का जन्म हुआ है। ट्रान्सकाकेशिया में चाय की पैदावार बहुत ज़ोरों पर है, और वहाँ पर लतरदार फलों के बगान भी लगाये गये हैं। जानवरों की वृद्धि में भी तरक्क़ी हुई है। भेड़ियों से बढ़िया क़िस्म का ऊन पैदा करने की चलन बढ़ रही है।

नये-नये उद्योग-धन्धों और कृषि की उन्नति की वजह से विभिन्न व्यापारों तथा धन्धों के लिए मज़दूरों की माँग बहुत बढ़ गई है, जिसके सम्बन्ध में कुछ भी सोचना पहले के कुछ भागों के लिए निरा स्वप्न था। उदाहरण के लिए काज़कस्तान को लिया जा सकता है। पहले वहाँ के जन्मजात निवासियों में लोहार का भी काम करनेवाला कोई नहीं पाया जाता था, तो फिर इन्जिनियर, डाक्टर आदि के सम्बन्ध में क्या पूछना। लेकिन आज वहाँ पर बड़े-बड़े बुद्धिजीवियों तथा विद्वानों की कमी नहीं है। कावेशस, मध्य एशिया और सुदूर उत्तरी प्रदेश के अन्तराल में तरह-तरह के धन्धों की संख्या और उनमें काम करनेवाले श्रमजीवियों की संख्या में काफ़ी वृद्धि हुई है।

सोवियत सङ्घ की कुछ जातियों की पुरानी संस्कृति के पिछड़ेपन का सबूत उनके कुछ सामन्तवादी रीति-रिवाजों से मिलता है। खास कर स्त्रियों के बारे में उनके विचार बहुत ही सङ्कीर्ण थे। लड़कियाँ जब विवाह के योग्य हो जाती थीं तो उन्हें अधिक दाम पर बेच दिया जाता था। वह ऐसे ही लोगों के मत्थे पड़ती थीं, जो उसके बदले में अधिक से अधिक रुपये देने को तैयार होते थे। वहाँ के लिए लड़कियों का अपहरण एक आम बात थी। घर उनके लिए क़ैदख़ाना था। कोई भी ग़ैर आदमी किसी ग़ैर स्त्री का चेहरा नहीं देख सकता था। अज़रबैजानी, ताजिक, और उज़्बेक औरतें पर्दे के लिए क्रमशः 'चद्रा' और 'चवचन' का प्रयोग करती थीं। काकेशस की पहाड़ी जातियों में आपसी झगड़ा एक मामूली बात थी। उनके ये झगड़े पुश्त दर पुश्त से चलते आ रहे थे।

पूर्वी प्रदेशों की अधिकांश जातियों में औरतों को कुछ भी हक़ प्राप्त नहीं थे। स्त्रियाँ हेय समझी जाती थीं। वे अपने पति, पिता और भाई की आज्ञाकारिणी दासी समझी जाती थीं। दाग़िस्तान के लेझिन लोग उनके प्रति घृणा से कहते थे—"तुम कुछ भी नहीं कर सकतीं, क्योंकि तुम स्त्री हो।" अज़रबैजान के पुरुष स्त्रियों से कहते थे—"अपने आँटे से सने हाथों से पुरुषों के कार्यों में दखल मत दो।"

लेकिन साम्यवादी व्यवस्था क़ायम होते ही स्त्रियों के सारे बन्धन कट गये। वह बिलकुल आज़ाद हो गयीं। आज सोवियत सङ्घ की सभी स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों की रक्षा क़ानून करता है। सोवियत संघ की राष्ट्रीय नीति ने पूर्वी मुल्कों की हज़ारों

स्त्रियों के जीवन में कायापलट कर दिया। उसी नीति के फलस्वरूप आज कितनी स्त्रियाँ राजनीतिज्ञ, डाक्टर, इञ्जिनियर, उड़ाकू, अध्यापिका, कृषि-विशेषज्ञ आदि के रूप में विद्यमान हैं।

सोवियत सरकार ने प्रारम्भ से ही प्राचीन रूसी साम्राज्य के पड़ोसी भूभागों में जातीय संस्कृति और शिक्षा के प्रसार की ओर विशेष ध्यान दिया है। सोवियत संघ की भाँति सभी राष्ट्रीय प्रजातन्त्रों में निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य है। फलस्वरूप स्कूल जानेवाले विद्यार्थियों की संख्या अज़रबैजान में ३५ गुना, तुर्कमान में ३७ गुना, उज्बेकिस्तान में ५३ गुना, क़ाज़क़स्तान में ४८ गुना, आरमेनिया में ६८ गुना और किरगिज़ में १७२ गुना अधिक बढ़ गयी है। सन् १९३६ में सोवियत रूस के स्कूलों में ११२ भाषाएँ पढ़ाई जाती थीं। लेकिन क्रान्ति के पहले उन भाषाओं में से बहुतों के पास अपनी वर्णमाला भी नहीं थी।

ज़ार के समय में जितने भी विश्वविद्यालय और वैज्ञानिक संस्थाएँ थीं, सभी रूसी। उनके सम्बन्ध में वहाँ की बहुत सी जातियों को कुछ भी पता नहीं था। इन दिनों उच्च शिक्षा के लिए बेलोरूस में २२, अजरबैजान में १३ और क़ाज़क़स्तान में १९ संस्थाएँ हैं। यूक्रेन में विश्वविद्यालयों और वैज्ञानिक गृहों की संख्या १५ से १३९ हो गयी है। यूक्रेन में उच्च शिक्षा की संस्थाएँ जर्मनी से भी अधिक हैं, जब कि जर्मनी की आबादी यूक्रेन से दूनी है। ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी और इटली के विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की सम्मिलित संख्या की तुलना में सोवियत संघ के विश्वविद्यालयों में तिनगुना अधिक विद्यार्थी अध्ययन करते हैं।

सोवियत सरकार की राष्ट्रीय नीति के परिणाम-स्वरूप लोगों में निर्माण-शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और सभी प्रजातन्त्रों में राष्ट्रीय-कला के निर्माण का स्रोत फूट निकला। उसने जनता की निर्माणकारी शक्ति को पुनः जगा दिया। यूक्रेन, जार्जिया, आरमेनिया और दूसरे प्रजातंत्रों के महान् लेखकों की रचनाएँ आज सम्पूर्ण रूस के लिए महान् निधि के रूप में उपस्थित हैं। विभिन्न जातियों की महान् सांस्कृतिक परम्परा ने रूसी जनता और सोवियत् सङ्घ की प्रत्येक जाति को आगे बढ़ाया है। यूक्रेन के कवि तराश शेवचेन्को, जार्जिया के कवि शोथा रूस्थवेली और किरगिज़िया के कवियों के महाकाव्य इन दिनों लाखों रूसी जनता द्वारा पढ़े जाते हैं। दूसरी ओर रूसी संस्कृति ने सोवियत संघ को हरा-भरा बना दिया, जिसका असर उनकी राष्ट्रीय संस्कृति के उत्थान पर काफ़ी पड़ा। पुश्किन और डारविन, शेक्सपियर और सरवान्टेज़, टाल्सटाय और मार्क्स की रचनाओं का दर्जनों रूसी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

सोवियत सङ्घ की सभी जातियों और राष्ट्रों को, उनकी संख्या तथा अतीत और वर्तमान की दशाओं में भेदभाव का ख़्याल किये बिना, आर्थिक, सार्वजनिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में बराबर का अधिकार है।

सोवियत सङ्घ के विधान की १२३वीं धारा में इस प्रकार का उल्लेख है—

"सोवियत सङ्घ के सभी नागरिकों को, जाति और वंश के भेदभाव के बिना, आर्थिक, राजकीय, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में बराबर का अधिकार है, जो कि क़ानून का एक अभिन्न अङ्ग है।

"किसी भी नागरिक के अधिकार पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आघात करना या उसकी जाति तथा वंश के कारण उसके लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष अधिकार की व्यवस्था करना तथा एक जाति

के खिलाफ़ दूसरी जाति का जातीय या वंशानुगत पृथक्करण या घृणा का भाव पैदा करना क़ानूनन् नाजायज़ है।"

जीवन के सभी क्षेत्रों में ग्यारहों प्रजातन्त्रों को बराबर का हक़ है। प्रत्येक प्रजातन्त्र का अपना अलग-अलग विधान है। उनके विधान वहाँ की खास अवस्थाओं का ख़्याल रखते हुए ही सोवियत विधान के एकीकरण से बनाये जाते हैं। **प्रत्येक प्रजातन्त्र को सोवियत संघ से पृथक् होने का हक़ है।** रिपब्लिक के भूभागों में वहाँ की जातियों की राय के बिना किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

सोवियत सङ्घ की उच्चतम कार्यकारिणी सुप्रीम सोवियत है, जिसके दो चैम्बर हैं, जिनमें एक का नाम सङ्घ सोवियत (Union of Soviets) और दूसरे का नाम जातियों की सोवियत (Soviet of Nationalities) है। दोनों को समान अधिकार हैं।

प्रत्येक यूनियन रिपब्लिक को, उसके क्षेत्रफल और आबादी का ख़्याल किये बिना, जातियों की सोवियत के लिए २५ सदस्य, प्रत्येक स्वतन्त्र रिपब्लिक को १० सदस्य, प्रत्येक स्वतन्त्र भूभाग (Autonomous region) को ५ सदस्य और प्रत्येक जातीय हल्के (National area) को एक सदस्य निर्वाचित करने का हक़ है। इस प्रकार अज़रबैजान सोवियत समाजवादी रिपब्लिक को, जिसकी आबादी तीस लाख से कुछ अधिक है, और यूक्रेनियन सोवियत समाजवादी रिपब्लिक को, जिसकी आबादी तीन करोड़ से कुछ अधिक है, जातियों की सोवियत में बराबर-बराबर प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। इस तरह से हर रिपब्लिक को समान अधिकार है, और प्रत्येक को जातियों की सोवियत में अपने खास स्वार्थों की रक्षा करने के लिए बराबर की सुविधा है।

संक्षेप में यही हैं सोवियत सङ्घ की राष्ट्रीय नीति की प्रधान विशेषताएँ, जिनकी वजह से सोवियत सङ्घ के राष्ट्रीय सवाल आसानी के साथ हल हो सके हैं। इनका सारांश हम सोवियत विधान के लेखक स्वयं कामरेड स्तालिन के इन शब्दों द्वारा दे सकते हैं :—

"राष्ट्रों के आपसी झगड़े को तीव्र करने में प्रधान सङ्गठनकर्त्ता का काम करनेवाले शोषक वर्ग की अनुपस्थिति, आपसी भेद-भाव और जातीय विद्वेष को बढ़ानेवाले शोषण का न होना, श्रमजीवी वर्ग के हाथ में शासन सूत्र का होना—जो वर्ग दुनिया की दासता का शत्रु और सच्चे मानी में अन्तर्राष्ट्रीयता का अग्रदूत है—आर्थिक और सामाजिक जगत् के सभी क्षेत्रों में जनता द्वारा पारस्परिक सहायता के आधार पर वास्तविक भाईचारा स्थापित किया जाना; और अन्त में सोवियत सङ्घ की जनता की राष्ट्रीय संस्कृति का फलना फूलना—उस संस्कृति का जो स्वरूप में राष्ट्रीय और विषयवस्तु में समाजवादी है—इन्हीं सब बातों ने सोवियत संघ की जातियों में कायापलट ला दी है, उनके आपसी मनमुटाव और अविश्वास का जड़ से खातमा कर दिया है, उनके अन्दर आपसी साहचर्य का भाव उत्पन्न किया है, और इस प्रकार एक सङ्घबद्ध राज्य के बीच दोस्ताना सहयोग के भाव का उदय हुआ है।

"परिणाम स्वरूप, आज हम लोगों के पास बहु-मिश्रित जातियों के आधार पर एक पूर्ण विकसित समाजवादी राज्य मौजूद है, जो सभी परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो चुका है और जिसकी साख अब इतनी बढ़ चुकी है कि, उससे संसार का कोई राष्ट्र ईर्ष्या किये बिना नहीं रह सकता।"

सोवियत जनता के लिए अपने राष्ट्रों के बीच मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करना, समाजवाद की भावी विजय के लिए सबसे पवित्र और अनिवार्य अङ्ग है। आज वहाँ के सर्वविख्यात और

प्रशंसित कलाकार और लेखक अपनी सारी ताक़त को अन्तर्राष्ट्रीय विचारों के प्रसार में और सोवियत सङ्घ की विभिन्न जातियों के बीच भाई-चारे का सम्बन्ध स्थापित करनेवाली रचनाओं में लगा रहे हैं। उन रचनाओं से वहाँ के लाखों निवासियों के विचारों और भावों का पता आसानी से चल सकता है।

मध्य एशिया के तियानशन पहाड़ों के मध्य भूभागों में बसनेवाली टुङ्गन्स जाति के लोग एक बहुत ही सुन्दर और भाव-प्रदर्शन मुहावरे का प्रयोग करते हैं, जिससे विभिन्न जनता के मैत्री सम्बन्धी भाव का आभास मिलता है। उस मुहावरे का भावानुवाद इस प्रकार है—

"अगर सभी डण्ठलों को एक साथ रख दिया जाय तो खुली हवा में जलती अग्नि उसे और तेज़ी से जला दे।"

सोवियत सङ्घ की जातियों की ख़ुशहाली का सबूत फ़ासिस्त जानवरों के खिलाफ़ उनका सङ्गठित मुक़ाबला है। सोवियत सङ्घ पर हिटलर का आक्रमण होते ही वहाँ की सारी जातियाँ अपनी स्वतन्त्रता और मातृभूमि को बचाने के लिए जाग उठीं और जर्मनों के खिलाफ़ डट गईं। उन्होंने अपनी फ़ौलादी ताक़त से हिटलर के दाँत खट्टे कर दिये और आज उसे लेने के देने पड़ रहे हैं। आज उन बहादुर क़ौमों की ताक़त के सामने हिटलर के बड़े-बड़े टैङ्क टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं। आख़िरकार वह सोवियत जनता की सम्मिलित ताक़त न थी। भला उसका मुक़ाबला कौन कर सकता है! धन्य हो सोवियत की आज़ाद क़ौमें! तुम्हारे ऊपर ही मानव-जाति को संहार से बचाने का गुरु भार है।

———

नफ़रत
[अमृतराय]

इलाहाबाद से बनारस आनेवाली गाड़ी आज वहीं से डेढ़ घण्टा लेट थी। इसी लिए भदोही के आगे आकर जब वह फिर धीमी होते-होते रुक गई तो कमल मन ही मन जलकर ख़ाक हो गया। बोला—"कितने नालायक़ हैं साले। वक़्त से गाड़ी भी ले आ ले जा नहीं सकते। बैलगाड़ी बनाकर रख दिया है। अब तो लगता है सत्तू-पिसान बाँधकर चलना पड़ेगा।" और उसके मुख पर मुस्कराहट की एक पतली रेखा खिंच गई। उसने खिड़की से सिर निकाला कि देखें क्या गड़बड़ है।

'सिगनल तो ठीक है। लेकिन यह क्या! लोग यह पीछे की तरफ़ भागे कहाँ जा रहे हैं! शायद कोई गाड़ी के नीचे आ गया।'

कमल भी डब्बे से उतरकर भीड़ के साथ चला। पहुँचकर देखा—

एक साँवला-सा आदमी कटा पड़ा है। शायद अनाहार से उसकी मांस-पेशियाँ झूल गई हैं लेकिन यों वह तीस-बत्तीस से ज़्यादा का नहीं मालूम पड़ता। शायद अच्छी तरह पैर फैलाकर दोनों पटरियों पर चित लेटा था क्योंकि उसकी दोनों टाँगें कटी हुई हैं और चेहरे का ऊपरी भाग लेते हुए सिर बुरी तरह कुचल गया है और अन्दर का भेजा बाहर आ गया है।

यों तो देखने में टाँगों की हड्डी कट जाने के कारण निराधार झूलते मांस के लाल लोथड़े के बीच से झाँकती हुई सफ़ेदी भी कम बीभत्स नहीं है, लेकिन जिस तरह रेल के पहिये उसके सिर और मुँह पर से गुज़रे हैं और जिस तरह उसका सिर एक अजीब ऐंठ के साथ एक ओर को लटक गया है उससे मृत व्यक्ति की मुद्रा में एक वक्रता आ गई है।

कमल ने अपने मन में कहा—हमारी तरफ़ कितनी नफ़रत से देखती है यह लाश, गोया हमीं उसकी जान लेनेवालों में हों! अगर कहीं उस आख़िरी पल में डर की वजह से उसकी ये आँखें मुँद न जातीं—

थोड़ा सिहर उठा कमल जैसे सचमुच वे आँखें फटी ही रह गई हैं और उनमें से नफ़रत की चिनगारियाँ उड़ रही हैं जिनसे उसका शरीर सुलग रहा है। फिर उसे लगा कि वह नफ़रत की चिनगारियाँ नहीं, नफ़रत के भाले हैं, बहुत तेज़, सुई की तरह नोकीले, ज़रा-से में शरीर के आर-पार हो जानेवाले, चमाचम चमकते हुए भाले जो पूरब-पच्छिम-उत्तर-दक्खिन हर दिशा से उसकी ओर बढ़ रहे हैं...

लेकिन दूसरे ही पल कमल ने कहा—छि:! आदमी के दिमाग़ में भी क्या-क्या तसवीरें आती हैं। उसके आँखें हैं कहाँ! वह तो बन्द हैं—जैसा कि होना ही चाहिए मुर्दे की आँखों को।

अब कमल ने चैन की साँस ली लेकिन अब भी उसकी साँस ज़ोर-ज़ोर से चल रही थी।

उसने फिर उस लाश को और ग़ौर से देखा—नङ्गी। और उसके दिमाग़ में घूम गया—दुनिया में यों ही तो आता है आदमी—

लेकिन फिर लाश पर जगह-जगह जमे हुए कत्थई और काले ख़ून को देखकर उसने कहा—ग़लत है। दुनिया में आदमी यों नहीं आता। तब उसका ख़ून टेसू के फूल की तरह लाल होता है—यानी असली ख़ून की तरह। यह भी कोई ख़ून है—काई-सा, काला, मटीला। तब उसमें फ़ौवारे की तेज़ी होती है। ऐसा नहीं होता वह—बेजान, बेहिस। तब उसमें गर्मी होती है—जहाँ-तहाँ जम नहीं जाया करता बर्फ़ की तरह। तब ज़िन्दगी को देखने की उमङ्ग होती है आदमी

में जो उसके ख़ून को अपनी लाली देती है—यह नफ़रत नहीं जो उसके ख़ून को काला कर दे, अँधेरे की तरह, कालिख की तरह, मिट्टी की तरह, मौत की तरह, नफ़रत की तरह।

तभी कमल को लगा कि मुर्दा साँस ले रहा है—उसकी छाती लोहार की भाथी की तरह धक्के के साथ ऊपर-नीचे हो रही है—जैसे उसका दम अब टूट ही रहा हो और साँस भारी चलने के बावजूद वह रुक-रुककर बड़ी पतली आवाज़ में कह रहा हो—

"देखते क्या हो! मेरी क्या उम्र थी मरने की— तीस-बत्तीस कोई मरने की उम्र होती है! तुम समझोगे रेल के पहिये ने मेरी ज़िन्दगी का सूत तोड़ दिया। हो सकता है तुम सही हो। हो सकता है उस सूत का आख़िरी रेशा रेल के पहिये ने ही तोड़ा हो। लेकिन सच पूछो तो मेरी ज़िन्दगी का सूत बहुत पहले ही टूट चुका था, तभी जब मैं भूख से लथपथ इन्हीं पटरियों पर आकर ढेर हो गया था।"

और तभी कमल अपने डब्बे की तरफ़ लौट पड़ा—गाड़ी ने सीटी दे दी थी। उसकी आँखों में, उसके दिल और दिमाग़ में एक ही तसवीर थी।

रास्ते में, डब्बे में से सिर निकालकर एक वयस्क आदमी ने उससे पूछा—मर गया!

कमल ने कुछ सुना तो लेकिन जवाब नहीं दिया। आगे बढ़ गया।

उसने देखा डब्बे के अन्दर से एक दूसरे सज्जन डब्बे के बाहर खड़े एक चालीसवर्षीय, बहुत दुबले-पतले, छोटे से, टिकट-चेकर से, जिसकी मूँछें बड़ी-बड़ी थीं और आधी पक चुकी थीं, पूछ रहे थे—कब मरा!

और कमल ने टिकट-चेकर को एक दूर खड़े पुलिसमैन की ओर इशारा करके कहते सुना—यह जमदूत कह रहा था, कल का कटा पड़ा है। लेकिन तुम्हीं बताओ यह भी कोई बात है—जिन्दा आदमी को पकड़ने में तो ऐसी मुस्तैदी और मुर्दा दो-दो रोज़ तक पड़ा सड़ता रहे! अकाल-मृत्यु हो गई, बेचारा! कबीरदास ने ठीक ही कहा है: चलती चक्की देखि के दिये कबीरा रोय।

कमल का ध्यान इस ओर ज़्यादा न था। तरह-तरह की आवाज़ें उसके कान में पड़ रही थीं और वह अपने डब्बे की ओर बढ़ा जा रहा था। उसने सुना कोई स्त्री, जिसे घर पहुँचने की बड़ी जल्दी थी, कह रही थी—बारह तो यहीं बज गये।

दूसरे किसी ने शिकायत के लहजे में कहा—न जाने कब का मरा पड़ा है। आज क्यों गाड़ी रोक दी!

खेत की डाँडों पर से गुज़रते एक आदमी ने किसी को जवाब देते हुए कहा—पागल था।

कमल ने अपने डब्बे के अन्दर घुसते हुए कहा—पागल तो था ही, नहीं यों मरता!

एक अधेड़ सज्जन ने कमल की ओर मुख़ातिब होते हुए कहा—आदमी की जान बहुत सस्ती हो गई है। लोग पतिङ्गों की तरह मर रहे हैं...

कमल के मुँह से अनायास निकल गया—कौन जाने कल हम-आप भी उन लोगों में न हों।

उन सज्जन को जैसे किसी ने कसकर छाती में घूँसा मार दिया हो। बोले—क्या कहते हो बेटा, परमात्मा का नाम लो।

कमल ने जवाब में कुछ नहीं कहा, सोचा, सबको अपनी-अपनी ही पड़ी है।

मुर्दे के चेहरे पर उसने जो बर्फ़ानी नफ़रत देखी थी, उससे उसका सारा शरीर, रोम-रोम जल रहा था जैसा कि बर्फ़ से ही जल सकता है।

उसे भी जीवित रखना है

[ठाकुरप्रसाद सिंह]

पात्र—

रामदास—एक पल्लेदार।
केशोराम—नया पल्लेदार।
बुधुवा—रामदास का लड़का।

[सड़क पर इक्के, मोटर, बग्घी का ताँता लगा हुआ है। एक मोड़ है जहाँ '१० गाड़ियों के ठहरने की जगह' का पोस्टर लगा हुआ है। पास ही में एक दीवाल पर सिनेमा के पोस्टर चिपके हैं। नीचे कल है जहाँ एक बुड्ढा गन्दी मिठाइयों से भरा थाल लिये बैठा है जिसमें मक्खियाँ अधिक हैं कि मिठाइयाँ यह घपले का विषय है। अपना भारी ठेला ढकेलते हुए और भयङ्कर शोर करते रामदास कई साथियों के साथ प्रवेश करता है। शोर सुनकर खिड़की से एक बाबूजी बिगड़ उठते हैं।]

बाबू—अरे जाना तो कि ठेला ढकेल रहे हो। इतना शोर करते हो जैसे हिमालय उलट दोगे।

रामदास—ज़रा हाथ लगाकर देखो न बाबू कि हिमालय है कि दुनिया। मुर्दा ढकेल रहा हूँ बड़े बाबू। क्या बताऊँ इन लोगों को। क्यों जी केशोराम, हम भी कितने बेवक़ूफ़ हैं!

बाबूजी—कौन बोले इन पशुओं से! बल्कि पशु ही इनसे अच्छे।

रामदास—क्यों नहीं अच्छे बाबू! वे चुपचाप ढकेले जाते हैं, बिना कान-पूँछ हिलाये चले जाते हैं और हम आपकी दोपहर की नींद में बाधा डाल रहे हैं। हुँः, चलो जी केशोराम। इस बाबू की नींद उचट गई। घरवाली ने कान धर लिये होंगे बस वही आग हमारे ऊपर। (हँसता है)

केशोराम—और यह देखो काका कितनी सुन्दर-सुन्दर देवता की तरह तसवीरें हैं जैसे अब बोलीं, अब बोलीं।

रामदास—जाने दो केशो! ये सपने की चीज़ें हैं। यह लेकर क्या होगा। इन्हीं बाबुओं को मुबारक हों। एक हमारी घरवाली थी। हाड़ तोड़कर काम करती थी तब भी कहती थी कि मैं कुछ नहीं करती। (आँख पोंछता है) केशो! जिस दिन से वह गई है शरीर में ज़ोर ही नहीं रहा। ताक़त आधी रह गई है। साँझ-सवेरे दो-एक घूँट वह न मिले तो ज़िन्दगी और ख़ास करके ऐसी ज़िन्दगी ढकेलना असम्भव हो जाय।

केशो—(चौंककर) तो क्या दादा, तुम वह भी पीते हो!

रामदास—पीता तो हूँ पर क्या करूँ। जानता हूँ कि दस वर्ष की ज़िन्दगी दो वर्ष रह जाती है। हर रोज़ देखता हूँ कि ख़ून फेंककर सब मरते हैं पर मैं पीता हूँ। इसलिये नहीं पीता बेटा कि आदत है बल्कि इसलिये पीता हूँ कि लाचार हूँ। इसकी ज़िम्मेदारी मेरे ऊपर नहीं है। हमारे ऊपर जो लदे हुए हैं वे ठोकर देकर हमें बढ़ा रहे हैं। यह बाबू जो बिगड़ रहे थे इनको क्या पता कि इन्हीं के पाप ढकेलने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

केशो—तब तो यह एक बुरी वस्तु होते हुए भी······

रामदास—तुमको पीना पड़ेगा यदि तुम इसमें रहोगे। तुम अकेले हो, चार आने में खा लेते हो। मेरे बच्चे हैं, मेरा खर्च नहीं चलता। अपने से पहले बच्चों को खिलाना आवश्यक है। भूखा रह जाता हूँ तब दूसरे दिन काम कैसे हो। भूत बनाने के लिये ही तो पीता हूँ और ये हमें आदमी समझते ही कब हैं!

केशो—हमें अब तक कुछ नहीं पता था बाबा पर इसी भूत से तो आदमी भी बनाया जा सकता है। हम केवल पशु ही नहीं हैं। हमारे अन्दर प्रेम भी है, घृणा भी है। हम इनसे प्रेम नहीं कर सकते तो घृणा तो कर सकते हैं।

रामदास—ठीक है। (दुख से हँसता हुआ) जब तुम बोलते हो बेटा तो रमुवा का ख्याल आ जाता है, वह भी ऐसे ही गरजता था बेटा। अच्छा, ठहर तनिक पानी पी लें। रात भी नहीं खाया। (एक आने पैसे लेकर बढ़ता है पर लौट आता है) नहीं बेटा, घर पर बेटा भूखा है। मैं तो बहुत कुछ देख चुका हूँ उसने क्या खाया! क्या पिया! (पैसा गाँठ में बाँधता है, फिर आकर ठेले पर झुक पड़ता है। आगे भीड़ लगी है--कलकत्ते के भूखों के लिए चन्दा एकत्र हो रहा है। ठेला ढकेलते हुए रामदास आता है। एक आदमी बोल रहा है।)

—पिताओ! तुम्हारे बच्चे मर रहे हैं, उन्हें जिलाओ। माताओ! तुम्हारी सन्तानें पत्थर पर लोट रही हैं। उनके भूखे अन्तर में शान्ति चाहिये। भाइयो! दो सहायता। तुम्हारे भाई भूखे हैं। आज तुम्हारी कमज़ोरी से यह दुर्दशा हो सकी है। ईश्वर की बात छोड़ो, यह तो मनुष्य के हाथ का अकाल है। तुम अपने को खड़ा करो। यदि आज नहीं उठते तो फिर हमेशा के लिये पछताओगे।

(दो सेठ बातें करते आते हैं)

पहला—अजी, अब जाके तो बाज़ार हाथ में आया है। चार दिनों में रङ्ग पलट दूँगा।

दूसरा—इधर भी तो चोखा ही है जी। धीरे से बिल्टी कराकर कलकत्ता से मँगवा लिया है। आज तो हमारे यहाँ सत्यनारायण की कथा है। मुन्नू की माँ बड़ी भक्त है। तीन ब्राह्मणों का भोजन भी आज होगा। आओगे न!

पहला—हाँ-हाँ, अच्छा, जै राम भाई।

स्वयंसेवक—ओ बाबूजी! कलकत्ता में भूखे मर रहे हैं उनके लिये कुछ देते जाओ।

दूसरे साहुजी—ह: ह: ह:! वहाँ तो कुछ नहीं है भाई! अभी तो साँवलदास जी आये थे। उन्होंने कहा कि सिर्फ़ पटरियों पर कुछ भूखे हैं। और सब तो चक है। तुम सब अपना पेट भरते हो। चलो जी। (जाते हैं)

रामदास—(अपनी इकन्नी निकालकर) यह लो भइया किसी बच्चे को दाना खिला देना। रमुवा आज नहीं खायगा तो मर नहीं जायगा। आज पिऊँगा भी नहीं। पर कितनी बुरी बात है कि हम चींटियों से भी गये गुज़रे हैं। वे मरे चींटे को खाने के लिये ढोती हैं पर हम इस मुर्दे को मार बनाये फिर रहे हैं।

केशो—हाँ काका! देखा न इनको। इनको ढो-ढोकर हम मर जाते हैं पर इनको कोई पता ही नहीं। आज से हम उनको भी जिलायेंगे जो मर चुके हैं। हमको घृणा का अस्तित्व रखने

के लिये उन मुर्दों को उठाना होगा। हम इसको फेंक देंगे। हमें मनुष्य होना है और इसके लिये हमें उन्हें भी जीवित रखना है। अब हम ख़ून उगलकर मर न सकेंगे। हमको छातीताननी होगी।

रामदास—बेटा! बेटा!! (लिपट जाता है) पर मैं एक नई वस्तु सुन रहा हूँ। नई—हाँ एकदम नई। हमारे लिये ईश्वर नहीं आवेगा। हमारे लिये जापान नहीं आवेगा। हमारे लिये हमारी बाहें हैं। बेटा, मैं अब मरूँगा नहीं। इसके लिये जिऊँगा।

(रात। बुधुवा रो रहा है। रामदास आता है।)

रामदास—रोओ मत बेटा! आज तुम्हारे एक भाई को, जो एक हफ़्ते का भूखा था, मैं तुम्हारा खाना दे आया। रोओ मत, तुम एक दिन भूखे ही रह जाओ।

बुधुवा—ठीक है बाबू जी! आओ आज हम तुम उसी तरह पेट सटाकर रात बितायें जैसे अक्सर बिताया करते हैं।

रामदास—ओ मेरे राजा बेटा! तू भी केशो का भाई होगा। तू भी तो हमारी बाहें होगा।

(दोनों सो जाते हैं।)

फ़ैशिस्त बक़लम ख़ुद

[हरिश्चन्द्र]

आज जब कि सोवियत रूस की जीतों ने युद्ध का पाँसा पलट दिया है और हर मोर्चे पर साथी राष्ट्रों की जीतें हो रही हैं तथा फ़ैशिज़्म का विनाश निश्चित-सा दीखता है, हमें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि फ़ैशिज़्म के इस दानव का, जिसने शान्तिप्रिय सोवियत रूस पर अकारण ही आक्रमण कर दिया था, असली रूप क्या है। यह सच है कि फ़ैशिज़्म के ख़िलाफ़ विश्व की जनता की जीतों ने विश्व-साम्राज्यवाद के विनाश और विश्व की स्वाधीनता का मार्ग खोल दिया है। लेकिन उस अरुणिम प्रभात के पहले अब भी घनी अँधेरी रातें हमें पार करनी बाक़ी हैं। सुदूर पूर्व-स्थित जापानी फ़ैशिज़्म अभी भी बहुत बलवान् है और राष्ट्रीय नेताओं के जेल के अन्दर बन्द होने और राष्ट्रीय कांग्रेस के ग़ैरक़ानूनी होने से भारत में संयुक्त राष्ट्रों का मोर्चा और भी कमज़ोर होता जा रहा है। इसी लिए सोवियत रूस के नेतृत्व में विश्व-बन्धुत्व के अपने सपने सच बनाने के पहले हमें अब भी बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी है। इसलिए मानवता के इस हिंस्रतम, क्रूरतम दुश्मन को पहचानना हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए बहुत आवश्यक है। फ़ैशिस्तों के अपने शब्दों से उनकी असलियत को पहचानकर जब हम देश-रक्षा के युद्ध में स्वयं आगे आवेंगे और उसके लिए हिन्दू-मुसलिम एका क़ायम करेंगे, तभी फ़ैशिस्तों से हमारे कला-साहित्य, हमारी संस्कृति की रक्षा होगी और तभी हम विश्व की जनता के साथ मिलकर स्वतंत्र विश्व में स्वतंत्र भारत की स्थापना कर सकेंगे। अब हमें ब्रिटिश साम्राज्यशाही को सिर्फ़ कोसनेवाली निष्क्रियात्मक नीति का अन्त करना ही होगा और सजग, सङ्गठित, एकता-बद्ध जनता के रूप में आगे आकर देश की रक्षा करनी होगी। वही हमारी स्वाधीनता का मार्ग है।

इस लेख में अपनी ओर से ज़्यादा कुछ न कहकर स्वयं फ़ैशिस्तों के शब्दों में ही उनकी नीति और उनके 'दर्शन' का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की गई है जिसमें सहृदय पाठक इसमें दिये गये तथ्यों को विपक्षी का प्रोपेगैंडा कहकर न टालें बल्कि उसके विषय में गम्भीरता से विचार करें और उसी के अनुकूल अपना कर्तव्य निर्द्धारित करें।

फ़ैशिज़्म का नाम सुनते-सुनते हमारे कान पक गये हैं। इसके विषय में अनेक लेख निकल चुके हैं, परन्तु खेद है कि अभी तक अनेक व्यक्ति इसकी वास्तविक भयङ्करता से सर्वथा अपरिचित हैं। आज फ़ैशिज़्म की अन्तिम घड़ी बहुत दूर नहीं जान पड़ती। इटली में मुसोलिनी के पतन के बाद स्थिति डाँवाडोल है। पश्चिमी यूरोप में दूसरा मोर्चा खुलना एकदम निश्चित है और रूसी मोर्चे पर लाल सेना की शानदार विजयों ने युद्ध का पाँसा पूरी तरह पलट दिया है। यह अत्यंत आवश्यक है कि अब तो हम फ़ैशिज़्म के भयङ्कर रूप को जानें! स्वयं फ़ैशिस्तों के शब्दों में ही उनकी नीति व सिद्धान्तों का दिग्दर्शन करना उचित होगा, अन्यथा बहुत से आदमी उसे प्रचार या प्रोपेगेण्डा कहकर टाल देंगे।

आइए, पहले फ़ैशिज़्म के विषय में फैले हुए अनेक भ्रमों पर विचार करें। कुछ लोग फ़ैशिज़्म व जर्मन जनता को एक ही मानते हैं। इस मत के प्रवर्तक लार्ड वैनसिटार्ट हैं जो युद्ध से पहले हिटलर के साथ दावत उड़ाते थे। वे ही उस काल में अँगरेज़ी वैदेशिक विभाग के उपमन्त्री थे जब जर्मनी ने

पुन: शस्त्रीकरण किया और अँगरेज़ी सरकार से सहायता भी पाई। कुछ लोग फ़ैशिज़्म की प्रशंसा करते हैं और युद्ध छेड़ने को उसकी एक ग़लती कहते हैं। अन्य कुछ लोग अच्छे व बुरे तथा जर्मन व इटालियन फ़ैशिस्तों में भेद करते हैं। बहुत से लोग तो फ़ैशिज़्म व उसके जानी दुश्मन साम्यवाद (कम्यूनिज़्म) को एक ही चीज़ समझते हैं। परन्तु ये सब निर्मूल भ्रान्तियाँ हैं।

यह सच है कि हिटलर जर्मन सेना के अफ़सरों द्वारा उभारा गया। उसकी तूफ़ानी टुकड़ी (S. S.) जर्मन राइशवेहर के एक अफ़सर द्वारा ठीक की गई। स्वयं जनरल एप ने नाज़ी दल के अख़बार, वोलकीश बियोबैक्टर के लिये रुपये दिये। अँगरेज़ लेखक डगलस रीड की पुस्तक Nemesis में ओटो स्ट्रैसर का उद्धरण दिया गया है कि किस प्रकार बड़े-बड़े पूँजीपतियों ने नाज़ी दल का ख़ज़ाना भरा। परन्तु वास्तव में फ़ैशिज़्म एक प्रकार का फोड़ा है, जो प्रत्येक पूँजीवादी देश में निकला है। जहाँ परिस्थिति अनुकूल मिली वहाँ यह प्रबल हो गया। प्रत्येक देश में इसके अलग-अलग नाम हैं परन्तु जर्मनी में फ़ैशिज़्म का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद अन्य सब देशों के फ़ैशिस्त इसके अनुयायी-मात्र बन गये हैं।

युद्ध तो फ़ैशिज़्म की नीति का एक आवश्यक अङ्ग है। जब से जर्मनी में हिटलर का शासन आरम्भ हुआ है, युद्ध की तैयारी निरन्तर नियमपूर्वक हो रही है। सन् १९३६ में "नाज़ी क्रान्ति का सामरिक महत्त्व" नामक पत्रिका निकली थी[1]। भूमिका में जनरल ब्लोमबर्ग (Blomberg) ने लिखा कि इस पत्रिका को सरकारी नीति का मुखपत्र मानना चाहिये। उसके लेखक मेजर जोस्ट (Jost) ने साफ़ लिखा है कि "नाज़ीवाद शासन-व्यवस्था का वह रूप है जो सर्वव्यापी युद्ध के लिए आवश्यक है।" मुसोलिनी ने एक भाषण में कहा है कि[2] "इटली की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था इस सूत्र पर बनी है कि सम्पूर्ण राष्ट्र को एक पुष्ट युद्धोचित सत्ता बनाना अनिवार्य है। ऐसा समय आ रहा है जब सब कल-कारख़ानों को अलग-अलग ग्राहकों के लिये उत्पादन का न समय होगा, न शक्ति। उन्हें सबको केवल राष्ट्र की सेनाओं के लिये काम करना होगा।" मुसोलिनी ने बार-बार अपने भाषणों में कहा है कि युद्ध ही हमारा जीवन है।

अनेक मज़दूर भी फ़ैशिज़्म की ऊपरी कार्य-कुशलता से मुग्ध हो जाते हैं। नाज़ी दल का नाम, राष्ट्रीय साम्यवाद (National socialism) भी कुछ गड़बड़ पैदा करता है। परन्तु वास्तव में नाज़ीवाद साम्यवाद का ठीक उल्टा है। साम्यवाद में वर्गों का अन्त और उत्पादन के साधनों पर सामूहिक अधिकार मुख्य चीज़ें हैं। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि फ़ैशिज़्म इसके बिलकुल विपरीत है और बलपूर्वक श्रेणी-विभाजन को बनाये रखना ही उसकी नीति है। बड़े-बड़े व्यापारी सङ्घों व राज्यों में सन्धि हो जाती है और जनता से वे राजनीतिक अधिकार भी छीन लिये जाते हैं जो उन्हें प्रजातन्त्रात्मक पूँजीवादी देशों में मिल चुके हैं। अत्याचार और आतंक से जनता को कुचल कर रखा जाता है। यही फ़ैशिज़्म का निचोड़ है। जब अन्य साधनों से जनता की स्वतन्त्रता की माँग नहीं रोकी जा सकती तब साम्राज्यवाद अपने हिंस्र रूप में सामने आ जाता

---

1. "Military Significance of National Socialist Revolution" by Major Jost, Head of Press deptt of War ministry.

2. Speech to Second National Assembly of Corporations. March 23, 1936.

है और उसी को फ़ैशिज़्म की संज्ञा देते हैं। इसीलिए फ़ैशिज़्म स्वतन्त्र विचारों व स्वतन्त्र शिक्षा-विज्ञान के विरुद्ध जिहाद करता है।

हिटलर ने साफ़ कहा है[1] "हमें एक नये शासकवर्ग की ज़रूरत है जो यह बात समझे कि सब जातियों में श्रेष्ठ होने के कारण उसका यह अधिकार है कि वह शासन करे और निर्दयता से, हर उपाय से, जनता के ऊपर अपने शासन को क़ायम रखे।" गोबेल्स ने कहा है[2] कि "नाज़ीवाद प्रशावाद है। हमारा जो मतलब नाज़ीवाद से है वह प्रशावाद से मिलता जुलता है।" यह तो सभी जानते हैं कि प्रशावाद सैनिक शासन (Militarism) का तीव्र रूप मात्र था। जर्मनी के बड़े-बड़े मशीनों व शस्त्रों के कारख़ानों के मालिकों के पत्र ने स्पष्ट लिखा है[3], "इस शब्द नाज़ीवाद के ही कारण बहुत समय तक जर्मन पूँजीपति हिटलर का साथ देने से हिचके। अब तो बहुत दिन से मालूम हो गया है कि यह ग़लतफ़हमी थी। अपने प्रचार से कहीं अच्छी तरह अपने कार्यों से सरकार ने दिखा दिया है कि हमारे नाज़ीवाद अर्थात् राष्ट्रीय समाजवाद (National socialism) का अर्थ मार्क्सवादी साम्यवाद का बिल्कुल उल्टा है।"

सन् १६२४ में ही हिटलर व लुडेनडौर्फ़ के मुक़दमे में साफ़ ज़ाहिर हो गया था कि हिटलर को बड़े-बड़े पूँजीपतियों की मदद मिली हुई थी। यही नहीं, अनेक विदेशी पूँजीपतियों ने भी हिटलर को धन की भेंट चढ़ाई है जिनमें अमेरिका के फ़ोर्ड का भी नाम लिया जाता है। जर्मनी के धनिकों ने खुलेआम हिटलर की सहायता की है। कोयले के मालिकों ने साफ़-साफ़ उसके लिये धन जमा किया। सन् १९३२ के सभापति के चुनाव के लिये लोहे के सङ्घ (Steel Trust) ने हिटलर को तीस लाख मार्क दिये। युद्ध से पहले एक मार्क लगभग बारह आने के बराबर होता था। नाज़ियों की सबसे बड़ी आर्थिक सभा (Supreme Economic Council) के सदस्यों की सूची देखने से पूँजीपतियों का प्रभाव जाना जा सकता है। वह बड़े-बड़े व्यापारियों से भरी पड़ी है। इनमें क्रूप, फ़ौन बोहलन, अस्त्र-शस्त्र सम्राट् थाइसन, लोहे के सम्राट् सीमेन्स, बिजली के सम्राट् बौश, रङ्गों के सम्राट् जैसे नाम हैं। इसी लिए सन् १६३८ मई में न्यूयॉर्क टाइम्स अख़बार के बर्लिन संवाददाता ने लिखा था कि "जर्मन करोड़पतियों की सूची जो सन् २९-३२ के आर्थिक सङ्कट से सिकुड़ गई थी अब फिर बढ़ रही है।" सिडनी विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर रौबर्ट्स ने इस विषय का अच्छी तरह अध्ययन किया है। वे लिखते हैं[4], "हिटलर ने बड़े-बड़े व्यवसायी सङ्घों को तोड़ने के लिये कुछ भी नहीं किया है बल्कि इनकी वृद्धि ही उसके शासन का विशेष चिह्न है।" उनकी पुस्तक में आँकड़े देकर दिखाया गया है कि किस प्रकार मिल-मालिकों आदि का मुनाफ़ा बढ़ता चला गया है। यह बात जापान तथा इटली के लिये भी सच है। युद्ध के कारण यह मुनाफ़ा और भी बढ़ गया है। राष्ट्र-सङ्घ की पत्रिका (World Economic Survey) से यह बात प्रमाणित होती है।

इसी असलियत को छिपाने के लिये अध्यात्मवाद का बड़ा भारी आडम्बर रचा गया है। इसके उदाहरण सब फ़ैशिस्ट लेखकों की किताबों में बहुतायत से मिलते हैं। हिटलर ने अपनी

---

1. Quoted by Konrad Heiden—"History of National Socialism."
2. "Prussia must become Prussia again" by Goebbels.
3. Deutsche Bergwerkszeitung"—Aug. 1933 (Organ of German heavy industry).
4. "The House that Hitler Built"—by Prof. S. H. Roberts.

पुस्तक में लिखा है कि "राज्य का किसी विशेष आर्थिक नीति से सम्बन्ध नहीं। यह ऐसे पञ्चों का जमाव नहीं है जो एक निश्चित समय के लिये कुछ आर्थिक कार्यों के लिये सम्मिलित हुए हों। यह तो केवल ऐसी जाति की शासन-व्यवस्था है जो प्रकृति व भावों से एक-सी है और इसका उद्देश्य अपने समजातियों को बढ़ाकर व पाल कर उस गति को प्राप्त करना है जो ईश्वर के द्वारा निश्चित है।" इसी प्रकार मुसोलिनी ने भी लिखा है[1], "फैशिज़्म राज्य को एक निरपेक्ष सत्ता मानता है जिसके सामने सब व्यक्तियों व संस्थाओं का मूल्य एक-सा है। फैशिस्त राज्य स्वयं चेतन है—उसके इच्छा एवं व्यक्तित्व है। वह राज्य जो फ़ैशिज़्म का ध्येय है स्वयं एक आध्यात्मिक व नैतिक तत्त्व है।" इस प्रकार का शब्दों का खिलवाड़ बहुत मिल सकता है जिसका अर्थ नहीं के बराबर है।

जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए फ़ैशिस्त झूठ का आश्रय लेते हैं। वे कहते कुछ हैं और करते कुछ। ज़रा मुलाहिज़ा तो कीजिये- इटली में फ़ैशिस्तों ने घोषणा की थी कि हमारी नीति है, राजा द्वारा शासन का अन्त, गिरजाओं की जायदादों की ज़ब्ती, ज़बर्दस्ती भर्ती का अन्त, सब कम्पनियों व बैङ्कों का अन्त इत्यादि!! नाज़ी दल के भी २५ लक्ष्य हैं। इनमें से पहले पाँच देखिये—(१) "सब राष्ट्रों के लिये आत्म-निर्णय के आधार पर सब जर्मनों को मिलाकर एक विशाल जर्मनी बनाना" (और की गई सारे यूरोप की बलपूर्वक विजय!) (२) "बिना काम किये हुए कमाई का और सूद की दासता का अन्त" (सन् ३२ व ३७ के बीच जर्मनी के करोड़पतियों की संख्या १८० बढ़ गई!) (३) "युद्ध से जो मुनाफ़ा हो उसकी ज़ब्ती" (सन् १९४० में क्रूप कारख़ाने का मुनाफ़ा बढ़कर ४२ करोड़ मार्क हो गया!) (४) "सब व्यापारी सङ्घों को राज्य-सम्पत्ति बना देना" (प्रोफ़ेसर रौबर्ट्स का मत बतलाया ही जा चुका है) (५) सब मुनाफ़ाख़ोरों व धोखेबाज़ों को मौत की सज़ा (और हुआ कम्यूनिस्टों, मज़दूर नेताओं आदि का शिकार!)

मज़दूरों के साथ फ़ैशिस्त राज्य का बर्ताव बड़ा जघन्य है। मज़दूरों के अनुशासन के लिए जर्मनी में एक नियमावली बनाई गई है (Labour code)। उसके पहले दो नियम ये हैं[2] —

(१) मालिक को नेता की हैसियत से और मज़दूरों को अनुयायियों की तरह मिलकर समाज व राज्य की भलाई के लिये कार्य करना चाहिए। (२) नेता और अनुयायियों के बीच नेता सब प्रश्नों को तय करेगा। मज़दूर सङ्घों आदि को तोड़कर एक मज़दूर मोर्चा (Labour Front) कायम किया गया है। परन्तु मिलों की दशा, मज़दूरों का वेतन, काम करने के घण्टे आदि प्रश्नों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। नाजी दल और मजदूर मोर्चे का ख़ज़ाञ्ची एक ही होता है। इस प्रकार मजदूरों का रुपया उनके लिये कम ही ख़र्च किया जाता है। सन् १९३५ में मजदूर मोर्चे के नेता ले ने कहा कि "हम मजदूरों को आर्थिक सहूलियत देने में असमर्थ हैं—परन्तु हमें अपने उच्च आदर्शों का ध्यान रखना चाहिए।" "मनोरञ्जन द्वारा बल" (Strength Through Joy) आदि संस्थाएँ तो विदेश में प्रचार करने और झूठ-मूठ ढोल पीटने के लिये हैं। गत महायुद्ध के बाद जर्मनी के मजदूरों ने प्रत्येक कारख़ाने में चुनी हुई सभाएँ स्थापित कर ली थीं। यह अधिकार किसी भी पूँजीवादी देश में प्राप्त नहीं है। परन्तु नाजियों ने इसे ख़त्म कर दिया। अब सलाह-कारी कमेटियाँ बना दी गई हैं जिनके सदस्य मालिक द्वारा चुने जाते हैं और वह भी उन मज़दूरों में से जिनके राजनीतिक विचारों से कोई आशङ्का न हो। नाममात्र के लिये इन कमेटियों का चुनाव मज़दूरों

1. "The Political and Social Doctrine of Fascism" 1932.
2. Law for organisation of National Labour, Jan 1934.

द्वारा मञ्जूर किया जाता था परन्तु सन् ३५ के बाद यह ढोंग भी हटा दिया गया। प्रत्येक प्रदेश के लिये पञ्च बनाये गये हैं जो सबसे बड़े जज होते हैं। ये पञ्च कैसी प्रकृति के होते हैं यह इसी से जाना जा सकता है कि रूर प्रदेश के पञ्च प्रसिद्ध करोड़पति फ़ौन क्रुप हैं। सब जगह एक-सा वेतन होने के बजाय यह नियम बनाया गया है कि प्रत्येक मिल व कारख़ानों में अपनी हैसियत के अनुसार (अर्थात् हैसियत के बारे में मिल-मालिक के निर्णय के मुताबिक़) वेतन दिया जाय। प्रत्येक मालिक को यह अधिकार है कि वह अपने कारख़ाने के लिये नियम बनावे (—establishment rules)। इन नियमों में मज़दूरों के बारे में लगभग हर एक चीज़ आ जाती है। प्रोफ़ेसर ब्रेडी ने बिलकुल ठीक ही लिखा है[१] : "मालिक-मज़दूर-संघर्ष के इतिहास में सबसे निर्दयी और अमानुषिक मालिक भी इससे अधिक अधिकार कदापि नहीं माँग सकता था।" जिस ज़माने में जर्मनी व इटली के फ़ैशिज़्म में समझौता नहीं हुआ था उस समय सन् १९३४ में इटली के फ़ैशिस्ट अख़बार (Lavora Fascista) ने नाज़ी सरकार की मज़दूर नियमावली के बारे में लिखा था, "जर्मनी के नाज़ीवाद ने जर्मन मज़दूर को हाथ-पैर बाँधकर पूँजीवाद के सिपुर्द कर दिया है।" ये आजकल के हिटलर के दोस्तों के वाक्य हैं।

फ़ैशिज़्म की कार्यप्रणाली धोखेबाज़ी तथा गुण्डापन है। शानदार परेड, जलूस व सभाएँ, अपूर्व मात्रा में प्रचार, विपक्षियों का आतङ्क व अत्याचार से मुँह बन्द करना, शोर व गुल आदि से जनता को प्रभावित करना, मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों को भड़काना (जैसे यहूदियों पर जिहाद) यह फ़ैशिज़्म की कार्य-विधि है। एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक, चकोटिन लिखता है[२] कि अपनी आतङ्कवादी नीति द्वारा हिटलर ने जनता पर मनोवैज्ञानिक बलात्कार किया है। यदि उसके विरोधी सचेत होते तो उसी प्रकार के प्रचार से फ़ैशिज़्म के नरक से जर्मन राष्ट्र को बचा सकते थे। चकोटिन ने फ़ैशिज़्म के प्रत्येक कार्य की परीक्षा करके बतलाया है कि वह किस प्रकार का मानसिक प्रभाव जनता पर डालता है।

यह कहना सरासर झूठ है कि हिटलर जर्मन जनता द्वारा चुना गया था। हिन्डनबर्ग हिटलर को न होने देने का नारा लेकर सभापतित्व के लिये खड़ा हुआ था और उसे हिटलर की एक करोड़ तीस लाख वोटों के मुक़ाबले में २ करोड़ ३७ लाख वोट मिले थे अर्थात् लगभग दूने। परन्तु बाद में हिन्डनबर्ग ने शासन विधान को तोड़ दिया और स्वयं हिटलर को चान्सलर नियुक्त कर दिया। हिटलर जनता के चुनाव से राष्ट्रपति नहीं बना। युंकर जमींदारों व पूँजीपतियों आदि के षड्यन्त्र द्वारा उसे शक्ति मिली। हिन्डनबर्ग ने साम्यवादी सरकार की सम्भावना से डर कर हिटलर की शरण ली। इसी प्रकार मुसोलीनी की रोम पर चढ़ाई (March to Rome) प्रसिद्ध है परन्तु वास्तव में वह एक बड़ी-सी मोटर में रोम गया था।

नाज़ी बड़ी डींग मारते हैं कि हमने बेकारी का अन्त कर दिया है। सन् ३०-३१ के आर्थिक सङ्कट के बाद प्रत्येक देश में बेकारी घटती चली गई और जर्मनी में हिटलर के आगमन से युद्ध की तैयारी ज़ोर शोर से होने लगी, इसलिए बेकारी आप ही ख़लास हो गई। आँकड़ों द्वारा स्पष्ट मालूम होता है कि सन् ३३ के बाद जो राज्य का ख़र्च बढ़ता गया लगभग सभी केवल शस्त्रीकरण के लिये। इसके विषय में आँकड़े "The Banke" Feb 1937 में दिये हैं।

1. "The Spirit and Structure of German Fascism" by Prof Brady, 1937.
2. "The Rape of the Masses" by S. Chakotin.

सन्	कुल खर्च	शस्त्रीकरण पर खर्च
१९३३-४	६७००० लाख मार्क	३०००० लाख मार्क
१९३४-५	१२२००० ,, ,,	५५००० ,, ,,
१९३५-६	१६७००० ,, ,,	१,००००० ,, ,,
१९३६-७	१८८००० ,, ,,	१,२६००० ,, ,,

इसके विपरीत इस काल में सोवियत रूस के व्यय के आँकड़े भी देखिये। अमरीका के राजदूत डेवीज़ ने एक पुस्तक लिखी है। यह स्मरणीय है कि वे कम्यूनिस्ट नहीं हैं। इस पुस्तक[1] में दिये हुए आँकड़ों से साफ़ ज़ाहिर होता है कि सोवियत संघ ने जर्मनी के शस्त्रीकरण के बाद तैयारी करना शुरू किया और फिर भी शिक्षा व कला आदि के लिये खर्च निरन्तर बढ़ता ही गया। जर्मनी बराबर युद्ध की ओर अग्रसर होता रहा। और सन् १९३९ में आनेवाले आर्थिक संकट के चिह्न जर्मनी में प्रतीत होने लगे। इस बात का विचार कर मज़दूर मोर्चे के नेता ले (Ley) ने भाषण में कहा- "मज़दूरो! तुम यदि इस तङ्ग जगह में रहोगे तो फिर आपस में लड़ना शुरू कर दोगे और मार्क्सवाद पुनः अपना सिर उठायेगा। अब समय आ गया है।" क्या इससे स्पष्ट शब्दों में युद्ध का कारण बताया जा सकता है!

अमरीका के एक प्रोफ़ेसर डा० ज़ीमर ने अपने जर्मनी-भ्रमण के आधार पर एक पुस्तक लिखी है[2]। वे एक नाज़ी स्कूल देखने गए तो एक दस बरस के लड़के को एक कविता पढ़ते देखा कि किस प्रकार एक मकड़ी ने एक मक्खी को पकड़ लिया और उसके ऊपर दया नहीं की। मक्खी ने प्रार्थना की कि मेहरबानी करके मुझे छोड़ दो, मैं बड़ी तुच्छ शत्रु हूँ। मकड़ी ने कहा—"नहीं, मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगी क्योंकि मैं बड़ी हूँ और तुम छोटी।" इसके आगे कविता में वर्णन था कि किस प्रकार प्रत्येक जानवर को उससे बड़ा जानवर मार डालता है और कभी दया नहीं करता। इसके बाद मास्टर ने उस कविता का उपदेश समझाया—"यह संघर्ष एक प्राकृतिक संघर्ष है। इसीलिये फ्युरेर (हिटलर) चाहता है कि हम बच्चे बलवान हों ताकि हम शिकार न हों बल्कि शिकारी और विजेता हों। प्रकृति और जीवन केवल बलवान् का आदर करते हैं। जर्मनी शक्तिशाली होगा—फ्युरेर उसे इतना शक्तिशाली बना देगा कि वह संसार भर के किसी भी राष्ट्र पर हमला कर सके। इस प्रकार जर्मन बच्चों के दिमाग़ में शुरू से ही यह विष भर दिया जाता है कि युद्ध ही जीवन का लक्ष्य है।

फ़ैशिज़्म यह नहीं मानता कि प्रत्येक मनुष्य बराबर है। वह तो बराबर मनुष्यों के परस्पर वैषम्य का गुण गाता है। यह विषमता उसका एक प्रधान अङ्ग है। हिटलर ने अक्तूबर ३१, १६४१ को एक भाषण में कहा था—"हमारा देश सोवियत सङ्घ की तरह सब मनुष्यों के लिए समान अधिकारों के सिद्धान्त पर नहीं बना हुआ है।" अपने जानी दुश्मन के मुँह से सोवियत सङ्घ की यह बुराई (!) सुनने लायक़ है। हिटलर ने बार-बार अपनी पुस्तक माइन काम्फ़ में कहा है कि जनता बेवक़ूफ़, कायर और अयोग्य होती है। नाज़ी कृषि-मन्त्री डेन लिखते हैं[3]:

---

1. "Mission to Moscow" by Davies—1942.
2. "Education for Death" by Dr. Ziemer.
3. "New Aristocracy of Blood and Soil" by W. Dane, Minister of Agriculture.

"समाज मनुष्य की ऐसी विषमता की नींव पर बना हुआ है जो जन्म व मृत्यु के समान अनिवार्य है।" फ़ैशिज़्म सम्पूर्ण जनता को भेड़ों के झुण्ड के समान समझता है और शासनकार्य को एक छोटे-से वर्ग का जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। आतङ्क और अत्याचार फ़ैशिज़्म का आवश्यक अङ्ग है। इस पर उसको नाज़ है। फ़ौन किलिङ्गर, सैक्सनी प्रदेश के मन्त्री, ने अपनी पुस्तक में बड़े चाव से वर्णन किया है कि उस कम्यूनिस्ट की क्या दशा हुई जो उनके आदेशानुसार दस्ती बम द्वारा मार डाला गया। उन्होंने बड़े गर्व से वर्णन किया है कि कम्यूनिज़्म की समर्थक एक जवान औरत को उन्होंने इतने कोड़े लगवाये कि उसकी कमर पर एक सफ़ेद धब्बा भी न बचा। फ़ैशिज़्म साधारण व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं मानता बल्कि उन्हें नीच समझता है हिटलर का कहना है कि[1] "साधारण जनता शासक का स्थान कभी नहीं ग्रहण कर सकती। वह तो केवल कायरता की ही नहीं मूर्खता की प्रतिनिधि भी हैं।" और एक बार हिटलर ने कहा है[2]— "मज़दूरवर्ग की जनता रोटी और खेल के सिवाय और कुछ नहीं चाहती। उन्हें आदर्शों की कोई समझ नहीं होती और इसलिये हम कभी भी अधिक संख्या में मज़दूरों को अपनी ओर जीतने की आशा नहीं कर सकते।"

इसीलिये फ़ैशिज़्म नहीं चाहता कि प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक विचार कर सके। यह उसके लिये बड़ी ख़तरनाक बात होगी। इसीलिये फ़ैशिस्त बार-बार डींग मारते हैं कि हमारा कोई निश्चित योजना-क्रम नहीं है! यह बात हिटलर और मुसोलिनी दोनों ने कही है। वे नहीं चाहते कि कोई उनके कार्यों और शब्दों का मिलान करे। इसी धोखा-धड़ी को क़ायम रखने के लिये फ़ैशिज़्म संस्कृति, विज्ञान व शिक्षा के विरुद्ध जिहाद करता है। इस नीति का परिणाम जर्मनी की दशा से साफ़ ज़ाहिर होता है। सन् ३३ व सन् ३९ के बीच विश्वविद्यालयों व हाईस्कूलों के छात्रों की संख्या डेढ़ लाख से घटकर साठ हज़ार हो गई। शिक्षा-मंत्री, डा० मेन्टज़ल ने सन् १९४१ में शिक्षित वैज्ञानिकों की कमी का रोना रोया—और यह उस देश में जो सदा अपने वैज्ञानिकों के लिये संसार में प्रसिद्ध रहा है। इसी काल में सोवियत सङ्घ में वैज्ञानिकों की संख्या २ लाख ७५ हज़ार से बढ़कर ७ लाख हो गई। इतना अधिक अन्तर किसी विशेष कारण से ही हो सकता है। एक और प्रकार से भी जर्मनी की अपूर्व हानि हुई। हर यहूदी को निकाल दिया गया। नाज़ीवाद की दासता की अपेक्षा जिन मनुष्यों को सत्य अधिक प्रिय था, उन्हें भागना पड़ा। सन् १९३८ तक उच्च कोटि के १८८८ वैज्ञानिकों व लेखकों को जर्मनी से निकाला गया था। नोबेल प्राइज़ जीतनेवालों में से २५ प्रतिशत निकाल दिये गए। छात्रों की संख्या घटने के अलावा यह भी महत्त्वपूर्ण है कि कौन से विषय अधिक पढ़ाये जाने लगे। इस विषय का अच्छी तरह अध्ययन करने के बाद प्रोफ़ेसर हार्टशोर्न ने लिखा है[3] कि सन् ३२ और सन् ३७ के बीच में छात्रों की संख्या लगभग आधी हो गई। गणित और विज्ञान में छात्रों की संख्या विशेष रूप से घटी। केवल दो विषयों में वृद्धि हुई—शिक्षा और पत्रकारिता! अर्थात् केवल वे विषय जो नाज़ियों के प्रचार के लिये आवश्यक हैं। हिटलर ने साफ़ अपनी पुस्तक में लिखा है कि—

---

1. Quoted by Dr. S. Mette in "Hitler als Staatsman und Volksfuehrer."

2. Quoted in "Die Grosse Trommel."

3. "German Universities and National Socialism" by Prof. Hartshorne. 1937.

"मानसिक योग्यता को बढ़ाना सबसे महत्त्वपूर्ण नहीं है।" शिक्षा-मन्त्री, रस्ट कहता है कि—"स्कूल तो फ़ौज के लिये तैयारी मात्र है।" एक शिक्षा-सम्बन्धी पत्रिका ने इस बात को अच्छी तरह समझाया है[1]। स्कूल की पढ़ाई राष्ट्र के युवक को ऐसी चीज़ सिखा सकती है जो आगे चलकर लाभदायक होगी जब वह शस्त्र धारण करेगा। पहाड़े घोड़े की नाल की कीलों द्वारा सीखे जा सकते हैं। गणित का प्राकृतिक उपयोग गोलाबारी के विज्ञान में है। भूगोल से विश्वव्यापी युद्ध ख़ूब समझ में आता है। इतिहास राजनैतिक चालों से परिपूर्ण है। रसायनशास्त्र का रोज़मर्रा की जीविका की लड़ाई में उतना ही उपयोग है जितना विषैली गैसों के युद्ध में। भौतिक विज्ञान मोटर अथवा टैङ्क की मदद से अच्छी तरह सिखाया जा सकता है। क्या शिक्षा का इससे अधिक दुरुपयोग हो सकता है!

शिक्षा-मन्त्री, रस्ट ने सन् ३६ में हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय में भाषण में कहा कि "यह नया विज्ञान ज्ञान की उस परिभाषा से बिलकुल भिन्न है जिसका लक्ष्य सत्य की खोज में अदम्य परिश्रम करना था।" गेटिंगेन विश्वविद्यालय के इतिहास के अध्यापक (Dr Kahrstedt) ने सन् ३७ में भाषण में कहा, "हम विश्वविज्ञान व विश्वविद्या का त्याग करते हैं। हम इतिहास यह जानने के लिये नहीं पढ़ते कि घटनाएँ किस प्रकार हुईं बल्कि इसलिये कि जर्मन राष्ट्र अपने भूतकाल से उपदेश ग्रहण करे। हम विद्या द्वारा जर्मन जाति को अन्य राष्ट्रों के मुक़ाबले में अधिक कुशल बनाना चाहते हैं।"

जर्मन फ़ैशिज़्म ने एक जातीय सिद्धान्त निकाला है कि संसार भर में जर्मनों का ख़ून सर्वश्रेष्ठ और शुद्ध है। उनका यह अधिकार है कि वे अन्य जातियों पर शासन करें। जिन जातियों के ख़ून में मिलावट है वे नीच हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सब हत्याकाण्ड क्षम्य हैं। इसी के अनुसार मनुष्यों का वर्गों में बँटा होना स्वाभाविक कहा जाता है। मालिक शासन करने के लिए पैदा हुआ है और मज़दूर आज्ञा पालन करने के लिए। दोनों को प्रकृति ने इसी योग्य बनाया है—यह दैवी विधान है। हिटलर ने तो यहाँ तक लिखा है कि "पूँजीवादी व्यवस्था नामक कोई चीज़ है ही नहीं। मिल-मालिक अपनी मेहनत और कुशलता से मालिक बने हैं। इस प्रकार छाँटे जाने से यह प्रमाणित होता है कि वे उच्च श्रेणी के हैं और इसलिये उन्हें नेतृत्व करने का अधिकार है।" हिटलर ने सन् ३० में ओटो स्ट्रैसर से कहा था, "नॉर्डिक (अर्थात् जर्मन) जाति को संसार पर शासन करने का अधिकार है। हमें इसी अधिकार को अपनी नीति का पथ-प्रदर्शक बनाना चाहिये।" हिटलर ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "यदि कोई सचमुच सच्चे दिल से शांतिवादी सिद्धान्त की विजय चाहता है तो उसे हर प्रकार से जर्मनों द्वारा विश्व विजय का प्रयत्न करना चाहिये। शांतिवादी और मानवतावादी सिद्धान्त शायद तब बड़ा अच्छा होगा जब सर्वोच्च प्रकार के मनुष्य के द्वारा संसार जीत लिया जाय और वही दुनिया का परम प्रभु हो जावे।" हम काले आदमियों के बारे में हिटलर ने सन् ३६ में एक भाषण में म्यूनिक में कहा था, "गोरी जाति शासन करने के लिए बनाई गई है। उसमें शासन करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का कारण यह है कि वह धन को वीरोचित दृष्टि से देखती है जो शांतिवाद के बिल्कुल विरुद्ध है।" इसलिये भारतवासियों का फ़ैशिज़्म से किसी प्रकार की आशा करना सरासर मूर्खता है। गोरी जाति से भी हिटलर का अभिप्राय केवल जर्मन जाति से है, यह पहले दिखाया जा चुका

1. "Wehrergiehung" for Nov. 1935 (meaning Education for Arms).

है। अन्य सब जातियाँ नीच व अशुद्ध हैं। केवल जापान को रियायती तौर पर आर्य (honorary aryans) मान लिया गया है। अगर जापान की मदद की आवश्यकता न रहती तो शायद वे भी नीच हो जाते।

नाज़ियों का कहना है कि नीच जातियाँ ख़रगोश की तरह जल्दी-जल्दी बढ़ती हैं, इसलिये उनका नाश करना उचित और आवश्यक है। इसीलिये नाज़ी सरकार ऐसे लोगों को बच्चे पैदा करने के अयोग्य बना देती है। डा० ज़ीमर ने अपनी पुस्तक में वर्णन किया है कि किस प्रकार उन्होंने एक अस्पताल में अनेक स्त्रियों को बच्चे पैदा करने के अयोग्य बनाये जाते हुए देखा। उस अस्पताल में यही काम होता था और इसके लिये कई डाक्टर लगे हुए थे। जो आदमी उन्हें दिखाने ले गया था उसने बतलाया कि इसका कारण यह था कि वे औरतें कमज़ोर अथवा रोगी थीं परन्तु उसने यह माना कि उनमें बहुत-सी ऐसी भी थीं जिन्हें यह सज़ा इसलिए दी जा रही थी कि वे हिटलर-विरोधी थीं। उसने कहा कि "जेलों में औरतों को रखना मानवता नहीं है। पर बाँझ बना देने से वे शीघ्र ही राजनीति में बेकार हो जाती हैं और ख़ासकर यदि यह बात अन्य औरतों को मालूम हो जाय। इस बात का हम अच्छा प्रबन्ध करते हैं कि उन्हें पता चल जाय।" उस अस्पताल में हफ़्ते में चार दिन छ: डाक्टर लगे रहते थे। ज़ीमर साहब का कहना है कि सन् ३३ से जर्मनी के सब बड़े शहरों में यह काम जारी है। इसी प्रकार बुड्ढे और कमज़ोर मनुष्यों को आत्महत्या की सलाह दी जाती है। अस्पतालों से असंख्य मरीज़ ग़ायब हो जाते हैं। श्रीयुत हार्श[1] लिखते हैं कि सरकार के आदेशानुसार हज़ारों रोगी मार डाले गए हैं। बुड्ढे, पागल व पङ्गुओं को इस प्रकार मार डालने को दया से मारना कहा जाता है। जो कोई मानसिक अथवा शारीरिक दुर्व्यवस्था के कारण फ़ैशिस्त राज्य के काम नहीं आ सकता उसकी मृत्यु युक्तियुक्त समझी जाती है।

स्त्रियों के साथ फ़ैशिज़्म का व्यवहार अत्यन्त अमानुषिक है। पहले तो स्त्रियों का पूरा कार्यक्षेत्र केवल घर-बार कहा गया परन्तु युद्ध के कारण जब आवश्यकता हुई तो पुन: उन्हें मिल-कारख़ानों में झोंका गया और घर की "पवित्रता" को ताक़ पर रख दिया गया। फ़ैशिस्त विचारधारा के अनुसार स्त्रियों के केवल दो काम हैं—सैनिकों को पैदा करना और घर की देख-भाल। इसके अतिरिक्त न उनके कोई अधिकार हैं और न वे किसी लायक़ हैं। हिटलर ने लिखा है कि "स्त्रियों की शिक्षा में शारीरिक-शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिये। इसके बाद चरित्र गठन और सबसे बाद में मानसिक शिक्षा।" गोबेल्स ने कहा है[2], "औरतों का निराला व सर्वोच्च काम माता व पत्नी बनना है। स्त्री को सन्तान व कुटुम्ब में ही सुख मिलेगा।" हिटलर ने सन् ३६ में नूरमबर्ग में स्त्रियों की सभा से कहा, "तुम पूछती हो कि मैंने जर्मनी की औरतों के लिए क्या किया है। मेरा यह जवाब है कि अपनी नई सेना के रूप में मैंने तुम्हें दुनिया में सबसे अच्छे पति दिये हैं।" यह बार-बार कहा जाता है कि जर्मन औरतों का नैतिक कर्त्तव्य केवल बच्चे पैदा करना है। रोज़नबर्ग ने लिखा है[3], "यदि बहु-स्त्री-विवाह की प्रथा न होती तो पुरानी जर्मन जातियाँ इतनी बलवान् नहीं हो सकती थीं। बाद में फिर भी ऐसा काल आया जब औरतों की संख्या आदमियों से अधिक थी। आज भी यही बात है।

1. "Pattern of Conquest" by G. C. Harsch.
2. Quoted "Der National-socialistiche Staat".
3. "Myth of the twentieth century" by Rosenberg.

क्या ये लाखों स्त्रियाँ जीवन भर अपने प्राकृतिक अधिकार से वंचित रहेंगी और सब लोग इन बूढ़ी कुमारियों पर केवल करुणा से मुस्करायेंगे ! भविष्य का जर्मन राष्ट्र निःसन्तान औरतों को समाज का निकृष्ट प्राणी ही समझेगा, चाहे वे विवाहित हों या क्वाँरी।" सारे सभ्य समाज द्वारा निन्दित बहु-स्त्री-गमन को इस प्रकार उच्चादर्श बताया गया है। हिटलर की तूफ़ानी टुकड़ी (S. S) की पत्रिका Schwarze Korps ने लिखा है, "इसकी अनुमति नहीं दी जा सकती कि आजकल युद्धकाल से पहले की अपेक्षा शुद्ध ख़ून के कम बच्चों का जन्म हो। जो युवती अपने सर्वोत्कृष्ट कर्त्तव्य का पालन करने से पीछे हटती है वह उसी प्रकार देशद्रोही है जैसे लाम पर से भागनेवाला सैनिक। तूफ़ानी सैनिको ! यह दिखा दो कि तुम पितृभूमि के लिए केवल अपनी जान ही देने के लिए तैयार नहीं हो बल्कि मोर्चे पर जाने से पहले उसे अधिकाधिक बच्चों का उपहार देने के लिए भी तैयार हो।" नाज़ी खुफिया पुलिस, गेस्टापो के नेता हिमलर ने (जो अभी हाल में गृह-मन्त्री नियुक्त हुए हैं) घोषणा की है, "अब जर्मन युवतियों के सामने फ़ौजी कर्त्तव्य है। अब विवाह-बन्धन का कोई प्रश्न नहीं है। यहाँ विवाह से कोई सम्बन्ध नहीं। तुम्हारा कर्त्तव्य जर्मन सैनिकों के बच्चों की माँ बनना है जो मोर्चे पर जा रहे हैं।" तूफ़ानी टुकड़ी का अख़बार तो यह भी लिखता है, "यदि किसी कुटुम्ब में माता स्वस्थ हो और उसके कोई सन्तान न हो तो कृत्रिम विधि से गर्भाधान कराना चाहिये। यदि यह असफल रहे तो आवश्यकतानुसार पति की सहायता के लिए उसके भाई को बुलाना चाहिये।" इसके आगे यह कहा गया है कि यदि पति का कोई भाई न हो तो वह स्त्री किसी भी तूफ़ानी सैनिक के पास जा सकती है।

जिस समाज की यह दशा हो जाती है कि वह तोपों के मुँह में झोंकने के लिए अधिकाधिक मनुष्य प्राप्त करने के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार है—स्त्री-पुरुषों को केवल बच्चे पैदा करने के यन्त्र समझता है और किसी भी सामाजिक बन्धन को मान्य नहीं समझता—वह समाज मरणोन्मुख नहीं तो क्या है ! फ़ैशिज़्म वास्तव में पूँजीवाद का सबसे भयङ्कर रूप है। उसे सुख, शान्ति से कोई मतलब नहीं। सन् १९२२ में अपने अख़बार Popolo D' Italia में मुसोलिनी ने लिखा था, "योजनाओं में हमें कोई विश्वास नहीं है, न देवताओं या महापुरुषों में, और सुख, निर्वाण या स्वर्ग में तो हम और भी विश्वास नहीं करते।" मुसोलिनी ने लिखा है[1], "फ़ैशिज़्म भौतिकतावादी सुख के अस्तित्व को अस्वीकार करता है।" फ़ैशिज़्म तो अपनी वास्तविक अभिव्यञ्जना युद्ध में समझता है। उसका प्रत्येक नेता यह बात कहता है। गोबेल्स ने सन् ३४ में कहा था, "नया युद्ध होना हमारे लिये बलिदान के समान होगा। युद्ध जीवन की सबसे पहली शर्त है। उसको रोकना तो प्रकृति के विधान को रोकने के समान होगा।"

स्वयं फ़ैशिस्टों द्वारा लिखी अथवा कही गई बातों का उल्लेख करने के बाद फ़ैशिज़्म के बारे में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। सिवाय इसके कि फ़ैशिज़्म का अन्त करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए आगे आना ही अपनी स्वतन्त्रता की ओर बढ़ना भी है।*

---

1. "The Political and Social Doctrine of Fascism."

* अधिकांश भाग श्री रजनी पामदत्त की पुस्तक "Britain in the World Front" के आधार पर लिखा गया है।

चावल, मीठे और ख़ुशबूदार !

[विजयकुमार]

शराफ़त के पुतले, रिटायर्ड नायब तहसीलदार ठाकुर दिग्विजय सिंह अहियापुर ही में रहते हैं। आजकल ए० आर० पी० के वार्डन हैं और इसी हैसियत से मुहल्ले के लोगों को खाना देने की ज़िम्मेदारी उनकी है और सच पूछिए तो उनके रहते यह सेहरा और किसी के सर बँध भी नहीं सकता। क्योंकि नायब तहसीलदारी के पद ने लोगों को ख़ुश रखने की कला में उन्हें बहुत निपुण बना दिया है। हम लोगों को अगल बगल रहते छः महीने से ऊपर हो गये हैं और इसीलिये अब आपस में थोड़ा-बहुत घरापा भी हो गया है। ठाकुर साहब की पत्नी उम्र में मेरी माँ के बराबर होंगी। मेरी ननिहाल के पास ही एक गाँव में उनका भी मैका है। इसी रिश्ते से मैं उन्हें मौसी जी कहता हूँ और वह मेरी माँ को दीदी।

आज उनके घर पहुँचा तो देखा मौसी जी मसाला पीस रही हैं। मौसी जी ने मुझे देख पास पड़ी खाट पर बैठने के लिए कहा और एक फीकी मुस्कराहट के साथ लेकिन बड़े तपाक से पूछा—सुरेश, दीदी कहीं से चावल पा गई हैं क्या ?

मैंने सवाल को ज़्यादा न समझते और चौंकते हुए पूछा - क्यों ! क्या बात है मौसीजी !

मौसीजी की मुद्रा और गम्भीर हो गई, मुझे समझाते हुए बोलीं—देखो तो, अपनों ही से तुम लोग कितना दुराव करते हो। यह तो मुझे कल पता लगा और सो भी यों ही अचानक कि तुम लोगों को चावल चाहिये। तभी जब अबकी दो बोरे आये तो मैंने सोचा दीदी को भी दिखा लूँ। पसन्द आयेगा तो एकाध बोरा वह भी ले लेंगी। दिन तो ऐसे गाढ़े लगे हैं बेटा, कि पैसा देने पर भी आदमी चीज़ के लिए तरस कर रह जाता है।

मैंने कहा—भला इसमें भी कोई शक है। दिन तो सचमुच ऐसे ही लगे हैं। आस्मान नहीं फट पड़ता यही ग़नीमत है।

चाची—भला अब भी आसमान फट पड़ने में कोई कोर-कसर है ! अब और कौन-सी मुसीबत देखना चाहते हो !

मैं चुप हो गया। मौसीजी ने थोड़ी देर बाद फिर कहा—हाँ, तो मैंने उस दिन इसी के बारे में दीदी से कहा, लेकिन उन्होंने तो साफ़ इन्कार कर दिया। इसी से पूछती थी। चाहे इसे बुरी आदत कह लो चाहे भली, मुझसे यह नहीं होता कि कोई चीज़ मिले तो मैं उसे अकेले ही हड़प लूँ। अरे, ऐसे ही दिनों के लिए तो हित-नात होते हैं बेटा। मैं तो यही जानती हूँ कि अपने से जो भलाई बन पड़े उसमें कभी कंजूसी न करे।

मैंने कहा—आप तो मुझे शर्मिन्दा करती हैं जैसे मैं आपको जानता न होऊँ

थोड़ी देर की ख़ामोशी के बाद मौसीजी ने कहा—तो वही बात थी। दीदी ने चावल नहीं लिया। न जाने क्यों !

मैंने कहा—हाँ, अब मैं तो कुछ जानता नहीं, जो कुछ करती हैं, अम्मा ही करती हैं। कहीं ये सब इन्तज़ाम मुझे करने पड़ जायँ तो पागल हो जाऊँ, भुरकुस निकल जाय। यह तो अम्मा ही का जीवट है। अब मालूम नहीं मौसीजी, उन्होंने क्यों मना करवा दिया।

तभी ठाकुर साहब ने, जो पास ही बैठे 'कल्याण' के ज़रिये भगवान् का साक्षात्कार कर रहे थे, अपनी दस साल की लड़की सुशीला को आवाज़ दी, जो चौके में बैठी अपनी बड़ी बहन का हाथ बटा रही थी, और कहा—ज़रा मुट्ठी भर नये चावल तो ले आ।

फिर मेरी ओर मुख़ातिब होते हुए कहा—देखोगे कितने बारीक हैं ये चावल। बस, बासमती ही समझो।

जब सुशीला ने चावल लाकर मेरी हथेली पर रक्खे तो मैंने देखा चावल सचमुच बड़े बारीक और लम्बे थे। मैंने उन्हें देखते-देखते पूछा—मुझे तो ज़्यादा पहचान नहीं मौसीजी, लेकिन हैं तो सचमुच बहुत बारीक और लम्बे—पकने पर बड़ी अच्छी खील फूटती होगी!

ठाकुर साहब—क्या कहूँ, थाली जैसे खिल उठती है। एक-एक दाना अलग होकर इतना ख़ुशनुमा मालूम पड़ता है कि फिर न पूछो। और फिर इसकी मिठास और ख़ुशबू का क्या कहना! कल यहीं खाना खाओ न!

मैं—ज़रूर-ज़रूर। यह तो मेरा ही घर है।

ठाकुर साहब—ऐसी मिठास है कि सूखा ही खाओ तो भी स्वाद आता है और ख़ुशबू तो ऐसी कि घर भर गमक उठता है, इतर की तरह।

मैं—मालूम नहीं उन्होंने क्यों मना करवा दिया। मान लीजिये उन्हें चावल मिल भी गया है कहीं से, तो भी एकाध बोरा और लेकर डाल लेने से कुछ बिगड़ थोड़े ही न जाता और उस पर से इतना नफ़ीस चावल?

ठाकुर साहब—यही तो मैं भी कहता था।

मैं—पूछूंगा मैं।

ठाकुर साहब—मैं तो भाई, पहले अपने घर में दिया जलाता हूँ, फिर मस्जिद में। तुम्हारे घर को अपना ही समझता हूँ, इसलिए ज़ोर देता हूँ, नहीं मुझे क्या ज़रूरत नहीं! मेरा घर तो अंधा कुँआँ है, कितनी ही मिट्टी क्यों न डालो, पट नहीं सकता। ग्यारह आदमी खानेवाले हैं। दो रुपये का आटा मुश्किल से तीन जून चलता है।

मैं—सच! इतना!

ठाकुर साहब ने अपने सबसे छोटे लड़के की ओर इशारा करके मुसकराते हुए कहा—सच नहीं तो क्या झूठ! इन्हें देखो। जुम्मा-जुम्मा आठ रोज़ के हैं आप और आपकी ख़ुराक! महज़ मेरी दुगनी।

मैं—बड़े ख़राब हैं आप मौसाजी। झूठ-मूठ बेचारे को नज़र लगाते हैं।

ठाकुर साहब ने ज़ोर से लेकिन एक खिन्न हँसी हँसते हुए कहा—कुछ कारगर भी हो मेरी नज़र। नज़र लगती होगी औरों को। मेरे बच्चों पर तो उसका उल्टा ही असर होता है।

कुछ देर की ख़ामोशी के बाद ठाकुर साहब फिर गम्भीर होते हुए बोले—तो जल्दी ही बता देना अपनी माँ से पूछकर। मुहल्ले-टोलेवाले दिन-रात घेरे रहते हैं। दो-दो, एक-एक रुपये का चावल तो न जाने कितने लोग ले गये। अब 'नहीं' भी तो नहीं करते बनता, मुहल्ले-टोले के लोग हैं। आपस में एक दूसरे का सहारा रहता है। चाहे थोड़ा ही थोड़ा दो लेकिन देना सभी को पड़ता है। और फिर मेरी गर्दन तो और भी फँसी है। सब यही समझते हैं कि मेरे घर में कामधेनु बँधी है। जो चाहूँ सो कर सकता हूँ। चाहूँ तो सदाव्रत खोल दूँ। बड़े अजीब होते हैं सब।

मैं—हाँ, लोग सचमुच बड़े पागल होते हैं। लेकिन अपनी ओर से तो आप अच्छा ही करते हैं। सबकी भलाई होती है। कल खाना खाने आऊँगा तो अम्माँ से चावल के बारे में पूछता आऊँगा। चावल है तो सचमुच नफ़ीस।

मैंने नमस्ते की और घर की ओर चला। रास्ते में सोचता रहा, अम्माँ भी अजीब हैं। ये लोग तो बेचारे हमारे लिए मरते हैं और उन्हें तो जैसे किसी बात का कोई ख़याल ही नहीं।

घर पहुँचकर मैंने अम्माँ से कहा—अभी ठाकुर साहब के यहाँ गया था। तुमने शायद मना कर दिया है कि न लोगी चावल।

अम्माँ—मेरे बस का रोग नहीं वह। वह चावल मेरा खाया न खाया जायगा।

मैं—क्यों! ख़ासा बारीक तो है!

अम्माँ—वह बात नहीं, पगले। चावल तो यों बहुत अच्छा है लेकिन भूखे के मुँह का कौर मैं नहीं छीन सकती।

मैं—उसका सवाल यहाँ कहाँ!

अम्माँ—उसी का तो सवाल है। उनके यहाँ ज़मीन फोड़कर थोड़े ही न आ गया है चावल। राशन की दूकान पर का चावल है। अपनी अफ़सरी का इस्तेमाल कर रहे हैं। कौन खाये वह चावल। भूखे के मुँह का कौर नहीं तो वह और है क्या? बीस रुपये से कम आमदनीवालों के लिए आता है वह। उनका अन्न उठाकर मैं अपने पेट में धर लूँ, यह मेरे किये नहीं हो सकता।

मैं—यह तो सचमुच बहुत गन्दी बात है।

अम्माँ—गन्दी बात तो है ही, नहीं तो मुझे क्या कुत्ते ने काटा था कि मना कर दिया। अरे, हम लोग तो दो सेर और पौने दो सेर भी ख़रीदकर खा सकते हैं, लेकिन उन बेचारों का क्या होगा? वे तो बेमौत मर जायेंगे। उनके लिए तो वही सहारा है।

मैं—उसे छीनकर खाना तो सचमुच हत्या करना है। कितना गन्दा काम करते हैं ठाकुर साहब। अच्छा किया, मना कर दिया तुमने।

अम्माँ—और करती ही क्या!

बहन ने जो पास ही बैठी किताब पढ़ रही थी, कहा—ख़ुद तो खाते ही हैं। वह तो उसका व्यापार करते हैं।

मैं—यह क़साई का काम कब से लिया हाथ में उन्होंने!

बहन ने चुटकी ली—एहसान भी लादते हैं और पैसे भी खड़े करते हैं। आदमी होशियार हैं। लेकिन महरी आज कह रही थी कि उनकी शिकायत बड़े अफ़सर के यहाँ होनेवाली है—लाल झण्डेवालों ने लोगों के दस्तख़त लिये हैं और अब अर्ज़ी जाने ही वाली है।

मैंने नफ़रत से तिलमिलाते हुए कहा—बहन, बड़ा अच्छा हो कि ठाकुर साहब बँध जायँ। जो ऐसा क़साई का काम करे, लोगों को इस तरह भूखों मारे, उसे आदमी कहना गुनाह है। अम्माँ, महरी से उनके यहाँ कहलवा दो, हमें उनका चावल नहीं चाहिए। साल भर के लिए इफ़रात चावल हमने इकट्ठा कर लिया है, अब और न चाहिए। और हाँ, यह भी कहलवा दो कि कल मैं वहाँ खाना खाने भी न आ सकूँगा, एक ज़रूरी काम आ पड़ा है।

उस वक़्त नफ़रत के बादलों ने अपने मेंह से मेरी रग-रग को सर्द कर दिया था। मैंने अपने मन में यही कहा—काश, मेरे पास ऐसा कोई मन्त्र होता कि मैं उन मीठे और इत्र की तरह ख़ुशबूदार, थाली की शोभा बढ़ानेवाले चावलों के भीतर से ख़ून के दो-चार लाल दाने भी उभाड़ सकता।

———

दस्यू

गङ्गाप्रसाद पाण्डेय

काला, दुबला-पतला शरीर, गङ्गा-जमुनी घनी मूँछें, निस्तेज छोटी-छोटी आँखें, गन्दी फटी पुरानी बन्डी और घुटने तक चढ़ी चीकट धोती पहने इधर-उधर झाड़ू लिये घूमता हुआ दस्यू मेरे मित्रों में से है। दस्यू शब्द का सम्बन्ध दस्यु से न होकर दास से है। यह बुड्ढा क़रीब बारह वर्ष से होस्टल में नौकरी करता है। उसकी पत्नी का देहान्त हुए क़रीब छः वर्ष हो गये। उसके केवल एक पाँच वर्ष की लड़की है। अब वह मानो इसी लड़की के पोषण के लिए जी रहा है क्योंकि उसका कहना है कि बुढ़ौती की सन्तान बहुत प्रिय होती है। लड़की का नाम है दुखिया। अपने नाम के प्रतिकूल वह बड़ी हँसमुख और चञ्चल है। वह बड़ी प्रसन्न भी रहती है क्योंकि दस्यू उसे खाने-पीने और पहनने ओढ़ने की पूरी सुविधा देता है। सावन में नयी ओढ़नी, जाड़ों में गर्म कुरता और गर्मी में सफ़ेद पतले कपड़ों की उसे कभी कमी नहीं होती। दस्यू उसके लिए माँ-बाप दोनों हैं। दस्यू के और ख़र्च ही क्या है! पत्नी के मरने के बाद वह कभी दारू नहीं पीता, हुक़्क़ा भी उसने छोड़ दिया है। अब तो वह कभी अपनी प्रिय सुरती को भी नहीं छूता। उसके सारे सुख के साधनों का एकमात्र आधार दुखिया है, फिर वह सुखी क्यों न रहे!

होस्टल में हर साल जन्माष्टमी का जलसा मनाया जाता है। सङ्गीत, गीतापाठ और कविता-पाठ के पश्चात् आनेवाले सज्जनों को प्रसाद भी दिया जाता है। दस्यू कुछ तो अपनी अवस्था और कुछ पत्नी की मृत्यु के स्वाभाविक विराग के कारण ईश्वर-भजन की ओर अधिक उन्मुख हो गया है। उसके जीवन की विवशताओं की यही सबसे बड़ी शरण है। रोज़ सुबह काम में जुटने के पहले वह कुछ देर ईश्वर का स्मरण करता है। विद्यार्थी कभी-कभी व्यङ्ग के रूप में कहने लगते हैं 'दस्यू को काम करने की फ़ुरसत कहाँ! वह तो पुजारी है।' दस्यू इसे अपने प्रति एक सम्मान की सूचना समझकर चुपचाप मुस्करा देता है और अपना काम करने लगता है। जन्माष्टमी के दिन मैंने भी एक कविता पढ़ी थी। लोगों ने उस कविता की बड़ी तारीफ़ की और दस्यू को भी वह गाना बहुत अच्छा लगा। उसकी तरल आँखें इस बात की गवाही दे रही थीं। दुखिया बाप का हाथ छोड़कर अपने बाल-स्वभाव के अनुकूल सब लड़कों के पास भीड़ में आकर बड़े ही मुग्ध भाव से इधर-उधर देख-सुन रही थी। उसके अबोध मन में जन्मजात अछूत होने की आशङ्का का कोई अस्तित्व ही नहीं था; क्योंकि बाह्यरूप से उसके कपड़े किसी से कम क़ीमती और साफ़-सुथरे न थे। प्रसाद वितरण के समय तो वह और भी व्यग्र हो उठी। उसने प्रसाद बाँटनेवाले के पास जाकर अपने मटमैले नन्हें हाथों को निर्भीकतापूर्वक बढ़ा दिया। दुखिया की सामाजिक हीनता ने उसके इस कार्य को विद्यार्थियों के सामने एक अपराध के रूप में उपस्थित किया तो आश्चर्य नहीं। हममें से एक ने कहा—'दस्यू, देखो ज़रा अपनी लड़की को सँभाल रखो, ऊपर चढ़ी आती है।' दस्यू ने क्षोभ के साथ दुखिया को डाँटते हुए अपने पास बुला लिया। दुखिया अपने अपराध के प्रति अबोध ही रही, उसने केवल दस्यू की डाँट-फटकार को ही समझा।

मैं चुपचाप, अपनी सुन्दर कविता के अभिमान को लिये एक कोने में बैठा यह दृश्य देख रहा था। मुझे उस समय दुखिया के कारण दस्यू को डाँटनेवाले साथी पर बड़ा क्रोध आया किन्तु अवसर की गम्भीरता में मैं कुछ बोल न सका। प्रसाद का एक थाल लेकर स्वयं बाँटना प्रारम्भ कर दिया। आम तौर पर क़ायदा यह है कि पहले भीतर बैठे सम्मान्य व्यक्तियों को प्रसाद दिया जाता है और तब बाद में बाहर खड़े नौकर-चाकरों को। मैंने आव देखा न ताव, प्रसाद लेकर शीघ्र ही दस्यू के पास पहुँच गया और दुखिया के दोनों हाथों में एक-एक दोना रख दिया। प्रसाद पाकर दुखिया की डबडबाई आँखें हँस पड़ीं और वह मिठाइयाँ खाने लगी। प्रसाद मैंने दस्यू को भी देना चाहा किन्तु उसने मेरे हाथों से सीधा दोना लेने की अपेक्षा ज़मीन में अपना मैला अँगौछा बिछाकर उसमें प्रसाद रख देने का संकेत किया। मैंने कहा—'दस्यू, हाथ में ले लो, एक दोना से ज़्यादा तुमको नहीं मिलेगा।' दस्यू जैसे सकपका-सा गया। उसने मेरी ओर और चारों ओर बड़े ध्यान से अपनी प्रश्न-भरी आँखें घुमाईं और अपना कँपता हुआ हाथ बढ़ा दिया। इस घटना के बाद से दस्यू मेरे प्रति एक आत्मीयता का भाव रखता है। मुझे प्रणाम करने और मेरी आज्ञा के पालन करने में उसे एक प्रकार का सुख मिलता है। मेरे प्रति उसकी उत्सुकता बहुत बढ़ गई है।

जन्माष्टमी के बहुत दिनों बाद होली का त्योहार आया। अन्य सभी मित्रों की भाँति दस्यू को भी गले लगाने मे मुझे किसी प्रकार का सङ्कोच नहीं हुआ। मेरी इस उदारता की कृतज्ञता दस्यू शब्दों में तो नहीं प्रकट कर सका पर उसके हृदय की तीव्र धड़कन ने मेरे हृदय से अपनी सारी बातें अनायास ही कह दीं इसमें सन्देह नहीं। इन दोनों अवसरों के बाद मैं दस्यू का पूरा मित्र बन गया और साथ ही कुछ सहपाठियों की नज़र में अब्राह्मण और झूठी शान दिखानेवाला भी समझा जाने लगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि मैंने भी मित्रों की नाराज़ी की अपेक्षा दस्यू की प्रसन्नता का अधिक सम्मान किया। मेरा विचार है कि सुन्दर सिद्धान्तों की बौद्धिक गठरी बाँधने की अपेक्षा उनका जीवन में उपयोग अधिक अच्छा है।

मेरे प्रति स्नेह और श्रद्धा रखने के कारण मेरे साथ अधिक रहनेवाले साथी अपने आप दस्यू के श्रद्धेय बन जाते हैं। उनके प्रति भी वह सहज ही सेवा-शील हो उठता है। मेरे और दस्यू के बीच के इस सद्भाव की चर्चा होस्टल के अनेक विद्यार्थियों के मनोरञ्जन का कारण बनी तो कुछ अस्वाभाविक नहीं। हमारे देश का एक वर्ग दूसरे से कितना विच्छिन्न है यह किसी से छिपा नहीं है। फिर भला पढ़े-लिखे आदमी का एक मामूली मेहतर से सद्भाव ख़तरे से कैसे ख़ाली हो सकता है! तनख़्वाह पाने के पहले किसी बड़ी ज़रूरत पर दस्यू मुझसे एक-दो रुपया उधार ले जाता है और निश्चित समय पर बिना किसी ब्याज-बट्टा के लौटा देता है। ब्याज न लेना भी उसे मेरी महानता ही जान पड़ती है। दस्यू मुझे इतना चाहता है कि दिन भर में मुझसे एक आध बात किये बिना उसे चैन नहीं पड़ती। हरिमोहन, प्यारे, विमल और मनोहर मेरे सहपाठी-साथी हैं। दस्यू इन सबको ख़ूब जानता है। कभी-कभी मेरी ग़ैरहाज़िरी में वह इन लोगों से भी अपनी सामयिक सहायता का काम निकाल लेता है। हम लोगों की तारीफ़ में दस्यू प्रायः इनसे-उनसे कहता रहता है—'ये बाबू बड़े मिलनसार और दयावान् हैं।' किसी को कभी कड़ी बात तक नहीं कहते।'

इधर क़रीब एक सप्ताह हुए मनोहर कलकत्ता गया है, कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ने। मुझे भी निमन्त्रण आया था मगर मैं गया नहीं। न जाने का कारण कवि-सम्मेलनों में मेरी अपनी

असफलता भी हो सकती है किन्तु इस बार तो मैंने यह भी सोचा कि जहाँ के लोग-बाग भूख के मारे अपने बच्चों और स्त्रियों के साथ सड़कों में भीख माँगते मर रहे हों वहाँ जाकर कवि-सम्मेलन में भाग लेना अमानुषिकता होगी। बहुत-से लोग गये थे, जाने के उनके अपने कारण हो सकते हैं। संसार में श्मशान-गायन का भी विधान तो है ही। एक दिन दस्यू ने पूछा—'मनोहर बाबू कई दिनों से नहीं दीखे। कहीं बाहर गये हैं क्या ? मुझे उन्हें एक रुपया देना था, मेरे पास कहीं खर्च न हो जाय।' मैंने दस्यू की आकुलता को शान्त करते हुए कहा—'वे कलकत्ता कविता गाने गये हैं। तुमने नहीं सुना वे बहुत अच्छा गाते हैं, कल परसों तक वापस आ जावेंगे।' दस्यू, विश्वास के साथ सिर हिलाते हुए, बोला—'हाँ, बाबू क्यों न गाते होंगे। वे तो देखने सुनने में सभी तरह अच्छे हैं। जो देखने में अच्छा होता है वह काम भी अच्छा करता है। अब जन्माष्टमी में उनका गाना सुनने को मिलेगा।' लौटकर जब मैं कमरे में आया तो कलकत्ते की सड़कों में भूख से मरते हुए स्त्री-बच्चों का एक चित्र लीडर के प्रथम पृष्ठ में देखा। कवि-सम्मेलन में शरीक होकर उसकी शोभा बढ़ानेवाले कवियों के चित्र मेरी आँखों के सामने चित्रपट की भाँति आने लगे और मैं रुपये की महत्ता का क़ायल हुए बिना नहीं रह सका। राष्ट्रभाषा बनने का दावा करनेवाली हिन्दी, तेरे कवियों की यह दशा, मानवता का यह क्रय-विक्रय, साहित्यकार का यह स्वरूप ! कलकत्ते के एक कोने में अलकापुरी की तरह सज्जित कविमंच पर स्वर्ण-पदक-प्राप्ति के उपलक्ष्य में हँसते हुए कवियों की दशा पर चार आँसू बहाकर मैं अपने में खो-सा गया।

दूसरे ही दिन सुबह मास्टर साहब ने यह तय किया कि एक दिन हम सब होस्टलवाले यदि खाना न खायें तो बङ्गाल रिलीफ़ फ़ंड के लिए काफ़ी रुपया बच सकता है। लोगों ने इस प्रस्ताव का बड़े उत्साह से समर्थन किया, चाहे बाद में उन्हें बाज़ार की कचौड़ियों से ही भिड़ना पड़ा हो। होस्टल के सारे मेस बन्द थे क्योंकि उपवास करके उन दुखियों के साथ हार्दिक सहानुभूति और रुपया भेजकर उसके सक्रिय स्वरूप का आयोजन किया गया था। ९ बजे के क़रीब दस्यू मेरे पास बहुत ही उदास और खिन्न मुद्रा लिये हुए आया और आक्रोशपूर्ण शब्दों में कहने लगा—'बाबू, आप जानते हैं आज-कल दुखिया की तबियत ख़राब है, उसे जाड़ा देकर फ़सली बुख़ार आता है। महाराज से माँगकर मैं उसे एक-दो रोटी सुबह खिला देता था मगर आज तो सभी मेस बन्द हैं, वह भूख के मारे रोती है। मैं आप लोगों का काम करूँ या उसे खाना बनाऊँ ? बड़ी आफ़त है। पैसा भी नहीं है कि बाज़ार से कुछ मँगा दूँ। आप लोगों को क्या है, या तो कहीं दावत होगी या बाज़ार में खाने की तबियत। उस दिन मेहतरों की हड़ताल में मैंने साथ नहीं दिया, मेरा हुक्का-पानी भी बन्द है। खर्च पर खर्च और दुखिया की यह तकलीफ़, वाह रे भाग्य !' अपने मन की सारी व्यथा दस्यू ने एक साँस में कह सुनाई। मैंने उसे समझाते हुए कहा—'दस्यू, तुमको नहीं मालूम बङ्गाल में, ख़ासकर कलकत्ते में सैकड़ों आदमी रोज़ भूख से मर रहे हैं, वहाँ अन्न का अकाल है, चारों ओर त्राहि-त्राहि मची है। उन्हीं भूखों के लिए रुपया भेजने की इच्छा से हम लोगों ने आज खाना न खाने का निश्चय किया है। वहाँ लोगों की बड़ी दुर्दशा है। माँ-बाप अपने बच्चों तक को भूख से तड़पता देखकर मार डालते हैं और फिर ख़ुद मर जाते हैं।' दस्यू ने राम-राम कहते हुए क्षण भर के लिये अपनी आँखें बन्द कर लीं। जब उसने आँख खोली, मैंने लीडर में छपा चित्र उसके हाथों में देते हुए बताया कि लोग किस प्रकार सड़कों के किनारे मरे पड़े हैं। दस्यू का सारा आक्रोश जैसे करुणा में बदल गया। उसकी आँखें भर आईं और वह गद्गद कंठ से बोला—

'बाबूजी यह तो ग़ज़ब हो गया, मैं भला वहाँ की बात क्या जानूँ। आप लोगों के पास काग़ज़ से विलायत तक की ख़बरें पहुँच जाती हैं। सचमुच बड़ी विपत्ति है।' इसके बाद दस्यू ने कुछ दबे किन्तु आश्वस्त स्वर से पूछा—'आप कल बता रहे थे कि लोग वहाँ कविता गाने गये हैं, मनोहर बाबू भी तो वहीं गये हैं। एक तरफ़ मरना और एक तरफ़ गाना कैसे बनेगा! ख़ैर, बड़ों की बात कौन कहे, किसी साहब की कोठी में गाना-बजाना होता होगा, बाहर लोग मरें चाहे जियें। अभी उस दिन चौकीदार की मेहरिया के मर जाने पर भी बाबू लोगों ने गाना-बजाना नहीं बन्द किया।' इतना कहकर दस्यू अपने में डूबा डूबा-सा वापस जाने लगा। मैंने उसे रोकते हुए कहा—'लो चार आने पैसे ले जाओ और दुखिया को कुछ खाना ला दो।' दस्यू कुछ बोल भी नहीं पाया था कि नीचे से आवाज़ आई—'दस्यू, देखो टट्टी गन्दी पड़ी है और तुम दरबार के लिये ऊपर पहुँच गये।' दस्यु मेरी ओर देखता हुआ चुप रहा और थोड़ी देर बाद बोला—'बाबू, अगर दीजिये तो चार आने नहीं सवा रुपया दीजिए। चार आने दुखिया के लिये और एक रुपया मेरा भी कलकत्ता भेज दीजिये, मैं तलब पाने पर आपको दे दूँगा। उन्हीं लोगों के पुण्य-प्रताप से मेरी दुखिया अच्छी हो जाय। अरे हाँ बाबूजी, पुण्य की जड़ पताल में होती है। और चाहे जो हो भूख नहीं सही जाती। हे भगवान्, दुखिया को बचाना। बाबूजी, तो जल्दी दीजिए, शम्भू बाबू नाराज़ हो रहे हैं।'

देश-रक्षा के लिए

[अविनाशचन्द्र]

[एक उच्च, उच्च से मतलब है बहुत अमीर, घराने का एक बाहरी कमरा जो बिलकुल विलायती ढङ्ग पर सजा है। दरी क़ालीन और दो सेट सोफ़ों के। बीच में मझोले क़द की, मीनाकारी की हुई, पीतल की मेज़ जिस पर छोटे-छोटे जयपुरी हाथी, घोड़े, हिरन और शेर—जो कि केवल अँगरेज़ी राज्य में ही एक घाट पानी पी सकते हैं! सोफ़ों के पास छोटी-छोटी एश ट्रे की मेज़ें जिन पर मीनाकारी किये हुए एश ट्रे। एक कोने में रेडियो स्टैण्ड पर बड़ा रेडियो सेट जिस पर फ़्रेम में जड़ी एक युवक की फोटो। कमरे के दो दरवाज़े और एक फ्रेंच खिड़की बाहर बराण्डे में खुलते हैं; दाईं ओर की दीवार में एक दरवाज़ा कारीडोर में और बाईं ओर की दीवार में एक दरवाज़ा किसी दूसरे कमरे में। फ्रेंच खिड़की में एक सफ़ेद रङ्ग की टेलीफोन रखी है। दरवाज़ों और खिड़की पर सोफ़ा सेट के कपड़े के साथ मैच करते हुए रङ्ग की रिङ्ग वैल्वटीन के पर्दे। दीवारों पर कुछ प्राकृतिक दृश्य और दो-एक युवक-युवतियों की फोटोग्राफ़्स।

एक बाईस-पच्चीस वर्ष का युवक, घर का नौकर, सोहन हाथ में झाड़न लेकर सोफ़े पोंछ रहा है। वह हल्के-हल्के कुछ गुनगुना भी रहा है। टेलीफोन की घण्टी बजती है घर्र-र र र, घर्र-र र र...]

सोहन—(टेलीफोन का रिसीवर उठाते हुए) हलो-हलो, जी—मैं सोहन हूँ, घर का नौकर, साहब नहा रहे हैं—नहीं साहब, छोटे मालिक अभी तक नहीं आये, कार स्टेशन पर गई है—जी हाँ, नहा रहे हैं—क्या कहा! जी हाँ, कह दूँगा जी नमस्ते (रिसीवर रख देता है और फिर कुछ गुनगुनाते हुए फ़रनीचर पोंछने लगता है। दरवाज़े पर खटखट होती है) कौन है? (दरवाज़ा खोलकर) कौन? ओह लालाजी, आइए, आइए, साहब नहा रहे हैं, बैठिए।

(एक अधेड़ उम्र के लालाजी अन्दर प्रवेश करते हैं। वह शक्लो-सूरत से बिलकुल बनिया दुकानदार लगते हैं। इन्हें सब लालाजी कहते हैं।)

लालाजी—साहब अभी तक नहा रहे हैं? अच्छा, ज़रा ख़बर करना तो—ज़रूरी काम था एक। और छोटे सरकार कहाँ हैं? (बैठते हुए) सुना है कलकत्ते किसी मीटिङ्ग में गये हैं।

सोहन—आज ही आ रहे हैं, मोटर लेने गई है। अच्छा, लालाजी, खाँड का क्या भाव किया है?

लालाजी—अरे, क्या भाव होगा।

सोहन—फिर भी, घर भेजनी थी थोड़ी।

लालाजी—अरे, मिलती कहाँ है खाँड!

सोहन—फिर भी लालाजी, कुछ तो ले दीजिये, थोड़ी-बहुत ही सही। क्या करें, शक्कर खाँड से महँगी हो रही है। खाँड सत्रह और शक्कर पचीस!

लालाजी—यह सब कन्ट्रोल की वजह से।

सोहन—लालाजी, खाँड पर जब कन्ट्रोल किया है तो शक्कर पर क्यों नहीं किया?

लालाजी—अरे शक्कर पर कनट्रौल हुआ तो उसे भी पर लग जायेंगे। अच्छा, ख़बर कर दे ज़रा, सीधा घर से आ रहा हूँ, दूकान का वक़्त हो रहा है।

सोहन—तो फिर दिलवा दोगे न लालाजी! भाई का गौना है अभी। गरमी ज़्यादा है, पङ्खा चला दूँ। (पङ्खा चला देता है)

लालाजी—कोशिश करेंगे। ख़बर कर दे भैया।

[अन्दर से एक स्त्री-कण्ठ सुनाई पड़ता है—सोहन ! ओ सोहन !]

सोहन—लो, आवाज़ पड़ गई, अभी तक सफ़ाई तो हुई नहीं। लालाजी ज़रूर इन्तज़ाम करवा दीजिए। (सोहन चला जाता है।)

लालाजी—ओह हो, हे भगवान, आज काम हो जाये तो सवा रुपये का प्रसाद तो ज़रूर चढ़ाऊँगा।

[एक पचासेक वर्ष का पुरुष, घर के मालिक, रायबहादुर बनवारीलाल, कॉरीडोरवाले दरवाज़े से अन्दर प्रवेश करते हैं। सिल्क का कुर्ता और चुनी हुई धोती, आँखों पर चश्मा, बाल कुछ पके हुए किन्तु नरम, सिर के बीच में से उड़े हुए। शरीर कुछ भारी और भद्दा।]

रायबहादुर—ओह, लालाजी हैं, आप कब से बैठे हैं! कहिए कैसे आना हुआ?

लालाजी—(उठते हुए) हें हें हें—सोचा दर्शन कर आऊँ। हें हें हें सरकार बहुत दिनों से उस तरफ़ आये नहीं।

रायबहादुर—जी.हाँ, वह, वह सब काम अब लला के हवाले है। मैंने अब छुट्टी ले ली है। बहुत काम कर लिए हैं।

लालाजी—फिर भी, आपकी निगाह तो—

रायबहादुर—हाँ-हाँ, वह तो है ही। लला मुझसे बात कर लेता है पर लड़का बहुत होशियार है। मैंने बहुत—कहिए, कैसे आना हुआ!

लालाजी—जी, बस यों ही, यों ही, चला आया था सरकार। अगली पहली को शायद आपको ध्यान हो, मेरा ठेका ख़त्म हो रहा है, सो चला आया था, सरकार फिर नया कर दें। मैंने पूरी-पूरी कोशिश की है कि सरकार को ख़ुश रखूँ और मज़दूर लोग भी—

रायबहादुर—देखिए लालाजी, यह बात तो आप लला के आने पर उसी से कीजिएगा। मैंने कहा न, मैंने दख़ल देना छोड़ दिया है। और रही हम लोगों को ख़ुश रखने की बात, मैं आप से सहमत नहीं। डाक्टर की रिपोर्ट है कि जब से आपने ठेका लिया है, फ़ैक्टरी में बीमारी ज़्यादा फैल रही है। जानें आप आटे में क्या मिला देते हैं, पेचिश के केस इतने ज़्यादा हो रहे हैं कि कुछ पूछिए नहीं—डाक्टर साहब की रिपोर्ट तो आपके बिलकुल ख़िलाफ़ है—हाँ, बिलकुल ख़िलाफ़।

लालाजी—सरकार, किया क्या जाए, कन्ट्रौल की वजह से माल ही ऐसा आता है। हम ख़ुद ख़राबी थोड़े ही करते हैं। और सरकार डाक्टर साहब को तो ख़ुश करने की पूरी कोशिश करता हूँ पर सरकार अपने बस की बात नहीं, जैसा माल पीछे से आता है—

रायबहादुर—अगर आप डाक्टर साहब को ख़ुश रखने की कोशिश करते हैं तो फिर उनकी रिपोर्ट क्यों आपके ख़िलाफ़ है!—बेहतर यही होगा कि आप लला से बात करें।

लालाजी—सरकार हमारी आस तो आप ही पर लगी है। छोटे सरकार तो हैं ही पर—पर सरकार के रहते हुए—(अण्टी खोलकर कुछ नोट निकालता है) पिछले साल हज़ार रुपये में बिका

था, अबके यह, यह दो हज़ार रुपये हैं सरकार—पेशगी दे रहा हूँ। सरकार, छोटे सरकार से कह दें।

रायबहादुर—यह रुपये आप लला को देवें, मैं उसके कामों में दख़ल नहीं देता।

लालाजी—और सरकार खाँड बहुत बढ़िया आई है—मोती के दाने हैं। हुक्म हो तो दो-एक बोरी भिजवा दूँ?

रायबहादुर—हाँ-हाँ लालाजी, खाँड़ की बहुत तकलीफ़ है, आए-गए बहुत रहते हैं—क्या करें लालाजी ज़माना रखना पड़ता है। खाँड़ अच्छी-सी दो-एक बोरी ज़रूर भिजवा दीजिएगा और ज़रा जल्दी।

लालाजी—जी, अभी जाकर पहला काम यही करता हूँ—अभी गाड़ी में रखकर भिजवा देता हूँ—बहुत बढ़िया खाँड है सरकार, बस मोती के दाने और सरकार छोटे बाबू से आप सिफ़ारिश कर दें। (घड़ी में सवा आठ बजते हैं)

रायबहादुर—ओह, सवा आठ बज गये, लला नहीं आया, फ़ोन करके देखता हूँ। (फ़ोन करने लगते हैं।)

लालाजी—तो सरकार मुझे आज्ञा दें, अभी जाकर दुकान खोलूँगा, मज़दूर लोग खड़े होंगे। अच्छा सरकार, नमस्ते!

रायबहादुर—(रिसीवर कान के साथ लगाए) जाइएगा! अच्छा, नमस्ते। जी रेलवे स्टेशन (लालाजी चले जाते हैं) कलकत्ता-मेल कुछ लेट है क्या? आध घण्टा? जी, थैंक्स। (कमरे के बीच जाकर, नोट उठाकर जेब में रख लेते हैं और रेडियो ऑन करते हैं। थोड़ी देर पीछे रेडियो अंग्रेज़ी में बोलने लगता है, 'सैण्ट्रल असेम्बली में सुपर टैक्स के बढ़ाने पर बहस अभी जारी है, आज इंडिपेंडेंट पार्टी के लीडर ने तक़रीर करते हुए कहा कि' —एक पैंतालीसेक वर्ष के पुरुष का, वर्दी पहने हुए प्रवेश। उनके कन्धे पर लगे हुए क्राउन से स्पष्ट है कि वह मेजर है। रोबीला चेहरा है, साफ़-सुथरी बुशशर्ट और निकर में बहुत भला लग रहा है। मेजर रायबहादुर साहब का चचेरा भाई है।)

मेजर—हैलो, क्या ख़बर है आज?

रायबहादुर—(रेडियो बन्द करते हुए) ख़बर क्या होगी? ग़रीबमार, नित्य नये टैक्स लगते जाते हैं, पुराने के रेट बढ़ रहे हैं, सुपर टैक्स फिर बढ़ रहा है। मैं कहता हूँ इससे मिलें ख़ुद ही क्यों नहीं ले लेकर देते! ख़ुद चलाएँ, ख़ुद माल लें, हमें साल का किराया दे दें। नहीं हमीं बन्द कर दें। आख़िर हमें मिलता क्या है, कोई पूछे इनसे।

मेजर—सो तो है ही पर वार-टाइम में ऐसा करना ही पड़ता है।

रायबहादुर—वार-टाइम—अजी साहब, वार-टाइम ही तो कमाने का वक़्त होता है। पिछली बार की कमाई पर ही तो यह मिल खड़ी की है और आप कहते हैं वार-टाइम!

मेजर—पर आप जानते हैं अब सन् चौदह नहीं, ज़माना पच्चीस साल आगे बढ़ गया है।

रायबहादुर—तभी तो इतने टैक्स लगने लगे हैं, नहीं, वह दिन होवें, आज सोने की मिल खड़ी कर दी होती, सोने की।

मेजर—नहीं भाई साहब, फ़र्क़ यह नहीं। जब आप दुकानदारी कर रहे थे तब लड़ाई आपसे हज़ारों मील दूर, किन्हीं उन मुल्कों में जिन्हें आपने सिर्फ़ नक़्शे में ही देखा है, हो रही थी,

आज लड़ाई आपके घर में नहीं घुस आई तो कम से कम ड्योढ़ी पर ज़रूर पहुँच गई है। आप सोचना यही चाहते हैं कि वह आपसे दूर है, पर ऐसा है नहीं। बस, इसी लिए आपको कष्ट हो रहा है।

रायबहादुर—यह भी आप क्या कह रहे हैं!

मेजर—इस समय तो चाहिए यह कि आप इसे अपनी लड़ाई समझें; इँगलैण्ड, रूस और जर्मनी, फ्रांस और इटली, जापान, अमरीका और चीन की लड़ाई नहीं, बल्कि अपनी लड़ाई, डिमॉक्रेसी और डिक्टेटरशिप की लड़ाई, अच्छे और बुरे की लड़ाई, जनता की लड़ाई। आप इसे अगर दूसरों की लड़ाई समझते हैं तो—और न भी समझें तो भी लड़ाई तो यह आपकी ही है। आपको इसे अपनी समझना होगा और अपना समझकर अपने देश की रक्षा करने के लिए, अपनी तहज़ीब और संस्कृति को बचाने के लिए, क़दम उठाने होंगे।

रायबहादुर—नहीं साहब, हम इसे अपनी लड़ाई समझ ही क्योंकर सकते हैं। अंग्रेज़ सरकार जैसा चाहती है करती है, ज़बरदस्ती चन्दा लेती है, ज़बरदस्ती—

मेजर सरासर अन्धेर करती है। लेकिन तब भी लड़ाई है तो हमारी ही, क्योंकि हमीं दाँव पर लगे हैं, हम पर ही दुश्मनों की घात लगी है।

रायबहादुर—सो कैसे!

मेजर—कल को फ़र्ज़ कीजिए जापान हिन्दुस्तान पर हमला कर देता है। आप अगर प्रॉपरली आर्म्ड नहीं हैं तो आप क्या कर सकते हैं! वह आप पर चढ़ता आएगा, गाजर-मूली की तरह आदमी कटते जाएँगे, औरतें और बच्चे ज़लील होंगे, हमारी सदियों की सभ्यता जाती जाती रहेगी। हमारे काली के मन्दिर और शाही मस्जिदें, हमारे सारनाथ और अमृतसर, हमारे ताजमहल और दतिया के मन्दिरों का नाम-निशान न रहेगा। अंग्रेज़, फ़र्ज़ करो पीछे हट जाते हैं, भाग जाते हैं, उनका क्या जायगा! वह अपने वतन चले जाएँगे। कल न गए आज चले गए पर हम एक के ग़ुलाम न रह दूसरे के हो जाएँगे जो पहले से कहीं बदतर होगा।

रायबहादुर—क्या इससे बचने की कोई सूरत नहीं!

मेजर—है, ज़रूर है। नौकरशाही और जापानियों के ख़िलाफ़ हम एक साथ लड़ सकते हैं। जापानियों से लड़ने के लिए आगे आना, एक होना ही नौकरशाही से लड़ना भी है जो हमको जापानियों से बचाने के नाम पर हम पर ज़ुल्म ताड़ता है। आज दुनिया की जनता इतनी मज़बूत हो चुकी है कि हिन्दू-मुसलमान देश को बचाने के लिए एक हो जायें तो नौकरशाही को मजबूरन् नेताओं को छोड़ना ही पड़ेगा, राष्ट्रीय सरकार बनानी ही पड़ेगी। आज ख़ुद ब्रिटेन में सत्तर-सत्तर लाख संगठित मज़दूर नेताओं की रिहाई की माँग करते हैं—दुनिया बहुत आगे बढ़ गई है रायबहादुर साहब, और बढ़ती ही जा रही है।

रायबहादुर—हाँ-आँ-आँ! तो फिर ऐसी हालत में हमें क्या करना चाहिए!

मेजर—हमें अपने आपको सैल्फ़ सफ़ीशेंट बनाना चाहिए, हमारी फ़ैक्टरियों को दिन-रात काम करना चाहिए, हर एक चीज़ यहीं बनाने की कोशिश करनी चाहिए ताकि हमें किसी दूसरे मुल्क का मोहताज न होना पड़े।

रायबहादुर—फ़ैक्टरियाँ रात-दिन काम ख़ाक करें, सब कुछ तो सरकार खींचकर ले जाती है। (टेलीफ़ोन की घंटी बजती है। रायबहादुर उठकर रिसीवर कान के साथ लगाते हुए)

हैलो, हाँ—क्या कहा! हड़ताल हो गई! काम बन्द है! मज़दूर मेरे घर आ रहे हैं! तुम पुलिस को फ़ोन कर दो, मैं भी किए देता हूँ। (फ़ोन बन्द करते हुए, घबराई आवाज़ में) देखा साहब, हड़ताल कर दी है और मज़दूर लोग जलूस बनाकर यहाँ आ रहे हैं। फ़ैक्टरियाँ ख़ाक चलें। गवर्नमेंट के टैक्स दें, इनकी हड़तालें सहें। हम तो चक्की के दो पाटों में आ गए हैं। (फ़ोन करते हुए) पुलिस को फ़ोन कर दूँ। पिछली बार भी बहुत नुक़सान कर गए थे। लला भी यहाँ नहीं—नहीं तो—पुलिस-स्टेशन—मैं रायबहादुर बनवारीलाल, देखिए साहब मुझे ख़बर मिली है कि मेरी मिल में हड़ताल हो गई है और मज़दूर लोग जलूस निकालकर मेरे घर की तरफ़ आ रहे हैं। जी हाँ—जी हाँ—एक टुकड़ी भिजवा दें। जी वह आ ही रहे हैं। (रिसीवर रखते हुए) माफ़ करना, मैं ज़रा अन्दर ख़बर कर दूँ, होशियार हो जाएँ। (अन्दर चले जाते हैं)

(मेजर रेडियो ऑन कर देते हैं। रेडियो में हिन्दुस्तानी में ख़बरें हो रही हैं, "गई रात जापानियों ने फिर कलकत्ते पर एक हमला किया और बम गिराए। शहरी लोगों को मामूली नुक़सान पहुँचने की इत्तला मिली है"—बाहर से कार का हार्न सुनाई देता है। एक पच्चीसेक वर्ष का युवक अन्दर प्रवेश करता है। वह सादा श्वेत खादी के वस्त्र पहने है। शक्ल से टपकता है कि वह अपने आपको पहचानता है।)

मेजर—हैलो।

युवक—चाचाजी। (पाँव की ओर झुकते हुए) कब आना हुआ?

मेजर—कल आया था, दस दिन की छुट्टी। आज दिल्ली जा रहा हूँ। कहो तुम्हारा क्या हाल है? कलकत्ते गए थे?

युवक—जी हाँ, एक ज़रूरी काम था।

मेजर—कहो क्या हाल है कलकत्ते का? रात फिर बम पड़े हैं?

युवक—जी हाँ। मैं उस वक्त वहीं था। हम लोग जहाँ बैठे थे, वहाँ से थोड़ी दूर पर ही बम गिरे।

मेजर—काफ़ी नुक़सान हुआ है क्या?

युवक—हाँ, नुक़सान हुआ ही है। हम निहत्थे लोग आख़िर कर ही क्या सकते हैं। अमरीकन जहाज़ हैं, आर० ए० एफ़० के भी हैं, पर जब तक अपने न हों, क्या हो सकता है? अपना-अपना होता है और बेगाना बेगाना!

मेजर—लोगों में अशान्ति होगी? लोग भाग रहे होंगे?

युवक—और कर ही क्या सकते हैं? निहत्थे लोग तो भागा ही करते हैं और इस पर गाड़ियों का बुरा हाल है। हवड़ा स्टेशन पर बेहद भीड़ लगी है, गाड़ियाँ हैं नहीं; जो हैं भी उनका बुरा हाल है। दुगने-तिगने दामों टिकट बिकते हैं, माल-असबाब की तरह मर्द, औरतें, बच्चे कमरों में भरे पड़े होते हैं।

मेजर—च: च:।

युवक—अच्छा, मैं अन्दर हो आऊँ ज़रा। अभी तक गाड़ी में पानी नहीं था।

मेजर—सैकिंड में भी पानी नहीं था?

युवक—आजकल सैकिंड, थर्ड सब बराबर हैं। अच्छा। (कॉरीडोर वाले दरवाज़े से चला जाता है। बाईं ओर वाले दरवाज़े से रायबहादुर प्रवेश करते हैं। हाथ में एक दोनाली बन्दूक़ है जो वह कोने में रख देते हैं। कन्धे से पिस्तौल झूल रहा है।)

रायबहादुर—समझ लूँगा सालों को! जब देखो हड़ताल! हड़ताल! सुना आप ने, अब यहाँ आ रहे हैं जैसे मुझे खा जाएँगे। अभी कल की बात है दो-दो रुपये सब के बढ़ाये हैं, अब फिर।

मेजर—वह बेचारे भी—

रायबहादुर—आप इन्हें बेचारा कहते हैं! आप फिर जानते नहीं। मैं कहता हूँ, पल्ले सिरे के बदमाश होते हैं। आराम से रहें, मिलकर खायें तो गुज़र नहीं हो सकता क्या? पर नहीं, साले ताड़ी ज़रूर पीयेंगे, पुरवा ज़रूर चढ़ायेंगे। अब समझ लूँगा, सीधे तो मानने के नहीं! (बाहर मोटर चलने की आवाज़ आती है) लला आ गया है शायद। बस अब ठीक है। देखूँ भला।

मेजर—वह अन्दर गया है।

रायबहादुर—अन्दर गया है, तो बस ठीक है। वह ख़ुद समझ लेगा। ठीक बात तो यह है भाई कि उसी से यह लोग ठीक रहते हैं, ठीक उनकी नब्ज़ पर लला का हाथ रहता है। लला बड़ा होशियार लड़का है।

मेजर—सुना आपने, कलकत्ते पर फिर बम्बिंग हुई है, गई रात। लला कह रहा था, उनकी मीटिंग जहाँ हो रही थी, वहाँ से थोड़ी ही दूर पर बम गिरे हैं।

रायबहादुर—थोड़ी ही दूर? क्या कहा? लला तो ठीक से है? देखूँ भला।

मेजर—जी हाँ, वह तो ठीक से है।

रायबहादुर—माफ़ करना, मैं ज़रा उससे कह दूँ। और हाँ, टेलीफ़ोन भी करना था—(मज़दूरों के नारों की अस्पष्ट आवाज़ जो प्रतिक्षण आगे बढ़ती आ रही है, सुनाई देती है) यह, यह क्या? आवाज़ आ रही है। वह लोग क़रीब आ पहुँचे हैं! फाटक बन्द करवा देना चाहिए। माली, ओ माली! देखिए, मैं माली से फाटक बन्द करने को कहता हूँ। पुलिस भी अभी तक नहीं आई। अच्छा (बरामडेवाले दरवाज़े से बाहर हो जाते हैं। कॉरीडोर वाले दरवाज़े से युवक अन्दर आता है।)

युवक—पिताजी कहाँ हैं?

रायबहादुर—(इनकी आवाज़ बाहर बरामडे से सुनाई देती है—जल्दी से बन्द कर दे और ताला चढ़ा दे। अन्दर आकर) ओह लला! आ गए बेटा? ठीक तरह से आ गए न? यह कह रहे थे कि तुम्हारे क़रीब ही बम गिरे, क्यों? बचकर रहना चाहिए बेटा, ज़माना बहुत बुरा है।

युवक—(पिस्तौल की ओर संकेत करते हुए) यह क्या पिताजी? इसकी क्या—

रायबहादुर—यह पिस्तौल! सुना तुमने, हड़ताली मज़दूर यहाँ आ रहे हैं। यह चीज़ बड़े काम की है। अच्छा हुआ, तुम आ गए। अब मुझे कुछ चिन्ता नहीं।

युवक—हड़ताल कर दी है! मुझे उम्मीद थी कि हड़ताल हो जाएगी। आख़िर वह लोग करें भी तो क्या?

रायबहादुर—यह तुम क्या कह रहे हो बेटा?

युवक—ठीक तो है पिताजी! देखिए, चालीस रुपये मन गेहूँ हो रहा है और वही चालीस-पैंतालीस रुपये मन चावल और वह भी निरा कूड़ा-करकट, जो ठेकेदार कहीं से सस्ते दामों ले आता है। कपड़ा इतना महँगा हो रहा है कि कुछ पूछिए नहीं, मज़दूरिनें बेचारी अधनङ्गी ही रहती हैं। ऐसी गन्दी गिज़ा पर और नंगे रहकर मज़दूर लोग बीमार हो रहे हैं। कोई ऐसा घर नहीं जहाँ दो-एक पड़े हुए न हों। दाल रुपए की सेर-सवा सेर, माचिस पाँच-पाँच छः-छः पैसे, आख़िर उनकी गुज़र—

मेजर—ठीक तो है। मैं भी भाई साहब से यही कह रहा था।

रायबहादुर—यह, यह सब मेरी समझ में नहीं आता। अभी उस दिन दो-दो रुपये बढ़ाए हैं, आज तुम—

युवक—मैंने यही फ़ैसला किया है कि मजदूरों की तनख़ाह बढ़ाई जाए और उन्हें मँहगाई भत्ता भी दिया जाए। फिर इस सुपर टैक्स के बढ़ जाने से तो हमें कोई ख़ास फ़र्क़ भी तो नहीं पड़ता। और जङ्ग के हालात देखकर फ़ैक्टरियाँ बन्द तो की नहीं जा सकतीं। उन्हें तो बल्कि दिन-रात काम करना चाहिए। जापान की रफ़्तार को रोकने के लिए सबसे बड़ा स्टैप ही यही है कि जितनी जल्दी हो सके, माल फ़्रण्ट पर भेजा जाये।

रायबहादुर—(झुँझलाते हुए) तुमने आख़िर यह क्या फ़ैसला किया है। जैसे हमने जङ्ग देखी ही नहीं। पिछली लड़ाई ही में तो यह मिल खड़ी की थी।

युवक—पिताजी, तब की बात छोड़िये। तब लड़ाई भी हमसे हज़ारों मील दूर थी, अब वह हमारे दरवाज़े पर आ खड़ी है। कलकत्ता अभी कल ही बॉम्ब हुआ है और जापानी अगर चढ़ आए तो हिन्दुस्तान का क्या होगा!

रायबहादुर—अपना क्या होगा? यह नहीं सोचते। मैं क्या करूँ। (आवाज़ बिलकुल नज़दीक आ चुकी है) सुना अब वह यहाँ चढ़े आ रहे हैं।

युवक—तो इसमें घबड़ाने की कोई बात नहीं है। उनके लीडर को अन्दर बुलाकर ख़बर सुना दूँगा, वह सब लोग हँसते-गाते लौट जाएँगे। आप बेफ़िक्र रहिए। अच्छा चाचाजी, आप देहली क्यों जा रहे हैं?

मेजर—मेरे पास एक स्कीम है आसाम और बङ्गाल में मलेरिया से लड़ने के लिए। जो भी ट्रूप्स वहाँ जाते हैं, बीमार पड़ जाते हैं उन्हीं के लिए मैंने एक—मेरे पास एक स्कीम है, एन्टीमलेरियल।

युवक—हाँ, मलेरिया तो वहाँ वाक़ई बहुत सख़्त होता है। कहते हैं, वहाँ के मच्छर अच्छी बड़ी मक्खी के बराबर होते हैं।

रायबहादुर—अच्छी बड़ी मक्खी के बराबर!

मेजर—कुछ न पूछिए, बुरा हाल है। पर लड़ाई के लिए सेहत बहुत ज़रूरी है। मालूम होता है, मज़दूर लोग आ पहुँचे हैं।

रायबहादुर—पर अभी तक पुलिस नहीं आई।

युवक—मैंने कहा न, पुलिस की कोई ज़रूरत ही नहीं। मैं अपना फ़ैसला उन्हें सुना दूँगा, वह हँसी-ख़ुशी लौट जाएँगे और काम चालू हो जाएगा।

माली—(अन्दर प्रवेश करते हुए) हज़ूर, मज़दूरों का जलूस दरवाज़े पर खड़ा है। कहीं ईंट पत्थर।...

युवक—चलो, मैं आता हूँ।

रायबहादुर—लल्ला, तू मत जा बेटा, मैं तेरी, कहीं तुम्हें—(उठते हैं)

युवक—नहीं पिताजी, आप यहीं बैठिए, मैं उनके लीडरों को यहीं लिए आता हूँ। (बाहर चला जाता है)

रायबहादुर—देखा न ! मनमानी करेगा। बस, यही इसमें बड़ा दोष है, वरना, क्या कहूँ भाई—

मेजर—आप घबराइए नहीं, लला जो कुछ कर रहा है, वह ठीक सोच-समझकर। ज़माना देखिए, ज़माने की ज़रूरत यही है।

रायबहादुर—मैं देखता हूँ। अभी तक पुलिस नहीं आई। फ़ोन (फ़ोन करने लगते हैं) जी, रायबहादुर बनवारीलाल - अभी तक आपने पुलिस नहीं भेजी, ये हड़ताली मज़दूर हमारे दरवाज़े पर खड़े हैं, जी हाँ, अभी तो नहीं पहुँची, जल्दी कीजिएगा साहब (रिसीवर रखते हुए) अब उनके रुपये बढ़ाएगा।

मेजर—तो आपको क्या फ़र्क़ पड़ेगा, आप इन्हें न देंगे, टैक्स दे देंगे।

रायबहादुर—(घबराए हुए) वह कुछ कर ही न बैठे। देखूँ तो—(बाहर जाने लगते हैं)

मेजर—लला तो उन्हें यहीं ला रहा है।

रायबहादुर—देखूँ तो भला—(बाहर हो जाते हैं)

मेजर—कुछ समझ में नहीं आता। अजीब आदमी है। मुल्क की ज़रूरत को नहीं समझता, बस रुपये की पड़ी है।

(युवक दो मज़दूरों को लेकर अन्दर आता है। एक ने दाढ़ी रखी है, रङ्गदार तहमद पहने है और सिर पर तुर्की टोपी है, दूसरा हिन्दू है, घुटनों तक गाढ़े की धोती और कुरता। युवक सोफ़े में बैठता है, वे दोनों ज़मीन पर बैठने लगते हैं।)

युवक—बैठो भाई, नहीं-नहीं यहाँ, जुमन मियाँ यहाँ बैठो, हरिया यहाँ बैठो।

जुमन—नहीं साहब, ठीक है।

हरिया—नहीं साहब, हमारी जगह यहीं है।

युवक—नहीं यह मिल नहीं, दफ़्तर भी नहीं, तुम हमारे घर आए हो, हमारे मेहमान हो। (मेहमान शब्द पर रायबहादुर भौं सिकोड़ते हैं। दोनों झिझकते-झिझकते सोफ़े पर बैठ जाते हैं।) अब कहो। हड़ताल की वजह क्या है, फिर जो बातें माननेवाली होंगी वह मान ली जाएँगी जो बातें—

जुमन—साहब, हड़ताल नहीं तो और क्या करें। आप जानते ही तो हैं, अनाज कितना महँगा हो रहा है, इस तनख़्वाह में पूरी नहीं पड़ती। हम धन-दौलत नहीं चाहते, हमें भर पेट खाने को मिलता रहे, हम हड़ताल काहे को करेंगे। इसमें हमारा भी तो नुक़सान है।

युवक—भर पेट खाने को मिलेगा।

जुमन—तो हमें हड़ताल करने की क्या ज़रूरत है ! हम पागल नहीं हुए।

हरिया—और साहब, एक बात और है। हमें यह ठेकेदार नहीं चाहिए, दुगने दाम लेता है और जिन्स तौल में आधी और घटिया देता है। जो कोई इसका आटा खाता है, खाट पर पड़ जाता है।

युवक—डाक्टर साहब भी यही कहते थे। ख़ैर, यह ठेकेदार भी नहीं रहेगा।

रायबहादुर—लेकिन लला, उसका ठेका तो मैंने आज नया कर दिया है।

युवक—पिताजी, कमेटी ने फ़ैसला किया है कि मिलोंवाले ख़ुद दुकान चलावें, ख़ुद अनाज-दाना ख़रीदा जावे और बिना किसी मुनाफ़े के मज़दूरों में बेचा जावे। इस पहली मे मैं यही करने-वाला हूँ। इस काम का इन्तज़ाम मज़दूरों की एक कमेटी के हाथ में होगा।

रायबहादुर—पर ठेकेदार तो आज दो हज़ार रुपए दे गया है।

युवक - रुपए लौटा दिए जाएँगे। (मज़दूरों से) बोलो और कुछ चाहिए तुम्हें ?

जुमन—जी, और क्या कहें ?

हरिया—हाँ, बढ़ती कितनी होगी ?

युवक—अभी फ़िलहाल फ़ी मज़दूर पाँच रुपए बढ़ेंगे और तीन रुपए मँहगाई दी जाएगी। बाद में फिर देखा जाएगा। कहो ठीक है न ? और हाँ रात को जो काम करेंगे, उन्हें अलग भत्ता दिया जाएगा।

जुमन - जी, ठीक है।

रायबहादुर—आठ रुपए ! एकदम से !

युवक—अच्छा, तो तुम लोग मज़दूरों को वापिस ले जाओ और काम शुरू कर दो।

जुमन—जी, अब कल ही से शुरू करेंगे।

युवक—नहीं, अभी से, काम एक मिनट के लिए भी नहीं रुकना चाहिए। तुम्हारे भाई-बन्द, जो लड़ाई के मैदान में लड़ रहे हैं, उनको ख़ुराक पहुँचाना ही तुम्हारा काम है। तुम अपनी ख़ुराक माँगते हो, उन्हें भी तो उनकी ख़ुराक मिलनी चाहिए।

हरिया—यह तो ठीक है साहब। मेरा छोटा भाई फ़ौज में है, अबके नायक हुआ है। पीछे जब आया था, यही कहता था कि माल वक़्त पर मिलता जाए, लड़ने को हम शेर हैं।

युवक—तो बस, तुम ख़ुद ही समझते हो। जाओ, काम शुरू कर दो।

हरिया—जी, बहुत अच्छा।

जुमन —ख़ुदा बहुत दे। (दोनों चले जाते हैं।)

रायबहादुर—लला, यह तुमने क्या किया ? जानते हो कितने लाख का घाटा पड़ेगा ?

युवक—पिताजी, देश की रक्षा के लिए—

रायबहादुर—भाड़ में गई देश की रक्षा !

मेजर—आप ख़फ़ा क्यों होते हैं। ठण्डे दिल से सोचकर देखिए, यही ठीक है।

सोहन—(अन्दर आते हुए) हुज़ूर, चाय लगा दी है।

युवक—चलो आते हैं। (सोहन चला जाता है।) चलिए चाचाजी, चाय पी लें।

मेजर—हम तो तुम्हारी ही राह देख रहे थे भाई। चलिए, भाई साहब—

रायबहादुर —देश की रक्षा के लिए—पर एकदम से आठ रुपए !

(तीनों कॉरीडोर वाले दरवाज़े की ओर बढ़ते हैं)।

कलकत्ते का मोची

[हर्षनाथ]

कलकत्ता एक बहुत बड़ा शहर है। मैं इसी बड़े शहर में रहता हूँ, जन्म से नहीं, जब से नौकरी करने लायक़ हुआ हूँ।

मेरी स्कूली शिक्षा बिलकुल अधूरी हुई है—नहीं के बराबर, स्वाध्ययन भी अपूर्ण है, यह नहीं कहा जा सकता कि पुस्तकों के अभाव में या समय के, क्योंकि कभी-कभी हाथ में पुस्तकें लेकर भी मैं एक अच्छी नौकरी खोजने की स्कीमें सोचा करता हूँ। "एक अच्छी नौकरी" इस समय तो मेरी महत्त्वाकांक्षा की चरम सीमा है, क्योंकि मेरे पीछे एक परिवार है—स्त्री, बच्चे, माँ, भाई, बहन सभी—जितने कि एक परिवार में हो सकते हैं, और एक ग़रीब गृहस्थ के लिए नौकरी खोजना ज़रूरी है।

मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी है। वह सदा अक़्ल से काम लेता है। एक ग़रीब गृहस्थ यह जानता है कि शहर में कहाँ कहाँ नीलामी चीज़ें बिकती हैं, कहाँ पर किस गली में आधे दामों में पुराने सामान मिल जाते हैं और मेरा भी अनुभव इस विषय में किसी से कम नहीं है। यह सब कुछ मैं जानता हूँ।

शहर के सभी बड़े-बड़े सेठ, महाजनों तथा पूँजीपतियों के नाम और पते, उनके आफ़िस तथा रहने के महल, उनसे मिलने का समय, उनकी रुचि यह सभी कुछ मैं जानता हूँ। "एक अच्छी नौकरी" खोजनेवाले के लिए इन बातों का जानना बहुत ज़रूरी है—इतना ही ज़रूरी जितना कि एक बड़ा लीडर, या एक बड़ा त्यागी या दानवीर या एक बड़ा धार्मिक या भक्त होने के लिए पास में रुपये का होना ज़रूरी है।

क्लाइव स्ट्रीट शहर की एक बहुत मशहूर सड़क है। मैं उसे बख़ूबी जानता हूँ, सैकड़ों नहीं, हज़ारों बार मैं इस सड़क पर भटक चुका हूँ। मेरा तो विचार है कि हर एक, एक अच्छी नौकरी खोजनेवाला व्यक्ति इस सड़क पर ज़रूर चल चुका होगा। सड़क के दोनों ओर विशालकाय गगन-चुम्बी इमारतें हैं जिनमें देशी तथा विदेशी बड़े-बड़े बैङ्क तथा बड़ी-बड़ी कम्पनियों के आफ़िस हैं जिनमें करोड़ों-अरबों की पूँजी लगी हुई है। हालाँ कि इन करोड़ों-अरबों की पूँजीवाले बैङ्कों तथा कम्पनियों के चपरासियों को आजकल भी बीस-पचीस रुपया माहवार से अधिक वेतन नहीं दिया जाता तथा बाबू लोगों को—जिन्हें कपड़े धुलाकर पहनना बहुत ज़रूरी है—तीस रुपया माहवार से अधिक देने का नियम नहीं है। सुबह के दस बजे और सन्ध्या के चार-पाँच बजे इस सड़क पर नई और चमकती मोटरों का ताँता बँध जाता है जिनमें अँगरेज़ी लिबासवालों से लेकर बेढङ्गी तोंद निकाले सेठ-महाजन—सभी होते हैं। पैदलवालों की संख्या सबसे ज़्यादा होती है—इनमें ढीली धोती और कुरता, शेरवानी और पैजामा, पैण्ट और टाई, सभी का मेल रहता है। हाँ, गान्धी टोपी का सर्वथा बहिष्कार होता है।

कभी-कभी इस भीड़ को देखने में मैं तल्लीन हो जाता हूँ और किसी भले आदमी—जिसे मैं अपने से अमीर समझता हूँ—को देखकर सोचने लगता हूँ कि कहीं मैं वही होता जो यह है। कितना अमीर है। मैं कह चुका हूँ कि आदमी बुद्धिजीवी प्राणी होता है और इसीलिए ऐसी

बेढङ्गी और बेतुकी बातें सोचता है। अगर मैं आदमी न होकर पैदायशी जानवर होता तो ऐसी बातें कभी नहीं सोच सकता था। एक जानवर ऐसी बातें इसीलिए नहीं सोच सकता है कि उसकी अपनी जाति में नौकरी तथा पूँजीवादी सिस्टम नहीं है। आज तक किसी जानवर ने अपने लिए किसी जानवर को नौकर नहीं रक्खा। परन्तु मनुष्य में ये दोनों बातें पाई जाती हैं और इसीलिए मनुष्य कभी-कभी मेरी तरह बेढङ्गी बातें सोचा करता है।

अभी हाल ही में मैं एक बड़े आफ़िस की सीढ़ियों पर से नीचे उतर रहा था। मेरे पैरों में गति नहीं थी। मन में शिथिलता थी और हृदय में निराशा। इसके दो कारण थे। एक तो मैं एक अच्छी नौकरी खोजने की ग़रज़ से ऊपर प्रोप्राइटर से मिलने गया था और वहाँ से निराश होकर लौटा था। दूसरे मेरा जूता फट गया था। मेरे दोनों पैरों के अँगूठे जूते के बन्धन की अवहेलना करके बाहर निकल आये थे और इसीलिए मेरी चाल में शिथिलता आ गई थी। मेरी बेचैनी स्पष्ट प्रकट हो रही थी। सीढ़ियों के पास फ़ुटपाथ पर एक मोची था। उसे मुझसे सहानुभूति हुई। आग्रहपूर्वक उसने पुकारा—आइए बाबूजी।

हालाँकि मैं बाबूजी नहीं हूँ परन्तु ऐसे सम्बोधन मैं बहुत पसन्द करता हूँ। आदमी बुद्धिजीवी प्राणी होता है इसलिए ऐसे शब्दों की क़द्र करना वह जानता है। ऐसे शब्दों को सुनते ही एक अप्रत्यक्ष बड़प्पन की भावना आ जाती है।

मैंने अपना जूता उसकी तरफ़ बढ़ा दिया और पूछा—कितना लोगे ?

'तीन आना' और स्वीकृति की सूचना पाये बिना ही वह जूता बाँधने लगा। मेरी आँखें आस-पास के बड़े-बड़े आफ़िसों और बैङ्कों के साइनबोर्डों के पढ़ने में व्यस्त थीं और जिस आफ़िस की सीढ़ियों पर से मैं उतरा था उस पर आकर रुक गईं—

किशोरदास एँड ब्रादर्स,
रायल एक्सचेञ्ज, कलकत्ता।

और उसी क्षण जूता बाँधते हुए मोची पर आकर मेरी नज़रें एकदम ठहर गईं। दुबला-पतला और बुड्ढा आदमी, काँपते कमज़ोर हाथ और आँखों पर चश्मा लगाए हुए, जिसे गन्दे डोरे से अपने कानों पर बाँधे हुए था और एक कठोर अनुभव से मैं बेचैन हो उठा।

"क्यों जी, तुम किशोरदास को जानते हो ?"

वह हँसा, शायद मेरे अज्ञान पर : "उन्हें कौन नहीं जानता बाबूजी। यह उन्हीं का तो आफ़िस है. वह राजा हैं।"

और मैं तिलमिला उठा। किशोरदास को मैं एक बहुत बड़ा दानी मानता हूँ। हिन्दुस्तान के प्रायः सभी बड़े-बड़े तीर्थों और शहरों में स्कूल. कालेज, अस्पताल, धर्मशालायें, क्षेत्र उनके दान के बल पर चल रहे हैं। कांग्रेस के लिए उनका ख़ज़ाना खुला है। हिन्दू-महासभा उनकी एहसान-मन्द है। छोटी और बड़ी प्रायः सभी संस्थायें उनसे कुछ न कुछ पाती हैं। सरकारी और ग़ैर-सरकारी, सजातीय और विजातीय सभी उनकी दरियादिली के क़ायल हैं। परन्तु उनके इतने बड़े ऐश्वर्यपूर्ण आफ़िस के नीचे मैं इस दीन-हीन अर्द्धनग्न मोची को देखकर सिहर उठा। बुढ़ापे से इसकी आँखें कमज़ोर हो गई हैं और यह टूटे हुए चश्मे को गन्दे डोरे से बाँधकर काम लेता है। घर पर इसकी पत्नी अर्द्धनङ्गी हालत में पड़ी रहती है। इसका बच्चा भूखा और नङ्गा रोते-रोते सो जाता है। सब मिलाकर यह इतना भी नहीं कमा पाता जिसमें यह अपना और अपने परिवार

का साधारण तौर पर पेट भर सके और तन ढँक सके हालाँकि यह इतने बड़े जगत्सेठ, दानवीर, देशभक्त के दरवाज़े पर बैठकर अठारह घण्टे जूता बाँधता रहता है और मुझे किशोरदास की दान-वीरता में सन्देह होने लगा। उनकी देशभक्ति और दरियादिली मुझे खोखली मालूम होने लगी। उनके चन्दे से चलते हुए स्कूल, कालेज, अस्पताल, बड़ी-बड़ी संस्थायें—सब मुझे एक विडम्बना-मात्र मालूम होने लगा, जिसमें सच्ची सहानुभूति छू तक नहीं गई हो।

मुझे मोची से सहानुभूति हुई। "क्यों, दिन भर में कितना कमा लेते हो?"

शायद मुझे ऐसा नहीं पूछना चाहिए था। उसके सूखे चेहरे पर उदासी और भी बढ़ गई। "रुपया-बीस आना बाबूजी। घर पर बुढ़िया बीमार है।"

घर पर उसकी स्त्री बीमार है और उसे अकेली छोड़कर दिन भर यह जूते बाँधता रहता है। मैंने पूछा—क्यों, कोई दवा नहीं कराते? और वैसे ही मुझे अपनी बेवक़ूफ़ी साफ़ नज़र आई। कलकत्ते में रुपया-बीस आना रोज़ पैदा करके अपने साथ गृहस्थी रखनेवाला दवा कैसे करा सकता है और अपनी ग़लती को सुधारते हुए मैंने कहा—यही मेरा मतलब कि कोई सस्ती दवा—तुलसी का काढ़ा—वग़ैरः नहीं दिया क्या?

"काढ़ा तो पिलाया बाबूजी" और उसके लहजे से निराशा स्पष्ट प्रकट हो रही थी। मैं समझ गया कि कलकत्ते की खोलाबाड़ियों में, जहाँ गन्दगी का ढेर लगा रहता है, पाख़ाने की सड़ाँध नाक फाड़े देती है और सील के मारे आदमी बेदम हो जाता है, वहाँ तुलसी का काढ़ा तो क्या अमृत पिलाकर भी कोई अच्छा नहीं किया जा सकता। यह प्रसङ्ग उसे अरुचिकर था। आदमी दो क्षण के लिए अपनी कमज़ोरियों को भूलना चाहता है। मैंने बात बदलने के लिए कहा—"रुपया-बीस आना पा जाते हो। ग्राहक कम आते होंगे।"

"सेठजी के बाबू लोगों के जूते बाँधता हूँ।"

"और कभी-कभी सेठजी के जूते बाँधते होगे तो अच्छी आमदनी हो जाती होगी।"

मेरे अज्ञान पर वह फिर हँसा, "बाबूजी, वे राजा आदमी हैं। वे जूता क्यों बँधवायेंगे।"

और यह सत्य मेरी समझ में आया कि राजा लोग जूता नहीं बँधवाते और अगर शौक़िया बँधवाना भी हुआ तो सड़क के फ़ुटपाथ पर बैठनेवाले गन्दे मोची से नहीं बँधवा सकते। मैं इन्हीं विचारों में खोया रहा और उसने जूता बाँधकर मेरी तरफ़ सरका दिया। मेरे पास चवन्नी थी और वापस करने के लिए उसके पास इकन्नी नहीं थी। उसने बेबस होकर मेरी तरफ़ देखा। मैंने वह इकन्नी छोड़ दी। श्रद्धापूर्वक उसने मेरी तरफ़ इस तरह देखा जैसे यह इकन्नी का दाता उसके लिए किसी किशोरदास से कम न हो!

मृत्यु आँचल की छाया में

[चन्द्रकुमार]

पात्र—

शङ्कर : निम्न मध्यवर्ग का एक व्यक्ति।

यमुना : उसकी पत्नी।

किशन : दस साल का पुत्र, रोग-ग्रस्त।

राजो : पुत्री, तेरह साल की।

मुन्ना : वर्ष भर का बालक।

विपिन :
नरेश :
प्रकाश : } जन-रक्षा-समिति के युवक कार्य-कर्त्ता।

प्रथम दृश्य

स्थान—अकाल-पीड़ित कलकत्ता नगरी के जन-सङ्कीर्ण मुहल्ले के एक मकान का दुमञ्जिले पर का कमरा।

समय : सुबह ९-१० बजे।

[पूरे परिवार के रहने की एकमात्र जगह यह कमरा—फुटकर सामान से बुरी तरह पटा हुआ। एक तरफ़ चीड़ के बकस पर दो लोहे के सन्दूक़ रक्खे हैं। कोने में एक मटका और दो-तीन हंडियाँ तले-ऊपर रक्खी हुई है। एक आले में ठाकुरजी का छोटा-सा सिंहासन है; पास ही एक जापानी युवती का चित्र धारण किए हुए एक पुराना कैलेण्डर लटक रहा है जिस पर छपी तारीखें कब की खत्म हो चुकीं। दीवार पर गर्द जमा हुई है। दूसरी तरफ़ चारपाई पड़ी है जिस पर रुग्ण बालक किशन लेटा हुआ है। यमुना बच्चे को गोद में लिये उसके सिरहाने बैठी है। राजो चारपाई के नीचे ज़मीन पर बैठी है। पिता, शङ्कर परेशानी की मुद्रा में कमरे में चहल-क़दमी कर रहा है। किशन रह-रहकर 'माँ भूख लगी है, भूख लगी है!' चिल्ला उठता है। एक चूहा उछलकर हाँडी गिरा देता है और वह ज़मीन पर गिरकर आवाज़ करती हुई टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाती है। राजो उठकर टुकड़े समेटती है।]

शङ्कर—[टहलता टहलता रुककर खीझ के स्वर में] आख़िर जब इन मटकियों में कुछ है ही नहीं तो इन्हें तुम फेंक क्यों नहीं देतीं ?

[कोई कुछ जवाब नहीं देता। किशन, 'माँ भूख लगी है, माँ भूख लगी है' की रट लगा देता है।]

शङ्कर—[उसी खीझ के स्वर में, ज़ोर से] 'भूख लगी है, भूख लगी है!' तो मैं क्या करूँ ? भूख-भूख चिल्लाते मर क्यों नहीं जाते (अपने आप) आज तीन दिन से किसी भी प्राणी के मुँह में एक दाना अन्न का नहीं गया है। हा दुर्दैव! हम स्त्री-पुरुष तो भूख की ज्वाला सहन कर सकते हैं लेकिन इन सुकुमार बच्चों का सूखा मुँह मुझसे नहीं देखा जाता। पंद्रह दिन बाद किशन का

ज्वर उतरा था लेकिन उसके लिए साबूदाना का पथ्य कहाँ से जुटाऊँ—दुधमुँहा बच्चा दूध के अभाव में माँ के स्तन नोचे डालता है—असहाय पत्नी टुकुर-टुकुर मुँह ताका करती है! हे भगवान्! अब नहीं सहा जाता, ऐसे जीवन से तो मौत भली। (सिर पकड़कर बैठ जाता है)

यमुना—(आश्वासन के ढङ्ग से) इतने अधीर क्यों होते हो! एक सिर्फ़ हमीं तो भूखे-पेट नहीं हैं—सारा शहर अनाज के दुःख से हाहाकार कर रहा है। कहीं से कोई न कोई उपाय निकल ही आयेगा।

शङ्कर—(उठते हुए) क्या उपाय निकल आयेगा? तीन दिन से शहर भर में एक मुट्ठी अनाज ख़रीदने की फ़िराक़ में घूम रहा हूँ। इतने बड़े शहर में एक भी ग़ल्ले की दुकान में अन्न का दाना नहीं है। कहाँ गया लाखों मन ग़ल्ला? अचानक एक दिन में तो अकाल पड़ा नहीं करता। ज़रूर इन्हीं मुनाफ़ाख़ोरों के गुदामों में सब समा गया है। हमारे बच्चे एक-एक दाने को तरस रहे हैं और वह उसी अनाज के बल पर अपनी सोने की हवेली खड़ी कर रहे हैं।

यमुना—इसमें किसी का दोष नहीं—दोष हमारे 'भाग' का है। हमारे 'भाग' में ग़रीबी, तरसना और भूखों मरना ही बदा था।

शङ्कर—भाग्य—ग़रीबी—कर्मों का फल यह सब हमारे लिए ही हैं। इन ऊँची हवेली-वालों के लिए नहीं, जिनके लिए रोज़ एक नई दुनिया रात की तारीकी में बसती है और जो दिन के उजाले में दूध के धोये बनकर 'धर्मात्मा' कहलाते हैं।

[लड़का 'भूख-भूख' चिल्लाता है।]

शङ्कर—देखो यमुना, मटकी में कुछ चावल बचे हों तो राँध लो, आधी मुट्ठी ही सही; बच्चों को तो कुछ आधार हो जायेगा।

यमुना—कहाँ हैं चावल अब? जो कुछ थे झाड़-पोंछकर सब राँध लिये थे—माड़ तक नमक डालकर पी डाला गया—अब मटकी में कुछ नहीं।

शङ्कर—हाँ, अब कहाँ से बचेंगे। दो महीने पहले किसी तरह एक मन चावल इकट्ठा कर लिये थे। अधिक से अधिक दिन चलाने के लिए रोज़ एक-एक मुट्ठी सबकी ख़ुराक में से कम करता जाता था तब भी तो समाप्त हो ही गये—अन्नाभाव में भूख भी बढ़ जाती है।

यमुना—न हो तो सेठ लोगों ने जो ढाबे खोल रक्खे हैं वहीं से कुछ माँग लाओ, बच्चों के पेट में तो कुछ चला जायेगा।

शङ्कर—ख़ैराती ढाबों में जाने को कहती हो! चाहे हमारे बच्चे भूख से तड़प-तड़पकर, एक-एक दाने को तरसते हुए दम तोड़ दें लेकिन मैं उन सेठों की भीख ग्रहण करने नहीं जाऊँगा—ये ही तो हैं वे जिन्होंने पहले मुनाफ़ाख़ोरी की फ़िराक़ में अनाज-मण्डी की एक-एक चीज़ अच्छे दामों में ख़रीदकर अपने कोठों में भर ली—सोना बनाने के लिए। वे ही तो हैं जिनकी सोने की 'भूख' हमें और हमारे बच्चों को भूखा मार रही है। वे ही तो हैं जो आज भी खीर और पकवानों का भोजन करते हैं जब कि हमारे बच्चे फ़ाक़े कर रहे हैं और आज लोक-दिखावे के लिए, पुण्य लूटने के लिए, ख़ैराती ढाबे खोलकर बैठे हैं।

यमुना—इतना ग़ुस्सा न करो, इसमें सेठों और पैसेवालों का उतना क़सूर नहीं। वह भी तकलीफ़ उठा रहे हैं। मैं कल पड़ोस के सूरजमल की कोठी में गई थी। उनके यहाँ भी गेहूँ का एक

दाना नहीं है—अभी उसी रोज़ २) सेर चावल बड़ी मुश्किल से एक बोरा आया था। स्त्रियाँ, पुरुषों को खिलाकर आप आधे पेट रह रही हैं।

[लड़का फिर 'भूख लगी है, भूख लगी है' की रट लगा देता है, गोद का बच्चा भी रो उठता है। यमुना बच्चे के मुँह सूखे हुए स्तन लगा देती है और किशन को पुचकारती हुई दिलासा देती है। पति से कहती है।]

यमुना—तुम आज जाकर कहीं से अनाज लाओ ही। अगर ढाबे से भी लाना पड़े तो भूख में लज्जा या अभिमान कैसा ! मैं सूरजमल के यहाँ से कुछ चावल लाने की कोशिश करती हूँ—रज्जो तू भाई के पास बैठ।

[यमुना का एक ओर, शङ्कर का दूसरी ओर जाना।]

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

समय—बारह बजे दोपहर

स्थान—वही पहले दृश्यवाला कमरा।

[सड़क की तरफ़ निकलते हुए छज्जे पर, चूल्हे में रज्जो पड़ोस से माँगकर लाये हुए चावल राँध रही है। यमुना किशन के पास बैठी है।]

किशन—माँ ! कब तक चावल पकेंगे ? मैं तो भूख के मारे मरा जा रहा हूँ।

रज्जो—किशन भइया, बस पक ही गये हैं—अब ही छाँटकर तैयार करती हूँ।

[एक रकेबी में थोड़े-से चावल किशन को देती है। किशन इतने थोड़े चावल देखकर झुँझलाकर ग़ुस्सा होते हुए कहता है।]

किशन—मैं इतने ज़रा-से चावल नहीं खाऊँगा—मेरे लिए थोड़े-से रख दिये और बाक़ी अपना पेट भरने के लिए [ख़ूब ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता है]।

यमुना—(धीरे से) ना किशन ! ग़ुस्सा नहीं करते। ग़ुस्सा करने से फिर तबियत ख़राब हो जायगी। तुम्हारा जी अभी ठीक नहीं है न इसी से थोड़े दिये हैं, ज़्यादा तुम्हें नुक़सान करेंगे। तुम्हारे बाबूजी बाज़ार से तुम्हारे लिए दूध लाने गये हैं।

किशन—(मिनमिनाते हुए) नहीं, मैं इतना नहीं खाऊँगा, मुझे और दे।

यमुना—रज्जो, चार दाने और डाल दे (रज्जो नामचार को दो-चार दाने चावल और रख देती है। उससे रकेबी लेते हुए) ले बेटा, बड़ा राजा है, खा ले।

[किशन भुनभुनाता हुआ खा लेता है। रज्जो बाक़ी बचे हुए चावल एक कटोरदान में भरकर आले में रख देती है।]

(थोड़ी देर तक कमरे में शान्ति रहती है। रज्जो छज्जे में खड़ी सड़क की ओर ताक रही है—एकाएक चिल्ला उठती है।)

रज्जो—ऐ माँ ! ऐ माँ ! देखो, सामने पटरी पर एक आदमी मरा पड़ा है उसे कुत्ते खींचे लिये जा रहे हैं।

[यमुना किशन के पास से उठकर छज्जे पर आती है, सामने फ़ुटपाथ पर एक 'भुखमरा' अपनी अन्तिम साँसें गिनता दिखाई पड़ता है और दिन-दहाड़े ही स्यार उसे नोचे खा रहे हैं।

यमुना दया से आर्द्र होकर 'च्-च्' करती है—कमरे में किशन अपने को अकेला पाकर ताक़ पर रखे हुए चावल उतार लेता है और बड़े-बड़े ग्रास मुँह में डालता है—आवाज़ सुनकर यमुना पीछे मुड़ती है।]

यमुना—हाय राम! यह तुमने क्या किया? बीमारी के बाद ख़ाली पेट इतने चावल खा गये। हे भगवान, कोई नया उपद्रव न उठ खड़ा हो!

(पट-परिवर्तन)

तृतीय दृश्य

समय ६–७ बजे शाम

[जन-रक्षा-समिति का दफ़्तर। एक मेज़ पर काग़ज़ों, रजिस्टरों का ढेर लगा है। पास ही कुर्सियों पर तीन नवयुवक बैठे हैं। द्वार के सामनेवाली कुर्सी पर बैठा हुआ युवक कुछ लिख रहा है, बाक़ी दो आपस में बातें कर रहे हैं।]

पहला—कैसे दूर होगा यह अन्न-संकट! इतनी कोशिशें करने पर भी रोज़ सैकड़ों आदमी भूख से तड़प-तड़पकर मर जाते हैं।

दूसरा—सिर्फ़ हमारी ही कोशिशों से क्या होगा जब तक सरकार पूरी ताक़त से प्रयत्न न करे। यह मौत की क़तारें केवल कलकत्ता नगर में ही नहीं दीख रही हैं, देहातों में और भी बुरा हाल है। वहाँ तो क़सबे के क़सबे मौत की बस्तियों में बदल गये हैं—वहाँ पहले तो लोगों ने अन्न के अभाव में पौधों की जड़ें खोद-खोद कर खाईं, फिर जानवर मारे। किसी दिन आदमी को भी मारकर खाने लगेंगे। क्या लिख रहे हो नरेश?

नरेश—(काग़ज़ पर सिर झुकाये हुए ही) अख़बारों के लिए रिपोर्ट तैयार कर रहा हूँ। विपिन, तुम कहाँ का हाल बता रहे थे—जहाँ सड़क पर एक तरफ़ तो लाश पड़ी थी और पास ही एक परिवार भोजन बना रहा था?

पहला—हरिसन रोड के फ़ुटपाथ का—जहाँ हर मिनट सैकड़ों आदमी चलते रहते हैं - जहाँ पुलिसवैन और ट्रामगाड़ियों का ताँता लगा रहता है वहीं पड़ी थी उस लावारिस भुखमरे की लाश!

प्रकाश—यह हज़ारों मन ग़ल्ला जो रोज़ दूसरे प्रान्तों से आता है वह कहाँ चला जाता है?

नरेश—(क़लम रखते हुए) चला कहाँ जाता है?—यहीं कलकत्ता शहर में भूखी जनता के पेट पर खड़े होकर उसे बेचा जाता है उन दामों में जिसे साधारण आदमी दे नहीं सकते—ख़रीदते हैं वही कोठीवाले, पिछले दो महीनों ५०००० टन गेहूँ पञ्जाब से आया था, उससे इस तरह बीस लाख रुपया फ़ायदा हुआ।

प्रकाश—तो यह मिनिस्टर क्या कर रहे हैं—जब अनाज की कमी रहने पर भी ग़ल्ला बङ्गाल से बाहर भेजा जाता रहा उस समय भी इनके मुँह से आवाज़ नहीं निकली और आज भी सैकड़ों आदमी नित 'रोटी! रोटी!!' चिल्लाते मर रहे हैं—छोटे-छोटे बच्चे बे माँ-बाप के होकर कूड़े पर जूठन बीनते घूमते हैं—तब भी इनके मुँह से आवाज़ नहीं निकलती कि सरकार पर ज़ोर डालें कि वह काफ़ी मिक़दार में ग़ल्ला बङ्गाल में भिजवाने की कोशिश करे।

विपिन—क्यों—'फ़ूड कान्फ़्रेन्सेज़' तो हो रही हैं।

प्रकाश—(व्यंग्य से) हाँ, हो तो रही हैं। वे अभी यही तय करने में लगी हैं कि बङ्गाल में अभी वह परिस्थिति पैदा हुई है कि नहीं जब इसे अकाल-क्षेत्र घोषित किया जाय।

नरेश—उन्हें तो शायद तब मालूम पड़े जब दोस्तों के बीच चाय की चुस्कियाँ लेते समय बैरा अचानक आकर कहे, 'हुजूर, टोस्ट के लिए मक्खन बाज़ार में नहीं मिलता।' (निःश्वास छोड़ते हुए) आज गान्धीजी बाहर नहीं हैं।

प्रकाश—पैसेवालों के लिए तो उतनी मुश्किल नहीं है—न गली गली डोलनेवाले मुहताजों के लिए—मुश्किल तो मध्यम श्रेणीवालों की है। वे पैसा रहते हुए भी भूखों मर रहे हैं। उन्हें न ख़रीदने से अन्न ही मिलता है और न ख़ैराती ढाबों में बीबी-बच्चों को ले जाकर भीख ही माँग सकते हैं।

विपिन—दूसरे प्रान्तों से हमें रुपयों की तो काफ़ी सहायता आ रही है लेकिन हम केवल रुपयों का क्या करें? रुपया देनेवालों की तो कलकत्ता में भी कमी नहीं है। ज़रूरत है अनाजचोरों की खत्तियों में से अनाज निकलवाने की।

नरेश—वह कौन आ रहा है?

विपिन—कोई अकाल-पीड़ित मालूम पड़ता है।

[शङ्कर का थकावट से बदहवास अवस्था में प्रवेश—भूख और परेशानी से उसका शरीर बहुत दुबला हो गया जान पड़ता है।]

शङ्कर—[अन्दर दाख़िल होते हुए] जन-रक्षा-समिति का दफ़्तर यही है?

नरेश—हाँ यही है। कहिये हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं?

शङ्कर—(व्यथित स्वर में) हाँ भइया, बड़ी सेवा करोगे। तीन दिन से पाँच प्राणी फ़ाक़े कर रहे हैं—रोगी बालक पथ्य बिना तड़प रहा है—दुधमुहे बच्चे के लिए दूध का कोई ठिकाना नहीं—लज्जा के मारे ख़ैराती ढाबे-लङ्गर में हाथ फैलाते नहीं बनता।

नरेश—हम आपकी परेशानियों से वाकिफ़ हैं—और ऐसे लोगों की सहायता करना हमारा पहला फ़र्ज़ है। विपिन, इन्हें अपने सङ्घ के गोदाम से नियत भाव पर अनाज दिला दो और 'रेड-क्रॉस सोसायटी' से दूध का प्रबन्ध भी करा सको तो अच्छा है। (शङ्कर की तरफ़ मुख़ातिब होकर) देखिये, ये आपके साथ जाते हैं और आपको थोड़े समय के लिए सामग्री दिला देते हैं। आप पहले ही हमारे यहाँ आ जाते तो आपको इतनी तकलीफ़ नहीं उठानी पड़ती।

विपिन—आइये, इधर चलिये।

[विपिन और शङ्कर का एक ओर जाना।]

नरेश—(भावावेश में) हा, अभागे बङ्गाल! जिसकी भूमि कभी सोना उगलती थी उसके वासी आज रोटी के टुकड़े को तरस रहे हैं। हे बङ्ग माँ! तुम्हारी शस्य-श्यामला भूमि आज श्मशान में परिणत हो गई है। जहाँ के रहनेवाले दूसरों को बाँटकर ख़ुद खाते थे—अनाज के लिए भीख माँगने पर भी भूखों मर रहे हैं—हा, दुर्दैव!

[नरेश और प्रकाश का तेज़ी से प्रस्थान।]

(पट-परिवर्तन)

चतुर्थ दृश्य

समय ८–९ बजे रात्रि

स्थान—वही पहले दृश्यवाला कमरा।

[कमरे में दिया जल रहा है। यमुना रुग्ण बालक के सिरहाने बैठी है। रज्जो बच्चे को लिये छज्जे की तरफ़वाले दरवाज़े की देहलीज पर बैठी है। किशन पीड़ाकुल स्वर में कराह रहा है। आँखों की रङ्गत स्याह पड़ जाती है—एक भय-मिश्रित चीख़ उसके मुँह से निकलती है और श्वाँस के आने-जाने में रुकावट मालूम होती है।]

यमुना—हाय! मेरे बच्चे को क्या हो गया—इसके हाथ क्यों ऐसे हो गये (चिल्लाती है और किशन के अकड़ते हुए हाथों को सीधा करने की कोशिश करती है। किशन कराहता है।)

[इसी समय सीढ़ी पर खट्-खट् चढ़ने की आवाज़ होती है और शङ्कर हाथ में सामान लिये प्रवेश करता है।]

शङ्कर—लो यमुना, दिन भर घूमने के बाद अब जाकर थोड़ा सामान ला पाया हूँ।

यमुना—(ज़ोर से रोती हुई) हाय, हम खाकर क्या करेंगे। किशन को देखो क्या हो गया है—हाय मेरा बच्चा! (यमुना और रज्जो दोनों ज़ोर से रोने लगती हैं।)

शङ्कर—(घबड़ा जाता है। सामान वहीं रखकर चारपाई के पास जाकर) क्यों, हुआ क्या! मैं तो जाते वक्त भला-चङ्गा छोड़ गया था।

यमुना—मैंने सूरजमल के यहाँ से चावल लाकर पकाये थे—थोड़े उसे भी दिये थे, फिर उसने चुपके से अपने आप बहुत-से खा डाले। तब से क़य-दस्त शुरू हैं। वैद्यजी की दवा भी चटाई लेकिन आँख की रङ्गत बिगड़ती ही जा रही है—हाय मेरे बच्चे! अब मैं क्या करूँ।

शङ्कर—(भरे हुए गले से) किशन बेटा! इधर देखो मैं तुम्हारे लिए दूध लाया हूँ—दूध तुम्हें बहुत अच्छा लगता है न!

[किशन अचल-सी होती हुई पुतलियों को ऊपर उठाता है लेकिन बोल नहीं पाता। इसी समय एक हिचकी आती है और साँस उखड़ी-उखड़ी चलने लगती है। रज्जो और यमुना रोने-चिल्लाने लगती हैं।]

शङ्कर—[रोते हुए, यमुना और रज्जो को धीरज बँधाने की कोशिश करता है।] यमुना रोओ नहीं—रोओ नहीं। (किशन को गोदी में उठाते हुए) हाय मेरा बच्चा, मेरा मुन्ना—ये अनाजचोर तुम्हें खा गये। हा, नरपिशाच।

[इसी समय एक मटकी भूमि पर गिरकर आवाज़ करती हुई टुकड़े-टुकड़े हो जाती है और किशन एक हिचकी लेकर हमेशा के लिए सो जाता है—मृत्यु आँचल की छाया में। घर यमुना, रज्जो और शङ्कर के रुदन-क्रन्दन से गूँज उठता है। वह रुदन-क्रन्दन जो अब कलकत्ता के लिए हर घड़ी की बात है।]

(परदा)

छः कवितायें—

कलकत्ते का अकाल—१९४३

[शिवमङ्गलसिंह 'सुमन']

हाय ! सुन रहे कलकत्ते में फैला घोर अकाल।
काल-गाल में समा गए कितने माई के लाल ॥
गलियों, सड़कों, फुट-पाथों पर क्षुधाग्रस्त बेहाल।
जगह-जगह पर तड़प रहे हैं मानव के कङ्काल ॥
आँखें एक एक दाने का स्वप्न देखतीं मौन।
हृदय पूछता दुर्दिन के दिन लाने वाला कौन ?
फटी फटी आँखों से सबको देख रहे अनिमेष।
ये पूँजीवादी समाज के ज़ुल्मों के अवशेष ॥
सूखे लकड़ी से हाथों को लाकर मुँह के पास।
बच्चे बूढ़े तोड़ रहे हैं अपनी अन्तिम साँस ॥
सूख गये आँखों के आँसू, रुद्ध कण्ठ के द्वार।
एक एक पसली बतलाती जी की व्यथा अपार ॥
पेट पीठ का पता नहीं है रहा न तन में चाम।
सुबह कहाँ ? जिनके जीवन में रही शाम ही शाम ॥
पैदा होने से मरने तक एक भूख की बात।
कभी चैन से सोते ऐसी कहाँ एक भी रात ?
निपट दुधमुँहे बच्चे सूखी छाती से आसक्त।
चूस रहे माँ के जीवन का बचा बचाया रक्त ॥
जिस गोदी में जीवन पाया, पाया लाड़ दुलार।
आज उसी में बिना कफ़न के सोए शिशु सुकुमार ॥
कैसे सहती होगी माँ की छाती यह सब हाय।
देख कलेजे के टुकड़ों को टूक टूक निरुपाय ॥
तरस तरस कर प्राण दे गए पथ की मिट्टी चूम।
किसी राष्ट्र की आशा थे, यह इनको क्या मालूम ?
इनके लिए कभी उट्ठी थी किसी कोख में पीर।
इनके लिए कभी छलका था किसी आँख में नीर ॥
इनकी भी माता माता थी दिल में थे अरमान।
इनके भी बच्चे बच्चे थे, यह भी थे इंसान ॥
ये भी वैसे ही मानव थे, जिनके सुख के ठौर।
अब भी चलते होंगे जिनके घर मदिरा के दौर ॥

उसी सड़क पर नीचे जिसके भीषण हाहाकार।
ऊपर होते होंगे प्रतिदिन नए नए शृङ्गार॥
विधवाएँ चिल्लातीं, रोतीं माताएँ जी खोल।
कर्ण बधिर हो करते होंगे, वे नारी का मोल॥
बुड्ढे की जीवन की लकड़ी, माँ की संचित आश।
दो दो रुपये में बिकते हैं, ये दासों के दास॥
आह, समझ सकता कोई यदि इन आहों का अर्थ।
निश्चय है, मातृत्व न जाता कभी इस तरह व्यर्थ॥
आज कहाँ नारी की लज्जा धर्म कर्म का जाल।
चौराहे पर माताएँ जनतीं हैं अपने लाल॥
खड़ी सामने हँसती होगी अट्टालिका विशाल।
बासी मछली भात कभी कुत्तों को देती डाल॥
झपट लिपटते होंगे नर पशु लगा पेट की होड़।
इस युग में मानव-कुत्ते का ख़ूब मिला है जोड़॥
कुत्ते के पञ्जों से आहत जर्जरतन बलहीन।
श्वान झपट ले जाता होगा मुँह की रोटी छीन॥
छोड़ एक निश्वास सड़क पर शिथिल थकित मृत प्राण।
आँसू बरसा कर रह जाता होगा वह हैरान॥
बीन सड़ा मैला नाली का मुँह में लेता डाल।
भूख ? भूख ने मिटा दिया है भले बुरे का ख़्याल॥
और वहीं से आता जाता होगा जन-समुदाय।
सहृदय समवेदना भरे शब्दों से मन समझाय॥
डाल दया की दृष्टि, बता कर जीवन का अभिशाप।
धर्म-धुरीणों के शब्दों में पूर्व जन्म के पाप॥
ये जीवित-शव भी मानव हैं ! मूक, त्रस्त, पामाल।
चील्ह नोंचती आँखें, गीदड़ खाते जीवित खाल॥
हन्त ! हमारे ही भाई ये दीन हीन लाचार;
यों सड़कों पर सड़ते, होती यदि अपनी सरकार ?
हाँ अपनी सरकार —देश की जनता की सरकार।
मज़दूरों की, मज़लूमों की, भूखों की सरकार॥
तो क्या कभी मुनाफ़ाख़ोरों की चलती यह चाल ?
मरते लोग, सड़ा करता यों कोठारों में माल !
हड्डी के ढाँचों पर गिनते रुपयों के अम्बार ?
बच्चों की लाशों पर करते पूँजी का व्यापार ?
पूँजीवादी युग ने साजा है कुछ ऐसा साज।
घर बाहर सब जगह लुटेरों का दिखता है राज॥

लानत है उस हीन राष्ट्र पर जो इस तरह अनाथ।
बैठा देखा करे तमाशा धरे हाथ पर हाथ॥
देशवासियो! तुम्हें शपथ उन माँ बहनों की आज।
जिनके स्नेह-लाड़ले टुकड़ों टुकड़ों को मोहताज॥
तुम्हें शपथ माँ के अञ्चल की, शपथ दूध की आज।
तुम्हें तुम्हारी शपथ, शपथ है गरम ख़ून की आज॥
बिना अन्न दम तोड़ रहे जो खुले आम बाज़ार।
कलकत्ते की उन लाशों की शपथें तुम्हें हज़ार॥
मानवता की शपथ ले रहे हैं यह कहकर आज।
एक एक दाने का बदला तो लेंगे मय-ब्याज॥
उलट तुम्हारी सड़ी व्यवस्था डालेंगे वह नींव।
फिर न बिसूर बिसूर कर मरें नर तनधारी जीव॥
वर्ण भेद शोषक शोषित के फिर न पड़ेंगे देख।
आगे के कवि को न पड़ेगा लिखना ऐसा लेख॥

बर्लिन अब नज़दीक है

[शिवमङ्गलसिंह 'सुमन']

फ़ासिस्तों की काल-रात्रि में घोर घटा घिर आई।
चली लालसेना ज्यों चलती सावन में पुरवाई॥
बादल गरजे, बिजली तड़की, भटके भारी शोले।
आज लालिमा फैल रही है, होना हो सो हो ले॥
लाल फ़ौज ने लाल ख़ून से आज बनाई लीक है।
मास्को की तो बातें छोड़ो बर्लिन अब नज़दीक है॥

जब जन गढ़ के सिंह द्वार पर बजा युद्ध का डङ्का।
हिटलर की जर्मनी जल उठी ज्यों सोने की लङ्का॥
देश देश के दलित वर्ग के सफल हुए उच्छ्वास।
सातों सागर लगे खौलने पवन चले उन्चास॥
एक एक शोषित दुनिया का आज हुआ निर्भीक है।
मास्को की तो बातें छोड़ो, बर्लिन अब नज़दीक है॥

ऐसा-वैसा दुर्ग नहीं यह मज़लूमों का प्यारा।
हड्डी की ईंटों से जोड़ा लगा ख़ून का गारा॥
प्रबल आँधियाँ, भीषण लहरें आई थीं अज़माने।
टक्कर खा खा लौट गई पर हिली नहीं चट्टानें॥

यह इस युग के संघर्षों का सबसे प्रबल प्रतीक है।
मास्को की तो बातें छोड़ो, बर्लिन अब नज़दीक है॥
जन जन की आशा पर छाया था जो क्षणिक अँधेरा।
उसे चीर कर निकल रहा है देखो लाल सबेरा॥
पद मर्दित राष्ट्रों ने गुञ्जित की स्वागत की वाणी।
खड़ी जर्मनी की जनता भी करने को अगवानी॥
आज नया हर क़दम, ज़माना नया, नई तहरीक है।
मास्को की तो बातें छोड़ो, बर्लिन अब नज़दीक है॥
किया सोवियत ने दुनिया की क़िस्मत का निबटारा।
कहाँ फँसा जाकर, किससे युग का ज़ुल्मी हत्यारा॥
मज़लूमों ने सिद्ध कर दिया अविजित शक्ति हमारी।
अजी तुम्हारी दुनिया से यह दुनिया बिलकुल न्यारी॥
फ़ासिस्तों के मर्मस्थल में लगा निशाना ठीक है।
मास्को की तो बातें छोड़ो बर्लिन अब नज़दीक है॥
फिर से आज बुलन्द हुआ नव निर्माणों का नारा।
वह दिन सोचो जब घर घर चमकेगा लाल सितारा॥
मेहनतकश की मेहनत होगी जग का एक सहारा।
मुट्ठी बाँध कहेंगे हम सब सारा विश्व हमारा॥
इस जागृति के स्वर में जन जन कण कण आज शरीक है।
मास्को की तो बातें छोड़ो बर्लिन अब नज़दीक॥

पस्त हिम्मत साथी से

[प्रकाश सक्सेना]

देखो देश पुकार रहा है हिम्मत मत हारो साथी।
भूलो मत चक्की के दो पाटों में लड़ना है साथी॥
देश भयानक सङ्कट में है कुछ करना होगा साथी।
भूखे मरते लोगों के हित अन्न अभी लाना साथी॥
केवल गाली देने से कुछ लाभ नहीं होगा साथी।
चोर मुनाफ़ाखोरों से भी डट कर लड़ना है साथी॥
आज काम करने की बेला बैठे क्यों हताश साथी।
देखो देश पुकार रहा है हिम्मत मत हारो साथी॥
जापानी गुण्डे दल बल से चढ़ आए हम पर साथी।
धोखा देने को गद्दारों की पल्टन लेकर साथी॥
आज बहिन बेटी की इज़्ज़त ख़तरे में आई साथी।
आज हमारे खलिहानों पर गोलों का ख़तरा साथी॥

अब भी खून नहीं क्या खौला क्या मुर्दा मन है साथी।
देखो देश पुकार रहा है हिम्मत मत हारो साथी॥

हम क्या कर सकते हैं—कहकर कन्धे मत डालो साथी।
छः वर्षों से छका रहे हैं चीनी दुश्मन को साथी॥
क्या कहते हो हम गुलाम हैं? तो क्या मिट जावें साथी!
जीना है तो लड़ना होगा यह निश्चित समझो साथी॥
भूलो मत चक्की के दो पाटों में लड़ना है साथी।
देखो देश पुकार रहा है हिम्मत मत हारो साथी॥

हथियारों से भी ज़्यादा होता है मन का बल साथी।
पराधीन जनता करती है इसका विज्ञापन साथी॥
देश बचाना है दुश्मन से दिल मज़बूत करो साथी।
जापानी बममार उड़ रहे हैं अपने सर पर साथी॥
आज झिझक को दूर भगाओ वक़्त नहीं बिल्कुल साथी।
देखो देश पुकार रहा है हिम्मत मत हारो साथी॥

गाँव गाँव में नगर नगर में, गूँजे रणभेरी साथी।
खेत खेत रण खेत बने जब चढ़ आये दुश्मन साथी॥
बलि वेदी पर दुश्मन आया तेज़ करो गँड़सा साथी!
दुनिया के फ़ाशिस्तवाद का नाश हमें करना साथी॥
देश देश की जनता जागी, तुम क्यों अलसाए साथी!
देखो देश पुकार रहा है हिम्मत मत हारो साथी॥

साँझ और सबेरा

[अनन्तकुमार]

साँझ आती है—
जामुनों के बिरिछ ये चुपचाप
इशारों से कह रहे हैं—
"साँझ आती है!"
ताल नीरव ही पड़ा है,
शोर पेड़ों पर मचाते
काग कितने!
एक झोंका!
झूमते थे
जामुनों के वृक्ष,
वह जो जामुनों से थे लदे!
आह, झोंका—

बिछ गये थे वृक्ष के नीचे
गदबदाए रस भरे वह जामुनी जामुन !
दूर दिखते झोपड़ों में
आँख मलती जाग जातीं
ढिबरियाँ टूटी;
और उनकी
श्वेत-प्रदर सी ज्योति वह
थी टपक पड़ती !
सिहर जाते कमर तक वे
जामुनों के वृक्ष !!
दूर मीठा स्वर, किसी के घर
गा रही थीं स्त्रियाँ सोहर !!!
शुष्क उसके बाल,
और आगे को फटे से ज्योतिर्मय,
बाहर निकलना चाहते हों ज्यों !
म्लान मुख, चिन्तित हृदय औ'
मौन ले एक आग,
खड़ा तट पर देखता है—
काँपते जल में स्वयं का काँपता प्रतिबिम्ब !
कुछ थकी उद्दीप्त सी स्फूर्ति !...
हाथ में बाँधे खड़ा वह हाथ,
विश्व इस प्रेम में ज्यों बाँधना वह चाहता हो !
दिवस का अवसान,
दिन-मणि छिप गया है।
लौटते हैं ग्वाल घर,
गाँव के एक गीत को मृदु
कण्ठ में भर कर !
मन्द वर्षा हो गई आरम्भ;
बोलते थे काग मिलकर;
और खुजलाता हुआ सिर आ गया
जामुन विटप की छाँह में वह युवक,
जहाँ जामुन के फरेंदे
पड़े छितरे से !
लौटता था ग्वाल-दल सब
हाथ में ले लाठियाँ, और हाँकता
झुण्ड पशुओं का।

पड़ रहीं नन्हीं फुहारें,
मवेशी के गलों की बस टिनटिनाती घण्टियाँ !
दूर होता जा रहा है
घण्टियों का स्वर !
एक झोंका—
बिछ गए थे वृक्ष के नीचे,
गदबदाए रसभरे वह जामुनी जामुन !
ताल में डूबे खड़े थे
अरुण इन्दीवर…
सिरिष की मृदु गन्ध हलकी
आ रही थी,
दूर से औ' आ रहा था—
गोरुओं के गलों की उन घण्टियों का स्वर !
उल्लसित वह हो उठा सहसा,
बीन धरती से लिए कुछ रसभरे जामुन,
और खाता उन्हीं को था
गुनगुनाता चल पड़ा एक ओर—
"जयी मानवता ही होगी अन्त में !
कौन उसको रोक सकता है !
सम बनेगा अर्थ-वितरण,
जातियों से, श्रेणियों से
मुक्त होंगे हम सभी !"
कह रहे थे दूर से,
अति दूर से आते हुए वह घण्टियों के स्वर—
"रात आती है !"
बढ़ रहा था वीरता से, धीरता से,
युवक वह उस ओर,
हो रहा था जहाँ अब
बलिदान के रङ्ग में रँगा,
इस लाल दुनिया पर
नया फिर लाल ख़ूनी
भोर ।

भाई-भाई

एक हो, मिलो !
एक हो, मिलो !
भाइ-भाइ हिन्दू-मुसलमान !
मरने-जीने का है, दोनों का, एक ही स्थान।
एक ही प्रेम का इशारा
समझते हैं दोनों।
नफ़रत के दिल से भी नफ़रत है उनको, समान !
एक हो, मिल जाओ !
भाइ-भाइ, हिन्दू-मुसलमान !
खाते हैं एक-से अनाजों की रोटी,
हिन्दू-मुसलमान॥

एक ही धरती का पानी
चमकाता है दोनों का ख़ून
दोनों की दो भूख-प्यासें हैं
क्या दोनों जून !
है एक-सी मुफ़लिसी-दोनों के घर की मेहमान।
एक हो, एक हो !
भाइ-भाइ, हिन्दू-मुसलमान !

दोनों की माँओं को हैं अपने बेटे
एक से ही प्यारे,
औ' किसी न किसी की मोहब्बत की मीठी
यादों के सपने सँवारे—
एक-सी धड़कन है दोनों के दिल में।
दोनों को आहें भी करना हैं आती
हाँ, दिल में राहें भी करना हैं आती।
धीर हैं, अस्थिर हैं, एक से पागल हैं,
एक से पागल हैं दोनों के प्राण !
एक हो, एक हो !
प्यारे—हिन्दू-मुसलमान !

थकावट मिटाती है जो एक ही शाम दोनों की,
तो गर्माती है एक ही सुबह दोनों के सीने।
हलों पर, मशीनों पर, दुकानों में, दफ़्तरों में
जो होते हैं दोनों के दोनों पसीने-पसीने;

कहीं मोर्चों पर विदेशों में हों, या घरों में,
वही एक क़िस्मत की रातें हैं आराम दोनों की।
न सोचो हरे लेता है कौन-सा एक-हि दुश्मन दोनों का मान
मगर देखो बन जायगी कौन-सी एक-हि ताक़त
दोनों की जान।
एक हो, एक हो!
प्यारे भाई, हिन्दू-मुसलमान!

पुंल्लिंग

[वीरेश्वर सिंह]

धत्···बेहूदे!
बूँकता है बातें ब्रजबिहारी की।
कौन था योगेश्वर, चक्रधारी!
कंस-खल-वश-ध्वंसक—
गोवर्धन-घर, गोपाल, मुकुटधारी!
बोल··············!
ऐ चीलर, चीथड़ी चोली के,
ऐ, शृगाल भक्षक अकाल-मृत भाव के,
विश्व-विदूषक, मानव बोली के,—
क्या है तेरी लेखनी!
काठ!···········
तेरे अन्तस्तल में कुछ भी लाज है!
ऐ मन के मजनू, लैला तन-के,
मातृ-दुग्ध पावन-करण सपूत!!
आता है तू माँ-बहनों के सामने
पोते अपने मुँह में कुत्सित-कल्पना—
छाती-से छिपटाये मधुबन की परी!
लाद-'वाद'-का-गट्ठर अपनी पीठ पर
कुदक झाड़ता है बातूनी लत्तियाँ!
उन पेटों-में—
जिनमें शून्य स्वयं अपने को खा रहा,
भरता है रस-दर्शन किंकिनि-बीन की!
वाह! बहादुर!
खेतों में बरसा-दो स्याही घोल के,
क़लम करो हल,

बो दो मन-के गीत—
फिर पेलो ढूँढ़ तुम इमली के पात पर।
गीता दे दो लिखकर उनके हाथ में
जो भूखे कंकाल माँगते रोटियाँ—!
चेतो मानव !—
मानव के शोणित से निर्मित है नर!
सबसे पहले तन, फिर बसन और फिर है संसार—
लोक—परलोक,
व्योम – पाताल,
ब्रह्म या वेद।
पेट हो पूर्ण तभी है सृष्टि,
नहीं तो बन्धु
प्रलय है घोर, जगत् निस्सार!
प्यारे! ये अटारियाँ—
यह सावन-मन-भावन, पपिहा, कोयल, मोर, चकोर—
टेर मुरली-की············!!
बिना पेट के भरे धुआँ है।
प्रणय तुम्हारा—
चर्बी है—मद कचर कूट का।
कोड़ो बीघे भर ज़मीन ले फावड़ा,
तब जानोगे क्या सुवस्तु भूगोल है!
लिखो, किन्तु कुछ करके—
पिओ अमृत-जल जीवन का
तुम अपने हाथों भरके।—
गठें बल्लियाँ बाहों की,
चौड़ी हो छाती मर्दानी,
दम सधे—
ठोंकने वाली खम सुगठित हो,—
रक्त-आभ मुख-मण्डल नैन-प्रदीप हों।
तुम हो अमृत-पुत्र देश भारत के,
हिम गिरि के नर-सिंह,
हिन्द-सागर के बाड़व,
गर्जन अमर युगों के—
तुम हो कर्त्ता वर्तमान, धाता भविष्य के।
करो और कह दो जग से तुम कौन हो—
लिखो और कह दो जग से तुम कौन हो—
पढ़ें, तुम्हारे कार्य्य-अमर, जग मौन हो।

नीरक्षीर

इण्डो सोवियत जरनल—यह अँगरेज़ी पाक्षिक बङ्गाल सोवियत सुहृद् सङ्घ का मुखपत्र है। इसके सम्पादक बङ्गाल के ख्यातनामा साहित्यिक श्री हीरेन मुकर्जी हैं। इसे मार्फ़त बङ्गाल सोवियत सुहृद् सङ्घ, ४६, धर्मतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता से मँगाया जा सकता है। इसकी एक प्रति का मूल्य एक आना है। आलोच्य अंक नवम्बर-क्रान्ति का विशेषाङ्क है मूल्य, दो आना।

इण्डो सोवियत जरनल का उद्देश्य सोवियत सङ्घ के विषय में भारतीय जनता की जानकारी बढ़ाना है। सोवियत सङ्घ के विषय में जनसाधारण का ज्ञान सचमुच बहुत परिमित है। इसका मुख्य कारण तो यही है कि अब तक ऐसी परिस्थितियाँ भी न थीं कि खुले तौर पर सोवियत सङ्घ और नवम्बर-क्रान्ति का प्रचार किया जा सकता। प्रचार के सारे साधन विश्व के साम्राज्यवादियों के हाथ में थे (और हैं!) और वे सोवियत सङ्घ के विषय में झूठी बातें फैलाकर जनता को बरग़लाने में लगे हुए थे। इस प्रकार जनसाधारण को सोवियत सङ्घ के विषय में सही ज्ञान प्राप्त करने का कोई साधन ही न था। इसी लिए आम तौर पर लोग नहीं जानते कि नवम्बर-क्रान्ति ने पुराने रूस में क्या-क्या बदल डाला! नया रूस, सोवियत रूस कैसा है! उसमें खेती कैसे होती है? कल-कारख़ाने कैसे चलते हैं! सरकार कैसी है! लाल फ़ौज क्या है? जनता और फ़ौज में क्या सम्बन्ध है! सोवियत रूस की सरकार किस प्रकार जनता की सरकार है? सोवियत सङ्घ ने जातियों की समस्या को किस प्रकार हल किया है! सोवियत सङ्घ क्यों स्वतन्त्र जातियों का एक सुखी परिवार है! सोवियत-सङ्घ अजेय क्यों है! इन सारी बातों पर प्रामाणिक लेख देकर यह पत्र हमारे सामने उस नई सभ्यता और नई संस्कृति, उस नये विश्व का चित्र खींचता है जो इस समय दुनिया के छठें हिस्से पर क़ायम है और हिटलरी डाकुओं को ख़त्म करते हुए दुनिया को आज़ादी की ओर ले जा रहा है।

प्रस्तुत अङ्क में हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय की कविता और प्रोफ़ेसर डी० डी० कौशाम्बी और भूपेश गुप्त के लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

'हंस' के सभी पाठकों को इसका ग्राहक हो जाना चाहिए। इसमें उनका लाभ ही लाभ है।

लोकयुद्ध—सोवियत अङ्क; मूल्य तीन आने; प्रकाशक, हिन्दुस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी; मिलने का पता, 'लोकयुद्ध' आफ़िस १९० बी० खेतवाडी मेन रोड, बम्बई।

इस विशेषाङ्क को निकालनेवाले सचमुच बधाई के पात्र हैं। यहाँ बारह पृष्ठों में जो अपूर्व सामग्री संगृहीत है, वह अन्यत्र मिलना मुशकिल है। 'सोवियत की जनता मज़दूरों-किसानों के राज की रक्षा कर रही है', 'सदियों की दासता से मुक्त सोवियत नारी', 'स्वतन्त्र जातियों का अटूट परिवार', 'सोवियत की सांस्कृतिक क्रान्ति', 'भारतीय नेताओं द्वारा सोवियत सङ्घ का अभिवादन', 'सामूहिक खेतों के किसान कैसे रहते हैं', 'सोवियत सङ्घ में धर्म', 'एशिया की आज़ादी के लिए सोवियत ने क्या किया' आदि लेख हैं। शीर्षकों से ही स्पष्ट हो जायगा कि सामग्री के चयन में कितने कौशल का परिचय दिया गया है। सोवियत सङ्घ के बारे में जो प्रश्न सामान्यतः पूछे जाते हैं, उन सभी का उत्तर यहाँ मिलेगा।

कवर पेज के चित्र और सोवियत चित्रकारों के कार्टूनों का उल्लेख किये बग़ैर अंक की श्रेष्ठता का परिचय अपूर्ण रहेगा।

'हंस' के सभी पाठकों से हमारा अनुरोध है कि इस विशेषाङ्क को और इस पत्र को पढ़ें और इसकी बताई बातों पर मनन करें।

—अमृतराय

सम्पादकीय

प्रेमचन्द की सातवीं वार्षिकी—प्रेमचन्द की वार्षिकी मनाना एक ऐसे साहित्यकार की याद को ताज़ा करना है जो भारत का सबसे सचेत और जागरूक साहित्यकार है, जिसने अपने युग की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उथल-पुथल का निर्भीक चित्रण किया है। प्रेमचन्द को भारत का सबसे जागरूक और सचेत साहित्यकार पुकारते समय मैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर या इक़बाल को भूल नहीं जाता। हो सकता है मेरा मत सरासर ग़लत हो, लेकिन फिर भी मैं समझता हूँ कि प्रेमचन्द ने अपने निजी पर्यवेक्षण से भारत के जीवन के साथ अपने को पूरी तरह मिलाकर, अपने मौलिक चिन्तन द्वारा सामाजिक आवश्यकताओं को, राष्ट्र की माँग को, युग की पुकार को जितनी अच्छी तरह समझा है, उतनी अच्छी तरह रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इक़बाल ने भी नहीं समझा है यद्यपि संसार के चित्र-विचित्र पहलुओं को समझने का मौक़ा उन्हें जीवन में कहीं ज़्यादा मिला, विश्व के अपरिमित ज्ञान-कोष तक जैसी उनकी पहुँच थी वैसी प्रेमचन्द की न थी। एक ईमानदार साहित्यकार की तरह प्रेमचन्द ने जन-जीवन का निरीक्षण किया और उस निरीक्षण द्वारा कुछ मौलिक निष्कर्षों पर पहुँचे जो एक प्रगतिशील समाजशास्त्री के से जान पड़ते हैं।

सच्चे अर्थों में प्रेमचन्द न सिर्फ़ हिन्दी के बल्कि भारत के राष्ट्रीय औपन्यासिक और कथाकार हैं। सन् '२० और '३० के हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का, हमारे स्वाधीनता-संग्राम का जैसा उत्साह-वर्धक और साफ़ चित्र हमें 'कर्मभूमि' और 'समरयात्रा' में मिलता है, वैसा किसी भी भारतीय औपन्यासिक या कहानीकार की कृतियों में नहीं मिलता। मुख्य बात यह है कि हमारे राष्ट्रीय जीवन के राष्ट्रीय उथल-पुथल और आन्दोलन के ये चित्र परोक्ष या अनुमित रूप में नहीं आ गये हैं। वे ऐसे साहित्यकार के दिये हुए चित्र हैं जो इस बात को अच्छी तरह जानता है कि जिस स्वाधीनता संग्राम का चित्र वह दे रहा है, उसकी सफलता या असफलता पर राष्ट्र का भविष्य, करोड़ों आदमियों का सुख-दुख, स्वर्ग-नरक आधारित है; वह चित्र इसलिए दे रहा है कि हमारे स्वाधीनता-संग्राम को सैनिकों की आवश्यकता है, ऐसे सैनिकों की जिनमें आत्मोत्सर्ग, साहस, ईमानदारी, निष्ठा कूट-कूट कर भरी हो, अपने लक्ष्य के प्रति जिनमें ऐसी एकलव्य की-सी निष्ठा हो कि भीषण से भीषण आग के बीच भी उनकी आन में बल न आये। इसी लिए मैं समझता हूँ कि प्रेमचन्द न सिर्फ़ राष्ट्रीय भावनाओं का द्योतन करनेवाले औपन्यासिक हैं बल्कि हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के, हमारे साम्राज्य-विरोधी स्वाधीनता-संग्राम के औपन्यासिक हैं—अपनी क़लम लेकर एक सैनिक की तरह वह भारत की आज़ादी के लिए लड़ते हैं। साहित्यिक के नाते उनकी सामाजिक चेतना, उनकी राष्ट्रीय भावना इतनी स्पष्ट है और भारतीय स्वाधीनता की प्रगतिशील शक्तियों के साथ उनका ऐसा सहज सम्बन्ध है कि सत्य-शिव-सुन्दर और आदर्शवाद-यथार्थवाद के अनर्गल और अप्रासंगिक झगड़ों में न पड़कर वे एक साहित्यिक के रूप में आज़ादी के सैनिकों की पंक्ति में जा खड़े होते हैं और अपने उपन्यासों, अपनी कहानियों से जनता का आह्वान करते हैं कि वह अपनी स्वाधीनता की लड़ाई को उस साहस, उस त्याग, उस बलिदान-भावना, उस देवोपम शौर्य और निष्ठा से लड़े जो हम भारतीयों की पहचान हैं, हमारा सैकड़ों

वर्षों का इतिहास जिनका साक्षी है। प्रेमचन्द के उपन्यासों और कहानियों का जिसने सरसरी तौर पर भी अवलोकन किया होगा, वह मुझसे अवश्य सहमत होगा कि प्रेमचन्द हमारे स्वाधीनता-संग्राम के, हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के वैसे ही चारण हैं जैसे मैथिलीशरण गुप्त। एक ने उपन्यास और कहानी के ज़रिये हममें राष्ट्रीय स्वाधीनता की आग फूँकी है, दूसरे ने कविता के। संभवतः मैथिलीशरण गुप्त की अपेक्षा प्रेमचन्द से ज़्यादा लोगों ने अपने देश के लिए जीना और मरना सीखा है।

आज हम साहित्यिकों के लिए यही प्रेमचन्द की थाती है। उन्होंने अपने समय के स्वाधीनता-संग्राम में रहकर उसका निर्भीक और बल प्रदान करनेवाला चित्रण किया है। उन्होंने अपने परिचित जन-समाज के दुःख-दर्द, उसकी हारी-बीमारी, उसके दैन्य और सन्ताप, उसकी भूख और मृत्यु, उसकी ग़रीबी और उस पर अहरहः होनेवाले अत्याचार का चित्र खींचा है। उन्होंने समूचे पराधीन भारतीय जन-समाज पर होनेवाले बृटिश साम्राज्यवादी शोषण, लूट और बलात्कार का चित्र खींचा है।

प्रेमचन्द की थाती हमको मिली है, लेकिन अगर क़लम के धनी होते हुए भी हम आज अपने देशवासियों को भूख, नौकरशाही अन्धधुन्ध और आसन्न जापानी आक्रमण से डटकर मोर्चा लेने के लिए प्रोत्साहित और सङ्गठित न कर सके, तो हम सच्चे अर्थ में इस थाती के अधिकारी नहीं हैं; अगर हम आज अपने भाई-बहनों को भूख और अकाल मौत से बचाने के लिए अपने अस्त्र का उपयोग न कर सके, तो हम सच्चे अर्थ में इस थाती के अधिकारी नहीं हैं। जनता की सेवा ही हमारा परम लक्ष्य है। आज जब कि हमारी अपनी धरती के गारे-मिट्टी से बने हुए हमारे भाई अनाहार, बीमारी और बाढ़ से कीड़ों की मौत मर रहे हैं, हमारी क़लम सो रही है, आज जब कि उसे दुगने-चौगुने-अठगुने ज़ोर से चलना चाहिए था। भूख से लथ-पथ होकर हमारी सड़कों पर गिरते लोगों की, भूख से, बीमारी से, बाढ़ से मारे हुए रक्तहीन, मांसहीन पुतलों की यही हमसे माँग है कि हम उनकी आवाज़ को दुनिया में गुँजा दें, चोरबाज़ारों को ख़त्म करके हम उनके लिए खाना लाकर दें। वह हमारे भाई हैं और सबसे बड़ी बात मनुष्य हैं। उन्हें इस तरह अपने हाल पर छोड़ देना, मौत के फन्दे में उन्हें तड़पते देखना और अपने आन्दोलन से, अपनी क़लम के ज़ोर से कुछ न करना, न सिर्फ़ उन अर्द्धमृत प्राणियों के प्रति बल्कि स्वयं अपनी साहित्यिक चेतना के प्रति, अपनी कला के प्रति विश्वासघात है। हमारे देखते-देखते हमारा देश एक विशाल मरघट बनता जा रहा है। क्या हम अपने गीत, अपनी कहानियाँ और उपन्यास मरघट पर की लाशों को सुनायेंगे? अगर नहीं, तो आइये अपनी क़लम उठाइये और उन सभी देश-द्रोहियों का ख़ात्मा कीजिये जो जनता को भूखों मार रहे हैं। अगर एक विदेशी सरकार छुपे गोदामों से अनाज नहीं निकालती या हिच-किचाती है, तो क्या हमारा कर्तव्य यही है कि हम इस विदेशी सरकार का मुँह ताकें या बहुत करें तो उसे कुछ गालियाँ सुना दें? गालियाँ अगर रोटी दिलातीं तो यही पथ ठीक था। लेकिन ऐसी परिस्थिति में क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम जनता को प्रोत्साहित करें कि वह अपने सङ्गठित बल से रोटी प्राप्त करने के लिए आगे आवे।

इतना ही नहीं, हमारे राष्ट्रीय नेता आज जेल में हैं, वे ही नेता जिन्होंने दो दशाब्दियों से ऊपर तक हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया,—गाँधीजी, जिनसे हमने त्याग और सचाई का पाठ पढ़ा है; जवाहरलाल, जिनसे हमने अपनी आज़ादी को अन्तर्राष्ट्रीय आज़ादी के चौखटे में रखकर देखना सीखा है; मौलाना आज़ाद, जो सिद्ध करते हैं कि भारत की आज़ादी के लिए हिन्दू और

मुसलमान एक हो सकते हैं और होंगे। आज अगर हमारे ये नेता जेल के बाहर होते और हमें स्वाधीनता की दीक्षा देनेवाली हमारी पुनीत राष्ट्रीय संस्था वैध होती तो जैसा कि गांधीजी ने कहा है हमारी आज दिन की बहुत-सी समस्याएँ हल हो जातीं। लेकिन आज वे साम्राज्यवादी सीखचों में बन्द हैं।

ऐसी परिस्थिति में अपने देश के प्रति, नागरिक के नाते और उससे ज़्यादा साहित्यिक के नाते हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम अपने अस्त्र का उचित प्रयोग कर अपने साहित्यिक आन्दोलनों, अपनी राष्ट्रीय कविताओं, अपनी कहानियों और अपने उपन्यासों द्वारा हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करके अपने नेताओं को अपने बीच में फिर पा लें। हिन्दू-मुसलिम अनैक्य और अगस्तवाले कांग्रेस-प्रस्ताव में खुले विद्रोह की धमकी की आड़ लेकर वे पहले विश्व की फ़ासिस्त-विरोधी मुक्तिकामी जनता और हमारे बीच खाई डालने में समर्थ हुए। यह मनोरथ सिद्ध हो जाने पर ही हमारे राष्ट्रीय जीवन पर आघात करना उनके लिए सम्भव हो सका। जापानियों से देश की रक्षा करने के प्रश्न पर हमारा जो निषेधात्मक और निष्क्रिय रवैया है उसी के कारण आज बृटिश नौकरशाहों को बल मिलता है कि वे हमारे सबसे प्रिय नेताओं को जेल में बन्द रक्खें और जापानियों से देश की रक्षा करने के लिए एक अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की हमारी राष्ट्रीय माँग को ठुकरायें और देश को जापानियों से बचाने के नाम पर हम पर और आप पर राज करें। आज वस्तुतः स्वतन्त्र रूप से अपने देश को बचाने के लिए एकताबद्ध न होना, नौकरशाहों के हाथ मज़बूत करना है। आज जिस प्रकार की भयानक राजनीतिक ज़िच के बीच से हम गुज़र रहे हैं, उससे किसकी हानि होती है, हमारी या नौकरशाहों की ! नौकरशाहों की तो कदापि नहीं होती क्योंकि उन्होंने भारत को जापानियों से बचाने की समस्या को हमेशा एक फ़ौजी समस्या के रूप में देखा है। आज जैसी राजनीतिक ज़िच है, वही तो नौकरशाह चाहता है क्योंकि कोई राष्ट्रीय जीवन न होने से भारत को अपनी साम्राज्यवादी नीति से बचाना, सचेतन जनता को लड़ाई के बाहर रखकर, उसको कुचलकर, देश को एक विशाल कारागार बनाकर फ़ौजी रूप में उसकी रक्षा करना ही तो उसका ध्येय है। क्या हम उसके इस गर्हित इरादे को कार्यान्वित होने का मौक़ा देंगे जब एक ओर तो हम यह जानते हैं कि इसमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए कितना बड़ा सङ्कट निहित है और दूसरी ओर यह भी जानते हैं कि यदि हम एकताबद्ध होकर, सम्पूर्ण हिन्दू-मुसलिम जनता की जाग्रत और सङ्गठित शक्ति से आगे आकर उस जुए में हस्तक्षेप करें जो आज हमारी देश-रक्षा और हमारे भाग्य के साथ खेला जा रहा है, तो हम दृढ़ निश्चय के साथ साम्राज्यवाद को झुका सकेंगे, राष्ट्रीय नेताओं को छोड़ने और कांग्रेस को वैध बनाने के लिए उसे मजबूर कर सकेंगे क्योंकि देश को अपना जानकर उसके साथ होनेवाले इस भयानक साम्राज्यवादी खिलवाड़ को ख़त्म करने का सङ्कल्प लेकर जब हम देश-रक्षा के लिए एकता-बद्ध और सङ्गठित होंगे तभी हम इस नौकरशाही को, जो अपनी साम्राज्यवादी नीति से न सिर्फ़ भारत की रक्षा को ख़तरे में डाल रही है बल्कि उसके साथ ही साथ विश्व की जनता के फ़ासिस्त-विरोधी मोर्चे की पीठ में भी छुरा भोंक रही है, विश्व की जनता के सामने मुजरिम के कठघरे में खड़ा कर सकेंगे।

प्रेमचन्द ने अपने समय के स्वाधीनता-संग्राम का चित्रण किया है, उसके लिए जनता में साहस और बल का सञ्चार किया है, उसके लिए भारतीय स्वाधीनता के सैनिक तैयार किये हैं। 'कर्म-भूमि' और 'समर-यात्रा' की रचना के समय सन् '३० में हमारे स्वाधीनता-संग्राम का वह रूप था

जो उसमें ऐसी अतुलनीय कला और क्षमता से अङ्कित है। आज जब कि विश्व की जनता सोवियत सङ्घ के नेतृत्व में एक आज़ादी की लड़ाई लड़ रही है और आज जब कि भारत को जापानियों से बचाने के नाम पर साम्राज्यशाह अपनी साम्राज्यशाही दमन नीति के कारण देश को वस्तुत: जापानी साम्राज्य-वाद के हाथ बेचे दे रहे हैं, हमारी स्वाधीनता की लड़ाई का रूप यह है कि हम अपने देश को बचाने के लिए स्वत: आगे आवें और हिन्दू तथा मुसलमान जातियों को एकता की डोर में बाँधें। यह एकता ही हमें और हमारे भाई-बहनों को, हमारे नन्हें-नन्हें बच्चों को अकाल ही काल-कवलित होने से बचा सकेगी और विश्व की मुक्तिकामी जनता के साथ हमारा ऐसा दृढ़ सम्बन्ध स्थापित कर सकेगी कि हम उसके साथ कन्धे से कन्धा भिड़ा कर स्वतन्त्र विश्व में स्वतन्त्र भारत की स्थापना के लिए आगे बढ़ सकेंगे। भारतीय जनता की राजनीतिक एकता और एकता-बद्ध भारतीय जनता तथा विश्व की मुक्तिकामी जनता की राजनीतिक एकता से थर-थर काँपनेवाले ये मुट्ठीभर नौकरशाह आज इसलिए मज़बूत दिखाई पड़ते हैं कि पिछले वर्ष हमारी एक राजनीतिक भूल के कारण वह हमें विश्व की जनता से काट कर अलग करने में समर्थ हो सके। जितने बलशाली वे दीख पड़ते हैं, वास्तव में उसका शतांश-सहस्रांश बल भी उनमें आज नहीं है। इसका पूर्ण परिचय तो उसी समय मिलेगा जब वीर-प्रसविनी भारत-भूमि के चालीस करोड़ नर-नारी देश को अपना जान कर उसकी रक्षा के लिए, अनाजचोरी से लड़ने के लिए आगे आवेंगे, एकता-बद्ध होंगे। पर इतना स्पष्ट है कि वीरों की इस भूमि के चालीस करोड़ नर-नारियों की राष्ट्रीय शक्ति का मुक़ाबला ये गिनती के साम्राज्यलोभी नहीं कर सकते और विशेषकर ऐसे समय जब कि एक ओर हमारे और विश्व की जनता के हितों में पूरा-पूरा सामञ्जस्य हो और दूसरी ओर साम्राज्यशाहों की भारत-सम्बन्धी नीतियाँ विश्व की जनता की अपनी आज़ादी को ख़तरे में डाल रही हों। दुश्मन की शक्ति को घटाकर देखना जितनी बड़ी भूल बताया गया है, उसको बढ़ाकर देखना भी कदाचित् उतनी ही बड़ी भूल है। गांधी और नेहरू के आत्मबलिदान के पुनीत आदर्शों पर पली भारतीय जनता की इस विजय-यात्रा को रोक सकने की शक्ति आज इन नौकरशाहों में नहीं है।

आइये, आज प्रेमचन्द की स्मृति को ताज़ा करने के साथ-साथ हम यह भी प्रण करें कि वास्तविक जीवन के अमरकान्त और सलीम को हम एकता की अटूट डोर में बाँधेंगे और अपनी एकता के बल से अपने भाइयों को, बच्चों को, भूख की महामारी से और अपनी माँ-बहनों को बेआबरू होने से बचा-येंगे, राष्ट्रीय नेताओं को छुड़ायेंगे और राष्ट्रीय सरकार स्थापित करेंगे जिसमें हम भी समुचित रूप से स्वतन्त्र विश्व की स्थापना करने में विश्व की जनता का हाथ बँटा सकें और स्वयं स्वतन्त्र होकर अपने और अपने भाइयों को सुखी देख सकें। सन् '३० में राष्ट्रीय साहित्य की जैसी लहर आई थी वैसी ही लहर आज हमें फिर लानी है जिसका निर्घोष हमें आज के अपने स्वाधीनता-संग्राम के लिए रणवाद्य के समान ही बल दे सके।*

—अमृतराय

---

* यह निबंध ८ अक्तूबर को प्रगतिशील लेखक-सङ्घ की बैठक में पढ़ा गया।

लेखकवार-सूची

वर्ष १३ अंक १-१२

अक्टूबर १९४२ से सितम्बर १९४३

मुक्ता-मंजूषा

टिप्पणियाँ

× चिह्नित रचनायें प्रगति-अङ्क की हैं।

वर्ष १३ : सितम्बर १९४३ : अङ्क १२

नोट—भूल से इस अंक में पृष्ठ-संख्या १ से छप गई, वर्ष के अन्तिम अंक के हिसाब से ब्रेकेट में दी हुई पृष्ठ-संख्या होनी चाहिए।

वार्षिक ६) : : एक प्रति आठ आना

प्रकाशक

सरस्वती-प्रेस, बनारस

हंस

वर्ष : १३] सितम्बर, १९४३ [अंक : १२

मातृ-भाषाओं का प्रश्न

[राहुल सांकृत्यायन]

मातृभाषाओं के बारे में कहने से पहले हिन्दी के बारे में हम अपनी स्थिति साफ़ कर देना चाहते हैं, क्योंकि इसको ही लेकर कितने भाई बेसमझे तरह-तरह की कल्पनायें उड़ाने लगते हैं। आज के युग ने जहाँ भिन्न-भिन्न भाषा भाषी जातियों को आत्म-चेतना प्रदान की है, ज्ञान के प्रसार को बढ़ाया है; वहाँ साथ ही साथ उन भिन्न-भिन्न जातियों को एक दूसरे के बिल्कुल निकट कर दिया। रेलों-जहाज़ों-विमानों ने देशों की दूरियों को शून्य-सा बना दिया है, और आज भिन्न भिन्न देशों के—प्रान्तों के व्यक्ति उसी तरह एक दूसरे के पास आने, रहने का मौक़ा पाते हैं, जितना कि किसी वक्त पड़ोसी गाँवों और महल्लों के लोग। आज कलकत्ता-बम्बई-कानपुर-अहमदाबाद-जमशेदपुर-जमालपुर जैसे कल-कारख़ानों वाले शहरों को देखने से मालूम होता है, कि किस तरह वहाँ भिन्न-भिन्न प्रान्तों के मजूर-मजूरिनें एक जगह रह एक ग्राम के वासी बन गये हैं, जिसके कारण वह आपस में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक सम्मिलित भाषा की उपयोगिता को समझने ही नहीं लगे हैं, बल्कि वह सरल हिन्दी का इस्तेमाल भी करते हैं। आज के युग में सम्मिलित भाषा की उपयोगिता को न समझना वस्तुतः बड़े आश्चर्य की बात होगी, इसी लिए हिन्दी के सम्मिलित साझे की भाषा होने से हम इन्कार नहीं करते।

रोज़ के आपसी वार्तालाप की तरह साहित्यिक दानादान के साधन के तौर पर भी भारत में हिन्दी का एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है और रहेगा इसे भी हमें मानना पड़ेगा। इसलिए हिन्दी साहित्य के प्रचार और विस्तार की हम किसी से कम कामना नहीं करते, बल्कि इस बात के तो हम और भी ज़बर्दस्त पक्षपाती हैं, यह कौरवी सम्बन्धी हमारे विचारों से मालूम होगा।

मातृ-भाषायें हैं

हम तो सिर्फ़ इतना ही चाहते हैं, कि लोग इस बात को स्वीकार करें कि मेरठ कमिश्नरी (कुरु जनपद) के पौने चार ज़िलों को छोड़कर बाक़ी लोगों की अपनी निजी मातृ-भाषाएँ हैं। यदि आप इस बात को मान लेते हैं तो आगे का काम बिल्कुल सरल हो जाता है। पांचाली (रुहेलखण्डी), ब्रज (शौरसेनी), बुन्देलखण्डी (दाशार्णी), बघेलखण्डी (चेदिका), वात्सी (दक्षिण अवधी), काशिका (बनारसी), मल्लिका (भोजपुरी) आदि में से एक-एक के बोलने-वालों की संख्या लाखों नहीं करोड़-करोड़ तक पहुँचती है, और ये इन लोगों की मातृभाषायें हैं।

मातृभाषा की हमारी परिभाषा है, जिसके बोलने में अनपढ़ से अनपढ़ आदमी और बच्चा तक भी व्याकरण की ग़लती नहीं कर सके। आप बरसाने के पाँच वर्ष के बच्चे के सामने अपनी ब्रजभाषा को बोलें, बच्चे ने व्याकरण का नाम भी नहीं सुना होगा, लेकिन यदि आप कहीं अशुद्ध बोलेंगे तो वह तुरन्त हँस पड़ेगा। बच्चे ने माँ के दूध के साथ अपनी मातृ-भाषा और भाषा के साथ उसके व्याकरण को अप्रयास सीखा है। आप इन भाषाओं को हिन्दी से अभिन्न नहीं कह सकते। यदि ऐसा होता तो अवधी, काशिका, मल्लिका आदि भाषायें बोलनेवाले मिडल तक ही नहीं बी० ए० तक पढ़कर भी व्याकरण की भारी भूलें नहीं करते। मेरे इस कथन का सबूत ढूँढ़ना हो, मिडल तथा ऊपर तक के परीक्षार्थियों की प्रश्नोत्तर कापियाँ देख लें, अथवा स्वयं अपने रोज़ के तजर्बे का ही इस्तेमाल करें। सहवास या मजबूरी से मामूली बातों को ग़लत-सलत समझ-समझा लेने को आप भाषा की अभिज्ञता नहीं कह सकते।

मातृ-भाषाओं की उपयोगिता

मानव जाति के आज तक के अर्जित तथा प्रतिदिन प्रतिक्षण बढ़ते विस्तृत ज्ञान - दर्शन, साइंस, राजनीति—के हम उत्तराधिकारी हैं और उस ज्ञान को प्राप्त करना तथा उसे काम में लाना हमारे जीवित रहने के लिये सबसे ज़रूरी शर्त है। यह ज्ञान सदा भाषा के लिबास में रहता है, भाषा के माध्यम द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।* प्रश्न है, क्या आप ज्ञान को बिना समय और श्रम के भारी व्यय के सिखलाना चाहते हैं? आप 'हाँ' कहेंगे। मगर आपकी 'हाँ' व्यर्थ है जब तक कि आप अवधी, काशिका, मल्लिका भाषा-भाषियों के सामने यह शर्त पेश करते हैं, कि पहले वे आठ वर्ष तक हिन्दी को सीखें, फिर उन्हें ज्ञान-मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार होगा। मुश्किल तो यह है कि शहर के कुछ हिन्दी वाले तथा वर्षों के परिश्रम के बाद हिन्दी बोलनेवाले हमारे शिक्षित लोग गाँव के ग़रीबों की कठिनाइयों को बिल्कुल ही ख़्याल में नहीं लाना चाहते।

मातृ-भाषाओं को ज्ञान का माध्यम बनाने में शिक्षा की प्रगति कितनी तेज़ी से हो सकती है, इसका सुन्दर उदाहरण सोवियट्-मध्य-एशिया की तुर्कमान, उज़बेक, किर्गीज़, कज़्ज़ाक जातियाँ हैं, जो १९१७ ई० से पहिले शिक्षा में भारतीयों से भी अधिक पिछड़ी हुई थीं। ज़ारशाही दिल से चाहती ही न थी कि उनमें शिक्षा सार्वजनीन हो, इसलिये उसने अपने स्कूलों में रूसी को माध्यम रक्खा था। शिक्षित शहरी तरुण तुर्की (टर्की की साहित्यिक भाषा) को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे, जो कि मध्य एशिया की इन जातियों की मातृ-भाषाओं के समीप होते हुये भी उनकी मातृ-भाषा न थी। रूसी में यदि ज्ञान के दानादान में समर्थ होने के लिए दस साल की शर्त थी, तो तुर्की में आठ साल की। जब दोनों ही शत-प्रतिशत जनता को साक्षर ही नहीं शिक्षित देखने के लिए उत्सुक नहीं थे, तो फिर उन्हें मातृ-भाषाओं की ओर नज़र दौड़ाने की ज़रूरत ही क्या थी। मगर जब १९१७ ई० की रूसी-जनक्रान्ति के लिए जनता को साक्षर शिक्षित करना ज़िन्दगी और मौत का सवाल हो गया, तो क्रान्ति के नायकों का ध्यान जनता की बोलियों—तुर्कमानी, उज़बकी, किर्गीज़ी और कज़्ज़ाकी की ओर गया। उस वक़्त इन भाषाओं की न कोई लिपि थी, न कोई लिखित साहित्य। इसके विपरीत रूसी और तुर्की साहित्य विशाल था। मगर जनता के पथ-प्रदर्शक भली भाँति समझते थे, कि सारी जनता को रूसी या तुर्की भाषा पर अधिकार करने के लिए मजबूर करने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि रूसी, तुर्की तथा दूसरी समुन्नत भाषाओं में सुरक्षित ज्ञान को तुर्कमानी आदि भाषाओं में उलथा करके जनता के सामने रक्खा जावे। उन्होंने ऐसा ही किया और आज पचीस

वर्ष बाद मध्य-एशिया की कैसी कायापलट हुई यह हमारे सामने है। जिस उज़्बकी भाषा में आज से पच्चीस वर्ष पहले एक भी छपी पुस्तक न थी, आज वह ताशकंद के विश्वविद्यालय के भिन्न-भिन्न विषय वाले कालेजों में शिक्षा का माध्यम है। उसमें अनेकों दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकायें निकलती हैं। हज़ारों-हज़ार पुस्तकें छपती हैं, कुछ ज़िद्दी बूढ़े-बूढ़ियों को छोड़ वहाँ कोई निरक्षर ही नहीं, अशिक्षित भी नहीं है।

हम "मातृ-भाषा माई की जै" के नाम पर लोगों को पागल नहीं बनाना चाहते, बल्कि जब हम विशाल जनता को चन्द सालों में साक्षर और शिक्षित करने की बात सोचते हैं तो यह छोड़ "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" साफ़ मालूम होता है। यदि विदेशी साम्राज्य-वादियों की भाँति हम भी चन्द सेठों-बाबुओं को शिक्षित बना उन्हें शासक बनाना चाहते हैं और चाहते हैं कि ९० फ़ी सदी जनता अशिक्षित रह अपने शासकों की मनमानी में दख़ल न दे तो मातृ-भाषा छोड़ दूसरी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने की शर्त बिल्कुल ठीक है, लेकिन यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिये कि आज के कल-कारख़ानों के बारीक मशीनों को शिक्षित मजूर ही चला सकते हैं, आजकल के पेचीदा हथियारों को अशिक्षित सिपाही नहीं इस्तेमाल कर सकते।

पिंजरापोल की गायें नहीं जीवित माध्यम

कितने ही लोग सोचते हैं कि इन ग्रामीण बोलियों में कितने ही सुन्दर गीत, कहानियाँ, मुहाविरे और शब्द पाये जाते हैं। इन बोलियों के लिए मृत्यु का वारण्ट कट चुका है, इसलिये इनमें उपलब्ध साहित्यिक तथा भाषा-तात्त्विक सामग्रियों को जल्दी-जल्दी जमा कर लेना चाहिये। उनकी दृष्टि में मातृ-भाषाओं का बस इतना ही मूल्य है, अथवा वे इतनी ही दया के पात्र हैं। मगर वे भारी भ्रम में हैं, जो कि मृत्यु के वारण्ट की बात सोचते हैं। ब्रज-भाषा के लिए मृत्यु का वारण्ट कट चुका है! अवधी मरण-शय्या पर लेटी है! मैथिली सपना बनने जा रही है! जाकर पूछिये इन भाषाओं के बोलनेवाले करोड़-करोड़ नर-नारियों को और सूर, तुलसी, विद्यापति से भी पूछिये और सूर, तुलसी, विद्यापति की मुँह देखी यदि करना चाहते हैं, तो क्या मल्लिका (भोजपुरी), बुन्देली, बघेली को जीने का अनधिकारी समझते हैं? जाकर पूछिये तो सवा करोड़ मल्लों (भोजपुरियों) को और चेकोस्लावाकिया तथा बेल्जियम जैसी जन-संख्या रखनेवाले बुन्देलों और बघेलों को। मनमाना मृत्यु का वारण्ट निकालने की धृष्ठता न कीजिये। यदि ये भाषायें, "बोलियाँ" अब तक नहीं मरीं तो नज़दीक भविष्य में वे नाम-शेष नहीं होने जा रही हैं। उनके तुलसियों, सूरों, विद्यापतियों की आपने अब तक क़दर नहीं की या भुला दिया, तो अब भी उनकी उर्वरता गई नहीं है। भविष्य उनके हाथ में है।

हम गीतों, कहानियों, मुहावरों के जमा करने के विरोधी नहीं, बल्कि ज़बर्दस्त समर्थक हैं। लेकिन उन्हें म्युज़ियम की निर्जीव वस्तुओं अथवा पिंजरापोल की अन्तिम घड़ियाँ गिन रही लूली, लँगड़ी गायों के रूप में नहीं। हम उन्हें देखना चाहते हैं जनपदीय बोली के रूप में यानी लोगों में बोली जाती, कचहरियों में लिखी जाती, प्राइमरी पाठशालाओं से कालेजों, विश्वविद्यालयों तक शिक्षा का माध्यम बनती—संक्षेप में अपने घर में अपनी मालकिन बनती। जनता की भाषायें घर की मालिक बनने पर ही जनता घर की मालिक बन सकती है।

साहित्य का सवाल

मातृ-भाषाओं के माध्यम की बात करते ही झट लोग सवाल कर बैठते हैं, कि पाठ्य-पुस्तकें कहाँ हैं ? जिन पुस्तकों के पढ़ने, ख़रीदनेवाले लाखों विद्यार्थी हों, उनके तैयार होने में कितनी देर लगेगी !

लेखक—ले लीजिए लेखकों की बात। पन्त, इलाचन्द जोशी, हेमचन्द जोशी जैसे लेखकों की मातृ-भाषा पूर्वी पहाड़ी को लेखकों की दरिद्रता क्या ? वही बात बनारसीदास चतुर्वेदी, हरिशङ्कर शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी की मातृ-भाषा व्रज, सियारामशरण, मैथिलीशरण की मातृ-भाषा बुन्देली, निराला, देवीदत्त शुक्ल की मातृभाषा कौसली (उत्तरी अवधी), निर्मल, श्रीनाथसिंह की मातृभाषा वात्सी (दक्षिणी अवधी), चन्द्रबली पाण्डे, अयोध्यासिंह उपाध्याय, विश्वनाथप्रसाद मिश्र की मातृभाषा काशिका (बनारसी), उदयनारायण तिवारी, शिवपूजन सहाय, मनोरञ्जनप्रसाद की मातृभाषा मल्लिका (भोजपुरी), राकेश, उमेश मिश्र, अमरनाथ झा की मातृभाषा मैथिली, आदि-आदि के बारे में समझ सकते हैं। जहाँ एक बार इस बात को आपने मान लिया कि मातृभाषायें शिक्षा का माध्यम हों, वहाँ लेखकों को पैदा करने की फ़िक्र में दुबले मत हूजिये—हिन्दी के बहुत ही अधिक लेखक ऐसे हैं जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं, बल्कि व्रज, कौसली, काशिका, मल्लिका आदि हैं।

प्रकाशन तथा प्रकाशक—वे तो सैकड़ों की संख्या में आपके पीछे-पीछे दौड़ते फिरेंगे। और फिर प्रतियोगिता में मैट्रिक तक की पुस्तकों का तैयार हो जाना तो एकाध साल का काम है।

पारिभाषिक शब्द—हिन्दी के लिए भी तो वह एकसा ही सवाल है। संस्कृत का शब्द-भण्डार मातृ-भाषाओं के लिये भी खुला है। जर्मन भाषा की भाँति मातृभाषायें कितनी ही परिभाषाओं को अपने(बोली) कोष से बनायेंगी, पाँवगाड़ी (बाईसिकल), अगनबोट (स्टीमर) उन्होंने बनाये भी हैं। और फिर रेडियो, रेल जैसे कितने ही अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों को वैसे ही लिया जा सकता है।

मातृ-भाषाओं को माध्यय बनाने का अधिकार ? यह पिछली कांग्रेस मिनिस्ट्रियाँ भी कर सकती थीं। फ्रंटियर की कांग्रेस मिनिस्ट्री ने "पश्तो" को पाठशालाओं में माध्यम बनाया। कोई भी राष्ट्रीयतावादी मिनिस्ट्री बुन्देलखण्ड में बुन्देली, व्रज में व्रजभाषा को शिक्षा का माध्यम बना सकती है, इसमें अँगरेज़ महाप्रभुओं को बाधा देने की ज़रूरत नहीं, यदि आप समझते हैं कि इस लड़ाई के बाद भी दुनियाँ तो बदलेगी, मगर हम और हमारे प्रभु इसी तरह बने रहेंगे तब भी।

प्रान्तों का फिर से बँटवारा

हाँ, हमारे देश में प्रान्तों का बँटवारा अभी तक शासकों के सुभीते के अनुसार हुआ था, अब उसे जनता के सुभीते के अनुसार करना होगा। तीन प्रान्तों की जगह ३० प्रान्तों के हो जाने में अँगरेज़ प्रभुओं की आपत्ति के ख़्याल से मरे मत जायें, यदि आप समझते हैं कि अँगरेज़ी साम्राज्यवाद वैसा ही अक्षुण्ण रहेगा, भारत सफ़ेद आई-सी-एसों की चक्की के नीचे वैसा ही पिसता रहेगा, तो भी फ़िक्र करने की ज़रूरत नहीं, कि तब तीन की जगह तीस आई-सी-एसों को लाट साहब बनने का मौक़ा मिलेगा।

नये प्रान्त या जनपद

भारत की अखंडता मिट जाने का अफ़सोस ? यदि आज ग्यारह प्रान्तों और छः सौ से ऊपर देशी राज्यों के रहते भी वह अक्षुण्ण है, तो उस वक्त भी उसकी गुञ्जाइश है। जब बङ्गला, उड़िया, गुजराती, मराठी को आप अखण्डता के नारे से आत्म-हत्या, आत्म-गोपन करने के लिए तैयार नहीं कर सकते, तो बेचारी व्रजभाषा, बुन्देली, मल्लिका, मैथिली से कौन अपराध बन पड़ा है। फिर

भाषाओं को हमने नहीं गढ़ा है, यह विश्व के विकासक्रम में स्वयं आ मौजूद हुई हैं और भावुकता के नाम पर नहीं, अपनी उपयोगिता के नाम पर जीने और जीने देने की माँग कर रही हैं।

हाँ, तो हिन्दी-उर्दूवाले प्रान्तों (पंजाब, सिन्ध, युक्त-प्रान्त, मध्य-प्रान्त, बिहार) तथा रियासतों को निम्न जनपदों में बाँटना होगा :

भाषा	जनपद	राजधानी
१ हिन्दकी	पश्चिमी पञ्जाब	रावलपिण्डी
२ मध्य पञ्जाबी	मध्य पञ्जाब	लाहौर
३ पूर्वी पञ्जाबी	पूर्व पञ्जाब	लुधियाना (?)
४ सिन्धी	सिन्ध	कराची
५ मुल्तानी	मुल्तान	मुल्तान
६ काश्मीरी	काश्मीर	श्रीनगर
७ पश्चिमी पहाड़ी	त्रिगर्त	कांगड़ा
८ हरियानी	हरियाना	दिल्ली
९ मारवाड़ी	मारवाड़	जोधपुर
१० वैराटी	विराट	जयपुर
११ मेवाड़ी	मेवाड़	चित्तौड़
१२ मालवी	मालवा	उज्जैन
१३ बुन्देली	बुँदेलखण्ड	झाँसी
१४ ब्रज	शूरसेन (?)	आगरा
१५ कौरवी	कुरु	मेरठ
१६ पांचाली	रुहेलखण्ड	बरेली
१७ गढ़वाली	गढ़वाल	श्रीनगर
१८ कूर्माचली	कूर्माचल	अलमोड़ा
१९ कौसली	कोसल (अवध)	लखनऊ
२० वात्सी	वत्स	प्रयाग
२१ चेदिका	चेदी	जबलपुर
२२ बघेली	बघेलखण्ड	रीवाँ
२३ छत्तीसी	छत्तीसगढ़	बिलासपुर
२४ काशिका	काशी	बनारस
२५ मल्लिका	मल्ल	छपरा
२६ वज्जिका	वज्जी	मुजफ़्फ़रपुर
२७ मैथिली	विदेह (तिर्हुत)	दर्भंगा
२८ अंगिका	अंग	भागलपुर
२९ मागधी	मगध	पटना
३० संथाली	संथाल परगना	दुमका (?) [illegible]

इस सूची में कुछ और भाषायें बढ़ सकती हैं। ग्रियर्सन का प्रयत्न आरम्भिक था, इसलिए उनके भाषा तथा क्षेत्र-विभाजन भी प्रारम्भिक थे। उन्होंने भोजपुरी के भीतर ही काशिका (बनारसी) और मल्लिका दोनों को गिन लिया है, जो व्यवहारतः बिल्कुल ग़लत है। प्रान्तों के बटवारे में जहाँ स्टैण्डर्ड भाषा का सवाल उठा कि सीधे छपरा और बनारस की बोलियों का दावा आपके सामने आयेगा और मल्ल तथा काशी-जनपदों के निवासी अपनी-अपनी भाषाओं की अलग-अलग सत्ता स्वीकार करा के रहेंगे।

प्रान्तों के पुनर्विभाजन के सम्बन्ध में यह मालूम होना चाहिए कि सवा करोड़ मल्लवासी (छपरा, बलिया, आरा, मोतीहारी, देवरिया, दिल्दारनगर वाले) इसके लिये सबसे अधिक उतावले हैं। उनका प्रान्त बिहार तथा युक्त प्रान्त में बँटा हुआ है, जिसमें युक्त प्रान्त में उनके साथ का व्यवहार अच्छा नहीं कहा जा सकता। मातृ-भाषाओं और जनपदों की माँग उनके वास्तविक पृथक् व्यक्तित्व के बल पर की जाती है। यहाँ न विकेन्द्रीकरण का सवाल है और न बीस करोड़ की भारी भरकम संख्या के न सँभाल पाने का सवाल। बीस करोड़ क्या चालीस करोड़ भी एक मातृ-भाषा-भाषी होते तो सिर्फ़ संख्या के भारी होने से उसे खण्ड-खण्ड करना उचित न होता। और विकेन्द्रीकरण! यहाँ तो हम वस्तुतः केन्द्रीकरण कर रहे हैं, जब कि हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बिखरे मल्ली भाषियों, भोजपुरियों को एक जनपद में सङ्गठित करते हैं, "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा" की जगह एक भाषा-भाषियों को एक जनपद के रूप में केन्द्रित कर देते हैं।

कौरवी और हिन्दी

सभी जनपदों (प्रान्तों) के बीच राजनीतिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये एक अन्तर-प्रान्तीय भाषा की आवश्यकता अनिवार्य है, यह हम बतला चुके हैं। हिन्दी (फ़ारसी, अरबी के शब्दों की भरमार के साथ यही उर्दू है) इस काम को आज कर रही है। और भविष्य में उसे और अधिक करना होगा। हम पसन्द करेंगे कि प्राइमरी के आगे बढ़ने पर हर एक विद्यार्थी को हफ़्ते में दो-तीन घण्टे हिन्दी का पढ़ना आवश्यक कर दिया जाय—ऊपर के ३० जनपदों में उसे अनिवार्य द्वितीय भाषा मान लेने पर भी शायद किसी को आपत्ति न होगी; किन्तु यह प्रश्न सारे भारत से सम्बन्ध रखेगा, और बङ्गाल-अन्ध्र-द्रविड़-केरल आदि में से किसी को आपत्ति भी हो सकती है, इसलिए अनिवार्य करना न करना जनपदों के ऊपर छोड़ देना चाहिए। हिन्दी के द्वितीय भाषा के तौर पर अधिक प्रचार होने से कालेजों तथा उच्च खोजों की हिन्दी पुस्तकों का भली प्रकार उपयोग हो सकेगा, यद्यपि उसमें छात्र को परीक्षा में अपनी मातृ-भाषा में उत्तर देने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

लेकिन हिन्दी सिर्फ़ अन्तरप्रान्तीय भाषा ही नहीं है, वह कितनों की मातृ-भाषा है, इसे युक्त-प्रान्त के शहरों के रहनेवाले पाठक अच्छी तरह जानते हैं। मातृ-भाषा को माध्यम स्वीकार करने का मतलब है, हमें मुरादाबाद, बरेली, आगरा, दिल्ली, लखनऊ, प्रयाग आदि शहरों के हिन्दी-भाषा-भाषियों को अपनी मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा देने के लिए उन-उन जगहों पर विशेष स्कूलों का प्रबन्ध करना होगा। सोवियत् ने भी ऐसा किया है। वहाँ उस जनपद की राजकीय भाषा के तौर पर हिन्दी को नहीं स्वीकार किया जा सकता।

कौरवी—किन्तु एक बात और न भूलिये कि हिन्दी शहर के चन्द कामचोर सफ़ेदपोशों की ही मातृ-भाषा नहीं है, उसके बोलनेवाले ३० लाख से अधिक गाँव की साधारण किसान, मजूर,

शिल्पकार जनता भी है; वह मेरठ, मुज़फ़्फ़रनगर, सहारनपुर के तीन पूरे ज़िलों तथा देहरादून के निचले तथा बुलन्दशहर के उत्तरी भाग के इन पौने चार ज़िलों के गाँवों की जनता की मातृ-भाषा है। हाँ, उसे "गँवारी" कह लीजिये, लेकिन जानते हैं अपनी गँवारी बोली के साथ साहित्यिक भाषा का अटूट सम्बन्ध बना रहना उतना ही आवश्यक है, जितना शहरी बाबू लोगों का गाँव के कमेरों के साथ। सुनिये जर्मन लेखक अल्बर्ट श्वाइट्ज़र क्या कहता है—

"The difference between the two languages (The French and the German) as I feel it, I can best describe by saying that in French I seem to be strolling along the well-kept paths in a fine park, but in German to be wandering at will in a magnificent forest. Into literary German there flows continually new life from the dialects with which it has kept in touch. French has lost this ever fresh contact with the soil. It is...something finished, while German in the same sense remains something unfinished."

हिन्दी को उसकी उर्वर प्रसव-भूमि के साथ सम्बन्ध जोड़ना होगा, उसे कौरवी के पास जाना होगा; तभी उसकी कृत्रिमता, सदा संस्कृत या अरबी-फ़ारसी से ऋण लेने की प्रवृत्ति को हटाया जा सकता है। उसके विरुद्ध जीवटहीन प्रचार को तीव्र और सजीव बनाया जा सकता है। आज हिन्दी को आम फ़हम (सहल) बनाने का नुस्ख़ा हमारे नीम-हकीम बतलाते हैं, उसमें उर्दू में प्रयुक्त होनेवाले कुछ अरबी-फ़ारसी शब्दों ('आम' अरबी है और 'फ़हम' फ़ारसी) को ज़बर्दस्ती डाल लेना। हिन्दी को उर्दू की ओर घुसकाकर या उर्दू को हिन्दी की ओर घुसकाकर सरल नहीं बनाया जा सकता, बल्कि दोनों को सरल बनाने का रास्ता एक ही है, वह है उनका अपनी जननी भाषा—कौरवी—के नज़दीक जाना। "अखंड हिन्दी" राज्यवादियों को भी मानना पड़ेगा, कि आज हिन्दी उस जगह पहुँच गई है, जहाँ उसे अपने मूल स्रोत से सम्बन्ध किये बिना उसकी अधूरी वर्णन-शक्ति, अधूरे भाव-प्रकाशन को दूर नहीं किया जा सकता। आज मल्लाह, माँझी, लोहार, कुम्हार के सैकड़ों हथियारों और क्रियाओं का वर्णन क्यों हमारे उपन्यास-कहानी-लेखक अपने ग्रन्थों में नहीं करते? मैं समझता हूँ हिन्दी के सम्बन्ध में सबसे ज़रूरी एक पञ्चवार्षिक योजना इस काम के लिए बनानी है कि कौरवी के अलिखित गीत, कविता, कहानी, कहावत, मुहावरों, शिल्प शब्दों का विस्तृत संग्रह किया जावे। हिन्दी के उपन्यास-कहानी-लेखकों को, सामाजिक जीवन के चित्र खींचनेवालों को कुछ जिलों के गाँवों में चन्द मासों का प्रवास अपनी शिक्षा का एक अङ्ग बनाना चाहिये।

मातृ-भाषाओं को उनका हक़ देते ही हिन्दी-उर्दू की समस्या हमारे यहाँ भी उसी तरह बेकार हो जायगी जैसे वह बङ्गाल में है।

कप्तान

[शिवरानी देवी 'प्रेमचन्द']

ज़ोरावर सिंह की जिस दिन शादी हुई, बहू आई, उसी रोज़ ज़ोरावर सिंह को कप्तानी की जगह मिली। घर में आकर बोला ज़ोरावर अपनी बीवी से—

'तुम बड़ी भाग्यवान् हो। कल तुम आईं नहीं, आज मैं कप्तान बन बैठा।'

उसकी बीवी का नाम सुभद्रा; सुभद्रा यह सब सुन करके ख़ुश होने के बजाय चिन्तित हो गई।

ज़ोरावर—तुम तो ख़ुश नहीं मालूम हो रही हो।

सुभद्रा—जिसको लोग ख़ुशी कहते हैं, उस ख़ुशी के अन्दर ग़म भी तो छिपा रहता है।

ज़ोरावर—कैसा ग़म! इस उमङ्ग के दिनों में ग़म का नाम ही क्या! बहू आई शाम को, सुबह अच्छा ओहदा! इससे ज़्यादा ख़ुशी की बात मेरे लिये और तुम्हारे लिये और हो ही क्या सकती है?

सुभद्रा—ज़रा ठण्डे दिल से सोचो कि ये दोनों ख़ुशी की बातें नहीं हैं। मेरा आना यह भी एक तरह की ज़िम्मेदारी, तुम्हारी-मेरी दोनों की; और जो आपको ओहदा मिला इसमें भी कर्तव्य का अपना बंधन। पूरे उतरे तो सब ठीक ही ठीक है, कच्चे उतरे तो और मिट्टी पलीत हो जायगी।

ज़ोरावर—तुम तो न मालूम क्या-क्या बातें बक गईं, मेरी समझ में ख़ाक-पत्थर कुछ भी नहीं आया और ये तो बुढ़ापे के चर्ख़े हैं सब। जवान आदमी कभी यह नहीं सोचता। क्या कर्तव्य और काम भी कोई चीज़ है।

सुभद्रा—यह तुम्हारी समझ में नहीं आयेगा। इसको बारीकी से, जो दोनों के विषय में सोचो, तो ये दोनों मँहगे सौदे हैं।

ज़ोरावर—मैं यह सब नहीं सुनना चाहता तुम्हारे मुँह से। इस उम्र में कोई इन बातों को सुनना गवारा नहीं करता। मैं सच कहता हूँ तुमसे, मैंने अभी अम्मा से यह नहीं बताया कि मुझे आज यह ओहदा मिला है। मैं तो सीधा तुमको आया यह ख़ुशख़बरी देने।

सुभद्रा—तो बता आइये माताजी से भी, बता आइए।

'अच्छा, अच्छा, मैं जाता हूँ। तुम्हारे पास तो बहुत उपदेश सुने। देखूँ, अम्मा भी उपदेश सुनाती हैं।'

सुभद्रा—अम्माजी सुनायें तो मुझसे कहीं ज़्यादा सुना सकती हैं, और मुझसे कहीं ज़्यादा दुनिया का ज्ञान उन्होंने पाया है।

ज़ोरावर—पूरे उम्र में तो मैं भी तुमसे ज़्यादा हूँ।

सुभद्रा—जो चीज़ तुम पुरुषों को नहीं मिली, क्या अब हमसे उधार लोगे? तुम दूसरे धात के बने हुए हो।

ज़ोरावर—अच्छा मैं जाता हूँ।

उठ करके ज़ोरावर माँ के पास पहुँचा। माँ ने उस समय गाना करवाने के लिए गाने-वालियों को बुला रक्खा था। माँ के पैर छूते हुए बोला—अम्मा तुम्हें ख़ुशख़बरी सुनाता हूँ। मैं कप्तान हो गया।

माँ, बेटे को सीने से लगाकर बोली —बेटा, जो काम तुमको सौंपा गया है, ईश्वर करे उसमें तुम सफल हो।

'सफल' शब्द सुनकर ज़ोरावर अपने मन में उसे दोहराने लगा। अपने दिल से पूछता है, क्या इस शब्द में, जो सुभद्रा ने कहा है, क्या माँ के दिल में भी वही बात है? यह 'सफल' शब्द... अगर मैं माँ से पूछने लगूँ कि यह 'सफल' लफ़्ज़ आपने क्यों कहा? क्या आपके मन में भी कुछ सफल-विफल होने का रहस्य है? ज़रूर इन्होंने भी इसमें कुछ माने-मतलब लगाये हैं। अगर पूछता हूँ तो वे भी मुझे उपदेश देने लगेंगी। मगर कुछ बोला नहीं। (माँ से) अम्मा मुझे कल ही तो जाना है।

कल का शब्द सुनकर माँ कुछ दहल-सी गईं। अभी कल ही तो बहू आई है घर में और कल सुबह यह चला जायगा! माँ पर जैसे एक बोझ-सा लद गया।

रात को जब सुभद्रा के पास पहुँचा, बोला—कल तो मुझे जाना है। एक बात का मुझे अफ़सोस है कि मैं कल ही चला जाऊँगा तुम्हें छोड़कर। यह बात मुझे तकलीफ़ देती है।

सुभद्रा —सिपाही और कप्तान के लिए यह सोचना बिलकुल ग़लत बात है; क्योंकि उसकी ड्यूटी जो है। जहाँ ओहदा मिलता है, ओहदे के सामने मौत सर पर रहती है। जिस ख़ुशी से आप ओहदे को गले से लगाते हैं, उसी तरह ख़ुशी से कप्तान और सिपाही को मौत को भी गले से लगाना चाहिये। कर्त्तव्य के सामने विमुख होना यह बहादुर का काम नहीं है। फिर कैसी माँ, कैसी बीवी और कैसी दुनिया! उसको तो जो काम मिला है, ड्यूटी—ड्यूटी को ठीक-ठीक अदा करना चाहिये। कहीं ज़्यादा बेहतर है कि भागा हुआ सिपाही मौत को गले से लगाये। उसके लिये तो दो ही रास्ते हैं, या तो विजय, या मौत।

ज़ोरावर का चेहरा उतर गया। अभी से ऐसी बात! बोला—क्या मैं मौत के मुँह में जा रहा हूँ? आज पचास बरस से सिपाही कप्तान मुफ़्त का खाते हैं सरकार के यहाँ। वहाँ न मौत है न कुछ। मौत का निशान भी नहीं है।

सुभद्रा—अगर लड़ाई नहीं है, झगड़ा नहीं है, मुफ़्त की तनख़्वाह ही खानी है, तब तो कोई बात नहीं है। अगर हो तो ड्यूटी आपकी यही कहती है, या तो विजय, या मौत। दूसरा रास्ता नहीं आपके लिये।

ज़ोरावर—वह तो वक़्त आने की बात है। आज तो इसका कोई ज़िक्र ही नहीं है और मान लो मैं लड़ाई में काम आऊँ?...

सुभद्रा—उस वक़्त मैं सर ऊँचा करके चलूँगी। हाँ, आप भाग आयेंगे उस वक़्त मैं आपकी सूरत देखना गवारा नहीं कर सकती।

रात इस गपशप में बीती।

तब तक सुबह हो जाती है। और जाने का समय।

दरवाज़े पर आदमी खड़े हैं और जाने की पूरी तैयारी है। ज़ोरावर बार-बार अन्दर जाता है...और बाहर निकलने का नाम भी नहीं लेता है।

सुभद्रा—समय हो गया, गाड़ी का समय हो गया।

ज़ोरावर—ये कमबख़्त तो जैसे यम के दूत की तरह सर पर सवार हो जाते हैं।

उसी समय वह जाने को जब खड़ा होता है सुभद्रा स्वयं नमस्कार देती है और आशीर्वाद देती है—जाओ और विजयी होकर आओ!

ज़ोरावर की आँखों में आँसू छलछला आये। बाहर माँ खड़ी, दही और चावल माथे से लगाते हुए बोली—जाओ बेटा, भगवान् तुम्हारा भला करे।

मुँह से ज़ोरावर के कोई आवाज़ नहीं निकली और चुपके से चला गया।

एक महीना रहने के बाद ज़ोरावर फिर आया। वहाँ कोशिश करके अपने भाई के लिए जगह दिलवाई। माँ से बोला—इसको भी जाने दो, बलवान को भी।

माँ—ले जाओ, बेटा, जाओ। बलवान तो तुम्हारे जाने के बाद ही से सोच रहा था। कई बार कहा था।

'मगर साहब मेरे काम से बड़े ख़ुश हैं नहीं तो यह जगह किसी को देते थोड़े ही जल्दी।'

यह बात सुनकर सुभद्रा मुस्कराई। वह मुस्कराहट जैसे एक व्यङ्ग की थी।

ज़ोरावर—तुम्हारी हँसने की ख़ास आदत है। शायद तुम मेरी बातों पर हँस रही हो।

सुभद्रा—मैं तुम्हारी बातों पर नहीं हँस रही, मैं तुम्हारी नादानी पर हँस रही हूँ।

'तुम मुझसे उम्र में कम हो, सुभद्रा। तुमको मेरी नादानी नहीं देखनी है।'

सुभद्रा—स्वारथ जो है आदमी में, वह आदमी को अन्धा बना देता है। मुझे उस अन्धेपन पर हँसी आ रही है।

ज़ोरावर—तुम तो जैसे हम लोगों पर उधार खाये बैठी हो।

सुभद्रा—स्वारथ छोड़कर कोई बात करे, तो उसको सब साफ़ दिखाई देता है। स्वारथ लेकर जो कोई कुछ बात करता है तो वह उसको अन्धा बना देता है। यह बात आपको मालूम नहीं है शायद।

उन्हीं के पास बलवान भी खड़ा था। भावज की ये बातें सुनकर बोला—भाभी, जो चीज़ें हम लोगों को मिली हैं वह आपको नहीं मिलीं, और जो चीज़ें आपको मिली हैं वह हमको नहीं मिलीं। आप लोगों का काम है भावुकता की सोचना और हिन्दी की चिन्दी निकालना। हम लोगों का बहादुरी का काम है। हम लोगों को लड़ना आता है और विजय करना आता है। न उस जगह हम कर्तव्य सोचने जाते हैं; न कर्म। जो ड्यूटी भैया को मिली है उसको आप देखें तो घबरा जायँ। आप लोगों को घर में बैठे-बैठे हिन्दी की चिन्दी निकालना आता है।

सुभद्रा—जब करना तो कर लेना, दुनिया देख लेगी। कहने से लाभ ही क्या है?

बलवान—हाँ, हाँ, देख लीजियेगा।

सुभद्रा चुप।

'जिस रोज़ विजय करके आयेंगे, उस रोज़ मैं गर्व से फूल जाऊँगी।'

दोनों भाई दूसरे रोज़ वापस गये।

इन लोगों को गये तीन महीने भी नहीं होने पाये थे कि बरमा में जापानियों के गोले गिरने लगे।

लड़ाई के पहले ही मोर्चे पर जानेवाली फ़ौज में पहले बलवान गया। लड़ाई के वक़्त सिपाही जो गिरते हैं उनमें जिनके ज़िन्दा रहने की कुछ आशा है, उन्हें तो उठा करके ले जाते हैं, जिनको समझते हैं कि ये महीने दो महीने लेंगे उनको घोड़ों से और टापों से रौंद देते हैं।

बलवानसिंह गिरता है। ठीक निशाना लगता है। ज़ोरावर दूर खड़ा है। दूर है, मगर जैसे ही उसे बलवान के गिरने का मालूम होता है, वैसे ही ज़ोरावर बलवान की लाश के लिए लपकता है और उठाए हुए भागता है, कन्धे पर लादकर। इधर देखता है न उधर देखता है। भागता है दरिया की तरफ़, जिसे कि पार करके उसे जाना है। रात का समय।

माझी पूछता है—तू कौन है ?

ज़ोरावर—मैं हूँ कप्तान।

—क्या तुम फ़ौज से भाग रहे हो ? क्या मौत के डर से भाग रहे हो ? रात को पार करने का सरकारी हुक्म नहीं है।

ज़ोरावर—मैं भाग नहीं रहा, माँझी। मेरी माँ की अमानत मेरा भाई था। वह लड़ाई में काम आया। उसी की लाश देने जा रहा हूँ।

माझी—सरकारी हुक्म लाओ। तुमको एकाएक करके यहाँ हुक्म नहीं है भागने का।

ज़ोरावर—मैं भाग नहीं रहा। मुझे सिर्फ़ इसकी लाश को पहुँचा आना है।

माझी—जो अमानत थी, वह थी। लाश थोड़े ही अमानत है। लाश को लेकर तुम्हारी माँ क्या करेगी ? ये जितने मरनेवाले मर रहे हैं, ये सभी तो अमानतें हैं। सभी तो माँ से पैदा होते हैं। बग़ैर माँ के कोई है ? माताओं ने तो दे दिया, बेच दिया—चाँदी के टुकड़ों पर और काग़ज़ के चिह्नों पर। आज तुम लाश लिये जा रहे। कल तुम्हारी यही हालत हुई तो तुम्हारी लाश क्या मैं पहुँचाने जाऊँगा ?

ज़ोरावर—कुछ नहीं, मैं तुमसे आज आरज़ू करता हूँ। मैं कल सुबह आ जाऊँगा। मैं कभी आरज़ू नहीं करता। सिर्फ़ माँ की इस अमानत के लिए आरज़ू कर रहा हूँ। क्या तुम मेरी इतनी आरज़ू नहीं सुनोगे ?

माझी—वादा करते हो, कल सुबह आ जाओगे ?

ज़ोरावर—हाँ, वादा करता हूँ मैं कल आ जाऊँगा।

—जाओ। चलो मैं किश्ती खोले देता हूँ।

माझी किश्ती खोलता है। पार उतारता है।

ज़ोरावर लाश लिए हुए ८ बजे दिन घर पहुँचा। माँ के सामने रख के—माँ यह तुम्हारी अमानत है।

माँ को उस समय रोना नहीं आया। बोली—एक दिन, बेटे, सबकी माओं की अमानतें वापिस आयेंगी। यह अमानत कहाँ। बलवान था, वीरगति पाई !

कहकर तो आया था ज़ोरावर, कि मैं सुबह आ जाऊँगा मगर घर आने पर उसकी इच्छा नहीं हुई जाने की।

सुभद्रा से बोला—क्या करूँ, मैं अपने वचन से झूठा बना। मुझे नरक मिले, स्वर्ग मैं नहीं चाहता। मैं तुम्हें छोड़कर नहीं जा सकता हूँ। मगर हाँ एक मजबूरी है। मैं घर पर रहने नहीं पाऊँगा। आज तुम्हारे वह शब्द मेरे कान में गूँज रहे हैं जो तुमने कहे थे, कि सिपाही और कप्तान के लिये—या तो विजय या मौत ! इस लड़ाई की हालत देखकर, विजय तो हमको क्या मिलेगी—शायद मौत ही मिले।

सुभद्रा—विजय ! विजय बड़ी मूल्यवान चीज़ है। अब यह देखना है कि उसका सेहरा किसके माथे पर बँधता है—मेरे या आपके माथे। यह आप क्यों सोचते हैं कि विजय का सेहरा आप ही लोगों के सर पर चढ़ेगा। अगर तुम मेरे प्रेम में पड़ करके छिपना चाहते हो—तो चलो, बहादुर की मौत तुम भी मरना, मैं भी मरूँ !

ये शब्द सुभद्रा के, माँ के भी कान में पड़े—'मैं तुम्हारे साथ चलूँ !'

माँ—अरे बेटा, यह कायरों का काम है। आज यहाँ तू सरकारी नौकर है तो यह काम कर रहा है। कल दुश्मन चढ़ आये तो क्या हमारी लोगों की इज्ज़त बाक़ी रह जायेगी ! आज तो एक सरकार है सर पर। उसके रुपये देने से तुम सब काम करने गये। अगर हमारी सरकार होती तो तुम सब के सब बग़ैर रुपये के, बग़ैर सहारे के, अपने-अपने घर से निकलते। और कोई समय आयेगा जब तुम अपने-अपने घर से निकलोगे। छिपने का नाम भी सुनके मुझे हँसी मालूम होती है।

ज़ोरावर—माँ, कैसी बात करती हो ! एक की लाश देखकर के भी तुम्हें अभी तस्कीन नहीं हुई। वहाँ, माँ, लाशों को तुम देखो तो पता चले। वहाँ लाशों से बच के निकलना मुश्किल है।

माँ—मैं.. ख़ैर, यह लड़ाई तो मैंने देख ली। मगर कहो तो मैं चलूँ। मैं और बहू दोनों चलें। ये शैतान जर्मनी और जापान अगर मुल्क में आ जायँगे, तुम समझते हो, तुम्हारी बहू-बेटियों की ख़ैरियत है ? उस वक़्त तुम्हें जो तकलीफ़ होगी अपनी हालत देखकर और हम लोगों की दुर्दशा—तो क्या उससे भी मौत मुश्किल है ! फिर मैं तुम्हें आज अपने अंचल के नीचे, गोदी के नीचे, छिपा लूँ ! वह माताओं के लाल नहीं हैं !

माँ की फटकार से और सुभद्रा की लताड़ से ज़ोरावर के बल आया।

सुभद्रा नहीं मानी, साथ में गई।

दोनों साथ-साथ चले जाते हैं, गुम-सुम, न कोई किसी से बोलता है न चालता है। जैसे अपरिचित हों कोई। जब दरिया के किनारे पहुँचे, माझी ने पूछा—कप्तान साहब, आप आ गये !

उस समय ज़ोरावर के दिल में महान् शक्ति आई। जैसे सोये से कोई जागा हो।

माझी—यह तुम्हारे साथ स्त्री कौन है ?

ज़ोरावर—यह मेरी स्त्री है।

—यह गुलाब का ऐसा फूल क्यों लाये ! यहाँ तो नर-संहार है।

सुभद्रा—नर-संहार है तो क्या यहाँ कोई घबरानेवाला है। फूल अगर फूला है तो कुम्हलाने ही के लिए तो। आदमी ने अगर जन्म लिया है तो मरने ही के लिए तो। कुत्तों की मौत से बहादुरों की तरह मरना फिर भी अच्छा है।

इतना कहते हुए सुभद्रा मुस्करा उठी। सुभद्रा की उस हँसी में व्यङ्ग की हँसी नहीं थी, बल्कि कर्तव्य की हँसी थी;—'शायद मैं भी कुछ करके जाऊँ।'

जब पार आये, कप्तान अपने ख़ेमे में गया। सुभद्रा साथ में। जब वह मैदान में गया, ज़ोरावर सिंह—सुभद्रा भी उसी के कपड़े पहनकर उसके पीछे साथ में गई। चार रोज़ तक, जब जाता था तब वह साथ में रहती थी।

पाँचवें रोज़ ज़ोरावर सिंह की बारी थी, सुभद्रा ने गिरते देखा। सुभद्रा ने झुककर लाश उठाई। अपने खेमे में ले जाकर वहाँ उसे चूमा। लाश थी निर्जीव। उस समय उसके मुँह से निकला—हाँ, तुम विजयी हो! तुमने वादा पूरा किया। अभी थोड़ी देर में मेरी भी तो यही हालत होगी।

उसी माझी के पास गई।

—माझी! यह मेरी लाश है। पता देती हूँ। माँजी को दे आओ। उनकी अमानत थी।

फिर अपने आप बोली—नहीं, नहीं, वह इसको लेकर क्या करेगी। उसने तो वीरगति पाई। यह तो लाश है। इसके है क्या! माँ से पैदा हुए थे। ज़मीन के लिए चढ़े। उनका काम तो पूरा हो गया। हाँ मुझे यह ख़ुशी है। मैं वीर पति की पत्नी हूँ। मुझे भी जो कुछ मिलना था, मिल गया। अब मेरी बारी है।

वह चुपके से उस लाश को चूमती है। उसी जगह वापिस आकर—वही बन्दूक़, वही कपड़े—सात दिन तक मुतवातिर लड़ती रही। सातवें दिन जापानियों ने उसे क़ैद किया। सुभद्रा को एक तरफ़ चलते हैं गिरफ़्तार करने, पकड़ने के लिए। दूसरी तरफ़ अपने हाथ से निशाना अपने सीने पर दिया, यह कहते हुए, हट बे नीच! तू मुझे छू नहीं सकता। यह कहते-कहते मरी—मेरे घर में कोई कह देगा, कि तुम्हारी बहू सुभद्रा ने वीरगति पाई।

———

फोटा के ऐन्गिल

[श्री जैनेन्द्रकुमार]

रेल में भीड़ का ठिकाना नहीं। तीसरे और ड्योढ़े का फ़र्क़ मिट गया है। क्या देखता हूँ कि रेल अगरचे यहीं से शुरू होती है और वक्त से पौन घण्टे पहले मैं आ गया हूँ, पर दाख़िला मुश्किल है। यूँ पूछिए तो जगह है, पर दिल में वह नहीं है।

कहते हैं समाज में क्लासें हैं। उन क्लासों की तफ़सील मैं नहीं जानता। पर स्टेशन पर दो फ़िर्के ज़रूर पाये जाते हैं। एक फ़िर्का अन्दर बैठों का, दूसरा बाहर खड़ों का। दोनों में निफ़ाक़ क़ायमी है और उनके मफ़ाद मुतज़ाद हैं।

मालूम होता है इन्सान ख़ुदा की तरफ़ से कमज़ोर बना है। या हो सकता है कि हमदर्दी की कमज़ोरी बायस न हो, बल्कि किसी हल्की-सी पहचान की मुरव्वत ही वजह हो। देखता क्या हूँ कि अन्दर बैठे एक साहब सिफ़ारिशन् कह रहे हैं—"भाई आने दो, आने दो।" उस सिफ़ारिश पर मुझे आने दिया गया और मैं बैठों की क्लास में तरक्क़ी पा गया।

यहाँ एक बात नोट के क़ाबिल है। वह यह कि सबकी अपनी-अपनी क़ीमत है। वे क़ीमतें घट-बढ़ और अलग हैं। अलग चेहरे पर अलग रोबोदाब आप पाइयेगा। इमतियाज़ की मदद के लिए फिर हमारे पास कपड़ा है; उसकी सिफ़त है, उसका काट है। किसी पर शऊर की धोती नहीं तो दूसरे साहब शेरवानी में हैं। एक का चेहरा, मूँछ, बाल, आँख, चश्मा, तर्ज़, ग़र्ज़ कि सब कुछ बताता है कि यह शख़्स साहब हैसियत हैं और इज्ज़तदार हैं। वह देखिये, बिला जाने आप उनकी अज़मत में उठ खड़े हुए हैं। एक दूसरे हैं कि यूँ उन पर टिकट हो, और ड्योढ़े का भी हो, पर चेकर की निगाह पड़ते ही वहाँ रुक रहती है। आपकी भी तबियत में होता है कि हज़रत क़रीब से दूर रहें तो अच्छा। यानी आदमी-आदमी में दर्जे हैं। सबकी एक इन्सानी हैसियत है, यह बात आँख रखनेवाला तो कभी न कह सकेगा। एक हेच है तो दूसरा दबङ्ग। कोई अदना कोई आला। कोई ऊँच, कोई नीच। और यह फ़र्क़ बनावटी या कपड़ई नहीं है, गहरा और हमारी नसों तक पैवस्त है। बेशक इम्दाद के लिए बैरूनी शै भी हैं, पर इसका क्या कीजिए कि एक आदमी को ऊपर बेंच पर जगह देते हैं लेकिन वह नीचे ही बैठने में राज़ी है। और दूसरे साहब आते ही लाचार करते हैं कि ख़्वाह आपको बैठे से खड़ा होना पड़े लेकिन उन्हें जगह मिलनी चाहिए।

बहरहाल कुछ वजह होगी कि बेंच पर फैले हुए एक एक साहब अपने को समेटकर सरकते हुए बोले—"लीजिए, आइए तशरीफ़ रखिए।"

मैंने उनकी मेहरबानी और जगह ली और एवज़न् शुक्रिया अदा किया। बैठकर फिर इधर-उधर देखना शुरू किया। पर निगाह जिस नुक़्ते से शुरू हुई आख़ीर में वहीं आ टिकी। देखता हूँ कि एक लम्बे डील-डौल का पठान बेंच के किनारे चार अंगुल जगह पर इस तरह बैठा है मानों माफ़ी चाहता है। मानिए, वह जगह चार से पाँच या छः अंगुल नहीं है। पर उतनी-सी जगह अपने ताबे रखने की गोया उसे ताब नहीं है। उतरकर वह नीचे फ़र्श पर आ बैठता है।

मैं कहता हूँ—"यह क्या ख़ान, ऊपर बैठो।"

लेकिन वह ऊपर नहीं बैठ सकता। नीचे तक बैठा है यही ग़नीमत है। मैं उसे ताज्जुब से देख रहा हूँ। अधेड़ उम्र है, लबादा पहने है। चेहरा—उसी का तो मुझे ताज्जुब है। वह बिल्कुल जार्ज पंजुम का है। क़तई वही कट, वही दाढ़ी। मैं बार-बार उसको देखता हूँ। आँखों के नीचे उभरे हुए पपोटे तक वही हैं। मुझे एहसास हो रहा कि मैं फ़ोटोग्राफ़र हूँ और मुख़ालिफ़ ऐन्गिलों से उसे देख रहा हूँ।

ज़रूर उसके पास टिकिट नहीं है। आँखें उसकी कोरी और नीली हैं। वह किसी क़दर हैरत में है। तन्दुरुस्त है, हट्टा-कट्टा है। लेकिन चेहरा ख़ाली और बेहिस है। गोया ठिकाना नहीं कि कब हाथ फैलाकर हमसे एक आध पैसा माँग उठे।

मैंने कहा—"ख़ान, ऊपर बैठो।"

शायद वह उर्दू नहीं बोल सकता। शायद वह कुछ भी नहीं बोल सकता। क्या वह मेरी बात समझ गया? शायद नहीं, या शायद हाँ। मैंने देखा कि लोगों की उस पर निगाह है। उसके चेहरे से ज़ाहिर हो रहा है कि नीचे ही उसे आराम है। जगह मिलने पर भी ऊपर बैठना उसे पसन्द न होगा।

ओः, अफ़सोस कि इस वक्त मेरे साथ कैमरा क्यों नहीं हुआ। शर्तिया कह सकता हूँ कि मेरी तस्वीरों को कोई न जान सकता कि जार्ज पञ्जुम की नहीं है। कहीं यह लबादा बादशाह सलामत पहन लें, उमीद और पैसे से वह भी महरूम हों, और कोई उन्हें जाननेवाला भी न मिले, तो क्या रेल के इस डिब्बे में आकर उनकी शख़्सियत मौजूदा से कुछ अलग सूरत पेश करे? यक़ीनन कुछ कहा नहीं जा सकता। यह तसव्वर ही लग़ो है। फ़क़ीर और शाह की हैसियतें जुदा हैं। समाजी और ज़ाहिरा हैसियतें नहीं, बल्कि अन्दरूनी तौफ़ीक़ और अहमीयत जुदागाना हैं। उनकी रूह दो हैं, वक़ार दो हैं। फ़क़ीर हाथ फैलाता है, शाह हुकूमत करता है। और यह सिर्फ़ क़िस्मत का इत्तफ़ाक़ नहीं है। हक़ीक़ी तरबियत और शख़्सी रुतबे का मामला है। यह रूहानी शख़्सियत का मामला है।

जी नहीं, मेरा अन्दाज़ ग़लत निकला। जिस्म का वह क़वी है, पर मरीज़ मालूम होता है। खाँसता है, तो देर तक खाँसता रहता है। उसकी खाँसी अलग है। खाँसी की वह क़िस्म ही अलग है। उस क़िस्म की खाँसी की आवाज़ गोया दूसरे के क़ल्ब को पकड़ लेती है। यह क्या एक छींक उसे आई और नाक से काफ़ी-सी ग़लाज़त बाहर होकर मूँछ और दाढ़ी में हिलगकर लटक गई। उसे इस हादसे की कोई ख़ास परवा न थी। अपनी कोरी निगाह फैलाए वह कुछ देर उसी तरह बैठा रहा। और हमारे देखने को देखता रहा। आख़िर आस्तीन से उसने नाक को पोंछ लिया जिसमें उसका कुछ हिस्सा फैलकर मूँछों पर मानिंद रौग़न लगा रह गया।

मुझे मालूम हुआ कि लोग मेरी तरफ़ देख रहे हैं। गोया कहना चाहते हैं कि जनाब इसी शख़्स को ऊपर आ बैठने की दावत दे रहे थे। मैं भी किसी क़दर शर्मिन्दा हूँ। सचमुच इस जिंस में इन्सानियत मानना ग़लती है।

फिर मुझे ध्यान हुआ कि अगर जो कहीं मेरे पास इस वक्त कैमरा होता! बादशाहत में जार्ज पञ्जुम को सबने देखा; मुफ़लिसी में वही चेहरा क्या होगा यह क़यास से बाहर की बात है। पर वहाँ चीज़ सामने थी। मुझे उस वक्त कई एन्गिल सूझे जिससे इस चेहरे की फोटो उतारना मैं पसन्द करता।

देखता हूँ कि उसे फिर खाँसी उठ आई है। ऊँह, मेरे फोटो का ऐन्गिल बिगड़ गया। वह सिर झुकाकर कुछ देर खाँसता रह गया। बाद काफ़ी तकलीफ़ के वह अन्दर से कफ खींचकर लाया और वहीं थूक दिया। कफ है, पर ज़र्दी के साथ उसमें सुर्ख़ी भी है। ज़रूर वह ख़ून है।

लोग उसे डपट रहे हैं। वह कोरी निगाहों से उन्हें देख रहा है, जैसे कुछ नहीं समझता।

डिब्बे में सरगोशियाँ शुरू हो गईं। ज़रूर उसको तपेदिक़ है और उसे अगले स्टेशन पर उतार देना चाहिए। कुछ परेशानी में नहीं पड़ना चाहते, तो कुछ दूसरे बज़िद हैं। ख़ान हम सबको देख रहा है, पर किसी ख़ास को नहीं देख रहा है। उसकी निगाह फैली, फटी और कोरी है। गोया आँख के पीछे जो अक्स पड़ता है उसका जायज़ा लेने कोई दिमाग़ वहाँ तैनात नहीं है। आँखें देखती हैं, पर आँखोंवाला नहीं जानता कि वह क्या देखता है। यकायक उसकी चेहरे की नसें खिंच आईं। हाथ-पैर तनने लगे। चेहरा मुड़-सिकुड़कर बदशकल हो गया। अंजर-पंजर जैसे उसके टूटना चाहते हैं। अँगुलियाँ मुड़कर अकड़ गईं। पैरों की ठोंठ बँध आई। मुँह भिंच गया। और देखते-देखते ख़ान का वह जिस्म एक तरफ़ को लुढ़क गया।

अब उस जिस्म में हरकत नहीं है। मुँह से लार बह रही है और वह किसी क़दर खुला हुआ है। आँख भी आधी खुली हैं, पर पुतलियाँ थिर, साकित हैं।

लोगों ने कहा—"लो ग़रीब मर गया।"

पर वह मरा न था। क्योंकि हमारी तनक़ीद पूरी भी न हो पाई कि उसके पाँव और हाथ अकड़ते हुए इधर-उधर फैलने और तनने लगे। मिरगी या कोई इसी तरह का उसे दौरा था।

लोग परेशान थे कि ट्रेन मेल है, इससे स्टेशन देर में आयेगा। मैं इकटक उस चेहरे को देख रहा था। मैं अपना काम जानता हूँ। अब भी वह चेहरा एकदम पंजुम जार्ज का ही था।

कुछ देर में दौरा दूर हो गया। और वह उठकर बैठ गया। वही क़वी, क़द्दावर, ख़ूबसूरत मैला जिस्म और वही कोरी, फटी और भटकी निगाह !

बम्बई में अखिल भारतीय सांस्कृतिक सम्मेलन

[रामविलास शर्मा]

जुलाई के "हंस" में "भारतीय जन नाट्यशाला" नाम से मेरा एक लेख प्रकाशित हुआ है, जो कुछ-कुछ जेम्स ज्वायस के "युलीसिस" के ढङ्ग का हो गया है। उसकी व्याख्या कर देना आवश्यक है। पिछली मई में प्रगतिशील लेखक कान्फ्रेन्स के अवसर पर बम्बई में इण्डियन पीपल्स थियेटर की ओर से कुछ नाटक खेले गये थे। मेरे उस लेख में इन्हीं नाटकों का ज़िक्र है। इसी समय कम्यूनिस्ट पार्टी की कांग्रेस भी हो रही थी और पार्टी की ओर से एक अखिल भारतीय सांस्कृतिक सम्मेलन किया गया था। इसमें बङ्गाल, पञ्जाब, गुजरात, आन्ध्र, केरल आदि प्रान्तों के अभिनेताओं तथा गायकों ने भाग लिया था। अधिकांश अभिनेता और गायक कम्यूनिस्ट ही थे। अभिनय और गीतों का विषय देश-रक्षा तथा देशवासियों को फासिज़्म के प्रति सचेत करना था। सांस्कृतिक सम्मेलन और इण्डियन पीपल्स थियेटर का लक्ष्य एक ही था परन्तु दोनों के प्रदर्शनों में आकाश-पाताल का अन्तर था और वह इसलिए कि जो लगन सांस्कृतिक सम्मेलन के अभिनेताओं और गायकों में दिखाई देती थी, वह या उसकी छाया भी मुझे इण्डियन पीपल्स थियेटर के नाटकों में नहीं मिली। अस्तु; पहले सांस्कृतिक सम्मेलनवाला लेख छपता तो जुलाईवाला लेख स्पष्ट हो जाता। परन्तु भ्रमवश वह पहले छप गया और यह लेख बाद में जा रहा है। लेख मैंने बम्बई में ही तैयार कर लिया था, केवल कुछ संशोधन आदि की आवश्यकता के कारण पड़ा रह गया।

यह सम्मेलन बम्बई के दामोदर हाल में हुआ था। भीड़ इतनी थी कि हाल में समा न सकती थी। जब मैं पहुँचा तब कार्य आरम्भ हो चुका था और मैं एक कोने में जाकर खड़ा हो गया। काग़ज़ के टुकड़ों पर मैं अपने नोट लिखता जाता था और उन्हीं को सामने रखकर यह लेख तैयार किया गया है। सम्मेलन में आन्ध्र से आये हुए दल का प्रदर्शन सर्वश्रेष्ठ माना गया। इसके नेता कृष्णा ज़िला किसान-सभा के नेता श्री नागभूषणम् थे। अभिनय और गीतों में स्त्रियों ने भी भाग लिया था। आन्ध्र से श्रीमती सूर्यवती ने गीतों और अभिनय में प्रमुख भाग लिया। वह कृष्णा ज़िला महिलासंघम् की सभानेत्री थीं। आन्ध्र के प्रदर्शन में किसानपन सबसे ज़्यादा था और इसका एक कारण यह था कि उस दल के दसों सदस्य किसान-परिवारों के थे। आन्ध्र और मलबार में कम्यूनिस्ट पार्टी एकदम किसानों की पार्टी बन गई है और उसने किसानों को जो सिखाया है और उनसे जो सीखा है, उसकी यू० पी० में हम कल्पना भी नहीं कर सकते। कम्यूनिस्टों ने किसानों से उनके लोक-गीत, अभिनय और नृत्य ले लिये हैं और उनके द्वारा एक नवीन राजनीतिक चेतना किसानों तक पहुँचाई है। यह प्रदर्शन जनता और कम्यूनिस्ट पार्टी के सजीव सम्पर्क का ही प्रदर्शन था।

ये किसान अभिनेता दक्षिण के किसानों की पोशाक के अनुसार घुटनों तक धोती पहने थे और स्त्रियाँ खेतों में काम करनेवाली मज़दूरिनों की तरह लाँग बाँधे हुए थीं। नागभूषणम् केवल घुटनों तक धोती और मुरैठा में थे। गोल बाँधकर घुँघरू और करताल के साथ इन लोगों ने एक ऐसा समा बाँध दिया कि दर्शक अपने आपको आर्य-अनार्य संस्कृतियों से परे भारत की अति प्राचीन किसान-संस्कृति के बीच पाता था। आक्रमण, अकाल और महामारी की उपेक्षा करके ये

नृत्य और गीत भारतीय किसान की तरह, हमारे अजर-अमर राजनीतिक जीवन की तरह, अब भी जीवित हैं।

बङ्गाल से आये हुए दल के नेता श्री विनय राय थे। एक साँवला-सा छरहरे बदन का युवक—इसने बङ्गाल में जन-गीतों का एक सजीव आन्दोलन खड़ा कर दिया है। हज़ारों की संख्या में किसान इनके गीत सुनने के लिए एकत्र होते हैं। नागभूषणम् की तरह वह स्वयं भी गीत लिखते हैं। इनकी भाषा में किसानों की ग्राम्य-बोलियों के भी शब्द रहते हैं जो साधु-बँगला में प्रयुक्त नहीं होते। इन्हीं के लिखे हुए गुरिल्ला गीत को जनता ने दुबारा गवाया। आठ-दस किसान यह गीत गाते थे और भाव-भङ्गिमा से दिखाते थे कि जो कुछ उन्हें मिलेगा, उसी से वे जापानी शत्रुओं का विरोध करेंगे।

महाराष्ट्र के लोकगीतों की परम्परा को बम्बई के मज़दूर कवि अण्णा साठे ने 'स्टालिनग्राड का पोवाड़ा' लिखकर और आगे बढ़ाया था। ऐतिहासिक पोवाड़ों के ढङ्ग पर यह पोवाड़ा भी रचा गया था। पोवाड़ा गानेवाला ढफ़ लेकर भाव-भङ्गिमा के साथ गाता है और उसके साथी समय पर टेक दुहराते हैं। कुछ समय बाद अण्णा साठे ने आकर स्वयं भी गाने में भाग लिया।

गुजराती लोकयुद्ध के सम्पादक भोगीलाल गांधी और सुभद्रा गांधी ने जापान-विरोधी गर्बा नृत्य का निर्देश किया था। गर्बा नृत्य में माधुर्य अधिक था, जापान-विरोधी गीतों में—जैसे बङ्गाली गीतों में—जो ओज की मात्रा आवश्यक है, उसका अभाव था। केरल के एक नर्तक ने अभिनय और नृत्य द्वारा पहली कम्यूनिस्ट कांग्रेस का अभिनन्दन किया। यह नृत्य एकदम ठेठ था और उत्तर भारत के किसानों को शायद विचित्र भी लगे। नर्तक का चेहरा हरे रङ्ग से रँगा हुआ था। माथे पर मुकुट और बाहों पर अङ्गरक्षक थे। घुटनों तक घाँघरा जैसी पोशाक थी और पैरों में घुँघरू। इस नृत्य में गीत की प्रधानता थी। नृत्य कम था; एक ही प्रकार की मुद्रा का बार-बार प्रदर्शन अधिक था। विलम्बित गति के साथ मृदङ्ग और मँजीरे की धुन ने उसका मार्दव ही अधिक व्यक्त किया। गर्बा या केरल के इस नृत्य से मालूम होता था कि प्राचीन अभिनय या गायन-प्रणालियों को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उनमें थोड़ा-सा परिवर्तन करना आवश्यक है। बङ्गाल के दल ने श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर का "माँग मेंगे दाओ" गीत गाया जो अपनी ओज-पूर्ण धुन के कारण बहुत पसन्द किया गया।

"कौमिक रिलीफ़" के लिए आंध्रदल ने संन्यासियों का अभिनय किया। करताल और एकतारा के साथ संन्यासियों ने रूस और चीन की यात्रा का वर्णन किया तथा अपनी विजय की भविष्य-वाणी के साथ दर्शकों को आशीर्वाद दिया। तेलगू में एक गीत इस विषय पर भी गाया गया कि नाज के लिए भीड़ में एक लड़की कैसे कुचल डाली गई।

एक आदमी ढाल-तलवार लेकर आगे-पीछे बढ़ता हुआ गाता था और उसके दो साथी अगल-बगल खड़े हुए उसका साथ देते थे। फगुई में जैसे किसान "ओ-ओ" के लम्बे अलाप के साथ कड़ी उठाते हैं, वैसे ही यहाँ पर गायक और उसके साथी अपनी वार्ता समाप्त होने पर "ओ-ओ" की धुन उठाते थे जो एक विचित्र करुण प्रभाव उत्पन्न करती थी—जैसे किसी वन्य पशु या मनुष्य का रोदन, जिसे अभी मानवीय संस्कृति की हवा न लगी हो, करुण लगता है। गीत और नृत्य के साथ गायक की वार्ता थी। गायक जो कुछ कहता था, उसके साथी उसका समर्थन करते थे।

बाल-सङ्घ के नृत्य में चाचर के ढङ्ग पर लकड़ी बजाते हुए लड़के-लड़कियों ने गीत गाया और झुककर कभी खड़े होकर कभी लकड़ियाँ रखकर, कभी ताली बजाकर और कभी मुट्ठी बाँधकर भाव-प्रदर्शन किया। बीच-बीच में इनक़लाब ज़िन्दाबाद, पी० सी० जोशी ज़िन्दाबाद, कम्यूनिस्ट पार्टी ज़िन्दाबाद आदि के नारे ही समझ में आ पाते थे। बङ्गाल के दल के उस गीत पर ख़ूब करतलध्वनि हुई जिसमें किसान से हँसिया पर सान चढ़ाने को कहा गया था क्योंकि घर में विदेशी सरकार है और बाहर जापान है। महाराष्ट्र के कार्यक्रम में सबसे प्रभावपूर्ण डा० अधिकारी का गीत था जिसे सैनिक ढङ्ग पर घूँसे ऊँचे करके कुछ नौजवानों ने बड़े जोश के साथ गाया था। आन्ध्र के दल ने गड़रियों की नक़ल भी सफलतापूर्वक की। मुख्य अभिनेता का हुर्र-हुर्र करते हुए आना—भेड़ों के न होने पर भी अभिनय की पूर्णता दर्शनीय थी। उदयशङ्कर के मशीन और मज़दूरोंवाले नाच से यह कहीं अधिक प्रभावपूर्ण था। आन्ध्र के वैदजी ने धनुष-बाण लेकर पैर में घुँघुरू बजाते हुए बहुत कुछ कहा लेकिन समझ में कुछ न आने से उसका आधा ही आनन्द आया। पञ्जाब के गीत आशा के अनुसार सफल न रहे। अभिनय कम होने से गीत कुछ फ्लैट से थे और गानेवाली लड़कियाँ ज़रा झेंपकर गाती थीं। जन-युद्ध पर बँगला की पयार छन्द में लिखी कविता का भी यही हाल था। उसमें वह चुस्ती न थी जो बँगला के दूसरे गीतों में थी। मक़दूम ने अपना गीत "यह जङ्ग है जङ्गे आज़ादी" प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन में गाया था, लेकिन वहाँ बहुत जमा न था। यहाँ पर आठ-दस आदमियों ने उसे मिलकर गाया तो उसने जादू का असर किया। "वह आज़ादी आज़ादी क्या मज़दूर का जिसमें राज न हो" इस पंक्ति पर तालियों की आवाज़ से हाल गूँज उठा। लाल फ़ौज पर मराठी गीत स्टालिनग्राड के पोवाड़े की भाँति ही पसन्द किया गया। कय्यूर के शहीदों पर मक़दूम के गीत में शब्द-योजना के साथ गाने के ढङ्ग में भी दर्द था। कय्यूर के शहीदों पर सबसे सुन्दर गीत बङ्गाल का था और उस कान्फ़्रेन्स का वही सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन था। विनय राय और उनके साथी स्टेज पर गा रहे थे और पाँच आदमी हाल के पीछे खड़े होकर उनका साथ दे रहे थे। क्रमशः ये लोग स्टेज की ओर बढ़ते गये और अन्त में स्टेज के आगे आकर खड़े हो गये। भाषा न समझने पर भी गीत की धुन पर और ओजपूर्ण पुनरुक्तियों पर दर्शकों की करतलध्वनि बन्द न होती थी। गाने में कुछ ऐसी उत्कटता, कुछ ऐसी आन-बान थी जो शहीदों पर लिखे हुए गीतों में ही मिल सकती है।

नृत्य-प्रदर्शन में सबसे ओजपूर्ण मलाबार के नैयर योद्धाओं के ढङ्ग का किसानों का नाच था। पुराने अशिक्षित समाज में जब लोग युद्ध या शिकार के लिए जाते होंगे तब उनका उल्लास इसी तरह व्यक्त होता होगा। उछलकर, आगे-पीछे हट-बढ़कर, हाथों से तलवार चलाने का अभिनय करके अभिनेताओं ने एक सामूहिक व्यायाम का प्रदर्शन-सा किया था। कम्यूनिस्ट पार्टी के हेडक्वार्टर में सभी के लिए यह नृत्य अनिवार्य हो जाना चाहिए क्योंकि काम ज़्यादा करना और शरीर पर ध्यान कम देना—यह एक सिद्धान्त-सा है जिसे अधिकांश लोग जाने या बिना जाने बरतते हैं। बम्बई के भंगियों की स्त्रियों और बच्चों ने स्टेज पर आकर भगतसिंह पर एक ग़ज़ल गाई। रङ्ग-बिरङ्गे कपड़े पहने इन स्त्री-बच्चों ने एक विचित्र दृश्य उपस्थित कर दिया। सभ्य समाज में मानों पहली बार अछूत वर्ग का विद्रोही स्वर ऊँचा हुआ था। श्री गोपालकृष्णैया ने एक भङ्गी का स्वाँग बनाकर डफले के साथ पहली कम्यूनिस्ट पार्टी की डुग्गी पीटी।

इसमें सन्देह नहीं कि पुराने अभिनय और नृत्य-प्रणालियों को अपनाते हुए उनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन करना आवश्यक होगा जिससे उनमें ओज की मात्रा अधिक हो सके और वे आज की सैनिक भावनाओं को व्यक्त करने में सफल हो सकें। लेकिन इस प्रदर्शन में सबसे अधिक अनुकरणीय और सफल वे गीत थे जिन्हें बहुत-से लोगों ने मिलकर गाया था। मक़दूम का गीत, कय्यूर के शहीदों पर बँगला गीत और मज़दूरों के सङ्गठन पर मराठी में डा० अधिकारी का गीत—इन गीतों को गाकर गायकों ने यह सिद्ध कर दिया कि जनगीत प्रचार का कितना अच्छा साधन हैं और भाषण वक्तृता से कितना ज़्यादा असर डालते हैं। यहाँ पर बम्बई-दल के विरोध-प्रदर्शन में उस गीत का ज़िक्र करना ठीक होगा जिसे दूसरे दिन बहुत-से अभिनेताओं ने मिलकर गाया था। सारा स्टेज "मज़दूरों" से भरा हुआ था। स्टेज के दाहिनी ओर एक लोहार हथौड़े से लोहा पीट रहा था और उसका घन ताल के साथ ही लोहे पर पड़ता था। बीच में दो आदमी आरा चला रहे थे और पीछे गायकों का नेता एक छोटी मेज़ के पास खड़ा हुआ रेती से कुछ रेत रहा था। बाक़ी अभिनेता बैठे हुए थे। गीत मराठी में था। तरह-तरह के मज़दूरों का अपना काम करते हुए मज़दूरों की एकता का गीत गाना—इसमें उनकी एकता कल्पना-मात्र न रहकर दर्शकों के सामने साकार बनकर आई थी। गुजरात के अभिनय और पञ्जाब के नृत्य कुछ कमज़ोर थे—शायद इसका कारण यह था कि उन्हें तैयारी के लिए काफ़ी समय न मिला था या उचित निर्देशकों का अभाव था। आन्ध्र, केरल आदि के अभिनय और गीतों में ठेठपन ख़ूब था; कोई भी दर्शक उन्हें देखकर कल्पना कर सकता था कि दक्षिण भारत के किसानों में उन्हें कितनी सफलता मिलेगी। बङ्गाल के गीतों के गाने का ढङ्ग—दो-एक अपवाद छोड़कर अनुकरणीय था। उसमें वह नाटकीय तत्त्व और उचित अभिनय था जिससे जनगीत सफल हो सकते हैं।

अभिनय आदि के अन्त में पी० सी० जोशी ने एक छोटा-सा भाषण दिया। भाषण अँगरेज़ी में था। उन्होंने कहा कि यह जनता का सांस्कृतिक जागरण था जिसकी कल्पना भी कुछ दिन पहले लोग न कर सकते थे। देश के राजनीतिक दलों से गालियाँ खाकर कम्यूनिस्ट जनता के पास गये। उन्हें अपने ऊपर और अपनी नीति पर विश्वास था। जनता की पुरानी संस्कृति का आधार लेकर उन्होंने जनता के सामने अपनी नीति रखी। वहाँ पर आये हुए स्त्री-बच्चे स्टेज की शोभा बढ़ाने के लिए न थे। उन जैसे सैकड़ों और थे परन्तु अभी सभी बहनें, सभी माताएँ नहीं जागीं। उन्हें जगाना है।

जोशी ने केरल और आन्ध्र की किसान स्त्रियों से बम्बई के मध्य वर्ग की लड़कियों की तुलना करते हुए कहा—बम्बई की लड़कियाँ "स्मार्ट" ज़रूर हैं लेकिन उनमें वैसा आत्मविश्वास नहीं है जैसा किसान स्त्रियों में है।

कम्यूनिस्ट पार्टी की बढ़ती हुई शक्ति के बारे में उन्होंने कहा—हमारी शक्ति इस तरह बढ़ी है जैसे किसी पार्टी की शक्ति इस देश में नहीं बढ़ी। लीग कहती थी, ये कांग्रेस के एजेन्ट हैं। कांग्रेस कहती थी, ये ब्रिटेन के एजेन्ट हैं। अब लीग कहती है, अगर कांग्रेस भी इन्हीं की तरह समझदारी से काम ले तो एका हो जाय। कांग्रेस कहती है, अगर लीग गान्धीजी के छुटकारे के लिए आन्दोलन करे तो एका हो सकता है। आज इस एके को छोड़कर दूसरी राह नहीं है। जब गान्धीजी ने व्रत किया तब लोगों को विश्वास हुआ कि वह तोड़-फोड़ की नीति के विरुद्ध हैं, जो बात हम महीनों से कहते चले आ रहे थे। हमें यह बताने की ज़रूरत नहीं है कि ब्रिटिश ऐसे हैं, वैसे

हैं और वे यहाँ से सीधी तरह न जायेंगे। ब्रिटेन के अधिकार में होने से अपना देश पराया नहीं हो जाता। लोगों में ऐसी निराशा फैल गई है मानों यह देश उनका हो ही नहीं। एकता जनता में आत्मविश्वास पैदा कर सकती है। कम्यूनिस्टों के विरुद्ध क्या नहीं कहा गया! उन्हें छुरा, लाठी और बम का सामना करना पड़ा। लेकिन उन्हें अपनी नीति में पूर्ण विश्वास था। उसी के फल-स्वरूप आज के ये गीत और प्रदर्शन हमने देखे और सुने।

चारी, हीरेन मुखर्जी और हाजरा बेगम सबसे सुन्दर प्रदर्शन का निर्णय करने के लिए जज बने थे। उन्होंने एकमत होकर सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए लाल झण्डा आन्ध्र प्रान्त को दिया। बङ्गाल का नम्बर दूसरा था और उसके बाद केरल का। बम्बई के दल का विशेष उल्लेख किया गया। इण्टरनेशनल गीत के साथ यह प्रदर्शन समाप्त हुआ।

———

दधीचि की अस्थियाँ

[प्रमोद लाहिड़ी]

गाड़ी चलने पर मैंने डब्बे के भीतर चारों तरफ़ देखा कि कहीं बैठने के लिए जगह मिल सकती है या नहीं। डब्बे में एक कोने पर जो नज़र पड़ी तो बड़ा ताज्जुब हुआ। सबके सर के ऊपर से अच्छी तरह दिखलाई नहीं पड़ता था लेकिन फिर भी अन्दाज़ा लगा कि थोड़ी जगह ख़ाली है। मैं भीड़ में खड़ा था और वहाँ कोई सो रहा था। शायद बहुत बीमार है। जो भी हो, सबसे झूठ-सच बोल बुआ को लेकर किसी तरह कोने तक पहुँच गया।

खिड़की के पासवाली बेंच पर एक सज्जन पाँच वर्ष के एक लड़के के साथ बैठे हुए हैं। लड़का खिड़की के शीशे में से बाहर की ओर देख रहा है। दोनों का चेहरा बहुत ही रूखा और शरीर का कपड़ा अच्छा होने पर भी बहुत मैला है। ख़ास तौर से यह देखा कि दोनों के पैर सूजे हुए हैं। वे सज्जन माथे पर हाथ रखे सर नीचा किये बैठे हैं। सामने की बेंच पर एक स्त्री अपने पैर सिकोड़े लेटी है, उसके बाल बेंच के नीचे लटक रहे हैं और एक हाथ का आधा हिस्सा बेंच के बाहर है। चेहरे से साफ़ ज़ाहिर था कि बहुत दिनों से नहाना-खाना नहीं हुआ है। दोनों आँखें बिलकुल धँस गई हैं। पाँव का पञ्जा सूजा हुआ है और जगह-जगह क्षत-विक्षत है। दो-तीन साल की एक लड़की पैर के पास बैठी हुई है। पास के एक आदमी से पूछने पर मालूम हुआ कि ये लोग बर्मा से आ रहे हैं। मेरा कुतूहल और भी बढ़ा। मन में सोचा इन प्रत्यक्ष-दर्शियों के मुँह से बहुत कुछ मालूम हो सकेगा। बुआ उस स्त्री की ओर देख, बिना कुछ कहे, उसका सिर अपनी गोद में लेकर बैठ गई। लेकिन उस स्त्री ने बुआ की तरफ़ बिलकुल नहीं देखा जिससे मुझे अचरज हुआ। कुछ देर बाद बुआ कुछ चिन्तित स्वर में बोलीं—"मंटू, देख तो बेटा कहीं पानी मिल सकता है। देखती हूँ इसे फ़िट आ गया है। दोनों जबड़े लग गये हैं।" इस पर उन सज्जन का चिन्तित होना तो दूर, उन्होंने सिर उठाकर देखा तक नहीं। पहिले मैंने सोचा कि सो रहे होंगे लेकिन आँख की ओर देखने से मालूम हुआ कि वे जाग रहे हैं। चिन्ता को इस तरह उनके पास न फटकते देखकर उन्हें पागल कहने से भी काम न चलता था। उनके शरीर पर हाथ रखकर मैंने ही चिन्तित स्वर में पूछा—"महाशय, आपके पास पानी तो न होगा। आपकी पत्नी को शायद फ़िट आ गया है।"

कुछ देर बाद उन महाशय ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी और ज़ोर से बालों को पकड़कर सिर हिलाते हुए, बिना किसी की ओर देखे भग्न स्वर में कहा—"ओफ़! यह क्या किया?" फिर उदास नेत्रों से मेरी ओर देखकर उन्होंने जब बुआ की ओर देखा तो बुआ ने पूछा—"बाबा, क्या आपके पास पानी या पंखा है? बच्चे को बहुत तकलीफ़ है।"

वे दुखी स्वर में बोले—"नहीं माँ, पानी तो नहीं है। लेकिन उसके सिर पर पानी देने की ज़रूरत नहीं, उसे योंही छोड़ दीजिए। जब तक वह इस हालत में रहे, अच्छा ही है, कम से कम शान्ति तो उसे मिलेगी। उसे जगाइए मत! और कितना पानी दीजिएगा, कितना दे ही सकती हैं आप? वह उसके पास ही बगल में पङ्खा है, उसी से थोड़ी-थोड़ी हवा कीजिए।" इतना कहकर उन महाशय ने फिर माथे पर हाथ रखकर, सिर हिलाते हुए कहा—हाय! यह क्या किया!

मैंने मन में सोचा कि इन महाशय का कोई न कोई ज़रूर रंगून में जापानी बम से मरा होगा। लेकिन इस 'यह क्या किया' का भेद बिलकुल समझ में नहीं आया। बुआ स्त्री के पैर के नीचे से पङ्खा लेकर हवा करने लगीं। उस स्त्री की ओर से अब मैं निश्चिन्त हो गया था क्योंकि बुआ ने उसका भार अपने ऊपर ले लिया था। पर मेरे मन में खलबली मची थी कि इन महाशय से बर्मा के बारे में जानकारी हासिल करने के लिए बातचीत किस तरह शुरू की जाय।

यदि कोई मर गया है तो उन्हें सान्त्वना देना तो वृथा होगा लेकिन समवेदना को लेकर ही बातचीत शुरू हो सकती है, यह सोचकर पूछा—आपकी स्त्री बहुत बीमार तो नहीं है?

वे महाशय सर हिलाते हुए बोले—नहीं......हाँ बीमार तो है ही और जब सुख का ही अन्त हो गया तो क्या बीमारी और क्या आराम। और क्या कहूँ। इतना कहकर उन्होंने फिर एक सर्द आह के साथ कहा—हाय! क्या किया।

उधर उन महिला ने बुआ के पङ्खे की हवा से कुछ देर बाद ज़रा स्वस्थ होकर आँखें खोलीं और रोती हुई बोलीं—नहीं, मैं उसे छोड़कर नहीं आ सकती। मैं जाऊँगी। इतना कहकर उसने उठने की कोशिश की। बुआ ने ज़बर्दस्ती उसका सिर अपनी गोद में लिए हुए हवा की। उसने कुछ देर बुआ की तरफ़ ताका और फिर आँख मूँदकर उनकी गोद में सिर रखकर इस तरह सो गई जैसे कोई नन्हीं लड़की अपनी माँ की गोद में। लेकिन वह बीच-बीच में बोलती रही—नहीं, उसे छोड़कर मैं नहीं आ सकती। मैं जाऊँगी। ।

बहुत देर की मेरी कोशिश के बाद उन महाशय ने अपनी दुरवस्था की कहानी कहनी शुरू की। मैंने सोचा था कि जापानी बम से उनका कोई मारा गया होगा और इस पर से लम्बी पैदल यात्रा के कारण थके होंगे, इसी लिए इतने शोकमग्न हैं। लेकिन उनकी कहानी इस ढङ्ग की होगी मैंने कल्पना भी न की थी—

"मैं रंगून में अच्छी नौकरी पर था। तनख़्वाह भी अच्छी थी। बहुत दिन से प्रायः प्रत्येक भारतवासी और बर्मी के मन में यह बात जम गई थी कि जापानी हमारे ऊपर बम नहीं फेंकेंगे। सिर्फ़ फ़ौज और फ़ौजी मुक़ाम ही उनके निशाने होंगे। इसी लिए हम सब काफ़ी निश्चिन्त होकर रहे आये।

"पहले हमले से कुछ महीने पहले ब्रिटिश नौकरशाही ने मेरे छोटे भाई को जेल में डाल दिया। उसका अपराध सिर्फ़ इतना था कि वह चीन, कोरिया आदि में जापानी नृशंसताओं के उदाहरण देकर सबको जापानियों के ख़िलाफ़ उद्बुद्ध करता था और देश-रक्षा की गड़बड़ी तथा बर्मी लोगों के प्रति ब्रिटिश नौकरशाही की उदासीनता के प्रति सबको सङ्गठित करने की चेष्टा करता था।"

मैंने पूछा—क्या वह कम्यूनिस्ट था?

उन महाशय ने उत्तर दिया—हाँ, यही उसका अपराध था। और बौद्ध भिक्षु और बहुत-से लोग खुलेआम जापानी दलालों का काम करते थे। लेकिन नौकरशाही उनका कुछ न करती। जिस वक्त बर्मी-मन्त्री ऊ सॉ को गिरफ़्तार किया गया, बर्मियों का ब्रिटिश-विरोध और क्षोभ अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गया। सामान्य लोगों में ब्रिटेन के प्रति जितना ही विद्वेष बढ़ा, जापानियों के प्रति उनकी भक्ति और उनको सहायता पहुँचाने की उनकी इच्छा भी उतनी ही प्रबल होने लगी। ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने राज्य खो दिया लेकिन राज्य के लोगों के हाथ में देश की रक्षा करने की

शक्ति नहीं दी। जब पहली बार साइरेन बजा तो अधिकांश लोगों को विश्वास नहीं हुआ कि जापानी अकारण उनके ऊपर हवाई जहाज़ से मशीनगन चलायेंगे।

बहुत-से लोग तो तमाशा देखने बाहर आ गये थे और बहुत-से शेल्टरों के अन्दर इसलिए नहीं जा सके कि उनका इन्तज़ाम ख़राब था। इसी लिए जब पहले दिन प्रायः एक हज़ार व्यक्ति मारे गये तब जो बच रहे थे उनकी मति कुछ बदली। पहले तो भाई के साथ इन सब चीज़ों पर मेरी भी बहस होती। मैं उसकी बात हँसी में उड़ा देता।

"चले आने के पहले क्या आपको उसकी खोज-ख़बर थी?"

"नहीं, कोई खोज-ख़बर न मिली। सरकार के साथ बहुत लिखा-पढ़ी की कि वह बहुत तीव्र जापान-विरोधी है और उसे छोड़ दिया जाय लेकिन व्यर्थ। नहीं जानता इस समय वह जीता है या मर गया। अगर वह मेरे साथ आया होता तो मुझे 'उसको' मौत के हाथों सिपुर्द करके आना पड़ता।" उन सज्जन ने बाल नोचते हुए फिर कहा, उफ़ मैंने यह क्या किया। मेरी समझ में कुछ न आया और मैं चुपचाप उनकी ओर देखता रहा। थोड़ी देर बाद अपने कुतूहल को न दबा सकने के कारण मैंने पूछा—आपके भाई के साथ आने से किसे छोड़कर न आना होता और वह उसे किस तरह बचा लेता?

उधर उन महिला ने फिर चीख़कर कहा—नहीं, मैं उसे छोड़कर नहीं आ सकती, मैं जाऊँगी। डरो मत खोका, मैं आ रही हूँ।

उन सज्जन ने मेरी ओर देखकर एक उदास मुस्कराहट के साथ कहा—आपको तो मैं वह कहानी ही सुनाऊँगा। बाप होकर मैंने अपने बेटे के प्रति कैसा जानवरों से भी गया-बीता व्यवहार किया इसके बारे में मैं आपको बताऊँगा। जानता हूँ कि इस पाप का कोई प्रायश्चित्त नहीं है, लेकिन तब भी आपको सुनाकर मुमकिन है मेरा जी कुछ हल्का हो जाय। उफ़ क्या किया मैंने। भगवान् उसे बचाना।

थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा—हाँ, रंगून से जब भगदड़ शुरू हुई उस समय शहर की जो अवस्था थी उसका बयान मैं नहीं कर सकता। सभी जगह बम गिर रहे थे, मन्दिर, मस्जिद, घर-दुआर हर जगह—किसी चीज़ का कोई विचार नहीं। सवेरे उठकर फिर मुलाक़ात होगी इसका भरोसा किसी को न था। किसी घर के सभी लोग सही-सलामत रहेंगे इसकी आशा किसी को भी न थी। उस समय भाई की चेतावनी मुझे बार-बार याद आती। नाना जातियों की भिन्न भाषाएँ बोलनेवाले लोगों के विभिन्न दल—विशेषकर भारतवासी तो किसी प्रकार बच गये थे। अपने घर की चीज़ बस्त फेंक-फाँककर अनिश्चित पथ पर रवाना हो गये। जो बहुत ज्यादा जापान-हितैषी थे उनमें भी उस समय अपने जापानी दोस्तों की राह देखने का न तो साहस था, न इच्छा और न उनमें आत्मविश्वास ही बाक़ी रह गया था। क्योंकि उन्हें दोस्त का चेहरा लगाए हुए मानवता के इस शत्रु का यथेष्ट परिचय मिल गया था।

मैंने भी देखा कि अब कोई रास्ता नहीं तब अपना घर-बार घोड़ा गाड़ी छोड़कर... उन सज्जन ने ज़रा रुककर फिर कहना शुरू किया—"मेरा दस बरस का बड़ा लड़का और ये, हम सब चल पड़े। बच्ची अपनी माँ के गोद में थी। मैंने इस बच्चे को गोद में और सूटकेस साथ में लिया। भारत आने में कितने दिन लगेंगे और किस रास्ते से आना होगा, कुछ भी नहीं जानता था। लेकिन तो भी हम लोग किसी तरह इंफल के रास्ते रवाना हुए।

उस समय किसी को मान-इज़्ज़त का ख़याल आया भी नहीं, आना सम्भव भी न था। उस वक़्त सबका ख़याल अपने को और परस्पर एक दूसरे को बचाने का था। मैं कभी बच्चे को सिर पर लेकर सूटकेस हाथ में लेता और कभी सूटकेस को कन्धे पर रखकर बच्चे को गोद में ले लेता। अस्वस्थ होते हुए भी बच्ची को लेकर पैदल चलने के अलावा और कोई रास्ता मेरी पत्नी के लिए न था। पत्नी की सहायता करने के लिए मैं कभी-कभी बच्चों को दोनों कन्धों पर बिठालकर सूटकेस हाथ में ले लेता। हमारे बड़े लड़के को सहायता पहुँचाने का कोई उपाय ही न था। और सहायता लेने में वह अपमान अनुभव करता। कई दिन तक हम लोग इसी प्रकार पैदल चलते रहे। हमारे पहले जो लोग रवाना हुए थे, उनकी इस पथ में जो दुर्दशा हुई थी उसकी कहानी तो हमने सामान्यतः सुनी थी। किन्तु रास्ते में जो बीभत्स दृश्य देखे, वे वर्णनातीत हैं। बर्मी हमारे दल के ऊपर कई बार हमला करके कितनों के बहुत-से गहने और रुपये-पैसे लूट ले गये। देशी शत्रुओं के हाथ से हम किसी प्रकार राम-राम करके बचे।"

वे महाशय बोलते-बोलते जैसे किसी घटना को स्मरण कर अनमने हो जाते और थोड़ी देर बाद फिर अपने कथा-सूत्र पर वापिस आ जाते। मैंने प्रश्न करके उनके चिन्ता-सूत्र में बाधा नहीं देनी चाही।

उन्होंने फिर कहना शुरू किया :

"जो जीवन में कभी भी पैदल नहीं चले उनके लिए कई-कई दिन तक इस प्रकार पैदल चलना कितना दुःसाध्य है, इसे भुक्तभोगी छोड़ दूसरा नहीं समझ सकता। किसी-किसी दिन इन दुधमुँहे बच्चों ही को क्यों हम लोगों तक को लगता कि अब बचेंगे नहीं। बीच-बीच में लगातार कई दिन तक खाना न मिलने से और उसके ऊपर प्यास से छाती फटने पर भी एक बूँद पानी न मिलने से हम लोग मरने-मरने हो रहे थे। बच्चों को जब मूर्च्छा आ जाती तो हम दल के और लोगों की अनुनय-विनय करके कुछ देर विश्राम करते और फिर चल पड़ते। रुकने का कोई उपाय न होने पर हम उसी मूर्च्छावस्था में उन्हें कन्धे पर लेकर चलते। सिर्फ़ मेरी ही यह हालत न थी, दल के प्रत्येक व्यक्ति की यही हालत थी। इसी लिए कोई सहसा आपत्ति न करता था। शरीर में चलने की शक्ति नहीं, पैदल चलते-चलते पाँव सूज गये हैं, पाँव के तलुए क्षत-विक्षत हो गये हैं, सबके अङ्ग-अङ्ग टूट रहे हैं, आँख के सामने दो-दो एक-एक करके बूढ़े बैठते जाते हैं और थोड़ी ही देर बाद चिर-निद्रा में सो जाते हैं। कैसी विभीषिका थी! आते वक़्त हमने रास्ते में बहुत-से बालकों-बूढ़ों, स्त्री-पुरुषों का कङ्काल पड़ा देखा।"

पूछे बिना मुझसे न रहा गया कि "क्या इस हालत में भी लोग जापान को अपना मित्र समझते थे और विश्वास करते थे कि वह उनका उद्धार करने आ रहा है?"

उन महाशय ने ज़रा मुस्कराकर कहा—"उस समय हममें शक्ति न थी कि किसी की बात-चीत करें। थोड़ा-सा पानी मिलने पर हम सब थोड़ा-बहुत बोलते। इस समय प्रायः सभी यही कहते कि आने के पहले ही जब मित्र का यह हाल है तब आ जाने पर तो न जाने क्या हाल होगा।"

हठात् मुझसे बेवक़ूफ़ी हुई कि एक प्रश्न कर बैठा। किसी तरह से मैं कौतूहल को दबा नहीं पा रहा था। पूछा—"अच्छा, आपके भाई तो जेल में हैं, लेकिन आपका बड़ा लड़का?"

मेरा यह कहना था कि वह महाशय दाँतों से होंठ काटते हुए, ज़ोर से बालों को पकड़े हुए, नीचे की ओर देखते थोड़ी देर तक सिर्फ़ सर हिलाते रहे।

मैं समझ गया कि कारण चाहे जो हो इस प्रश्न से मैंने उन्हें सख्त चोट पहुँचाई है। थोड़ी देर बाद वह महाशय हठात् मेरी ओर ताकते हुए कहने लगे—मेरा बड़ा लड़का हर तरह से गाँव के सभी लड़कों का सबसे उत्साही सरदार था। जब वह सुस्ताना चाहता, तब कहता कि बाबा, आइए ज़रा बैठकर सुस्ता लें। उस समय उसे दूसरे देशों के वीरों की कथा सुनाकर, चीन और रूस के लड़कों की लड़ाई का उदाहरण देकर—क्योंकि वह अपने काका का बड़ा भक्त था और उसके ठीक प्रचार से वह भी तीव्र जापान-और जर्मन-विरोधी हो गया था—मैं उसका उत्साह बढ़ाता। मेरे मुँह से चीन और रूस की प्रशंसा और जापान-विरोध सुनकर उसे अचरज होता और उसे दुगना उत्साह मिलता यह जानकर कि इतने दिन बाद बाबा भी अब काका की बात समझने लगे हैं। इस विपद्ग्रस्त यात्रा में उसे बड़ा आनन्द आया था। वह तो रंगून से आना ही न चाहता था। उत्साह के आवेश में वह कई दिन तक हमारे आगे-आगे चलता रहा। लेकिन जब स्वयं हमारी शक्ति समाप्तप्राय हो गई थी, तब फिर उसे कुछ कहना हमारी व्यर्थ बकबक है, यह तो हम ख़ुद ही समझ रहे थे। बीच-बीच में उसका तिरस्कार भी हम करते जिसमें वह और चले—उसी तरह जैसे अधमरे घोड़े को चाबुक मार-मारकर चलाया जाता है। बीच-बीच में कहते, 'अपने काका का वह गाना तो गाओ ज़रा देखें।' वह पूछता—'कौन-सा गाना बाबा?' मैं कहता—जो भी तुम्हें अच्छा लगता हो। कुछ नहीं तो वही गाओ :

हिन्दी हम चालीस करोड़।
देश की रक्षा करनेवाले, देश की आन पर मरनेवाले
हिन्दी हम चालीस करोड़।

कहने को तो मैं कह देता लेकिन ख़ुद मेरे कान में बजा करता—प्यास के मारे तो ख़ुद हमारे गले से आवाज़ नहीं निकल रही है और दुधमुँहे बच्चे को गाना गाने के लिए कह रहा हूँ! यह अगर हास्यास्पद नहीं तो और क्या है!

"फिर जब वह कहता 'बाबा अगर ज़रा सा पानी पीने को मिल जाय तो मैं गा सकूँगा' तो मुझसे उसकी ओर ताका न जाता, उसे पानी देने में असमर्थ होने के कारण मुझे मुँह फेरकर आँसू पोंछना पड़ता।

"अपने साथ उसने एक लाठी और एक छुरी ले ली थी जिसमें अगर किसी जापानी से भेंट हो जाय तो वह उसका ख़ात्मा कर सके; क़ैद करने के लिए उसने एक रस्सी भी अपने सूटकेस में रख ली थी। लेकिन—"

वह महाशय थोड़ी देर के लिए फिर ख़ामोश हुए।

"लेकिन एक दिन सबेरे से ही देखा कि खोका हमारे साथ-साथ चलने में अशक्त होने के कारण धीरे-धीरे पिछड़ता जा रहा है। पहले तो जब कभी वह पिछड़ता फिर ज़ोर लगाकर हमारे बराबर आ जाता, लेकिन आज जैसे उसकी समस्त शक्ति समाप्त होने को आ रही थी, वह क्रमशः अवसन्न हुआ जा रहा था और चलना तो दूर की बात उसमें तो जैसे खड़े होने की ताक़त न रह गई थी। क्या करता, कोई कूल-किनारा नहीं मिल रहा था। हज़ार रुपये देकर भी उस समय वहाँ किसी की सहायता मिलने का कोई उपाय न था, तब भी, हमारे दल के लोग हमारी अनुनय-विनय सुनकर दोपहर तक बहुत धीरे-धीरे चलते रहे। लेकिन दोपहर को हमें सामना करना पड़ा एक बहुत घने जङ्गल का। शाम होने के पहले अगर जङ्गल पार न कर लिया गया तो दल के हर

व्यक्ति को जानवरों के पेट में जाना होगा। लेकिन खोका वहीं बैठ रहा और मेरी ओर ताकते हुए बोला—बाबा अब नहीं चला जाता मुझसे, आध घंटा सुस्ताकर चल सकूँगा। लेकिन मैंने उसकी ओर देखकर जान लिया कि आज सारी रात सुस्ताकर भी वह न हिल सकेगा। मेरी पत्नी की भी प्राय: यही दशा थी। दल में इस समय किसी में इतनी शक्ति न थी कि उसे कन्धे पर लेकर चल सके। आस-पास कहीं लोगों की बस्ती न थी। हम लोग भी उसके साथ बैठ गये सर पर हाथ रखकर। लेकिन दल के लोग चलने के लिए बार-बार तक़ाज़े करने लगे। कोई-कोई बिगड़कर कहने लगे कि इस एक लड़के के लिए हम सब नहीं मर सकते। मैंने उनकी ओर करुण भाव से देखकर पूछा कि 'बोलो तो क्या करूँ, इसे अकेला छोड़कर तो नहीं जा सकता न!' इस पर उन लोगों ने उत्तर दिया 'तब आप लोग ठहरिये, हम चलते हैं। यह क्यों नहीं समझ लेते कि आप उसे नहीं ले आ सके और रंगून ही में छोड़ आये हैं!'

"खोका अब तक सबकी बात सुन रहा था और भयभीत नेत्रों से मेरी ओर ताक रहा था। लेकिन यह सुनते ही वह ज़ोर से अपनी माँ को पकड़कर रोते हुए बोला—'माँ मुझे छोड़कर मत जाओ।' उसकी माँ भी सिहर उठी और उसे छाती से चिपकाते हुए बोली—'नहीं-नहीं, ऐसा कहीं कर सकती हूँ, कहीं ऐसा होता भी है!'

मैंने भी बिना अपने सलाहकारों की ओर देखे कहा—'कहीं ऐसा होता भी है!' लेकिन मैंने सपने में भी न सोचा था कि पन्द्रह मिनट में मुझे वही करना पड़ेगा और मैं वही करूँगा भी जिसके बारे में मैं अभी सोच तक नहीं सकता।

"चारों तरफ़ से मेरे ऊपर तरह-तरह के व्यङ्ग-बाण बरसने लगे। चटगाँव के एक अधेड़ सज्जन ने मेरे पास आकर मुझे इशारे से बुलाया। मैं उठकर उनके पास गया। उन्होंने बहुत स्निग्ध स्वर में कहा—'देखिए, अपने बड़े लड़के के लिए आप चाहे अपनी ज़िन्दगी का मोह न करें, लेकिन आपको अपने और दो बच्चों की ओर भी तो देखना चाहिए। बाप-माँ होकर क्यों दो बच्चों को यम के मुँह में ढकेल रहे हैं। जब कोई उपाय ही नहीं, तब फिर अपने मन को यही समझाइए कि आप उसे रंगून से अपने साथ नहीं ला सके। इस वक़्त आपको अपने साथ कड़ाई बरतनी होगी। अपनी पत्नी को समझाइए कि इसके अलावा दूसरा कोई रास्ता नहीं है। मैं भी तो आज दीवालिया होकर घर वापिस फिर रहा हूँ।'

"मेरे मन के अन्दर तूफ़ान उठने लगा। सच तो है कि हमें उन दोनों को भी बचाना है। आज अगर हम रुक जायँगे तो उन दोनों की मौत की ज़िम्मेदारी हमारे ऊपर होगी।

"दिन क्रमश: ढलने लगा। दल के सभी लोग किसी भी तरह एक पल की देरी करने को भी राज़ी न थे। जङ्गल पार होकर ही उन्हें पानी मिलेगा, आश्रय मिलेगा, खाना मिलेगा। नहीं तो यहाँ पर सभी को प्यासों मरना होगा, या जानवर उन्हें उदरस्थ कर लेंगे।

"कोई बात ठीक से नहीं सोच पा रहा था। और इसी बीच वह सज्जन फिर बोल उठे 'उन दो छोटे बच्चों को बचाना आपका धर्म है।' मेरी पत्नी उनकी बात-चीत सुन रही थी। शायद खोका भी कुछ सुन रहा था और बर्दाश्त न कर सकने ही के कारण मूर्च्छित हो गया।

"इसी बीच छोटी लड़की असह्य प्यास के मारे रो पड़ी। एक पंजाबी महिला ने लड़की को पत्नी की गोद से लेते हुए टूटी-फूटी बँगला में कहा—'बहन, इनको बचाओ। अगर और देरी करोगी तो इनसे भी हाथ धोना पड़ेगा। मैं भी अपने अठारह साल के बड़े लड़के और दस साल

की लड़की की बलि जापानी बमों को चढ़ाकर, सिर्फ़ इस पाँच साल के बच्चे का मुँह देख कर वापिस जा रही हूँ।'

"मैंने भी उधर न देखते हुए अनमने-से स्वर में कहा—'नमिता, अब और कोई उपाय नहीं। शुकू और मीरा को बचाना ही होगा। उसे भगवान् के हाथ सौंपकर आओ इन दोनों को लेकर चलें। सिर्फ़ हम ही नहीं, इस दल के लगभग प्रत्येक व्यक्ति ने किसी न किसी से हाथ धोया है। मीरा और शुकू का मुँह देखकर जी कड़ा करो, दूसरा कोई उपाय नहीं है।'

"नमिता ने मूर्च्छित खोका को और ज़ोरों से छाती से चिपका लिया और हृदय-विदारक स्वर में चीत्कार कर कहने लगी—'हमने तो जापानियों का कुछ नहीं बिगाड़ा, इन्होंने हमारा सर्वनाश क्यों किया!'

"पंजाबी महिला ने एक फीकी हँसी हँसकर कहा—'बहन, राक्षस क्या यह देखता है कि मनुष्य ने उसके प्रति क्या अपराध किया, क्या नहीं! उसका स्वभाव ही है मानव-समाज का ध्वंस करना। तुम भी उनको भूल नहीं सकतीं जो हमारे सर्वनाश के लिए ज़िम्मेवार हैं और बहन, हम उन राक्षसों को कभी क्षमा नहीं कर सकेंगी।' फिर उसने कुछ ज़बर्दस्ती नमिता की गोद से खोका को लेकर उसे लिटा दिया और उसकी गोद में मीरा को देते हुए कहा—'इस वक्त वह सो रहा है, चलो चलें'—और नमिता को पकड़कर अपनी ओर खींचा।

"नमिता में भी अब विचार करने की क्षमता न रह गई थी। मन्त्र-मुग्ध की तरह उसने मीरा को गोद में लिया और उठ खड़ी हुई। फिर घने जङ्गल की ओर और एक बार मूर्च्छाग्रस्त खोका की ओर देखकर बोली—'यहीं, इसी जङ्गल के पास!'

"पञ्जाबी महिला ने खोका की ओर ताकने का मौक़ा नमिता को न दिया और कहना चाहिए उसे घसीटकर ले जाते हुए कहा—'डरो मत बहन। भगवान् उसे जानवरों के मुँह में जाने से ज़रूर बचा लेगा। लेकिन जानवर तो मनुष्य के शत्रु नहीं होते। वे तो अपना राजत्व छोड़कर मनुष्य के राजत्व पर क़ब्ज़ा करने के लिए ध्वंसलीला का सूत्रपात नहीं करते!'

"मुझसे अब तक खोका की ओर देखा न जाता था। अपने साथ बहुत ज़ोर-ज़बर्दस्ती कर मैं अपने को उसके सामने ले गया, अन्तिम बार उसे चूमा, माथे पर हाथ फेरा और शुकू को लेकर उठ खड़ा हुआ। उसका सूटकेस, छुरी, रस्सी, लाठी, सब उसी के पास रख दिया। अगर किसी दिन कोई जापान-भक्त या जापानी इस रास्ते से आये तो वह देखेगा कि भारत के एक दुधमुँहे बालक के हृदय में अपने जीवन की अन्तिम घड़ी तक में उसके प्रति कैसी घृणा थी और उन्हें ध्वंस करने के लिए वह किस प्रकार बद्धपरिकर हुआ था।

"हम तीस-चालीस हाथ ही गये होंगे कि खोका की मूर्च्छा टूटी और उसने देखा कि हम लोग उसे छोड़कर चले जा रहे हैं। उसने आकुल और भीत होकर हमारी ओर देखा और पूरा ज़ोर लगा कर चिल्लाते हुए बोला—माँ! बाबूजी! मुझे यों छोड़कर तुम लोग कहाँ जा रहे हो!

"उस कातर स्वर को सुनकर हमारे हृदय में ऐंठन-सी होने लगी। मैं दाँत भींचकर, खूब ज़ोर से मुट्ठी बाँधकर अपने को सँभालने की कोशिश करने लगा। लेकिन नमिता ने मीरा को गोद से प्रायः उतार फेंका और खोका की ओर दौड़कर जाते-जाते चिल्लाकर कहा—'नहीं भैया, तुझे छोड़कर न जा सकूँगी।' फिर उसे ज़ोर से पकड़कर कहने लगी—नहीं, नहीं, ऐसा भी कहीं होता है, भला ऐसा कर सकती हूँ।

"दल के लोग अब रुकने को किसी तरह भी तैयार न थे। वे धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे।

"खोका को फिर बेहोशी आ गई।

"पञ्जाबी महिला फिर आई और बड़ी-बड़ी मुशकिलों से नमिता को अपने साथ ले चलीं। हम दल के साथ फिर हो लिए और साथ-साथ चलने लगे। खोका की बेहोशी इस बार दीर्घ-स्थायी थी। पर लगता जैसे खोका इस बार भी चीत्कार कर कह रहा हो—माँ! बाबूजी! मुझे यों छोड़कर तुम लोग कहाँ जा रहे हो!"

वे महाशय यहाँ पर थोड़ी देर के लिए रुके और ज़ोर से बाल खींचते हुए आँख मूँदकर बोले— ओह, मैंने क्या किया—

उस समय उनकी स्त्री की ओर देखने की न तो मुझमें शक्ति थी और न समय। मैं तो उन महाशय के मुँह की ओर टकटकी लगाये उनकी कहानी सुन रहा था।

हठात् सामने की बेंच पर मेरी दृष्टि पड़ी और मैंने देखा कि वह महिला मेरी बुआ की छाती पर सिर रखे फफक-फफककर रो रही हैं। दोनों एक दूसरे को कसकर थामे हुए हैं। बुआ की आँखों से भी आँसुओं का तार जारी है।

उन महिला ने रोते-रोते कहा—उन सबों ने इस तरह हमारा सर्वनाश क्यों किया, माँ!

बुआ ने आँसू पोंछते हुए कहा—मण्टू ही की बात ठीक है, बेटो। तुम्हें उन सबों के सर्वनाश की तैयारी करनी होगी नहीं तो तुम्हारी ही तरह और भी सैकड़ों-हज़ारों माँ-बाप को अपने लालों से हाथ धोना पड़ेगा।

मुझे एकाएक उस पुत्रहीना पञ्जाबी महिला की याद हो आई जिसने कहा—जीवन में तुम भी उन्हें भूलना मत और और हम भी उन्हें क्षमा न करेंगे।

गाड़ी हू-हू करती चली जा रही थी। मेरा मन भी एक पल के लिए उस सुदूर, अनजान जङ्गल का चक्कर लगाता ढूँढ़ने लगा कि अपनी छुरी, लाठी और रस्सी से लैस वह चरम जाप-शत्रु, हमारे परम प्रिय देश का उज्ज्वल आदर्श बालक अर्द्ध-मूर्च्छावस्था में कहाँ सोया हुआ है। सम्भव है, अब उसके अस्तित्व का शेष चिह्न एक कङ्काल मात्र ही हो, पर उससे क्या!

यदि सम्भव होता तो मैं उस दधीचि की अस्थि लाकर घर-घर में डाल देता जिसने अपना जीवन होमकर हमें आत्मोत्सर्ग की दीक्षा दी।

वसीयतनामा

[राधाकृष्ण]

आजकल सवा सेर का चावल बिकता है।

पहले सवा रुपये रीम काग़ज़ बिकता था और सवा बारह सेर का चावल मिलता था। तब भी हिन्दी के लेखक ग़रीब समझे जाते थे। अब प्रकाशकों को काग़ज़ नहीं मिलता और लेखकों को सवा सेर का चावल ख़रीदना पड़ता है।

और सेठजी हैं, वे सवा सेर का चावल बेचते हैं। मुझे चाहे जितनी मुसीबत होती हो, उन्हें मुनाफ़ा होता है। उनकी इमारत आसमान की ओर बढ़ती जाती है, मेरी झोपड़ी ज़मीन चूमने के लिए तैयार है। आज इस ज़माने में भी वे 'जापानी टाइल्स' और सङ्गमर्मर की पटिया खोज रहे हैं, और उन्हें मिलती है। मैं पन्द्रह-बीस क़र्ज़ खोजता हूँ, और मुझे वह भी नहीं मिलता। सेठजी बॉक्साइट और ताँबे की खान ख़रीदनेवाले हैं, मैं अपनी थोड़ी-सी रैयती ज़मीन बेचनेवाला हूँ।......मुझमें और सेठजी में ख़ासा अन्तर है—वे व्यापारी, मैं हिन्दी का लेखक।

हम लोग एक ही मुहल्ले में रहते हैं। अड़ोस-पड़ोस में घर है। सेठजी हमारे मिलनसार आदमी हैं। ख़ूब मिलते हैं, ख़ूब बोलते हैं। हँसते हैं तो तख़्तपोश हिलने लगता है। उनका नाम है श्री डूँगरमलजी बियाणी। माहेश्वरी मारवाड़ी हैं। जोड़-जोड़कर इनके वंशवालों ने कपट की कमाई की थी; ये उसका उपभोग कर रहे हैं। कारबार ख़ूब बढ़ाया है। किराना, कपड़ा, स्टेशनरी, ज़मींदारी, ब्याज, बट्टा, शेयर; और अब खनिज पदार्थों में भी हाथ डालनेवाले हैं। सो कारबार को इन्होंने बढ़ाया है, बनाया नहीं है। बनाने में इनके बाप का हाथ था। वे बीमार हैं। डूँगरमल उदास रहते हैं।

वे डूँगरमल पढ़े-गुने आदमी हैं। ब्याज जोड़ने के अलावा कुछ पत्र और पत्रिकाओं से भी दिलचस्पी रखते हैं। उससे भी इनका लाभ होता है। कहाँ तूफ़ान आया, कहाँ अकाल पड़ा, किधर महामारी फैली है, सारा का सारा पता मिल जाता है। अन्दाज़ मिल जाता है कि अमुक चीज़ का भाव चढ़नेवाला है, सो उसका स्टॉक कर लो। और फिर गवर्नमेंट की नीति! यही नीति तो लाभ उठाने की चीज़ है। उस दिन कॉंग्रेस की मिनिस्टरी थी तो गान्धी टोपी पहनते थे। अब लड़ाई के दिन हैं तो मिलिटरी कन्ट्रैक्ट के लिए दौड़ रहे हैं। डूँगरमल समझ-दार आदमी हैं। लेखक क्या चीज़ है सो जानते हैं। मेरा सम्मान करते हैं।

सम्मान और सरस बातों का मतलब यह नहीं कि वे सवा की जगह मुझे डेढ़ सेर का चावल दे दें। ऐसा वे नहीं कर सकते। कोई भी पूँजीपति ऐसा नहीं करता। ऐसा नियम नहीं। सरकारी नौकरों के चावल-दाल की चिन्ता सरकार करती है; लेकिन जनता की सेवा करनेवालों की चिन्ता के लिए कोई ज़िम्मेदार नहीं है। लेकिन फिर भी रक्तबीज की भाँति लेखकों की संख्या बढ़ रही है, फिर भी हमारा साहित्य हमारी संस्कृति का निर्माण कर रहा है। लोग साहित्य से प्रभावित होते जाते हैं, और होते जायँगे। यही कारण है कि सेठ डूँगरमलजी बियाणी हमारी इज़्ज़त कर देते हैं। तो भी मुझे सुख नहीं मिलता, तो भी मेरे मन में उनके प्रति कटुता उत्पन्न होती है। वे मुझसे बातचीत में अच्छे हैं, मैं उनसे बातचीत में अच्छा हूँ। बस यही, इतना ही उनका-मेरा नाता है।

लेकिन पारस्परिक बातचीत का नाम ही जीवन नहीं। जीवन का सत तो पेट में भोजन के द्वारा तैयार होता है। बातचीत से बीरबल का पेट भले ही भर गया हो, औरों का नहीं भरता। सेठजी के पास अपरम्पार सम्पत्ति है, वे सुखी रहते हैं। मेरे पास कुछ भी नहीं, मैं उदास रहता हूँ। बातचीत से मेरा पेट नहीं भरता। मगर तब भी व्यवहार का एक सिद्धान्त है। बीमार आदमी को देखना बुरा नहीं। डूँगरमल के बाप बीमार हैं। उन्हें देखने चला गया।

सेठजी का घर आलीशान है। ओसारा सङ्गमर्मर का है। दीवारों पर मोज़ेक की गई है। आँगन में भी मोज़ेक है, रङ्गीन। लेकिन नाली से बदबू कैसी उठ रही है! आँगन की गन्दगी में दुमदार कीड़े लोट-पोट कर रहे हैं। उसी तरह, जिस तरह सेठजी और इनके बाप महोगनी के पलङ्ग के मख़मली गद्दों पर लोट-पोट किया करते हैं। इन गन्दे कीड़ों और सेठजी में अगर कोई अन्तर है तो यही है कि सेठजी समझ से काम लेते हैं, नाली के कीड़े समझ से काम नहीं लेते। सो सेठजी अपनी समझ के द्वारा सिर्फ़ अपनी पूँजी बढ़ाने का काम लेते हैं; लेकिन रुपयों का उपयोग जो सेठजी करते हैं वही ये नाली के कीड़े किया करेंगे। मैंने नाक पर रूमाल रख लिया।

और वही, जो पलंग पर मरणासन्न पड़े हैं, वे ही सेठजी के पिताजी हैं। मैं जीवन के अन्तिम-काल में उन्हें देख रहा हूँ। बस आज-कल के मेहमान हैं। चेहरे पर मृत्यु की यंत्रणा खेल रही है। आँखों में अपार वेदना, दाँत बाहर निकल आये हैं। देखने में भयावने मालूम होते हैं। इतने बड़े सेठ, और ऐसे भयावने! क्या पैसा आदमी के चेहरे को ख़ूबसूरत नहीं रख सकता? आई हुई मृत्यु क्या पैसों के द्वारा नहीं लौट सकती? नहीं-नहीं, मृत्यु लौटती नहीं। सेठजी अपनी वसीयत में दान लिखवा रहे हैं। ये वकील साहब हैं, श्री नकुलचन्द्र कुण्डू। ये लिख रहे हैं।···

सेठजी बड़े कष्ट में हैं। मुश्किल से मुँह खुलता है, मुश्किल से आवाज़ निकलती है और मुश्किल से जीभ उलटती है। सेठजी कह रहे हैं—आज-कल जीव-हत्या बहुत होती है, वकील बाबू, इसलिए आप ऐसा लिखिये कि हमारे सत्तर हज़ार रुपयों से जीव-पालन किया जाय। पशु रखे जायँ। उन्हें खाना-पीना, दवा-दारू, सब कुछ दिया जाय। लिखिये।

हाँ, ठीक है; सेठजी को पशुओं की चिन्ता बहुत है; लेकिन भोजन के बिना आज मनुष्य भी पशु की भाँति पटापट मर रहे हैं, सो इन्हें इसकी चिन्ता नहीं। आदमी के चलते आदमी कितना कष्ट पा रहा है इसके निवारण के लिए सेठजी को कोई फ़िक्र नहीं। मगर मैं जानता हूँ कि परसों सेठजी का यही दान अख़बारों में छपेगा और धूम मच जायगी। उस समय कोई भी इसका ख़याल नहीं करेगा कि पशुओं की चिन्ता करनेवाला व्यक्ति पशुओं से अधिक बुद्धिमान् नहीं था।

वकील साहब ने सेठजी का आदेश नोट कर लिया।

सेठजी ने कहा— आप ऐसा लिखिए कि एक एक लाख रुपया ख़र्च करके हमारे मरने के बाद एक धर्मशाला और एक मन्दिर बनाया जाय।

मन्दिर और धर्मशाला! सुनते-सुनते कान पक गये। इसी शहर में पचासों मन्दिर हैं और दर्जनों धर्मशाले हैं; उन्हीं में एक-एक की गिनती बढ़ गई। यह संस्कृति, यह समाज, यह राष्ट्र का नव-निर्माण···मगर सेठजी तो मरते दम तक इन चीज़ों को नहीं जान पाये। बस समाज के धनवान् बने रहे। पशु की भाँति जीते रहे और आज लावारिस कुत्ते की तरह मर रहे हैं।

वकील साहब ने कहा—नोट कर लिया। और भी कोई आदेश?

हमारे मित्र डूँगरमलजी बियाणी का चेहरा गम्भीर हो उठा था। वे सोच रहे थे कि इस समय यहाँ संसार का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। धन्य हैं उनके दानवीर पिता! उनका चेहरा गम्भीरता से भरा था और उल्लास से चमक रहा था।

सेठजी—बस एक बात और। जब मैं मर जाऊँ, तो उसके बाद सात महीने तक दिन और रात अखण्ड सङ्कीर्तन चलता रहे।

वकील साहब ने पूछा—और?

और? और माने, हाँ। इसके लिए सात हज़ार एक सौ एक रुपया दिया जायगा।

वकील साहब ने लिखकर कहा—नोट कर लिया।

सेठजी ने कहा—अभी और पूरा नोट कीजिए। लिखिए कि सङ्कीर्तन में कहा जायगा 'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे!' इसको पूरा-पूरा लिख लीजिए।

वकील साहब लिखने लगे।

डूँगरमल ने गर्व से मेरी ओर देखा। मानों मेरी आँखों में कह रहे हों, देखते हो, मेरे पिता कितने महत्त्वपूर्ण हैं, कैसे दानी हैं। और मैं सोच रहा था कि धन ऐसे ही लोगों के पास रहता है जिनके पास उसका कोई उपयोग नहीं। उपयोग ही होता, तो चञ्चला टिकती कैसे?

वसीयतनामा पर दस्तख़त बनाकर बाहर निकल आया। डूँगरमलजी साथ थे। मैंने कहा—आपके पिता ने दान तो काफ़ी दिया है; लेकिन उनका दान का ढङ्ग मुझे पसन्द नहीं आया।

डूँगरमल ने कहा—भाई, पुराने लोगों के पुराने ख़यालात होते ही हैं!

मैंने पूछा—तो क्या आप दान का रुपया इसी प्रकार ख़र्च नहीं करेंगे?

"वाह! करूँगा क्यों नहीं?"—डूँगरमल आश्चर्य में भर उठे।

और यदि मैं कहूँ कि आप मेरे कहे अनुसार पचास रुपया भी नेक काम में ख़र्च करें तो आप नहीं करेंगे—क्यों?

डूँगरमलजी हँसने लगे। भला ऐसी भी कोई बात कहता है, अप्रासंगिक।

× × × × ×

उस रात रात भर मुझे नींद नहीं आई। रात भर सेठजी के यहाँ औरतें रोती रहीं। उनका कोई भी पुण्य उन्हें धरती पर नहीं रोक सका। सेठजी स्वर्ग चले गये थे। उनके घर में कुहराम मचा हुआ था।

रात भर मुझे नींद नहीं आई। मैं सोचता रहा क्या सेठजी सचमुच स्वर्ग चले गये? अगर सारा जीवन जैसा-तैसा बिताकर, अन्त में ऊटपटाँग दान करके आदमी स्वर्ग में जा सकता है, तो वैसा स्वर्ग मेरे लिए बम्पुलिस से ज़्यादा महत्त्व नहीं रखता। वैसी ही गन्दी आत्माएँ तो वहाँ विश्राम पाती होंगी जो साहित्य, संस्कृति और राष्ट्रीयता से हीन हैं। मैं तो कदापि ऐसे स्वर्ग में नहीं जा सकता।

बाबू मोहनगोपाल

[अमृतराय]

(१)

एक रोज़ हैमिल्टन रोड पर चला जा रहा था कि देखा• बाबू मोहनगोपाल उर्फ़ मोहन चाचा साइकिल पर अपना एजेण्टों का बैग लटकाये चले आ रहे हैं।

मैंने पूछा—कहो चाचा, क्या हाल-चाल है।

मोहन—अच्छे ही हैं।

मैं—बड़ी दबी ज़बान से कह रहे हो, जोश नहीं है। कुछ काम-वाम कर रहे हो या वही महकमा बेकारी?

मोहन—उस महकमे को तो अब छोड़ दिया। बीमा-कम्पनी का काम उठाया है। दौड़ना बहुत पड़ता है। आजकल लोग बीमा करवाते ही नहीं। बड़ी मन्दी है।

मैं—तो बड़ी थकान हो जाती है?

मोहन—हाँ रमेश, दौड़ते-दौड़ते बुरा हाल है। शहर का कोना-कोना छान डालता हूँ दिन भर में। मैं रोता हूँ साइकिल के नाम को और वह रोती होगी मेरे नाम को, किस क़साई के हाथ पड़ी, ज़रा चैन नहीं लेने देता।

मैं—तो इसमें आमदनी तो खासी हो जाती होगी?

मोहन—खासी नहीं वह। जब होती होगी, होती होगी। आज-कल तो झींखना ही हाथ आता है। कहा तो कोई पालिसी खरीदता ही नहीं। न जाने यह क्या हवा चली है।

मैं—तो चिपके क्या पड़े हो, कोई बिक थोड़े ही न गये हो उसके हाथ। फेंको एक तरफ़। कुछ और काम ढूँढो।

मोहन—कोई काम मिले भी? आज-कल ६०-७० होते ही क्या हैं पहले के १५–२०; लेकिन उन्हीं के लिए अच्छे-अच्छे बी० ए०-एम० ए० लोगों की अर्ज़ी पड़ती है। मुझ हाई स्कूल पास खूसट को कौन पूछता है! जीना मुहाल हो रहा है। समझ में नहीं आता क्या करूँ।

मैं—तुम भी तो मोहन चाचा, नौकरी के पीछे डण्डा लेकर पड़े हो। कोई निज का काम क्यों नहीं करते? बिसातखाना खोल सकते हो; नहीं तो परचून की दूकान तो है ही। मदन स्टोर को देखो, कैसा चमक गया है। चार बरस पहले ज़रा-सी कोठरी थी। थोड़ी-सी पूँजी लगानी पड़ेगी और उसे पाना कोई मुश्किल न होगा मैं समझता हूँ।

मोहन—उसकी तो कोई मुश्किल न होगी। भैया ही कहते थे कि मोहन, तुम्हारे लिए बिसातखाना खोल दूँ तो कैसा रहे?

मैं—तो फिर तुमने क्या कहा?

मोहन—और कह ही क्या सकता था? तुम तो जानते ही हो, मुझे यह काम पसन्द नहीं।

मैं—क्यों? और कुछ भी न हो, तो भी दूसरे की गुलामी से तो अच्छा है। किसी का हुक्म तो नहीं बजाना पड़ता।

मोहन चाचा ने यों हाथ हिलाया जैसे डमरू बजा रहे हों और कहा—कुछ नहीं ! कुछ नहीं ! सब झूठ, खुराफ़ात। सुनने में बड़ा अच्छा लगता है—किसी का हुक्म तो नहीं बजाना पड़ता—लेकिन क्या ख़ब्बीस काम है कि छः महीने के अन्दर-अन्दर अच्छा-भला आदमी हूश हो जाय, पूरा बनमानुस। मेरे किये न होगा।

मैं—तो आख़िर कब तक ठोकरें खाने का इरादा है ? बूढ़े तो हो चले ! चार साल तो मेरे देखते-देखते हो गये।

मोहन—जब तक बदा होगा ठोकरें खाना, खाऊँगा लेकिन परचून की दूकान खोलकर बैठूँ या पेन्सिल, क़लम, चाकू, एवररेडी, साबुन, तेल, कंघे और दुनिया का अल्लम-ग़ल्लम फ़रोख़्त करूँ इतना खूसट अभी मैं नहीं हुआ हूँ।

मैं—लेकिन चाचा, काम को कभी हिक़ारत की नज़र से न देखना चाहिए। पेट पालने के लिए आदमी क्या नहीं करता ?

मोहन—आदमियों के करने की एक ही कही। अरे, आख़िर आदमी ही तो गिरहकटी भी करते हैं।

मैं—तो साबुन-तेल बेचना, आटा-दाल बेचना गिरहकटी है और वह सारी दूकानें जो शहर-भर में बिखरी हुई हैं, उमर ऐण्ड सन्स, क़मरुद्दीन ऐण्ड कम्पनी, मोहन ब्रदर्स, सोहन ब्रदर्स लिमिटेड सब गिरहकटों के अड्डे हैं।

मोहन ने मुस्कराते हुए कहा—लड़ाई किस बात की है। तुम उन्हें गिरहकट नहीं मानते, चलो मैं भी नहीं मानता और सच पूछो तो वह गिरहकटों से भी गई-बीती शय हैं। न कोई तौर न तरीक़ा। वैसी सोसायटी में और लोग हो भी क्या सकते हैं बेचारे।

मेरे तो तन-बदन में आग लग गई। ग़ुस्से में मुझसे एक स्पीच बन पड़ी। मैंने कहा—बड़े सिरफिरे हो यार ! दूकान का ईमानदार पेशा तुम्हें गिरहकटी जान पड़ता है और पैसेवालों के तलुए चाटने के लिए तुम्हारी जीभ से राल टपकती है। तुम सिरफिरे नहीं तो और हो क्या ! आज़ाद पेशा अख़्तियार नहीं करते बनता, इधर से उधर जूतियाँ चटख़ाते फिर रहे हैं कि कहीं दीख भर जाय क्लर्की और मारें झपट्टा बाज़ की तरह। परमात्मा ने थोड़ी-सी अक़्ल भी तो रख ही दी होगी तुम्हारे भेजे में या बिलकुल ही कोढ़मग्ज़ हो। बिलकुल ही कोढ़मग्ज़ हो तो वैसा कहो, उसकी दवा की जाय। तुमसे दस हज़ार मरतबा इसी बात पर झौं-झौं हो चुकी है। मेरा कुछ कहना भी अब मुमकिन है तुम्हें नागवार गुज़रता हो, लेकिन मैं समझ नहीं पाता तुम्हें कहाँ की लाचारी है कि एक छोटी-सी, सुबुक भलेमानस दूकान का काम छोड़कर साहबों या सेठों की अरदली करो, उनके यहाँ ख़ामख़ा एड़ियाँ घिसो ? कोई तुक भी हो। वरना अपनी एक छोटी-सी दूकान हो, वक़्त से खोला, वक़्त से बन्द किया, न ऊधो के लेने में न माधो के देने में।

लेक्चर तो मैं झाड़ गया लेकिन नतीजा ख़ाक-पत्थर कुछ न निकला। मोहन चाचा अपनी जगह अड़े के अड़े रहे। उन्होंने एक बार फिर सिर हिला दिया। मैंने समझ लिया लालाजी का मर्ज़ लाइलाज है। लेक्चर से बड़ी कोई चीज़ ही इनका दिमाग़ ठिकाने पर ला सकेगी। मैंने कुढ़ते हुए मन ही मन कहा—मोहन चाचा, दिन अब बुरे लग रहे हैं, कोट-पतलून की शान निभाना दुश्वार हो जायगा।

प्रकट मैंने कहा—तो जब यही तुम्हारा इरादा है तो फिर रोते क्यों हो नानी के नाम कि दौड़ते-दौड़ते पलिंजर ढीला हुआ जाता है। इसमें तो यही हाथ लगना है।

(२)

रुपये में पूरे सोलह आने बाबू, पक्के रङ्ग, नाटे क़द, हल्के-फुल्के जिस्म और बिल्ली की-सी भूरी-भूरी आँखों के मालिक बाबू मोहनगोपाल मेरे बड़े अच्छे दोस्त हैं। हमउम्र और कुछ बातों को छोड़कर बहुत-सी बातों में हमख़याल।

यों तो भाई-भाई में इतना प्यार कम मिलता होगा जितना मुझमें और मोहन चाचा में। लेकिन इसी क़िस्म की बातों को लेकर हममें जब-तब झड़प हो जाया करती है। मोहन चाचा में दिखावा काफ़ी है और दिखावे से मुझे नफ़रत है। मोहन चाचा कपड़ों के ग़ुलाम हैं, अपनी तौफ़ीक़ से ज़्यादा कपड़ों पर खर्च करते हैं। दिन को कोट-पतलून में हैं, लक़दक़, सूटेड-बूटेड, तो शाम को कल्लीदार कुर्ते और लाल किनारेवाली बंगाली चाल की धोती में। मैं सादगी से रहना पसन्द करता हूँ और चाहता हूँ कि वह भी सादगी से रहें। इसी बात पर हम दोनों के दो रास्ते हैं। उन्हें अपनी तड़क-भड़क से नजात नहीं और तड़क-भड़क मुझे फूटी आँख नहीं सोहाती।

'बन्धन' आया था। मैंने मोहन चाचा से कहा—'बन्धन' देखने चलेंगे।

मोहन चाचा ने बड़े तपाक से जवाब दिया—ज़रूर।

मैंने कहा—साढ़े चार आने वाले में चलेंगे।

मोहन चाचा का जोश बिलकुल ठण्डा पड़ गया, बोले—तब मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकता। तुम आवारा हुए जा रहे हो। उन नीच लोगों के साथ तुम बैठते कैसे हो, मेरी समझ में तो यही नहीं आता। ज़माने के इक्केवाले, ताँगेवाले, छकड़ेवाले, धोबी, कुली-कबाड़ी और न जाने कौन-कौन-सी कमीन ज़ातें—छी-छी। घास तो नहीं खा गये हो रमेश, उनके साथ बैठने कहते हो! उनके आस-पास की सारी हवा तो ताड़ी और चरस की बदबू से भरी रहती है। उनके पास बैठते नाक नहीं फटती तुम्हारी! सचमुच कितने गन्दे होते हैं वे—जुएँ, चीलर, खटमल क्या नहीं होते उनके जिस्म में!

मैंने कहा—वे पूरी तरह ऐसे नहीं होते जैसा आप समझ बैठे हैं मोहन चाचा। उनके साथ बैठने से आपको उनकी छूत न लग जायगी। (मन ही मन) हमारी-तुम्हारी असली जगह तो इन्हीं लोगों के बीच है। हम नाहक़ ऊपर उठकर साहबों की पंगत में बैठने की कोशिश करते हैं। बार-बार उठा दिये जाते हैं, गरदनियाँ दे बाहर कर दिये जाते हैं लेकिन हम भी कैसे बेशर्म हैं!

ज़रा देर की ख़ामोशी के बाद मैंने फिर कहा—मोहन चाचा, चलिए मेरे कहने से एक बार चले चलिए। मैं नहीं कहता कि आप हमेशा साढ़े चार आने में ही देखिए लेकिन उन्हें ऐसी हिक़ारत की निगाह से आपको न देखना चाहिए। असल में यही आपके भाई-बन्द हैं।

लेकिन मोहन चाचा टस से मस न हुए। फिर मैंने उन्हें लालच दिया—बड़े-बड़े मज़े रहते हैं उसमें मोहन चाचा। और मैंने साढ़े चार आनेवाले दर्जे के अनगिनत मज़ों, उसकी अनगिनत आज़ादियों का गुलाबी ख़ाका पेश किया :

बड़े मज़ेदार लोगों से बातें करने मिलती हैं। हँसी-दिल्लगी करने का बड़ा मौक़ा रहता है। दिल खोलकर 'हाय राजा', 'हाय रानी', 'मार डाला', 'नैना बान' की सदायें बुलन्द कीजिए, गर्म-गर्म साँसें छोड़ने में इंजन की चिमनी ही क्यों न बन जाइए, कोई रोकनेवाला मरदूद नहीं। इतना

ही क्यों, बीच में फ़िल्म कहीं फ़ेल कर जाय, तो मैनेजर को, उसकी सात पुश्तों को पानी पी-पीकर कोसिए, गाली दीजिए, गला फाड़-फाड़कर चिल्लाइए, मुँह में 'V for Victory' की तरह दो उँगलियाँ डालकर बेतहाशा सीटी बजाइए, हाल सिर पर उठा लीजिए यानी हर मुमकिन और नामुमकिन तरीक़े से जी की भड़ास निकालिए, दिल ठंडा कीजिए— बीवी से लड़ाई हो गई हो तो सिनेमा-मैनेजर को गाली, चोरकट लड़के ने बारकट की जेब से रुपया निकाल लिया हो तो सिनेमा-मैनेजर को गाली, मकान-मालिक किराये के लिए धरना दिये पड़ा हो, तो सिनेमा-मैनेजर को गाली, ग़रज़ सौ तपिश का एक ही रामबाण ।

जब मेरे सारे अस्त्र अकारथ गये और वह बाबू तपस्वी न डिगा, तो मैंने सोचा, अब लाओ कह ही दूँ कि बच्चू मैं तुम्हारी नस-नस से वाक़िफ़ हूँ । मैंने कहा—"और सब तो बातें ही बातें हैं, मोहन चाचा, असल में इक्के-ताँगेवालों के साथ बैठने से तुम्हें नफ़रत उतनी नहीं है जितना इस बात का डर कि अगर साढ़े चार आनेवाले दर्जे से निकलते किसी जान-पहचानवाले ने देख लिया तो मैं कहीं का न रहूँगा, जीते-जी यही मनाना पड़ेगा कि धरती मैया फट जायँ और मैं उनमें समा जाऊँ।"

चाचा दम्मी साधे रहे । मैं समझ गया, तीर निशाने पर बैठा है ।

(३)

अबकी बार साल भर पर मोहन चाचा के घर गया ।

मोहन चाचा घर पर नहीं थे । सरिता (मोहन चाचा की छोटी बहन) ने बताया—तेल लेने गये हैं ।

मैंने पूछा—तेल ! कैसा तेल ?

सरिता—मिट्टी का तेल । और कैसा तेल !

मुझे तो जैसे किसी ने करेंट छुआ दी हो । मैंने अचम्भे में आकर पूछा—मोहन चाचा और मिट्टी का तेल लेने गये हैं ?

सरिता—हाँ, नौकर अब नहीं है । लेकिन ताज्जुब की बात इसमें क्या है ?

मैंने कहा—सरू, वहाँ तो बड़ी भीड़भाड़ होती है । गन्दे और झगड़ालू लोग होते हैं । आपस में मार-पीट तक हो जाती है, बोतलें चल जाती हैं, सर फूट जाते हैं, छोटे-मोटे दङ्गे हो जाते हैं, वहाँ मोहन चाचा खड़े कैसे हो पायेंगे ?

सरिता—खड़े न हों, करें क्या ? अब पुराने मोहन चाचा नहीं रहे । मँहगी के मोहन चाचा हो गये हैं । सस्ती के मोहन चाचा तो कूच कर गये ।

सरिता हँसने लगी । मैंने कहा—हाँ ऑं ऑं ? ऐसी बात है ? और उनका कल्लीदार कुर्ता ?

सरिता— है, अब भी कभी-कभी निकलता है । लेकिन सहमा-सहमा-सा रहता है । अब तो बड़ी आड़ी-तिरछी जगहों में जाना रहता है इसी से, 'सिविल' लाइन की सैर तो अब है नहीं । आज उसे ही पहने चले गये हैं । न जाने कैसी बीतती है बेचारे पर......और लो आ भी गये भैया ।

सरिता ने आवाज़ ऊँची करके कहा—मोहन भैया ! देखो कौन आया है ।

मोहन चाचा ने वहीं दालान में से आवाज़ दी—कौन है ?

मैंने चीख़कर कहा—मैं, तुम्हारी क़ज़ा, रमेश ।

मेरी आवाज़ सुनना था कि मोहन चाचा ने तेल की बोतल को जहाँ का तहाँ पटका और लपकते हुए सामने आ खड़े हुए—क्यों बे, बहुत दिन पर शकल दिखाई ! साल भर से ऊपर हो रहा है। कहाँ रहा इतने रोज़ ?

मैंने कहा—मोहन चाचा, तुम्हें मालूम नहीं, पकड़ गया था।

मोहन चाचा—क्यों, क्या इसी आन्दोलन के सिलसिले में !

मैंने हँसते हुए कहा—और नहीं तो क्या गिरहकटी के लिए। लेकिन आन्दोलन में मैं शरीक न था।

मोहन चाचा—तब फिर पकड़ा क्यों सबों ने !

मैंने कहा—इसीलिए कि मैं आन्दोलन को आत्म-हत्या का, जापानी ग़ुलामी का रास्ता समझता था और लोगों को उस रास्ते से खींचकर बतलाता था कि एकता ही आज़ादी का रास्ता है। हम हिन्दू-मुसलमान एक होकर जब देश को बचाने के लिए आगे आयेंगे, तो कोई हमारी आज़ादी को न रोक सकेगा। ख़रदिमाग़ इसीलिए पकड़ ले गये। अभी कुल पन्द्रह रोज़ तो हुए हैं छूटे।

मोहन चाचा ने बिगड़कर कहा—पन्द्रह रोज़ हो गये, पन्द्रह रोज़ में ज़मीन तले-ऊपर हो जाती है और आज देख रहा हूँ आपकी मरदूद शकल। पोत दूँ इसी बात पर !

और मोहन चाचा लगे अपने तेल में सने हाथों को मेरे मुँह के सामने लपलपाने। मैंने कहा—पोत न दो। यहाँ डरता ही कौन है ! 'ऐ रावन, तू धमकी दिखाता किसे !' यहाँ इन चीज़ों से नहीं डरा करते। ऐसे जूजू से तो तुम्हीं डरते हो।

मोहन चाचा—अबे गधे, कह, डरता था। अब कौन मकुआ डरता है। अब तो हम हैं और केरोसीन की बोतल, हम हैं और तरकारी की टोकरी, हम हैं और गेहूँ की बोरी, ग़रज़ हम हैं और मँहगी, तीसरा अब इस दुनिया में नहीं।

मैंने कहा—देखता हूँ जहाँ मेरी सारी लेक्चरबाज़ी अकारथ गई वहाँ मँहगी कारगर हुई। अब तो तुम आदमी बन गये हो।

मोहन चाचा—आदमी नहीं, ख़च्चर या दूसरा कोई लद्दू जो तुझे भाये।

मैंने कहा—नहीं, यह बात नहीं। इस चुनाव का हक़ तुम्हें दिया।

और फिर हम दोनों हँसने लगे। सरिता अलग हँस रही थी।

सरिता भली लड़की है। मोहन चाचा को आड़े हाथों लेने में वह मेरी मदद करती है। सरिता से मेरी पटती है। मोहन चाचा को चिढ़ाने के लिए मैंने कहा—क्यों सरू, है न वही बात !

मोहन चाचा चकराये कि आख़िर क्या बात है। सोचे, हो न हो, मुझी से ताल्लुक़ रखती है। बोले—क्या बात जी ?

मैंने कहा—क्यों बतायें ! जाइए पहले हाथ धोइए, बनमानुस हो रहे हैं। हम आदमियों से बात करते हैं, बनमानुसों से नहीं। छिः, किस क़दर बदबू उड़ रही है। केरोसीन में सने खड़े हैं। शर्म नहीं आवी। बाबू बनते हैं। क्यों सरू, तुम्हें ताड़ी की बू पसन्द है या केरोसीन की !

मोहन चाचा इशारा ताड़ गये। बनावटी ग़ुस्सा दिखाते हुए बोले—बदमाश कहीं का। चिढ़ाता है। मारते-मारते भुरकुस निकाल दूँगा। धो तो आने दे हाथ।

और सरिता के पास जाकर बोले—सरू, ज़रा बाँह तो ऊपर चढ़ा दे और देख इस रमेश से मत बोला कर, बड़ा आवारा है। साढ़े चार आनेवाले में सिनेमा देखता है।

मैंने कहा—केरोसीन में नहाने से तो फिर भी अच्छा ही है, क्यों सरू !

अभी तक मैंने मोहन चाचा को ठीक से देखा भी न था। हाथ धोकर लौटते वक़्त उनके कुर्ते पर मेरी नज़र पड़ी।

मैंने कीक मारी—अरे मोहन चाचा, यह क्या हुआ ! तुम्हारा कुर्ता तो सारा चिँथा पड़ा है। यह कोई नया फ़ैशन निकाला क्या !

मोहन चाचा—जी, इस नये फ़ैशन के दो नाम हैं, फ़ैशने-मजबूरी या फ़ैशने-महँगी।

मैंने कहा—यानी !

मोहन चाचा—यानी यह कि कुर्ते के चिँथ जाने के पीछे एक हद दर्जे की मजबूरी है—केरोसीन की दूकान पर जब धींगामुश्ती हो रही हो, उस वक़्त आप अपने कुर्ते को फटने से नहीं बचा सकते।

मैं—और फ़ैशने-महँगी से क्या मुराद है !

मोहन चाचा—तुम्हीं बताओ यह तूफ़ान और किसने बरपा किया है ! इस नाम से उसी को याद कर लेते हैं।

मैं—जी, नाम तो बड़े मौज़ूँ हैं।

मोहन चाचा—आओ, अब गले तो मिल लें। साल भर पर मिले हो।

और हम दोनों सीने से सीना लगाकर गले मिले। मोहन चाचा ने मुझे इतने ज़ोर से दबाया कि मुझे लगा मेरी एक भी हड्डी-पसली साबुत न बची होगी।

मैंने कहा—बड़े मज़बूत हो गये हो। पहले तो मैं तुम्हें दाब लेता था। महँगी का अनाज फल रहा है।

मोहन चाचा ने कहा—ग़लत। यह महँगी के अनाज की ताक़त नहीं है। यह कसरत से आती है।

मैं—अच्छा, तो अब आप कसरत भी करते हैं !

मोहन चाचा—कसरत नहीं, कसरत का बाप करता हूँ। केरोसीन की दूकानों की धींगा-मुश्ती और सट्टी की रेल-पेल से बड़ी ताक़त आती है रमेश। मैंने तो बाक़ी सारी कसरतें छोड़कर इसी को अपना लिया है। तुम तो करते ही होगे यह कसरत !

मैं—मैं तो बहुत दिन से कर रहा हूँ।

मोहन चाचा—लेकिन मालूम होता है फ़ायदा नहीं हुआ !

मैं—अब सबको एक ही कसरत थोड़े ही फ़ायदा करती है। अपना-अपना जिस्म है। लेकिन यह अच्छा हुआ, तुम्हें यह कसरत मुआफ़िक़ आ गई।

हिमालय पहाड़

[अशोक]

पात्र :—

बूढ़ा दूकानदार ।

मज़दूर ।

किसान ।

नौजवान विद्यार्थी ।

हँसता हुआ आदमी ।

स्थान :—

पूर्व भारत का एक नगर ।

[एक पर्दे पर दक्षिण-पूर्व एशिया का विशाल मानचित्र बना है जिसमें हिमालय पहाड़ ख़ूब उभरा हुआ दिखाई दे रहा है। बङ्गाल की ओर जहाँ हिमालय ख़तम होता है, एक दानव रक्त में डूबा हुआ छुरा लिये खड़ा है। उसका एक पैर बर्मा में है और दूसरा उत्तरी चीन में। हवाई हमले का साइरेन बजने पर कुछ लोग भीतर आते हैं जिन्हें देखकर चाय की दूकान का बूढ़ा मालिक पहले ख़ुश होता है, फिर नाराज़।]

बूढ़ा दूकानदार—आओ भाई, आओ, तीसरा पहर होने को आया, आज बोहनी तक नहीं हुई।

एक मज़दूर—हम तो भोंपू सुन के भाग आये। कुछ चाय पीने थोड़े ही आये हैं।

किसान—चाय हमारे बापउ ने नईं पी। हमई कौन बिसात!

बूढ़ा (खीभकर)—तब फिर यहाँ क्यों मरने आये थे! मालूम नहीं, यह चाय की दूकान है!

एक नौजवान—मरने का डर लगा था, तभी तो यहाँ भाग आये, नहीं तो क्यों आते।

एक अधेड़—जवान होकर मरने से डरते हो! फ़ौज में भरती क्यों नहीं हो जाते?

नौजवान—जब अपनी सरकार होगी, तब ज़रूर भर्ती हो जायँगे। लेकिन आजकल फ़ौजवालों को पूछता कौन है? कहीं उल्टे सड़क पर पिट जायँ तो देश-सेवा का अच्छा फल मिले।

मज़दूर—नहीं बाबूजी, आप पिट क्यों जायँगे? हमारे गाँव के कई आदमी हवलदार, जमादार, सूबेदार और बड़े-बड़े हुद्दों पर हैं। उन्हें कोई मारता थोड़े ही है।

नौजवान—सुना नहीं, अख़बार में छपा था कि यहीं किसी गाँव में एक अफ़सर मार डाला गया।

किसान—तभई तो गाँववारन पर फैन हो गई, सैकरन रुपैया। खाँ से लावें बिचारे गरीब गुरबा। बैल-बछिया बेंच के तो पोत नईं दै पाउत।

बूढ़ा—बाबूजी, लड़ाई में और सब लोगों को तो मुनाफ़ा हो रहा है, हमीं घाटे में हैं। चाय पीने लोग आते ही नहीं।

किसान—सकर के दाम ड्योढ़े है गये। खाँ से पियें चाय!

बूढ़ा—उधर दूर हटकर बैठ। शरीफ़ों के बीच में घुसा आता है! तो बाबूजी आपका क्या ख़्याल है, जापानी सचमुच हमला करेंगे?

अधेड़—हमला क्यों नहीं करेंगे। बिना हमला किये हमें आज़ादी कैसे मिलेगी?

किसान—आजादी देन आ रये सारे। कछू अबै लौं मिल गईं, कछू अब आगे मिल जैहै।

अधेड़—क्यों नहीं मिल जायगी? जापानी अँगरेज़ों की तरह थोड़े ही हैं। रेडियो में कहते नहीं हैं, तुम लोग रेल की पटरी उखाड़ो, कारख़ाने बरबाद करो; हम आकर आज़ादी देंगे।

मज़दूर—सुना बाबूजी, चीन में बहुत दिन से जापानी लड़ रहे थे। अब क्या हाल है, वहाँ लड़ाई का।

किसान—आजादी देत हते चीनवारन को सारे। सो चीनवारन ने कई, ठैर जाओ जरा, पहले तुमाई पूजा कर लें नेक। फिर हम लेंगे आजादी।

नौजवान—इसमें शक नहीं कि जापानी चीन को ग़ुलाम बनाने के लिए ही लड़ते रहे हैं।

अधेड़—अरे साहब, अपने को क्या। चीनवालों को बनाते होंगे ग़ुलाम। हमें तो देंगे आज़ादी।

नौजवान—जब चीन को आज़ादी नहीं दी, तो हमें कैसे देंगे?

अधेड़—जब हम उनके यहाँ आने में मदद करेंगे तो वो ज़रूर हमारा ख़याल करेंगे। हाथ पर हाथ धरे बैठे रहोगे तो कुछ न होगा। जापानी आकर दो ठोकरें और लगावेंगे।

मज़दूर—क्यों बाबूजी, जापान में भी रूस की तरह किसान-मजूरों का राज है?

अधेड़—(ज़ोर से हँसकर) जापान में किसान-मजूरों का राज? जापानी ऐसे बेवक़ूफ़ नहीं हैं कि अपने यहाँ किसान मजूरों का राज क़ायम करें।

किसान—और का। मजूर परमेसर ने बनाये मजूरी करन को और किसान बना दये खेत जोतन को। बाबूजी को भेज दओ कि जाओ लला, खाओ चौकी पर बैठ के गुलुर गुलुर मालपुआ। सोई काम जापानी बहादर कर रये हैं।

अधेड़—क्या ऊटपटाँग बक रहा है। किसान खेत नहीं जोतेंगे तो क्या हम जोतेंगे या ये बुढ़ऊ जोतेंगे?

(बूढ़ा और अधेड़ इस मज़ाक़ से ख़ुश होकर हँसते हैं)

नौजवान—जब किसान मज़दूर मेहनत करते हैं तो उनका राज क्यों न हो? जापान में ख़ुद किसान-मज़दूर ग़ुलाम हैं। वहाँ लोग भूखों मरते हैं; खाने को नहीं मिलता तो फ़ौज में भरती होते हैं और अपने मालिकों के कहने में आकर दूसरों को लूटते हैं।

मज़दूर—आपकी बात तो कुछ समझ में आती है। आख़िर चीन देश में भी हमारे जैसे ही किसान-मज़दूर रहते होंगे। और जापानी फ़ौज में भी गाँव के किसान ही भरती होते होंगे। इन्हें क्या पड़ी है जो आपस में कटें-मरें।

किसान—वे सारे मालिक मानें जब ना। हुकुम दै दओ, चलो बेटा लड़ो और कटो मरो; न कटो मरो तो भूखन मरो। का करें बिचारे किसान। चल दये काम पर।

अधेड़—ये किसान-मजूरों की बातें तो करते हैं नास्तिक लोग जो रूस में रहते हैं जहाँ औरतों की इज़्ज़त न आबरू। जिसका जब मन चला, एक औरत लेकर भाग गया।

बूढ़ा—कमीने हैं, बाबूजी। ऐसा राज लेकर हमें क्या करना है जिसमें चार पैसे भी हम न पैदा कर सकें?

किसान—और झँई (यहीं) तुमने कौनसी रोकड़ जमा कर लई है?

बूढ़ा—सुना है, जापानी ख़ूब चाय पीते हैं। शायद जापानी आ जायँ तो कुछ बिक्री होने लगे।

किसान—हम गरीबन को भूल न जइयो। कहूँ चपरासी वपरासी की नौकरी होय तो हम बाहेर थोड़ेई हैं।

अधेड़—अब तो चाहे आज़ादी मिले, चाहे न मिले, जापानी किसी के रोके रुकते नहीं।

नौजवान—यह आवाज़ कैसी सुनाई दे रही है? मालूम होता है हवाई जहाज़ उड़ते हुए इधर ही आ रहे हैं!

अधेड़—जापानी हवाई जहाज़ न हों कहीं!

किसान—तो डरात काये को लालाजी। सुराज देन तो आ रये बहादुर। एक बम्म के गोला में नेक सो सुराज भौं भी भेज दें तो का हरज है।

बूढ़ा—अबे, चुप भी रहेगा। यहाँ जान की पड़ी है, तुझे सुराज की पड़ी है।

किसान—बिना जान-जोखम के सुराज खौं धरो?

मज़दूर—बात तो ठीक है लालाजी। जापानी तो ऐसे ही सुराज देंगे। पहले बम गिरायेंगे फिर और बात करेंगे।

अधेड़—ऐसे सुराज से हम बाज़ आये।

(कहीं धमाके की आवाज़)

बूढ़ा—हाय राम, इन बमों से तो मैं पहले ही मर जाऊँगा, जापान के आने पर चाय कौन बेचेगा!

अधेड़—क्यों भाई, कोई ऐसी तरकीब नहीं है कि जापान का इधर आना हम रोक दें।

नौजवान—है क्यों नहीं। अगर हम लोग आपस में एका करें, तो किसकी हिम्मत है कि इधर की तरफ़ आँख भी उठाये।

बूढ़ा—एका करने से क्या होगा? एका तोप तो है नहीं जो उसे देखकर जापानी डर जायँगे।

नौजवान—अपनी जगह पर तोप मौजूद है लेकिन बिना एके के तोप कुछ नहीं कर सकती।

मज़दूर—सुनते हैं सिंगापुर में बहुत-सी तोपें थीं लेकिन फिर भी जापानी जीत गये।

नौजवान—वह इसी लिए जीत गये कि वहाँ एका नहीं था।

अधेड़—लेकिन एका करने से लोगों को खाना कैसे मिलेगा? लोग तो भूखों मर रहे हैं!

नौजवान—अनाज हमारे ही भाइयों की कोठियों में तो बन्द है। हम उसे ले सकते हैं और अपने भूखे भाइयों को खिला सकते हैं।

मज़दूर—हमला करनेवाले सोचते हैं कि लोग यहाँ भूखों मर रहे हैं, इन्हें आकर जल्दी से पीट लेंगे। लेकिन एका कर के अगर हिन्दू-मुसलमान भूखों को खाना देने के लिए ख़ून-पसीना एक कर दें, तो किस माई के लाल की हिम्मत है जो इस धरती पर पैर रखे!

नौजवान—यही तो जापानी सोचते हैं, यहाँ तो हिन्दू-मुसलमान लड़ते हैं, बंगाली-हिन्दुस्तानी लड़ते हैं, किसान-मजूर लड़ते हैं; चलो यहीं चलो, जल्दी से फ़तेह मिल जायगी।

मज़दूर—और वे यह नहीं जानते कि यह धरती हमारी है। इसकी हम सब लोग मिलकर रक्षा करेंगे। हम उन्हें बता देंगे कि यहाँ हिन्दू-मुसलमान नहीं लड़ते, किसान-मज़दूर नहीं लड़ते;

यहाँ वे अपने भूख से मरनेवाले भाइयों को खाना देने के लिए ख़ुद आधे पेट खाकर रहते हैं। जो अपने भाई के लिए भूखा रहेगा, वह जापान की ग़ुलामी करेगा!

किसान—खून पी जाओ सारन को। खाना देन आ रये सारे कमीने। चीन में होली खेल के हिन्दुस्तान को आजादी देन आ रये सारे जापानी।

नौजवान—यह देखो, बम गिरने की आवाज़। ये अपने ही मुल्क पर गोले बरस रहे हैं।

मज़दूर—और हम यहाँ हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं।

(स्टेज पर मद्धी रोशनी। अगले हिस्सों में दो आदमी बाँस पकड़े हुए एक लाश लाते हैं।)

नौजवान—यह किसकी लाश है?

एक आदमी—यह आदमी जापानी बम से मारा गया है।

मज़दूर—यह हमारा ही भाई है।

(दूसरी लाश)

अधेड़—यह किसकी लाश है!

एक आदमी—यह आदमी भूख से मर गया है। सड़क के किनारे पड़ा हुआ था।

अधेड़—ये हमारे ही भाई हैं जो भूखों मर रहे हैं।

(तीसरी लाश)

बूढ़ा—यह किसकी लाश है?

एक आदमी—यह आदमी बाढ़ में डूब गया था। इसकी लाश शहर के किनारे पड़ी सड़ रही थी।

बूढ़ा—हमारे भाई बाढ़, भूख और जापानी बमों के शिकार हो रहे हैं।

नौजवान—लेकिन हम बाढ़, भूख और जापानी बमों का मुक़ाबला करेंगे। अपने भाइयों को यों न मरने देंगे। हर्गिज़ न मरने देंगे।

(एक आदमी का हँसते हुए प्रवेश)

हँसता हुआ आदमी—क्या कहा—बाढ़, भूख और जापानी बमों का मुक़ाबला करोगे! तुम! तुम ढाई पसली के आदमी! हः हः हः मालूम होता है, हिमालय पहाड़ उठा लोगे।

नौजवान—हाँ, आज देश की रक्षा करना हिमालय पहाड़ उठाने के ही बराबर है। लेकिन हम हिमालय पहाड़ भी उठा लेंगे क्योंकि देश हमारा है।

मज़दूर—देश हमारा है। हम इसे जापान के हाथ में कभी न जाने देंगे।

हँसता हुआ आदमी—देश तुम्हारा है? देश तुम्हारा नहीं है। देश है ब्रिटेन का। जापान को आने दो। तब ब्रिटेन से छुटकारा मिलेगा।

अधेड़—और अपने भाइयों को भूख से मरने दें!

हँसता हुआ आदमी—मरने दो कम्बख़्तों को। ग़ुलामों की ज़िन्दगी ही क्या! बढ़ने दो आग की लपटें। इसी से ग़ुलामी की ज़ंजीरें कटेंगी।

मज़दूर—नहीं, हम अपने भाइयों को भूखों न मरने देंगे। वे हमारे भाई हैं; देश हमारा है, न ब्रिटेन का है, न जापान का। तुम ग़द्दारी की बातें करते हो। अगर देश ब्रिटेन का है, तो ब्रिटेन से क्यों लड़ते हो!

आदमी—जापान तुम्हें खाना देगा।

मज़दूर—(पर्दे की तरफ़ दिखाकर) जापान तुम्हारे दिल में वही छुरा भोंकने आ रहा है जिसे उसने चीन के ख़ून में रँगा है।

आदमी—उसी से तुम्हें आज़ादी मिलेगी।

मज़दूर—जैसे चीन को मिली है। तू ग़द्दार है। तेरी बातों में कोई नहीं आयेगा।

बूढ़ा-अधेड़—कोई नहीं आयेगा।

आदमी—क्या तुम भी नहीं!

बूढ़ा-अधेड़-किसान—कोई भी नहीं।

(आदमी का खिसकना)

[सबका गाना। जनता का साथ देना।]

उठ जाग हिन्दुस्तानी अब नज़दीक है जापान।
ले हाथ में तलवार साथी ओ मज़दूर किसान॥
यह देश हमारा खेत हमारे, चीन हमारा भाई,
इस जङ्ग में आज़ाद होंगे चीन हिन्दुस्तान!
आज़ाद होगा एशिया, आज़ाद सारे देश,
फ़ाशिस्तों से आज़ाद होंगे जर्मनी जापान!
भाई भाई हैं दुनिया के सब देशों के मज़दूर;
इस ज़ुल्मोसितम को दूर करेंगे हम मज़दूर किसान!

पुनर्निर्माण !

[अविनाशचन्द्र]

(सातवें आसमान में झिलमिल-झिलमिल चमकते तारा-लोक से घिरा हुआ एक स्वर्ण प्रासाद का एक कक्ष। सामने एक स्वर्ण-सिंहासन जिसमें स्थान-स्थान पर हीरक-कणों से मीनाकारी की गई है और जिन पर प्रकाश-रश्मियाँ गिरती हैं, छितराकर वापिस होती हैं और सारे कक्ष में प्रकाश करती हैं। सिंहासन के दोनों बाहुओं पर नृत्य-मुद्रा में दो मयूर जिनकी आँखों में विशेष प्रकार की चमक है। सिंहासन गरुड़, नन्दी, हंस और उल्लू के सिरों पर टिका हुआ है।

सिंहासन इस समय खाली है। अगले भाग में एक चाक है जिसके निकट एक ढेर हड्डियों का पड़ा है और दूसरा मांस का। इन दोनों ढेरों के पास बाण की एक टूटी हुई खाट है जिस पर भगवान् लेटे हैं। उन्होंने अपने स्वर्ण-आभूषण और वस्त्रादि उतार दिये हैं और इस समय केवल एक मैली-सी लँगोटी पहने हैं। भगवान् चिन्तित और विचारमग्न दिखाई देते हैं। द्वारपाल अन्दर प्रवेश करता है।)

द्वारपाल—महाराज, भगवान-सभा में जाने का समय हो गया। आज मन्त्रीजी स्वयं आकर कह गये थे कि विषय बहुत गहन है इसलिए आप अपनी सम्मति देने अवश्य पधारें।

भगवान—हूँ।

द्वारपाल—तो महाराज के जाने का प्रबन्ध करूँ।

भगवान—(खीझकर) क्या कह रहे हो?

द्वारपाल—यही महाराज कि आज भगवान-सभा के मन्त्री फिर कह गये थे कि श्री महाराज अवश्य पधारें। भगवान सभा के सामने एक बड़ा जटिल-सा प्रश्न आ खड़ा हुआ है और उसका निर्णय आज ही होना है। सब भगवानों को निमन्त्रित किया गया है।

भगवान—हूँ। मन्त्री किस समय आये थे? तुमने हमें उसी समय सूचना क्यों न दी? हमें उनसे कुछ विशेष कार्य था।

द्वारपाल—महाराज, उस समय कुछ चिन्तित से थे जभी कहना ठीक न समझा। क्या श्री महाराज के जाने का प्रबन्ध करूँ?

भगवान—नहीं। आज हमारे सामने भी एक विचित्र, जटिल-सा प्रश्न आ खड़ा हुआ है जिसका उत्तर ढूँढे बिना नहीं अन्न-जल ग्रहण करना है और नहीं कहीं आना-जाना है। अब यदि कोई बुलाने आये तो उन्हें हमारे पास ले आना।

द्वारपाल—जी, जो आज्ञा महाराज।

भगवान—और देखो, यह मांस सूख तो नहीं गया क्या?

द्वारपाल—(पास आकर, मांस को देखते हुए) यह तो कुछ सूख ही गया है महाराज, इसे आज्ञा हो तो—

भगवान—तो और मांस तैयार रखना, आवश्यकता के समय हमें देना होगा। अब तुम जाओ।

द्वारपाल—महाराज (चला जाता है)।

भगवान—कुछ समझ नहीं आता, क्या करूँ। मैं भी इस विषय को भगवान-सभा के

सम्मुख रख दूँ, शायद कोई इसका उत्तर दे सके। केवल मेरी सृष्टि तो नहीं है, उनकी भी तो सृष्टियाँ हैं, कोई मुझसे बड़ी है, कोई छोटी। उनके सम्मुख भी तो ऐसे प्रश्न आते रहते होंगे। देख पूछूँ तो भला, उन्होंने इस विषय में क्या सोचा है। चला न जाऊँ एक बार (ऊँचे स्वर में) द्वारपाल !

द्वारपाल—(नेपथ्य में) महाराज ! (सामने आकर) आज्ञा महाराज !

भगवान—क्या सभा का समय हो गया ?

द्वारपाल—जी महाराज।

भगवान—अच्छा, तुम्हें इस बात का कुछ ज्ञान है कि आज का विषय क्या है ?

द्वारपाल—नहीं महाराज। मन्त्रीजी ने केवल इतना ही कहा था कि विषय बहुत गहन है, सब भगवान इकट्ठे होंगे, किसी विशेष प्रश्न पर विचार-विनिमय करना है। सभा गुप्त रूप से होगी और समाचारपत्रों के संवाद-दाताओं को भी अन्दर प्रवेश करने की आज्ञा न होगी।

भगवान—हूँ।

द्वारपाल—तो महाराज ने जाने का निश्चय किया है ? रथ तो खुलवा दिया है, आज्ञा हो तो फिर—

भगवान—नहीं, अब तुम जाओ। मुझे एक बात सूझी है, तुम मांस तैयार रखना।

द्वारपाल—जो आज्ञा महाराज।

(पृथ्वी के निकटतम सितारे के भगवान का प्रवेश। वे स्वर्ण से लदे हैं, वस्त्रादि बहुमूल्य हैं, उन्नीसवीं सदी के से। इनके मुख पर आत्म-सन्तोष के भाव प्रधान हैं। यह हमारी पृथ्वी के भगवान के 'मित्र' हैं।)

मित्र—(अन्दर प्रवेश करते हुए, कुछ विस्मित से) यह क्या ? आज तुम ऐसे क्यों पड़े हो ? सिंहासन क्यों खाली है और यह बाण की खाट, हड्डियाँ, मांस, चाक ! इन सब का यहाँ क्या काम है ? कुशल तो है।

भगवान—(अन्यमनस्क-से) कुशल है···कुशल है !

मित्र—नहीं भाई, बात तो कुछ ज़रूर है। सभा में जा रहा था, सोचा तुम्हें भी साथ लेता चलूँ पर देखता हूँ, यहाँ तो—

भगवान—कुछ नहीं—योंही। तुम जाओ, मैं तो नहीं जा सकूँगा। सभा का समय तो हो गया।

मित्र—फिर भी—पता तो चले कि बात क्या है। यूँ उदास पड़े हो। मैं मित्र हूँ, मित्रता के नाते पूछता हूँ, बता दो। कहा न करते थे तुम स्वयं ही मित्र वह जो आड़े समय में, दुःख में परखा जाये। और मैं एक बार तुम्हें ऐसा देखकर चला जाऊँ, यह न होगा। सभा से मुझे उतना प्रेम नहीं, जितना पड़ोसी से है। सैकड़ों भगवान् वहाँ बैठे होंगे, एक हम न सही तो कौन बड़ा अन्तर पड़ जायगा। - पर बोलो भी तो कुछ। क्यों द्वारपाल, कितनी देर से यही दशा है ?

द्वारपाल—जी, बहुत मुद्दत से यही हालत है, न खाते-पीते हैं, न बोलते-चालते हैं और न सोते ही हैं। बस, ऐसे ही आहें भरते पड़े रहते हैं।

मित्र—हूँ। तो तुमने हमें ख़बर क्यों न की। कोई न कोई चिकित्सा तो की जाती। आख़िर वह बात क्या है, यूँही पड़े रहना। (भगवान् से) बताओगे नहीं तो जान लो मैं भी यहीं

बैठा हूँ। (पास ही खाट पर बैठ जाते हैं) पूछकर ही हटने का हूँ अब। द्वारपाल, बाहर सारथी से कह दो, हम सभा में नहीं जाएँगे।

द्वारपाल—जी। (चला जाता है)

मित्र—और यह मांस और हड्डियों का ढेर क्यों लगा है और यह चाक!

भगवान—कुछ नहीं, यूँ ही।

मित्र—जान पड़ता है तुम फिर—फिर कुछ गड़बड़ हुई है क्या?

भगवान—क्या बताऊँ मित्र! ऐसी कठिन स्थिति आ पड़ी है कि न इधर का रहा हूँ और न उधर का।

मित्र—आखिर कहो भी तो बात क्या है, कुछ पता भी तो चले फिर जहाँ तक बन पड़ेगा मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।

भगवान—(आह भरकर) बात ऐसी है कि मेरी पृथ्वी के प्राणियों ने यह निश्चय कर लिया है कि आगे से वे मेरे अस्तित्व को नहीं मानेंगे कि जैसे मैं कोई होता ही नहीं और यह पृथ्वी अपने आप जन्मी है। भला यह भी कहीं हो सकता है! मैंने लाखों वर्षों के कड़े परिश्रम के पश्चात् यह पृथ्वी बनाई है। यह चाँद-सूरज की आज्ञा ली कि उनका प्रकाश वहाँ तक पहुँचे, यह अन्न-जल बनाये हैं, स्त्री-पुरुष बनाये हैं, क्या यूँ ही। मेरा कुछ नहीं? मैं कौन होता हूँ! यही सुनने के लिए?

मित्र—भाई, यह तो बड़ी बात नहीं। मेरी अपनी सृष्टि का यही हाल है। लोग कहते हैं कि यह सृष्टि अपने-आप बन गई है, वैज्ञानिकों ने बड़े-बड़े यन्त्र बनाकर और न मालूम कौन-कौन-सी खोजें करके यह प्रमाणित कर दिया है कि भगवान नाम की कोई चीज़ नहीं है और सृष्टि अपने-आप उगी है। पर मैंने तो कभी इस बात की चिन्ता नहीं की। नहीं याद करते न करें। पहले कभी-कभी उनकी प्रार्थनाओं की ओर ध्यान देना भी पड़ जाता था, अब उससे भी छुट्टी हुई। उठो-उठो।

भगवान—नहीं भाई, तुम भले ही इसे कोई महत्त्व न दो, मेरे निकट तो इससे बढ़कर कोई दूसरी चीज़ नहीं। मेरी सृष्टि मुझे भूल जाये! मैंने यह सब कुछ क्या इसी लिए किया है?

मित्र—तो किस लिए किया है! अरे नहीं भई नहीं, तुमने किया है इसलिए कि तुम्हें करना था। तुम कलाकार हो, तुम्हारे मन में कुछ पैदा करने की भावना और तुममें उसे साकार रूप देने के लिए शक्ति इतनी प्रबल थी कि तुम्हें सृष्टि करनी ही पड़ी। एक माली की भाँति तुमने बाग़ लगाया है, फूलों के मुँह से अपना गुणगान सुनने के लिए नहीं बल्कि इसलिए कि तुम वह बाग़ लगाये बिना रह ही न सकते थे। कम से कम मैंने तो सृष्टि इसी लिए की थी।

भगवान—मैं तुम्हारे साथ सहमत नहीं हूँ।

मित्र—तो तुम करना क्या चाहते हो?

भगवान—कुछ समझ में नहीं आता। सच पूछो तो मैं बनाना कुछ चाहता था, बन कुछ गया है। गेहूँ बोया था, जौ उपजा है।

मित्र—तो इसमें दोष तुम्हारा है। तुम्हें गेहूँ और जौ के बीजों की पहचान ही नहीं। तुम बोओ गेहूँ उगें जौ, ऐसा भी कभी हो सकता है!

भगवान—यही मैं सोचता हूँ कि मुझसे भूल हो गई और इस भूल का सुधार होना चाहिए। इसी लिए तो मैं चिन्तित हूँ।

मित्र—तुम्हारी इच्छा क्या है, तुम्हारी सृष्टि के प्राणी कैसे हों?

भगवान—मैं? मैं यह चाहता हूँ कि वे, क्या बच्चे क्या बूढ़े, क्या स्त्री क्या पुरुष, प्रातः-सायं, सोते-जागते, उठते-बैठते मेरा ध्यान रखें और जो भी कार्य करें वह इस विचार से कि मैं उन्हें हर समय देखता हूँ और उनके हर एक अपराध का उन्हें दण्ड मिलेगा।

मित्र—तो तुम वैसे माली हो जो यह चाहता है कि फूल उसका गुण गाने के लिए खिलें, खिलने के लिए नहीं।

भगवान—अब मुझसे तुम्हारे साथ तर्क नहीं होगा।

मित्र—तुम भी विचित्र हो! बात तुम नहीं करते, तर्क तुम नहीं कर सकते, तुम आख़िर चाहते क्या हो? मुझे कुछ समझ नहीं आता।

भगवान—अच्छा तो नाराज़ मत हो, सुनो। मैंने यह निश्चय किया है कि सृष्टि फिर नये सिरे से करूँ।

मित्र—(विस्मित-सा) तो इस सृष्टि को नष्ट कर डालोगे?

भगवान—हानि ही क्या है। वैसे भी लोगों ने प्रलय नाम की जो चीज़ सोची है पूरी हो जायगी।

मित्र—पूरी तो हो जायगी पर उन्हें पता कैसे चलेगा कि प्रलय आ गई। एक साथ ही तो सभी मर जायँगे—तो तुम इस निश्चय पर पहुँचे हो कि यह सृष्टि ठीक नहीं है, अब दूसरी सृष्टि की रचना की जाये। अच्छा तो तुमने इसके विषय में कुछ सोचा भी होगा?

भगवान—हाँ। मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि इस सृष्टि में मनुष्य को छोड़कर दूसरी सब चीज़ें ठीक बनी हैं इसलिए उन्हें तो वैसे का वैसा रहने दिया जाय। दोष इसी मनुष्य में है, इसका ढाँचा बदल दिया जाय। सब ठीक हो जायगा।

मित्र—तो जभी यह मांस और हड्डियाँ पड़ी हैं। ख़ैर, तो तुमने क्या सोचा है? नया मनुष्य कैसा होगा?

भगवान—सोचता हूँ, इस मनुष्य में भी जो दोष पैदा हो गये हैं, वह इसके पेट के कारण। पेट ही सब बुराई करवाता है। पेट के पीछे मनुष्य इतना पड़ गया है कि उसने मुझे भी भुला दिया है। जिनके पास भर पेट खाने को है, उन्हें मुझे याद करने में कोई लाभ नहीं दिखाई देता और जिन्हें भर पेट खाने को नहीं मिलता, वे गालियाँ देते हैं इसलिए कि वे समझते हैं कि मैं अन्नदाता होकर उन्हें अन्न नहीं देता। सो निश्चय यही किया है कि मनुष्य का पेट काट दिया जाय। क्यों, कैसा रहेगा?

मित्र—बात तो तुम ठीक कहते हो कि सब ख़राबी पेट ही ने पैदा की है पर पेट न रहने से मनुष्य का उत्साह मारा जायगा। अब तो वह नई-नई चीज़ें बनाता है, खोजें करता है, एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता है, फिर वह निठल्ला होकर यूँ ही बैठा रहेगा, उसे कुछ...कुछ।

भगवान—पर सोचो, यदि पहली बार बनाते समय पेट न बनाया होता तो?

मित्र—तुम समझते हो तब मनुष्य चुप करके बैठ जाता! पर मैं तुम्हें कहे देता हूँ यह पृथ्वी भी तुमने ऐसे न बनाई होती, शायद पानी न बनाया होता, पेड़-पत्ते न बनाये होते, अनाज-दाना न बनाया होता, तुमने सूरज-चाँद की मिन्नतें न की होतीं।

भगवान—यह तुम क्या कह रहे हो ?

मित्र—यही कि यदि तुम्हें मनुष्य का पेट काटना है तो अनाज-दाना, फल-फूल यह सब भी उड़ा दो नहीं तो यह पेड़ों के साथ लगे गल-सड़ जायँगे। इन्हें कोई उतारेगा नहीं। यह ऋतुएँ भी उड़ा दो, इनकी कोई आवश्यकता न रहेगी।

भगवान—तो इनकी जगह क्या बनाया जाय ?

मित्र—क्या बनाया जाय ! कुछ नहीं। आवश्यकता ही क्या है ? तुमने पेट बनाया था, उसे भरने के लिए इन सब चीज़ों की आवश्यकता पड़ी थी किन्तु अब तो—

भगवान—सचमुच ही तुमने मुझे सोच में डाल दिया है। अच्छा तो तुम क्या कहते हो ?

मित्र—मैं तो इतना कहता हूँ—निश्चिन्त होकर ऐश करो।

भगवान—फिर भी ?

मित्र—फिर भी कुछ भी मैं नहीं जानता।

[भगवान् की आकृति से मिलते-जुलते एक युवक भगवान् का प्रवेश। यह हमारे भगवान् के 'पुत्र' हैं। बीसवीं सदी ईसवीं के शुरू के दिनों की सी पोशाक। मुख पर आत्म-सन्तोष के अतिरिक्त केवल थकान के भाव हैं]

पुत्र—पिताजी—ओह चाचाजी भी हैं, कहिए अच्छी तरह से तो हैं ? (दोनों के पाँव छूता है)।

मित्र—हाँ भाई सुनाओ, सकुशल लौट आये न ?

पुत्र—कृपा है आपकी। पिताजी, आप स्वस्थ तो हैं न ? जान पड़ता है आपका स्वास्थ्य कुछ—

मित्र—हाँ, तुम्हारे पिताजी को कुछ जनून हो गया है। देखो तो यहाँ इस चाक, इन मांस और हड्डियों का क्या काम ? इतनी दुर्गन्धि हो रही है।

पुत्र—आख़िर कहिए भी तो पिताजी, फिर भी।

भगवान—तुम जाओ। इस समय थकावट होगी। कुछ विशेष नहीं…

पुत्र—पर आप कुछ स्वस्थ दिखाई नहीं देते और फिर यह काम ले बैठे हैं। वैद्यजी ने आपको ऐसे सब कामों से…

भगवान—(खीझकर) ठीक है। तुम जाओ। मुझे कुछ नहीं हुआ। थकान दूर करो।

मित्र—कहो भाई तुम्हारी सृष्टि का क्या हाल है ?

पुत्र—अच्छी है। मैं तो कहता हूँ, सब भगवानों को चाहिए कि वे अपनी-अपनी सृष्टि के प्राणियों से खुलकर मिलें। जितना उनसे वे दूर रहेंगे, प्राणी उतनी ही उनसे घृणा करेंगे, जितना वे निकट होंगे, उतने ही सर्वप्रिय होंगे और आज-कल तो प्रजातन्त्रवाद का बोलबाला है।

मित्र—मैं तुम्हारे साथ सहमत हूँ। जो तुम्हारे निकट लगता है, उसके निकट लगो। देखो, अब मेरा हाल देखो। मेरी सृष्टि के लोगों ने यह निश्चय कर लिया है सृष्टि अपने आप हुई है और मैं कुछ हूँ ही नहीं, मैं कहता हूँ, ठीक है। मुझे तुम याद कर लोगे तो मुझे क्या दे दोगे। मुझे तो अपना कर्तव्य करना ही है, तुम याद करो न करो।

भगवान—तुम भी बस (पुत्र से) इस समय तुम जाओ, मैं व्यस्त हूँ। फिर बातचीत होगी।

मित्र—रहने भी दो, व्यस्त हैं। कितने दिनों पीछे पुत्र दिखा है। पुत्र चला जाता है। तुम्हें कुछ ध्यान भी है। अब तो वह जवान हो गया है और कल को—

भगवान—तो क्या मैं अपने लिए करता हूँ ? कल को वही तो स्वामी होगा। मैं यदि कुछ ठीक करके जाऊँगा तो उसी की सहूलियत के लिए ही तो !

मित्र—अच्छा भई, नाराज़ मत हो। जो तुम्हारी इच्छा हो करो।

भगवान—अच्छा, देखो तो, मनुष्य का पेट न काटकर यदि मस्तिष्क काट दिया जाये तो कैसा रहेगा ? मैं समझता हूँ, इस मस्तिष्क ने ही सब ख़राबी पैदा की है।

मित्र—मैं भी समझता हूँ कि सब दोष इसी मस्तिष्क का है। तुम भी तो योंही मस्तिष्क लड़ा रहे हो, बस, लड़ाने के लिए ही तो !

भगवान—तुम फिर परिहास पर उतर आये हो। मैं कहता हूँ, अच्छी तरह सोचकर देखो।

मित्र—सोचकर क्या देखूँ, अजी मियाँ तुमने पहले-पहल जब सृष्टि बनाई थी तो क्या मस्तिष्क भी बनाया था ?

भगवान—नहीं तो।

मित्र—यह चीज़ उन्होंने अपने आप पैदा की है। इतने परिश्रम के पश्चात् यहाँ पहुँचे हैं। आज तुम यदि उनका मस्तिष्क निकाल ही फेंको तो मनुष्य की दशा वही होगी जो आज से हज़ारों वर्ष पहले थी और फिर उसे इतने ही वर्ष लग जायँगे और वह धीरे-धीरे उन्नति करता यहीं पहुँच जायगा जहाँ आज है।

द्वारपाल—(प्रवेश करते हुए) महाराज, बेतार से सूचना मिली है कि सब भगवान पहुँच रहे हैं, आप भी समय पर पधारें।

भगवान—हूँ।

द्वारपाल—क्या आज्ञा है ?

भगवान—मैं आज नहीं जा सकूँगा। मित्र, तुम चले जाओ।

मित्र—न, यह न होगा। द्वारपाल, उनसे कह दो कि महाराज का स्वास्थ्य ठीक नहीं है और यह कि मैं भी इनके पास बैठा हूँ और नहीं आ सकूँगा।

द्वारपाल—जी। (चला जाता है)

मित्र—मैं तो यही समझता हूँ कि जो एक बार हो चुका है, दोबारा फिर वही हो जायगा, इससे अधिक कुछ नहीं। मस्तिष्क हटाने के झंझट को भी छोड़ो। चलो उठो, साथ में चलें। मुद्दत हुई है उन लोगों से मिले। सभा के पश्चात् एक भोज भी है, ख़ूब आनन्द रहेगा। उठो।

भगवान—नहीं, यह नहीं हो सकता।

मित्र—उफ़ ! दुर्गन्ध कितनी है ! तुमसे यहाँ बैठा कैसे जा रहा है। उठो भला, कहीं कुछ हो ही न जाय।

भगवान—द्वारपाल।

द्वारपाल—जी।

भगवान—यह मांस और हड्डियाँ यहाँ से उठवा लो; दुर्गन्ध आने लगी है। दूसरा भेज दो।/ द्वारपाल जाने लगता है।

मित्र—अभी मत भिजवाना, बुलवा लेंगे। मनुष्य तुम्हें क्या ख़ाक याद करें। तुम उनकी हड्डियों और मांस से ऐसा व्यवहार करते हो।

भगवान—अच्छा, तो तुम्हीं कुछ सुझाओ। मैंने कहा, यदि मनुष्य की वासना—काम

(sex) हटा दिया जाय तो कैसा रहेगा। इस वासना ने भी तो कितनी ख़राबियाँ पैदा की हैं। हमारे कई मित्रों का विचार है कि यही जड़ है, यही सब कुछ करवाता है। मनुष्य ने इतनी उन्नति जो की है उसका एकमात्र कारण यही है। मैं चाहता हूँ, स्त्री-पुरुष का भेद ही न रहे। न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी।

मित्र—क्या निरर्थक-सी बात की है तुमने। जो वस्तु उन्नति का कारण है, उसे तुम हटा दोगे।

भगवान—मैं इसे उन्नति नहीं कहता, अवनति कहता हूँ।

मित्र—तुम इसे अवनति कहते हो! क्या स्वयं तुम्हें स्त्री से घृणा है! तुमने स्वयं अपनी स्त्री के लिए क्या कुछ किया है, वह सब भूल गये हो!

भगवान—क्या कहते हो!

मित्र—क्या कहता हूँ! मैं कहता हूँ, मुझसे सच्ची बात न कहलवाओ। सच्ची बात कड़वी होती है। पेट, मस्तिष्क और वासना तीनों मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक हैं और तीनों को पूरा-पूरा आहार मिलना चाहिए।

[एक नवयौवना प्रवेश करती है। देखने में अति सुन्दर, मुँह पर कान्ति, गर्व, आत्म-ज्ञान, आत्म अभिमान के भाव। यह १६१८ ईसवी की लड़ाई के बाद के समय के वस्त्रादि पहने है। वह भी एक सितारे की 'भगवान' है और पृथ्वी के भगवान की एक 'सखी'।]

सखी—(विस्मित-सी) यह—यह क्या दशा है! यह चाक! यह बाण की खाट! संन्यास लेने लगे हो क्या!

मित्र—हाँ, कुछ ऐसा ही विचार है।

सखी—सच!

भगवान—नहीं-नहीं, कुछ नहीं।

सखी—सभा में गई थी, सोचा था तुम भी आये होगे। देखने को जी कर रहा था, इधर मुद्दत से देखना न हुआ था, मैं न आ सकी, तुमने भी भुला दिया—क्यों! और आप, आप भी शायद सभा में नहीं गये!

मित्र—यहाँ की समस्या सभा की समस्या से अधिक जटिल थी।

सखी—क्या!

भगवान—कुछ नहीं।

भगवान—कुछ नहीं! छिपाना चाहते हो, अच्छा न सही।

सखी—नहीं-नहीं, ऐसी कोई बात नहीं।

मित्र—छिपायेंगे क्यों! मैं आपको बताऊँगा, आप ही कोई राह निकालियेगा।

सखी—मैं! मैं क्या कर सकती हूँ!

मित्र—आपकी भी तो आख़िर इतनी बड़ी सृष्टि है।

सखी—मैंने उनके कामों में दख़ल देना छोड़ दिया है।

भगवान—(जैसे सोते से जगकर) छोड़ दिया है!

सखी—(सहज स्वभाव से) हाँ, इससे वे भी सुखी हैं, और मैं भी।

मित्र—सो कैसे!

सखी—मैंने उनसे कह दिया है कि वे सब मनुष्य हैं, कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। हर एक की आवश्यकतायें उसकी योग्यता के अनुसार पूरी होनी चाहिए। अच्छी तरह जीने से मतलब है, लड़-मरकर बड़ा-छोटा होने से नहीं। तुम किसी पर धावा न बोलो, किसी की ओर बुरी आँख से न देखो और जो तुम्हारे घर चोरी करने आये उस पर टूट पड़ो।

भगवान—तुमने सचमुच ऐसा कह दिया है ?

सखी—हाँ। मैं सुखी हूँ, मेरी सृष्टिवाले सुखी हैं।

भगवान—पर तुम्हारा क्या अस्तित्व है ?

सखी—मेरा स्थान उनके हृदयों में है।

भगवान—यह तुम क्या कह रही हो ?

सखी—मैं क्या, मेरे साथ दो और ने भी ऐसा किया है। यहाँ से दुर्गन्ध कैसी आ रही है ? [द्वारपाल दो और सेवकों के साथ मांस उठाए हुए अन्दर प्रवेश करता है] यह, यह यहाँ क्यों ला रहे हो ?

द्वारपाल—महाराज की ऐसी ही आज्ञा है।

सखी—महाराज की आज्ञा ?

मित्र—हाँ, महाराज की आज्ञा। महाराज को वर्तमान मनुष्य पसन्द नहीं। इनका कहना है कि उन्होंने इनके अस्तित्व को भुला दिया है, कि वे अब इन्हें मानते ही नहीं। पहले इनके प्रसाद के सामने हर समय दस-पचास जटाधारी चापलूस धूनी रमाये बैठे रहते थे, अब नहीं बैठते। बस, इनका जी उचाट हो गया है। यह कहते हैं, यह आदमी नाकारा हो गया है। अब नया आदमी बनाना चाहिए और उसी का ढाँचा तैयार कर रहे थे।

सखी—जभी। मैं भी कहूँ, आज यह हालत क्यों ? छोड़ो परे, उठो भी, क्या फ़िज़ूल झंझट ले बैठे हो। जाओ द्वारपाल, ले जाओ इसे वापिस और यह चाक उठा लो, यह मांस और हड्डियाँ और खाट ले जाओ और इनके वस्त्रादि लाओ।

द्वारपाल—महाराज।

सखी—महाराज क्या ? मैं जो कह रही हूँ (भगवान को बाँह से पकड़कर उठाती है) ऐसे सुहावने मौसिम में कोई राग-रङ्ग होना चाहिए। और सुना तुमने, तुम भी वही करके देखो जो मैंने किया है। तुम भी सुख-चैन से रहोगे, तुम्हारी सृष्टिवाले भी सुख-चैन से रहेंगे। उठो। (भगवान उठते हैं)।

भगवान—पर-पर...

मित्र—अरे ठीक है, एक बार करके देख तो लो।

सखी—ओ द्वारपाल, आज से सृष्टि नए तरीक़े से चलेगी, और यह मांस और हड्डियाँ ले जाओ, मारे दुर्गन्ध के नाक सड़ रही है। घर से भूकी चली थी कि तुम्हारे यहाँ चलकर—सुना द्वारपाल, मुझे भूख लग रही है।

द्वारपाल—जी।

मित्र—ठीक है फिर। फिर कोई प्रोग्राम हो जाय।

[एक ओर से 'सखी', दूसरी ओर से 'मित्र' भगवान को पकड़कर ले जाते हैं। भगवान भारी क़दमों से चल रहे हैं]।

चार दिन

[श्रीचन्द्र अग्निहोत्री]

सवेरे आठ बजे की गाड़ी से आया था। सेकेण्ड क्लास में भी इतनी भीड़ कि कानपुर से कलकत्ते का सफ़र नरक की यात्रा हो गया था। आठ बजे से अब तक नहाने-खाने के अलावा रह-रहकर विश्राम करता और सोने की चेष्टा करता रहा, कुछ सोया भी। ज़्यादा नहीं सो सका, क्योंकि कवि-निवास कुछ मेरा घर तो था नहीं, सारे देश के कवि जुटे थे, विभिन्न रुचि के। कोई गाता था, कोई कविता पाठ करता था। कुछ देर तक करवटें बदलने के बाद घड़ी उठाकर देखी, तो चार बज चुके थे। छः बजे से कवि-सम्मेलन। आँखें मलता हुआ उठा, साबुन और तौलिया उठाई और बाथरूम का रास्ता लिया। मुँह-हाथ धोकर आया, सूटकेस खोला। अब इस विचार में पड़ा कि कौन-से कपड़े पहन जाऊँ। रेशमी शेरवानी, चूड़ीदार पाजामा और मख़मली किश्ती टोपी मुझे काफ़ी सजती है। यू० पी० के कवि-सम्मेलनों में यही पहनता हूँ। है भी तो यह यू० पी० की दरबारी पोशाक। सोचा, 'लेकिन ऐसी गरमी में तो ये कपड़े बोझ हो जायँगे। क्यों न सिल्क का कुर्ता, बङ्गाली धोती और खुले सिर जाऊँ। चादर कन्धे पर डाल लूँ। कलकत्ते में यह ड्रेस ख़ूब फबेगी।' कुछ देर तक यही सङ्कल्प-विकल्प रहा। आख़िर धोती-कुर्ता पहनना ठीक जँचा। मख़मली किनारे की धोती, और रेशमी कुर्ता पहना, दुपट्टा कन्धे पर डाला, वेस्ट एण्ड वाच कलाई में बाँधी, पार्कर पाकेट में लगाया, छड़ी हाथ में ली, और मख़मली नागरा पहनकर निकला।

'काकजी, आज तो बड़े ठाठ हैं!' सरसजी ने मुझे देखकर कहा।

मैंने ज़रा-सा मुस्कुरा दिया—'कुछ नहीं, हवाख़ोरी की ड्रेस है। मैंने ठाठ नहीं बनाया।'

सड़क पर आया, तो मैं इस उधेड़-बुन में था कि कौन-सी कविता सुनाऊँ, मेरी 'प्रथम-मिलन' कविता पर रसज्ञ झूम जाते हैं, 'सावन बीत्यो जाय' की टेक लेकर मैंने जो रचना की है, वह अगर कोई बड़ा आदमी, यानी नामी आदमी, करता तो नोबेल पुरस्कार पाता, और 'हिये की पीर' पर तो श्रोता कलेजा थाम लेते हैं। मैं चलता जा रहा था कवि-सम्मेलन के पण्डाल की ओर, और मन यह निश्चय करने में लगा था कि आख़िर कौन-सी कविता सुनाऊँ। अभी चित्तरञ्जन एवेन्यू पर हरीसन रोड की ट्राम-लाइन तक आया था कि मुझे एक बहुत धीमी आवाज़ सुनाई पड़ी, जैसे मेरे कान के पास आहिस्ते से कोई कुछ कह रहा हो। मैंने कान न दिया, और दो क़दम और आगे बढ़ गया। वह आवाज़ फिर सुनाई पड़ी। मैं रुक गया, मुड़कर देखा तो मुझसे एक हाथ की दूरी पर एक कङ्काल बैठा था। कङ्काल कहना ही ठीक होगा, क्योंकि गाल इस क़दर पिचक गये थे कि मुँह की सारी हड्डियाँ दिखती थीं, आँखें भीतर धँसी हुई थीं, छाती पर मांस का नाम न था। एक-एक पसली गिन लीजिए। पेट और पीठ में एक अंगुल का अन्तर। कपड़े के नाम एक चिरकुट था, जो लँगोटी की तरह बँधा था। वह अङ्गों को ढँके था, यह कहना तो बहुत अधिक होगा। हाँ, यह कहा जा सकता है कि बदन पर कपड़ा था, इसलिए नङ्गा न कहना चाहिए। लड़का क़रीब बारह साल का था, इसलिए ऐसा चिरकुट न भी होता, तो कोई यह एतराज़ न करता कि नङ्गा घूमता

है। मैंने सिर से पैर तक देखा जुआर की पतली सूखी करबी-से हाथ-पाँव, साँवला रङ्ग, मैल की परत। वह कुछ कह रहा था, लेकिन मुझे सिर्फ़ सायँ-सायँ की आवाज़ सुनाई पड़ रही थी।

मैंने पूछा—क्या ?

लड़के ने कुछ कहा, और हाथ फैला दिया। उसने क्या कहा, यह तो समझ न सका, लेकिन हाथ फैला देखकर समझ गया कि कुछ माँगता है। एक उपेक्षा की नज़र उस पर डालकर आगे बढ़ा। लेकिन दो क़दम ही चला था कि मुझे ऐसा लगा कि लड़का मेरे सामने हाथ फैलाये खड़ा है। उसका कंकाल ठीक उसी तरह का मेरी आँखों के सामने आ गया। मैं चौंक-सा गया। मुड़कर देखा, तो लड़का उसी जगह बैठा था, जहाँ मैंने देखा था। मैं उसके पास आया, और उसके हाथ में एक इकन्नी दे दी। लड़का मेरी तरफ़ धुँधली आँखों से ताकता रहा।

मैं आगे बढ़ा, और अपने छूटे विचार के तागे को पकड़ने की कोशिश की। कवि सम्मेलन में कौन-सी कविता सुनाऊँ—प्रथम मिलन, या सावन बीत्यो जाय, या हिये की पीर ? लेकिन अजीब हालत थी। जब-जब मैं गुनगुनाता कि देखूँ कौन कविता पढ़ने में अच्छी लगेगी, तब-तब वह लड़का मेरी आँखों के सामने आ जाता। मैं चौंक पड़ता, आख़िर बात क्या है ! मैंने बारहा कोशिश की कि मैं अपनी कविता पर ही ध्यान केन्द्रित रखूँ, लेकिन न रख सका। किसी तरह पैरों को आगे बढ़ाता पंडाल के द्वार पर पहुँचा। स्वागत-मंत्रीजी ने मुझे लाकर मंच पर बैठाया।

मंच खूब सजा हुआ था। कवियों के बैठने के लिए मखमली क़ालीन, सभापतिजी के क़ालीन पर ज़रदोज़ी का काम था। सामने सोने के पानदान, इत्रदान के साथ-साथ काँच के दो सुन्दर गुलदस्ते गुलाबी रङ्ग के पानी से भरे रक्खे थे, जिनमें विलायती फूल जगमगा रहे थे। मंच के चारों ओर नामी कवियों के फोटो और चित्र तथा अनेक कलाकारों की कला-कृतियाँ टँगी थीं। महफ़िल में सुगन्धियों की लहरें उठ रही थीं। मैंने सोचा, 'यहाँ ठीक से तय कर सकूँगा कि मैं कौनसी कविता सुनाऊँ।' मैं फिर तीनों की तुलनात्मक परख करने लगा। लेकिन लड़का मेरा पिण्ड ही न छोड़ता था। मुझे अब ऐसा लगा कि मेरे चारों ओर वही लड़का है। जिधर निगाह डालता हूँ उसके सिवा कोई नहीं। हाथ फैलाये वह कंकाल बैठा है। मेरा सिर चक्कर करने लगा। आख़िर बात क्या है ! यह कौन-सा रोग हुआ ! मुझे वहाँ बैठना भार मालूम होने लगा। मैं उठ पड़ा।

'क्यों, कहाँ जा रहे हैं काकजी ?' सरोजजी ने पूछा।

'भई, मुझे सिर-दर्द है। ज़रा सामने के पार्क में बैठूँगा।' मैंने अन्यमनस्क होकर कहा।

'या दिल-दर्द है, कहीं सहेटस्थल को ?' सरोज ने मुसकुराकर कहा।

मैंने कुछ उत्तर न दिया और वहाँ से उठकर बाहर आया, और एक रिक्शावाले से कर्ज़न पार्क को चलने को कहा।

× × × ×

दूसरे दिन कवि-सम्मेलन एक बजे दिन से होने को था। आज सवेरे से चार बार स्वागताध्यक्ष जी मेरे पास आ चुके, और मेरी कल की अनुपस्थिति पर पछता चुके। 'आज मैं ज़रूर सुनाऊँ' यह उनका हठ है। मैं भी सुनाना चाहता हूँ। आख़िर आया भी तो इसी लिए हूँ। लेकिन कल से जब से मैंने उस लड़के को देखा, मेरी मानसिक दशा कुछ अजीब-सी है। मुझे न कविता अच्छी लगती है, और न कवियों का दरबार। गप्प लड़ाने के लिए मैं मशहूर हूँ, लेकिन तब से मैं कुछ इस क़दर किनाराकश रहा कि लोग तअज्जुब में हैं। सरोजजी ने पूछा भी, 'भई, हो क्या गया ? कुछ

कहो भी ! बङ्गाली जादू तो नहीं लगा !' लेकिन उसका मज़ाक़ मुझे अच्छा नहीं लगता, मैं कुढ़ जाता हूँ।

मैंने बेमन शेरवानी और पाजामा निकाला, पहना, मख़मली टोपी भी लगाई। घड़ी और छड़ी तो संगिनें हैं। तैयार होकर चला पण्डाल की तरफ़, अकेला। कल जिस जगह वह लड़का दिखा था, उसके पास पहुँचा, तो वह लड़का दिखलाई न पड़ा। लेकिन ज़रा दूर पर एक लड़का-सा एक लाल-लाल चादर ओढ़े बैठा था। मुझे ऐसा लगा जैसे वह काँप रहा हो। कौतूहल हुआ, बात क्या है ? पास गया। एक अधवयस उसके पास बैठा था। मैंने पूछा—'क्यों, यह लड़का काँप क्यों रहा है ?'

उसने बँगला में पूछा—'क्या ?'

मैंने बँगला में कहा—'यह लड़का काँप क्यों रहा है ?'

'यह बीमार है बाबू', उसने कहा।

'किसी अस्पताल में दे दो।'

'अस्पताल में क्या दूँ मेरे बाप, क्या है मेरे पास ! मेदिनीपुर मकान है, बाढ़ सब ले गई। इसे तीन दिन तक एक पेड़ पर रखा, और अब यहाँ आया, तो कभी खाने को दो कौर भात मिल जाता है, कभी वह भी नहीं।'

'इसे कुछ उढ़ा दो।'

वह विवश देखता रहा। उसके पास सिवा उस लाल चादर के और कुछ था ही नहीं। मैं विवश। मेरे पास भी तो कुछ न था।

'अच्छा, तुम इसके पास लेटकर इसे छाती से चिपटा लो', मैंने कहा।

बूढ़े ने वैसा ही किया। मैं एक क्षण तक वहाँ खड़ा रहा, फिर चल पड़ा। ट्राम रास्ता पार करके माधव-भवन के सामने पहुँचा था कि एक ए० आर० पी० का नौजवान एक लेटी हुई स्त्री के पास खड़ा दिखलाई पड़ा। मैं जब और निकट गया तो ऐसा लगा, जैसे वह स्त्री न हिलती है न डुलती।

'क्या बात है ?' मैंने ए० आर० पी० वाले से पूछा।

'बात क्या है बाबू, यह औरत मर गई।'

'मर गई ! यहीं सड़क पर !' मैंने आश्चर्य के साथ कहा।

'कैसे ?' अचानक ये शब्द मेरे मुँह से निकल गये।

'जान पड़ता है आप बाहर से आये हैं। यहाँ खाना न मिलने से रोज़ सड़कों पर मौतें हो रही हैं। ये सब देहातों से आये हैं। भिखमङ्गे नहीं, किसान हैं। सोचा होगा कलकत्ते चलें, कुछ मिलेगा। यहाँ भी मौत पीछा नहीं छोड़ती।'

'भूख से !'

'जी।' ए० आर० पी० वाले ने ऐसे ढङ्ग से कहा, मानो उसका गला भर आया हो, और अब वह कुछ सोच रहा हो। वह गम्भीर हो गया।

मैं उस औरत को देखता रहा। मुँह ढँका हुआ था एक फटी पीली धोती से। एक हाथ खुला था जिसमें दो चूड़ियाँ थीं। साँवले रङ्ग की।

'किस तरह तिल-तिल कर इसने प्राण दिये होंगे। सिर्फ़ दो कौर भात के लिए तरस-तरस-कर।' मैंने मन में सोचा, और सिहरन-सी हुई।

मैं वहाँ से चल पड़ा, लेकिन कवि-सम्मेलन के पण्डाल की तरफ़ नहीं। मैं उल्टे पाँव कवि-निवास आया, अपना कमरा बन्द कर लेट रहा। मेरे सिर में इतना दर्द था कि सिर फटा जा रहा था।

× × × × ×

कल शाम से ही आकाश में बादलों का जमाव हो रहा था। रात भर में आकाश में बादलों के पहाड़ लग गये। सवेरे जब मैं उठा, तो देखा बूँदें पड़ रही हैं। आज कवि-सम्मेलन तीसरे पहर चार बजे से होना था। मैं अपने को धिक्कारता रहा, 'आख़िर स्वागत-समिति के पैसों से आया, उसी का खा रहा हूँ, और सम्मेलन में एक दिन भी शामिल न हुआ।' मन का खिंचाव तो न था, लेकिन तय किया कि आज ज़रूर कुछ सुनाऊँगा।

सवेरे जो बारिश आरम्भ हुई थी, वह सारे दिन होती रही। मौसम बिलकुल ख़राब लेकिन तीन बजे पानी थम गया, बादल भी कुछ छँट गये। मैंने खद्दर का कुर्ता पहना, चप्पलें पहनीं, और ऐसे चल पड़ा मानों घूमने जा रहा हूँ। रह-रहकर दो दिन की घटनाएँ मेरी आँखों के सामने घूम जातीं। मैं सेण्ट्रल एवेन्यू पर जा रहा था। जब उस जगह पहुँचा जहाँ पहले दिन वह लड़का मिला था, अचानक ठिठक गया। इधर-उधर देखा, लेकिन वह लड़का कहीं न दिखलाई पड़ा। वह बीमार लड़का और बूढ़ा भी न दिखा। ट्राम-लाइन पार कर आगे बढ़ा तो माधव-भवन के पास कुछ बे घर वाले बरसाती के नीचे एक पर एक लदे बैठे थे। बरसात ने उनसे फ़ुट-पाथ भी छीन लिया था। और आगे बढ़ा, तो मुहम्मद अली पार्क के पास एक औरत पड़ी दिखलाई पड़ी। उसके पास ही एक और औरत, कोई बीस-बाईस साल की, बैठी रो रही थी। दो बच्चे इधर-उधर सीं-सीं कर रहे थे, और थोड़ी दूर पर सूखी मूली-सा एक लड़का, शायद एक साल का हो, एक चिथड़े में ढँका पड़ा था। यह सब देखकर मैं सहम गया। रुककर पूछा, 'यह औरत क्यों पड़ी है?' तब तक मैंने ग़ौर से देखा। औरत के बदन में ऐंठन हो रही थी। वह तिलमिला रही थी, और ख़ूब जल्द-जल्द किन्तु क्षीण साँसें ले रही थी।

पास में बैठी औरत ने कहा—'बाबू, सात दिन से एक दाना पेट में नहीं गया। मर रही है। उधर देखिए,' औरत ने हाथ के इशारे से कहा—'वह लड़का मेरा है।'

'जो कपड़े से ढँका पड़ा है?' मैंने बीच में ही पूछा।

'हाँ बाबू,' आँसुओं की धार उसकी आँखों से बह रही थी। 'वह चल बसा है। मेरे दूध निकलता नहीं कि पिलाती। बाहर से कुछ पा न सकी। आज जो बारिश हुई, डायन, नाश कर दिया। मेरी कोख सूनी कर दी। कहाँ रहती, इसी खुले में रही। लड़का भीग गया और चटपट।' वह धाड़ मारकर रोने लगी।

मैं उसके पास बैठ गया। अचानक मेरा हाथ उसकी पीठ पर पहुँच गया। मैंने अपने कुर्ते के छोर से उसकी आँखें पोछीं, 'बहन, रो न। देख, यह आफ़त तो सब पर आई है। धीरज धर।' लेकिन मेरी आँखों से भी आँसू झर रहे थे।

उसे जैसे कोई सहारा मिला। उसने मेरी छाती में सिर धर दिया, और फूट-फूटकर रोने लगी। मेरी आँखों से आँसू चू-चूकर उसकी पीठ पर गिरने लगे।

'इसके लिए मैं कुछ दूध लाऊँ?' मैंने उससे पूछा।

'अगर ला सको बाबू—' उसने बड़ी दीनता से कहा।

मैंने इधर-उधर नज़र दौड़ाई, कहाँ होगी दूध की दूकान। मुझे याद पड़ी एक दूकान ट्राम-रास्ते पर। 'अच्छा मैं अभी आया।'

मैं एक सेर दूध लेकर आया। 'तुम भी पियो, और इन बच्चों को पिलाओ।' मैंने दूध का बड़ा कूज़ा रखते हुए कहा, और उस मरणासन्न स्त्री की तरफ़ मुड़ा। देखा उसकी साँस मन्द पड़ती जा रही है। मैं ज़रा झुका उसके मुँह के पास। बड़ी तीखी गन्ध आ रही थी। मैंने उसका सिर अपनी जाँघ पर रख लिया, और एक छोटी टीन की कटोरी से, जो उस परिवार के पास थी, उस स्त्री के मुँह में दूध डाला। दूध कुछ अन्दर गया, लेकिन अधिक नहीं। मैंने ज़रा दाँत उटाने की कोशिश की। मुझे ऐसा लगा जैसे वह धीमी साँस भी बन्द हो गई क्या? मैं देखने लगा, बीस-वर्षीया स्त्री भी मेरे पास आ गई। उसने ग़ौर से देखा, और चीख़ मारकर रो पड़ी, 'माई गो, दीदी चल बसी।' मैं उस लाश को जाँघ पर लिये का लिये ही रह गया।

× × × ×

'क्यों, अब कैसी तबियत है?' किसी ने मुझसे पूछा।

मैं शिथिल था, जैसे मेरे बदन का सारा ख़ून निचोड़ लिया गया हो।

'मैं कहाँ हूँ? और आप?'

'तुम कवि-निवास में। और मैं शिवमंगल।'

मुझे कवि-निवास और शिवमंगल को समझने में कुछ समय लगा। जब मैं समझ पाया, तो पूछा, 'और वह औरत, वे बच्चे?'

'वे वहीं हैं।'

मैं छटपटा उठा। 'शिवमंगल, कमरे में गन्ध कैसी है? बड़ी तीखी गन्ध।'

'गन्ध बिलकुल नहीं। तुम्हारा भ्रम है।'

'मुझसे तो रहा नहीं जाता। सिर चकरा रहा है। मैं यहाँ कैसे आया?'

'तुम आँखें बन्द करके ज़रा सोने की कोशिश करो।'

मैंने आँखें बन्द कर लीं। शिथिलता थी। आँखें शायद ख़ुद ही बन्द हो गईं। लेकिन नींद नदारद। एक-एक कर तीन दिनों के सारे दृश्य सामने आये, और मन केन्द्रित हो गया उस परिवार पर जिसमें बची है एक स्त्री और दो बच्चे। सब खुले मैदान में। भोजन? हवा और पानी। मुझे ऐसा लगा मानो मेरे दिल की धड़कन बहुत तेज़ हो गई हो। मैं घबरा गया। चीख़ पड़ा। 'शिवमंगल मुझे बचाओ।' और उठ बैठा और शिवमंगल की तरफ़ लपका-सा। वह पास की कुर्सी से लपककर चारपाई पर आ गया, और मुझे चिपटा लिया।

'क्या बात है? सपना देख रहे थे क्या?'

'नहीं शिवमंगल, दिल की धड़कन बहुत बढ़ गई है। डाक्टर, हार्ट फ़ेल होनेवाला है।'

'लेट जाओ, मैं हवा करता हूँ।'

मैं लेट गया। शिवमङ्गल ने पङ्खा ज़रा तेज़ कर दिया।

'शिवमङ्गल, वह परिवार मेरी आँखों के सामने नाचता है। भूखे बच्चे, निराश्रय स्त्री, दो की मौत, एक की शीत से ठिठुरकर और एक की दो-दो दानों को तरस कर।'

'काक, तुम बहुत भावुक हो। लेकिन यों घबराने से तो समस्या हल न होगी।'

'मैं यह नहीं कहता। मैं कहता हूँ, आखिर हम सब कर क्या रहे हैं! एक तरफ़ यह सब, एक तरफ़ हम!' मेरा इशारा अपने कवि-कर्म की तरफ़ था। शिवमङ्गल समझ गया। शिवमङ्गल प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० है, कानपुर में पत्रकार, मज़दूर नेता और साथ ही कवि और समालोचक। हम रोमांसवालों पर व्यङ्ग करना, छायावाद पर फबतियाँ कसना उसका कर्म है। मेरा मित्र है, सहपाठी होने के नाते। तीन दिन से जो संघर्ष मेरे भीतर था, वह आज कुछ साफ़ उभर आया।

'तुम आराम करो, यह सब जब अच्छे हो जाओगे।' ज़रा हँसकर, 'इस समय यह साहित्यिकी झोंक!'

'शिवमङ्गल, मैं बीमार नहीं। मेरे भीतर यही संघर्ष चल रहा है।'

'अच्छा!' जैसे शिवमङ्गल मज़ाक़ कर रहा हो—'तो यह कहो बीमारी भी कवितामय है!'

'ज़रा गम्भीर बनो!' मैंने गम्भीर होकर कहा।

शिवमङ्गल समझ गया कि मैं यों ही नहीं पूछ बैठा, चिन्तित हूँ।

उसने कहा—'तो देखो, कोरी भावुकता से कुछ न होगा। इन सारी शक्तियों को समझो, और उनके सङ्गी बनो। तभी कला की उपयोगिता है। मैं यह नहीं कहता कि क़लम रख दो। मगर क़लम को ठीक से चलाओ। इस वक्त सो जाओ, तुम्हें विश्राम की ज़रूरत है। काफ़ी शिथिल लगते हो।'

मुझे शिवमङ्गल के शब्द मरहम-से लगे। मैंने करवट बदली, और सो गया।

× × × × ×

सवेरे आँख खुली, देखा शिवमङ्गल कुर्सी पर, 'तुम सोये नहीं!'

'सो लूँगा, फिर तो, रात होनी है।'

'अजीब भले आदमी हो।'

'क्या करता! डर था कवि का दिल फिर न फ़ेल होने लगे। तबियत कैसी है!'

'मैं बिलकुल ठीक हूँ। आज चलने की तैयारी करो। आना व्यर्थ हुआ।'

'यही मैं भी सोचता हूँ।'

'क्यों! तुम तो फ़ायदे में रहे, एक नया उल्लू फँसाया।'

'ऐसी बात है क्या! तब तो सौदा सस्ता रहा।'

उसी दिन हम कानपुर को रवाना हो गये।

———

दो उपन्यास

[अमृतराय]

आजकल प्रकाशित होनेवाले अधिकांश उपन्यासों में राजनीतिक विचारधाराओं का अपना एक स्थान रहने लगा है। यह हमारी बढ़ती हुई राजनीतिक जागृति का परिचय देता है।

श्रीगुरुदत्त एम० एस्-सी के **स्वाधीनता के पथ पर** में भी यही बात है। इस पर राजनीति की छाप ज़्यादा गहरी है। अधिकांश उपन्यासों में राजनीति बस वाद-विवाद का विषय होकर रह जाती है, जैसे श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी के **निमन्त्रण** में। **स्वाधीनता के पथ पर** में ऐसी बात नहीं है। इसमें राजनीति पात्रों को आचरण की दिशा बतलाती है।

उपन्यास की मूल समस्या है, आतङ्कवाद और गांधीवाद में से कौन पथ उचित है! आतङ्कवाद और गांधीवाद में से कौन-सा पथ स्वाधीनता का है! इसी समस्या को हल करने के लिए शायद एक बहुत चित्र-विचित्र, कौतूहलपूर्ण, कुछ-कुछ जासूसी और तिलिस्मी उपन्यास के-से कथानक की सृष्टि की गई है जिसमें गुप्त सभाएँ, पिस्तौलें, बम के धड़ाके, हत्याकांड, पुलिस की भागदौड़ सभी बहुतायत से मिलते हैं। इन 'ऐक्शनों' का राजनीतिक मूल्य चाहे न-कुछ ही हो, लेकिन इतना ज़रूर है कि उनसे उपन्यास बहुत रोचक हो गया है और इस रोचकता ने औपन्यासिक की भाषा और कला की व्यापक कमज़ोरियों को काफ़ी हद तक ढँक लिया है।

यदि हम कथानक पर एक उड़ती हुई नज़र डालें तो पायेंगे कि नायक-नायिका का जीवन उपन्यास की मूल समस्या को काफ़ी अच्छी तरह रेखांकित कर देता है।

पूर्णिमा आतङ्कवादी है और मधुसूदन गांधीवादी, लेकिन इसके बावजूद उनका परस्पर आकर्षण बढ़ते-बढ़ते प्रेम का रूप ले लेता है। लेकिन यह प्रेम अपने स्वाभाविक निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता। उसका कारण है उनके जीवन-दर्शन की विपरीतता। प्रारम्भ में तो पूर्णिमा हिंसा की पुजारिणी है, उसकी उपादेयता को स्वीकार करती है और मधुसूदन अहिंसा का पुजारी है। लेकिन होते-होते, समय के प्रवाह में पड़कर मधुसूदन जब हिंसा की उपादेयता को मानने लगता है तो पूर्णिमा अहिंसा का व्रत ले चुकी होती है। मधुसूदन जेल से भागकर आया है और नाम बदलकर कलकत्ता में रह रहा है। पूर्णिमा के साथ उसके विवाह की सारी तैयारियाँ हो चुकी हैं लेकिन पूर्णिमा, जो कि अब मानसिक, वाचिक, कायिक अहिंसा का व्रत ले चुकी है, जेल से फ़रार व्यक्ति से विवाह करने से इंकार कर देती है। पूर्णिमा और मधुसूदन के जीवन की यही ट्रैजेडी पूर्णिमा के ऊपर सबसे गहरा व्यङ्ग भी है। पूर्णिमा के इस निष्ठुर निश्चय के ही कारण दो जीवन बरबाद होते हैं और अहिंसा की पुजारिणी पूर्णिमा ही वस्तुतः अपनी मृत्यु (जिसे बलिदान कहना ज़्यादा ठीक होगा) और मधुसूदन के पागलपन की उत्तरदायी हो जाती है।

दो जीवन-दर्शनों के संघर्ष से उत्पन्न होनेवाली इस ट्रैजेडी पर उपन्यास को समाप्त कर लेखक ने स्वीकार किया है कि उपन्यास की दार्शनिक समस्या उसके लिए नायक-नायिका की प्रेम-कहानी से ज़्यादा महत्त्व रखती है। अपने जीवन-दर्शन की वेदी पर पूर्णिमा का बलिदान कराकर लेखक ने सिद्ध कर दिया है कि आतङ्कवाद और गांधीवाद की समस्या स्वयं उसके जीवन की समस्या है।

अब प्रश्न उठता है कि उपन्यास में इस समस्या का हल क्यों नहीं है ? उसका निष्कर्ष नकारात्मक क्यों है ? लेखक अपनी कोई मान्यता स्थिर क्यों नहीं करता, पाठक को क्यों बीच अधर में त्रिशंकु की तरह लटकता हुआ छोड़ देता है ? नायिका को अनन्त निद्रा में सुलाकर, नायक को पागल बनाकर क्यों क़ैसर-बाग़ में घुमाया गया है ? लेखक क्यों नहीं बतलाता कि दोनों में से अमुक पथ स्वाधीनता का है और अमुक नहीं ?

इसके कारण ढूँढ़ने ज़्यादा दूर न जाना होगा। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि लेखक को स्वयं नहीं मालूम कि दोनों में से कौन सा पथ ठीक है। उसकी श्रद्धा भी शायद दोनों पर से उठ गई है और ठीक ही, क्योंकि (और यही पुस्तक के नकारात्मक निष्कर्ष का दूसरा कारण है) स्वाधीनता का पथ न आतंकवाद है और न गांधीवाद।

धीरेन्द्र, पूर्णिमा, हारान, नरोत्तम, द्विवेदी की एक-निष्ठा, उनके आचरण की दृढ़ता, दहकते अङ्गारे-सा उनका देश-प्रेम, बलिदान और आत्मोत्सर्ग की उनकी भावना स्वाधीनता के अजेय सैनिकों के गुण हैं लेकिन उनका पथ स्वाधीनता का पथ नहीं है क्योंकि वे यही नहीं जानते कि उनकी स्वाधीनता कैसी होगी और किसके लिए होगी, क्योंकि जनता की क्रान्तिकारी शक्ति में उनका विश्वास नहीं है। गांधीवाद भी स्वाधीनता का पथ इसी लिए नहीं है कि वह भी जनता की शक्ति में विश्वास नहीं रखता। स्वाधीनता के पथ की पहचान करते समय हिंसा-अहिंसा का प्रश्न नहीं उठता। तात्त्विक प्रश्न जनता की शक्ति को स्वीकार करने या न करने का है। स्वाधीनता का पथ वही है जो जनता की अजस्र शक्ति के स्रोत को मानता है, उसे पहचानकर सजग और सङ्गठित करता है। उसी में स्वाधीनता प्राप्त करने और समाज को बदलने की शक्ति होती है। इस उपन्यास में स्वाधीनता का पथ जो झाड़ी में खो गया है वह इसी लिए कि पुस्तक में सुझाये हुए दोनों पथ व्यक्तिवादी हैं, व्यक्ति की आशा-आकांक्षा, शक्ति और विश्वास की परिधि के बाहर वे नहीं जाते, जनता की शक्ति को पहचानने की सामर्थ्य उनमें नहीं है। समाज को गति देनेवाली इस शक्ति, जनता की अवहेलना करने का स्वाभाविक फल था कि लेखक स्वाधीनता के पथ को न पाये।

इस पुस्तक का प्रकाशन विद्यामन्दिर लिमिटेड, नई दिल्ली ने किया है और इसका मूल्य ५) है।

जिस प्रश्न का उत्तर देने में श्री गुरुदत्त असफल रहे, उसी का ज़बर्दस्त उत्तर महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन ने अपने उपन्यास **सिंह सेनापति** में दिया है। इस पुस्तक में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि जनता ही समाज की नियामक शक्ति है। आज की यातनाओं से समाज को मुक्ति देनेवाली शक्ति वही है। विश्व का भविष्य जनता के बलिष्ठ हाथों में है और आज के फ़ासिस्त-विरोधी युद्ध में उसकी रक्षा के लिए वह प्रतिदिन अधिक तैयार भी होती जा रही है।

सिंह सेनापति लिच्छवि गण-तन्त्र के सेनापति, सिंह की आत्म-कथा के रूप में लिच्छवियों के गणतन्त्र, उनकी सभ्यता और संस्कृति का सजीव इतिहास है।

यह एक सेनापति की आत्मकथा है और इसी लिए इसमें रण-नीति, रण-संचालन तथा इन्हीं से संबद्ध अनेक राजनीतिक समस्याओं की प्रधानता है। एक प्रश्न जो हमारे लिए बड़े महत्त्व का है, वह यह कि हमारी स्वाधीनता का रूप क्या होगा। इसी प्रश्न का उत्तर समूची पुस्तक में दिया गया है। उत्तर कुरु जनपद, जिसे कपिल 'देवलोक' की संज्ञा देता है, गांधारगण और लिच्छवि गण के जन की स्वाधीनता और सौख्य के चित्र देकर और उनके विपरीत अङ्ग - मगध -पांचाल - कोसल

के राजतंत्रों का चित्र देकर जहाँ किसी प्रमुख सेनापति ने गण को तोड़कर, राजा के पद पर आसीन होकर जनता की स्वाधीनता का अपहरण कर लिया है, उपन्यास ने गणतंत्र की श्रेष्ठता स्पष्ट प्रमाणित कर दी है। उपन्यास बतलाता है कि इसी गणतंत्र प्रणाली के कारण ही गांधारगण (राजधानी तक्षशिला)—जिसकी ओर से सिंह अपने विद्यार्थी-काल में लड़ा था—अपने से कहीं अधिक बलशाली पार्शव शाहंशाह को और लिच्छवि गणतंत्र अपने से कहीं अधिक बलशाली मागधराज बिंबसार को हरा सका। इसका कारण बतलाते हुए सिंह कहता है :—"उसकी (मगध की) निर्बलताएँ भी हैं, किन्तु वह मगध के भीतर घुसकर देखने से नहीं मिल सकतीं, वह लिच्छविगण से तुलना करने पर मालूम होती हैं। लिच्छवियों का एक-एक बच्चा जहाँ युद्ध को अपना समझकर लड़ता है वहाँ अङ्ग-मगध के सैनिक लड़ाई को बिंबसार राजा की लड़ाई समझते हैं।" और ऐसा क्यों होता है ? इसलिए कि लिच्छवियों का बच्चा-बच्चा जानता है कि दाँव पर लगा हुआ है उसका सर्वस्व, जीने का अधिकार, स्वाधीनता, गण, खेतबारी, पेड़-पालो। आज के युद्ध की भूमिका में जब सोवियत रूस और चीन के अजेय प्रतिरोध ने समूचे विश्व को स्तम्भित कर दिया है सिंह सेनापति की बात आज से २५०० वर्ष पूर्व के किसी सेनापति की बात नहीं, आज के ही किसी रूसी या चीनी सेनापति की बात जान पड़ती है। सिंह सेनापति की बात का महत्त्व सिर्फ़ इतना ही नहीं है। हम भारतवासियों के लिए वह देशानुराग का आह्वान है कि आज हमारे देश के बच्चे-बच्चे को जापान के विरुद्ध देश की रक्षा के लिए कमर कसना है क्योंकि देश हमारा है, और उसकी रक्षा हमें करनी ही है। देश को बचाने के लिए स्वयं आगे आकर ही हम अपनी प्राचीन परंपरा, अपने अतीत गौरव, अपनी सभ्यता और संस्कृति और धर्म, अपनी कला और साहित्य को जापानी आततायियों से बचा सकेंगे और स्वाधीनता की ओर बढ़ सकेंगे।

पुस्तक की भाषा में माधुर्य, ओज और प्रसाद सभी गुण यथेष्ट मात्रा में मिलते हैं। कथोपकथन का प्रवाह विलक्षण है, पृष्ठों तक बातचीत चलती रहती है लेकिन एक पल को भी कहीं थकान या शिथिलता नहीं आने पाती।

चरित्र-चित्रण में भी लेखक ने बड़े कौशल का परिचय दिया है। बहुलाश्व, सिंह, कपिल, रोहिणी, क्षेमा, भामा सभी में कुछ-न-कुछ अपनापन है जो दूसरे में नहीं है। सभी जीते-जागते प्राणी-से लगते हैं, औपन्यासिक की कठपुतलियाँ नहीं।

आज से २५०० वर्ष पहले के वातावरण को जिस प्रतिभा से लेखक ने पकड़ा है, वह सचमुच विलक्षण है। पाठक सचमुच ही लेखक के धोखे में आ जाता है कि सिंह सेनापति का लेखक वह नहीं, स्वयं सिंह सेनापति है। वातावरण पकड़ने में इससे बड़ा चमत्कार और क्या हो सकता था ?

नारी-पुरुष के सम्बन्ध पर जो स्वस्थ दृष्टिकोण सतत रखा गया है, वह बड़ा मोहक है।
हमारे साहित्य को भामा जैसा नारी-पात्र देनेवाला यह उपन्यास सचमुच हमारा गौरव है।
इस पुस्तक का प्रकाशन ग्रन्थ-माला-कार्यालय, बाँकीपुर ने किया है और इसका मूल्य २।) है।*

---

* ऑल इंडिया रेडिओ, लखनऊ के सौजन्य से।

यूरुप और एशिया—१९४३

[निरञ्जन]

केवल घन की चोट
तोड़ सकेगी फाशिस्तों का
यूरुप के देशों में फैला कोट।
घन की चोट निरन्तर, मारो हनकर;
बजे ईंट से ईंट, क़िला गिर पड़े भूमि पर ढहकर।
चूर-चूर करनेवाली हड्डी को, घन की चोट,
आज भागकर बच न सकेगा; दुश्मन!
कहाँ छिपेगा किसकी ओट!
बजी ईंट से ईंट, क़िला गिरता है ढहकर,
बे सँभाल धरती पर,
ख़ून बना था गारा; खड़ा किया था जिसको फाशिस्तों ने गढ़कर।
किसका ख़ून?
कि भूलेगा किसको जर्मन इतालवी मज़दूरों का ख़ून!
स्पेन के मैदानों में प्यारे साथी डेविड का वह ख़ून!
ख़ून से भीग गई थी धरती,
भीगा उपजाऊ उक्रैन।
पूछता है तू किसका ख़ून!
आज हिटलर के सिर पर चढ़कर बोला
लाख-लाख बेकस जनता का ख़ून!
भाग, तू छिप जा टैंक तोप की ओट,
देख यह लाल फ़ौज, सिर पर यह घन की चोट।
क़िले की नीवों को यह खोद रहा है
इतालवी मज़दूर;
देख पीछे से तुझ पर वार करेगा,
यूगोस्लाव मज़दूर;
गया था मज़दूरों के देश,
लौट आ मज़दूरों के देश;
तुझे पूजेंगे मिलकर यूरुप के मज़दूर।
वीर जर्मन मज़दूर,
फ्रांस के साथी, पोल, चेक, बल्गार,

कि चीनी जापानी मज़दूर,
और हिन्दुस्तानी मज़दूर,
आज करते हैं हनकर वार टूट जाये फाशिस्ती क़िला
और आज़ाद रहें मज़दूर।
कौन भूलेगा ख़ून,
चीन की धरती पर लाखों का,
बे हथियार, करोड़ों बे घरबार,
औरतों मर्दों का वह ख़ून?
न भूलेंगे मज़दूर,
याद रक्खेंगे इसको जापानी मज़दूर,
एक दिन चीनी, जापानी और हिन्दुस्तानी
एशिया के मज़दूर,
मिलेंगे,
मिल के रहेंगे,
मिलेंगे कि फिर न बिछुड़ेंगे,
एशिया के मज़दूर,
यूरुप एशिया के मज़दूर।
आज गिरती है घन की चोट,
और हनकर, फाशिस्ती दीवारों पर,
ज़ञ्जीरों पर, भूख-ग़ुलामी की
सदियों की दीवारों पर,
जुदा-जुदा करनेवाली
जापान-चीन की दीवारों पर,
आज गाज-सी गिरती है सचमुच
यह घन की चोट।
आओ, हाथ लगाओ साथी।
ताक़त पहुँचाओ इस घन को,
झेल न इसको पायें हिटलर-मुसोलिनी के साथी।
ऐसा जन-संग्राम हुआ था,
कभी सुना भी था क्या इतिहास में;
अपने लिए करोड़ों जनता लड़ती है यह
पहली बार—पहली बार—
मानवता के इतिहास में।
हाथ बटाओ साथी,
पड़े वार भरपूर, चूर हो दुर्ग दुष्ट फाशिस्तों का,
यह काम करेंगे हम तुम मिलकर साथी।

फिर हम तुम निर्माण करेंगे,
या पीछे आनेवाले साथी निर्माण करेंगे,
जनता का वह दुर्ग,
अजेय होगा जो, जिसकी रक्षक होगी जनता;
जनता ही का होगा राज;
नहीं यह व्यर्थ बहा है ख़ून,
रङ्ग लायेगा मज़दूरों का, वीर शहीदों का यह ख़ून;
ख़ून में रँगा हुआ झण्डा हमको आज़ाद करेगा,
आज़ाद चीन, जापान,
इसी शहीदों के झण्डे के नीचे,
आज़ाद होगा जर्मनी फ़्रांस,
कोरिया, बर्मा और
आज़ाद होगा हिन्दुस्तान।

कलकत्ते की सड़कों पर

[शमशेरबहादुर सिंह]

भूख···
अनाज···
मुनाफ़ाख़ोर
अनाज चोर का
छिपा-सा, निर्जन में,
अँधेरा बाज़ार...
जिसके चारों ओर गवरमेंट—
कँकरीले रुपये लिये दान-समितियाँ—
भूखी लाशों से दूर
सूने-सूने से खिचड़ी रसोइयों वाले—
हम, तुम, वे। सब ··
इस मौन तांडव के चारों ओर
असहाय-से चक्कर लगा रहे हैं
समझ पा नहीं रहे हैं
कुछ सोच सक नहीं रहे हैं
केवल कुछ कर पा रहे हैं ऐसे
कि मानों कुछ कर पा नहीं रहे हैं··
मृत्यु का यह नया रूप है स्पष्ट
हमारे जीवन के बीच

लय ध्वनि स्वर संकेत और संज्ञा से हीन
अभूतपूर्व...
भारत के वीर हम
दुश्मन के सीने में विजय का निश्चित भी तीर हम
भूखी लाशों की दीवार के रक्षक;
सूखी खुली खोखली आँखों के द्वार पर प्रहरी;
धोबी की रस्सियों पर लटकी —
सूखती चोलियों के-से स्तनों की लाज रखनेवाले हम;
तेली की दूकान पर बँधी-लटकी—
झिल्ली की कुप्पियों के-से रुंड मुंड छोटे-छोटे असंख्य
बाल-समूहों के पोषक हम
उन्नत-मस्तक भारतवासी;
अपने ही दीर्घ निर्घोष से मानो
मारवाड़ का मरु-वातावरण कंपित कर देंगे हम :
आज मरना सीख रहे हैं
इस मूक शान्त युद्ध में
अपनी शत्रु-भय-विहीन सड़कों और गलियों में
—जहाँ कुत्तों का जीवन भी अधिक दीर्घ लगता है,
स्पृहणीय ; केवल
अपना ही—दयनीय ।
क्यों जन्मा था मनुष्य
बीसवीं सदी के मध्याह्न में
यों मरने के लिये !
झुलसा-सा पतझड़ का पत्र
बिथड़ा-सा बादल का, धूमिल सन्ध्याओं में,
हवा का निरीह कम्प केवल···!
हमीं उठेंगे क्या
(वीर बलिदान की सदी है यह !)
नाना विधि पूर्ण शक्तिशाली समृद्ध !
स्वर्ण-इतिहासों के स्रष्टा
हमीं बनेंगे क्या !
अखिल उत्पादन के अमर अधिकारी—
विश्वराष्ट्रों के सँग साभिमान,
अग्रिम पथगामी,
हमीं बढ़ेंगे क्या !

पावस

[शमशेरबहादुर सिंह]

दुःख नहीं मिटा।
घिरा और घुमड़ा आकाश।
फिर बरसा दिन भर।—खुला नहीं।
बहीं हवाएँ भी बुँदियाँ कर,
झोंके भी हृदय उड़ाते हुए चले।
पर खुला नहीं राग।
मन का अनुराग, आह, सफल नहीं हुआ।
झूमे वन के वन हर-हर कर। नद बहे।
घन घहरे। लहरे मन-उद्यान।
सींच गये पत्थर।
—कठिन किन्तु कवि-उर-प्रस्तर था, जो उष्ण रहा तपता।
कौन वह सावन की घड़ी
होगी, जब मन के झूलों पर
फिर बरखा की पैंगें मल्लार
गायेंगी—मन के झूलों पर फिर
बरखा की पैंगें मल्लार!
आह आज प्लावन में सूखा यह तृण!
तुझे चुकाना है, ओ मेघराज,
प्यासों का ऋण!
—कहाँ राज अपने जन का!...आज।
प्रस्तर-युग-सी काली धरती का
टूटेगा प्रस्तर-तन धरती का!
जन-जन का : बिखरेगा मोती-सा मन।
क्यों न आज—
अभी गिरे नाजचोर, मुनाफ़ाख़ोरों की छाती पर गाज।
अभी आज!
—किसका होगा तब यह धन, समाज!
किसके दाँतों में तब होगा इस मिट्टी का कन!
अङ्गारा बनकर तब छितरेगा यही नाज
गलियों-गलियों, सड़कों-सड़कों में,
गाँवों - गाँवों, मुल्कों - मुल्कों में।
अपनी ही हड्डी बख्तर जिनका,
मदिरा जिनकी अपना ख़ून,
रोटी का सपना अन्तर जिनका,

प्यासे शोले दोनों जून
बरसायेंगे जिनके सर पर
प्रतिहिंसा का ख़ून,
—आयेंगे ऐसे अधिकारी भी
विप्लव - व्यापारी भी,
ओ मेरे भोले बादल!
दिखलायेगा तब तू अपना असली रूप
प्यासे कवि - मन के अनुरूप!

— — —

वीणा की झंकार?

[नरेन्द्र]

गरज रही हुंकार, हो रहा घर घर हाहाकार,
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार?
माना, किसलय सह न सकेंगे तूफ़ानों का भार—
मृदुल मलय के सरस परस को लालायित सुकुमार,
किन्तु यहाँ हुंकार गरजती, होता हाहाकार—
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार?
मन दुर्बल है और सबल है मन की भूखी चाह,
भ्रम ने संज्ञा, तम ने ग्रस ली सुख-सपनों की राह,
यहाँ मत्त संहार, घृणा का अहरह पारावार—
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार?
आज भयङ्कर और भयङ्करतर के बीचोंबीच
दिशाभूल दिग्देश पड़े संज्ञाहत, आँखें मींच।
आदर्शों की यहाँ दुहाई देता अत्याचार—
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार?
देख रहा नरमेध यज्ञ को साँस रोक इतिहास,
देश देश का, मनुज मनुज का आज बन गया ग्रास!
सहम उठा है निज विराट् सत्ता से सब संसार—
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार?
भीत चेतना सिमट व्यक्ति के अहंकार में लीन—
बस जीवित है, जीवन के प्रति बनी भिखारिन दीन।
यहाँ मूल औ' शिखर हमारे मैथुन औ' आहार—
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार?
नैतिकता का नाम, यहाँ बस जीवन-यापन शेष;
जीवन-यापन से भी वञ्चित आज हमारा देश!

यहाँ चतुर्दिक लाचारी है, असफलता, अविचार,
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार !
शतशः योजन शस्य-श्यामला पृथिवी के निरुपाय,
शतशः अब्द सभ्यता के पददलित आज असहाय,
यहाँ क्षुधा का देश; दासता, विग्रह का आगार;
कौन सुनेगा यहाँ हमारी वीणा की झंकार !

'मनुहार की वेला नहीं'

[गोपीरमण रावत]

मनुहार की वेला नहीं !
जानता हूँ मूल्य मैं मनुहार का,
सौन्दर्य-सागर में लहरते प्यार का,
प्यार के आनन्दमय उच्छ्वास का,
उष्ण निःश्वास का।
किन्तु, मैं कहता हूँ
कि यह मनुहार की वेला नहीं,
यह प्यार की वेला नहीं,
राग-रङ्गों में विलसते रूप के उपभोग की वेला नहीं !
यही कहते हो न—
"अरे, है स्वर्ग की रसधार
यह सुधासम प्यार;
यही सर्वस्व जीवन-सार; स्वयं जो सृष्टि का आधार।
इसी के हेतु जीवन-दान;
यही तो
गहन तम के नाश पर हँसता हुआ दिनमान।"—
मानता हूँ।
किन्तु क्या तुमने दिया है ध्यान !
द्वेष की ज्वाला धधकती आ रही हो—
निगलने को दौड़ती वह आ रही जब स्वर्ग सम इस प्रेम के संसार को,
युद्ध-नागिन के विषम-फूत्कार जब हों
क्रुद्ध तेरी शान्तिप्रियता पर, तुम्हारी न्यायप्रियता पर,
मत्त दानव कर रहा निक्षेप
जब विष-बुझे बाणों के तुम्हारे वक्ष पर,
निश्चेष्ट होकर क्या पड़ोगे तुम निराशा-सेज पर !
भूल जाओगे कि तुम उस प्रेम की मनुहार में

अपने स्वत्व को, पुरुषार्थ को ?
प्रतिशोध के क्या शस्त्र तुम धारण करोगे
नहीं अपने फड़कते इन शौर्यगर्वित करों में ?
तो फिर नेत्र खोलो—
पूर्व-पश्चिम में लगाते आग सत्यानाश की हैं आ रहे कुछ बर्बरों के दस्यु-दल।
नाश भी वह स्वार्थ-वश, अपहरण-हित
कुछ निर्बलों की शान्ति का !
छद्म कितने रङ्ग के हैं पास उनके शब्दमय संसार में !
सुना तुमने नहीं उनके शब्दगत आदर्श को ?
इसलिए कहता हूँ
कि नवचेतना-वेला यही,
प्रतिकार की वेला यही
मनुहार की बेला नहीं।

अन्याय

[पुष्पलता 'माधवी']

अन्याय
को देखकर क्यों न हृदय हो उन्मन,
बैलों की घण्टियों की टन-टन में—
सुन सकता है दर्द भरे दिलवाला ही,
किसी पीड़ित का क्रन्दन।
मोटर के भोंपू की चम-चख में,
या रुपहली टिकलियों की खनखनाहट में,
और साड़ियों की सरसराहट में,
बन्द हो सकती है ?
राहटों की रूँ-रूँ—इनका रोना,
रोना यह कि—
धरती आज भी उगलती है सोना,
पर धिक् इस पूँजीवाद को, जिसने श्रमियों को
सौंपा भार दुःखों का ढोना,
इन 'असभ्यों' को सूखे टुकड़ों से भी तरसाया।
पूँजीपतियों के कोषों को ही जा बसाया।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम्

[अशोक]

हाथी घोड़ा पालकी,
जै कन्हैया लाल की।
हिन्दू हिन्दुस्तान की,
जै हिटलर भगवान की।
जिन्ना पाकिस्तान की,
टोजो और जापान की।
बोलो बन्दे मातरम्!
सत्यं शिवं सुन्दरम्।

हिन्दुस्तान हमारा है,
प्राणों से भी प्यारा है।
इसकी रक्षा कौन करे!
सेंतमेंत में कौन मरे?
पाकिस्तान हमारा है,
प्राणों से भी प्यारा है।
इसकी रक्षा कौन करे?
बैठो हाथ पै हाथ धरे!
गिरने दो जापानी बम।
सत्यं शिवं सुन्दरम्।

शुद्ध कला के पारखी,
कहते हैं उस पार की।
इस दुनिया की कौन कहे!
भवसागर में कौन बहे!
जै हो राधा रानी की,
या जिसने मनमानी की।
राधा या अनुराधा से,
छिपकर अपने दादा से!
कैसी बढ़िया चाल की,
बलिहारी गोपाल की।
उसके भक्तों में से हम।
सत्यं शिवं सुन्दरम्।

जै हो सदा बहार की,
शायर या ऐयार की।
तुरबत में भी आहट से,
उठकर बैठ गया झट से।

गुल और बुलबुल की औलाद,
करता रहता है फ़र्याद।
धीमी धीमी सुर में नाद,
इन्क़िलाब ज़िन्दाबाद!
ग़म से भर आता है दिल!
दिल, वह भी शायर का दिल
　　जिसमें शुद्ध भरा है ग़म!
　　सत्यं शिवं सुन्दरम्।

× × × ×

हिन्दी हम चालीस करोड़,
क्यों बैठे हैं साहस छोड़!
देश हमारा हिन्दुस्तान,
लाखों ही मज़दूर-किसान।
इस धरती पर बसनेवाले,
उसके हित मर मिटनेवाले।
क्या भागेंगे ताबड़तोड़,
हिन्दी हम चालीस करोड़!
यह आज़ादी का मैदान,
जीतेंगे मज़दूर-किसान।
　　एक यही है राह सुगम,
　　सत्यं शिवं सुन्दरम्।

आज बढ़ेंगे साथ क़दम,
निश्चय विजयी होंगे हम।
गिरने दो जापानी बम।
बोलो बन्दे मातरम्।

नीरक्षीर

निमन्त्रण—लेखक, श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी; प्रकाशक, कलामन्दिर, दारागञ्ज, इलाहाबाद; मूल्य, सजिल्द ३), अजिल्द २॥)

छपाई साफ़ है, गेट-अप अच्छा है लेकिन पुस्तक में यत्र-तत्र नग्न मूर्तियों के जो छाया-चित्र दिये गये हैं, वे अनावश्यक तो हैं ही, साथ ही विशेष सुरुचिपूर्ण नहीं जान पड़ते। पुस्तक को आकर्षक रूप देने की यह प्रणाली अब पुरानी हो गई है।

ऊपर-ऊपर से ही देखने पर यह एक राजनीतिक उपन्यास-सा लगता है, लेकिन ज़रा और गहराई में उतरने पर पता चल जाता है कि ऐसी बात नहीं है। कोई राजनीतिक या सामाजिक समस्या किसी पात्र के जीवन में उतनी अधिक नहीं है जितनी पुस्तक के नायक शर्माजी की लम्बी-लम्बी स्पीचों में या हर अध्याय के प्रारम्भ में दिये गये लेखक के अनावश्यक प्रवचन में जिसे एक सजग आलोचक श्री नरोत्तमप्रसाद नागर ने हलके-फुलके काग़ज़ को दबाकर रखनेवाले पेपरवेट की संज्ञा दी है।

कथावस्तु की दृष्टि से उपन्यास अधिकांश में एकदम निःस्पन्द और गतिहीन है। जीवन के बहाव की सूचना उससे नहीं मिलती। तलैया के बँधे पानी की सी जड़ता उपन्यास में सर्वत्र व्यापती जान पड़ती है। घटनाओं और चरित्रों के परस्पर संघर्ष से जिस विद्युत् का संचार होता है, उसका यहाँ नाम नहीं है।

शर्माजी की लम्बी-लम्बी स्पीचों और पुस्तक भर में बिखरे हुए लेखक के अपने विचारों से पाठक को आशा होती है कि वह एक राजनीतिक उपन्यास पढ़ेगा। लेकिन राजनीतिक विचारों का समावेश कदाचित् उपन्यास को आधुनिकता का रङ्ग देने के लिए किया गया है। क्योंकि इनकी और कोई उपयोगिता समझ में नहीं आती। पात्रों के जीवन में, घटनाओं के प्रवाह में इनकी अपनी कोई अनिवार्य या स्वाभाविक स्थिति नहीं है। असल में यह प्रेम की समस्याओं में ही उलझता-सुलझता एक रोमांटिक उपन्यास है। प्रणय का वही सनातन त्रिकोण यहाँ भी है; एक नायक और उसके प्रेम की माँग करनेवाली दो नायिकाएँ; शर्म्माजी, मालती, रेणु। उपन्यास की मुख्य समस्या यौन-स्वतन्त्रता की है। शर्म्माजी की समस्या ही पुस्तक की समस्या है: पतिप्राणा रेणु के होते हुए शर्म्माजी को मालती के प्रेम का प्रतिदान देना चाहिए या नहीं? इसके पहले कि शर्म्माजी इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर दें, पुलिस आकर उनको इस उत्तरदायित्व से मुक्त कर देती है—जयमाल पहनकर वे जेल की राह लेते हैं, मालती और विनायक का विवाह तय हो जाता है और गुत्थी अपने आप सुलझ जाती है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि शर्म्मा जी इस गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न नहीं करते। अर्द्धरात्रि के उस प्रहर में, अर्द्धनग्न और कामातुर मालती के समक्ष उन्होंने चरित्र की जिस दृढ़ता का परिचय दिया है, वही गुत्थी का सुलझाव बन जाती है। आज हमारे साहित्य में प्रगतिवाद के नाम पर जिस घृणास्पद यौन-उच्छृङ्खलता के चित्र मिल रहे हैं, उनके बीच शर्म्माजी का चित्र बड़ा कल्याणकारी सिद्ध होगा, इसमें सन्देह नहीं।

लम्बी-लम्बी स्पीचें—शर्म्माजी की एक स्पीच तो तीन-चार पृष्ठों तक चली गई है—और यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे हुए अनावश्यक प्रवचन उपन्यास को बोझिल बनाते और कला की दृष्टि से उसका मूल्य घटाते हैं। लेकिन तो भी उसमें थोड़ी-बहुत रोचकता अवशिष्ट है। मौलिक चिन्तन की जो प्रवृत्ति इस उपन्यास में परिलक्षित होती है वह बहुत स्वस्थ है और हर व्यक्ति उसका अभिनन्दन करेगा। लेकिन अगर लेखक लोक-जीवन से और निकट का सम्बन्ध स्थापित करे, उसमें घुल-मिलकर, उसका अङ्ग बनकर उसे निरखे तो उसकी लेखनी में स्वभावत: और भी अधिक ओज आ जायगा और उसकी लम्बी-लम्बी स्पीचें जो इस समय कोरी लफ़्फ़ाज़ी जान पड़ती हैं, लोक-जीवन से निःसृत होने के कारण बल का, उत्साह का, ओज का, समाज को बदलने के सङ्कल्प का संचार करनेवाली होंगी।

ब्रजनाथ बाबू और बूँदी वाला प्रकरण तो बिलकुल अनावश्यक और अस्वाभाविक है। बूँदी कदाचित् पुरुष के ख़िलाफ़ नारी के विद्रोह का चित्र है। उस नाते भी यह प्रकरण बहुत कमज़ोर है। विद्रोह का जो रास्ता बूँदी ने चुना है उससे उसकी व्यक्तिगत प्रतिहिंसा भले ही शान्त हो जाय लेकिन समस्या का समाधान नहीं होता। लेखक व्यक्ति-वादी है इसलिए नारी के विद्रोह का कोई दूसरा चित्र उसकी मानसपटी पर नहीं उतरता।

आज के नवयुवक को तङ्ग करनेवाली सभी समस्याओं को इसमें उठाया गया है, और इस नाते पुस्तक पठनीय है। भाषा का प्रवाह अच्छा है।

वोलगा से गङ्गा (कहानी-संग्रह)—लेखक, महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन; प्रकाशक, किताब-महल, प्रयाग। मूल्य ३॥) । छपाई साफ़ और गेट-अप अच्छा है।

जैसा कि पुस्तक के प्रकाशक कहते हैं : **वोलगा से गंगा** में ६००० ई०पू० से १९४२ तक मानव-समाज के ऐतिहासिक, आर्थिक, राजनीतिक आधारों का बीस कहानियों के रूप में पूर्ण चित्र है। इसमें कहानियों के रूप में रूस की वोलगा से लेकर भारत की गङ्गा तक में बसनेवाली जातियों के उत्थान-पतन, सुख-दुःख और विरह-मिलन का जीवित और प्रामाणिक चित्रण है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक मानव-समाज के विकास का चित्र इन कहानियों में मिलता है। आदिम जातियों के यूथ जीवन, उनके आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, पारिवारिक व्यवस्था, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध, यूथ विवाह, गान-नृत्य आदि सब जैसे इन कहानियों में फिर मुखर हो उठते हैं। 'मानव-समाज' में इन्हीं विषयों की ऐतिहासिक व्याख्या राहुल जी ने की है। 'वोलगा से गङ्गा' में उनकी व्याख्या न कर उन्होंने उस काल का जीवन, उस युग का सामाजिक दृश्य ही ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। और कितनी अभूतपूर्व सफलता उनको इस दिशा में मिली है, यह तो पुस्तक पढ़कर ही जाना और अनुभव किया जा सकता है। प्राचीन साहित्य के ज़रिये प्राचीन सभ्यता और संस्कृति जिसे हस्तामलक हो वही ऐसे कठिन विषय पर अपनी लेखनी उठा सकता था और राहुल से बड़ा पण्डित इसके लिए हो भी कौन सकता था! इन बीती शताब्दियों का चित्रण ऐतिहासिक रूप से कितना प्रामाणिक है, इसके विषय में किसी सन्देह की गुञ्जाइश नहीं है क्योंकि इन चित्रों के पीछे तत्कालीन ग्रन्थों का साक्ष्य है।

राहुल की मुख्य सफलता इस बात में है कि अपनी अनुपम कल्पना-शक्ति के बल पर वे उन बीती शताब्दियों का वातावरण पुनरुज्जीवित करने में बहुत हद तक सफल हुए हैं। कदाचित् विश्व के किसी साहित्य में ऐसी पुस्तक की रचना नहीं हुई है जो कहानियों द्वारा समाज-चित्र प्रस्तुत करती हो। अँगरेज़ी साहित्य में ऐसी असंख्य पुस्तकें हैं जो आदिम समाज से लेकर आज तक की मानव प्रगति की बदलती हुई आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं की व्याख्या करती हैं लेकिन कदाचित् यही एक पुस्तक है जो उसी काम को कहानियों द्वारा करती है और इतनी सफलता से कि हर शताब्दी अपने समस्त रूप-गन्ध-स्वर-वातावरण के साथ फिर जी-सी उठती है, साँस लेने लगती है। विषय-वस्तु का निर्वाह विलक्षण है और भाषा का प्रवाह इतना सुन्दर है कि वे अनेक स्थल भी जहाँ आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का गम्भीर विवेचन किया गया है, पुस्तक की रोचकता को कम नहीं करते, उल्टे बढ़ाते ही हैं। पुराने हिन्दू-समाज के बारे में जो बहुत-सी कपोल कल्पनायें आज प्रचलित हैं, उनका पर्दा भी बड़े सुन्दर ढङ्ग से फ़ाश किया गया है। इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या करनेवाली एक कहानी-पुस्तक की आवश्यकता को यह पुस्तक विलक्षण सफलता से पूरा करती है। राज्यतंत्र का विषय कई कहानियों में बार-बार आया है और हर स्थान पर पाठक को स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि सच्चा गणतन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ है और उसी को बचाने के लिए आज दुनिया भर की जनता बड़ी से बड़ी क़ुरबानी कर रही है।

सुदास, नागदत्त, प्रभा और सुरैया विरह-मिलन की अमर कहानियाँ हैं जिनकी ओस-कण सी ताज़गी कभी नष्ट न होगी। 'प्रभा' में प्रभा और अश्वघोष के प्रेम के आगे ऐंटनी और क्लियोपैटरा का प्रेम बहुत स्थूल और अनाकर्षक जान पड़ता है। 'रेखा-भगत' और 'मङ्गलसिंह' हर भारतीय देशभक्त के हृदय में आग लगा देनेवाली कहानियाँ हैं।

समस्त पुस्तक में स्वास्थ्य की ऐसी श्री बिखरी हुई है कि पाठक को सहज ही अपने में स्वास्थ्य, दुर्जय आत्म-विश्वास और मानव मात्र के लिए अतुल प्रेम का स्रोत उमड़ता प्रतीत होता है जो उसे मानवता के हिंस्र फ़ासिस्त दुश्मनों हिटलर और तोजा के ख़िलाफ़ संघर्ष में संग्रह की अन्तिम कहानी के नायक सुमेर के पद-चिह्नों में जीवन होम करने के लिए प्रेरित करता है।

—अमृतराय

पंचभूत—लेखक श्री सेठ गोविन्ददास; प्रकाशक रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा; मूल्य २), पृष्ठ-संख्या १७४।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की चतुर्दिक प्रगति में सुबोध और सुरुचिपूर्ण नाटकों की कमी खटकने वाली चीज़ थी। सन्तोष है कि कुछ हिन्दी-सेवकों का ध्यान इस अभाव की तरफ़ आकर्षित हुआ है। सेठ गोविन्ददास भी इन्हीं हिन्दी सेवकों में से एक हैं। गत वर्षों में आपके कुछ छोटे बड़े नाटक प्रकाश में आ चुके हैं और उनके द्वारा जनता में हिन्दी नाटकों के प्रति सुरुचि और आकर्षण बढ़ा है।

पंचभूत के शीर्षक से एक दार्शनिक नाटक का अनुमान होता है परन्तु वस्तुतः यह पाँच ऐतिहासिक एकाङ्की नाटकों का संग्रह है। इनकी कथावस्तु प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों पर अवलम्बित है। ईसा से २०० वर्ष पूर्व से सन् १८०८ ईस्वी तक के भारतीय इतिहास से सेठजी ने इन पाँच घटनाओं को चुना है और उन पर पञ्चभूत का कलेवर निर्माण किया है। वस्तुतः इन नाटकों के मूल में धार्मिक सहिष्णुता और आत्म-त्याग की गौरवपूर्ण धारा बहती है जिनका चिन्तन और विश्लेषण सुरुचिपूर्ण और श्लाघ्य है। आज के अंधकार और आपसी अविश्वास

के वातावरण में हमारा विश्वास है कि भारतीय परम्परा की यह दिव्य झाँकियाँ उपयोगी सिद्ध होंगी। भविष्य में सेठजी से इसी दृष्टिकोण के अनुकूल अधिक सजीव और कलापूर्ण रचनाओं की सहज आशा की जाती है।

समीक्षाञ्जलि—(प्रथम भाग) लेखक श्री० कन्हैयालाल सहल एम० ए०; मिलने का पता—१ साहित्यरत्न भंडार, आगरा; २ कन्हैयालाल सहल, एम० ए०, बिड़ला कॉलेज, पिलानी जयपुर। मूल्य—मुद्रित दस आना, लिखित एक रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के "कतिपय लेखों का सङ्कलनमात्र है जिनमें से अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। कुछ सहृदय पाठकों के आग्रह से इनको पुस्तकाकार में प्रकाशित किया जा रहा है।" (निवेदन) संग्रह के कुछ लेख साहित्यशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं और अन्तिम दो लेख क्रमशः "गुञ्जन" और "बापू" की आलोचना हैं। साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित सभी लेख भी संकलनमात्र हैं और इनकी सामग्री में सजावट और निर्णय का अभाव प्रतीत हुआ। इन निबन्धों में पूर्व और पश्चिम के कुछ सिद्धान्तों का समावेश भर है, जिन पर समालोचक के आवश्यक निर्णय की कमी के कारण पाठक की क्रियात्मक जानकारी नहीं बढ़ती।

"कला का त्रिकोण" शीर्षक निबन्ध में लेखक ने फ्रायड के मतानुसार कलाकार को अपनी अतृप्त आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए रङ्गीन सपनों का निर्माता भर माना है; और यह साबित करने की चेष्टा की है कि ऐसे रङ्गीन सपनों की रचना के बाद कलाकार आत्म-सन्तोष की साँस लेता है। आगे चलकर इसी निबन्ध में ऐडलर की गवाही देकर लेखक ने समझाया है कि कला हीनाभाव (Inferiority Complex) से प्रगति मानव के अहं को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा है। हमारा खयाल है कि यह धारणायें सच्चे कलाकार पर मूलतः लागू नहीं होतीं। भले स्वप्न-प्रेमी और अहं-प्रेमी कलाकार (!) पर यह अक्षरक्षः सच्ची साबित हों। क्या वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी और सूर अपनी कला द्वारा अतृप्त आकांक्षा की पूर्ति के लिये रङ्गीन सपनों के निर्माता मात्र हैं ? या क्या उनकी सम्पूर्ण रचनायें उनके तुच्छ अहं को अमर रखने की चेष्टामात्र हैं ? सच्चे कलाकार तो जागरूक ही होते हैं, वह मानव जीवन की मूल साधनाओं, युग की आवश्यकताओं और अपने जीवन के निश्चित कार्यक्रम को अच्छी तरह समझ लेते हैं और साहित्य और कला के द्वारा अपनी इसी दिव्य समझ की अभिव्यक्ति करते हैं। कला जीवन की व्याख्या है, परन्तु एकांकी एक आदमी के जीवन की व्याख्या-कला नहीं है, वह तो 'दिवा स्वप्न' ही है और जिसका महत्त्व समाज और आनेवाले समय के शून्य ही है, परन्तु कला तो सम्पूर्ण मानव जीवन की व्याख्या है; समाजयुग और स्थान, मानव जीवन के साथ इस प्रकार मिले हुए हैं कि कलाकार उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता और इसी लिये स्वयं निर्मित सपनों और अहं भ्रान्तियों में भटकनेवाला "कलाकार" का मङ्गलमय और श्रेष्ठ पद नहीं पा सकता—और न इन भुलभुलैयों युक्त उलझनों को 'कला' को गौरवमयी संज्ञा देनी चाहिये। कितना अच्छा होता अगर विद्वान् लेखक प्रस्तुत पुस्तक में वर्णित साहित्यिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के समावेश के साथ ही साथ उनका उचित मूल्याङ्कन भी करने का परिश्रम करते।

उक्त निबन्धों के सिवाय अवशेष दो आलोचनायें पन्तजी के 'गुञ्जन' और सियारामशरण जी के 'बापू' के मर्म को समझने में सहायता देती हैं और इनसे विद्यार्थियों को उपयोगी सामग्री मिल

सकती है। क्या हम आशा कर सकते हैं कि समीक्षाञ्जलि का द्वितीय भाग संकलनमात्र न रहकर मननपूर्ण निर्णय होगा ?

—भवानीशङ्कर उपाध्याय

माधवीर जॅन्ने (बँगला)—माधवी के लिए— लेखिका, प्रतिभा बसु. प्रकाशक—कविता-भवन, २०२ रासविहारी एवेन्यू, कलकत्ता, १९४२ ; पृष्ठ-संख्या १८३; मूल्य १॥): छपाई सुन्दर।

श्रीमती प्रतिभा बसु की कहानियों का यह संग्रह हमने बड़ी आशा और उत्साह से पढ़ा। इसके दो कारण थे—एक तो यह कि यह पुस्तक 'कविता-भवन' से प्रकाशित हुई है जो बङ्गाल के प्रतिष्ठित साहित्यकार श्री बुद्धदेव बोस की सीधी देख-रेख में काम करता है और दूसरे इसलिए कि यह बँगला की कहानियों का संग्रह है। इसमें ये छ कहानियाँ संगृहीत हैं: माधवी के लिए, अनर्थक, निरुपमा की आँखें, मुक्ति, दैवात् और परिशेष। पर इन सभी कहानियों को पढ़कर निराशा के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं लगा। सभी कहानियाँ तृतीय श्रेणी की या अधिक से अधिक निम्न द्वितीय श्रेणी की मध्यवर्गीय समाज की कहानियाँ हैं। इनमें 'मुक्ति' नामक कहानी में जो थोड़ा कड़वापन मिला उसके बल पर हम कहेंगे कि वह सबसे अच्छी कहानी है। इस कहानी से बङ्गाली-समाज में नारी के मूल्यांकन की जो घृणित प्रणाली है, उस पर हल्के सुनार की हथौड़ी की चोटें हैं—कैसे इसका सौदा होता है। लेकिन आज हम इन हल्की चोटों से न तो समाज का ही कोई भला कर सकते हैं और न अपना ही। अपनी ताज़गी और अपनी अस्वाभाविकता के लिहाज़ से 'दैवात्' का नाम भी उल्लेख करना हम उचित समझते हैं। इसमें किस प्रकार धनिक-वर्ग का एक सामन्ती युवक एक साधारण परिवार की और भी अधिक साधारण लड़की के प्रति आकृष्ट हो जाता है और किस प्रकार उसकी माँ उसका विवाह उसके साथ करने पर तुरन्त ही तैयार हो जाती है इसका वर्णन है। प्रश्न यह नहीं है कि एक धनिक लड़का एक साधारण वर्ग की लड़की के साथ विवाह कर सकता है या नहीं, वरन् यह कि कितने ऐसे लोग और कितनी दूर इस रास्ते पर आगे बढ़ सकते हैं। इस प्रकार की परिस्थितियाँ पैदा करनेवालों का दोष यह है कि वे इस सारे प्रश्न को व्यक्ति पर छोड़ देते हैं और उसके सामाजिक सङ्गति और-सन्दर्भ को भूल जाते हैं।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। सभी कहानियाँ केवल नारी और उसके वैवाहिक सम्बन्ध को लेकर लिखी गई हैं। बङ्गाल के मध्यवर्गीय समाज में सम्भवतः इससे अधिक महत्व-पूर्ण कोई बात है ही नहीं। इस जर्जरित समाज का यही अङ्ग सबसे दूषित है, लेकिन इन कहानियों में कहीं भी वह गहराई, वह तल्खी, वह तेज़ी नहीं मिली जिससे कि समझा जाता कि उन परम्परागत प्रवृत्तियों के प्रति कहीं आघात है।

—श्रीपतराय

हमारी पारिवारिक व्यवस्था—लेखक, डा० बी० पट्टाभिसीतारामैया; अनुवादक श्री जगपति चतुर्वेदी। प्रकाशक—राष्ट्रभाषा-मन्दिर, दारागञ्ज, प्रयाग। पृष्ठसंख्या १२३; मूल्य १)।

भारतीय परिवार का संघटन पारस्परिक प्रेम और सुदृढ़ सामाजिक एकता की व्यापक भूमिका पर हुआ है। हमारी सांस्कृतिक एकता तथा उसके आधारभूत तत्त्वों के विकास में इसका महत्त्व-पूर्ण स्थान रहा है। वर्तमान समय में, जब कि योरप से नवीन विचार धाराओं का प्रवेश हमारे समाज में बड़ी तेज़ी से हो रहा है, सभी परम्परागत वस्तुओं को 'आउट आफ़ डेट' कहकर उनकी

उपेक्षा करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। दुर्भाग्य से हमारी सामाजिक और पारिवारिक संघटन-प्रणाली के मूल में निहित मंगलकारी सम्बन्ध-भावना की प्रगतिशील चेतना रूढ़िबद्धता की सीमाओं में सिमटकर रह गई और समाज के प्रभावशाली वर्ग ने समय की गति के अनुरूप उसमें परिवर्तन परिवर्द्धन करना अस्वीकार कर दिया। अनिवार्य परिणाम इसका यह हुआ कि यह व्यवस्थाएँ प्राणरहित हो कङ्काल सी हो गईं और उन पर किसी भी बाहरी विचार-प्रणाली की पूरी छाप अवांछनीय रूप से पड़ने लगी। कमज़ोर आदमी को ज़रा सी सर्दी से जुकाम और ज़रा सी गर्मी से बुखार हो ही आता है।

ऐसी विषम परिस्थिति में डा० पट्टाभिसीतारामैया की प्रस्तुत पुस्तक हमारी पारिवारिक व्यवस्था के पुनरुद्धार का सन्देश लेकर बड़े मौक़े से सामने आई है। इस पुस्तक में 'हमारी पारिवारिक व्यवस्था का पुनरुद्धार,' 'हिन्दू परिवार में कला', 'हिन्दू परिवार की एक झाँकी', 'हिन्दुओं के पारिवारिक जीवन की एक झाँकी', 'भारतीय स्त्रियाँ' और 'विवाह' आदि विषयों पर लिखे गये अध्याय हमारी वर्तमान समस्याओं की ओर पूरा संकेत करते हुए लेखक की सूक्ष्म-दृष्टि-सम्पन्नता और उसके विषय प्रतिपादन की क्षमता के परिचायक हैं। भारतीय पारिवारिक व्यवस्था के मूल में निहित आदर्श और उनके भव्य प्राचीन स्वरूप का अच्छा विवेचन इस पुस्तक में मिलेगा। पारिवारिक संघटन की वर्तमान विकृतियों का भी लेखक ने प्रभावपूर्ण वर्णन किया है।

पूरी पुस्तक को पढ़ जाने पर अपनी प्राचीन पारिवारिक व्यवस्था के प्रति उपेक्षा का भाव मिटकर उसे समय की गति के अनुरूप बदलकर अपनाने की लालसा सभी भारतीय पाठकों के हृदय में जाग्रत हो उठेगी, ऐसा हमारा विश्वास है। हमारा कल्याण भी इसी में है, इसमें सन्देह नहीं।

इस पुस्तक के लिखने में लेखक का मुख्य उद्देश्य भारतीय पारिवारिक व्यवस्था के निर्माणात्मक आदर्शों, उसके मनोहर प्राचीन स्वरूप और वर्तमान विकृतियों का परिचय देना है। जो विषम समस्यायें हमारे सामने खड़ी हैं, और जिनका सुलझाव होना आवश्यक है उनका पूरा हल पाठक के सामने नहीं रखा गया है। हाँ, उनके सुलझाव के लिए संकेत अवश्य मिलते हैं। बाल-विधवा का ज़िक्र करते हुए डा० पट्टाभि ने उसकी करुण दशा का वर्णन तो किया है पर उसके पुनर्विवाह पर स्पष्ट मत नहीं प्रकट किया। इसी प्रकार एक परिवार में रहनेवाले भाइयों के अलग होने पर पारिवारिक सम्पत्ति और विशेषतया खेती का प्रबन्ध कैसे हो, इस पर भी उचित रूप से प्रकाश नहीं डाला गया है। हाँ, कुछ धुँधले समाधान इन समस्याओं के अवश्य दे दिये गये हैं। यह कमी यदि न होती तो पुस्तक और भी उपयोगी सिद्ध होती। ऐसी तात्विक बातों पर किसी स्पष्ट मत की कमी ने पुस्तक का मूल्य निश्चय ही बहुत घटा दिया है।

'हमारी पारिवारिक व्यवस्था' पढ़ने से, जैसा कि कह चुके हैं, अपने पारिवारिक संघटन के आधारभूत निर्माणात्मक आदर्शों, उसके प्राचीन भव्य स्वरूप और वर्तमान विकृतियों का विशद परिचय मिल जायगा। समस्याओं के सामने आने से विचारशील पाठक को विचारोत्तेजना भी मिलेगी और उनके समाधान के लिए वह प्रयासशील होगा, जिसके लिए सूक्ष्म संकेत लेखक ने दे दिये हैं। संक्षेप में इस पुस्तक की यही विशेषताएँ हैं।

अनुवाद के सम्बन्ध में हमें केवल यही कहना है कि इस प्रकार की पुस्तकों की भाषा चलती और मुहावरेदार होनी चाहिए। संस्कृत के तत्सम शब्दों को ठूँस-ठूँसकर रखने से भाषा में कृत्रिमता आती और पुस्तक की उपादेयता कम हो जाती है। प्रूफ़ की भी बहुत सी अशुद्धियाँ हैं। वैसे अनुवाद में कोई विशेष कमी नहीं लक्षित होती। —वि० शं० मख

हिन्दी-साहित्य की वर्तमान विचार-धारा—लेखक श्रीराम शर्मा साहित्य-रत्न; प्रकाशक श्री विदर्भ साहित्य-समिति, अकोला (बरार); पृष्ठ-संख्या १३७; मूल्य दो रुपये। गेट-अप में नवीनता का प्रयत्न तथा छपाई दूसरे दर्जे की।

आज की बढ़ती हुई साहित्यिक चेतना के साथ-साथ आलोचकों का उत्तरदायित्व भी पहले जैसा नहीं रहा। अब साहित्य का समालोचक ऊपरी भूषा ही देखकर सन्तुष्ट नहीं होता। उसे कुछ और चाहिए। आज की काव्यगत चेतना ही उसकी समालोचना का विषय होगा। इस दृष्टि से जब हम इस पुस्तक को लेते हैं तो बड़ी ही प्रसन्नता होती है। चुने हुए विषयों पर आलोचक ने लेखनी उठाई है यह उसकी सजगता का प्रतीक है पर विषयों के चयन में लेखक की गम्भीरता जितनी प्रशंसनीय है उतनी उनके विवेचन में नहीं। ऐसा मालूम होता है कि लेखक केवल ऊपर ही तैरकर रह गया है। डूबने का साहस उसने नहीं किया है। इसी लिए पुस्तक अपने स्तर से नीचे चली आती है। विद्यार्थी समाज की दृष्टि से भी यह परीक्षा के पास आने के समय के संक्षिप्त नोटस जैसी ही है जिसमें बहुत-से उद्धरण देकर गम्भीरता लाने का प्रयत्न किया गया है। दो विषयों को मिलाने का भी अद्भुत प्रयत्न किया गया है जो अधिक अच्छा नहीं है।

—ठाकुरप्रसाद सिंह

सम्पादकीय टिप्पणी

स्वर्गीय रामानन्द चट्टोपाध्याय

पहली अक्तूबर को 'प्रवासी' और 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक, देश के सबसे पुराने पत्रकार श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय का स्वर्गवास हो गया।

स्वर्गीय रामानन्दजी जीवन भर उन शक्तियों के साथ रहे जो भारत को मुक्त करने के लिए लड़ती हैं। जीवन भर उन्होंने भारत को पराधीन करनेवाली शक्तियों का विरोध किया। उनका जीवन एक ऐसे क़लम के धनी का जीवन है जिसने क़लम को सचमुच एक हरबा समझा और हर तरह के दमन, अन्याय और बर्बरता से लोहा लिया। कायस्थ पाठशाला के प्रिंसिपल की हैसियत से उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में होनेवाली साम्राज्यवादी दस्तन्दाज़ी का मुक़ाबला किया। 'प्रवासी' और 'माडर्न रिव्यू' चलाने के बाद तो वे जैसे मैदान में उतर आये और देश के हर प्रगतिशील आन्दोलन का साथ दिया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के युग से प्रारम्भ होनेवाले भारतीय पुनरुत्थान में उनका हाथ रहा। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जब अपनी 'सर' की पदवी का परित्याग किया, रामानन्दजी ने ज़ोरों के साथ उसका समर्थन किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही की तरह उन्होंने भी जलियानवाला बाग़ कांड की तीव्र निन्दा की। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ही पद-चिह्नों में वे निरन्तर चले। रूस की जन-क्रान्ति का उन्होंने भी रवीन्द्रनाथ ही के समान अभिनन्दन किया। रवि बाबू की 'रूस की चिट्ठी' सबसे पहले 'प्रवासी' में ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई। वे सदैव हमारे स्वाधीनता-संग्राम के साथ रहे और विशेषकर गान्धीजी के आगमन के बाद।

समस्त जीवन अन्याय और बर्बरता से लड़नेवाले रामानन्दजी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे बङ्गाल के फ़ाशिस्त-विरोधी लेखक और कलाकार सङ्घ के प्रथम सभापति के पद से सोवियत रूस पर होनेवाले बर्बर जर्मन फ़ाशिस्त आक्रमण का विरोध करें और सोवियत सङ्घ की विजय की कामना करें। मरने के पूर्व, लाल फ़ौज को सतत विजय-पथ पर बढ़ते देखकर उन्हें कितना सुख मिला होगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

देश के प्रति, देश की पीड़ित जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्व का उन्हें कितना बोध था, इसका थोड़ा परिचय तो इसी बात से मिलता है कि मरण-शय्या पर से भी उन्होंने जनरक्षा समिति की अपीलों पर हस्ताक्षर किये जिसमें जनता उसके साथ आये और अपनी समस्याओं को स्वयं, अपनी सङ्गठित शक्ति के आधार पर हल करे।

हम पत्रकारों के लिए उस दिवंगत पत्रकार-शिरोमणि की कदाचित् यही थाती है कि हम जनता को जागरूक बनायें, उसका सङ्गठन करें जिसमें उसे अपनी शक्ति पर, अपनी एकता की शक्ति पर विश्वास हो और वह जागरूक तथा सङ्गठित रूप में आगे आकर अपने लिए खाना प्राप्त कर सके, देश के नेताओं को मुक्त करा सके, राष्ट्रीय सरकार क़ायम कर सके, देश को जापानी आक्रमणकारियों से बचाकर स्वतन्त्र विश्व में स्वतन्त्र भारत की स्थापना कर सके।

हम अपनी समूची देशप्रेमी जनता के साथ उस मृतात्मा की स्मृति में शीश नवाते हैं।

बङ्गाल का दुर्भिक्ष

एक समय बङ्गाल की धरती सोना उगलती थी। आज वह मुर्दे निगलती है।

आजकल बङ्गाल से आनेवाली ख़बरें पढ़कर किसके रोंगटे न खड़े हो जाते होंगे! भूख के मारे लोग सड़कों पर, फ़ुटपाथों पर, पुलों पर, नदी किनारे, हर जगह दम तोड़ रहे हैं। रोज़ ही सड़कों पर सैकड़ों लोगों की लाशें उठाई जाती हैं। भूख के मारे लोग अखाद्य से अखाद्य वस्तु का भक्षण कर रहे हैं। माँ-बाप अपने बच्चों को भूख से तड़पते नहीं देख सकते इसलिए उन्हें मारकर ख़ुद भी मर जाते हैं या किसी 'दयालु' के हाथ अपने ही ख़ून के उन टुकड़ों को एक एक और दो दो रुपये पर बेंच देते हैं। भूख की मार से तिलमिलाकर अच्छी-भली किसान स्त्रियाँ अपने तन का सौदा करती हैं। ऐसी कौन-सी विभीषिका है जो आज बङ्गाल में अपना क्रूर नृत्य न दिखला रही हो! और बङ्गाल ही पहली जगह है जहाँ जापानी आक्रमण होगा।

हिन्दू और मुसलमान यकसाँ मौत के घाट उतर रहे हैं। अपने ही भाई-बहन मौत के घाट उतर रहे हैं लेकिन बङ्गाल की पार्टियाँ अब भी एक होकर भूख और मौत का मुक़ाबला नहीं करतीं; उनको एक दूसरे पर कीचड़ उछालने से फ़ुरसत नहीं है।

बङ्गाल के दुर्भिक्ष ने भारत के एक एक व्यक्ति को चिन्ता में डाल दिया है और विश्व की जनता ने भी इसको एक मुख्य समस्या के रूप में अपना लिया है और देश-विदेश से, भारत के कोने कोने से बङ्गाल के लिए सहायता पहुँच रही है। यह सहायता बहुत बड़ी चीज़ है. इससे हज़ारों जानें बच रही हैं। इससे बङ्गाल के निवासियों को, जो जापानी बम के शिकार होकर भी मोर्चे को सँभालने में लगे हुए हैं, इस बात का पता चलता है कि उनके पीछे भारत की और विश्व की जनता है जो उन्हें भूख से बचाने के लिए ज़रूरत पड़ने पर अपना सब कुछ क़ुर्बान कर देगी। इस नाते सहायता का महत्त्व बहुत है।

लेकिन केवल सहायता ही भूख और मौत से लड़ने के लिए बहुत नाकाफ़ी है। उसका मुक़ाबला तो स्वयं बङ्गाल की हिन्दू मुसलिम जनता, वहाँ की राजनीतिक पार्टियाँ ही कर सकती हैं। जो सहायता उन्हें आज दुनिया के कोने-कोने से पहुँच रही है, उसका बदला वे इसी तरह चुका सकती हैं कि आपस की लड़ाई को अलग कर अपने ही भाई-बहनों, अपने ही भोले-भाले, फूल-से बच्चों को मौत के चंगुल से बचाने के लिए एक हों और बङ्गाल में एक सर्वदली सरकार क़ायम करें।

शिवदानसिंह चौहान को रिहा करो

प्राय: एक वर्ष की क़ैद के बाद विख्यात फ़ाशिस्त-विरोधी लेखक शिवदानसिंह चौहान १० अगस्त को तीन महीने की पैरोल पर छोड़े गये। उनके रोगों को देखते हुए तीन महीने का समय इलाज के लिए बहुत नाकाफ़ी है। अभी कुछ दिन हुए कि उनके रोग का निदान हुआ है। आजकल इलाज चल रहा है। अगर उन्हें रिहा न किया गया या उनके पैरोल की अवधि न बढ़ाई गई तो उन्हें फिर १० तारीख़ को जेल वापिस जाना पड़ेगा। उनके स्वास्थ्य की दशा देखते हुए, यह उनके ऊपर सबसे बड़ा अत्याचार होगा। उनके स्वास्थ्य को देखते हुए और यह देखते हुए कि स्वस्थ होकर ही वे आज जब कि एक ओर संयुक्तराष्ट्रों का आक्रमण बर्मा पर होनेवाला है और दूसरी ओर जापान का लुब्ध और क्षुधा-पीड़ित भारत पर, अपने देश की रक्षा में हम साहित्यिकों और साहित्य-प्रेमियों का पथ-दर्शन कर सकेंगे, हमें उनकी रिहाई की माँग करनी चाहिए।

— अमृतराय

हंस : प्रगति अंक

प्रगतिवादी दर्शन का जन्म एक सामाजिक आवश्यकता में से हुआ है। आगामी समाज-व्यवस्था के संबंध में विचार करनेवालों के लिए ज़रूरी है कि वे उस दृष्टिकोण को जानें ही नहीं, बल्कि उसके मान को स्वीकार भी करें। उससे किसी को असहमति हो सकती है; पर उसकी अवगणना नहीं की जा सकती। उस प्रगतिवादी दृष्टिकोण का 'हंस' प्रतिनिधित्व करता है और उसके **प्रगति अंक** उस दृष्टिकोण को काफ़ी विशद और साधिकार रूप में उपस्थित करते हैं।

जैनेन्द्रकुमार —

'हंस' का प्रगति अंक सुन्दर रहा। ज्ञानवर्द्धक पाठ्य-सामग्री का एक सुन्दर संग्रह जमा कर लिया गया है।

राहुल सांकृत्यायन

हंस ने ३५४ पेजों में प्रगतिवाद के ४८ ख्याति-प्राप्त लेखकों के विचार एक जगह रखकर साहित्य की इस धारा पर सोचने-विचारने के लिए काफ़ी सामग्री इकट्ठी कर दी है।

विश्ववाणी—

प्रगति अंक में अधिकारी विद्वानों के सामयिक लेख हैं; जितनी सामग्री दी गई है, वह पठनीय एवं मननीय है। 'हंस' हिन्दी साहित्य को मापने का नया दृष्टिकोण दे रहा है। यह जहाँ शुभ है, वहाँ इस बात का ख़तरा भी है कि कहीं उससे यथार्थ मूल्यवान् एवं शाश्वत कला-कृतियों के महत्त्व को हीनप्रभ समझने का वातावरण न उत्पन्न हो जाय। अतीत का सब कुछ गर्हित नहीं है, और न नवीन युग का सब कुछ स्पृहणीय ही है, अतः 'हंस' की नीर-क्षीर-विवेक की परिपाटी की रक्षा होती रहे, तो हिन्दी का अधिक कल्याण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। 'हंस' की अमूल्य सेवा एवं विशिष्टता से कोई इंकार नहीं कर सकता। 'प्रगति अंक' की सामग्री प्रकाश-पूर्ण है। वह पठनीय, मननीय एवं संग्रहणीय है।

प्रताप—

वर्ष १३ : अगस्त १९४३ : अङ्क ११

वार्षिक ६) : : एक प्रति आठ आना

प्रकाशक

सरस्वती-प्रेस, बनारस

हंस

वर्ष : १३ अगस्त १९४३ अंक : ११

अमरीकन सर्वहारावर्गीय साहित्य

[जोज़ेफ़ फ़्रीमन]

(गतांक से आगे)

कोई मूर्ख व्यक्ति या पूँजीपतियों का अंधा पक्षपाती ही यह कह सकता है कि सर्वहारावर्ग के विचारकों ने इन क्षेत्रों में जो प्रगति की है वह निःसार है; कोई ऐसा ही व्यक्ति यह शोर करेगा कि साम्यवाद इस बात का दम भरता है कि उसने जीवन के बारे में ऐसे परम सत्य खोज लिए हैं जो आज के लिए और चिरकाल के लिए समान रूप से सच हैं। साम्यवाद जो कुछ सिखलाता है वह आज की दुनिया के यथार्थों से मेल खाता है। साम्यवादी शिक्षा का आधार है कि हम एक परिवर्तनशील संसार में रहते हैं जिसमें बस इतनी ही बात नहीं बदलती कि आदमी से भूलें हो जाती हैं; हमारा सत्य इसी बात में निहित है कि हम इन परिवर्तनों को समझें और तदनुरूप अपने विचारों को बदलें। जो बात राजनीति के बारे में सच है वही कविता के बारे में भी। ऐसे लेखक का निराश होना अनिवार्य्य है जो यह उम्मीद बाँध कर हमारे आंदोलन में दाखिल होता है कि उसे ऐसा कोई तिलिस्मी मूलमंत्र हाथ लग जायगा जो उसकी सारी समस्याओं को सुलझा कर रख देगा। ऐसा लेखक तो सरासर गलती करता है अगर वह यह सोच कर हमारे आंदोलन से अलग रहता है कि इसमें किसी नीति का कट्टर पंथियों की सी सख़्ती से पालन किया जाता है। सच तो यह है कि आज बूर्ज्वा लेखक स्वयं कठमुल्ला बने हुए हैं। एक ह्रासोन्मुख वर्ग की तरफ़ से लड़ने के कारण उसे अपने चारों ओर होनेवाले परिवर्त्तनों की तरफ से आँख मूँदनी पड़ती है, 'सनातन' मान्यताओं की गोद में मुँह छिपाना पड़ता है, उसने अपने को धोखा दे रक्खा है कि उसकी प्यारी दुनिया बुनियादी तौर पर बदलेगी ही नहीं।

कार्ल मार्क्स के अनुयायियों के लिए कविता, राजनीति और पार्टी का परस्पर संबंध इतना स्पष्ट था कि जहाँ जहाँ समाजवादी आंदोलन ने जोर पकड़ा वहाँ वहाँ उसके चारों तरफ समाजवादी लेखकों और कलाकारों के दल तैयार हो गये। जहाँ वर्ग-संघर्ष उभर कर सतह पर न आ सका, वहाँ समाजवादी आंदोलन कमज़ोर बना रहा; और जहाँ आंदोलन कमजोर बना रहा, उससे प्रेरणा पाने वाली कला क्षीण बनी रही। जहाँ वर्ग-संघर्ष तीखा था, वहां आंदोलन मजबूत था; और जहाँ आंदोलन

मजबूत था वहाँ उससे प्रेरणा पाने वाली कला पुष्ट और सबल थी। अमरीका इस सामान्य नियम का अपवाद नहीं रहा। उदाहरण के लिए १९०१ में अमरीकन समाजवादियों के एक दल ने न्यूयार्क में बढ़ते हुए आंदोलन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 'कामरेड' नामक पत्र को पुनर्जीवित किया। इसके संपादकों में जॉन स्पार्गो और जार्ज डी० हेरन थे ; इसके लेखकों में एडवर्ड कारपेंटर, वाल्टर क्रेन, रिचर्ड लि गैलियेन, मैक्सिम गोर्की, जैक लंडन, अपृन सिंक्लेअर, अर्नेस्ट क्रास्बी और एडविन मार्खम थे। 'मासेज़' की पूर्ववर्ती इस पत्रिका ने अपने उद्देश्यों की घोषणा इन शब्दों में की : हमारा उद्देश्य अपने पाठकों को ऐसी साहित्यिक और कलात्मक कृतियाँ देना है जो समाजवादी दर्शन की सचाई को प्रतिबिंबित कर सकें। समाजवादी विचारधारा कला और साहित्य में जिस प्रकार अभिव्यक्ति पाती है, 'कामरेड' उसको प्रतिबिंबित करने की कोशिश करेगा .... इस बात के बावजूद कि कला और साहित्य के सब क्षेत्रों में समाजवादियों ने चरम योग्यता का परिचय दिया है, विश्व की अधिकांश साधनहीन जनता चित्रकला, काव्य और कथा साहित्य की उन महान् कृतियों से अपरिचित है जिनकी रचना उन स्त्री-पुरुषों ने की है जिन्होंने समाजवाद के महान् ध्येय के लिए कार्य किया है और आज भी कर रहे हैं।" 'कामरेड' ने १९०१ में ही श्रमजीवी कवियों के लिए 'सर्वहारावर्गीय कवि' शब्द का प्रयोग किया था।

विल्सन-युग के सूत्रपात के समय पूँजीजीवी उदार पंथियों ने अमरीका के समाजवादी आंदोलन में इस मत का पहली बार प्रतिपादन किया कि कविता कवि के विचार, संकल्प और कृतित्व से परे कोई रहस्यात्मक वस्तु है। इस देश में उदार दल के अभाव के कारण मध्यम वर्ग के लोग जो पूँजीवाद के विभिन्न रूपों से खींचकर मजबूरन क्रांतिकारी आंदोलन में आ जाते थे। महायुद्ध के संकट-काल में उन्हें हठात् पता चला कि उनकी असली जगह कहाँ पर है और वे पुनः पूँजीवादी खेमे के अंदर रेंग गये। उनमें से दो-एक ने जो दोनों खेमे में एक-एक पैर रखना चाहते थे कुछ समय के लिए इस समस्या को इस प्रकार सुलझा लिया कि राजनीति में तो वे सर्वहारावर्ग का समर्थन करने लगे और कविता में पूँजीपति वर्ग का। 'मासेज़' के पृष्ठों में जो 'कामरेड' के उद्देश्यों को एक ऊँचे धरातल पर संपादित कर रहा था, इन महानुभावों ने अपने को सान्त्वना देने के लिए दोहरी नीति अख्तियार की—राजनीति का संबंध वर्ग-संघर्ष, संकल्प और कर्म से था और कविता का संबंध 'जीवन' से था, जिसे संभवतः वर्ग-संघर्ष, संकल्प या कर्म से कुछ लेना-देना न था।

लेकिन फ्लायड डेल अक्सर 'मासेज' के पृष्ठों में कला की व्याख्या एक सुस्पष्ट समाजवादी दृष्टिकोण से करता। १९१९ की गर्मी आने तक वह एक निश्चित सर्वहारा वर्गीय साहित्य की बात करने लगा। उसी वर्ष उसने ज़ोरदार टिप्पणियों के साथ एक सोवियत प्रमाणपत्र छापा। जिसमें रूस के अंदर सर्वहारावर्गीय कला के विकास के लिए शिक्षा-विभाग द्वारा बनाई योजना थी। उसने एक सच्चे समाजवादी की तरह कलानुभूति को सार्वजनीन बनाने और "एक सच्ची श्रमजीवी समाजवादी

कला की नींव डालने" की योजनाओं का समर्थन किया। साथ ही निजी तौर पर अपने समाजवादी विश्वासों के सहारे डेल ने उन सर्वहारावर्गीय कला को अनुप्राणित करने वाले संविधायक गुणों की चेतना प्राप्त की। उसने ठीक ही अनुमान किया कि "सच्ची सर्वहारावर्गीय समाजवादी कला" न केवल श्रमजीवी की कल्पना को जगाती है बल्कि वह उसके ज्ञान और उसके साहस और नया समाज बनाने के संघर्ष में विजय प्राप्त करने के उसके संकल्प को भी दृढ़ बनाती है।

१९२१ के प्रारंभ में एक दूसरे अमरीकी लेखक ने सर्वहारावर्गीय कला का नारा बुलंद किया। श्रमजीवी वर्ग और समाजवाद के प्रति अपनी विश्वासजन्य अटूट भक्ति से प्रेरित होकर माइकेल गोल्ड ने क्रान्ति को वाणी देने वाली कला का विचार पेश किया। गोल्ड ने कहा कि "पुरानी मनः स्थितियाँ, पुरानी कविता, कथा, चित्रकला और दार्शनिक विचार धाराएँ घमंडी और हतबुद्धि एकांतवासियों की रचनाएँ थीं ·········पूँजीवादी जगत् की कला ने प्रत्येक कलाकार को जैसे अलग अलग काल कोठरियों में बंद कर दिया था ताकि वे वहाँ पर उद्विग्न होकर सोचें, मूकहो कर यंत्रणा सहें और विक्षिप्त बन जायँ। हम जनता के कलाकार जीवन और अनंत भविष्य की समस्याओं का अकेले ही सामना न करेंगे। उसका सामना हम जनता के बीच से ही करेंगे······ ···हड़ताल, बहिष्कार, जन सभा, कारावास, कुरबानी, आंदोलन, आत्म-बलिदान और संगठन की अपनी भौतिक अभिव्यक्तियों के रूप में क्रांति कलाकार की पुनीत भक्ति की अधिकारिणी है।"

सर्वहारावर्गीय कला पर गोल्ड के निबंध ने एक ऐसी परंपरा को आगे बढ़ाया जो समाजवादी आंदोलन ही की तरह पुरानी थी। जिस तरह एडविन मार्खम ने १९०१ में, जॉनरीड ने १९१६ में, उसी तरह उसने भी कला के भविष्य को नये समाज के लिए श्रमजीवी वर्ग के संघर्ष से एकरूप कर दिया। उस परंपरा ने जैक लंडन और अप्टन सिंक्लेअर जैसे अमरीकी कथाकार, जो हिल, रैल्फ़ चैपलिन और आरतुरो जियोवान्निति जैसे अमरीकी कवि पैदा किये।

सर्वहारावर्गीय कला हर युग में कमकर वर्ग के राजनैतिक संघर्ष से मिली हुई होती है। हमारी शताब्दी के दो प्रारंभिक दशकों में अमरीकी क्रांतिकारी लेखक या तो सोशलिस्ट पार्टी या आई० डब्लू० डब्लू० से प्रभावित या सीधी तरह संबद्ध हुआ करते थे। तीसरे दशक में वे कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रभाव में आ गये थे जो कि अब कमकरों के राजनैतिक हरावल के रूप में सामने आ चुकी थी। वे लेखक थे, राज-नीतिज्ञ नहीं और उनका विकास हुआ था संगठित (समाजवादी) आंदोलन की ऊपरी सतह पर। लेकिन जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण निर्मित हुआ था अक्तूबर क्रांति से और वैसे ही सामाजिक परिवर्तन के लिए सब देशों के कमकरों के संघर्ष से। अपनी स्वतंत्र पत्रिका 'न्यू मासेज़' द्वारा जिसकी स्थापना १९२६ के वसंत में हुई थी, उन्होंने हमारे युग के वर्ग-संघर्ष के अनुरूप अमरीकन कला और साहित्य की नींव डाली।

सन् २० और ३० के बीच 'न्यू मासेज़' का लेखक-मंडल छोटा था। वह कम-करों के सार्वजनिक संगठनों और अधिकांश बुद्धिजीवियों दोनों से अलग था। ये

बुद्धिजीवी अपने उदार पंथी दुरावों के बावजूद इस वक्त मौजूदा सामाजिक व्यवस्था से चिपके हुए थे। रचना के क्षेत्र में अमरीकन वामपक्षी लेखक बस एक या दो उपन्यास, कुछ कहानियाँ और कविताएँ ही लिख गये थे। सर्वहारावर्गीय साहित्य प्रचार के स्तर पर था। कूलिज और हूवर के समय के थोड़े से क्रांतिकारी लेखक मुख्यतः आलोचना के क्षेत्र में काम करते थे। वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से सम-सामयिक अमरीकन साहित्य की व्याख्या करते थे और एक चेतनाशील सर्वहारावर्गीय कला के विकास के लिए आंदोलन करते थे। उन्होंने बूर्ज्वा संस्कृति के ह्रास का पर्दा उस वक्त फ़ाश किया जब कि लोग सामान्यतः उस ह्रास से अवगत न थे। साथ ही साथ उन्होंने भावी साहित्यिक प्रवृत्तियों की ओर इशारा किया।

इस युग में क्रांतिकारी लेखक एक ऐसे मानसिक द्वंद्व का शिकार था जिसने उसे संकीर्ण बना ही दिया। उसका सामाजिक लगाव सर्वहारावर्ग से था, उसके साहित्यिक मित्र पूँजीपति वर्ग से चिपके हुए थे। इसलिए इसका कोई साहित्यिक समाज न था; वह सबसे अलग एकांत में काम करता था। इसीलिए वह आलोचनात्मक साहित्य में तो (जो कि एक बुद्धिमूलक प्रक्रिया है) प्रगल्भ था और रचनात्मक साहित्य में (जो कि एक भावकल्पनामूलक प्रक्रिया है) पिछड़ा हुआ। वह यह बतलाने में तो समर्थ था कि क्रांतिकारी आंदोलन को कैसे साहित्य की ज़रूरत है लेकिन वैसे साहित्य की रचना में वह शायद ही कभी समर्थ होता हो। ऐसे साहित्य की रचना के लिए ऐतिहासिक परिस्थितियाँ तब तक न पैदा हुई जब तक कि आर्थिक संकट ने समूचे देश को छाकर जनता के जीवन को ही न बदल दिया।

अधिकांश साहित्यिक मध्यम वर्ग के हैं। साहित्य रचना के लिए आवश्यक शिक्षा और प्रेरणा दोनों ही इस वर्ग में हैं। इन वर्गों ने किसानों और कमकरों के साथ साथ आर्थिक संकट की तकलीफों को सहा। देशभर में फैल जानेवाली बेकारी, ग़रीबी और बेचारगी ने तूफ़ान की तरह शिक्षित वर्गों पर चोट की, औरों के साथ साथ लेखक और कलाकार अच्छी अच्छी जगहों से निकाल बाहर किये गये और उनमें से बहुत से लोगों ने तो जो आर्थिक रूप से निश्चिन्त थे अपने विचारों में एक क्रांति अनुभव की। यह क्रांति चारो तरफ़ होनेवाले व्यापक परिवर्तनों की प्रतिच्छाया थी। और उसी सम जब कि हमारा अपना देश आर्थिक सामाजिक विनाश के अतलगर्त में समाता जा रहा था—जिसने मार्क्सवादियों के अलावा बाक़ी सबको स्तम्भित कर दिया था—रूसी किसानों और कमकरों की नई आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था शानदार प्रगति की सूचना दे रही थी।

पुरानी विडंबनाओं के ध्वस्त होने के साथ ही साथ इन दो संसारों की विषमता भी दीख पड़ी। शिक्षित वर्ग के दूसरे लोगों ही की तरह लेखक और कलाकार भी, क्रांतिकारी किताबें, पैमफ्लेट और अखबार पढ़ने लगे, कमकरों की सभाओं में आने जाने लगे। उन्होंने जैसे एक नये अमरीका के दर्शन किये जो कि जनता का देश था—उसी जनता का जिसके अस्तित्व की उन्होंने उपेक्षा की थी। उन्होंने जनता को आधुनिक इतिहास की प्रेरक शक्ति के रूप में देखा, संस्कृति के पुनर्जन्म

और प्रसार के लिए एक श्रेष्ठतर सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की आशा किरण के रूप में।

शुरू शुरू में जो मध्यवर्गीय लेखक समाजवाद को अपनाता था उसे एक।आंतरिक संघर्ष का अनुभव होता था। उसने एक नागरिक के नाते १९३२ के चुनाव में फ़ॉस्टर और फ़ोर्ड की मदद की थी; केण्टकी की खानों के हड़तालियों की वह मदद करता था और पुलिस के हाथों अपनी दुर्गति करवाता था; वह टॉम मूनी और 'स्कॉट्सबरों के लड़कों' की मुक्ति के लिए आवाज़ उठाता था। लेखक के नाते वह जहाँ का तहाँ रहा। उसे यह आशा बनी की बनी रही कि मध्यवर्ग के लोगों के वैयक्तिक जीवन से लिये गये पुराने विषय पहले ही की तरह अब भी काम देते रहेंगे। लेकिन संकट और गहरा हो गया। उसने उसे और भी ढकेला कमकरों के दृष्टिकोण की ओर। एक वक्त ऐसा आया जब बहुत-से लेखकों ने जिन्होंने तमाम ज़िन्दगी राजनीति और अर्थ शास्त्र की उपेक्षा की थी, यकायक कविता, उपन्यास और नाटक लिखना बंद कर दिया और बेकारी, आर्थिक नीतियों तथा विदेशी व्यापार पर गंभीर लेख लिखने लगे। कवियों का दृष्टिकोण बदलने में उनकी बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना ने विशेष योग दिया।

इस परिवर्त्तन के लिए एक और चीज़ की ज़रूरत थी अर्थात् सर्वहारावर्गीय पाठकों तथा दर्शकों से सीधा संबंध। आर्थिक संकट के प्रारंभ में उन लेखक और कलाकारों ने जो मज़दूर आंदोलन से उत्पन्न हुए थे और जिन्होंने सर्वहारावर्गीय साहित्य की परंपराको अक्षुण्ण रखा था, उन्होंने जॉनरीड क्लबों, थिएटर यूनियन जैसी गोष्ठियों, फ़िल्म और फ़ोटो लीगों, संगीत और नृत्य की संस्थाओं की स्थापना की थी। कमकर आंदोलन के विकसित होनेके साथ साथ सर्वहारावर्गीय साहित्य विकसित हुआ। पूंजीवादी शोषण, फ़ासिज़्म और एक नये विश्वव्यापी युद्ध की आशंका के ख़िलाफ़ कमकरों और उनके मध्यवर्गीय साथियों के संघर्ष ने नये साहित्य को सामग्री प्रदान की, यही कमकर और उनके मध्यवर्गीय साथी क्रांतिकारी नाट्यशाला के दर्शक और क्रांतिकारी पत्रों के पाठक हुए।

गत पांच वर्षों में अमरीकन सर्वहारावर्गीय साहित्य ने चमत्कारपूर्ण प्रगति की है। उसकी वास्तविक रचनात्मक कामयाबियों के सामने विपक्षियों के सारे आक्षेप डूबते जा रहे हैं। अमरीका के सबसे प्रगतिशील लोगों के लिए ख़ुद ज़िन्दगी ने इस झगड़े का निबटारा कर दिया है। वर्त्तमान संस्कृति का विनाश, आर्थिक संकट का दबाव, इजारादार पूँजीवाद का निर्मम दमन, मानव द्वारा मानवका शोषण खत्म करने के लिए हर जगह कमकरों का वीरोचित संघर्ष—सामाजिक वर्गों के अनिवार्य संघर्ष के ज़रिये होनेवाले दुनिया के इस महान् रूपान्तर ने इस देश में एक ऐसी कला को जन्म दिया है जिसने अपने दुश्मनों तक का आदर पाया है। सर्वहारावर्ग का क्रांतिकारी आंदोलन एक सच्ची कला को जन्म दे सकता है या नहीं इसके संबंध में हवाई बहस-मुबाहसे अब बंद हो गये हैं। उसके स्थान पर जिस उच्चकोटि के नाटक, कविता, उपन्यास और रिपोर्टाज लिखे गये हैं, उनके लिए प्रशंसा और साधुवाद दिया जाताहै।

वैसे तो क्रांतिकारी कमकर वर्ग द्वारा प्रेरित साहित्य अमरीका के लिए कोई नई चीज़ नहीं है। एक ऐसा संकलन निकालना संभव होगा जो हमें जैक लंडन और अप्टन सिंक्लेअर की प्रारंभिक रचनाओं से लेकर जॉनरीड, आर्तुरो जियोवानीति और फ़्लॉयड डेल तक का परिचय दे। फिर भी क्रांतिकारी लेखकों की वर्तमान पीढ़ी परिस्थितियों के दबाव से वर्ग-संघर्ष के प्रति और भी तीक्ष्ण रूप से सचेतन है। वह विश्वव्यापी युद्ध, अक्तूबर क्रांति, पंचवर्षीय योजना, पूंजीवाद के आर्थिक-सामाजिक संकट, वर्गहीन साम्यवादी समाज के लिए कमकरों के बढ़ते हुए विश्वव्यापी आंदोलन से प्रसूत है। इन तत्वों ने हमारी पीढ़ी को उसके विशेष गुणों से विभूषित किया है; यह एक ऐसी पीढ़ी है जो दो विरोधी सभ्यताओं के उग्र संघर्ष से, ऐसे संघर्ष जिसमें हर व्यक्ति का भाग लेना अनिवार्य है, सशक्त और परिपक्व हुई है। नाटक, उपन्यास कविता और आलोचना पर इन जीवनप्रद विचारों का प्रभाव पड़ा है। उन लेखकों ने भी जो हमसे सहमत नहीं हैं, अपने शीश महल छोड़ दिये हैं और देश की बुनियादी वास्तविकताओं और सामाजिक दृश्य से आंखें चार करना शुरू कर दिया है।

गत बसंत में (१९३४) होनेवाली अमरीकी लेखकों की कांग्रेस में यह साबित कर दिया कि क्रांतिकारी साहित्य अब एक संकुचित संप्रदाय की वस्तु नहीं है बलिक अमरीका के समूचे साहित्य में रसा हुआ है। उस कांग्रेस में हमारे देशके इतिहाह में पहली बार प्रमुख लेखक उच्चकोटि के लेखन की समस्याओं, सामान्य साहित्यिक प्रश्नों और फ़ासिज़्म और युद्ध के खतरे से संस्कृति की रक्षा के साधनों पर विचार करने के लिए एकत्र हुए थे। इस देशमें एक साहित्यिक कांग्रेस तभी संभव हो पाई जब की लेखकों के मस्तिष्क से कविता और राजनीति के बीच द्वित्व भावना खत्म हो चुकी थी और कला और जीवन एक दूसरे में घुलमिल चुके थे। इसी प्रकार की प्रकाशन-संस्थाएं, नाट्यशालाएं और पत्रिकाएं जो अपने तई क्रांतिकारी विचारों में कोई दिलचस्पी नहीं रखती थीं, अब वामपक्ष की ओर अधिकाधिक मुड़ता जा रही हैं क्योंकि इस ओर ही लेखकों को वे बुनियादी विचार प्राप्य हैं जो उनकी कृतियों को ठोसपन और दिशाज्ञान प्रदान करते हैं।

यह अमरीकन संस्कृति का एक नया विकास है जो उन ऐतिहासिक परिस्थितियों से पैदा हुआ है जिनमें हम रहते हैं। उस अमरीकन साहित्य की शुरूआत हो गई है। अमरीका का कमकर वर्ग अब नई दुनिया की ओर अपने ऐतिहासिक क़दम बढ़ाने लगा है और उसकी वृद्धि के साथ साथ हमारे साहित्य में भी गहरी सूझ और शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी।

हिन्दी में फासिस्ट-विरोधी साहित्य

[रमेश सिनहा]

(गतांक से आगे)

इस बीच में कथा साहित्य अपेक्षाकृत कम लिखा गया है। फिर भी ऐसा नहीं है कि लिखा ही न गया हो। हिन्दी के पुराने और प्रसिद्ध कहानीकार विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने "विक्रम" में एक फासिस्ट-विरोधी कहानी "मनुष्यता का दण्ड" लिखी है। माधुरी के विदेशांक (सितम्बर ४१) में श्रीयुत ज्ञानस्वरूप भटनागर ने एक कहानी लिखी है जिसमें बतलाया है कि हिटलरी दस्ते यहूदियों के साथ कितना बर्बर व्यवहार करते हैं। दो-एक कहानियाँ और भी निकली हैं। पर अनूदित सोवियत और चीनी कहानियाँ तो बहुत निकली हैं, जिनका आधार फासिज़्म-विरोधी है। लोकयुद्ध में इस तरह की महीने में कम से कम दो कहानियाँ देने का प्रयत्न किया जाता है। इनमें से कई तो न केवल बिल्कुल ताजी बल्कि सच्ची होती हैं।

कुछ स्केच और जीवनियाँ या यादगारें भी प्रकाशित हुई हैं जिनका मूल आधार फासिज़्म-विरोधी है। ये चीजें अधिकतर "लोकयुद्ध" में निकली हैं।

प्रभाकर माचवे ने भी एक अच्छी कहानी लिखी है जिसका शीर्षक है "उगता सूरज डूबेगा।" इस कहानी में उन्होंने उसको चित्रित करने का प्रयास किया है जो चीन के प्रतिरोध को प्रेरित कर रही है। बूढ़ी दादी के तीनों बच्चे पाँच बरस की लड़ाई में काम आ गये हैं। बच्चों के प्रश्नों का उत्तर देती हुई वह कहती है, "बच्चों सबके सब जवान लड़के और बूढ़े भी चले गये हैं, एक बहुत बड़ी शादी के लिए। आज हमारे गाँव की, यानी हमारे मुल्क की आज़ादी के साथ शादी होनेवाली है।..."

जापानी सैनिक कौन है मा ?

"नृशंस राक्षस, जानवर, जिनके मुल्क का निशान है उगता हुआ सूरज ! जाओ, भागो, ओ मेरे बच्चो ! तुम उन सब झोपड़ियों में, जहाँ कि अब तुम्हारे सिवा कोई बचा नहीं है, आग लगा दो, मेरी अँगीठी से लकड़ियाँ ले जाओ, एक-एक ! और देखो धान के गड्ढों पर और खेतों में और मछली पकड़ने के जालों में और छोटी-छोटी नावों में खूब आग जला दो। आज सर्दी बहुत है न..."

गाँव में जापानी पशुओं के आने के वक्त कहती है, "मैं जाकर क्या करूँगी ? मेरी जगह गाड़ी में दो बच्चे चले जायेंगे" और बच्चों को एक कोयला उठाकर देती हुई बोली, "हर ऐसी जगह पर जहाँ जापानी देख सके तुम लिख देना कि 'उगता सूरज डूबेगा'। खून बहानेवाले का भी आखिर खून होगा।"

श्रीयुत पहाड़ी ने रेडियो स्केच लिखे हैं : "सोवियत-जर्मन सन्धि का अन्त" और "युग-युग द्वारा शक्ति की पूजा"। हिन्दी साहित्य में रेडियो द्वारा पैदा किया हुआ यह एक नया साहित्यिक रूप है। इनमें संभवतः पहला ज्यादा अच्छा है।

कम से कम मैंने दो स्वतंत्र एकांकी देखे हैं: एक तो प्रकाशचन्द्र गुप्त का "विजय किसकी ?" और दूसरा अमृतराय का "मुनाफ़ाखोरी बन्द करो"। "विजय किसकी ?" का अन्त सज्जाद ज़हीर और सरदार जाफ़री की इन पंक्तियों से होता है :

"कह दो यह जापान से जाकर चलती हुई तलवार हैं हम;
अपने प्यारे देश की खातिर लोहे की दीवार हैं हम।"

और "मुनाफाखोरी बन्द करो" में इस प्रश्न के जवाब में कि "जपनियाँ तो कहता है कि वह हमको आज़ादी दिलाना चाहता है" महेस्सर कहता है :

"झूठ, सरासर झूठ। और डाकू भी क्या तुम पर हमला करने के पहले कहेगा कि हम तुम पर डाका डालना चाहते हैं ? बोलो ! वह तो उसकी चाल है। वह तो इसी ताक में है कि बारिश थमे और तब तक यहाँ सब कुछ गड़बड़ी में पड़ा रहे, तो बस हमला करके आसानी से हमें गुलामी की बेड़ियों में जकड़ दे।"

सोमारू कहता है, "बात तो कुछ-कुछ ठीक कहते जान पड़ते हो। यह आज़ादी दिलानेवाली बात झूठ ही होगी क्योंकि तुम्हीं बताओ भाइयो, वह अपने देश के लोगों का खून पानी एक क्यों कर रहा है ? हम लोगों को आज़ाद करने के लिए ? ससुर न लगता है कि अपने लाखों आदमी हमारी खातिर कटा दे रहा है ?..."

हिन्दुस्तान की रक्षा के संबंध में अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों के रुख के बारे में महेस्सर कहता है :

"...देश हमारा है, तो इसकी हिफाज़त भी हम ही करेंगे, हमीं को तो करना होगा न ? अंग्रेज़ बहादुर को तो यह देश दुलारा नहीं—जब तक बचा सकेंगे बचायेंगे, नहीं जापानियों के हाथ हमें बेंचकर, बोरिया-बकचा सँभालेंगे और कूच कर देंगे। हमको सब कुछ भुगतना होगा .."

यह बहुत आसानी से और सफलतापूर्वक स्टेज किया जा सकता है।

अनूदित एकांकियों की संख्या भी कई तक पहुँचती है। अमृतराय ने २-३ अच्छे चीनी एकांकियों का अनुवाद किया है। "बहादुर लड़का" और "हथियार" अच्छे हैं। हथियार में सर्जेन्ट, एक खाली हाथवाले किसान की तरफ इशारा करके कहता है : "तुम रास्ते जानते हो, इसलिए तुम हमारे राह दिखाने वाले हो सकते हो। हमारे हाथ की हर चीज़ हथियार है ! जिस चीज़ की हमको ज़रूरत है, यह हमारे हाथ में।"

और सब किसान जवाब देते हैं :

"ठीक ! हमारे हाथ की हर चीज़ लड़ने के काम की है। बहुत खूब ! हम और हमारी फौज 'तुच्छ जापान' से लड़ेंगे।"

(हंस, अगस्त १९४२)

इसे पढ़कर जापानी फ़ासिज़्म की वेदी पर देश के साहित्यिकों की पहली बलि सोमेन चन्दा की, चटगांव के किसानों की याद आ जाती है जिन्होंने जापानियों के हमले की खबर सुनकर तीर-कमानों का अभ्यास करना शुरू कर दिया था।

उनका नारा था "एक तीर—एक जापानी !" और केले के पत्तों पर वे तीरन्दाज़ी का अभ्यास करते थे।

राहुल सांकृत्यायन ने भोजपुरी में कई सुन्दर फासिस्ट-विरोधी नाटक लिखे हैं, "जपनिया राछछ", "देसरच्छक", "नइकी दुनिया", "ई हमार लड़ाई", "जरमनवा के हार निहिचय"। यह नितान्त नये किस्म का साहित्य है। अगर हमें जनता के पिछड़े से पिछड़े अङ्गों के पास तक पहुँचना है, उन्हें जाग्रत और संगठित करना है तो हर जिले और प्रान्त की भाषा में इसी तरह की नाटिकाएँ लिखी जानी चाहिए। "जपनिया राछछ" का प्रारंभिक गीत है :—

अपने मुलुकका के दुई-चारि जन लोभे,
देसे-देसे खुनवा बहावे रे जपनवा।
छिनिके मतरियन से बचवन के बध करे,
गउवाँ में अगिया लगावे रे जपनवा॥
बेटिया-बहिनिया के इजतो न रहे पावे,
जहँवा सिपहिया पेठावे रे जपनवा।
इजते गोहार लागि देसके गोहार लागि,
हनि तेगा मार भाग जाइ रे जपनवा॥

आगे चलकर पृष्ठ २३ पर थाइची, जुम्मन को जापान-विरोधी लड़ाई के दाँव-पेंच बतलाता हुआ कहता है :—

"आ एगो बात ई कि दुसमन से समुहें ना लड़े के, हमनी कल-बल-छल से लड़ीले। दुसमन के एहि मुलुक के धरती समुझल-बूझल नइखे आ हमनी के एक-एक अंगुर जमीन चालल बा। एहि वास्ते रात-बिरात, नद्दी-नारा देखि के बिलार का नाहिन सिटुका के, साहिल का नाहिन आपन देहिं लुकवा के छूरी भोंके के।"

"जपान हमार चालिस करोड़ के बसती में गाँव गाँव पलटन ना राखि सकेला।"

'जरमनवा के हार निहिचय' में है :

स्तालिन ऐसन नेता जहाँ लाल पलटनिया बा,
जितिया त निहिचय तोहार हो सिपहिया।
जरमन के जितले सुरजवा मिलल कहे,
देसवा से बेंचीहें तोहार हो०॥
एही बेर देसवा रछछवन के हाथे लागल,
दिनवा न फिरिहें तोहार हो०।
सपना मजुरवा-किसनवा के राज होई,
होइहें सँसतिया तोहार हो सिपहिया॥
दुनिया के लोगवा रछछवन से लड़तारे,
सब बाटे सथिया तोहार हो०।

लड़ भाई, लड़ भाई मरिहैं रछछवन के,
भुजवा पुजइहें तोहार हो सिपहिया ॥

और आगे :

"चालिस करोड़ बा भारत के लोगवा चालिस करोड़ बा चीन ।
चौदह करोड़ अमेरिका के लोगवा, रूस के करोड़ बा बीस ॥
चारि करोड़ बिल्लाइत के लोगवा, दुनिया के लोग उनतीस ।
एक-एक के जितले पै जितिया होई, नहिं होई बीसी बरीस ॥
रछछवा मरि जैहैं !

—पृष्ठ २१

पाँचवे दस्ते वाले अभागे जापानी दलालों के बारे में बिहार के किसान गाते हैं:—

कुकुरा फिरत बाड़े कवरा के खातिर, देसवा के दीहें बिलवाय ।
अबहीं त मुहवा कवरवो न भेटल, तन-मन देले बिकवाय ॥
भुकेले कुकुर जरमन के अन्हार देखि, देवेल मुलुख भरमाय ।
फरंस, पोलेंड, चेक, रूसवा में देखनी, हिटलर रछछवा के काम ॥
अन-धन जिउआ त पहिलेहिं हरिलेला, इजतो के राखे नहिं नाम ।
भारत के लोगवा इजतिया ना लेबे दी, तेगवा पर धरतारे सान ।
आई रछछवा त कइबो पहुँनवा मैं, बतिया सुनहु धइ कान ॥

—पृष्ठ २२

और देशों में तुम्हारी चालें चल गयी होंगी, भारत में नहीं दाल गलेगी। जहाँ का किसान ज्ञान जाग्रत हो वहाँ भला इन देश-द्रोहियों को कहाँ ठाँव मिल सकता है ? चीन और रूस में तो नहीं मिला ।

इसे पढ़कर बरबस उन पंक्तियों की याद आ जाती है जो नरेन्द्र ने देवली कैम्प जेल में लिखी थी :—

हैं ऐसे भी लोग कि जो दुश्मन की जीत मनाते हैं,
ये हारे ज्वारी ज्वारी से मिलकर दाँव लगाते हैं !
कोई कहता जापानी आए तो मेरी बन आये,
मैं भी कर्नल बन जाऊँ जो जापानी छत्तर छाये !
कोई रोता जर्मन फ़ौजें आती तो मेरी बनती ।
फिर से मेरी झुकी कमर भी ठोकर खा-खाकर तनती !

[योम् सोवियत —हंस, फरवरी १९४२]

किन्तु सबसे अधिक फासिस्ट-विरोधी साहित्य जो हिन्दी में लिखा गया है, वह है कविता के रूप में। नरेन्द्र, अंचल, शिवमंगल, सुरेन्द्र बालूपुरी के अतिरिक्त भारत भूषण अग्रवाल, हरिशंकर, हलधर जी, श्रीकृष्णदास, और सोहनलाल द्विवेदी ने भी राष्ट्रीय रक्षा और आज़ादी की भावना से अनुप्राणित होकर और अपने रूसी और चीनी भाइयों के अपूर्व शौर्य और त्याग से प्रभावित

होकर इस तरह के गीत लिखे हैं। इसके अतिरिक्त बम्बई सोवियत सुहृद् संघ के शशि बकाया ने भी दो एक जन गीत लिखे हैं।

प्रभाकर माचवे ने भी उच्चारण करने में एक अति कठिन रूसी शीर्षक से, "व्योम में प्रशस्त जा रहा सगर्व सैन्य लाल" एक सॉनेट लिखा है।

इन कविताओं और गीतों में कई अच्छे हैं, एक दो बहुत अच्छे हैं। थोड़ी-सी बानगी देकर ही सन्तोष करना पड़ेगा। जनवरी ४२ में "सोवियत रूस के प्रति" शीर्षक कविता में सुमन ने लिखा था :

नव संस्कृति के अग्रदूत हे!
पद-दलितों की आश,
एक तुम्हारी गति पर अटकी
मानवता की श्वास
युग-युग की शोषित जनता के
ओ नवस्वर्णिम भोर
लगी हुई हैं अगणित आँखें
आज तुम्हारी ओर

नरेन्द्र ने "लाल रूस" में इसी संबंध में लिखा है,

लाल रूस है ढाल साथियो,
सब मज़दूर किसानों की।
आज वहाँ भी आग लगी है,
कौन बचेगा धरती पर?
लाल फौज जो जीत गयी,
यह दुनियाँ तस्वीर बनेगी
दुनिया के अरमानों की!

"अंचल" ने एक जनगीत में लिखा है:

तुम जाग्रत मानव के प्रकाश,
तुम में भविष्य का नव-विकास आदि

फासिस्टी आकांक्षाओं के संबंध में मंगला मोहन ने लिखा है :

यह उल्लंघ-लास्य नात्सी बर्बरता का निर्बाध देख तो!
श्रम को लूट मौज करने की यह पूंजी की साध देख तो!
आज विश्व-जन की छाती पर सर्वनाश के शोले जलते!
आज हमारे दरवाज़े पर बॉम्ब बरसते गोले चलते!
कौन अभागा है, किसको आज़ादी की दरकार नहीं है?
भला देश में कौन चाहता इक कौमी सरकार नहीं है?
पाँच साल से तोपों आगे सीना ताने, चीन खड़ा है!
विश्वक्रांति का किला सोवियत रूस गर्व से उधर अड़ा है।

चीनी सागर तक से पूछो आज़ादी की क़ीमत क्या है।
वोल्गा की धारा से पूछो लोकयुद्ध की ताक़त क्या है।
('किसने कहा धर्म की जय है?', "लोकयुद्ध")

इसी कविता के प्रारम्भ में राष्ट्रीय ज़िच और "सत्याग्रह" की अवास्तविक बातों के सम्बंध में उन्होंने लिखा है :

कौन कह रहा निष्क्रियता से दुश्मन के सर गाज गिरेगी?
कौन कह रहा सत्याग्रह से माँ बहनों की लाज बचेगी?

फ़ासिज़्म और फ़ासिस्ट सेना के संबंध में सुमन लिखते हैं :

यह हिंसक भेड़िये उड़ाने चले सिंह का द्वार,
क्षयरोगी साम्राज्यवाद का शेष यही उद्धार।

नरेन्द्र लिखते हैं :

देश सोवियत उगता सूरज जिसका लाल उजाला है,
नाज़ी जर्मन देश रात का धुँआधार अंधियार है।
लाल रूसकी लाल फौज से टक्कर लेता हत्यारा,
पर उगते सूरज को कैसे निगल सकेगा अँधियारा।

आगे,

लाल रूस को जिसने समझा हो धरती का चप्पा भर,
वह इस दुनिया की हलचल को समझ सका क्या हब्बा भर?

देश नहीं वह, राष्ट्र नहीं वह, वह मानवता की आशा!
लाल रूस के इन्क़लाब की गाथा, दुनिया की गाथा
इसे जर्मनी और रूस की समझो नहीं लड़ाई भर,
नाज़ी जर्मन की रूसी पर समझो नहीं चढ़ाई भर,
आज रूस के मैदानों पर दुनिया भर का निपटारा,
लाल फौज का वीर सिपाही ही नवयुग का हलकारा।
साँस रोक सदियाँ तकती हैं इन रूसी मैदानों को,
देखें कौन उजाड़ सकेगा सदियों के अरमानों को।

किंतु सुमन के शब्दों में सोवियत की विजय निश्चित है :

पर अजेय है आज तुम्हारी पहले से भी शक्ति,
जिसमें मिली विश्वभर के दलितों की चिर अनुरक्ति।
कोना कोना दलित विश्व का आज तुम्हारे साथ,
विजय पताका लिये बढ़ेगा दिये हाथ में हाथ।

अंचल ने भी लिखा है :

दुनिया के शोषित श्रमिकों के वर्ग चले आते हैं आगे,
पस्त पड़ रही दुश्मन की हिम्मत उनके धावे के आगे।

और सोवियत सेना से वे कहते हैं :

तुम बढ़ते जाते रिपु की सेना को काई के सदृश चीर,
तुम बढ़ते जैसे ऊँचा मस्तक ले बढ़ता झंझा समीर।

"लोकयुद्ध" नामक अपने गीत में उन्होंने लिखा है कि फासिस्ट शासनों से तो मृत्यु अधिक प्यारी है। उठो, जापानी हत्यारों से भिड़ने की तैयारी करें।

सुमन ने भी अपनी प्रसिद्ध कविता "मास्को अब भी दूर है" में हमें उठने और आगे आने का आह्वान किया है। सोवियत-जर्मन युद्ध की पहली वर्षगांठ के अवसर पर (२२ जून) लिखा गया यह गीत इस विषय के सर्वश्रेष्ठ गीतों में से है :

"आओ, आगे बढ़ो,- अन्त में अपनी विजय ज़रूर है,
दस हफ़्ते दस साल बन गये, मास्को अब भी दूर है।
दुनिया के कोने कोने में आज लगा दो फेरी,
यह जनता का युद्ध, बज रही जनगढ़ में रणभेरी।
आओ दुनिया के मज़लूमों, आओ हाथ बटाओ,
आज नहीं तो कभी नहीं फिर दो दो हाथ दिखाओ।
आओ उनका गर्व तोड़ दो, कर दो पानी पानी,
अब अगली बाईस जून तक रहे न शेष निशानी।
यह भाड़े के सैनिक लड़ने का क्या इन्हें शऊर है,
दस हफ़्ते दस साल बन गये, मास्को अब भी दूर है।

अंचल ने अपनी कविता, "वीर चीन की बात सुनो" में भी फासिज्म की वीरता और चीनी जनता के ऊपर उसके जुल्म का वर्णन किया है।

हिन्दी के इन परिचित कवियों के अतिरिक्त भी मालूम होता है राष्ट्र पर संकट आया देख हमारे देशवासियों की सदियों की मूक वाणी के द्वार एकाएक उन्मुक्त हो गये हैं। इन महीनों में मजदूरों और किसानों ने जो अपनी टूटी फूटी भाषा में गीत लिखे हैं उनकी संख्या या उनके मूल्य को आँकना इस वक्त कठिन है। "लोकयुद्ध" के सम्पादन-कार्य में मैंने देखा है कि विरला ही दिन जाता होगा जब एक-दो गीत हमारे पास न आते हों। इन गीतों के छन्द भिन्न-भिन्न हैं, साधारण गीत, चौपदे, दोहे, चौपाइयाँ, बिरहा, आल्हा, उनके साधारण रूप हैं। आगरा के श्री मुंशी सिंह ने सोवियत-जर्मन युद्ध पर एक लम्बा-सा आल्हा लिखा है, जिसकी मैंने कुछ ही पंक्तियाँ सुनी हैं पर उन थोड़ी-सी पंक्तियों को सुनने के बाद भी सन्देह नहीं रह जाता कि वह उस दिशा का प्रयत्न है जो हमारे देश की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं की धारा में आता है। आगरा में मुझे कुछ और भी गीत मिले थे, जिनके कवियों के नामों का मैं अब तक पता नहीं लगा पाया हूँ। उनमें एक आल्हा भी है। ये गीत भी सुन्दर हैं और हमारे देशवासियों की स्वस्थ और आत्मविश्वासपूर्ण प्रवृत्तियों के द्योतक हैं।

इस संबंध में इन सभी गीतों में एक बात साफ है। इनका फासिज्म-विरोध रायवादियों का साम्राज्यवादी और देश-द्रोही फासिज़्म-विरोध नहीं है। रायवादी

राष्ट्रीय-संस्थाओं को गालियां देते हैं। देशभक्त भारतीयों को पाँचवें दस्ते का कहते हैं। उनकी सारी आशा और शक्ति का केन्द्र ब्रिटिश सरकार है। राष्ट्रीय दमन को वे उचित और आवश्यक ठहराते हैं। उनका फासिज्म-विरोध मैक्सवेल, एमरी, लिनलिथगो या हैलेट का फासिज्म-विरोध है जो कि हिन्दुस्तान के कन्धों पर खड़े होकर अपने साम्राज्य की रक्षा करना चाहते हैं।

इन गीतों से यह स्पष्ट होगया होगा कि यह हमारी आजादी की लड़ाई है। उसका आधार जनता, जन-संगठन, जन-शक्ति है। दो साम्राज्यवादी शोषकों के बीच चुनने का प्रश्न नहीं है, प्रश्न दोनों को खत्म करने का है। और यह काम अपने विश्वस्त राष्ट्रीय नेताओं के नेतृत्व में संगठित जनता ही कर सकती है।

उर्दू के सर्वश्रेष्ठ कवि, "शायरे इनकलाब" जोश मलीहाबादी के शब्दों में आज हम दोहरी मुसीबत में फँसे हुए हैं। एक तरफ तो एक पुराना पापी और घुटा हुआ चोर है जो हमारे घर में दनदनाता हुआ फिर रहा है, और दूसरी तरफ एक ख़ूँख्वार डाकू है जो हमारा दर्वाजा खटखटा रहा है। हमारा फर्ज है कि चोर को बाहर निकाल दें और डाकू को अन्दर न आने दें। अगर हम इस नीति को (राष्ट्रीय एकता की) अपना लेंगे तो बहुत जल्द ही हमारे देश में एक नये और महान् युग का आरंभ हो जाएगा जिसकी पहली ही किरणों के प्रकाश में विस्मित और आनन्द-विभोर होकर हम देखेंगे कि चोर तो गल्ले की कोठी में मरा पड़ा है और डाकू गली की नाली में ग़र्क़ हो चुका है।"

न सिर्फ यही। इन तमाम गीतों की और इस समय के फासिस्ट-विरोधी साहित्य की यही आधारभूत भावना है। वे ही कवि और लेखक इस साहित्य की रचना कर सके हैं जिन्होंने शुरू से ही इस "दोहरी मुसीबत" के पारस्परिक संबंध को समझ लिया था।

ये फासिस्ट-विरोधी सैनिक ही हमारी आजादी की लड़ाई के सर्वश्रेष्ठ सैनिक हैं। हमारे ये फासिस्ट-विरोधी साहित्यिक अपनी रचनाओं के रूप में हमें वह अस्त्र प्रदान कर रहे हैं, जिसके ज़रिए हम फासिज्म और ब्रिटिश साम्राज्यवाद दोनों को खत्म कर देंगे।

इस साहित्य को या फासिस्ट-विरोधी आन्दोलन को किसी और अर्थ में लेना राष्ट्रीय आत्मा का अपमान करना होगा।

इस समय के साहित्य की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं।

पहली तो यह कि इस समय का साहित्य बहुत ही प्रचारात्मक ढंग का है। और किसी क़दर उसका ऐसा होना लाजमी भी है। न केवल गीतों और नाटकों या रूपकों की रचना प्रचारात्मक दृष्टि से हुई है, अथवा उनमें प्रचारात्मक तत्व बहुत मात्रा में मौजूद हैं, बल्कि उसी किस्म के साहित्य की सृष्टि हुई है जिसके द्वारा शीघ्रातिशीघ्र और अधिक से अधिक जनता के साथ सम्पर्क स्थापित किया जा सके और उसमें नये जीवन की प्रेरणा फूँक दी जाय। इसीलिए आप देखते हैं कि कविताओं और नाटकों की बहुतायत है। यह हमारे राजनीतिक जीवन के एकता आन्दोलन का ही प्रतिबिम्ब

है, जो आज जल्दी से जल्दी निराशा, निरुत्साह और उदासीनता की ऊपरी काई को चीर कर तमाम देशवासियों को देश की रक्षा और आजादी के लिए संघ-बद्ध करना चाहता है। पर अगर इनके कलापक्ष को पुष्ट करने की ओर ध्यान दिया गया होता, तो साहित्य के नाते उनका महत्व कई गुना बढ़ जाता।

इनमें से कुछ गीत "लोकयुद्ध" में प्रकाशित हुए हैं, पर अधिकांश अभी योंही अव्यवस्थित अवस्था में पड़े हैं; आगे चलकर धीरे-धीरे प्रकाशित होंगे और संभवतः उनका एक संग्रह भी निकाला जा सकेगा।

उपर्युक्त आल्हा की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

उठो उठो भारत के वीरो कर्तव्य कछु दिखय देउ आज।
फेंट बाँधि लेउ अब तुम कसि कै भैया मातृभूमि के काज॥
सरहद पै जापानी आ गये जीत लियौ बरमा कौ देसु।
इन्डो चीन मलाया जीते सिंगापुर को मिट गयौ मेसु॥
जापानी भारी जुल्मी है नैकहूँ तरस न मन में खाय।
भूखो टूटी जनता पै जे चढ़े जहाजनि बम बरसाय॥
आगि लगावा बम बरसावा लाखनि के घर दये ढाय।
महर-झोंपरी अटा-अटरिया सबै धूरि में दये मिलाय॥
शहर नानकिंग चीन देश में म्हाँ को तुम्हें सुनावें हालु।
नहीं फौजि थी नहीं छावनी नहीं जहाँ कछु फौजी माल॥
लगातार ही बम बरसाये जिनको रहो न कछु शुमार।
पाँच दिना में बम बरसाये मारे हैं पैंतीस हज़ार॥
अबहुँ का तुम पड़े रहोगे हिन्दुस्तानी वीर किसान।
चौरे में का लुटवाओगे अपनी माँ बहिनिनि की शान॥
मरवाओगे अपने बच्चा छिदवाइ कें भालनि की नोंक।
माँ बहिनन को खिचवाय के घर तें खाउगे संगीनन की कोंच॥
उठो-उठो रे हिन्दुस्तानी नैंक तो करो पुरानी याद।
अकबर राना और सिवाजी बाँधि लरिबे की मरजाद॥
खून नाईं का तुममें उनकौ कहाँ गई बहादुरी की शान।
अरे बचाओ भारत माँ की इज्ज़ति भारत माँ के ज्वान॥
मारो ऐसे इन जुल्मनि को जैसे जूँगनि को देइं मारि।
बीन बीन के एक एक पे घाट मौत के देउ उतारि॥

आगे चलकर ग्राम संगठन और रक्षा-समितियों की बात कही गयी है। और कहा गया है कि नौकरशाही अंधी है जो भारत के वीरों को अभी तक चैन नहीं लेने देती। किंतु भारतमाता तुम्हारी माता है, इसलिये यदि उसकी रक्षा करना चाहते हो और जापानियों को हराना चाहते हो तो जनता की सरकार कायम करो।

एक दूसरी कविता है, जिसका शीर्षक है "घर घर में आग लगाना है" उसकी कुछ पंक्तियाँ इस तरह हैं :

अब सोते भाग जगाना है।
आज हिमालय शीश उठाये
गंगा अपनी धार बहाये
हरे भरे ये खेत सुहाये,
देख रहे टकटकी लगाये।
बम से इन्हें बचाना है।

माना आज निहत्थे हम हैं
उनके पास अनेकों बम हैं
पर चालीस कोटि क्या कम हैं ?
देश-प्रेम के मतवाले अब आगे कदम बढ़ाना है।

साम्राज्यवाद से जकड़े हैं
हम फिर भी क्या कम तगड़े हैं
लोहे के हम चने कड़े हैं
दाँत तोड़ कर दुश्मन दल के, अपनी शक्ति दिखाना है।

भूल न जाना ओ जापानी
ब्रिटिश नहीं हम हिन्दुस्तानी
भीमार्जुन की सुनी कहानी ?
यह हिन्दुस्तान हमारा है-घर घर यही सुनाना है।

इसको आज बचाना है।
अब सोते भाग जगाना है।

छपरा के गंगाधर दास की एक कविता है :

भारत की यह घड़ी महान,
मातृभूमि हित आओ जवानो, मिलकर हो जाओ बलिदान।
पश्चिम से नाजी हुंकार, पूरब जापानी ललकार,
दो चप्पी के बीच पीसती अंधी अंगरेजी सरकार।
सुप्त एकता भाग जगालो, परवशता को अभी भगा दो,
हिन्दू मुस्लिम सिक्ख ईसाई, भारत गौरव पुनः बढ़ा दो।
कर अतीत का गौरव गान।

"हलधर" की कविता "केकरा केकरा नाम बताऊँ" तो 'हंस' में छपकर प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। वह शुरू होती है "केकरा केकरा नाम बताऊँ, इस जग में बड़ा लुटेरवा हो" और अंत में हिन्द की जनता को आशा और दृढ़ता का संदेश देती हुई कहती है :

"जर्मन लूटे, जापान लूटे, और लूटे इटालिया हो,
सिंगापुर लूटा, रंगून जलाया, हिन्द पर किया धवइया हो।
सोवियत जीता जर्मन हारा, मर गया फासिस्ट गुण्डा हो,
जापान लूटे, चीन ने रोका, रोके हिन्द की जनता हो।

एक दूसरी कविता है, जिसका शीर्षक है, "उठ रे सिपाहिया बावरे लश्कर तेरा कूच", जिसमें कवि ने अत्यन्त आश्वस्त स्वरों में कहा है :

अब के है रण में खलिहान,
उठ रे सिपाहिया बावरे लश्कर तेरा कूच।
लड़न मरन की रेखा देख
देख की न जो देखा देख
और की अग्नि से हाथ न सेंक,
जग में उठ चिंगारी फेंक,
तूही अग्नि तू ही मेघ।
उठ०

शशि बकाया के "शुरू हुआ जन जंग" और "हिन्दी हम चालीस करोड़" तो मजदूर किसान हलकों में काफ़ी प्रचलित हो गये हैं। उनकी माताजी द्वारा रचित "आजाद करेंगे हिन्द तुझे आजाद", भी कम प्रसिद्ध नहीं है।

इसी तरह से गद्य-पद्य-मय, शुद्ध अशुद्ध, ये गीत आज हमारे देशवासियों की स्वतंत्रत यात्रा में उनके सहचर और पथ-प्रदर्शक बने उनके साथ साथ चलते हैं।

इन साहित्यिक कृतियों से बहुत ऊँचे दर्जे की कला की अपेक्षा करना किंचित कठोरता होगी। राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रौढ़ता के साथ ही उसके भी शायद काफी बाद उनका तुतलापन दूर हो सकेगा। साहित्य इतिहास के रथ का दूसरा पहिया है, जो आगे-पीछे होता हुआ चलता है।

हमारे अधिकांश मध्यम-वर्गीय कवि सक्रिय संघर्ष के दायरे से बाहर हैं, इसलिए उनकी कविता में अनुभूति की वह तीव्रता और वह उन्माद नहीं आता जो अपेक्षित है या जो आ सकता है। उदाहरण के लिए नरेन्द्र ही को ले लीजिए। उन्होंने देवली में "योम सोवियत" शीर्षक से एक गीत लिखा था, जिसकी कुछ पंक्तियाँ ऊपर उद्धृत हो चुकी हैं। वह गीत एक विशेष वातावरण में लिखा गया था। देवली में जन-संघर्ष तो नहीं था, किन्तु भावों और विचारों का संघर्ष कुछ दिनों बहुत तीखा था। सारा वातावरण तना हुआ था, कुछ पुराने क्रान्तिकारी खुले-आम फासिज्म की हिमायत करते थे और हिटलर के मास्को पहुँचने पर चाय पिलाने के वादे करते थे। उसी को लक्ष्य करके "रेगिस्तान की कारा" के बीच भी उनकी कविता धारा फूट पड़ी थी :

"हैं ऐसे भी लोग कि जो दुश्मन की जीत मनाते हैं........." आदि।

इसके सामने उनकी बाकी कविताएँ कुछ फीकी, कुछ थके तैराक के हाथों की गति-सी प्रतीत होती हैं। उनमें न वह प्रवाह है, न वह तेजी।

अंचल की कविताओं में यह दोष और अधिक उभर आता है। उनमें स्पष्ट ही प्रयास की झलक है। और प्रभाकर माचवे ने जो गीत लिखा है, आरंभ ही से उसके डैने कटे हुए हैं, वह जमीन से ऊपर ही नहीं उठ पाता। एकाध को छोड़कर सुमन के भी गीतों में किसी न किसी मात्रा में यही कमजोरी है। पर संघर्षमय जीवन से उनका संबंध अपेक्षाकृत अधिक रहा है और थोड़ा बहुत अब भी है, उसके आधार पर वे अपने को उद्वेलित कर लेते हैं, तभी वे 'मास्को अब भी दूर है' लिख सके। इसलिए उनके इधर के गीतों में औरों की अपेक्षा ओज और पौरुष ज्यादा है।

यही एक वजह है कि हमारे इन कवियों की अधिकांश कृतियाँ या तो सम्वेदनात्मक होती है या फिर प्रशंसात्मक और अक्सर उनमें यथार्थ की कठोरता खो जाती है।

एक और अवगुण इनमें है। वह यह कि उनमें हमारी अपनी समस्याओं का, अपने राष्ट्रीय जीवन की कठिनाइयों की अनुभूति का समावेश बहुत कम है। ऐसा तो नहीं है कि इस विश्वव्यापी उथल-पुथल और ऊहा-पोह ने हमारे देश के ४० करोड़ निवासियों के सुख-दुख, आह्लाद-विषाद, द्वेष-विद्वेष, प्रेम और घृणा की भावनाओं को नहीं छुआ, हमारे ऊपर कोई असर नहीं डाला, हमारी रंग-विरंगी भावनाओं को हमारे निश्चय और संकल्प या कुछ कायरों की कायर-वृत्ति को जाग्रत नहीं किया। मई से हमारे देश पर बम-बारी हो रही है। कलकत्ते और बंगाल से लोग नहीं भागे या कलकत्ते और चटगाँव के वीर नागरिकों ने डटकर उनका मुकाबला नहीं किया, ९ अगस्त से हमारे देश में क्या कुछ नहीं हुआ?

क्या यह अजीब बात नहीं है कि हिन्दी में जो तीन-चार फासिस्ट-विरोधी कहानियाँ लिखी गयी हैं, उन सबका कथानक चीन और रूस है?

वास्तव में यह बात अजीब नहीं है। वह वास्तविक जन-जीवन से हमारे साहित्यिक प्रहरियों की दूरी और बिलगाव की द्योतक है।

देहातों या मजदूर क्षेत्रों से आयी रचनाओं से इनकी तुलना कीजिए। उनका छन्द और रूप अच्छा नहीं। किन्तु वे हृदय और यथार्थ दोनों के करीब हैं। इसलिए कि ये समस्याएं उनके लिए अधिक सजीव, अधिक समीप हैं। उनका आह्वान अधिक अर्थ-युक्त है, अधिक प्रभावोत्पादक। संघर्ष से अलग या दूर रहने से उसकी वाणी में हिला देने वाली वह शक्ति ही नहीं आएगी। और वह व्यक्ति संघर्ष क्षेत्र से जितना ही दूर होगा, उसकी वाणी उतनी ही क्षीण होगी।

इसके विपरीत बंगाल के कवियों और साहित्यिकों को देखिए। उनके गीत खेतों और खलिहानों में गाये जाते हैं, सभाओं और प्रदर्शनों में वे जनता के पद-चापों का साथ देते है। यहाँ पर मध्यमवर्गीय शिक्षित कवियों के रूप-स्वर-शब्द ज्ञान और

जन-आन्दोलन की अनुभूति के बीच मिलन हो रहा है, क्योंकि वे दोना तलवार और कलम के धनी कन्धे से कन्धा मिलाकर आगे बढ़ रहे हैं।

हिन्दी में भी होगा। इस समय उसकी कमी की वजह से यदि इन कवियों की रचनाओं के जबर्दस्त मूल्य की सराहना न की जाए तो यह ऐसा ही होगा कि चूंकि वर्तमान राष्ट्रीय-आन्दोलन छोटा और कमजोर है इसलिए हम उसकी सत्ता, शक्ति और उसके असीम महत्व से इनकार करें। यह आन्दोलन ही हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व की जीवन-प्रद और आशायुक्त धारा है। उसके साथ-साथ साहित्यिक आन्दोलन भी बढ़ेगा। उसका बढ़ना अवश्यम्भावी है। उसी में हमारे राष्ट्र और समाज की आशा है। *

---

* इस लेख के कुछ अंश बम्बई प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक में १७ जनवरी ४३ को पढ़े गये थे। के०

दो किसान कवि

[रामगोपाल सिंह चौहान]

वर्तमान युद्ध ने मानव जीवन के हर क्षेत्र में उथल-पुथल मचा दी है क्योंकि मानव-समाज का प्रत्येक अङ्ग आज इस बात से जानकार हो गया है कि फासिज्म अपने पैदायशी दिन से ही मानव-समाज, उसकी संस्कृति, साहित्य और कला आदि का शत्रु रहा है। अतः आज हर सैनिक अपनी सङ्गीन ले, कलाकार अपनी तूलिका ले, गायक अपने उत्साहवर्धक गीत ले, साहित्यिक अपनी कलम ले जङ्गजू सैनिक की तरह अपमे अपने कौशल से लैस हो फासिज़्म के विरुद्ध अपने अपने मोर्चे बना कर डट गये हैं। इन सबों ने अपनी विरासत और अपने देश की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाने की ठान ली है।

सोवियट और चीन के जङ्गजू साहित्यक इसकी मिसाल हैं। उन्होंने प्राणों की बाजी लगा कर युद्ध की लपटों में रहकर जो युद्धकालीन साहित्य संसार की स्वतन्त्रताप्रिय जनता को दिया है वह मोर्चे के सिपाही को फासिज्म के विरुद्ध डटकर युद्ध करने के हौसले को और दूना कर देता है, उसमें जनता का फासिस्ट-विरोध और दृढ़ होता है। ऐसे साहित्य की उनकी एक परम्परा है और एक ज्वलन्त इतिहास भी जो सदैव ही जीवित रहेगा।

हिन्दुस्तान पर भी इसकी छाप पड़ी है। हिन्दुस्तान आज जिस आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सङ्कट से गुजर रहा है उसने यहाँ के साहित्यकों के हृदय को द्रवित कर दिया और वे अपनी कलम ले जनता की इस सङ्कट से रक्षा करने के लिए अपने मोर्चे पर आ डटे। तटीय प्रान्तों में सङ्कट अत्यन्त घना है, स्वभावतःही वहाँ के साहित्यिक अधिक जागरूक है। आँन्ध्र, मलाबार तथा बङ्गाल के साथी साहित्यिकों ने इस क्षेत्र में काफी प्रगति कर ली है। हिन्दी, उर्दू, मराठी के लेखक और कवियों ने अपने अपने यहाँ के प्राचीन सांस्कृतिक तथा साहित्यिक कलारूपों को नवीन साँचे में ढालकर आज की आवश्यकता को पूरी करने का साधन बना लिया है।

पर साथ ही यह अत्यन्त दुख की बात है कि कुछ लेखक और कवि आज भी अपना मार्ग निश्चित नहीं कर पाये हैं। उन्होंने हिन्दुस्तान पर छाये सङ्कट का अभी तक भास नहीं किया और उनकी लेखनी जिसे आज कतरनी की तरह जनता के सङ्कट जाल को कतर कर मार्ग प्रदर्शन करना चाहिए था, निश्चल पड़े हैं। पर उनकी जगह पर कई नये किसान और मजदूर नवयुवक लेखक और कवि साहित्य-क्षेत्र में निकल आये हैं और निकल रहे हैं। वे स्वयं जनता के अङ्ग हैं और उसकी प्रति दिन की तकलीफों को दूर करने के आन्दोलन से सम्बन्धित हैं अतः जनता उन्हें अधिक अपनाती है, बाकी की जड़ें खोखली हो रही है और वह जो

वास्तविकता है कि जो लेखक या कवि जनता के किसी आन्दोलन से अपना सम्बन्ध नहीं रखता वह आगे प्रगति नहीं कर सकता।

इस लेख में मैं दो ग्राम कवियों की कविताओं की एक झलक देता हूँ, साथ ही उनका थोड़ा सा परिचय भी।

का० रामकेर और का० धर्मराज दोनों ही बनारस जिला के निवासी हैं और किसान हैं। दोनों ही ग्रामीण भाषा में पहले से ही कविता करते थे। गांव के सब लोग बड़े चाव से उनकी उन कविताओं को अपनाते थे। युद्ध में परिवर्तन आने पर उनकी कविता धारा का प्रवाह भी बदला। वे शुरु से ही देश भक्त थे। वर्तमान आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था से असन्तुष्ट थे। युद्ध ने उनकी लेखनी को और भी पैना कर दिया और वे कम्यूनिस्टों के असर में आये, उनकी नीति को अपनाकर उन्होंने कविता आरम्भ की। उनका कम्यूनिस्ट पार्टी की ओर आना स्वाभाविक ही था।

चलो किसानो कांग्रेस के मन्दिर में ही पूजन है।
वहीं मिलेंगे स्वराज्य देवता, उनका स्थापन है।
वहीं पे चलकै देखौ, कितने तो ऐसे पण्डा हैं।
मतलब की सारी करते, अपना छिपाये भण्डा हैं।
हम किसानों का अस्त्र शस्त्र एक छोटा सा डण्डा है।
तिस पर मेरे खूनों का रंगा एक लाल सा झण्डा है।
मन्दिर को दूषित करता पाषाण बड़ा एक रोड़ा है।
स्वराज्य देवता के अङ्गों में वही तो एक फोड़ा है।
इस फोड़े जमींदारी को अब तोड़नहार हथौड़ा है।

यह का० रामकेर की पुरानी कविता की चन्द पंक्तियाँ हैं। कांग्रेसी पूँजीवादी मनोवृति के प्रति उनकी सजगता सजीव चित्र हैं ये ऊपर की पक्तियाँ। ये कामरेड बिलकुल ही अपढ़ है और का० धर्मराज भी केवल हिन्दी मिडिल पास हैं।

उनका कद नाटा, शरीर दुबला पतला, हाथ पैर कसे हुए और सीना उभरा हुआ है, तभी उनकी कविता में पौरुष है। वे महसूस करते हैं स्वराज्य भीख मांगने से मिलने की वस्तु नहीं है, उसे तो अपनी शक्ति से हासिल करना होगा। अतः का० रामकेर कहते हैं—

मांगे से स्वराज न पइहो, करना अवश्य लड़ाई बाय।
माँगत माँगत महात्मा गान्धी की आयल बुढ़ायी बाय॥
किसी की आशा पर मत रहो, निज चलो पयर पर त्यार होई।

वह अनपढ़ सही पर उन्हें इतिहास का ज्ञान अवश्य है, वह जानते हैं कि रूस एक देश है, जिसने स्वराज्य माँगा नहीं बल्कि वहाँ के किसानों और मज़दूरों ने लेनिन के नेतृत्व में अपना संगठन बनाकर १९१७ की क्रान्ति में स्वराज्य हासिल किया। आज वहाँ जनता का अपना राज्य है।

पढ़ो जरा इतिहास रूस का, स्वराज्य कैसे पाया है।
आज रूस के तोड़ेबदे जर्मनियाँ कदम बढ़ाया है॥
पौलैण्ड पेरिस फ्रांस से पूछो का हिटलर ने पाया है।
वैसे ही हिन्द का मेटे बदे जपनियाँ हाथ लगाया है॥

उपरोक्त कविता में कवि यह भी इशारा कर देता है कि आज स्वतन्त्रता माँगने की वस्तु नहीं है, वरन् जापान के विरुद्ध हिन्दुस्तान की पूर्णरक्षा करके हासिल की जा सकती है। वह जनता की संगठन-शक्ति पर भरोसा करता है। इसीलिए वह देश-रक्षा में शर्त नहीं लगाता, साथही यह महसूस करता है कि जनता ही देश-रक्षा कर सकती है, और अच्छी तरह से जब उस पर किसी विदेशी का राज्य न हो। कवि जनता के आत्म-निर्णय का भी हक मानता है कि हर देश अपने अपने यहाँ स्वतन्त्र हो और खुशी हो। अतः वह कहता है।

करब धरब अपने मन कै, अय बिदेशिया हट रे हट रे।
खुशी रहो या रंज रहो, तुम अपने घरे हम अपने घरे॥
गुलामखाना रही न भारत, निज आपन अधिकार करब।
घूम घूम करके समझौता, आला अदना सुधार करब॥

कवि को घर घर घूमकर समझौता करके जन-राज्य स्थापित करने का हौसला भी है और साथ ही उसकी रक्षा करने का भी। वह अत्यन्त सजग है कि उसकी आज़ादी का हिस्सेदार पूंजीपति नहीं हो सकता, यानी वह वर्ग शोषण के बारे में में चेतन है।

पहिले पूछो पूंजीपतिन से पूंजी कहाँ से लाया है।
फरी कहीं धरती पौधौं, या बादल से बरसाया है॥
बिलकुल कमाई किसान की, धोखेबाजों लुटवाया है।
भण्डार में उनके सड़ता है, इसीलिये चतुर कहलाया है॥
यही कहे कुछ जमींदारों, जो बैठे हैं जग ही बन कर।
रही नहीं पहले जमीदारी, पीछे पाया क्या देकर॥

फिर दृढ़ता के साथ कहता है कि इन तमाम का मालिक है किसान और वही भूखों मरता है।

तुहईं हव्वा अन्नदाता, हर एक चीज उपजाना।
तव न मरत भूखे भूखें, का उलटा भयल जमाना॥
तुहरे तन का बस्तर नाही, ना बच्चन कै रोटी।
तुवै दिन भर काम करैल्या, पचकल बाटी बोटी॥

किसान हर चीज पैदा करता है पर उसे खाना खाने को नहीं, कपड़े पहनने को नहीं, बच्चों को खाना नहीं। उसे अपने परिश्रम का उपयोग करने का अधिकार नहीं और चीज़ों की मँहगाई उसके सर पर सवार ही रहती है।

पाच सिरे के रब्बी बेचल्या, सात सिरे के धान।
आठ सिरे के सांवा बेचल्या, न सफरल लगान॥

किसानों भइया महँगी सताया की नाय।

कवि की लेखनी बड़ी सुन्दरता के साथ जनता को आज के हर संकट के प्रति सजग करती जाती है साथ ही उसका सुझाव भी। चूँकि वह जनता के प्रति-दिन के आन्दोलन का कवि एक अंग है उसे जनता की शक्ति पर विश्वास बढ़ता जाता है उनकी आशा किरण दिन पर दिन और उज्ज्वल होती जाती है और निराशा-वादी तो वह है ही नहीं।

> मटर के रोटी चबाय कर हरवा के गहवइया हूँ।
> घाम, धूप बरषा और जाड़ा यह सब कुछ सहवइया हूँ।
> कहाँ गई तकदीर मेरी, मैं निज खून का जुरवइया हूँ।

मैं पीछे लिख आया हूँ कि कवि समाज के वर्तमान अर्थ-विभाजन प्रणाली से काफ़ी असन्तुष्ट है अतः वह कहता है।

> आग लगे इस कानून में जो करते नहीं कमाई हो।
> अन्न धन से भंडार भरलवा चाभत दूध मलाई हो।

कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ देश के आर्थिक और सामाजिक संकट की ओर गाँव की जनता का ध्यान उन्हीं की भाषा में आकर्षित किया है। पर कवि बखूबी जानता है कि इन तमाम संकटों पर बहुत बड़ी छाप है जापानी हमले की, जिसका भय हिन्दुस्तान के लिए हमेशा एकसा ही रहता है। हिन्दुस्तान ही उसके हमले के क्षेत्रों में सबसे कमज़ोर है उस पर जापानी हमला होने की आशंका अधिक है। अतः वह जनता को जापानी हमले के प्रति सजग करता हुआ कहता है :

> कितनो कहिल्या भइया, ना मनता कहनवा हो।
> तुहरे गरदन पै झूमे तरवार।
> झूमे तरवार तो हो गरदन पै भाई।
> जेहिया मौका पाई तेहिया देई अलगाई।
> न पड़े अकीन देखो आँख फैलाई।
> तुहरे कपार पर नाचत हयो हवाई।
> नाहीं मालूम केहिया देई गोला बरसाई।
> लड़का और ज्वान, बूढ़ा जेइहैं पिसाई।
> पहिले बचै का जल्दी के कइले उपाई।
> तुहरे गरदन पै झूमे तरवार।

जापानी हमले का खतरा सर पर सवार है, आवश्यकता है कि देश की जनता का संगठन हो। देश में शान्ति हो और देश की सरकार को जनता का सहयोग प्राप्त हो। यहाँ है इसका उलटा। नौकरशाही जनता पर दमन करती है, उसके मनोबल को

तोड़ देना चाहती है, उसे पस्तहिम्मत कर देना चाहती है। कवि उसकी चाल को पकड़ लेता है और जनता को उससे आगाह करता है।

लागल पूँजीपति बाटे मँहगी बढ़ावे के।
लागल नौकरशाही बाटे खुनवा चुसावे के।

और जापान मौका पाकर —

लागल जापान राज गुन्डा करावे के।
चारो तरफ की आँधी भारत का उड़ावे के।

कवि का० धर्मराज की कविताओं को देखिये। वे देश पर छाये राजनैतिक संकट की ओर जनता का ध्यान आकर्षित कराते हैं।

झगड़ा देश देश में जारी।
हरएक मुलकों में त्यारी।
आयल अब तोहरे द्वारी।
दुश्मन घात लगाये बाय।

कवि दुश्मन के हमले की सम्भावना से आगाह करता और साथ ही उसके तोजो के गुड्डा सुभाषबोस की कुचालों से जनता को चेतावनी देता है। वह भली प्रकार जानता है कि बोस वे ही हैं जिन्होंने कांग्रेस में फूट डालनी चाही, जब कुछ बस न चला तो वे रखे जापानी कुतिया की तरह जापान की शरण में पहुँचे और अपने हिमायती को लेकर आ रहे हैं। पर उन्हें नहीं मालूम कि हिन्दुस्तान के सजग कवियों ने उनकी कुचालों का भंडा फोड़ दिया है।

बेसी वक्त नहीं है भाई कहवत थोड़े में समझाई।
कर लो जल्दी से उपाई हम चेताते जाते थे।
फूट कर आपस से सुभाष गये थे जपानियों के पास,
पहिले हम सुनली लड़ाई सिंगापूर से बर्मा आई।
बाद कलकत्ता आयी लोग चेताते जाते थे।
नहीं वह कलकत्ता में आया मानो सुभाष ही लौट आया।
लंका मदरास पहुँचाया खबर छपाते जाते थे।
धोका बाजी जब चिन्ह जैबे, तब फिर उन्हू से लड़ जइबे।
अइहैं सुभाष जो हम पइबे जपानियों के साथ में।

सरकारी दमन नीति ने हिन्दुस्तान की जनता को पस्तहिम्मत कर दिया, वे बीच में निरावलम्ब हो अवलम्ब की ओर हाथ फैला रहे थे। कांग्रेसी नेता जेलों में थे उनसे सहारा मिला नहीं। कम्यूनिस्ट पार्टी ही केवल ऐसी पार्टी थी जो सही तौर पर देश को संकट से दूर ले जाने के लिए आन्दोलन कर रही थी। फिर भी पाँचवा दस्ता

ज़ोर पर था उसने उन निरावलम्ब लोगों को पकड़ा और उन्हें जापान-हितैषी बनाया। उन्होंने सोचा कि कोई अन्य राज्य दे भागे। इस भावना में सरासर पस्तहिम्मती की छाप है। कवि ऐसे लोगों को आगाह करता हुआ कहता है :

दिल में वहुत जने के सोई नाहक कवि करे बत गोई।
राज जपनियन कै होई तब आराम होइ है।
हैं वे दोनों गुंडासाही जर्मन जापान है एकैराही,
गरचे कब्जा लिहे जमाई, तब बेकाम हुई है।
तनकै चुसिहैं तुहरे खून, अंग्रेजों से दूने दून।
कोई सके न वह दिन सून, सुबह से शाम होइ है।
ढकना मिली ना तोहरे तन के, रोटी मिली नहि बच्चन के।
बल्कि तिरियन की बेइज़्ज़ती खुलेमान होई है।

दोनों कवियों ने संकट जनता के सामने रक्खा, उन्होंने मुनाफाखोरों, अनाज चोरों और पाँचवें दस्ते वालों, नौकरशाही तथा जापान की गुन्डा चालों से जनता को आगाह किया। देश को इस संकट से मुक्त करने के लिए, अब जनताको क्या करना है, बताते हुए रामकेर कहते हैं :

घर का झगड़ा सब बिसराई।
हिन्दू मुसलिम सुन लो भाई॥
आज करना है एकताई।
सुखदायी आपके।
गरचे ना मनबा कहनवा।
हरगिज ना कटिहैं बन्धनवा॥
थोरे दिनवा भा।
फिर आवेगी रुलाई आपके॥

एकता कैसे हो सकती है और उसमें हम अपनी आज़ादी कैसे पा सकते हैं :

उठो किसानों ख्याल करो एक महा मन्त्र बतलायेंगे।
सारा रोग का एक दवाई एकताई फरमायेंगे।
रूस की तरह करके एकताई दुनिया नई बनायेंगे।
लीग कांग्रेस एकताई का, घर घर झन्डा फहरायेंगे।
करके घर आन्दोलन नेताओं को छुड़वायेंगे।
फिर बना के जनता की सरकार जापानियों से जुट जायेंगे।
मर जायेंगे खुसी हमें जिन्दा में नाम लिखायेंगे।
रामकेर कहे देश की खातिर केउबे त्याग परनवा हो।

आज के कवि तथा लेखक से युग की माँग है कि वह आज के युग में जनता पर आई मुसीबतों को हल करें। आज मुनाफा खोर, अनाज चोर और पांचवें दस्तेवालों से जनता को आगाह करना, उनकी रक्षा करना ही आज के लेखक और कवि का काम है। दोनों कवि अपने इस कर्तव्य को पालन करने में पूरे उतरे हैं। उन्होंने अपने इन गीतों का प्रचार जगह जगह जाकर किया है। लोग उनकी इन कविताओं को हृदय से अपनाते हैं। उनसे मेरी पहली भेंट बछगाँव प्रान्तीय किसान सम्मेलन में हुई थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि उनके वे गीत ढपली पर इतने सुरीले और हृदयग्राही थे कि जनता ने रात के २ बजे तक भी हिलने का नाम न लिया। हांलाकि गीत बनारसी भाषा में थे और जनता बृज भाषा जानने वाली। आज ये ही अपने ढंग के अकेले कवि नहीं हैं वरन् गाँव गाँव शहर शहर में ऐसे गीतों का प्रचार हो रहा है।

छायावाद की सामाजिक पृष्ठभूमि

[प्रकाशचन्द्र गुप्त]

छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति है और हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसका अपना विशिष्ट स्थान बन चुका है। छायावाद ने पुरानी लीक में फँसी कविता को उबारा, उसका अभिनव शृङ्गार किया और मनुष्य की सूक्ष्मतम अनुभूतियों का काव्य में निरूपण किया। यह छायावाद का ऐतिहासिक मूल्य है, जिससे कम आलोचकों को मतभेद होगा।

मध्य युग की हिन्दी-कविता एक परम्परा में बँध गई थी, जो सामन्ती जीवन के सदियों पर्यन्त स्थिर, अचल स्वरूप का दिग्दर्शन कराती थी। अंग्रेजों के आगमन के बाद भारतीय समाज का सामन्ती ढाँचा भी बदला और इसके फलस्वरूप कला और साहित्य में भी परिवर्तन के चिह्न प्रगट हुए। हिन्दी साहित्य को भी एक बार फिर से अपने जीवन-मान नापने-जोखने पड़े और भारतेन्दु-द्विवेदी युग के गद्य और आलोचना-शास्त्र का सूत्रपात हुआ। द्विवेदी युग की कविता छिछली थी, क्योंकि इस नाप-जोख के युग में भावों और अनुभूतियों में गहराई न आ सकी। छायावाद ने धूल और कीचड़ बैठ जाने पर गहरे निर्मल जल में अपनी आत्मा का प्रतिबिम्ब उतारा और अपने चीवर को चटकीले रँग में रँगा; यानी, छायावाद ने अपने आरम्भिक जीवन में मनुष्य की कोमल, एकांगी भावनाओं का चित्रण किया और काव्य-कला में अभूत-पूर्व उन्नति की। संसार-व्यापी पूँजीवादी संक्रान्ति के बाद छायावाद का सुन्दर शिशु-स्वप्न भी टूटने लगा और छायावादी कवियों का हृदय घोर निराशा से भर गया। इसका कारण यही था कि महासमर के बाद भारतीय समाज में भी एक हद तक आर्थिक उन्नति के लक्षण प्रगट हुए; नए कल-कारखाने खुले, शिक्षा-दीक्षा अधिक फैली, भारतीय मध्य वर्ग में समृद्धि के चिह्न प्रगट हुए; सरकारी शासन में भी कुछ-कुछ हाथ उच्च वर्ग का पहुँचा। लेकिन सन् २९ के आर्थिक संकट के उपरान्त यह स्पष्ट हो गया कि विश्व-पूँजीवाद इन कठिनाइयों से उबर न पायेगा और सामाजिक क्रान्ति अवश्यम्भावी दीखने लगी। भारतीय शिक्षित और संस्कृत वर्ग भी इस व्यापक आर्थिक संकट का शिकार हुआ, कारबार और व्यवसाय में घाटा आया, वेतन में कमी हुई और बेकारी भयंकर रूप से बढ़ी। इस संकट काल की दृढ़ छाप संसार भर की कला पर है और हिन्दी की कविता पर भी है।

हिन्दी के अधिकतर साहित्यकार ग़रीबों में पले हैं। उनमें कम ही रजवाड़ों के दीवान, सिविल कर्मचारी या ऊँचे वेतन पाने वाले ओहदेदार और प्रोफेसर रहे हैं। विशेषकर हिन्दी के कवियों को जीविका-साधन के लिए भयंकर संघर्ष करना पड़ा है। इस संघर्ष की अग्नि ने उनके काव्य को तपा कर सच्चा सोना बना दिया है। यह विचारणीय-विषय है कि जीवन-संघर्ष कहाँ तक काव्य-रचना में मदद देता है। क्या

आज का पूँजीपति कल भिखारी होकर उत्तम कला की सृष्टि करेगा? अथवा, क्या जीवन-संघर्ष का एक ही रूप है, जीविकोपार्जन का सवाल या समाज-विधान और प्रकृति से संघर्ष करके भी मनुष्य की अनुभूतियाँ तीव्र हो सकती हैं?

अकसर कहा जाता है कि छायावाद अँग्रेजी और बँगला साहित्य तथा भारतीय रहस्यवाद से प्रभावित है, और बहुत कुछ इस कथन में तथ्य भी है। हिन्दी के छायावादी कवियों में बँगला और अँग्रेजी कवियों में टेकनीक से बहुत सीखा। उन्होंने हिन्दी के काव्य-संगीत में नई ध्वनियों और लय-ताल के प्रयोग किए और कला-पक्ष में हिन्दी कविता को एक नई दिशा सुझाई। हिन्दी के लगभग सभी नए कवि अँग्रेजी विश्वविद्यालयों में पढ़े हैं और उनके कोमल भावों पर अँग्रेजी के रोमैन्टिक कवियों की छाप लगी है। जिन परिस्थितियों में उन्नीसवीं सदी के अँग्रेजी रोमैन्टिक कवियों ने लिखना आरम्भ किया वह भी बीस वर्ष पहिले भारतीय समाज में प्रगट हो रही थीं। यानी सामन्ती समाज-प्रणाली का अन्त, नए आविष्कार और विज्ञान के चमत्कार, उत्पादन शक्तियों का फैलाव और समाज के आर्थिक स्तर में उन्नति। किन्तु परिस्थितियों में एक महान् अन्तर भी था। जिस अनन्य आशा से शेली का हृदय ओत-प्रोत था, वह पन्त अथवा 'निराला' के काव्य में दुर्लभ थी, क्योंकि भारत एक विदेशी पूँजीवाद द्वारा शोषित देश है। भारतीय कवियों ने इस समाज-व्यवस्था से मनोवांछित उन्नति की आशा छोड़ रहस्यवाद का आँचल पकड़ा।

रहस्यवाद अनुभूति द्वारा आत्मा का ब्रह्म से संबंध जोड़ता है। रहस्यवादी कवि मध्य युग में हमारे देश के निम्न कुलों में उत्पन्न हुए थे। उनकी कविता पर क्रान्तिकारी विचारों की स्पष्ट छाप है; कबीर, दादू, नानक, रैदास सभी प्रचलित समाज-व्यवस्था के विरुद्ध थे, किन्तु भारतीय परलोकवाद की परम्परा से वह अपने को विलग न कर सके। इस जगत को मिथ्या और विषमय समझकर उन्होंने शून्य में अपना ध्यान खींच लिया और कहने लगे :—

"थोथा मंदिर भोग विलासा। थोथी आनदेव की आसा॥
साँचा सुमिरन नाम विसासा। मन बच कर्म कहै रैदासा॥"

रवि बाबू की कविता में भी किसी अन्य लोक के प्रियतम की आकांक्षा है और उसकी पदचाप सुनने की विह्वल प्रतीक्षा। कवि की कल्पना ने इस लोक की कुरूपता से उकताकर परीलोक की सृष्टि की जहाँ पायल की छम्छम् में देव बूड़ते-उतराते हैं। इसी संगीत की मन्द प्रतिध्वनि हमें छायावादी कविता में मिलती है:—

"दूर उन खेतों के उस पार।
जहाँ तक गई नील झंकार।
　　छिपा छाया-वन में सुकुमार
　　स्वर्ग की परियों का संसार;
वहीं उन पेड़ों में अज्ञात
चाँद का है चाँदी का वास।

वहीं से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते उड़ उड़ कर पास।"

['पल्लविनी']

"घन तम में सपने सा आकर।
अलि कुछ करुण स्वरों में गाकर।
किसी अपरिचित देश बुलाकर।
पथ-व्यय के हित अंचल में कुछ बाँध अश्रु के कन जाता।
सजनि कौन तम में परिचित सा, सुधि सा, छाया सा आता।

['रश्मि']

जो सुन्दर और मधुर रूप इस पार्थिव जग में कवि के थके मन को नहीं मिल रहा, उसे वह प्राची के पार स्वप्न-लोक में खोज रहा है; वह पथहारा परीलोक में अपने प्रिय की पग ध्वनि सुनता है। जब स्वप्न से जाग वह नश्वर जगत में अपनी आँखें खोलता है, तो वह उजड़ा भूखंड, वही प्रज्वलित मरु-देश :

"बताओ—वही! जहाँ सागर के उस श्मशान में
आदिकाल से लेकर प्रति दिवसावसान में
जलती प्रखर दिवाकर की वह एक चिता है।
और उधर फिर क्या है!"

['अनामिका']

पूँजीवाद के अन्तर्गत पला कवि एकान्तप्रिय और असामाजिक बन जाता है। विशेषकर उपनिवेशों के कलाकार का अभिमान परिस्थितियाँ पग-पग पर ठुकराती हैं और उसे मजबूर करती हैं कि अपने आहत मान को वह किसी गुहा-कन्दरा में सुहलावे। पूँजीवाद मनुष्य-मनुष्य के बीच के संबंधों को तोड़ मनुष्य-और-वस्तु का संबंध कायम करता है। पूँजीवाद हर एक चीज़ की क़ीमत चाँदी के टुकड़ों से परखता है। कला को भी वह बाजार में क्रय विक्रय की वस्तु बनाता है और अपने नफ़े-नुक़सान की तराजू पर उसे तौलता है। जिस विशिष्ट फिलॉसफ़ी को पूँजीवाद ने जन्म दिया, वह उदार व्यक्तिवाद और उपयोगितावाद का जामा पहन कर सामने आई। एक आलोचक के शब्दों में "पूँजीवाद और व्यक्तिवाद एक ही सिक्के के चित-पट हैं।"

कवि अपने हवाई महलों में निवास करता है। वह "कोमल-पद-गामी" कठिन भूमि पर उतने से घबराता है। वह अपने को आज और कल की परिस्थिति से ऊपर समझता है, अथवा महादेवी जी के शब्दों में स्थूल के पीछे निहित जीवन के सूक्ष्मतम व्यापार की अभिव्यक्ति करता है। इस आकाश-कुसुम के चयन में कवि ने अनन्य कोमलता, भावुकता और परिष्कृत रुचि का परिचय दिया है।

छायावाद के कवि व्यक्तिवादी कवि हैं। उनकी रचनाओं में अहम् का प्राधान्य है। गीति-काव्य अहम्-प्रधान काव्य है। किन्तु आज हिन्दी में गीति-काव्य ही

क्यों इतना प्रचलित है ? क्यों वीर-काव्य और खण्ड-काव्य की परम्परा हिन्दी में लुप्त हो रही है ? छायावाद की महान् कृति "कामायिनी" भी वास्तव में गीतों की एक लड़ी मात्र है। विशेष सामाजिक परिस्थितियों में वीर-काव्य का जन्म होता है, जब एक नवीन समाज का निर्माण हो रहा हो और जीवन अस्त-व्यस्त हो। समाजवादी कवि एक बार फिर महाकाव्य का तार उठा सकेगा। पूँजीवाद का कवि व्यक्तिवादी होगा और गीत की ओर अवश्य ही उसकी रुचि होगी। उसे अपनी व्यक्तिगत स्वाधीनता का अभिमान है, किन्तु सामूहिक बल से कटा वह पंखहीन पक्षी के समान गिर-गिर पड़ता है :

"मेरा जोर नहीं चलता है !
स्वप्नों की देखी निष्ठुरता,
स्वप्नों की देखी भंगुरता,
फिर भी बार-बार आ करके स्वप्न मुझे निशिदिन छलता है !
मेरा जोर नहीं चलता है !"
['एकान्त-संगीत']

"मैं भूला-भूला-सा जग में !
अगणित पंथी हैं इस पथ पर,
है किन्तु न परिचित एक नज़र,
अचरज है मैं एकाकी हूँ जग के इस भीड़-भरे मग में !
मैं भूला-भूला-सा जग में।
['एकान्त-संगीत]

"प्रवासी के गीत" की भूमिका में कवि श्री नरेन्द्र ने छायावाद के परवर्ती कवियों की निराशा का अच्छा विश्लेषण किया है। भारतीय मध्य-वर्ग का नवयुवक कवि आज अपने जीवन में आशा का कोई चिह्न नहीं देखता। उसकी शारीरिक अथवा मानसिक क्षुधा मिटाने के लिए समाज के पास साधन नहीं। प्रकाशक और सम्पादक उसकी कविता से अपना अर्थ सिद्ध करने के प्रयत्न में हैं। अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित जनता उसके गीतों को समझ नहीं पाती। उसके गीत की प्रतिध्वनि शून्य से लौटकर उसीका उपहास करती है। इधर दो-एक वर्षों से रेडिओ के संचालक उसको साल, छै-महीने में बीस-तीस रुपया देकर उसके ऊपर रौब गाँठने लगे हैं। शिक्षा-प्रसाद में कुछ प्रतियाँ वह खपा लेता है। और निरन्तर एक भाग-दौड़ और अनिश्चितता उसके जीवन में लगी रहती है। उसे अपने स्वभाव के अनुकूल जीवन में वातावरण नहीं मिलता, न पथ का संगी, न जीविका-साधन। उसकी व्यथा तब गीत के निर्झर में फूट-फूट कर निकलती है :

मैं सब दिन पाषाण नहीं था !
किसी शाप वश हो निर्वासित,
लीन हुई चेतनता मेरी,

मन-मंदिर का दीप बुझ गया,
मेरी दुनिया हुई अंधेरी !
पर यह उजड़ा उपवन सब दिन वियावान सुनसान नहीं था !"
['प्रवासी के गीत']

"प्रिय इन नयनों का अश्रु-नीर !
दुख से आविल सुख से पंकिल,
बुद् बुद् से स्वप्नों से फेनिल,
बहता है युग युग से अधीर !
जीवन पथ का दुर्गमतम तल;
अपनी गति से कर सजल सरल;
शीतल करता युग तृषित तीर !"
['नीरजा']

"मेरा तन भूखा, मन भूखा !
इच्छा, सब सत्यों का दर्शन,
सपने भी छोड़ गए लोचन।
मेरे अपलक युग नयनों में मेरा चंचल यौवन भूखा !
मेरा तन भूखा मन भूखा !
इच्छा, सब जग का आलिंगन,
रूठा मुझसे जग का कण-कण !
मेरी फैली युग बाहों में मेरा सारा जीवन भूखा !
मेरा तन भूखा, मन भूखा !
आँखें खोले अगणित उडुगण,
फैला है सीमा-हीन गगन !
मानव की अमिट बुभुक्षा में क्या अग-जग का कारण भूखा !
मेरा तन भूखा, मन भूखा !"
['एकान्त-संगीत']

हम देखते हैं कि पूँजीवाद के आगमन के बाद भारतीय संस्कृति में व्यक्तिवाद का जन्म हुआ। आधुनिक कवि परम्परा के साँचे में अपनी अनुभूतियों को अब नहीं ढालता। वरन् उनके प्रवाह के नए और स्वतंत्र रास्ते निकालता है। इस प्रकार काव्य-शैली में अनन्य विकास और प्रौढ़ता का कारण हम सहज ही ग्रहण कर लेते हैं। किन्तु, क्योंकि पूँजीवाद भारत में "सौदागर के रूप में आया" इस देश का मध्य वर्ग अधिक उन्नति न कर सका और कवि शोषित वर्ग का प्राणी बना रहा। पहली पीढ़ी के कवियों में पलायन की भावना अतिरंजित होकर आई। किन्तु पिछले दश वर्षों में परिस्थिति इतनी बिगड़ गई कि छायावादी कवियों को भी एक हद तक अपने 'घोंघे' से बाहर निकलना पड़ा। यह है छायावाद की दूसरी पीढ़ी के कवियों का

निराशावाद। एक हद तक यह दोनों धाराएँ महादेवी जी के काव्य में मिलती हैं और आपही छायावाद की अन्तिम प्रतिनिधि कवि हैं।

आपकी कविता में निरन्तर किसी अन्य देशी प्रियतम की साध और चिर-प्रतीक्षा का भाव है। उसके आगमन के लिए आपने पथ में दीप जला कर रक्खा है, जो 'मधुर-मधुर' और मन्द-मन्द जलता है। वह प्रिय आकर चला जाता है और उसे आप पहचान नहीं पातीं, यद्यपि वह आप से भिन्न नहीं है।

"मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश ;
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों
घन से तड़ित विलास।"

['रश्मि']

"सजनि कौन तम में परिचित सा, सुधि सा, छाया सा, आता !
सूने में सस्मित चितवन से जीवन-दीप जला जाता !
तू स्मृतियों के बाल जगाता,
मूक वेदनाएँ दुलराता,
हृत्तंत्री में स्वर भर जाता,
बन्द दृगों में, चूम सजल सपनों के चित्र बना जाता।"

['रश्मि']

"पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं।
तम ने धोया नभ पंथ
सुवासित हिमजल से ;
सूने आँगन में दीप
जला दिए झिलमिल में।
आ प्रात बुझा गया कौन
अपरिचित, जानी नहीं।
मैं प्रिय पहचानी नहीं।

['नीरजा']

इन पंक्तियों में जो भावों और शब्द-विन्यास की कोमलता आई है, वह हिन्दी कविता की प्रौढ़ता और विकास का प्रमाण है। फ्रॉयडियन पद्धति से इन पंक्तियों की विवेचना हमारी सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालेगी। इतना जरूर कहा जा सकता है कि अध्यात्मवाद की ओर शोषित वर्ग का कवि इस जग में पराजित होकर मुड़ता है। कभी महादेवी जी ने अपनी आत्म-कथा लिखी, अथवा उनकी प्रामाणिक जीवन-कथा प्रकाशित हुई तो हम समझ सकेंगे कि किन सामाजिक परिस्थितियों ने उनके विचार-दर्शन को इस दिशा में मोड़ा।

पूँजीवाद की विचार-शैली में पले साहित्यकार सामाजिक परिस्थितियों से ऊब कर रोमैन्टिक हो जाते हैं और दुःखवाद की ओर झुकते हैं। सामूहिक बल की चेतना ही उन्हें यथार्थवादी और आशावादी बना सकती है। क्योंकि पूँजीवाद का कवि अपने घोंघे में ही रहता है, वह विफलता और निराशा का शिकार बन जाता है।

आज हमारे सभी छायावादी कवि जीवन-संघर्ष की ओर मुड़ रहे हैं और छायावाद की वेश-भूषा का परिवर्त्तन हो रहा है। नवीनतम हिन्दी काव्य में हमें जीवन से लोहा लेने की चेष्टा मिलेगी। सर्वश्री पन्त, 'निराला', भगवती चरण वर्मा, नरेन्द्र आदि की कविताएँ जीवन के यथार्थ को पहचानने में तल्लीन हैं। महादेवी जी और 'बच्चन' के काव्य में भी सामाजिक बवंडर का रूप हम देख सकते हैं, यद्यपि वह धुँधला और अस्पष्ट है। छायावाद की कविता जीवन की विषमताओं से बचने का प्रयास कर भी नहीं बच सकी। किन्तु आज कवि की उपचेतना से निकल संघर्ष का रूप उसकी सजग चेतना में आ गया है और कल का पलायनवादी अथवा भाग्यवादी कवि आज क्रान्तिकारी बन रहा है। कल का छायावादी रूप-पिपासु कवि आज कहता है।

"आओ, मेरे स्वर में गाओ।
जीवन के कर्कश अपस्वर।
मेरी वंशी में लय बन जाओ!

['युग-वाणी']

युद्ध और भारतीय साहित्यकार

[कृष्णचंद्र]

जब से युद्ध आरंभ हुआ है, भारतीय साहित्यिकों को जैसे साँप सूँघ गया हो। सब चुप हैं। युद्ध के बारे में एक शब्द भी अपनी कलम से लिखना पसन्द नहीं करते। इसमें प्रगतिशील और अप्रगतिशील दोनों साहित्यिक शामिल हैं। 'जोश' ने "कंपनी की हुकूमत" शीर्षक से एक कविता लिखी थी। वह ज़ब्त कर ली गयी। 'मजाज़' ने दो-एक नज़्में कहीं। 'साग़र' ने चीन का तराना गाया। नरेंद्र शर्मा ने स्टालिनग्राड पर एक प्रशस्ति लिखी। दो-एक बंगाली साहित्यकारों ने अपने देश-वासियों को जापानी आक्रमण से सचेत किया और बस। इन कतिपय वस्तु-स्थिति से दूर, अपूर्ण और असफल प्रयासों के बाद साहित्य-सभा में ऐसा मौन छा गया मानों समस्त विश्व में प्रेम-कथाओं और चाँद-तारों के गीतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

इसका कारण क्या है? क्या भारतीय साहित्यकार नहीं समझते, परिस्थिति कितनी डावाँडोल है? क्या उनमें इतनी यथार्थ-विमुखता और जड़ता आ गयी है कि वे इस युद्ध और इसके भीषण परिणामों को नहीं जानते? क्या जब चटगाँव और उसके निकटवर्ती इलाकों में, आसाम और उसके पूर्वी ज़िलों में जापानी बमों की वर्षा होती है उस समय उनका हृदय हत-विहत स्वदेश वासियों के लिये चार आँसू नहीं बहा सकता—उनके लिये उनके हृदय में कोई तड़प नहीं उठती?

यह सब कुछ सही है। भारतीय साहित्यकार अपने कर्तव्यों और इस युद्ध के भीषण परिणामों से भली प्रकार अवगत हैं: पिछले वर्ष दिल्ली में जून के महीने में भारतीय साहित्यकारों की एक अखिल भारतीय कान्फ्रेंस हुई। उस में समस्त भारत के साहित्यकार आये थे, प्रगतिशील और रोमांटिक साहित्यकार, और प्रतिक्रियावादी साहित्यकार भी, जो अपने आपको केवल साहित्यकार कहलाना ही यथेष्ट समझते थे और किसी दल-विशेष से संबंध न रखते थे। ये सब साहित्यकार दिल्ली में तीन-चार दिन रहे। सबसे महत्वपूर्ण विषय जिस पर वाद-विवाद रहा यही था: "फ़ासिस्त आक्रमण और भारतीय साहित्यकारों का कर्तव्य"।

बहुत सोच-विचार और वाद-विवाद के पश्चात् यही तय पाया कि जहाँ तक हो सके फ़ासिज़्म के विरोध में कहानियों, गीतों, नाटकों, कविताओं के द्वारा जनसाधारण की बौद्धिक चेतना को जाग्रत किया जाय और उन्हें संसार के इस सबसे बड़े युद्ध में फ़ासिज़्म के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रों के मोर्चे में शामिल होने के लिये कहा जाय। इस आशय के कई प्रस्ताव पास किये गये। साहित्यकारों की अखिल भारतीय कान्फ्रेंस में भी खूब चहल पहल रही। हम सब लोग बहुत प्रसन्न थे। अब भारतीय साहित्यकार का फ़ासिज़्म-विरोध सुदृढ़ हो जायगा और अब वह ऐतिहासिक बहाव में जन-तंत्र की शक्तियों का साथ दे सकेगा।

इसके बाद पूरा एक वर्ष बीत गया और जब हम इस जून में चौथी प्रगतिशील कान्फ्रेंस के अवसर पर अपने साहित्य का लेखा लेने लगे तो ज्ञात हुआ कि थोड़े से अपवादों को छोड़कर शेष सब साहित्यकार (इनमें हिंदी, गुजराती, मराठी, बंगाली, तमिल, तेलगू हर भाषा के साहित्यकार शामिल थे) युद्ध के विषय में पूर्ववत् मौन रहे। ऐसा मालूम होता था कि उनके लिये इस जगत् में युद्ध कहीं नहीं है, और वह जो चटगाँव और आसाम में लोग मरे हैं या अफ्रीका के तपते हुए रेगिस्तानों में अपने प्राण खो बैठे हैं, मात्र हृदय की धड़कन बंद हो जाने से इस संसार से विदा हुए हैं।

केवल थोड़े से लोगों ने इस बौद्धिक जड़ता को दूर करने का प्रयास किया था। लेकिन इन लोगों के प्रयास का सामूहिक महत्व इस बौद्धिक विशृंखला के महा-मरु में एक तुच्छ कण के बराबर था। इस पर विश्वास करना पड़ेगा कि सामूहिक रूप से इस युद्ध ने भारतीय साहित्यकार की क्रियात्मक शक्तियों को कोई उत्तेजना नहीं दी, अभी तक कोई प्रेरणा नहीं दी। भविष्य के विषय में निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। लेकिन जहाँ तक अनुभव और जानकारी काम देते हैं, यही मालूम होता है कि जब तक स्वयं भारत पर भीषण रूप से आक्रमण नहीं होता, भारतीय साहित्यकारों की आधुनिक गति-विधि में किसी बहुत बड़े परिवर्तन की संभावना बहुत कम है। जहाँ तक फासिज़्म और फासिस्त व्यवस्था के प्रति उनकी घृणा का संबन्ध है, वह बाकी है और सदा बाकी रहेगी। भारतीय साहित्यकार उस समय से फासिज़्म को घृणा की दृष्टि से देखता है कि जब नात्सी पार्टी का जर्मनी में प्रभुत्व भी स्थापित नहीं हुआ था और जब स्वयं इंग्लैंड में मिस्टर चेम्बरलेन के नेतृत्व में "क्लाइ-वडेन गुट्ट" और अमरीका में "जर्मन बंध" का बोलबाला था। उस ज़माने में जागरूक भारतीय राजनीतिज्ञों और साहित्यिकों ने जिस कर्तव्य-ज्ञान का परिचय दिया है, उसका उदाहरण सोवियत रूस के अतिरिक्त संसार के किसी और देश में नहीं मिलता।

लेकिन जब युद्ध आरंभ हुआ तो भारतीय साहित्यकार सहसा मौन-से हो गये। उसके बाद वे चुपचाप अपना काम करते रहे। कागज़ महँगा हो गया, (पत्रिकायें बन्द होने लगीं), समाचार-पत्रों की पृष्ठ-संख्या घट गयी। पुस्तकें कम छपने लगीं। युद्ध व्यक्तिगत समस्याओं के रूप में भी उनके सामने आने लगा। लेकिन फिर भी वे मौन धारण किये रहे। कुछेक उज्ज्वल अपवादों को छोड़कर, सब अपने-अपने कामों में लगे रहे। प्रेम-जगत की कहानियाँ, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, सामाजिक जीवन की समस्याओं का लेखा-जोखा, भूख और पूँजीवाद की परस्पर लाग-डाँट : इन सब विषयों पर उनकी दृष्टि गहरी, उनका विश्लेषण सच्चा, उनकी कल्पना की उड़ान ऊँची थी। किंतु युद्ध के विषय में वे पूर्ववत् मौन रहे। अब तक मौन हैं। जो लोग उनका कंधा झँझोड़-झँझोड़ कर उन्हें जगाना चाहते हैं, उन्हें उनके कर्तव्य के प्रति सचेत करना चाहते हैं, उन्हें उत्तर में एक दुखभरी मुस्कान मिलती है; जी हाँ; हम सब कुछ जानते हैं, हमें अपने हाल पर छोड़ दो!

ऐसी परिस्थिति का जारी रहना अच्छा नहीं। संकटपूर्ण है। लेकिन हमें इसका सामना करना है। इस वस्तुस्थिति को अच्छी तरह पड़तालना होगा। आख़िर ऐसा क्यों है? और इसके लिये हमें अपनी उन सभी शंकाओं, आशंकाओं, भय-विडम्बनाओं और मानसिक उलझनों को जन साधारण के आगे लाना होगा, जो अधिकांश भारतीय साहित्यकारों के मन में और उनकी चेतना में उमड़-घुमड़ रही हैं; जिन्हें वह ज़बान पर लाना नहीं चाहते; जिन्होंने उनकी बुद्धि को इतना उलझा दिया है कि वे अभी तक कोई निर्णय नहीं कर सके।

जब युद्ध आरंभ हुआ तो शासन-शक्ति चेम्बरलेन मंत्रिमंडल के हाथ में थी। चेम्बरलेन ने म्यूनिख में फासिस्त राज्यों के साथ समझौता करने का पूर्ण प्रयत्न किया था। इससे पहले भी वह कई बार ऐसे कई-एक प्रयत्न करने के बाद असफल रह चुका था। भारतीय साहित्यकारों और स्वयं इंग्लैंड के साहित्यकारों की दृष्टि में वह एक अर्ध-फ़ासिस्ट दल से संबंध रखता था, जिसे "क्लाइवडेन गुट्ट" कहते थे। अतः जब युद्ध आरंभ हुआ और चेम्बरलेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की, तो अधिकांश साहित्यिक स्पष्ट रूप से समझ न सके कि लोकतंत्रवादियों और फ़ासिस्टों के बीच सीमा-भेद कहाँ निश्चित किया जाय। बाद में जब चर्चिल ने शासन की बाग-डोर सँभाली और रूज़वेल्ट ने जनतंत्र का राग अलापना आरंभ किया और रूस ने युद्ध में भाग लिया, तो भारतीय साहित्यिक चौंके। न केवल भारतीय साहित्यिक ही बल्कि इंग्लैंड और दूसरे देशों के साहित्यकार भी अपनी क्रियात्मक शक्तियों को फ़ासिस्तों के विरुद्ध जगाने लगे। किंतु लेखनी उठाने से पहले ही लेखक और विचारक यह सोचने लगे कि इस लोकतंत्र और फ़ासिज़्म के युद्ध से जनता को क्या लाभ होगा? हम किस लिये सर मार रहे हैं, क्यों और किस के लिये लड़ रहे हैं? अगर इस युद्ध का भी वैसा ही अंत होना है जैसा पिछले महायुद्ध का हुआ था, तो इससे यही अच्छा है कि मौन धारण कर लिया जाय। इसी काल में संसार भर के साहित्यकारों और विचारकों ने यह कहना आरंभ किया कि—युद्ध के ध्येयों का प्रतिपादन करो और उनकी घोषणा कर दो।

शासकों ने उत्तर दिया—पहले युद्ध में विजय प्राप्त कर ली जाय, ध्येयों का निर्णय बाद में होता रहेगा।

लोगों के मन में संदेह और आशंकाएँ और भी दृढ़ हो गयीं; यह युद्ध हमारा युद्ध नहीं है, जनता का युद्ध नहीं है,—क्यों नहीं युद्ध के ध्येयों की घोषणा की जाती? इसी काल में बहुत से साहित्यकार इंग्लैंड से अमरीका को प्रयाण कर गये! कुछ लोग कहते हैं कि वे बम-वर्षा के डर से भाग गये; कुछ लोग कहते हैं कि वे अत्यन्त निष्पक्ष और सच्चे हृदय से शासकों के प्रत्येक उद्देश्य पर शंका करते हैं।

इसके बाद "अटलांटिक चार्टर" की धूम हुई, जिसमें पहली बार युद्ध के ध्येया को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया था। लेकिन मिस्टर चर्चिल ने यह कह

कर कि यह घोषणा भारत पर लागू नहीं होती, सारे किये-किराये पर पानी फेर दिया। भारतीय साहित्यकारों का संदेह तथा अविश्वास और भी बढ़ गया।

इन्हीं दिनों च्यांगकाई-शेक भारत आये। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता की मांग की। सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स आये, और वापिस चले गये। देश में आन्दोलन और उत्पात हुआ। खून-खराबा हुआ किन्तु परिणाम वही शून्य। भारत वहीं है जहाँ पहले था। अपनी हीनता की यही अनुभूति प्रत्येक भारतीय साहित्यकार की बुद्धि को लुप्त कर देती है।

वह समझता है कि उसे फ़ासिज़्म से मोर्चा लेना है; जापानियों को बंगाल और आसाम और बर्मा की सीमाओं से परे धकेल देना है। इराक़, ईरान और रूमसागर के तटवर्ती क्षेत्रों से नात्सियों को बाहर निकाल देना है, ताकि भारत पर हमला न हो सके। यह सब कुछ सही है। किन्तु इन सब बातों के बाद उसके मन में एक प्रश्न उठता है, इसके बाद? अगर हम सब कुछ इसलिए कर रहे हैं कि बाद में भारत की वही दशा रहे जो अब है, वह पूर्ववत् इसी साम्राज्यवादी व्यवस्था, इसी औपनिवेशिकता की चक्की में अन्धे बैल की तरह जुता रहेगा,—तो फिर इस लोकतन्त्र और उस फ़ासिज़्म में क्या अन्तर है?

यही वह डावाँडोल मनःस्थिति है जो प्रत्येक भारतीय साहित्यिक के मस्तिष्क में उलझाव पैदा कर रही है। अपनी शंकाओं को वह ज़बान पर नहीं लाता।

निस्संदेह, ऐसी ही कुछ भावनाएँ हैं जिन्होंने उसकी क्रियात्मक शक्तियों को इतना लुप्त कर दिया है कि वह युद्ध के बारे में एक शब्द भी सच्चे हृदय से नहीं लिख सकता।

ये ही वे शंकाएँ हैं जो न केवल भारतीय साहित्यिकों के मन में घर किये हुए हैं, बल्कि बहुत से पाश्चात्य और अमरीकी साहित्यिकों के हृदय में भी उठ रही हैं। जब से युद्ध आरंभ हुआ बराबर मस्तिष्क में घूम रहा है, और अभी तक उनका कोई समाधान हाथ नहीं आया है। यही कारण है कि यूरोप और इंग्लैंड और अमरीका में अभी तक युद्ध-संबन्धी किसी श्रेष्ठ, महत्वपूर्ण साहित्य की रचना नहीं हुई।

"न्यूराइटिंग" के संकलनकर्ता और संपादक जॉन लेहमन ने स्वयं अपने सामयिक के नये अंक में इस सत्य को स्वीकार किया है। युद्ध को लेकर जिस साहित्य की रचना हुई है, वह इतना घटिया और ओछा है, उसका तल इतना असाहित्यिक है, कि वह केवल भोंडा प्रोपैगेंडा मालूम होता है। ऐसा जान पड़ता है कि पाश्चात्य और अमरीकी साहित्यकारों के विचारशील वर्ग को विश्वास है कि आज इन राजनीतिज्ञों के सम्मुख मानव का कोई स्पष्ट भविष्य नहीं; केवल शासन-व्यवस्था में साधारण से परिवर्तन करके वे साम्राज्यवादी गाड़ी को फिर से चलाना चाहते हैं। और मिस्टर चर्चिल ने तो इसकी तथावत् घोषणा भी कर दी है। उधर अमरीकी कांग्रेस और सिनेट ने मज़दूरों के विरुद्ध स्ट्राइकविरोधी बिल पास करके यह प्रत्यक्ष कर दिया है

कि शक्तिसंपन्न वर्ग, अभी तक पुरानी डगर पर चला जा रहा है और वह संसार—युद्ध के बाद के संसार—की रूप-रेखा भी इसी ढचर पर बनाना चाहता है।

केवल रूस में ही ऐसी चीजें लिखी जा रही हैं जो युद्ध-संबन्धी होती हुई भी श्रेष्ठ साहित्य कही जा सकती हैं। इसका कारण यह है कि वहाँ के साहित्यिकों के मन में ऐसी कोई शंकाएँ नहीं। मानसिक द्वंद्व (Dualism), भावनाओं का भयानक संघर्ष, जो रचनाशक्ति को कुण्ठित कर देता है, उनकी चेतना में उत्पन्न नहीं हुआ। उसका कारण यह है कि रूस में सिद्धांत और प्रयोग में शत-प्रतिशत सामंजस्य स्थापित हो चुका है। वहाँ पर शासन साम्राज्यवादी या गणतंत्रवादी नहीं—यथार्थ, सच्चा शतप्रतिशत जनतंत्रवादी है। रूस का कमकर और किसान जानता है कि वह अपनी राज्य-सत्ता, अपने घर परिवार, अपने सुख, अपने भविष्य के लिये सर मार रहा है। रूस का हर साहित्यिक इसको अच्छी तरह जानता है। तभी वह युद्ध में अपनी आत्मा की शक्ति का पूरा योग दे रहा है।

बौद्धिक विश्रृंखला, मानसिक द्वंद्व—वह बौद्धिक दोराहा जो अधिकांश पाश्चात्य, अमरीकी और भारतीय साहित्यिकों की आत्मा को उत्पीड़ित कर रहा है, वहाँ है ही नहीं। वह न रूस में है, न चीन में। चीनी युद्ध भी शतप्रतिशत राष्ट्रीय युद्ध है। चीन का साहित्य देखिये, आधुनिक युद्ध ने चीनी साहित्य का रूप ही बदल दिया है। वह आज संसार के श्रेष्ठ प्रगतिशील साहित्य में एक ऊँचा स्थान रखता है। युद्ध का भाव और विचार जगत जब तक पूर्ण रूप से साहित्यकार की मानसिक पृष्ठभूमि के अनुकूल न होगा, किसी भी श्रेष्ठ रचनात्मक कृति का उद्भूत होना असंभव है।

जहाँ तक मित्रराष्ट्रों और धुरी-शक्तियों का सम्बन्ध है, इसमें मुझे किंचित भी संदेह नहीं कि भारतीय साहित्यकार की सहानुभूति मित्रराष्ट्रों के साथ है। वह इस बात को चाहता है कि नात्सीज़्म, फासिज़्म और जापानी साम्राज्यवाद के समक्ष अमरीका, बृटेन, रूस और चीन विजयी हों। किन्तु जहाँ तक उसके अपने देश की स्वतंत्रता का प्रश्न है वह मित्रराष्ट्रों की प्रस्तुत नीति को नापसंद करता है। भारत की स्वतंत्रता और पाकिस्तान की स्थापना के विषय में मित्र-राष्ट्रों ने जो मौन-पथ का अनुसरण कर रखा है, वह उसे युद्धोत्तर काल के लिये अत्यंत संकटपूर्ण और हानिकर समझता है। कम से कम इस विषय में संदेह और शंका से उसका मन खाली नहीं। यही मानसिक विरोधाभास जो सहानुभूति और प्रतिकूल रुचि के बौद्धिक तथा भावुक संघर्ष से उत्पन्न होता है, उसके मन की उलझनों का कारण बन जाता है। वह चाहता है कि मित्रराष्ट्रों की सहायता करे, प्राण-पण से अपनी आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति से फ़ासिज़्म के काले और घिनौने आवरण को चीर कर उसकी धज्जियाँ-धज्जियाँ उड़ा दे, किन्तु फिर उसका ध्यान उन परिस्थितियों की ओर चला जाता है जो उसके अपने देश में, बल्कि पूरे एशिया में, उत्पन्न हो रही हैं। और वह सोचता है वह क्या करे और क्या न करे। विवश वह मौन रह जाता है।

यह मानसिक विरोधाभास न केवल भारतीय साहित्यिकों में पाया जाता है, बल्कि उन सब प्रगतिशील पाश्चात्य साहित्यकों में भी, जिन्हें मानव का भविष्य प्रिय है, जो घृणा नहीं, बल्कि प्रेम की दृढ़ प्राचीरों पर मानवता के लिए एक अटूट भविष्य का निर्म्माण करना चाहते हैं।

अंग्रेज़ साहित्यकारों में जार्ज बर्नार्ड शॉ, एच. जी. वेल्स, ऑल्डस हक्स्ले और ऑडेन, अमरीकी साहित्यकारों में पर्ल बक, अप्टन सिंक्लेअर, और चीनी साहित्यकारों में लिन यू तांग और उसका संपूर्ण दल इस बेचैनी, उत्पीड़न और बौद्धिक विशृङ्खला को अच्छी तरह अनुभव करते हैं; एशिया और विशेषकर भारत के विषय में उन्होंने जो विचार प्रगट किये हैं उनसे आँखें खुल जाती हैं। पश्चिम में इसका उदाहरण कठिनता से मिलेगा। इस विरोधाभास के बोझिल दबाव के कारण अगर किसी श्रेष्ठ महत्वपूर्ण कृति की रचना नहीं हो पाती, तो इसका यह अर्थ नहीं कि इससे हम किसी प्रकार के साहित्यिक निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। युद्ध के विषय में भारतीय साहित्यकार का अटूट मौन उसकी बौद्धिक और मानसिक दुर्बलता समझी जायगी। आखिर वह चुप क्यों है? वह क्यों अपनी आत्मा की कुरेदन को, अपने हृदय की जलन को, अपने मस्तिष्क के उलझाव को जनता के आगे प्रकट नहीं करता? एक मज़दूर मर जाता है, एक पूँजीपति जुल्म करता है, एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के वियोग में तड़प उठता है—तो उसकी लेखनी में जान आ जाती है। उसकी क्रियात्मक शक्तियों में चिंगारियाँ दमकने लगती हैं। और आज करोड़ों मज़दूरों की मृत्यु के आयोजन हो रहे हैं, हज़ारों प्रेमी अपनी प्रेमिकाओं से विलग होकर मृत्यु की गोद में जा रहे हैं, फ़ासिस्त नेताओं ने सारे यूरोप को ऊसर बना दिया है; किन्तु वह पूर्ववत् ही चुप है। आखिर क्यों?

क्यों न वह अपने मानसिक उलझाव को जनसाधारण के आगे रखे, क्यों न वह अपने तर्क के प्रयोग से इस मानसिक उलझाव को सुलझा ले? आखिर मित्र-राष्ट्रों में भी तो बहुत-सी समस्यायें विवाद-ग्रस्त हैं। विचारशील राजनीतिज्ञ जानते हैं कि भारत और सुदूर पूर्व की समस्याओं के विषय में अमरीका और इंग्लैंड में बहुत गहरे मतभेद रह चुके हैं। फ्रांस के नये राजनीतिक जीवन के बारे में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण पाये जाते हैं। यूरोप में जर्मनी के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोलने पर रूस, इंग्लैंड और अमरीका में अब तक गहरा मतभेद रहा है। चीनी नेता च्यांग काई शेक को आज तक यह शिकायत है कि उसको मित्र-राष्ट्रों से वह फौजी सहायता नहीं मिल सकी जिसकी उसे आरंभ से ही आशायें रही हैं। ये और इसके अतिरिक्त और बहुत-सी ऐसी राजनीतिक, आर्थिक समस्याएँ हैं जो विवादग्रस्त हैं। लेकिन उनके होते हुए भी वे लोग मिलकर काम कर रहे हैं, एक दूसरे का साथ दे रहे हैं। क्योंकि शत्रु एक है, और जब तक शत्रु का विनाश न हो जाये, किसी सामूहिक ध्येय का पूर्ण होना असंभव है।

भारतीय साहित्यकार अपने बौद्धिक द्वंद्व ही को अपनी रचनाओं का विषय बना सकता है। वह साम्राज्यवाद के विरोध में लिख सकता है; वह फ़ासिज़्म और तत्सं-

बंधी विषयों की विवेचना करता हुआ, उनके प्रति अपनी घृणा को मूर्तिमान करता हुआ, अपने देश की परिस्थितियों तथा उनके संबंध में अपनी सूक्ष्म अनुभूतियों को जन साधारण के समक्ष रख सकता है; लेकिन युद्ध के विषय में वह मौन नहीं रह सकता; युद्ध जो न केवल करोड़ों मनुष्यों के हृदयों में घाव गहरे कर रहा है, बल्कि जो उसकी प्यारी मातृभूमि पर भी अपना दूषित प्रभाव डाल रहा है। उसके हृदय में यदि मनुष्य के प्रति प्रेम है, यदि वह अपने देश का शुभ चाहता है, तो वह चुप नहीं रह सकता। यह एक ऐसी भूल, बुद्धि का ऐसा मिथ्याचरण—विचारों की एक ऐसी बेईमानी होगी, जिसका भुगतान न केवल उसे ही बल्कि सारे देश को बहुत वर्षों तक देना पड़ेगा।

[उर्दू 'एशिया' से, अनुवादक: शमशेर बहादुर सिंह]

रेल का सफ़र

[सज्जाद ज़हीर]

आजकल रेल का सफ़र कोई आसान काम नहीं, और अगर कहीं आपको तीसरे या ड्योढ़े में सफ़र करना पड़े, यानी यह कि आप मामूली हैसियत के आदमी हों तो फिर आपका खुदा ही हाफिज़ है। कभी-कभी मेरे कोई दोस्त जब उत्तरी हिन्दुस्तान से बम्बई पहुँचते हैं, तो उनसे पूछना पड़ता है, कि कहो भाई, सफ़र कैसा कटा ? तुम्हारे डब्बे में मार-पीट, धींगा-मुश्ती तो नहीं हुई, बैठने की तो जगह मिल गयी थी, दो दिन में कुछ खाने-पीने को मिला, और...और पायखाने तक पहुँच पाये थे ..? इनकी सूरत देखते ही जवाब मिल जाता है। अच्छे खासे खाते-पीते सजीले नौजवान का इस तरह के सफ़र के बाद कुछ अजीब हुलिया हो जाता है। अगर आप मुझे माफ़ करें तो कहूँ कि मालूम होता है कि हज़रत का कान पकड़ कर किसी ने उन्हें सौ जूते मार दिये हैं। इस क़िस्म के कई मुसाफ़िरों का मैंने बयान लिया, और उनमें से हरएक ने अपने सफ़र के ऐसे-ऐसे क़िस्से कहे, जिन्हें सुनकर बदन के रोंगटे खड़े हो गये। फिर जब मैं इलाहाबाद के स्टेशन पर दिल्ली जाने के लिये पहुँचा तो मेरी क्या ज़ेहनी कैफियत थी, इससे अन्दाज़ा किया जा सकता है। मैंने अपनी हिफ़ाज़त और बचाव के लिये यह एहतियात की थी कि दो तीन पहलवान क़िस्म के दोस्तों से बेहयाई करके खुद कह दिया था कि भाई मुझे स्टेशन तक पहुँचाने ज़रूर आना, खुदा मालूम क्या होने वाला है, न जाने अब कब मिलना हो। मेरी गाड़ी थी तूफ़ान मेल। कौन नहीं जानता कि कलकत्ते की बमबारी के बाद, बल्कि इसके पहले ही से खौफ़, परेशानी और बौखलाहट का शिकार हो कर कैसे कैसे आदमी सफ़र करने के लिये निकल खड़े हुए। तूफ़ान मेल के मुसाफ़िरों में वह भी होते हैं, जिनका वतन पेशावर के भी आगे खैबर की घाटी, काबुल और जलालाबाद के आसपास में है, और वह भी है जो मारवाड़ के तधड़ चटियल रेगिस्तानों को छोड़कर किसी अमन के ज़माने में बँगला देश में जा बसे और वहाँ इतना रुपया पैदा किया कि कुबेर और कारूँ को शर्म आने लगी.....। कमज़कम हमारे ऐसे मुफ़लिस यही सुनते आये हैं।

मैं यों तो तीसरे दर्जे का मुसाफ़िर हूँ, लेकिन इस मर्तबा इधर-उधर से रुपया जोड़कर ड्योढ़े का टिकट खरीद लिया; क्योंकि यह भी सुनने में आया था कि कभी कभी तीसरे दर्जे में घुसने तक का मौक़ा नहीं मिलता। खैर साहब, क़िस्सा मुख़्तसर, जब कोई दस बजे सुबह के क़रीब एक घंटे लेट होने के बाद गाड़ी इलाहाबाद के प्लेटफार्म पर आ रुकी तो मैं, मेरे दोनों दोस्त, और दो क़ुली, इसलिये कि असबाब इत्तफ़ाक़ से ज्यादा था, इन्टर क्लास की तरफ़ बेतहाशा लपके। क़ुली ने चलते-चलते नसीहत की कि "बाबूजी, आप चढ़ जाइयेगा, फिर हम देख लेंगे।"

जिस दर्जे में कम से कम भीड़ देखी उधर ही हम लोग बढ़े, और इस दर्जे की कैफ़ियत यह थी कि गाड़ी रुकते ही तीन हिन्दोस्तानी सिपाही—दो मुसलमान मालूम होते थे और एक सिक्ख—दर्जे के बाहर आकर खड़े हो गये, कुछ इस शान से जैसे सरकारी ख़ज़ाने पर पहरा होता हो। अन्दर भी कोई छः-सात आदमी बैठे हुए थे, यहाँ तक कि प्लेटफार्म पर से खड़े होकर दर्जे की खिड़की में सर तक डालना मुश्किल मालूम होता था। इस सीन को देखकर मुझ पर तो निराशा छा गयी, और रेल के आने से जो दिल में गर्मी सी पैदा हुई थी और एक धुन सी समा गयी थी वह रफ़ूचक्कर हो गयी। मैं डब्बे के आगे पहुँच झिझककर रुक गया, लेकिन शुक्र है कि मेरे दोस्तों का जोड़ा अभी अपने पूरे उभार पर था। उन्होंने आव देखा न ताव, सिपाहियों की लाइन को चीरते हुए डब्बे के दर्वाज़े पर पहुँच गये। देखते-देखते उनका हाथ दरवाज़े के हैंडिल पर। अब तो आनन-फानन में दरवाज़ा खुला और मुझे धक्का देकर उन्होंने डब्बे में ठूँस दिया और फिर खुले हुए दरवाज़े के दोनों तरफ खड़े होकर एक "कारिडार" सा बना कर कुलियों को ललकारा कि असबाब जल्दी रखो और मेरे बाद सामान ठूँस कर दर्जे की छत तक लगा दिया। यह सारा अमल कुछ ऐसी तेज़ी से हुआ कि "फ़रीक़ मुख़ालिफ़" यानी दर्जे में बैठे हुए मुसाफ़िर और बाहर खड़े हुए सिपाही इस अचानक और ताबड़तोड़ हमले का सामना न कर सके और जब उन्होंने देखा परा जमाया तो मैं मय अपने असबाब के भीतर था और इस तरह से था कि मालूम होता कि दुबारा बाहर निकलने की कोई सूरत मुमकिन नहीं रह गयी है। यानी असबाब तो प्लेटफ़ार्म वाले दरवाज़े से लेकर सामने के दरवाज़े तक तले ऊपर रखा था और मैं एक बक्स, बिस्तर और कई क़िस्म के पुलिंदों के ऊपर कोई गज़ भर ऊँचा बैठा हुआ बेबसी से अपने साथ के मुसाफ़िरों को तक रहा था।

जब तक रेल स्टेशन पर रही दर्जे में अजीब तरह का तनाव था। हर शख़्स मुझे इस तरह घूर-घूर कर देख रहा था जैसे मैं कोई दुश्मन हूँ, और मैं भी इस तरह अन्दर घुस आने पर शरमिन्दगी महसूस कर रहा था। खुदा-खुदा करके रेल चली, मैंने अपनी घबराहट कम करने लिये सिगरेट पीना शुरू किया, और जब किसी क़दर जी ठिकाने से हुआ तो सामने की तीनों बर्थ पर बैठे हुए मुसाफ़िरों पर एक निगाह डाली। इन तीन सिपाहियों में से जो बाहर खड़े थे दोनों ऊपर की बर्थों पर जाकर लेट गये। अब नीचे की तीन बर्थों पर, एक पर दो मारवाड़ी और एक सिपाही, बीच वाली बेंच पर तीन और मारवाड़ी और दूसरे किनारे की बेंच पर दो आदमी बैठे थे, जिनमें एक तो मारवाड़ी थे जो किनारे पर दबे-दबाये बैठे थे, और दूसरे साहब शान से बिस्तर बिछाये, पाँव पसारे बैठे हुए थे। उनके ये ठाठ ऐसे थे कि आपसे आप मेरा ध्यान उन्हीं की तरफ़ खिंच गया और मैंने यह महसूस करना शुरू किया कि मुझ पर ज़ुल्म हो रहा है, यह शख़्स खुदगरज़ है, और मेरे साथ ज़्यादती हो रही है। यह मानना पड़ेगा कि यह आदमी देखने में था शानदार, गोरा-चिट्टा ऊँचा माथा, तोतापरी नाक, चेहरे पर खसखसी, छोटी-छोटी चमकती हुई दाढ़ी, मियाना कद, था तो बुड्ढा,

लेकिन खूब टाँठा लगता था। पीछे खूँटी पर इनके कपड़े टँगे थे, खाकी वर्दी की क़िस्म के। साफ़ ज़ाहिर था कि जनाब फ़ौजी हैं। नीचे पीतल का टोंटीदार लोटा देखकर मुझे यह भी यक़ीन हो गया कि मुसलमान हैं।

आदमी को शेर बना देता है। चुनांचे मुझसे भी न रहा गया। मैं असबाब के पहाड़ से कूद कर नीचे आया और एक छलांग मार कर उस जगह के क़रीब जाकर खड़ा हो गया जहाँ इन हज़रत के दोनों पाँव फैले हुए थे। ज़रूर मेरे चेहरे से कुछ हमला करने का भाव टपक रहा होगा, इसलिये कि मैं अन्दर-अन्दर खौल रहा था, या फिर शायद यह हो कि मैं शेरवानी, टोपी और पायजामा पहने हुए था और मेरा क़द भी छै नहीं तो पाँच फ़िट दस इञ्च का तो है ही, और मैं दुबला भी नहीं कहा जा सकता। ग़रज़ हुआ यह कि मेरी खामोश फ़रियाद' और मांग के असर में आकर, उन साहब ने आहिस्ता से अपनी टाँगें खींच लीं, और बड़ी नर्मी से मुझसे कहा, "बैठ जाइये!' उन्होंने यही नहीं किया कि मुझसे बैठ जाने को कहा, वह इस हद तक शराफ़त पर उतर आये कि अपना बिस्तर भी नहीं मोड़ा। मेरा उस जगह पर बैठना था कि आनन-फानन सारे दर्जे की फ़िज़ा जैसे बदल गयी। जहाँ पहले मुझे यह महसूस हो रहा था कि सब लोग मेरे दुश्मन हैं, मुझसे बदला लेने का इरादा रखते हैं और मुझे बदतमीज़ और हक़ मारनेवाला समझते हैं, अब एकबारगी मैंने यह महसूस करना शुरू किया जैसे पुराने दोस्तों के बीच में बैठा हूँ या जैसे कहीं मेहमान हूँ और मेरी खातिरदारियाँ हो रही हैं। मेरे सामने बेंचों पर जो मारवाड़ी बैठे, बहुत मोटे और बहुत दुबले, वह बराबर खाने में जुटे हुए थे। पूरियाँ, भाजो, मिठाई, चाट, अमरूद और संतरों का इनके सामने ढेर लगा था। कई लोटों में पानी भरा रखा था। वह पानी पी-पी कर खाते जाते थे और अपने इर्द-गिर्द मिठाई और पूरी और तरकारी का जूठन फैलाते जाते थे, और पानी तो तमाम फ़र्श पर इस तरह पड़ा था जैसे किसी ग़ुसलखाने में होता है। मैंने देखा कि खाँ साहब, जिन्होंने मुझे अपने पास बैठने की जगह दी थी, खाने पीने के इस तूफ़ान से काफ़ी परेशान हैं। वह खाने वालों पर नज़र डालते और फिर बिलकुल मतलब भरे ढंग से गर्दन टेढ़ी करके खिड़की के बाहर देखने लगते। इस वक़्त उनके होंठो पर नफ़रत मिली हुई मुस्कराहट थी जिससे मालूम होता था कि वह इस तमाम सिलसिले को बदतमीज़ी की हद समझते हैं और उधर रुख़ करना भी गवारा नहीं करते। मेरी समझ में नहीं आया कि वह अपने भावों को इस तरह प्रकट किस लिये कर रहे थे। इसलिये कि हमारे मारवाड़ी साथी अगर खाँ साहब की गर्दन और आँखों की हरकत के माने समझे भी थे तो वह उसे ध्यान देने के क़ाबिल नहीं समझते थे। खाँ साहब को शायद दिल में समझ गये कि उनका इस तरह अपने भावों को प्रकट करना बिलकुल बेकार साबित हो रहा है, और अब बजाय इसके कि वह खिड़की के बाहर देखें मेरी तरफ़ देखकर मुझसे यह उम्मीद करने लगे कि मैं उनके साथ हमदर्दी दिखाऊँ। मुझे खुद यह गंदगी कब पसन्द थी खास तौर पर जब मैंने यह देखा कि पानी की एक धार रेंगती-रेंगती मेरे असबाब के क़रीब तक पहुँच गयी और मेरे सूट केस के तले भीग जाने का खतरा पैदा हो चला तो मुझसे भी न रहा

गया और मैंने कहा, "जी हाँ, ये लोग हमेशा सफ़र करते वक़्त यही हाल करते हैं। एक मर्तबा तो उन्होंने यहाँ तक किया कि आहिस्ता आहिस्ता धक्का देकर मुझे बर्थ के कोने में पहुँचा दिया और खुद सारी बर्थ पर क़ब्ज़ा करके मज़े से सो गये।" गो कि मैंने यह इतनी बात बहुत धीरे से कही थी ताकि सिर्फ़ ख़ाँ साहब सुनें और दर्जे में कोई बेलुत्फ़ी पैदा न हो लेकिन मालूम होता था मेरे सामने बैठे हुए मोटे मारवाड़ी ताड़ गये कि ख़ाँ साहब और मैं ऐसी कोई खिचड़ी पका रहे हैं, जिसका उनसे ताल्लुक़ है; और एकाएक उन्होंने ऐसी हरकत की कि मैं हैरान रह गया। उन्होंने एक बड़ा-सा, अमरूद उठाकर मेरी तरफ़ बढ़ाया और बोले, लीजिये बाबू साहब, आप भी खाइये। बहुत उम्दा है।" आप समझ सकते हैं कि जब इस ख़ूबसूरती के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाया जाय, और कौन नहीं जानता कि इलाहाबाद के अमरूद बेहद लज़ीज़ होते हैं, तो फिर इसका एक ही नतीजा हो सकता है, और वह यह कि तपाक के साथ अपना हाथ भी उठ जाय और अमरूद ले लिया जाय। मैंने ख़ाँ साहब की तरफ़ देखे बगैर फ़ौरन, अमरूद खाना शुरू कर दिया। अब मोटे मारवाड़ी ने कहा, "बाबूजी हम लोग तो कलकत्ते से आ रहे हैं और आप इन ख़ाँ साहब से पूछ लीजिये हमने किसी को भी इस दर्जे में आने से नहीं रोका फिर भी इतनी दूर से बड़े आराम के साथ चले आ रहे हैं···तुम बताओ ख़ाँ साहब तुम तो हमारे बाद डब्बे में आये, क्या तुमको किसी ने रोका था?

"नहीं मुझे तो किसी ने नहीं रोका, मगर लालाजी तुमने तरकीब अच्छी की थी। हवड़ा स्टेशन पर घंटों पहले पहुँच गये और सारे डब्बे में अपने कोई पंद्रह दोस्त बिठाल लिये। कोई आता भी तो कैसे?"

"लेकिन ख़ाँ साहब, तुम ही बताओ तुमको कोई तकलीफ़ हुई? अब सफ़र में आराम के लिये कुछ न कुछ तो करना ही पड़ता है। आज कल तो अगर चौकस न रहो तो तीसरे दरजे वाले ड्योढ़े में घुस आते हैं। और हमने, ख़ाँ साहब, यह भी देखा है कि मुसाफ़िर डब्बे में भरे तो थे ही बाहर खिड़कियों से लटक गये, कई तो, जी, कट गये······"

इन बातों से ख़ाँ साहब भी ज़रा ढीले पड़े, अमरूद खाने के बाद मेरे मिज़ाज में भी ज़रा नर्मी पैदा हो गयी। इधर दूसरी बेंचों पर भी खाने पीने का सिलसिला खत्म हुआ और हमारे दर्जे की आम कैफ़ियत काफ़ी खुशगवार हो गयी। मैंने अपनी जेब से उर्दू का एक अखबार निकालकर पढ़ना शुरू किया और हमारे मारवाड़ी दोस्तों में से एक ने ऊँचे सुरों में रामायण का एक पाकेट एडीशन कहीं से बरामद करके उसका पाठ शुरू कर दिया। बाक़ी मारवाड़ी उसे ग़ौर से सुनने और झूमने लगे। बीच में कहीं-कहीं पर रुक कर पढ़ने वाला मतलब समझाने लगता, जिस पर गर्मागर्म बहस हो जाती। ख़ाँ साहब बेचारे कुछ अकेले से पड़ गये। इसलिये मैंने अखबार तह करके रख दिया और उनसे बातें करने की कोशिश करने लगा। मालूम हुआ कि वह फ़ौज के रिटायर्ड हौलदार हैं, पिछली लड़ाई में फ्रांस, मिस्र और फ़िलिस्तीन के मोर्चे सर कर चुके हैं, और इस लड़ाई के शुरू होने पर दोबारा भर्ती

हो गये हैं। लेकिन उम्र चूँकि पैंसठ के लगभग पहुँची, इसलिये अब फ़ौज के इंतज़ामी मोहकमे में मुलाज़िम हैं। इस वक़्त आसाम में तैनात हैं और अब महीने भर की छुट्टी पर अपने घर जा रहे हैं, जो डेरागाज़ी खाँ के आस पास में है। खाँ साहब से बातें करने पर मालूम हुआ कि वह फ़ारसी और उर्दू शायरी के शौक़ीन हैं। इक़बाल के बहुत से शेर उन्हें याद थे। मुसलमानों की ग़रीबी का हम दोनों ने मिलकर रोना रोया, लेकिन खाँ साहब के दिल को इस मिसरे से इत्मीनान सा हो जाता था जिसे वह बार-बार पढ़ते थे :—

'कि जहाँ में नाने-शईर[1] पर है मदारे-क़ुव्वते हैदरी[2]' लेकिन यह मेरे ईमान की कमज़ोरी थी कि मेरा दिल इस मिसरे को सुन कर नहीं गर्माया। अपनी तो यह कैफ़ियत थी कि बम्बई में दो महीने लगातार बाजरे की रोटी खाते-खाते बीमार पड़ गये और उत्तरी हिन्दोस्तान गये ही इसलिये थे कि वहाँ हफ़्ते में एकाध दिन गेहूँ खाकर अपनी खोई हुई क़ुव्वत दोबारा हासिल करें।

खाँ साहब दुनिया देखे हुए थे और वह हर चीज़ के बारे में एक आख़िरी राय रखते थे, मसलन् अंग्रेज़ क़ौम से उन्हें यह शिकायत थी कि वह बग़ल के बाल नहीं मुँडवाती, खड़े होकर पेशाब करती है और आबदस्त नहीं लेती, तुर्कों से यह शिकायत थी कि उन्होंने अरबों के साथ बुरा सलूक करके अरबों को मजबूर कर दिया कि वह तुर्कों के ख़िलाफ़ बग़ावत करें (यह कोई पचीस बरस पहले का वाक़या था)। खाँ साहब ने मेरे उर्दू अख़बार पर भी नज़र डाली और इसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का ज़िक्र पढ़कर कहने लगे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता मुमकिन नहीं। जब मैंने पूछा, क्यों? तो वह बोले कि "साहब जिस क़ौम के लोग बिन टोटी का लोटा इस्तैमाल करें, जो इस तरह छूतछात बरतें, एक एक पैसा ख़र्च करते वक़्त जिनकी छाती फटती हो और जो सूदख़ोर हों उनसे हमारा मेल किस तरह हो सकता है?"

मैं यह सुनकर किसी क़दर घबरा गया इसलिये नहीं कि मैं नहीं चाहता था कि दर्जे में बे-लुत्फ़ी पैदा हो। अगर हमारे हिन्दू हमसफर खाँ साहब की यह बातें सुन लेते तो क्या होता? एकता तो अलग रही, अच्छी ख़ासी झड़प हो जाती। लेकिन ख़ैरियत हुई कि रेल ज़ोरों में चल रही थी और तुलसीदास जी की रामायण इससे भी ज़ोरों पर। खाँ साहब समझ गये कि इनकी बातें मुझे किसी हद तक परेशान कर रही हैं और मुझ पर उनकी दलीलों का, जैसा वह चाहते थे असर नहीं पड़ रहा है। वह चुप हो गये। थोड़ी देर बाद उन्होंने अपना टोटीदार लोटा उठाया और एक दो छलांगें मारकर पायख़ाने में ग़ायब हो गये।

इधर हमारे मारवाड़ी साथियों में एक लम्बे क़द का दुबला मारवाड़ी बैठा था। उसके सर पर गुलाबी रंग की पेच दर पेच पगड़ी थी। चेहरा काला सियाह, छोटी-छोटी मूँछें, बुलंद पेशानी, उम्र कोई पचास-पचपन की रही होगी। वह रामायण के पाठ में शुरू ही से बहुत कम दिलचस्पी ले रहा था। या तो वह खिड़की के बाहर

---

१ जौ की रोटी   २ शेर की सी ताक़त का, जैसे हज़रत अली में थी।

देखता रहता था या फिर कभी आँखें बन्द करके आप ही आप कुछ बुदबुदाता था। एकबारगी वह बीचवाली बेंच पर बैठे हुए तीनों मारवाड़ियों से सट कर खड़ा होगया और लगा चिल्ला-चिल्ला कर अपना उपदेश सुनाने। इन हज़रत की इस अचानक हरकत से उन तीनों पर जैसे सकता-सा छा गया। रामायण के सफ़े और उनके मुँह खुले के खुले रह गये। लम्बे मारवाड़ी ने बैठे हुए लोगों से पूछना शुरू किया कि "बताओ रामायण को लिखे अब से कई सौ बरस हो गये, चार सौ बरस से भी ज्यादह, यह सच है कि नहीं कि चार सौ साल से लोग इसका पाठ कर रहे हैं, यह सच है कि नहीं कि इस पवित्र पुस्तक में जो आदर्श मनुष्य के सामने रखा गया है इससे ऊँचा आदर्श नहीं हो सकता। लड़के और बाप, पति और पत्नी, लड़के और माँ, भाई और बहन, राजा और प्रजा, मतलब यह कि कौन सा इंसानी रिश्ता है जिसका श्रेष्ठ रूप रामायण में तुलसीदास जी ने सामने नहीं रख दिया, लेकिन बताओ इसका क्या परिणाम हुआ? आज हालत क्या है? आदमी आदमी का दुश्मन हो रहा है। लड़के बाप का कहना नहीं मानते, पत्नी पति की परवाह नहीं करती, भाई-भाई से लड़ता है, और आदमी के कहने और करने का तो कोई भरोसा ही नहीं रहा है। है सच्ची बात या नहीं?" मारवाड़ी ने कड़क कर पूछा। चारों तरफ ख़ामोशी छा गयी। किसी ने कोई जवाब नहीं दिया। मारवाड़ी ने अपना व्याख्यान जारी रखा: "रामायण" में तुलसीदास जी क्या कहते हैं?

रघुकुल रीत सदा चलि आई।
प्रान जाय पर बचन न जाई॥

और आजकल मुख से तो ख़ूब आनन्द ले ले कर तुलसी का पाठ करते हैं लेकिन कर्म बिलकुल इसका उलटा! मैं कहता हूँ कि जब कर्म नहीं तो फिर रामायण क्यों पढ़ते हो?"

और यह कहकर वह पढ़ने वाले की तरफ़ कुछ इस तरह झुका कि मैं समझा उसे चाँटा ही मार देगा। ज़रूर, पाठ करने वाला कोई दुराचारी था, इसलिये कि उसके मुँह से एक बोल भी नहीं निकल रहा था। आख़िर में मजबूर होकर मैंने कहा कि "लाला जी ख़फ़ा क्यों होते हो, पाठ न करें तो फिर तो आदर्श भी सामने न रहेगा।"

"अजी बाबू जी बाज़ ऐसे पापी भी होते हैं कि भगवान ख़ुद उनके सामने आ जायँ तब भी उनपर कोई असर न हो। इन्होंने हवड़ा स्टेशन पर कहा था कि कुली का किराया दे दो, बाद में हिसाब चुका लेंगे और इनके कान पर जूँ नहीं रेंगती। बताओ हम रोकड़ में क्या लिखेंगे? यहाँ तो दो पैसे का हिसाब भी गड़बड़ हो जाता है तो रात भर नींद नहीं आती। मैं कहता हूँ जब कर्म नहीं तो पाठ से क्या लाभ होगा? बाबूजी अब तुम ख़ुद इन्साफ़ करो……"

बड़ी ख़ैरियत हो गयी। ठीक इसी वक़्त ख़ाँ साहब बरामद हुए, और गाड़ी की रफ़्तार धीमी होते-होते स्टेशन का प्लेटफ़ार्म आगया। कानपुर—और हम सबके सामने यह सवाल हो गया कि नये हमलावरों से किस तरह अपने डिब्बे को

बचाया जाय। ऊपर सोये हुए सिपाही भी नीचे उतरे। हर खिड़की के पास दो-दो आदमी जाकर खड़े हो गये। इस वक्त हमारा डिब्बा गोया हिन्दुस्तान था, और कानपुर से रेल पर चढ़ने वाले मुसाफ़िर जापानी। हिन्दू, मुसलमान, सिख, मारवाड़ी, ख़ाँ साहब और मैं सभी इसी फ़िक्र में थे कि अपनी थोड़ी सी बैठने की जगह बचा ली जाय। मैं खिड़की से आधा धड़ निकाल कर बाहर का तमाशा देख रहा था। इतने में किसी ने बड़े ज़ोर से मेरी पीठ पर हाथ मारा। मैं मुड़कर देखता हूँ तो मेरे पुराने साथी और दोस्त महादेव नारायन बग़ल में एक छोटा-सा बिस्तर दबाए हुए खड़े हैं। उन्होंने आव देखा न ताव, खिड़की में से पहले बिस्तर अन्दर डाल दिया, और टाँग आगे सर पीछे करके एक ही क़लाँच में भीतर दाख़िल हो गये।

अब मेरे लिए यह ज़रूरी हो गया कि मैं उनकी तरफ़ से बैठे हुए तमाम मुसाफ़िरों से माफ़ी माँगूँ। इन हज़रत के मिज़ाज में कुछ ऐसी बेतकल्लुफ़ी है कि जहाँ भी होते हैं अपना ही घर समझते हैं। आप मेरे और ख़ाँ साहब के बीच में डट कर बैठ गये। फिर कहने लगे : "यार प्यास बहुत लगी है, यह लोटा तुम्हारा है?" वही ख़ाँ साहब वाला लोटा झट से उठाकर एक मुसलमान पानी वाले से जो इत्तफ़ाक़ से उधर गुज़र रहा था पानी लिया और टोटी से ग़टाग़ट पीने लगे। पानी पी चुके तो आपने मारवाड़ियों की फलों से भरी टोकरी की तरफ़ नज़र डाली और मुझसे कहने लगे, "यार अमरूद अच्छे ख़रीदे हैं?" और एक अमरूद उठाकर खाने लगे। सारे मारवाड़ी और ख़ाँ साहब टकटकी बाँधे इस अजीब इन्सान को देख रहे थे, जिसे न तो लोटे की टोंटी का एहसास था और न अमरूद की मिलकियत का। खाने-पीने के बाद आपने इत्मीनान की साँस ली और बोले कि "फ़ीरोज़ाबाद से कानपुर आया था। वहाँ की तीस हज़ार की आबादी इस वक्त बड़ी मुश्किल में है। कोयले की कमी है। चूड़ियों का रोज़गार मिट रहा है। डर है कि सारे के सारे मज़दूर, दूकानदार और व्यापारी फ़क़ीर न हो जायँ। बात यह है कि लड़ाई की वजह से वैगन नहीं मिलते। कोयला काफ़ी नहीं आता और माल भी बाहर नहीं जा पाता। कानपुर में लेबर कमिशनर के पास गया था। यार तुम भी क्यों नहीं एक दिन के लिये फ़ीरोज़ाबाद उतर जाते? हिन्दू और मुसलमान, दुकानदार और मज़दूर यहाँ तक कि बाज़ सरमायादार भी एकता के आंदोलन में शामिल, सारे फ़ीरोज़ाबाद को बचाने की कोशिश कर रहे हैं......

मैंने ख़ाँ साहब की तरफ़ देखा। ख़ाँ साहब ने इस नौजवान की तरफ़ देखा। और मारवाड़ी कभी उस टोंटीदार लोटे को देखते जिसे लेकर ख़ाँ साहब पायखाने गये थे और कभी उस धोती और कुर्ता पहने हुए इन्सान को...

(नया अदब)

ज़िन्दगी

[पियोतर पावलेंको]

वह अपने चार साल के लड़के को साथ लिए सड़क पार कर रही थी। दो गाड़ियाँ चौराहे के दोनों तरफ, रास्ता रोके रुकी पड़ी थीं। वह ठहर गई जिसमें गाड़ियाँ निकल जायँ।

यकायक लड़का खुशी के मारे हल्ला मचाता हुआ माँ से अपने को छुड़ाते हुए गाड़ियों के सामने से जो अब चलने लगी थीं, सड़क पार करने के लिए तेज़ी से दौड़ा।

माँ चिल्लायी। उसकी चीख़ इतनी डरावनी थी कि दोनों गाड़ियों के ड्राइवरों ने एक साथ अपने अपने ब्रेक लगा दिये। गाड़ियों के भीतर के लोग खिड़कियों में से बाहर को देखने लगे कि आख़िर क्या मामला है।और पाँवदानों पर लटके हुए लोग पहियों के नीचे। चारों तरफ़ से औरतें चिल्ला पड़ीं, 'कैसी अजीब माँ है! उसे अपने ऊपर शर्म आनी चाहिए।'

वह 'कोलिया! कोलिया!!' चिल्लाती हुई, घबराहट की मूर्त्ति बनी दोनों गाड़ियों के बीच की तंग जगह की ओर दौड़ी और उसका समूचा चेहरा पलक भाँजते दुखी और संत्रस्त हो गया।

'कैसा है तुम्हारा लड़का? नीली जाकट, बाल भूरे?' वह बोलने में असमर्थ हो रही थी। उसने चेहरे पर ढुलकते हुए पसीने को पोंछते और एक हाथ गले पर, सर हिलाया और अपने चारों तरफ के लोगों को भय से विस्फारित आँखों से देखा।

'वह तो नहीं है तुम्हारा लड़का? वह देखो! एक फ़ौजी आदमी ने झपट कर उसे उठा लिया था। बहुत करके उसे चोट आ गई है......'

'कहाँ? कहाँ?' और वह दौड़ी जिधर लोगों ने इशारा किया था।

एक लंबा हवाबाज़ जो सर से पैर तक इस क़दर धूल में सना हुआ था, कि ख़ाकी वर्दी पहने जान पड़ता था, कोलिया को गोद में लिए उसे छाती से लगाता और चूमता हुआ सड़क पर चला आ रहा था। लड़का मगन था और हँसता खिल-खिलाता हवाबाज़ के कान खींच रहा था। उसे किसी तरह की चोट लगी नहीं जान पड़ती थी। और स्पष्टतः उसे हवाबाज़ की गोद में मज़ा आ रहा था।

'साथी हवाबाज़, साथी हवाबाज़ तुम पागल हो क्या?' उनके पीछे-पीछे दौड़ते हुए माँ चिल्लायी। लेकिन वह बढ़ता ही गया। स्पष्ट था कि उसने एक भी शब्द नहीं सुना।

'कोलिया, मेरा नन्हा कोलिया,' वह बुदबुदाता रहा जैसे नींद में हो, 'अबे शैतान तू यहाँ कैसे आ गया?'

लड़का उसे कुछ बतला रहा था।

'वाह रे मजाल ?' माँ ने हवाबाज़ की बाँह पकड़ कर उसे रोका। उसे ग़श आने ही वाला था।

वह चिल्ला-सी उठी, 'मेरे लड़के को तुम कहाँ ले जा रहे हो? वाह रे वाह हद हो गई! उसे फ़ौरन छोड़ दो! नहीं तो मुझे फ़ौजी स्वयंसेवक को बुलाना पड़ेगा!'

हवाबाज़ ने अचंभे के साथ उसकी ओर ताका।

उसने औरत से पूछा, 'आप क्या चाहती हैं?'

भीड़ इकट्ठा होने लगी।

'तुम मेरे लड़के को कहाँ ले जा रहे हो? वाह रे वाह हद हो गई!'

'तुम्हारा लड़का? यह तो मेरा बेटा है,' और मानों अपने को आश्वस्त करने के लिए हवाबाज़ ने अचरज के साथ लड़के को देखा, 'तुम किसके लड़के हो कोलिया?'

लड़के ने जवाब दिया, 'तुम्हारा, पिताजी!' और माँ की तरफ़ हाथ बढ़ाते हुए उसने कहा, 'और यह अम्माँ है।'

'किसकी अम्माँ? तुम्हारी अम्माँ कहाँ है?'

कोलिया ने समझाया, 'मेरी असली अम्माँ क़ब्र में है। जर्मन जब आये तो उन्होंने उसे गोली मार दी और तब काकी लीपा ने मेरी आँखें अपने हाथों से ढँक ली थीं, लेकिन पीछे मैंने भी फिर देखा.........'

'बस कोलिया, बस!' पीड़ा के साथ उसने एक लम्बी साँस ली और औरत की ओर मुड़ते हुए पूछा—तो तुमने इसे गोद ले लिया है। क्या इस बातको बहुत दिन हो गये?'

वह खड़ी थी वहाँ, उसकी आँखें अधमुँदी थीं और वह अपने ओंठ काट रही थी मानों किसी तेज़ पीड़ा को दबाने की कोशिश कर रही हो। गले से लगा हुआ उसका हाथ अब भी काँप रहा था।

हवाबाज़ ने कहा—'सुनो, अपने को क़ाबू में करो। अब हमें करना क्या है? अच्छा होता कि हम दोनों सारी बातों पर ग़ौर कर लेते......तुम कहाँ जा रही थीं?'

'घर।'

'अपने मकान?'

'और नहीं क्या, अपने घर ही तो।' और उसने कातर होकर लड़के की ओर देखा और सिर हिलाया।

'अच्छा चलो। सचमुच मालूम नहीं मैं कैसा दीखता हूँ और आ फँसा यहाँ इस उलझन में, लेकिन ख़ैर कोई बात नहीं।'

भीड़ ने धीरे-धीरे उनके लिए रास्ता कर दिया।

'कोई बात नहीं......इस ओर......कोलिया, तुम्हारी रूमाल कहाँ है? नाक पोंछ लो...दायें को......लेकिन तुम क़ानून के खिलाफ कोई काम नहीं कर सकतीं। तुम्हें हर्गिज़ न करना चाहिए। हर्गिज़ ऐसा पागलपन न करना चाहिए।

उसने कुछ कहा नहीं। वह उसके पीछे-पीछे चली जा रही थी। उसके चेहरे पर अपराधी की सी मुद्रा थी मानों वह कोई ऐसा जुर्म करते पकड़ी गई हो जिसके लिए उसको बहुत सख़्त सज़ा मिलेगी।

उन्हें कुछ नहीं मालूम कि वह किस तरह मकान पर पहुँच गये।

छोटा सा कमरा था। ज़्यादा चीज़ें उसमें न थीं, सिर्फ़ एक सोफ़ा, एक छोटी मेज़ और एक कोने में सूटकेस पर रखा हुआ एक तेल का स्टोव।

बहुत से पुराने खिलौने खिड़की में इधर-उधर बिखरे पड़े थे। हवाबाज़ ने अपने बेटे को फ़र्श पर उतार दिया।

'अच्छा अगर आप बुरा न मानें तो मैं अपना परिचय दे दूँ। मैं मेजर ब्राज़नेव हूँ।'

'मेरा नाम रोगाल्चुक है। तुमसे मिलकर मैं बहुत खुश हुई हूँ। मुझे उम्मीद है कि हमारे बीच कोई ग़लतफ़हमी न होगी।'

'किस तरह की ग़लतफ़हमी?' कठोरता से देखते हुए उसने अचरज के साथ पूछा। उसको वह कुछ अरुचिकर-सी प्रतीत हुई।

वह औसत से कम लम्बी और ज़रा दुबली औरत थी। उसका चेहरा काफ़ी अच्छा था गोकि उसके मुँह के आसपास की भारी रेखाओं ने उसे खराब कर दिया था। उसके आश्चर्यचकित चेहरे पर बेहद उदासी और दुःख की मुहर थी।

उसने सर के चारों ओर अपने लंबे सुनहले बालों की वेणी लपेट रक्खी थी। उसकी बाहें पतली और हल्का नीला रंग लिये हुए थीं। निर्जीव।

हवाबाज़ ने कहा, 'आओ, बैठो। आओ हम लोग बातचीत कर लें। मेरे पास ज़्यादा वक़्त नहीं।'

'कामरेड ब्राज़नेव, अच्छा होता कि पहले तुम नहा धोकर कपड़े वग़ैरह बदल डालते, क्यों? हो तो एक प्याला चाय?......'

औरत की आवाज़ से मेजर को लगा कि वह उसे रोकना चाहती है और उससे किसी चीज़ की दरख़्वास्त करना, भीख माँगना चाहती है।

'नहीं, आओ हमलोग पहले बातचीत ख़त्म कर लें।'

कहानी शुरू करने के पहले वह कमरे में से चुपके से निकलकर एक पड़ोसी के यहाँ चली गई और दालान की आवाज़ों से ब्राज़नेव ने अन्दाज़ा लगाया कि केतली चढ़ा दी गई है।

रोगाल्चुक ने कहा, 'मैं लेनिनग्राद में रहा करती थी। मेरा पति जनवरी में कहना चाहिये ठीक मेरे सामने ही मारा गया। और मैं अकेली हो गई। मेरे ऊपर यह चोट इतनी बड़ी थी कि मैंने समझा अब और न जी सकूँगी। मेरे पास एक ऐसे जीव का रहना अनिवार्य था जिसकी ज़िंदगी, जिसका स्वास्थ्य...... जिसका सुख मुझ पर निर्भर करता हो। मैंने एक अनाथ को गोद लेनेका निश्चय किया। यों तो इन अनाथों की अब कमी नहीं। लेकिन मुझे फ़ौरन ऐसा कोई न मिला। मुझे ऐसे किसी की खोज थी जो मेरे पति से मिलता-जुलता हो। यह सच है कि बच्चे वक़्त के साथ बदलते

जाते हैं लेकिन मुझे कम से कम एकाध महीने के लिए इस बात की ज़रूरत पड़ी कि मैं अपने मृत पति के सौम्यरूप को किसी बच्चे के मुख-मण्डल में आरोपित करूँ और साथ ही मैं यह भी चाहती थी कि उस लड़के का नाम वही हो जो मेरे पति का था। कोलिया को पहले-पहल देखने पर ही मैं झट जान गई कि यही मेरा लड़का है जिसकी मैं खोज कर रही थी, सदा के लिए मेरा।'

मेजर ने कहा, 'लेकिन वह अनाथ तो है नहीं। ऐसा समझना ग़लत है।'

'हाँ पिताजी मैं अनाथ हूँ,' कोलिया बीच में बोल पड़ा, काकी लीपा को भी जर्मनों ने मार डाला।'

अपनी ज़िंदगी की कहानी ग़ौर से सुनता वहीं बैठा था वह, ऐसा नन्हा-सा, पीला, चेहरे पर पतली नीली शिराओं की रेखाएँ, जो चमड़ी के अन्दर से साफ़ झलक रही थीं।

'अनाथालय में मुझे बतलाया गया था कि कोलिया की माँ मर चुकी और उसका बाप मोर्चे पर मारा गया और उसके सारे निकटतम संबन्धी भी या तो मारे गये या अस्पताल में घायल पड़े थे। मैंने झटपट सारी क़ानूनी कार्रवाइयाँ खत्म कीं और उसे गोद ले लिया।'

मेजर ने कहा, 'उस वक़्त मैं नहीं मारा गया था। वह मेरे नाम का एक दूसरा आदमी था।'

रोगाल्चुक ने कमरे में चारों तरफ़ घबरायी हुई नज़र दौड़ायी जैसे कुछ खोज रही हो।

लड़के ने पूछा, 'क्या खोज रही हो अम्माँ ?'

'मेरा हैंडबेग कहाँ है, भैया ?'

'अम्माँ, फिर तुम्हें कुछ नहीं सूझ रहा है। है तो वह, कुरसी पर। वह रहा कुरसी पर।'

मेजर ने अपनी उँगलियों की पोर से मेज़ पर खटखट करते हुए चोर की-सी निगाहों से अपने बेटे को देखा।

उसे बहुत बुरा मालूम हो रहा था कि उसका लड़का इस अजनबी औरत को 'अम्माँ' कहकर पुकार रहा है, लेकिन उसने अपने में इतनी ताक़त नहीं महसूस की कि इसके लिए उसे डाँटे।

रोगाल्चुक ने हैंडबैग में से अपना पासपोर्ट निकाला और मेजर के सामने रख दिया।

'मुझे दृढ़ विश्वास था कि मोर्चे पर काम आये हुए एक लाल फ़ौज के कमांडर के लड़के को गोद लेने का मुझे पूरा अधिकार है। मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि मेरी शिक्षा-दीक्षा और मेरी जीविका लड़के को पालने-पोसने के लिए काफ़ी है...... मेरा पति भी लाल फ़ौज का कमांडर था।'

उसकी आवाज़ धीमी लेकिन मोहक थी और उसे सुनते हुए ब्राज़नेव को उस दूसरी स्त्री की याद हो आई—जिसकी बात-बात में हाज़िरजवाबी का रंग था, जो वैसी ही दुबली-पतली लेकिन इससे कहीं ज़्यादा ताक़तवर थी—जिसे अब वह

कभी न देखेगा, उसकी पत्नी, जिसके साथ उसका सुख, उसकी आशाएँ, उसकी समूची ज़िंदगी ही बँधी हुई थी।

उसे लगा कि अपनी पत्नी के मर जाने से स्वयं उसके अपने व्यक्तित्व का एक अंश नष्ट हो गया है, जैसे उसका कवच टूट गया हो और उसने अपनी अमरता खो दी हो। अब उसका कोई भविष्य नहीं है, मानों उसके साथ साथ वह अपने विशाल, असीम जान पड़ने वाले भविष्य के एक अंश से वंचित कर दिया गया है। एक पड़ोसी ट्रे में रखकर दो प्याले चाय और एक छोटी रकाबी में शीरा ले आया। ब्राज़नेव ने बेख़बरी की-सी हालत में एक प्याला उठाया और दो चम्मच शीरा डाल चुकने पर उसे ख़याल आया कि वह ग़लती कर रहा है। कमरे में शांति का साम्राज्य था। रोगाल्चुक को जो कुछ कहना था, वह कह चुकी थी।

"पापा, पापा, यह तुमने क्या किया? और सो भी इतने बड़े होकर"—और कोलिया ने इस बात पर बहुत खुश होते हुए ताली बजाई कि उसने अपने पिता को एक ऐसा काम करते पकड़ लिया था जो उसे न करना चाहिए था, "और अब अम्मां तुम्हें डाँटेंगी तो देखना! तुम यह नहीं जानते कि शीरे को रोटी पर लगाना चाहिये?"

उसका पिता निरीह भाव से मुसकरा दिया।

"अरे मैंने उसमें अपना पैर थोड़े ही न डाल दिया है? मालूम होता है मुझे इन बातों की आदत अब नहीं रही।··· भई माफ़ करो, अब फिर ऐसी ग़लती न होगी। थोड़ा-सा अपनी चाय में डाल लो, कोलिया।"

शिक्षक की सी आवाज में लड़के ने कहा, "ऐसा न करना चाहिए; पहले मुझे अपना दलिया खाना है और उसके बाद चाय लूँगा।"

रोगाल्चुक ने भावावेश से काँपती हुई आवाज़ में कहा, "स्पष्ट है तुमने मेरी बात नहीं सुनी। अच्छा सुनो: कोलिया उतना ही मेरा बेटा है जितना कि तुम्हारा। क़ानून की नज़रों में वह मेरा बेटा है। मैंने उसे गोद लिया है।"

"तुम्हारे गोद लेने का क्या मतलब है? मुझे कहना होगा...... ।"

"निकोलाई ब्राज़नेव वह ज़रूर है। लेकिन उसका नाम मेरे पासपोर्ट पर दर्ज है।"

मेजर खड़ा होगया और कमरे में टहलने लगा। उसने कहा, "क्या अजीब मुसीबत है। आख़िर हम करें क्या? और हमें किसी निर्णय पर फ़ौरन पहुँचना है। और हमें यह निर्णय बुद्धिमानी से करना चाहिए। सबसे पहले तो जिस लाड़प्यार से तुमने मेरे लड़के की देखभाल की उसके लिए मैं तुम्हें हार्दिक धन्यवाद देना चाहता हूँ। तुम मेरी कृतज्ञता का अंदाज़ नहीं लगा सकतीं और उसे अपना बनाने के लिए तुम जिस तरह लड़ रही हो उसने मेरी कृतज्ञता को और भी बढ़ा दिया है। अगर मैंने उसे एक आश्रयहीन, अनाथ की शक्ल में पाया होता तो कह नहीं सकता मैं क्या कर बैठता। सचमुच, वह कैसी मुसीबत होती।......अच्छा लड़ाई बाद मेरे वापस लौटने पर हम क्या करेंगे?"

रोगाल्चुक ने दृढ़ता से जवाब दिया, "अभी से उसके बारे में सोचकर क्या होगा। वक्त आने पर सवाल हम इस तरह हल करेंगे कि लड़का फ़ायदे में रहे, नुक़सान में नहीं, और करना ही क्या है।"

लड़का आज उसे जैसा प्यारा लग रहा था, वैसा पहले कभी न लगा था। वह इतना परीशान लग रहा था कुर्ती काटकर बनाई हुई अपनी उस थेंगड़ी-लगी क़मीज़ में। वह समझ गया कि उसकी किस्मत का फ़ैसला किया जा रहा है और उसे शायद डर था कि ये बड़े लोग ठीक से फ़ैसला न करेंगे।

मेजर ने एक लंबी सांस ली।

"तुम्हारी आमदनी का क्या हाल है--काफ़ी है दो के लिए?"

"मुझे कोई खास शिकायत तो नहीं।"

रोगाल्चुक की मुद्रा ज़रा गंभीर हो गई, उसका चेहरा दीप्त हो उठा।

"और कपड़ों का--कुछ मुशकिल तो होगी आजकल?"

"ज़रूरी चीजें तो उसके पास हैं ही। अलबत्ता शान शौकत के अब दिन नहीं रहे। और फिर वह कोई बिगड़ा हुआ लड़का तो है नहीं, बहुत संजीदा तबीअत का है।"

"अपनी तनख्वाह से तो खैर मैं तुम्हें कुछ ज़रूर दूंगा। लेकिन उससे भी ज्यादा ज़रूरी है कि तुम फ़ौज और बेड़े के स्टोर में भर्ती हो जाओ। हाँ तो यही ठीक रहा। पेंसिल है न, होगी तो? मेरे मैदानी डाकखाने का नंबर लिख लो।"

रोगाल्चुक ने पता लिख लिया।

"क्यों, अब हाथ मुँह धो डालो। लो इस तसले में पानी है," उसने कहा।

"शुक्रिया। मैं तुम्हारा वक़्त तो नहीं ज़ाया कर रहा हूँ, क्यों?

"नहीं। आज मुझे काम पर नहीं जाना है।"

"अम्मां ने आज मुझे सिनेमा ले चलने कहा था। पापा, तुम भी चलो न" कोलिया ने कहा।

"नहीं बेटा, मैं न जा सकूंगा। सिनेमा तक मैं तुम्हारे साथ ज़रूर चलूंगा लेकिन देखने का मेरे पास वक़्त नहीं। मुझे फ़ौरन जाना है।"

रोगाल्चुक कमरे के बाहर चली गई जिसमें मेजर को कोई उलझन न महसूस हो। मेजर ने कमर तक कपड़े उतारे और हाथ मुँह धोया। फिर उसने मेज़ पर पड़े हुए रोगाल्चुक के पासपोर्ट को उठाया और उसे उलट-पलटकर ग़ौर से देखने लगा। वह उसे पढ़ ही रहा था कि वह कमरे में दाखिल हुई।

"तो तुम ज़िनाइदा पेंतोनोवना हो" उसने किंचित् शरमाते हुए कहा, "मैं, अच्छा देखो......मेरा नाम वासिली वासिलियोविच है। मेरी उम्र छत्तिस है। अच्छा हो कि हम एक-दूसरे को जान लें। तुम्हारा क्या खयाल है?"

"मैं भी यही सोचती हूँ," उसने मुसकराते हुए कहा।

मेजर ने ब्रुश से वर्दी को साफ किया और रूमाल निकाल कर अपनी वर्दी में टँके तमग़ों पर पड़ी धूल को पोंछा।

"अच्छा, अब चलना चाहिए।" उसने कहा।

वे लड़के की उँगली थामे साथ साथ बाहर निकले।

पास पड़ोस के सभी लड़के मेजर को ग़ौर से देख रहे थे—लंबा, ताम्रवर्ण, सीने पर दो तमग़े टँके हुए। वह रुककर मुँह बाये उसकी ओर ताक रहे थे। कोलिया दोनों के बीच चल रहा था, फूला फूला, मगन।

मोटर के अड्डे पर मेजर ने बेटे को उठा लिया और चूमा, उसके मुँह को, गले को और पतली-पतली बाँहों को।

"ज़िनाइदा ऐंतोनोवना का कहना मानना और उन्हें प्यार करना," उसने कहा।

"किसे?" लड़के ने पूछा।

"अरे, माँ को और किसे........."

"इन्हें......"

"क्या कहते हैं, इन्हें प्यार न करूँगा। आप इन्हें प्यार करते हैं?"

ज़िनाइदा ऐंतोनोवना पीली पड़ गई और अनजाने ही उसने अपने को जैसे सिकोड़-सा लिया।

वह बुदबुदायी, "कोलिया, मेरा कोलिया, डैडी को कह कि तुझे चिट्ठी लिखा करें।"

"पापा, तुम हमें चिट्ठी तो लिखते रहा करोगे, है न?"

"हाँ हाँ, ज़रूर। और तुम भी मुझे लिखना, कोलिया। लेकिन भूलना मत, तुम्हें भला फरमाबरदार लड़का बनना है!"

"अम्माँ तुम्हें चिट्ठी लिखेंगी और मैं तुम्हें तसवीर बनाकर भेजूँगा।"

"बहुत खूब, अच्छा, शुक्रिया......बाकी बातें अभी यहीं तक रहने दो। विदा, ज़िनाइदा ऐंतोनोवना" और उसने पहली बार सीधे-सादे खुले दिल से रोगाल्चुक की आँखों में आँखें डालकर देखा।

"तुम अम्मां को चूमते क्यों नहीं? तुमने मुझे चूमा लेकिन अम्मां को नहीं। ऐसा क्यों, पापा?"

ब्राज़नेव ने रोगाल्चुक को अपनी बाँहों में भरा और उसके माथे को हल्के से चूम लिया।

"तुम्हारा बहुत आभारी हूँ, प्यारी ज़िनाइदा, मेरा हार्दिक धन्यवाद लो।"

वह कूद कर एक मोटर पर चढ़ गया और गोकि उसमें काफ़ी जगहें खाली थीं वह पाँवदान पर खड़ा-खड़ा बहुत देर तक उस अनजान स्त्री की दुबली-पतली आकृति को देखता रहा और देखता रहा उसके पास खड़े उस दुबले-पतले लड़के को।

असंतोष

[विष्णु]

पात्र—कान्त ।
प्रभाकर—कान्त का भाई ।
कमल—प्रभाकर का मित्र ।
अमला—कान्त की पत्नी ।
आशालता—अमला की सखी ।
वृद्धा—कान्त की मां ।

काल—युद्ध कालीन भारत । स्थान—भारत का एक प्रमुख नगर ।
समय—प्रातः १० के आस पास ।

पहला सीन

[एक दुमंजिले मध्यवर्गीय मकान में मर्दानी बैठक । फर्श पर चटाई, दिवारों पर अनेक राष्ट्रीय-सामाजिक और पारिवारिक फोटो । एक शेल्फ पर अनेक विषयों की अस्त-व्यस्त पुस्तकें । मेज़ पर ताजमहल का इमीटेशन, सस्ती टाइमपीस, पेन, इन्क, थर्मामीटर और कुछ पत्र । कोने में जूते, चप्पल, खड़ाउँओं का ढेर । खूँटियों पर कोट, पैन्ट, शेरवानी, कुरते, कमीज़ और पाजामों का अंबार । एक कील पर टोप, दूसरी पर गान्धी टोपी । चटाई पर ताजा अख़बार पड़ा है ।

अन्दर जाने वाले दरवाजे पर नीला परदा । बाहिर छज्जे पर जाने वाले दरवाजों में एक बन्द, एक खुला । खुले दरवाजे के पास ऊपर नीचे जाने के ज़ीने ।

इस समय कमरा खाली है । नीचे के ज़ीने से कान्त और कमल सीधे कमरे में आते हैं और अखबार पढ़ने लगते हैं । उसी समय अन्दर से प्रभाकर वहाँ प्रवेश करता है । कुछ चिन्तित है । वे तीनों युवक हैं, शुद्ध खद्दर पहने हैं । कान्त के चेहरे पर सादगी है, कमल कुछ मस्ती, कुछ अल्हड़पन लिये है और प्रभाकर दार्शनिक सा लगता है ।

कुछ क्षण सन्नाटा रहता है फिर सहसा प्रभाकर बोलता है ।]

प्रभाकर—देश पर यह कैसा संकट आया है कि कहीं ओर न छोर । मुझे तो यह आत्महत्या अच्छी नहीं लगती ।

कान्त—(ऊपर देखकर) आत्महत्या? आत्महत्या का इन बातों से क्या सम्बन्ध है ?

प्रभाकर—आप लोग जीवन के सारे साधन नष्ट कर रहे हैं । तार काट देना, रेल उखाड़ देना, दफ्तरों में आग लगाना, आदमियों को जिन्दा जलाना यह सब आत्महत्या नहीं तो क्या है ?

कान्त—यह सब कांग्रेस का प्रोग्राम नहीं है । यह तो देश के नेताओं को बन्दी बनाने का फल है । गान्धी अगर बाहिर रहते तो ऐसा कभी भी नहीं होता ।

प्रभाकर—मैं मानता हूँ गान्धी यह कभी नहीं चाहते कि देश पर जापान का राज्य हो परन्तु आप इस बात से इन्कार नहीं कर सकते भाई साहेब कि इस अशान्ति के कारण ही देश की सहानुभूति जापान के साथ होती जा रही है।

कान्त—यह दोष हमारी सरकार का है। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है हम जापान से उसी तरह लड़ेंगे जिस प्रकार अंग्रेजों से लड़ रहे हैं।

प्रभाकर—परन्तु कब! जब जापान बड़ी शक्ति से हम पर शासन कर रहा होगा और हम यह भी नहीं जानते होंगे कि हम जापानी हैं या हिन्दुस्तानी।

(कमल जो अब तक चुपचाप पढ़ रहा था बोल उठता है।)

कमल—तुम ठीक कहते हो प्रभाकर? यह सब नेतृत्व की गलती है। अन्धी देशभक्ति से ही देश का उद्धार नहीं होता। शतरंज के खिलाड़ी की तरह राजनीतिज्ञ को न जाने कितनी चालें चलनी पड़ती हैं।

कान्त—चालें चलना बेईमानी है। गान्धी इन बातों में विश्वास नहीं करते।

कमल—राजनीति में हृदय की भावनाओं को प्रगट करने वाले सुन्दर शब्दों का कोई मूल्य नहीं है मि० कान्त! वहां 'पाप और मृत्यु' 'पुण्य और जीवन' के समान सफलता के अस्त्र हैं। क्या आप गान्धीवादियों ने गान्धी के धर्म और आचरण को ठीक ठीक समझ पाया है? क्या आप अहिंसा के कम्प्लीकेशन्स को समझते हैं। मैं कहता हूँ यह निरा ढोंग है जो दिल और दिमाग को गन्दा करता रहता है। भावुकता के आधार पर कोई चीज़ नहीं टिक सकती।

प्रभाकर—बेशक कमल। पाप और पुण्य की कोई निश्चित रूपरेखा नहीं है। एक का पाप दूसरे का पुण्य हो सकता है लेकिन ढोंगी मनुष्य से बढ़कर कोई पापी नहीं है।

कमल—लेकिन यह समय पाप और पुण्य की व्याख्या करने का नहीं है। गुलामी का एक ही धर्म है—गुलामी के बन्धन काटना—लेकिन इसी गुलामी को कुछ लोग अपना सौभाग्य समझते हैं। एक पढ़े लिखे भाई कह रहे थे—हमें अब जापानी भाषा सीख लेनी चाहिये क्योंकि हमारा विरोध करने पर भी जापान इस देश पर विजयी होगा। उस समय शुरू में जो मनुष्य उनके विश्वासपात्र बनेंगे वे ही मौज में रहेंगे। दासता का इन्जेक्शन कितना गहरा है, पतन की सीमा कितनी विशाल है।

प्रभाकर—विशाल नहीं अन्तहीन कहो कमल। और यह एक भाई के ही विचार नहीं हैं। दासता का यह ज़हर असंख्य देशबन्धुओं के रक्त में घुस चुका है। इसको मिटाने के लिये बहुत तेज Antidote की ज़रूरत है। मैं काँप उठता हूँ जब मैं सोचता हूँ कि क्या हम सदा ही गुलाम बने रहेंगे? क्या यह जागृति केवल मालिक पलटने के लिये ही है? लेकिन दूसरे ही क्षण उत्साह मुझमें भर आता है और मैं स्पष्ट देखने लगता हूँ कि जापान हम पर शासन नहीं कर सकेगा।

कान्त—मैं जापानी शासन की कल्पना भी नहीं कर सकता।

प्रभाकर—कल्पना भी कैसे की जा सकती है। वे फासिस्ट हमारी संस्कृति, हमारे साहित्य के दुश्मन हैं। उनका नाश करना अपनी संस्कृति की रक्षा करना है।

कान्त—लेकिन प्रभाकर, वे अंग्रेज ही क्या हमारे दोस्त हैं? आचरणहीन बनाने में इन्होंने ही कौनसी कसर छोड़ी है?

कमल—बेशक आप ठीक कहते हैं परन्तु फासिस्टों की बर्बरता का विरोध करने का मतलब यह नहीं है कि हम साम्राज्यवाद के समर्थक हैं। जो ऐसा समझते और करते हैं वे देशद्रोही हैं। अपने देश की रक्षा के लिये किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

कान्त—लेकिन हमारी सरकार तो हमें संगठित ही नहीं होने देती। शायद वह सोचती है कि अगर भारत जापान का मुकाबिला करने को संगठित हो सकता है तो एक दिन हमारा मुकाबिला भी कर सकेगा।

कमल—उनका भय ठीक है। इतना बड़ा साम्राज्य क्या छोड़ने के लिये बनाया गया है परन्तु हमें तो उनके विरोध की परवाह किये बिना अपने को संगठित करने की कोशिश करनी ही है।

प्रभाकर—मैं तुम्हारी बात नहीं मानता। मैं अपने पतन के लिये ब्रिटिश साम्राज्यवाद को दोष नहीं दे सकता। दोष हमारा है। अपने कर्म ही खोटे हैं तो परखने वाले का क्या अपराध है। हम में देश प्रेम नहीं, मानव प्रेम नहीं, हम धर्म की आड़ लेकर अपने स्वार्थ के लिये आपस में लड़ते हैं। जब दो भाई आपस में लड़ते हैं तो तीसरा पंच बन ही जाता है। पंच को उसके लिये दोष नहीं दिया जा सकता।

कमल—दोष किसी का भी हो परन्तु तुम समझाने की आवश्यकता से तो इन्कार नहीं कर सकते।

प्रभाकर—नहीं।

कमल—तो बस हमें कर्म के झगड़ों में नहीं पड़ना चाहिये बल्कि यह कोशिश करनी चाहिये कि यह निहायत जरूरी समझौता कैसे हो सकता है!

(वे तीनों बातों में इतने मशगूल होते हैं कि अखबार काफी दूर सरक जाता है और छज्जे से आकर कान्त का तीनवर्षीय बालक उसे पढ़ने की चेष्टा करते करते फाड़ने लगता है। प्रभाकर चौंकता है।

प्रभाकर—ओ गधे। क्या करता है, परे हट।

बालक (चौंक कर मुस्कराता है)—चाचा। दो अखबार—पानी लाऊँ।

प्रभाकर—हाँ जा! एक गिलास पानी ले आ।

बालक—(उठता उठता) एक गिलास पानी-भाभी-चाचा-पानी (सहसा गान्धीजी का फोटो देखता है) चाचा! बूढ़ा बाबा जय।

कान्त—बूढ़े बाबा की जय।

बालक—(हाथ उठाकर जोर से) बूढ़े बाबा की जय। बन्देमातरम्।

प्रभाकर—अबे पानी लाता है कि नहीं।

(बालक हँसता है। तभी खद्दर की शुभ्र साड़ी पहिने अमला पानी लेकर आती है। बालक को देखकर मुस्कराती है)

प्रभाकर—अरे भाभी ! हम तो मजाक कर रहे थे।

अमला—बहस करते करते दिमाग काफी तेज हो जाता है न। पानी पीकर ठण्डा कर लीजिये।

प्रभाकर—ना भाभी ! मैं तो खाना खाऊँगा। पानी आपके श्रीमान पी सकते हैं।

अमला—खाना तैयार है। श्रीमान सहित आप सब आ सकते हैं।

प्रभाकर—तब आओ कमल। भाभी का निमंत्रण अस्वीकार नहीं करना चाहिये।

तो यहाँ इन्कार कौन करता है। हम तो सदा ऐसे अवसर की टोह में रहा करते हैं।

(सब हँस पड़ते हैं और कान्त को छोड़कर बाहिर चले जाते हैं। केवल कान्त बैठा बैठा गान्धी के फोटो को गौर से देखता है, देखता रहता है।)

दूसरा सीन

काल-वही। समय-प्रातः १० के बाद। स्थान-सार्वजनिक गली

(गली के बीच में काफी खुला स्थान है। इधर उधर दो तीन दुकानें हैं, पीछे बड़े बड़े मकान हैं। कुछ पुरुष चारपाई डाले बैठे हैं। उनमें हिन्दू मुसलमान सब हैं। वे बड़ी व्यग्रता से चुपचाप बातें करते हैं। कान्त और कमल भी हैं)

एक व्यक्ति—क्यों जी जापान क्या जरूर हमला करेगा ?

कान्त—क्यों नहीं करेगा। उसके पास शक्ति है, सेना है, उनका उपयोग हमला करने में ही है।

दूसरा व्यक्ति—ठीक तो है। अगर वह हमला नहीं करेगा तो यह शक्ति उसे ही खा जावेगी।

कान्त—शक्ति तो अब भी उसे ही खायेगी। वह तो पशुबल है।

दूसरा व्यक्ति—बेशक पशुबल सदा अपने जन्मदाता को ही खाता है।

कमल—इसका मूल कारण पूँजीवाद में है। यह सोचकर कि जापान की शक्ति जापान को खा जावेगी हाथ पर हाथ धर कर नहीं बैठा जा सकता। वह हमें भी खा सकती है। उससे बचने का उपाय करना ही चाहिये।

दो तीन व्यक्ति (एक साथ)—क्या करें ? हम कर ही क्या सकते हैं ?

कान्त—तुम सब कुछ कर सकते हो। मर तक सकते हो।

एक व्यक्ति—मरना तो बुज़दिली है।

कान्त—मरना बुज़दिली है ? तुम पागल हो। किसी काम के लिए मरना जीवन का सबसे महान उद्देश्य है।

दूसरा व्यक्ति—लेकिन हम किसके लिये मरें ?

कान्त—अपने देश के लिये।

दूसरा व्यक्ति—देश क्या हमारा है ? वह तो अंग्रेजों का है।

कमल—बुज़दिली है यह। अंग्रेज जबरदस्ती हमारे राजा बने हैं। उन्हें बताना होगा कि देश हमारा है। हम उसकी रक्षा करेंगे।

तीसरा व्यक्ति—'देश हमारा है' कह देना बड़ा आसान है। हिन्दू मुसलमानों का प्रश्न क्या किसी को देश के लिये मरने देगा।

एक मुसलमान—यह हिन्दुओं की गलती है। वे मुसलमानों को गुलाम बनाना चाहते हैं। मुसलमान कभी हिन्दू का गुलाम नहीं बन सकता।

तीसरा व्यक्ति—अंगरेज का बन सकता है।

दूसरा मुसलमान—किसी का भी नहीं। हिन्दुस्तान हमारा भी वतन है। हम उसके लिये मर सकते हैं पर गुलाम बनकर नहीं, बराबर के भागीदार बनकर।

दूसरा व्यक्ति—अगर तुम हिन्दुस्तान को प्रेम करते हो तो उसके टुकड़े टुकड़े करने को क्यों कहते हो।

एक मुसलमान—टुकड़े-टुकड़े करने कौन कहता है ? हम तो अपना हक़ माँगते हैं।

कान्त—एक बार मिलकर उन्हें यहाँ से दूर कर दो फिर तुम देखोगे कि तुम्हें अपना हक़ आप ही मिल जावेगा।

कमल—यह सब व्यर्थ के झगड़े हैं। तुम इसी प्रकार पहेलियाँ बुझाते रहना और फासिस्ट तुम्हारी रही सही सभ्यता और संस्कृति को बरबाद कर देंगे। वे तुम्हारे इस निकम्मे जीवन को और भी अपंग बना देंगे। साम्राज्यवाद से टक्कर लेकर जो कुछ स्वाधीनता या स्वाधीनता की आशा तुमने पाई है वह भी नष्ट कर दी जावेगी और फिर तुम युग-युग तक अचेतन, असंस्कृत फासिज्म के जुर्म के नीचे पिसते रहोगे। तुम शायद यही चाहते हो।

एक मुसलमान—नहीं, हम जापान का मुकाबिला करेंगे।

दूसरा व्यक्ति—हम भी जापान को नहीं चाहते।

कमल—तो फिर फ़ासिस्ट लुटेरों से अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिये एक क्यों नहीं होते ? क्यों अपने देश में विदेशी आक्रमण और विदेशी राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्य को स्पष्ट करते। इस तरह अशान्ति पैदा करना, व्यर्थ ही सैकड़ों अमूल्य जीवनों को गोलियों की भेंट चढ़ाना बुद्धिमानी नहीं है। मैं उन मरनेवालों की कदर करता हूँ परन्तु जो काम देश की रक्षा को कमजोर करते हैं वे कितने ही शुभ-कामनाओं, कितनी ही उमंगों से क्यों न हों, हमें पतन की ओर ही ले जावेंगे।

एक व्यक्ति—आप ठीक कहते हैं यह अशान्ति तो हमें कहीं भी नहीं पहुँचा सकेगी।

दूसरा व्यक्ति—मैं भी मानता हूँ परन्तु इन दोनों जातियों में कभी प्रेम हो सकता है इसमें मुझे शंका है।

कान्त—तुम भूलते हो। प्रेम हो सकता है परन्तु वह होने नहीं दिया जा रहा है।

कमल—होने को कौन रोक सकता है। लेकिन उसके लिये प्रयत्न ही गलत किये जा रहे हैं।

कान्त—गलत कैसे ?

कमल—तुमने मानव जीवन की मूल समस्या को गलत समझा है। वह आर्थिक है और तुम धर्म की दुहाई देते हो। उस धर्म की जिसने मानव के तन मन को ज़ंग लगाकर जर्जर कर डाला है।

तीसरा व्यक्ति—तुम कम्यूनिस्ट हो! तुम धर्म को नहीं मानते लेकिन धर्म जीवन का अंग है।

एक मुसलमान—मुसलमान मजहब के लिये जान दे सकता है। वह मजहब को जान से बढ़कर प्यार करता है।

कान्त—देखा मिस्टर कमल! ये लोग धर्म पर कितना जोर देते हैं तभी तो गान्धी जी……

कमल (बिना सुने तेजी से)—गान्धी जी गान्धी जी! आप लोगों ने गान्धी जी को हौआ बना रखा है। लेकिन मैं पूछता हूँ क्या रोटी जीवन का अंग नहीं है। क्या तुम रोटी के लिये नहीं मर सकते ? क्या तुम अपनी छाती की रोटी उठा कर दूसरे को दे सकते हो ?

(सन्नाटा)

कमल—बोलते क्यों नहीं ? क्या तुमने किसी प्रकार का अपना धन गरीब को बाँटते देखा है। देखा है दाता के द्वार पर किसी भिखारी के स्वागत का दृश्य। भीख माँगना पाप है। परन्तु क्या तुमने उस पाप के कारण पर गौर किया है। तुम्हारा यह पाकिस्तान क्या है ? केवल मात्र आर्थिक शोषण की भावना, केवल मात्र हिन्दू पूँजीवाद का डर।

कान्त—लेकिन कमल! धर्म इस दुर्दशा का समर्थन नहीं करता वह तो स्पष्ट कहता है कि अकेला खानेवाला पापी होता है।

कमल—यह तो ठीक है, भइया जी। परन्तु धर्म ने पाप पुण्य, स्वर्ग नरक और सबसे बढ़कर उस अदृश्य ईश्वर की कल्पना करके पतन का रास्ता सहल बना दिया है। हम बड़े से बड़ा पाप करने में नहीं झिझकते क्योंकि उसका प्रायश्चित्त किया जा सकता है, धर्म करके परलोक सुधारा जा सकता है। परलोक के सामने इस लोक की चिन्ता हममें जरा भी नहीं रह पाई है।

एक व्यक्ति (पीछे से)—कहते तो आप ठीक हैं।

(फुसफुस का स्वर)

दूसरा व्यक्ति—कम्यूनिस्ट है!

तीसरा व्यक्ति—धर्म वर्म आचार फाचार कुछ नहीं मानते ये लोग।

चौथा व्यक्ति—अजी सर्वभंगी है…

(एकदम प्रभाकर का प्रवेश)

कान्त—अरे प्रभाकर। क्यों ! दफ्तर नहीं गये ?

प्रभाकर—रास्ता बन्द है। शायद झगड़ा हुआ। [फिर कमल के पास जाकर चुपचाप कान में कुछ कहता है।]

कमल (जल्दी से) मैं अभी जाता हूँ।

(शीघ्रता से जाना)

कान्त—क्या बात है प्रभाकर ?

प्रभाकर—कमल के पास ही जो वृद्ध रानाडे रहते थे वे गिरफ़ार हो गये।

कान्त (अचरज से)—सच ?

प्रभाकर—जी हाँ।

कान्त—लेकिन वे तो वर्तमान राजनीति में कोई भाग नहीं ले रहे थे।

कई व्यक्ति—बेशक। वे तो ईश्वराराधन में लगे रहते थे।

कान्त—न जाने क्या होने वाला है, अच्छा !

(कहता कहता वह उठता है। साथ साथ कई व्यक्ति और उठते हैं। कुछ क्षण फुस-फुस होती है, फिर वे सब ही चले जाते हैं)

तीसरा सीन

काल-वही। समय-सन्ध्या। स्थान-पहिले दृश्य वाला मकान।

(आँगन में कई स्त्रियाँ बैठी हैं। दो वृद्धायें खाट पर बैठी दाल बीन रही हैं। एक ने चश्मा लगा रखा है। अमला पीढ़े पर बैठी फूल काढ़ रही है। उसकी सखी आशा-लता जो कालेज में पढ़ती है, कुरसी पर बैठी है। वे सब धीरे धीरे बातें करती हैं)

एक वृद्धा—सुना आज के जलूस में लड़कियाँ थीं, वे भी मरी होंगी।

दूसरी वृद्धा—मरी होंगी ! इनको भी दिन लगे हैं। भला कहीं औरतें भी मरदों के झगड़ों में पड़ती हैं। पर अब तो कलजुग है घर छोड़कर भागी भागी फिरती हैं।

आशा—क्यों माँजी क्या स्त्रियों के दिल नहीं है ? क्या वे अपने देश को प्यार नहीं करतीं ? आपके ज़माने की बात और थी। आप तो शायद सूरज को भी नहीं पहचानती थीं।

दूसरी वृद्धा—तभी मुल्क में अमन था। सभी सुखी थे। कहीं लड़ाई-झगड़े सुनने में नहीं आते थे।

आशा—आपका मुल्क था कितना बड़ा। घर की चारदिवारी मुल्क की चार-दिवारी थी। लेकिन माँजी ग़दर कब पड़ा था और ग़दर में लड़नेवाली लक्ष्मी बाई कौन थी ?

अमला—लक्ष्मीबाई तो झाँसी की रानी थी। वही क्यों उसके साथ और स्त्रियाँ भी लड़ने गई थीं।

आशा—जी! उसी लक्ष्मीबाई को आज सभी प्यार करते हैं। उसका नाम लेते ही पुरुषों की छाती उभर आती है। इसीलिये न कि वह देश की आज़ादी के लिये लड़ी थी।

अमला—बेशक बहिन! जब-जब स्त्रियाँ जागी हैं देश जागा है। मैंने रूस की नारियों का हाल पढ़ा है। मैं तो काँप उठी। कैसे अकेली नारी युद्ध-भूमि में हज़ारों घायलों की जान बचाती है। वे मैदान में लड़ती हैं। आसमान में लड़ती हैं और पुरुष के कदम से कदम भिड़ा कर दुश्मन की संगीनों को कुण्ठित कर देती हैं।

आशा—बेशक वे इतनी वीर हैं।

अमला—और बहिन! अपने साहित्य में काली भवानी और शिवा सब स्त्रियाँ ही तो थीं जिन्होंने देवताओं की रक्षा के लिये राक्षसों का नाश किया था। अभी पिछले जमाने में उन नन्हीं-नन्हीं राजपूतनियों ने वे जौहर दिखाये थे कि जिन्हें पढ़ते-पढ़ते भी दुनिया काँप उठती है।

आशा—सच भाभी! आज उन्हीं वीर नारियों की सन्तान ने छाती पर गोली खाकर बता दिया है कि नारी भोग की सामग्री नहीं है बल्कि मौत की प्यासी भी है।

पहिली वृद्धा—यह तो ठीक है बेटी परन्तु मरना तो हमारे लिये ज्यादा ठीक है।

आशा—मरना ही तो सब कुछ नहीं माँजी! घर में बैठे-बैठे आप दुश्मन को हिला सकती हैं।

दूसरी वृद्धा—मेरी समझ में तो बातें आती नहीं। औरत तो घर की रानी है। उसे इन झगड़ों से क्या काम? वे कर भी क्या सकती हैं।

पहिली वृद्धा—यह बात तो गलत है जी। मुसीबत के वक्त औरत मर्द की फाँसी जाती है। तब वे हमारी फिक्र करें या मुल्क की। क्या हम इतना भी नहीं कर सकतीं कि साहस से काम लें और मर्दों को अपने बोझ से हल्का कर दें।

आशा—बेशक माँजी इतना तो सब कर ही सकती हैं। इसीलिये मैंने तो अपना नाम अभी से नर्सों में लिखा दिया है।

अमला (अचरज से)—तुम नर्स बनोगी?

आशा—हाँ भाभी। जीवन में सेवा करने का इससे सरल और कौनसा रास्ता है। काश कि मैं अपने देश-वासियों की सेवा कर सकूँ।

वृद्धा—बेटी नर्स सेवा तो बहुत करती हैं परन्तु उनके आचरण और उनके धर्म पर मुझे बड़ा सन्देह है।

अमला—सुनते तो कुछ ऐसा ही हैं।

प्राण—यह सब दूर का भय है, माँजी। आचरण बाहर निकलने से बिगड़ ही जाता है यह मैं नहीं मानती। घर की चारदिवारी में भी उसके बिगड़ने को कौन रोक सकता है। वह केवल मन की बात है। यूरोप की नारियां······(इसी समय कान्त और प्रभाकर बाहर से आते हैं और बात एकदम रुक जाती है। पहिले वृद्धा फिर अमला और आशा उठकर ऊपर चली आती हैं)।

कान्त—आज तो लड़कियों ने कमाल कर दिया। अड़ ही तो गईं कि हम नहीं जावेगीं।

प्रभाकर—सबसे पहले वह नीली साड़ी वाली गिरी जिसने झण्डा थामा था। बी० ए० के दूसरे वर्ष में थी। बड़ी चतुर, बड़ी सुन्दर। मैंने उसकी लाश देखी है। मुख की ज्योति उसी प्रकार बनी थी मानो कहती हो यह मेरे देश का झण्डा है, मैं इसकी सेविका हूं। अहा! कितनी दिव्य थी वह नारी, कितने निन्द्य हैं हम पुरुष……..।

कान्त—आत्म-निन्दा पाप है। पर असन्तोष तुममें है तो शुभ है। यह तुम्हें जीवन के मार्ग पर ले जा सकता है बशर्ते कि तुम्हारा कॉज़ सच्चा है, तुम्हारी इच्छा बलवती है।

प्रभाकर—(भावुकता में डूबा हुआ) कैसी विडम्बना है। आर्य्य साहित्य में सन्तोष की पुकार है और आज असन्तोष जीवन की शर्त है।

कान्त—लेकिन आर्य साहित्य में जो सन्तोष की पुकार है उसका अर्थ पैसिव होना नहीं है और फिर संकट काल में तो……।

(उनकी वृद्धा मां का घबराये हुये प्रवेश)

वृद्धा—अरे कान्त, अरे प्रभाकर! सुना है हमारी गली के पास एक बड़ी भीड़ लगी है उन्होंने पुलिस को घेर लिया है। तुम्हारे पिताजी वहीं हैं।

प्रभाकर—क्या वाहियात बात है? वे वहाँ क्यों गये?

कान्त—उन्हें लाना चाहिये।

प्रभाकर—मैं जाता हूँ।

कान्त
वृद्धा } (एक साथ)—देखकर जाना प्रभाकर। अरे संभल कर जाना भइया। बुढ़ापे में क्या बुद्धि भ्रष्ट हुई है उनकी! (प्रभाकर शीघ्रता से नीचे उतरता है। वृद्धा अन्दर जाती है। कान्त बैठा-बैठा गान्धी के फोटो को देखता है। पाँच मिनट बीतते हैं। अमला वहाँ आती है)।

कान्त—(चौंककर) आ गये। (फिर अमला को रोकता है) तुम! वे नहीं आये।

अमला—अभी नहीं आये। सुना, आज तो गोली चली है।

कान्त—(उठता है) चली होगी, परन्तु मुझे जाना ही पड़ेगा।

अमला—माता जी बड़ी घबरा रही हैं। आप भी जरा बचकर जाना।

कान्त—गोली हवा में नहीं उड़ती अमला! भारत में वे दिन दूर हैं। वे कहीं न कहीं बैठे होंगे। मैं देख आता हूँ।

अमला—फिर भी मरना आजकल सस्ता है। और तुमने सुना, आशा घायलों की सेवा के लिये नर्स बनने जा रही है।

कान्त—(रुक कर) आशा नर्स बनेगी! अच्छा ही तो है।

अमला—(मुस्करा कर) मैं भी बन जाऊँ?

कान्त—(जाते जाते) समय आने वाला है जब तुम्हें नर्स से ज्यादा बनने की जरूरत होगी अमला। मैं ज्यादा दिन बाहिर नहीं रह सकूँगा। (फिर शीघ्रता से

जाती है। अमला उसे देखती है। वृद्धा फिर घबराती हुई आती है। दोनों सास बहू बाहरी छज्जे पर जाकर खड़ी हो जाती हैं। दूर से कोलाहल की ध्वनि तेज़ होकर वहाँ फैल जाती है)।

चौथा सीन

काल वही। समय-सन्ध्या। स्थान--गली का भीतरी भाग।

(उसी गली का चौराहा। दुकानें बन्द हैं, सुनसान है। ऊँचे-ऊँचे मकान कब्र के पत्थरों की तरह उदास खड़े हैं। उसी समय बहुत से लोगों के साथ कान्त, प्रभाकर और उनके पिताजी वहाँ आते हैं। कमल भी है, वह तेजी से बोल रहा है)

कमल--यह सब जागृति के लक्षण हैं यह मैं मानता हूं परन्तु इन बातों से हमारा लाभ होगा यह मैं नहीं मानता। अगर एक जालिम दुश्मन देश की सीमा पर पड़ा है तो वह क्या इस अवसर से फायदा नहीं उठायेगा?

एक व्यक्ति--जापान हमारा नहीं, अंग्रेजों का दुश्मन है।

दूसरा व्यक्ति--वह बौद्ध है। भारत उसकी धर्मभूमि है।

तीसरा व्यक्ति--और जर्मनी आर्य हैं। वह आर्य संस्कृति का प्रहरी है।

प्रभाकर--(व्यङ्ग) आर्य ! कितना सुन्दर शब्द है। लेकिन जर्मनी के आर्यत्व की कहानियाँ स्वस्तिका पर खून से लिखी गई हैं। उसका आर्यत्व रक्त-पिपासा का दूसरा नाम है।

कान्त--और वह बौद्ध जापान अपने गुरु चीन पर जो जुल्म कर रहा है उसके सामने पौराणिक राक्षसों के कृत्य भी हेय हैं। उसने कोरिया की नारियों को नंगा करके पीटा है। उसने चीन की संस्कृति का नाश करने के लिये विश्वविद्यालय के निर्दोष बच्चों को बमों की आग में झुलसा दिया है।

(कई व्यक्ति 'शी ! शी !' कर उठते हैं)

एक व्यक्ति--प्रभु ईसा और भगवान बुद्ध के शिष्यों की ये कहानियाँ कितनी अद्भुत हैं ?

दूसरा व्यक्ति--लेकिन क्या प्रभु ईसा के इन दूसरे शिष्य अंग्रेजों ने हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति का नाश नहीं कर दिया है ? क्या इन्होंने हमारे धर्म, हमारे राष्ट्र हमारी आत्मा को कुचल नहीं डाला है।

कमल--तुम ठीक कहते हो। हमें अपने राष्ट्र, अपनी संस्कृति की रक्षा के लिये सबसे लड़ना होगा। उस लड़ाई के लिये हमें साधन ढूढ़ने होंगे।

दूसरा व्यक्ति--हम स्वयं साधन हैं। भारत हमारा है परन्तु जापान हमारा पड़ोसी है और जर्मनी आर्य।

कमल--तुम फिर बहके। जापान हमारे से ज्यादा चीन का पड़ोसी है। जर्मनी की तरह अंग्रेज भी आर्य हैं परन्तु उनकी शत्रुता कितनी गहरी है यह तुम जानते हो। फिर हम उनसे क्या आशा कर सकते हैं। वे सदा हमसे नफरत करते रहे हैं। वे हमें

गुलाम, कुत्ते और न जाने क्या-क्या कहते रहे हैं। हिटलर अपनी जाति के अलावा सबको मैल के समान समझता है। 'आर्य और पड़ोसी' यह सब शब्दों का माया-जाल है। विष को अमृत कह देने से उसका असर नहीं मिट सकता। आर्य संस्कृति स्वतन्त्रता की पोषक है लेकिन हिटलर आजाद देशों को गुलामी की जंजीरों में जकड़ता जा रहा है। उसकी स्वतन्त्रता की घोषणा दूसरों को परतन्त्र बनाने के लिये है।

कान्त—बेशक नाजी लोग जुल्मोसितम की तसवीर हैं। हम उन्हें कैसे चाह सकते हैं। हम अपनी हकूमत चाहते हैं।

एक व्यक्ति—और जापान हमारा राज्य अंग्रेजों से छीन कर अपने कब्जे में करना चाहता है। मानो हम जानवरों का गिरोह मात्र हैं जिसे कोई भी लाठी रखनेवाला हाँक कर ले जा सकता है।

तीसरा व्यक्ति—नहीं, नहीं। हम जापान के दाँत खट्टे कर देंगे।

चौथा व्यक्ति—हम अपने देश के हरएक दुश्मन से लड़ेंगे।

पाँचवा व्यक्ति—हम उन सबको कुचल देंगे, ऐसे कुचल देंगे जैसे बन्दर साँप के फन को कुचल देता है।

कमल—शाबाश साथियो! तुम में शक्ति है लेकिन क्या तुम जानते हो उन्हें कैसे छकाया जा सकता है। तुम्हारे पास क्या हवाई जहाज़, टैङ्क या तोपें हैं? क्या तुमने हथियारों की शक्ल देखी है?

प्रभाकर—तसवीर देखी है। (हँसी का कोलाहल)

कमल—यह वक्त हँसने का नहीं है।

प्रभाकर—कमल! आज मैंने हँसना सीखा है। हम हँसते-हँसते उनका मुकाबिला करेंगे।

एक स्वर (व्यंग)—जी हम उनका स्वागत करेंगे।

प्रभाकर (तेज होकर)—बेशक हम उनका स्वागत करेंगे लेकिन वह स्वागत उन्हें महँगा पड़ेगा। वे उसका बदला न चुका सकेंगे।

(सन्नाटा)

प्रभाकर—हम अपना सब कुछ उन्हें सौंप देंगे। उन्हें खाना खिलायेंगे, शराब भी पिलायेंगे परन्तु उस खाने में और उस शराब में वह जहर मिला देंगे जो उन्हें कभी उठने ही नहीं देगा।

एक स्वर—जरूर! जरूर!

प्रभाकर—हम कुओं में भी जहर मिला देंगे। अपने मकानों में आग लगाकर हम उनसे तंग गलियों में चूहे बिल्ली का खेल खेलेंगे। हम छिपकर आगे पीछे से हमला करेंगे। हम उनके यातायात के सारे साधन नष्ट कर देंगे।

पीछे से एक स्वर—और हम गाँव-गाँव में अपनी सेनायें बनायेंगे। उनके आने पर उनके दोस्त बनकर उनके सब भेद ले लेंगे।

दूसरा व्यक्ति—इसके लिये हमें जापानी भाषा सीखनी होगी।

तीसरा व्यक्ति—हम सीखेंगे।

चौथा व्यक्ति—बेशक हम चीन और रूस की तरह उनके सारे मन्सूबे मिट्टी में मिला देंगे और बता देंगे कि भारत मित्र-राष्ट्रों में किसी से कम नहीं है।

कान्त—मैं आपकी बात मानता हूँ। साधन में मत-भेद जरूर है परन्तु इन सब बातों के लिये देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की जरूरत है।

कमल—बेशक, राष्ट्रीय सरकार का होना जरूरी है परन्तु जब तक वह नहीं है हमें अपना मोर्चा ढीला नहीं करना है। जहाँ हमें राष्ट्रीय सरकार बनाने के साधन ढूँढ़ने हैं, फासिस्ट शक्ति का मुकाबिला करने के लिये अपने को मजबूत भी करना है और यह भी देखना है कि राष्ट्रीय सरकार बनाने के भुलावे में हम अपने आप को कमजोर तो नहीं कर रहे हैं।

कान्त—लेकिन राष्ट्रीय सरकार क्या आसानी से बन सकती है?

कमल—नहीं बन सकती यह मैं जानता हूँ तभी तो कहता हूँ कि हमें चारों ओर देखकर आगे बढ़ना है। जनता में स्वस्थ जागृति की जरूरत है। सबसे पहिले तो हमें देश में अशान्ति बन्द करके वह वातावरण पैदा करना होगा, जिससे सरकार हमारे नेताओं को छोड़ने पर विवश हो और फिर अपने देश के सब कलाकारों को प्रेरित करना होगा कि वे ऐसा साहित्य पैदा करें जो जनता में नये मूल्य, नयी दुनिया को समझने और निर्माण करने की सूझ और समझ पैदा करे, जो घृणा के स्थान पर उस शक्तिशाली और स्वस्थ प्रेम का आविर्भाव करे जो अपने देश, अपनी संस्कृति की रक्षा करता हुआ मानव मात्र के लिये एक व्यवस्था निर्माण करने में समर्थ हो। आखिर मानव की मूल समस्या एक होती है। आर आज हम अकेले कहाँ हैं। इस बर्बर युद्ध में एशिया, अमेरिका, अफ्रीका, यूरोप और आस्ट्रेलिया की सारी जनता हमारी तरह उलझी हुई है। हमें केवल यह सब जान लेना जरूरी है तब हम देखेंगे कितनी शक्ति हममें है और हम कितनी सफलता से अपने देश के दुश्मनों का मुकाबिला करते हैं।

एक स्वर—तुम ठीक कहते हो हम शक्तिशाली हैं।

दूसरा व्यक्ति—हम राष्ट्रीय सरकार बना कर छोड़ेंगे।

तीसरा व्यक्ति—हम अपने देश की रक्षा करेंगे।

चौथा व्यक्ति—हम हिन्दू मुसलमान एक होंगे।

(तभी एक मनचला पुकार उठता है)

एक स्वर—हिन्दू मुसलिम एकता की जय!

(फिर सब जोश में इस नारे को दुहराते हैं। उसी समय गली के मकानों में ऊपर की खिड़कियों से अनेक नारियाँ अचरज से उन्हें देखती हैं। डूबते सूरज का गहरा गुलाबी रंग उनके चेहरों पर चमकता है। कान्त के मकान के छज्जे पर भी उसकी माँ और पत्नी अमला खड़ी है। अमला के पास उसका बच्चा भी है जो जय की आवाज सुन कर मुस्कराता है और हाथ ऊँचा करके पुकारता है 'जय बूढ़े बाबा की जय!' अमला गर्व से मुसकराती है। वृद्धा हँसती है।)

— समाप्त —

कोयले

[केदारनाथ अग्रवाल]

जल उठे हैं तन बदन से,
क्रोध में शिव के नयन से।
खा गये निशि का अंधेरा,
हो गया खूनी सवेरा।
जग उठे मुरदे बेचारे;
बन गये जीवित अँगारे।
रो रहे थे मुँह छिपाये;
आज खूनी रंग लाये।

धरती

[केदारनाथ अग्रवाल]

यह धरती है उस किसान की,
जो बैलों के कन्धों पर
बरसात-घाम में,
जुआ भाग्य का रख देता है,
खून चाटती हुई वायु में।
पैनी कुसी खेत के भीतर,
दूर कलेजे तक ले जाकर,
जोत डालता है मिट्टी को,
पास डाल कर,
और बीज फिर बो देता है,
नये वर्ष में नई फसल के।
ढेर अन्न का लग जाता है।
यह धरती है उस किसान की।
नहीं राम की,
नहीं कृष्ण की,
नहीं भीम, सहदेव, नकुल की;

नहीं पार्थ की,
नहीं राव की, नहीं रंक की,
नहीं तेग तलवार धर्म की,
नहीं किसीकी, नहीं किसीकी;
धरती है केवल किसान की।
सूर्योदय सूर्यास्त असंख्यों
सोना ही सोना बरसा कर,
मोल नहीं ले पाये इसको।
भीषण बादल
आसमान में गरज गरज कर,
धरती को न कभी हर पाये।
प्रलय सिंधु में डूब डूबकर
उभर उभर आई है ऊपर।
भूचालों भूकम्पों से जो मिट
न सकी है।
यह धरती है उस किसान की,
जो मिट्टी का पूर्ण पारखी,
जो मिट्टी के संग साथ ही,
तप कर,
गलकर,
जीकर,
मरकर,
खपा रहा है जीवन अपना,
देख रहा है मिट्टी में सोने
का सपना।
मिट्टी की महिमा गाता है,
मिट्टी के ही अंतस्तल में,
अपने तन की खाद मिलाकर,
मिट्टी को जीवित रखता है,
खुद जीता है,
यह धरती है उस किसान की।

समुद्र के किनारे

[अशोक]

सागर लंबी साँसें भरता है,
सिर धुनती है लहर-लहर।
बूँदी बादर में एक वही स्वर,
गूँज रहा है हहर-हहर।
सागर की छाती से उठकर,
यह टकराती है कहाँ लहर!
जिस ठौर हृदय में जलती है,
वह याद तुम्हारी आठ पहर।
बस एक नखत ही चमक रहा है,
अब भी काली लहरों पर,
जिसको न अभी तक ढक पाये हैं,
सावन के बूँदी बादर।
यह जीवन यदि अपना होता,
यदि वश होता अपने ऊपर,
यह दुखी हृदय भी भर आता,
भूले दुख से जैसे सागर।
वह डूब गया चंचल तारा,
जो चमक रहा था लहरों पर।
सावन के बूँदी बादर में,
अब एक वही स्वर हहर-हहर।
सागर की छाती से उठकर
यह टकराती है कहाँ लहर।
जिस ठौर नखत वह बुझकर भी,
जलता रहता है आठ पहर।
सागर लंबी साँसे भरता है,
सिर धुनती है लहर-लहर।
पर आगे बढ़ता है मानव,
अपनेपन से ऊपर उठकर।
आगे सागर का जल अथाह,
ऊपर हैं नीर भरे बादर,
बढ़ता है फिर भी जन-समूह,
[illegible]

बैठा है कौन किनारे पर?
यह गरज रहा है जन-सागर।
पीछे हटकर सिर धुनकर भी,
आगे बढ़ती है लहर-लहर।
दुख के इस हहर-हहर में भी,
ऊँचा उठता है जय का स्वर।
सीमा के बंधन तोड़ रही है,
सागर की प्रत्येक लहर।

पराधीन फ्रांस की एक कविता

हिटलर ने सोचा कि संसार में शांति स्थापित करनी चाहिये, जिससे मानवमात्र का कल्याण हो। इसलिये उसने ब्लित्सक्रीग लड़ाई आरंभ कर दी।

शहर और देहात के रहने वालों का खून बहाकर उसने नया संसार बसाना शुरू कर दिया।

लड़ाई को जल्दी खत्म हो जाना चाहिये क्योंकि इटली उसके साथ है और इटालियन अपनी वीरता के लिये सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। मुसोलिनी को धन्यवाद है! लड़ाई जल्दी खत्म हो जायगी।

मौत, बरबादी और लूट के साथ उसने यूरुप जीत लिया। बाक़ी रह गया ग्रीस। जर्मन लोगों को मक्खन की जगह ग्रीस मिला।

अब रह गये केवल अंग्रेज़। इसलिये डंकिर्क और कैले से उसने कई बार चैनेल पार करने की कोशिश की लेकिन अंग्रेज़ स्वागत के लिये तैयार न थे।

फिर भी संतोष न हुआ तो रूस पर चढ़ दौड़ा और जल्दी चलकर रूसी भालू को पछाड़ दिया जाय, इसलिये ब्लित्सक्रीग की गति से चलना ज्यादा अच्छा समझा।

लेकिन बर्फ़ पड़ने से मैदान चौरस हो गया और रास्ते में बहुत से मारे गये, क्योंकि अब हार हार कर आगे बढ़ना था। अब इस अवतारी पुरुष को फिर कभी अपनी शक्ति दिखानी पड़ेगी।

इस गीत को समाप्त करते हुए हम लोग मिल कर कहें—"आओ, देश के बच्चो, आओ। अत्याचारी की गर्दन तोड़ दो जिससे हम संतोष के साथ कह सकें, अब वह बहुत दिनों तक साँस लेने लायक़ न हो सकेगा।"

एक अवधी गीत

[चन्द्र भूषण]

ख्यात ई रन ख्यात हइहैं।
सुर्ज जिनमाँ सोनु नावत,
चन्द्र है चाँदी गिरावत।
देत रोजु अकास मोती,
कैस महिमावान हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई ॥ १ ॥

है तपनि बरखा बुझावत,
जाड़ु हरियर बसन लावत।
देत नीक बसंत गहना,
बनत रूप निधान हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई ॥ २ ॥

देत जुगुनू दीप बाती,
बिरिछ भ्याँटत फूल पाती।
मेघ अमरित धार नावत,
अमर सुरन समान हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई ॥ ३ ॥

देखि कामु कमालु इनका,
त्याग तप का हालु इनका।
देत अँजुरिन जल हिमालय,
पितर पूज्य पुरान हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई ॥ ४ ॥

पैसरमु पुरिखा उठाइनि,
जोति कै रचि रचि बनाइनि।
निज पसीना डारि सींचेनि,
वंश के बरदान हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई ॥ ५ ॥

यादि पुरिखन कै भरी है,
धूरि चरनन कै परी है।
सोइ हमका गंग बारू,
तिरथ पुण्य महान् हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई ॥ ६ ॥

फारु लोहा के छुवाये,
देत हैं सोना लुटाये।
लच्छिमी घरमाँ भरत,
पाषान - पारस - खानि हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई॥ ७॥

बंधु - पालन हार हैं ई,
भागिकेर लिलार हैं ई।
ईश तन हरदम उठे बीस,
मातु कोंछु समान हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई॥ ८॥

प्वात मलिकन का निकारैं,
येई डाँड़ बियाजु पारैं।
उरिन यौहरत ते करैं,
बिपदाम ढाल समान हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई॥ ९॥

कोउ विदेसी निकट आई,
टेढ़ि नजरिन हकु जनाई।
तौ गदोरी पर धरे बसि,
देखि लीन्ह्यो प्रान है ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई॥ १०॥

सब जने कायर बनावत,
बहुतु भारी भय जतावत।
आ रहे हैं ख्यात रउँदै,
जर्मनी जापान हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई॥ ११॥

हम कहित उइ पंच अइहैं,
ख्यात ई रन ख्यात हइहैं।
तिलु तलक यह भुइँ न जाई,
जब तलक तन प्रान रहिहैं।
यहु नहीं जानत जापानी,
हिंद केरि किसान हैं ई।
ख्यात प्रान समान हैं ई॥ १२॥

———

अलाव (उर्दू कहानी संग्रह) ले०—सुहेल अज़ीमाबादी । प्रकाशक मकतबा उर्दू, लाहौर । मू० १॥)

गेट अप अच्छा है पर जगह-जगह छापे की अशुद्धियाँ हैं ।

संग्रह में सोलह कहानियाँ हैं । कहानियों के विषय-चयन में बहुत विविधता है और उससे पता चलता है कि कहानीकार अपनी कला में निपुण है, उसमें एक सच्चे कहानीकार की सूझ है जो राह चलते कहानियों की रचना करती चलती है । संवेदनशील कहानीकार को अपने चारों ओर कहानी की सामग्री बिखरी मिलती है; सच्चे कहानीकार की योग्यता इस बात में होती है कि उस सामग्री को वह अपने मानसिक जगत् के अनुरूप ढाल सके और अपने सजीव इतिहास-ज्ञान की छाप उस पर छोड़ सके । 'सुहेल' ऐसा करने में काफ़ी सफल हुए हैं और कहानी कला तथा कथा-वस्तु दोनों की दृष्टि से ये कहानियाँ सफल हुई हैं । कहानियों में अनावश्यक विस्तार नहीं आने पाया है और उन्हें सरस तथा मार्मिक बनाने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे सभी संग्रह की अधिकांश कहानियों में पाये जाते हैं । प्रायः सभी कहानियों का आदि और अन्त मर्म पर चोट करने वाला है, और मुख्यतः अन्त ।

टूटा तारा, बेदाग़, जवानी, भूख, अँधेरे और उजाले में—इन कहानियों में प्रेम की समस्या को एक नये दृष्टिकोण से पेश किया गया है । ऐसा लगता है कि 'टूटा तारा' और 'जवानी' में लेखक उन तरुण-तरुणियों पर विद्रूप बाण छोड़ता है जो प्रणयी को वचन देने में आवश्यकता से अधिक उदार होते हैं और उसे निभाने में आवश्यकता से अधिक कृपण । ऐसे भी प्राणियों के लिए लेखक के मन में विशेष दया नहीं है, थोड़ी-सी सहानुभूति चाहे हो । ऐसे व्यक्तियों को प्रेम का सौदा न करना चाहिए. प्रेम की सौदागरी उनके किये नहीं हो सकती । 'टूटा तारा' में स्त्री ने पुरुष को धोखा दिया है और 'जवानी' में पुरुष ने स्त्री को । दोनों कहानियों का कलेवर थोड़ी-सी कठोर मुस्कान का पुट लिए हुए है, लेकिन उससे कहानी का समीक्षा-तत्व और प्रखर हो गया है । दोनों कहानियां एक ही तसवीर के दो पहलुओं-सी जान पड़ती हैं । अब तक अजर- अमर प्रेम के बहुत राग अलापे गये हैं और आज भी अलापे जाते हैं, शायद आगे भी अलापे जायँ लेकिन इन कहानियों में जरा मरण से पीड़ित जिस यथार्थ-प्रेम का चित्रण किया गया है, उसकी रूपरेखा इन प्रेम के तरानों के बावजूद धूमिल नहीं पड़ती । इन कहानियों की वास्तविकता प्रेम को अमरता के सिंहासन से ढकेल देती है, और अधिकांश पाठक इससे सहमत भी हों तो आश्चर्य नहीं । प्रेम की इन सभी कहानियों में मज़ाक़ का थोड़ा-बहुत पुट है, गोकि

इस मज़ाक़ में कठोरता (cynicism) भी कम नहीं है। 'टूटा तारा' में एक प्रेमी इसलिए सिर धुनता दिखाई पड़ता है कि उसकी प्रेमिका ने दूसरे से विवाह कर लिया और भेंट होने पर आहें भरना और अपने पुराने प्रेमी का हालचाल पूछना तो दूर, वह सुग्गी की तरह अपने पति का ही गुण-गान करती रही। बेचारा प्रेमी! 'जवानी' में नायक महोदय एक लड़की से प्रेम करते हैं। लेकिन दिल्लगी तो यह है कि बावजूद उनके प्रेम और वादों के उनका विवाह एक दूसरी लड़की से हो जाता है। यह हुई पहली हार। फिर नायक महोदय इस बदली हुई परिस्थिति में संकल्प करते हैं कि वे अपनी पत्नी से प्रेम न करेंगे और इतना ही नहीं उसे बतला भी देंगे कि वे उससे प्रेम नहीं करते, किसी और से प्रेम करते हैं। लेकिन पत्नी से भेंट मुलाकात होने पर वे कुछ का कुछ कह जाते हैं--तुम मेरी हो, मैं तुम्हारा हूँ, मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, वगैरह-वगैरह इसी धुन की बहुत-सी बातें!

'बेचारा' में हमारा नायक एक मजदूर है जो कलकत्ता कमाने आया है। नल पर पानी भरते किसी औरत को देखकर उसका दिल मचल उठता है, उसे पत्नी की याद सताने लगती है। लेकिन वह गुलाम है, मजदूरी करता है, कोई हँसी-ठट्ठा तो है नहीं कि जब मन आया चल दिये। जा नहीं पाता और उसी नल पर पानी भरने वाली सुंदरी को दिल में बसा लेता है और उस पर काबू पाने के लिए गंडे-तावीज़ की जुगत करने लगता है। इस कहानी का ही एक नायक है जिससे हमदर्दी होती है क्योंकि उसकी मजबूरी सच्ची मजबूरी है, क्योंकि वह सचमुच बेबस है, क्योंकि वह एक ऐसे वर्ग का प्रतिनिधि है जो आज तक बेबस रहा है, एकदम बेबस और साधनहीन, जिसका सोना-जागना, उठना-बैठना, हँसना-बोलना, प्रेम करना कुछ अपने बस का नहीं। इसीलिए इस कहानी में एक छोटी-मोटी ट्रैजेडी का जो गुण है, वह संग्रह की संभवतः किसी कहानी में इतना उभर कर नहीं आया है। कहानी में सिर्फ एक कमी अखरती है, और वह एक बहुत बड़ी कमी है। यह एक 'बेचारे' की कहानी है, ठीक। पर लेखक जब आज दिन लिखने बैठा है तो उसे बतलाना ही चाहिये था कि वह मज़दूर अब और इतना बेबस और 'बेचारा' न रहने का संकल्प कर चुका है। अब वह अपनी शक्ति स्थापित करने के लिए किस तरह आगे बढ़ रहा है, उसका भी कुछ संकेत पाठक को मिलना चाहिये था।

'भूख' का घटना चक्र सचमुच हास्यरसात्मक है। एक भूख से परीशान आदमी एक हलवाई की दूकान में चोरी करने जाता है। वहाँ उसे मिठाई थालों के साथ-साथ यौनबुभुक्षा से प्रपीड़ित हलवाई-पत्नी मिलती है, जो उसे अपना प्रणयी समझ बैठती है और उसे बार-बार मिठाई के थालों से हटाने की कोशिश करती है। लेकिन हमारे इस पट्ठे को उस नारी से कुछ नहीं लेना-देना : वह तो मिठाई के थालों पर हाथ साफ़ किये जा रहा है। और अच्छी तरह खा चुकने पर दूकान से निकलकर भाग जाता है। उसकी भूख तो मिट जाती है लेकिन बेचारी हलवाई-पत्नी भूखी की भूखी रह जाती है। अपनी भूख के मारे हमारे नायक को अवकाश नहीं है कि वह दूसरे की भूख से उलझे-सुलझे।

ज्वार-भाटा, शराबी, चार आने उच्चकोटि की मनोवैज्ञानिक कहानियाँ हैं। 'शराबी' का मनोविश्लेषण, अपनी लत के प्रति उसकी बेबसी का चित्रण तो अपूर्व है।

'पेट की आग' और 'वह रात' में बेकारों की फ़ौज के दो सिपाहियों का चित्रण है। इनमें से एक, क्योंकि वह निम्नस्तर का है, राहज़नी का पेशा अख़्तियार करता है और दूसरा चूँकि वह मध्यवर्ग का है, पढ़ा-लिखा है, अपनी पुरानी हालत में पड़ा-पड़ा सुलगा करता है। बड़े-बड़े शहरों में कितने शिक्षित बेकार युवक ऐसे न मिलेंगे जो सड़कों और पार्क की बेंचों पर रातें गुज़ारते हैं क्योंकि कमरे का किराया देने के लिए उनके पास पैसा नहीं और बग़ैर किराया दिए साहूकार का ताला कमरे पर से हट नहीं सकता।

'अलाव' में किसान ज़मींदार संघर्ष का अच्छा चित्रण है। 'सुहेल' इसके लिए विशेष योग्य भी हैं क्योंकि वे ऐसे प्रान्त (बिहार) के लेखक हैं जहाँ किसानों ने सबसे ज्यादा खूनी लड़ाइयाँ ज़मींदारों के ख़िलाफ़ लड़ी हैं।

पूँजीवादी समाज में बड़े और छोटे के बीच कैसा अमाप अन्तर होता है, इसका परिचय हमें 'बख़ैर तमाम' कहानी से मिलता है:—अख़बार में छपता है कि वायसराय महोदय 'सकुशल' पहुँच गये। उसमें कहीं उस बुड्ढे का ज़िक्र तक नहीं होता जो उनकी गाड़ी के नीचे आ गया था। आज की आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में आदमी आदमी नहीं, कीड़ा-मकोड़ा हो जाता है। ग़रीब आदमी का अस्तित्व कीड़े-मकोड़े के अस्तित्व से ज्यादा महत्व नहीं रखता। यही हमारे समाज का आधारभूत नियम है। अपने विश्व-साम्राज्य की महत्वाकांक्षा के नीचे करोड़ों अबोध नरनारियों को पीसने वाले हिटलर और तोजो इसी नियम की चरम अभिव्यक्ति हैं। फ़ासिस्त व्यवस्था में साधनहीन व्यक्ति कीड़े-मकोड़े से ज्यादा महत्व किसी तरह नहीं रखता। कीड़े मकोड़े ही की तरह वह घर पर जीता है और कीड़े मकोड़े ही की तरह मैदान में मरता है जिसमें जर्मन और जापानी साम्राज्यलोभियों का स्वार्थ सधे। आज के विश्वव्यापी युद्ध में इसी बात का निपटारा हो रहा है कि सामान्य व्यक्ति अपने सहज गौरव के शिखर पर चढ़ेगा या सदा कीड़ा-मकोड़ा ही बना रहेगा। जर्मन और जापानी फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ होने वाला जनता का विश्वव्यापी मुक्ति-युद्ध ही वह विश्वक्रान्ति है जो तब तक न थमेगी जब तक विश्व की साधनहीन जनता के हाथ में राजनैतिक शक्ति नहीं आ जाती और उस शोषक व्यवस्था का अन्त नहीं हो जाता जिसके अन्दर यह बात निहित है कि एक व्यक्ति दास हो दूसरा प्रभु, एक जाति दास हो और दूसरी प्रभु, एक व्यक्ति कीड़ा-मकोड़ा हो और दूसरा इन्द्र या अन्य कोई देवपुरुष।

'सुहेल' की क़लम में ज़ोर है, उनकी भाषा में प्रेमचंद के ढंग की-सी सादगी है, उनमें पात्रों की परख है, उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में वे सिद्धहस्त हैं;

उनका इतिहास-ज्ञान प्रौढ़ है और वे इतिहास की प्रेरक-शक्तियों को पहचानते हैं ; कहानी की कथा वस्तु को जहां-तहां से उठाकर एक सुंदर कहानी का रूप देना उन्हें खूब आता है ; समाज के विभिन्न अंगों, किसान, मजदूर, निम्न मध्यमवर्गीय और प्रायः सभी से उनका घनिष्ठ परिचय है। आज जब कि ये सब अपने-अपने स्वत्वों, अपने-अपने अधिकारों के लिए जापानी लुटेरों से लड़ने के लिए तैयार हो रहे हैं, जंग का फ़ौजी साज कर रहे हैं, क्या हम आशा करें कि 'सुहेल' अपने वर्ग-चेतन साँवल, फागू और बुलाकी ;आदि को नये रूप में ढालेंगे जिसमें वे आज की बदली हुई ऐतिहासिक परिस्थिति में भी खरे उतरें ? आज के साँवल और फागू ज़मींदार से लड़ने में ही अपना वक्त नहीं गँवाते, सारी रुकावटों के बावजूद अपने देशवासियों की भूख का निवारण करने के लिए उपज बढ़ाते हैं क्योंकि कलकत्ता और चटगांव में उनके भाई भूख के मारे सड़कों पर मर रहे हैं। आज का बुलाकी मजदूर यूनियन में इसलिए नहीं आता कि हड़ताल कामयाबी से कराई जा सके, बल्कि इसलिए कि उत्पादन बढ़ाया जा सके। अपने देशवासियों का, बहनों, माओं का तन ढाँपा जा सके और फौज के लिए ज़्यादा माल तैयार किया जा सके जिसमें जापानियों से हमारे देश की रक्षा हो।

हमें पूरा विश्वास है कि आज की परिस्थितियों का जवाब देने वाले चित्र भी हमें इस योग्य कहानी लेखक की क़लम से मिलेंगे।

मास्को [कविता-संग्रह]—लेखक श्री रमण, प्रकाशक ईभायण, नयाटोला, मुजफ्फरपुर, बिहार; मूल्य १)

कवि ने अपनी कविताओं को 'प्रगतिशील' विशेषण से विभूषित किया है। पर 'कपोत' शीर्षक कविता को छोड़कर जिसमें काफी अच्छी संवेदनशीलता का परिचय मिलता है, सभी कविताएँ पाठक की सुरुचि पर आघात करती हैं और साहित्य के किसी भी मानदंड से उन्हें पतनशील ही कहा जा सकता है। हिन्दी में ऐसी कवि-ताएँ प्रकाशित होते देखकर माथा शर्म से झुक जाता है। इस गंदगी को अगर कवि ने अपने तक ही सीमित रक्खा होता तो हिन्दी के पाठक उनका कितना उपकार मानते:—

—कि जिसकी छातियाँ हैं, अभी उठती उभरती वह कच्ची नासपातियाँ है !

और

पाते ही पाते उभार
जिनकी छातियाँ—
बन गईं वैशाख की जुआई ढली ककड़ियाँ
कठोरता तो दूर
दबाने पर सट जाती हैं—एकदम पोर दोनों उँगलियों की !

ऐसी कुत्सित कविता का बहिष्कार होना चाहिए जिससे हिन्दी साहित्य में अब फैलनेवाली इस 'प्रगतिशील' प्रवृत्ति का निर्मम प्रतिकार किया जा सके। जन जीवन को अवरुद्ध करनेवाली समस्याओं का चित्रण करना ही सच्चे प्रगतिशील साहित्य का मूल सिद्धान्त हो सकता है। आज तो उन्होंने हमें और भी आक्रान्त कर रखा है पर इस 'प्रगतिशील' कवि को उनका पता तक नहीं। उनके लिए अकाल, आसन्न जापानी आक्रमण, देश के नेताओं का कारावास और सहस्रों समस्याओं से बड़ी समस्या 'कच्ची नासपातियों' और 'हेडॉनिस्ट नारी' की है।

इस संग्रह में जैसी कविताएँ आई हैं, उनसे किसी भी साहित्य का अहित ही होगा। कवि यदि और शालीनता से काम ले तो सबका बड़ा उपकार हो।

—अमृतराय

सम्पादकीय टिप्पणी

ढाका के प्रगतिशील लेखक की हत्या

२५ जुलाई १९४३ को ढाका के प्रगतिशील लेखक रणेशदास गुप्त की हत्या जापानी दलालों की छुरी से हुई। पारसाल इसी ढाका में दूसरे प्रगतिशील लेखक सोमेनचंद की हत्या इसी प्रकार हुई थी।

इन वीरात्माओं पर जापानी दलालों ने प्रहार इसलिए किया कि ये अपनी संस्कृति को जापानी फ़ासिज़्म से बचाने के लिए अपने देशवासियों को उद्बुद्ध और प्रोत्साहित कर रहे थे। इन वीर तरुण लेखकों ने इतिहास पढ़ा था और फ़ासिज़्म का मर्म समझा था।

चीन और कोरिया की कला और संस्कृति का जो संगठित विनाश जापानी फ़ासिज़्म ने किया था, उसे भी उन्होंने देखा था। उसे देखकर उनकी आँखों में खून उतर आना स्वाभाविक था और अब वही जापानी फ़ासिज़्म उनकी अपनी भाषा और संस्कृति पर अपनी क्रूर आँखें गड़ाये हुए था। वे साहित्यिक थे, देश की सबसे अच्छी साहित्यिक सुधाओं का उन्होंने पान किया था, उसी ने उन्हें शक्ति भी दी थी।

अब उनके परम प्रिय चित्र, गीत, नृत्य, पर्व, उनका स्थापत्य, उनकी भाषा को लोहू से सनी मिट्टी में रौंदने के लिए जापानी आततायी दीख पड़ने लगे थे। स्वभावतः उन्होंने इन नये दुश्मनों से अपने देशवासियों को सचेत किया। जापानी दलालों और टुकड़ाखोरों ने जब क्षुब्ध जनता से तोड़फोड़ करवाना शुरू किया तो इन वीरों ने अपने शरीर की दीवाल बनाकर जनता को जापानी दलालों के हत्यारे पंजे से बचाया। उन्हें इसकी क़ीमत चुकानी पड़ी, वही जो हर शहीद को चुकानी पड़ती है।

हम हिन्दी के प्रगतिशील लेखक इस बात की शपथ लेते हैं कि हम उनके काम को आगे बढ़ायेंगे, जापानी फ़ासिज़्म से लड़ने के लिए जनता को उद्बुद्ध करेंगे, अपने देश की रक्षा के साधनों को अपनी लेखनी के जोर से मजबूत करेंगे, देश की रक्षा के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करेंगे, अपनी लेखनी की संगीन से जापानी दलालों के चेहरों पर से देशभक्ति का नक़ाब उघाड़ फेकेंगे ताकि जनता का अनल रोष उन्हें जलाकर क्षार कर दे।

सोमेन और रणेश, हम तुम्हारे पग चिह्नों पर निर्भीक होकर चलेंगे, और प्राणों की आहुति देने में भी कृपणता नहीं करेंगे।

निर्मलजी का आरोप

'हिन्दी साहित्य के महारथियों का अपमान क्यों?' शीर्षक से श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल का एक लेख हाल के 'देशदूत' में छपा है। इसमें ऐसा कोई विशेष तर्क नहीं पेश किया गया है।

साहित्य सम्मेलन के प्रस्तावों में जो चीज़ मुझे अखरी थी वह थी देश की बड़ी से बड़ी समस्याओं के प्रति उपेक्षा का भाव। माना कि साहित्य सम्मेलन राजनीतिक संस्था नहीं है। लेकिन देश की रक्षा, भाषा की रक्षा, संस्कृति की रक्षा क्या एक राजनीतिक प्रश्न ही है? क्या वह एक सांस्कृतिक प्रश्न भी नहीं है? क्या राजनीति और संस्कृति परस्पर विरोधी हैं कि उनका नाम साथ साथ नहीं लिया जा सकता! क्या यह लेखक का कर्तव्य नहीं है कि वह अपने जीने के अधिकार, लिखने की स्वाधीनता, विचार की स्वाधीनता के लिए लड़े? क्या यह लेखक का कर्तव्य नहीं है कि वह अपनी सांस्कृतिक-साहित्यिक-कलात्मक निधियों को बचाने के लिए संघर्ष करे? उसे अपनी कला और साहित्य की परंपरा को सभी आक्रमणकारियों से बचाना है और बचाते हुए सबल तथा पुष्ट बनाते जाना है। माना कि भारतीय नागरिक होने के नाते अगर वह अपने देश के लिए प्राण होम करना चाहता है, तो उसकी जगह कांग्रेस-लीग-कम्यूनिस्ट पार्टी में है। लेकिन क्या लेखक के नाते उसकी जिम्मेदारियाँ अपने सूर-तुलसी-प्रसाद-प्रेमचन्द के प्रति नहीं हैं। वह अपनी उन जिम्मेदारियों से कैसे मुक्त हो सकता है जो लेखक होने के नाते उस पर आयद होती हैं? सूर और तुलसी की रक्षा करना सबसे पहले उसका कर्तव्य है फिर और किसी का, इसीलिए कि वह साहित्यिक है और उसने सूर और तुलसी से सीखा है। सभ्यता और संस्कृति के सबसे भीषण दुश्मनों के खिलाफ़ होनेवाले इस लोक युद्ध में जनता के विभिन्न अंग अपनी-अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं--मजदूर, किसान, कलाकार, विचारक, विद्यार्थी, धर्मानुरागी ये सब अलग अलग अपनी-अपनी स्वाधीनता, अपने-अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे हैं, लेकिन इन्हीं के संघर्ष की समष्टि को देश-रक्षा का युद्ध कहते हैं। इस युद्ध में सब अपनी सब प्रिय वस्तु को फ़ासिस्त लुटेरों से बचाने के लिए लड़ रहे हैं। इन 'प्रिय वस्तुओं' की समष्टि का नाम ही देश की स्वाधीनता है। इसीलिए कलाकार और साहित्यिक को भी अपनी स्वाधीनता बचाने के लिए देश का सिपाही बनना है। 'यह तो राजनीति है' की ओट में वह नहीं छुप सकता। अगर छुपता है तो वह न सिर्फ देश के प्रति बल्कि अपनी साहित्यिक परंपरा के प्रति मिथ्याचरण करता है। अपने सूर और तुलसी को जापानी हूणों से—सभी आक्रमणकारियों से—बचाना उसका राजनीतिक कर्तव्य नहीं, साहित्यिक कर्तव्य है। अपनी इन निधियों की रक्षा स्वयं उसे करनी होगी; इसका उत्तरदायित्व वह दूसरे पर नहीं लाद सकता। अगर लादता है तो वह अपने कर्तव्य से मुँह चुराता है। राष्ट्र 'कल्पना की चीज़ नहीं है। वह व्यक्तियों का-समूह है। व्यक्ति राष्ट्र के लिए क्यों लड़ता है? इसलिए कि राष्ट्र के उत्थान-पतन के साथ उसका उत्थान-पतन लगा हुआ है, 'राष्ट्र' शब्द के अंतर्गत स्वयं उसके निजी हित भी शामिल हैं। लेखक भी ऐसा ही एक व्यक्ति है। उसके हित—विचार-स्वातंत्र्य, भाषण-स्वातंत्र्य आदि—भी राष्ट्र के हित में निहित हैं। राष्ट्र के ऊपर आनेवाला संकट इसी अर्थ में स्वयं उसके लेखन, उसकी भाषा और संस्कृति के ऊपर भी है। इसीलिए जब राष्ट्र के ऊपर संकट आता है, तो लेखक अपना रास्ता

हंस

वर्ष : १३ जुलाई १९४३ अंक : १०

अमेरिकन सर्वहारावर्गीय साहित्य

[जोज़ेफ़ फ़्रीमैन]

[इस लेख का पूर्वांश जून के अंक में छप चुका है। इसके नाम से घबराने की कोई ज़रूरत नहीं है। हिन्दी प्रगतिशील साहित्य के बारे में आज जो भ्रामक बातें फैलाई जा रही हैं, उन्हीं से बिलकुल मिलती-जुलती बातें प्रगतिशील अमरीकन साहित्य के बारे में भी फैलाई गई थीं। उन बातों का ज़ोरदार उत्तर इस लेख में है। इसीलिए इसके ज़रिये हम पाठकों के सामने उन सभी आरोपों का उत्तर पेश करना चाहते हैं जो प्रतिक्रियावादी प्रगतिशील हिन्दी साहित्य के ऊपर लगाते हैं।—संपादक]

राजनीतिक प्रस्तावों को (जिन्हें हम मूल में ही पढ़ना ज्यादा पसंद करते हैं) उलट-पुलट और बिगाड़ कर कृत्रिम अनुभूतियों का ढोंग करने की अपेक्षा अपने वास्तविक तजुर्बों, अपनी शंकाओं और आन्तरिक संघर्षों और उन वाह्य परिस्थितियों का जिनके कारण वह (लेखक) क्रान्तिकारी आन्दोलन में आया, ईमानदारी से चित्रण करना ही ज्यादा ठीक है। पर उस बुद्धिजीवी को जो भावना में तो सर्वहारावर्ग से सहानुभूति करता है लेकिन ठोस असलियत में एक बूर्ज्वा व्यक्ति की ज़िंदगी बसर करता है, मजबूरन उड़ान का सहारा लेना पड़ेगा। ऐसा कवि सिर्फ अपने बूर्ज्वा अनुभवों के बारे में लिख सकता है; मार्क्सवादी विज्ञान को कला में अनूदित करने की कोशिश करते समय उसकी सच्ची अनुभूतियों पर ज़रूर जब्र होगा। स्वयं अपने संघर्षों का ईमानदारी से चित्रण करके ही बुद्धिजीवी क्रान्तिकारी कला की रचना कर सकता है। अपनी ज़िन्दगी को रूपान्तरित करने के बाद ही, जब कि उसके तजुर्बे हरावल सर्वहारा वर्ग के तजुर्बे हो जाते हैं, वह सर्वहारावर्गीय कला की रचना करना शुरू करता है।

कला तजुर्बे के साथ बदलती है, इसकी प्रेरक शक्तियाँ तजुर्बे के साथ बदलती हैं। आज अधिकांश मानव-समाज के तजुर्बे ऐसे हैं कि दूसरे युगों के व्यक्तिगत विषयों की अपेक्षा सामाजिक और राजनीतिक विषय ज्यादा रोचक, ज्यादा महत्वपूर्ण, ज्यादा 'औसत' हैं। आज सामाजिक विषय लोगों के सामान्य तजुर्बों से मेल खाते हैं और लोग उन उग्र और बुनियादी परिवर्तनों की ओर तीक्ष्ण रूप में सचेतन हैं, जिनके बीच से वे गुज़र रहे हैं, जिनका आनयन वे कर रहे हैं, कमकर और कमकर वर्ग से सहानुभूति रखने वाले बुद्धिजीवी—जो खुद भी सामान्य सामा-

जिक-आर्थिक संकट के शिकार हैं—बुलबुलों, मध्यवर्गीय की अचेतन भावनाओं या ग्रिनिज गाँव के प्रेम की अपेक्षा क्यों बेकारी, हड़तालों, युद्ध और फासिज्म के खिलाफ संघर्ष, क्रांति और क्रांति-विरोधी षड्यंत्र में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं, यह जानने के लिए ज्यादा कल्पना की ज़रूरत नहीं।

जब रचनात्मक साहित्यकार अपनी मेज़ पर बैठता है और अपनी कविताएँ या उपन्यास या नाटक लिखता है उस वक्त उसे यह भ्रम हो सकता है कि वह अपनी कृति लिखने के लिए ही लिख रहा है। लेकिन उसके पूर्वकालीन जीवन, उसकी वर्ग-शिक्षा, पहले से जमे हुए उसके विश्वासों और तजुर्बों के बग़ैर उस पुस्तक की रचना असंभव होगी। यूनानी कहते थे स्मृति, कलाओं की जननी है। और स्मृति, अनुभव और सामान्य निराकार विचार पर नहीं बल्कि एक विशेष सामाजिक संघटन में होनेवाले हमारे कर्म, शिक्षा और ज्ञान पर जीती है। कवि का अनुभव बदलने के साथ साथ उसकी कविता बदलती है। क्रान्तिकारी वर्ड्सवर्थ, कोलरिज और सदे उम्र तथा शासकों के हाथ तरक्की पाने के साथ-साथ प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं; गेत्सथ* का गेटे वाइमार† का गेटे हो जाता है; 'हिप्पोपोटामस' का टी. एस. इलियट ऐश वेंसडे का टी. एस. इलियट हो जाता है; 'बैबिट' का लुइस, 'वर्क आफ़ आर्ट' का लुइस हो जाता है; 'हेअरी एप' का ओनील 'डेज़ विदाउट एण्ड' का ओनील हो जाता है।

मानव-सम्बन्धों में और कला में व्यक्तित्व को आज़ादी से फैलने देना स्वतः कोई बुरी चीज़ नहीं है। सामाजिक जन-क्रान्ति का उद्देश्य है कि दूसरी भौतिक चीज़ों की तरह ये चीजें भी सिर्फ मुट्ठी भर लोगों को नहीं बल्कि सबको मिलें। लेकिन जब तक मानवता का बहुत हिस्सा शोषित कमकरों, किसानों और 'सफेद कालर वाले गुलामों' का है तब तक 'प्रेम और गर्व' से पैदा होनेवाली कला अनिवार्यतः एक सीमित और, हमारे जैसे युग में, झूठी कला होगी। रोटी के लिए लड़ने वालों के लिए इस कला का कोई विशेष प्रयोजन हो सकना मुश्किल है। 'प्रेम और गर्व' की अपेक्षा हड़तालों में ज़्यादा दिलचस्पी लेना कमकर क्रेमलिन से नहीं, ज़िन्दगी से सीखता है।

जब सामाजिक अधिकार में रहने वाली मशीनें आदमियों की गुलाम होंगी, न कि आदमी व्यक्तिगत अधिकार में रहने वाली मशीनों के, तब हम एक 'विशुद्ध' कला के बारे में गम्भीरता के साथ सोच सकेंगे। पर जब तक ऐसा न हो, कला जाने या अनजाने एक वर्ग विशेष की कला होगी ही। निष्पक्षता की घोषणा कला की वर्ग-प्रकृति को उसी तरह नहीं खत्म कर देती जैसे उसी निष्पक्षता की घोषणा सरकार की वर्ग-प्रकृति को या सर्वज्ञ सर्वव्यापी ईश्वर की मूर्ति चर्च की वर्ग-प्रकृति को।

---

* वह स्थान जहाँ गेटे अपनी युवावस्था में रहता था जब कि उसकी कृतियों में सामाजिक उत्पादन का जोश है।

† वह स्थान जहाँ गेटे अपने अन्तिम दिनों में रहता था जब कि उसकी कृतियों के सारे प्रगतिशील तत्व ख़त्म हो चुके थे।

तब क्यों स्टेडियम या क्रान्तिकारी सभाओं के कमकर चाइकोव्सकी का आनन्द लेते हैं? लेनिन क्यों आपासियोनाटा से प्रभावित होता था ? मार्क्स क्यों हर साल मूल में ईस्क़िलस को पढ़ता था ? क्योंकि हर व्यक्ति की तरह हर वर्ग में कुछ 'सार्वभौम' अनुभव होते हैं जो सब पर लागू होते हैं। पर तो भी ऐसे अनुभव एक युग से दूसरे युग में, एक देश से दूसरे देश में, एक वर्ग से दूसरे वर्ग में बदलते जाते हैं। अट्र्यूस के घराने की ट्रेजेडी में हम वे चीज़ें नहीं देखते जो कि यूनानी उनमें देखते थे। एक ओर तो उनमें की कुछ चीज़ें हमारी समझ में नहीं आती। और दूसरी ओर उन ट्रेजेडियों के बारे में हम ऐसी भी बहुत चीज़ें समझते हैं जो कि यूनानी नहीं समझते थे। आधुनिक मनोविज्ञान के संस्कार में पले हुए लोग उन्हीं अनुभूतियों से राजा इडीपस को नहीं देखते जिनसे एथेंसवासी देखते थे। सम्भव है ऐसी भी एक पीढ़ी आये जिसके लिए प्राचीन साहित्य का महत्व सिर्फ़ दिमागी ही रह जाय, और लोगों की भावनाओं पर कोई असर न डाले। वर्त्तमान के बारे में भावनाएँ जगाये बगैर अतीत के विषय में लोगों के कुतूहल को ही वह सन्तुष्ट करेगा। स्पष्ट है कि बीसवीं सदी के एक नास्तिक के लिये कैल्डेरन के नाटकों का वही प्रयोजन नहीं हो सकता जो कि सत्रहवीं सदी के एक कैथलिक के लिये था। लेकिन हर साहित्य में क्योंकि उसका विषय मानव-अनुभव होता है हमें कुछ समानताएँ मिलती हैं। यूनानियों के लिए जो यथार्थवाद था वह हमारे लिए एक रूपक है—यानी यह सत्य जो युग परिवर्तनों में भी सनातन है। वे विशेष वाह्य शक्तियाँ चाहे आज न हो जिन्होंने बीतोफ़ेन को आपासियोनाटा की रचना करने की प्रेरणा दी, लेकिन वही वासना और संवेदन की मानसिक स्थिति दूसरी चीज़ों से हम में पैदा हो सकती है, और रचना में हम उसी मानसिक स्थिति को अपना कहकर पहचानते हैं। साहित्य की अपेक्षा संगीत के बारे में यह ज़्यादा सच है क्योंकि संगीत सबसे ज्यादा साकार से निराकार की ओर ऊँचाई पर उठ सकता है।

ज्यादा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है: आप संगीतकार बीतोफेन* और चाइकोव्सकी* तरह क्यों नहीं लिखते? लेखक ईस्किलस की तरह रचना क्यों नहीं करते? तीन Psalms के लिए स्ट्रावेन्सकी* की सेटिंग, विन्यास और अनुभूति में हैंडेल* या बाख़* से इतनी भिन्न क्यों है? क्योंकि हमारे यथार्थ अनुभव बदल गये हैं और उन्हीं के साथ हमारी कला।

फिर भी दोनों साथ साथ एक ही गति से नहीं बदलते। कभी कभी कला सपनों की तरह कूदकर यथार्थ से आगे चली जाती है; और वासनाओं की अभिव्यक्ति करने लग जाती है। ज्यादातर वह यथार्थ के साथ क़दम नहीं मिला पाती। दिमाग़ की अपेक्षा हमारी अनुभूतियाँ ज्यादा पुरानी हैं। वे और भी धीरे-धीरे बदलती हैं। पदार्थवेत्ता उस ईश्वर में विश्वास किये जाता है, जिसे उसके विज्ञान ने तोड़ दिया है; बोल्शेविक रो सकता है 'लेडी आफ़ दि कैमिलियाज़' पढ़कर क्योंकि वह उसके बौद्धिक विचारों से ज्यादा पुरानी अनुभूतियाँ जगाती है।

---

* योरोपीय संगीतकार।

यहाँ हमें परिस्थितियों का तुलनात्मक विवेचन करना होगा। स्वयं 'लेडी आफ़ दि केमिलियाज़' एक समय क्रान्तिकारी थी। रूसो के बग़ैर, रोमांटिक आन्दोलन के बग़ैर, अपनी कला के लिए बूर्ज्वा वर्ग के सफल संघर्ष के बग़ैर उसकी रचना न हो सकती थी। एक समय एक नौकरानी के विषय में उपन्यास लिखने के अभियोग में गोंकूर भाईयों को माफी माँगनी पड़ी थी। दशाब्दियों बाद, मज़दूरों के जीवन को उपन्यास में चित्रित करने के अधिकार के लिए माइकेल गोल्ड को लड़ना पड़ा था। मनुष्यों के बुनियादी आर्थिक संबन्धों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप जो भी वर्ग गढ़े से उठकर सतह पर आता है, वह राजनीतिक ताकत और अपने पूर्वकालीन लोगों की बनाई संस्कृति के लिए ही नहीं बल्कि विश्व-संस्कृति में स्वयं योग देने के लिए, कला में अपने अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए लड़ता है।

लेकिन सारे पूर्वकालीन शासकवर्ग शोषकवर्ग थे; उनके अनुभव शोषकों के थे। बुनियादी यथार्थ ने उनकी कला की रूपरेखा पहले ही से निश्चित कर दी थी और उसकी सीमाएँ भी बाँध दी थीं। समाज में अकेला क्रान्तिकारी वर्ग सर्वहारा अपने जीवन की परिस्थितियों के कारण ज़िन्दगी को एक बृहत्तर दृष्टिकोण से देखने पर मजबूर होता है। इसके पहले कि हम एक वर्गहीन समाज की रचना करें जिसमें मनुष्य परिस्थितियों का गुलाम न होकर आज़ाद होगा, इसके पहले कि वर्गहीन कला का जन्म हो, सर्वहारा वर्ग को अपने वर्ग के कलाकारों या दूसरे सामाजिक वर्गों से उसकी तरफ आ जानेवाले कलाकारों की मदद से एक वर्ग-कला की रचना करनी होगी जो इसलिए क्रान्तिकारी होगी कि वह समूची मौजूदा दुनिया पर उस अकेले दृष्टिकोण से रोशनी फेंकेगी, जिसमें आज उसको निर्भीकता और पूर्णता के साथ देखा जा सकता है।

सारी नई कलाओं की तरह शुरू में क्रान्तिकारी कला में अनिवार्यतः रूपगत सौन्दर्य की कमी होगी जैसी कि शुरू शुरू में सभी वर्गों की कला में थी। शुरू में अनिवार्यतः न्यू हेलाइज़* जैसी सस्ती भावुकतावाले क्रान्तिकारी उपन्यास होंगे; कलाकार की शक्तियाँ विचारों और भावनाओं की खोज में इतनी बुरी तरह लगी होती हैं कि वह कलाकृति से रूपगत सौंदर्य को तत्काल नहीं पाता। सर्वहारावर्ग के शक्तिशाली होने के साथ साथ, राजनीतिक ताकत के लिए अपने संघर्ष के दौरान में शिक्षित होने के साथ-साथ उसकी कला और साहित्य सशक्त तथा अच्छा होता जायगा। हमने रूस में ज़रा से सत्रह सालों में प्रारंभिक आन्दोलक कविताओं से लेकर 'ऐन्ड क्वायट फ्लोज़ दि डॉन' तक सर्वहारावर्गीय साहित्य का विकास देखा है। अमरीका ने अप्टन सिंकलेअर के कोरे भावुकतापूर्ण समाजवादी उपन्यासों से लेकर आज के औपन्यासिकों की प्रौढ़ कृतियों तक। क्रान्तिकारी कमकरों और उनके बुद्धिजीवी साथियों के महान् रचनात्मक अनुभवों से एक

---

* रूसो का रोमांटिक उपन्यास जिसने बावजूद अपनी सस्ती भावुकता के अपने समय में यूरोप में तहलका मचा दिया था।

नयी कला का पैदा होना ज़रूरी है, ऐसी कला जो पुरानी संस्कृति के सबसे उत्तम गुणों को ले लेगी और उसमें हमारे युग के अनुभवों के अनुरूप नयी सूझें, नये रूप-रंग जोड़ेगी।

लेखक अपनी अनुभूतियों से ही नहीं बल्कि अपने ज्ञान और अपने विचारों और अपने संकल्प से रचना करता है। उसकी कृतियों की एक दार्शनिक पृष्ठभूमि होती है, जो उसकी कृतियों को रूप देती है। भले ही वह बहुत प्रबल न हो, अस्तव्यस्त और पक्षपातपूर्ण हो। दूसरे देशों की ही तरह अमरीका का क्रान्तिकारी आन्दोलन एक ऐसी पीढ़ी को विकसित कर रहा है जो दुनिया को क्रांतिकारी विज्ञान के उद्दीपक विचारों के ज़रिये देखती है। सर्वहारावर्गीय लेखक की अनुभूतियाँ, उसके अनुभव और उस अनुभव की व्याख्या करने वाले विज्ञान से बनती हैं उसी तरह जैसे बूर्ज्वा लेखक की अनुभूतियाँ उसके अनुभवों और उनकी झूठी वकालत करनेवाले वर्ग-सिद्धान्तों से बनती हैं। सर्वहारावर्ग के अनुभवों और विज्ञान में से क्रांतिकारी कवि नाटककार और औपन्यासिक ऐसी कला का विकास कर रहे हैं जो बताती है कि व्यभिचारी के प्रेम और अपने ही में उभ-चुभ व्यक्ति की अहमिका के अलावा दूसरी चीज़ें भी दुनिया में हैं। सदियों में पहली बार हमें एक ऐसी कला मिलेगी जो सचमुच महान् (एपिक) होगी क्योंकि ऐसे वर्ग के महान् अनुभव उसकी विषय-वस्तु होंगे जिसका विश्वव्यापी संघर्ष समूचे मानव-समाज को बदल रहा है।

× × ×

समसामयिक वातावरण से कला का संबंध स्थापित करने के प्रयत्न में मौजूदा पीढ़ी के अमरीकन लेखक तीन ख़ास स्टेजों में से गुज़रे हैं। अगर हम Dichtung के जर्मन मतलब में कविता शब्द का इस्तेमाल करें यानी कोई भी रचनात्मक कृति चाहे उसका साहित्यिक रूप (form) जो हो, तो हम मोटे तौर पर तीनों चरणों का वर्णन इस तरह कर सकते हैं: कविता और युग, कविता और वर्ग, कविता और कम्यूनिस्ट पार्टी।

१९१२ के कविता के पुनर्जागरण से लेकर १९२९ के आर्थिक संकट तक, क्रान्तिकारी गोष्ठियों के बाहर सारे साहित्यिक वाद-विवाद काल और अनन्तकाल की समस्या पर केन्द्रित होते थे। हैरियट मन्रो, कार्ल सैंडबर्ग, एज़रा पाउण्ड, सिंक्लेअर लुइस, शेरवुड एंडरसन, गरट्रूड स्टाइन, अर्नेस्ट हेमिंगवे के नाम से संबद्ध आन्दोलन ने रूढ़िवादी कविता के 'सनातन मानों' का विरोध किया और समसामयिक अमरीकी अनुभव के यथार्थ पर ज़ोर दिया। इस आन्दोलन की प्रेरक शक्ति वाल्ट ह्विटमैन था। जिसने सामन्तवादी साहित्य के सनातन मानों का विरोध किया और तत्कालीन जीवन के महत्व की घोषणा की। कविता ने दिक्-काल से परे होकर आज़ादी से संचरण करने के ढोंग को छोड़ा; उसने बीसवीं सदी के न्यूयार्क, शिकागो, सैनफ्रांसिस्को, आइओवा, ऐलाबामा पर अपना ध्यान केंद्रित किया।

१९२९ के आर्थिक संकट ने इस सामान्य भ्रम को ख़त्म कर दिया कि अमरीकन समाज वर्ग-हीन है। साहित्यिक असफलता, बेकारी, ग़रीबी, भूख ने कितने ही लेखकों

को सर्वहारावर्ग के खेमे में ढकेल दिया। एक दफ़ा वर्ग-समाज के बुनियादी यथार्थ से आँखें चार करने के लिए मजबूर होने पर लेखकों ने अनिवार्यतः कविता और वर्ग की समस्या से आँखें चार कीं। बेकार कमकर के अनुभवों में हाथ बँटाते हुए भी निश्चिन्त बूर्ज्वा वर्ग की कविता रचते जाना असंभव था। तो भी यथार्थ से पिछड़ जाना कविता की सामान्य प्रवृत्ति होती है। तकलीफ़ कवि की आँखें खोल देती है लेकिन रूढ़ियाँ उसका मुँह बाँध देती हैं। समाज के एक सदस्य के नाते उसे समझना पड़ा कि वर्ग-संघर्ष का मतलब क्या है; लेकिन लेखकों की पुरानी संभ्रान्त जाति का सदस्य होने के नाते वह कला और समाज, कला और प्रोपेगेंडा, कला और वर्ग के दक़ियानूसी नारों के बोझ के नीचे दबा ही रहा।

पिछले पाँच वर्षों में कितने ही लेखकों ने संघर्ष करके समसामयिक दुनिया में अपने रोल को और ज़्यादा साफ़ ढंग से समझा है। पहले तो उन्होंने अपने को ऐसे दो टुकड़ों में बाँट लिया था जिनमें मेल हो सकना असंभव दीखता था। साधारण व्यक्ति की हैसियत से वे वर्ग-हीन समाज के लिए कमकर वर्ग के संघर्ष का समर्थन करते थे; कवि की हैसियत से वे उस नाभि-नलिका को बनाये रहे जो उन्हें बूर्ज्वा संस्कृति से बाँधती थी। आर्थिक संकट के और गहरे पड़ जाने के कारण बहुत से लेखकों को यह दो व्यक्तित्वों का द्वन्द्व हटा देना ही पड़ा। साधारण व्यक्ति और कवि दोनों ही की शक्ल में यह द्वन्द्व उन्हें निकम्मा बनाता था। या तो उन्हें साधारण व्यक्ति की हैसियत से कवि के अपने व्यक्तित्व के पीछे-पीछे पीछे की ओर बूर्ज्वा वर्ग के खेमे तक जाना पड़ता था या कवि की हैसियत से साधारण व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व के पीछे पीछे, आगे की ओर सर्वहारावर्ग के खेमे तक जाना पड़ता था। जिन्होंने बादवाला रास्ता चुना उन्होंने इस बात को माना कि कला का आधार वर्ग होता है; उन्होंने समझा कि हमारे-जैसे क्रान्तिकारी युग में कविता राजनीति से अलग नहीं की जा सकती। आज दिन अमरीका में चलनेवाले वर्ग-संघर्ष की उग्रता से ही मुख्यतः प्रभावित होकर उन्होंने यह स्थिति स्वीकार की थी। साहित्य के क्षेत्र में उसी संघर्ष की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। एक ओर तो वे लेखक थे जिन्हें क्रान्तिकारी आन्दोलन ने दीक्षित किया था, कविता और वर्ग के प्रश्न पर जिनके पास सुस्पष्ट विचार थे, जो दुबिधा और गड़बड़ी में पड़े हुए लोगों को अपनी बात समझाने की कोशिश करते थे; दूसरी ओर यह अधिकाधिक स्पष्ट होता गया कि सारे सामाजिक तत्त्वों से कविता की 'स्वतन्त्रता' की घोषणा करने वाले लेखक स्वयं किसी न किसी राजनीतिक पक्ष के गहरे और कभी कभी अनीतिपूर्ण समर्थक होते हैं। हमारे युग के दो महान् राजनीतिक खेमों के बीच अनिश्चित ढंग से पड़ जाने पर कवि ने अब देखा कि कला और वर्ग का निराकार प्रश्न अब न रह गया था, बल्कि सीधी चुनौती थी, कौन वर्ग ?

इस समस्या के सुलझाव ने नयी समस्याएँ खड़ी कीं। कमकर-वर्ग स्वयं विभक्त है और कवि इस विभाजन को बुरी तरह अनुभव करता है। अब वह कविता और पार्टी के सवाल से आँखें चार करता है। ऐसे भी हैं जो कहते हैं, साधारण व्यक्ति और कवि दोनों की हैसियत से मैं सर्वहारा वर्ग के साथ हूँ लेकिन मैं सर्वहारा वर्ग

की पार्टी, कम्यूनिस्ट पार्टी के रमझल्ले में नहीं पड़ सकता। कवि वर्ग से ऊपर नहीं उठ सकता, लेकिन उसे पार्टी से ऊपर ज़रूर उठना चाहिए। दूसरे हैं जो एडविंसीवर की तरह कहते हैं : साहित्यिक मधुयामिनी खत्म हो चुकी और मैं समझता हूँ वह वक्त तेज़ी से बढ़ता चला आ रहा है जब हम, लेखकों का वर्गीकरण सर्वहारावर्गीय लेखकों और सहयात्रियों (फ़ेलो ट्रैवेलर्स) की तरह नहीं बल्कि पार्टी और ग़ैर-पार्टी लेखकों की तरह करेंगे।

इस समस्या के मौजूदा बहस मुबाहसे काम के हैं। वे और भी काम के होते अगर लोग सामान्यतः क्रान्तिकारी साहित्य के इतिहास को जानते। क्योंकि हम में से अधिकांश उस इतिहास के बारे में नहीं जानते इसीलिए पुरानी व्यवस्था के समर्थक कवि के रोल के बारे में ग़लत प्रचार करने में सफल होते हैं। वे भूत भविष्य वर्त्तमान को विकृत करते हैं और क्योंकि रूढ़िवादी तथा उदारपंथी पत्रों के सफे उनकी चीज़ों से भरे रहते हैं इसलिए उनके झूठ और निन्दा का कुछ न कुछ असर उन लेखकों पर भी होना ज़रूरी है जो सर्वहारा वर्ग की तरफ़ हैं।

लोगों ने स्तालिन, लेनिन यहाँ तक कि मार्क्स के पहले भी साहित्य को एक वर्ग की चीज़ माना था। शुरू के बूर्ज्वा साहित्य में 'स्वतंत्र व्यक्ति' का विद्रोही अहं वर्टर, रेनी, ओबरमान जैसे नायकों में अभिव्यक्त होता था; आलोचना में, प्रगतिशील वर्धिष्णु बूर्ज्वा वर्ग ने एक नई कविता की माँग की। फ्रांसीसी राजक्रान्ति के एक पूर्वगामी विचारक, डेनिस दिदरो ने नये साहित्य के वर्ग-आधार को समझा और उसे स्पष्ट रूप से बूर्ज्वा कहा। बाद में मदाम दि स्टेल ने अपनी किताब 'सामाजिक संस्थाओं के संबंध के दृष्टिकोण से साहित्य पर विचार' (१८००) में पुराने और नये साहित्य, यानी सामन्तवादी और पूँजीवादी साहित्य के गुण-दोष पर तुलनात्मक ढंग से विचार किया, पुराने सामन्तवादी आदर्शों से बिल्कुल नाता तोड़ लेने पर ज़ोर दिया और नये, विशेषतः बूर्ज्वा, आदर्शों को विकसित करने के लिए नारा बुलंद किया। १८०९ में प्रास्पर बरान्त ने अपनी किताब Tableau de Litterature Francaise au Dix-Huitieme Siecle लिखी जो यह बात मानकर आगे बढ़ती है कि इतिहास की धारा अपरिवर्त्तनीय नियमों से निश्चित होती है और आगे चलकर निष्कर्ष निकालती है कि साहित्य और सामाजिक परिस्थितियों में अनिवार्य संबंध होता है। उसने बतलाया कि साहित्य समाज को परिचालित नहीं करता बल्कि समाज साहित्य की रूपरेखा तैयार करता है।

सामन्तशाही व्यवस्था के खिलाफ़ पूँजीपति वर्ग का सशस्त्र विद्रोह, नेपोलियन की जीतें, मेटरनिक के शासन में पुरानी व्यवस्था की पुनः प्रतिष्ठा और प्रतिक्रिया, १८३० और १८४८ की क्रान्तियाँ, सर्वहारा वर्ग का संगठन, पूँजीपतियों के आधिपत्य के बाद की व्यवस्था, समाजवादी व्यवस्था के लिए लड़ने वाली कमकरों की पार्टी की उत्पत्ति—इन महान् सामाजिक संघर्षों ने १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में राजनीतिक प्रश्नों को सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बना दिया। क्योंकि कवि शून्य में नहीं रहते इसलिए उन्होंने अपने समय के सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों में पक्ष लिये। संघर्ष के बहुत

तीव्र हो जाने पर, समस्या उठी : किस हद तक कवि को किसी पार्टी के साथ एक होना चाहिये ?

अपने युग के बहुत प्रतिष्ठित जर्मन कवि फर्डिनेन्ड फ्राइलीग्राट ने १८४१ में लिखा : 'कवि वीर बोनापार्ट के सामने घुटने टेकता है : लेकिन डेंगीन की मृत्युवाणी उसका क्रोध जगाती है । कवि पार्टियों से ऊपर होता है । उसी समय के दूसरे मशहूर जर्मन कवि जार्ज हैरवेग ने जो क्रान्तिकारी पार्टी के साथ एक समझा जा रहा था, पार्टी नामक एक कविता में फ्राइलीग्राट का जवाब दिया है :-'पार्टी ! पार्टी !! कैसे उसका कोई तिरस्कार कर सकता है··· विजयों की जननी पार्टी, कैसे कोई कवि उस शब्द पर कीचड़ उछाल सकता है जिसमें सर्वोच्च चीज़ों के बीज हैं ? मर्द की तरह कहो तुम हमारे साथ हो या खिलाफ़ ? तुम्हारा नारा ग़ुलामी है या आज़ादी ! खुद देवता ओलिंपस पर्वत से उतरे और एक पार्टी के लिए लड़े !"

हेरवेग की कविताएँ—जो बोल्शेविज़्म के जन्म से आधी सदी पहले लिखी गई थीं—वह दूरी बताती हैं जो नोवालिस के दिनों से लेकर उस वक्त तक रोमांसवादी कविता ने तय की थी। साथ ही वे कविता और राजनीति का संबंध भी बताती हैं। मरणोन्मुख सामन्तशाही और गणतांत्रिक क्रान्ति-युगीन जीवन ने (जैसे आज मरणोन्मुख पूँजीवाद और सर्वहारावर्गीय क्रान्ति के युग ने) कवि को उसकी अफ़ीमी खोह से निकाल कर राजनीतिक क्षेत्र में डाल दिया और आज की तरह तब भी जिस कवि ने अपने को इस भ्रम में डाल लिया था कि वह "पार्टियों के ऊपर है" उसने अन्ततः पाया कि उसकी यह उदार निष्पक्षता यथार्थ में उसे सीधे प्रतिक्रिया के खेमे में ले जाती है। फ्राइलीग्राट ने जिसे अपनी निष्पक्षता का बड़ा गर्व था प्रशा के बादशाह से पेंशन स्वीकार कर ली । जब जार्ज हेरवेग ने एक पार्टी के साथ यह स्पष्ट नाता जोड़ने के लिए उसे ताना मारा तो फ्राइलीग्राट ने अपनी ग़ल्ती समझी, पेंशन लेने से इन्कार कर दिया, और राजनीतिक कवियों में आ मिला। अन्ततः वह एक रेडिकल, यहाँ तक कि क्रान्तिकारी कवि हुआ और उसने कार्ल मार्क्स के साथ उसी की संपादित पत्रिका में काम भी किया।

कविता और पार्टी का प्रश्न जो १८४० के कवियों ने उठाया था, १८८० तक चलता चला आया और उस समय जार्ज ब्रैण्ड बूर्ज्वा साहित्यालोचना के शिखर पर चढ़ा। ब्रैण्ड स्वयं एक बूर्ज्वा प्रजातंत्रवादी था; उसने राष्ट्रीयता के विचार को, बूर्ज्वा पितृभूमि के प्रति देशभक्ति को महत्ता दी; बूर्ज्वा पार्टी का अनुसरण करने और कविता में उसका अभिषेक करने की वकालत उसने कवि के अधिकार के रूप में ही नहीं बल्कि कर्त्तव्य के रूप में की। यह मज़ेदार बात है कि उदारपंथी बूर्ज्वा वर्ग के विचारकों ने पार्टी के अनुरूप लिखी जानेवाली कविता की प्रशंसा की जब कि ऐसा करना उनकी पार्टी के हित में था। आज वे कला कला के लिए का, ग़ैर-पार्टी कविता का नारा बुलन्द करते हैं क्योंकि उनकी पार्टी प्रतिक्रियाशील है और प्रगतिशील पार्टी, सर्वहारावर्ग की पार्टी अनिवार्यतः ऐसी कविता प्रेरित करती है जो स्थापित व्यवस्था पर, जिसकी

सहायता 'निष्पक्ष' आलोचक और लेखक, स्पष्ट या अस्पष्ट जाने या अनजाने, करते हैं, आघात करती है। अपने प्रारम्भिक दिनों में पूँजीपति वर्ग ने सामन्तशाही संस्थाओं का विरोध करते हुए भाषण-स्वातन्त्र्य का अधिकार माँगा था; आज वह यही अधिकार सर्वहारा वर्ग को देने से इन्कार करता है क्योंकि वह उसे पूँजीवादी व्यवस्थाओं के खिलाफ़ इस्तेमाल करता है। उसी तरह एक वक्त बूर्ज्वा आलोचकों ने प्रगतिशील बूर्ज्वा वर्ग के हित में राजनीतिक कविता की माँग की थी; आज वे राजनीतिक कविता का विरोध करते हैं क्योंकि वह सर्वहारा वर्ग के हित में है।

पूँजीवाद के प्रगतिशील वर्धिष्णु काल में, अलग अलग पार्टियों के द्वारा अपना आधिपत्य जमाने की कोशिश करने वाले अनेक दल उसमें होते हैं। आज पूँजीवाद के ह्रास, सर्वहारा वर्ग की बढ़ती हुई ताक़त, ज़मीन के छठे हिस्से पर कमकरों की पार्टी का राज, सभी देशों में कम्यूनिस्ट विचारों और संगठनों का प्रचार, इस सबने चोटी के सभी बूर्ज्वा दलों को अपनी राजनैतिक शक्ति एक कर देने के लिए मजबूर किया है। पूँजीवादी दुनिया क्रमशः सिर्फ दो बड़ी पार्टियों की तरफ बढ़ती जा रही है, पूँजी पतियों की पार्टी और कमकरों की पार्टी।

यह बड़ा विभाजन कमकरों की पार्टी के संस्थापकों को मालूम था। कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिक एंगिल्स ने १८४० के आख़िरी दिनों में जिसे 'विप्लवी चालिस' के नाम से भी पुकारा जाता है—अन्त में कहा था कि सभी बूर्ज्वा पार्टियाँ, उनके दल-गत स्वार्थ चाहे कितना ही भिन्न क्यों न हों, पूँजीपतियों के सामान्य स्वार्थों के लिए लड़ती हैं यानी व्यक्तिगत संपत्ति और मजूरी प्रथा की रक्षा के लिए। दूसरी ओर सर्वहारावर्ग की पार्टी एक ऐसे वर्ग के लिए लड़ती है जो मौजूदा समाज में अपनी स्थिति के कारण ही न सिर्फ अपनी बल्कि हाथ और दिमाग़ से काम करने वाले सभी लोगों की, अधिकांश मानव-समाज की, मुक्ति के लिए लड़ने पर मजबूर होता है। इसका उद्देश्य एक दकियानूसी दमनकारी सामाजिक व्यवस्था का विनाश और एक नई सामाजिक व्यवस्था की रचना है जो कि आज की दुनिया के यथार्थों से मेल खाये। फलतः सर्वहारावर्ग की पार्टी के विचार समस्त संस्कृति को अपने में समेट लेते हैं। वे अर्थशास्त्र, राजनीति, सामाजिक और वैयक्तिक संबंध, दर्शन, विज्ञान, कला और साहित्य में एक प्रगति की सूचना देते हैं। (क्रमशः)

हिन्दी में फासिस्ट-विरोधी साहित्य

[रमेश सिनहा]

हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन की परम्परा बहुत स्वस्थ और सम्वेदनशील रही है। पिछले १२-१४ वर्षों में हमने अपनी समस्याओं को उत्तरोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य-विरोधी संघर्ष के चौखटे में, उसके एक अविच्छिन्न अंग के रूप में, देखने की कोशिश की है। संकुचित राष्ट्रीयता उसका आधार कभी नहीं रहा। इसीलिए हमने विश्व-साम्राज्यवाद की हरेक हरकत का सख्त विरोध किया है। राष्ट्रीय कांग्रेस ने युद्ध-विरोधी प्रस्ताव सबसे पहले '२७-२८ के मद्रास अधिवेशन में पास किया था। उसके बाद से हम उसे बराबर दुहराते आए हैं। जब '३२ में चीन पर जापान ने हमला किया, हमारे देश ने एक स्वर से उसका विरोध किया। '३५ में जब अबीसिनिया पर अंग्रेजों की साजिश से इटली ने आक्रमण किया था, हमने उसकी सख्त निन्दा की थी। उसके कुछ ही दिन बाद जब फासिस्टों ने स्पेन में गृह-युद्ध शुरू किया था तो हमारी सम्पूर्ण सहानुभूति जनतांत्रिक शक्तियों के साथ थी। दुनिया की फासिस्ट-विरोधी शक्तियों के साथ हमारी यह हमदर्दी हमारी राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई का एक हिस्सा थी।

हमारे साहित्यिक, कवि, लेखक और कलाकार भी इसी राष्ट्रीय आन्दोलन के एक अंग थे। इसलिए वे भी आरम्भ से ही साम्राज्य-विरोधी, फासिस्ट-विरोधी, और प्रगतिशील थे। १९३६ में प्रगतिशील लेखक आन्दोलन की नींव फासिज़्म की बढ़ती हुई छाया के नीचे और विश्व-जनमोर्चे के एक अंग के रूप में पड़ी थी। हिन्दी और उर्दू के सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक और कहानीकार प्रेमचन्द ने न केवल उसे आशीर्वाद दिया था, बल्कि उसके पहले सम्मेलन की अध्यक्षता भी की थी। देश के सर्वोच्च साहित्यिकों का उसमें सहयोग था। हिन्दी के महान् कवि पन्त उसकी कमेटी में थे।

और १९३८ में हमारे देश की ओर से जापानी फ़ासिज़्म के निकृष्ट भाट, नागूची को जो जवाब गुरुदेव ने दिया था वह हमारे देश की महान् निधि है। आनेवाली पीढ़ियाँ भी उसपर गर्व करेंगी।

पन्त जी की "युगवाणी" और "ग्राम्या" की सारी कल्पना का आधार ही पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और फासिज़्म (जिसे वे साम्राज्यवाद का "हिंस्र रूप" कहते हैं।—पृष्ठ १६, पर्यालोचन, आधुनिक कवि–२.) का अन्त है। "ग्राम्या" में फासिज़्म को उन्होंने प्रतिक्रिया की रुद्ध शक्तियाँ कहा है :

इधर अड़ा साम्राज्यवाद, शत शत विनाश के ले आयोजन,
उधर प्रतिक्रिया रुद्ध शक्तियाँ क्रुद्ध दे रहीं युद्ध निमंत्रण।

सत्य न्याय के बाने पहने, सत्व लुब्ध लड़ रहे राष्ट्रगण,
सिन्धु तरंगों पर क्रय-विक्रय स्पर्धा उठ गिर करती नर्तन !

[जनवरी ४०; ग्राम्या, पृष्ठ ८७]

उन्होंने आशा की है कि इस युद्ध में उसका अंत हो जाएगा। तभी उनकी "जग जननी, जीवन विकासिनी भारत माता" का उद्धार हो सकेगा। कांग्रेस मंत्रि मण्डलों के वक्त में भी काफी फासिस्ट-विरोधी साहित्य निकला था। इलाहाबाद का कम्युनिस्ट साप्ताहिक "नया हिन्दुस्तान", लखनऊ का "संघर्ष", पटना किसान सभा का मुखपत्र "जनता", कम्युनिस्ट मासिक "प्रभा", आदि पत्र प्रधानतया राजनीतिक थे, किन्तु उन्होंने कहानियों, स्केचों, जीवनियों और कविताओं के रूप में काफी फ़ासिस्ट-विरोधी साहित्य की भी सृष्टि की थी। हिन्दी के साहित्यिक मासिकों और विशेषकर कलकत्ते के "विश्वमित्र" में भी यदा-कदा फासिस्ट-विरोधी लेख प्रकाशित होते रहते थे। पुस्तकें भी कई निकली थीं, जिनमें फासिज़्म का असली रूप बतलाने की चेष्टा की गयी थी। चीन पर रामवृक्ष बेनीपुरी ने "लाल चीन", अबीसीनिया के संबंध में सत्यनारायन ने "आँखों देखा महायुद्ध" और स्पेन के गृहयुद्ध पर शिवदानसिंह चौहान ने "रक्त रञ्जित स्पेन" नाम की पुस्तक लिखी थी, जिनका राजनीतिक महत्व होने के साथ साथ साहित्यिक महत्व भी है। प्रचार-पुस्तिकाएँ तो बहुत निकली थीं। फासिज़्म के विपरीत जो एक दूसरी दुनिया है उसका विस्तृत परिचय राहुल सांकृत्यायन ने अपने विशाल ग्रंथ "सोवियत भूमि" में दिया था।

इस तरह हमारे साहित्य की गतिशील और जीवन्त प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि भी फासिस्ट-विरोधी है।

चाहे राजनीतिक क्षेत्र में हो और चाहे साहित्यिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में, हमने सदैव फ़ासिज़्म का विरोध किया है। फासिज़्म के खिलाफ दुनिया की लड़ाई के साथ हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का अविच्छिन्न संबंध रहा है, और यह हमारा गौरव है कि हमारे साहित्यिकों ने इस युद्ध में सतत योग दिया है।

जून ४१ में सोवियत पर हमला होते ही देश में एक तीव्र फासिस्ट-विरोधी लहर फैल गयी। फासिज़्म का यह आखरी वार, सोवियत पर यह हमला उन सब स्थापनाओं और मान्यताओं पर हमला था, उन सब मूल्यों और उद्देश्यों के विनाश की तैयारी थी, जिनके लिए हमारा राष्ट्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, आधी शताब्दी से संघर्ष कर रहा था।

सोवियत की सहायता के लिए सोवियत सुहृद् संघ बनने लगे। सार्वजनिक सभाओं और वक्तव्यों द्वारा राष्ट्रीय नेताओं ने सोवियत के प्रति सद्भावना प्रकट की। संयुक्त प्रान्त में "सोवियत यूनियन सुहृद् संघ" के नाम से एक प्रान्तीय कमिटी बनी। इस समिति ने सोवियत यूनियन की विभिन्न कामयाबियों का ज़िक्र करके सोवियत को मदद करने की अपील की। इस अपील में कहा गया :

"इस युद्ध की समस्याओं की पृष्ठ-भूमि बहुत ऊँचे स्तर की है...भारतवर्ष रूस को मदद देने से उसी हालत में हाथ खींच सकता है जब वह यह सोच ले कि अपने इतिहास के इन लम्बे वर्षों में वह जिन सिद्धान्तों के लिए खड़ा हुआ था, जिनकी रक्षा में वह आज लड़ रहा है और जिन्हें वह भविष्य में प्राप्त करना चाहता है...उन्हें ही वह छोड़ रहा है।"

इस कमिटी की ओर से जिलों में शाखाएँ खोली गयीं, और फरवरी ४२ में एक प्रान्तीय कान्फ्रेन्स हुई। पंडित जवाहर लाल नेहरू उसके अध्यक्ष थे। श्रीमती सरोजनी नायडू स्वयम् न आ सकीं थीं, इसलिए उन्होंने सन्देश भेजा था। और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण पुरुषोत्तम दास जी टण्डन ने उसमें एक स्मरणीय भाषण दिया था। उन्होंने सोवियत को हर तरह की मदद देने की अपील की थी। वे प्रान्तीय कमिटी के भी सदस्य थे।

अखिल भारतीय सोवियत सुहृद् संघ के संचालन में यह आन्दोलन सम्पूर्ण देश में फैल गया। प्रत्येक प्रमुख स्थान में सोवियत सुहृद् संघों की स्थापना हो गयी। मानवीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा के लिए हमारे राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ शक्तियाँ उभर आईं। अधिकाधिक देशवासी उसकी परिधि में आते गये।

दिसम्बर ४१ में जापान के युद्ध में शामिल हो जाने से परिस्थिति और भी संकटमय हो गयी। अब भारतवर्ष पर भी फ़ासिज़्म का खतरा प्रत्यक्ष रूप से उपस्थितहो गया। अब सोवियत और चीन के साथ आत्मिक सहानुभूति दिखलाने और मान्यताओं की रक्षा करने का ही सवाल नहीं था। अब अपने देश को सीधे-सीधे भौतिक रूप से जापानी गुलामी से बचाने का प्रश्न था। हम एक निकृष्ट साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ते आए थे, उसे हमें खतम करना था; पर अब एक उससे भी बड़ी मुसीबत, उससे भी भयंकर और खूँख्वार साम्राज्यवाद हमारी तरफ़ बढ़ता आ रहा था। अब इन दोनों ही को खतम करना था, क्योंकि इसी तरह से हम अपने देश को बचा कर उसे आज़ाद कर सकते थे।*

फिर देश के साहित्यिकों के लिए इस समय खामोश बैठना असंभव था। मई '४२ के मध्य में दिल्ली में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का विशेष अधिवेशन बुलाया गया।

अखिल भारतीय प्र० ले० संघ के प्रधान मंत्री, डाक्टर अब्दुल अलीम ने अपने निमंत्रण-पत्र में कान्फ्रेंस की तात्कालिक आवश्यकता बतलाते हुए लिखा था:

"हम प्रगतिवादी लेखक फ़ासिज़्म की हकीकत जानते हैं। हमारे साथी लेखकों ने फ़ासिज़्म की बर्बर विचार-धारा के विरुद्ध चीन, जापान, जर्मनी, स्पेन, और दूसरे देशों में स्वर ऊँचा किया है, और इसके लिए उन्होंने असह्य यातनाएँ सही हैं। उन्होंने मृत्यु तक को आमंत्रित किया है। मनुष्य की सांस्कृतिक सफलताओं को नष्ट कर उसे गुलामी के बन्धन में बाँधने वाले फ़ासिज़्म की तलवार आज भारत की जनता की गर्दनों पर भी गिरनेवाली है। ऐसी दशा में भारत के प्रगतिशील लेखक तटस्थ नहीं रह सकते। हमें अन्य देशों के सजग लेखकों की तरह ही यह साबित करना है

कि हम केवल कला और संस्कृति के स्रष्टा ही नहीं हैं, बल्कि यदि कला संस्कृति और प्रगति खतरे में पड़ती है तो हम उनकी रक्षा के लिए लड़ने में भी आगे रहेंगे। इस समय भारत पर जो संकट छाया है उसने ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न कर दी है।"

हिन्दी उर्दू तथा कुछ दूसरी भाषाओं के भी साहित्यिकों की यह कान्फ्रेन्स हमारे देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक बहुत महत्वपूर्ण घटना थी। संभवतः देश के इतिहास में पहली बार हमारे साहित्यिकों ने संगठित रूप से देश की रक्षा के और आज़ादी के लिए अपनी कला का उपयोग करने का निश्चय किया था। देश के अन्दर फासिज़्म के खिलाफ प्रतिरोध-भावना जाग्रत और संगठित करने के लिए उन्होंने गीतों, नाटकों, रूपकों आदि की रचना करने का बीड़ा उठाया था।

भारतीय प्रगतिशील लेखक आन्दोलन के जन्मदाता सज्जाद जहीर ने सम्मेलन में सभापति मण्डल की ओर से भाषण करते हुए कहा :

"आइए हम निश्चय करें कि अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए हम अपने देशवासियों के मनोबल को संगठित और तैयार करेंगे। क्योंकि यही हमारे देश की आज़ादी का रास्ता है।...........

"हम एक गंभीर राष्ट्रीय संकट के समय यहाँ इकट्ठे हुए हैं। हमारी मातृभूमि खतरे में है। फासिस्ट आक्रमण हमारे सिर पर आगया है। हमारे देशवासियों का कोई भी अंग इस समय तटस्थ नहीं रह सकता। भारतीय लेखक, भारतीय संस्कृति के प्रहरी हैं। वे इस खतरे की उपेक्षा नहीं कर सकते। देश के फ़ासिस्टों के हाथ में चले जाने के प्रश्न पर वे तटस्थ नहीं रह सकते। ठीक है, हम आज़ाद नहीं हैं, हमारी राष्ट्रीय सरकार नहीं है, हमारी राष्ट्रीय फ़ौज नहीं है। पर यह देश तो हमारा ही है। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट का चाहे जो रवैया हो, अपने देश की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है।

"वाल्मीकि और तुलसीदास, खुसरो और मीरा, रविठाकुर और इक़बाल के इस देश को हमें फासिस्ट गुलामी से लज्जित और अपमानित नहीं होने देना चाहिए। अगर इस वक्त हम अपना फर्ज पूरा करेंगे तो हम निश्चय जीवित रहेंगे; अगर हम तटस्थ और उदासीन रहेंगे तो हम नष्ट हो जाएंगे।........."

स्वागताध्यक्ष की हैसियत से अज्ञेय ने कहा :

"फासिज्म संगठित प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पर्याय है। हमारे इस सम्मेलन को उसके खिलाफ अपने दृढ़ निश्चय का एलान करना चाहिए। आइए हम निश्चय करें कि उसके खिलाफ कारण और प्रगति की हम उन तमाम शक्तियों का उपयोग करेंगे जिन्हें हमारे सांस्कृतिक रिनेसाँ (पुनर्जागरण) ने पैदा किया है।"

और सम्मेलन के मुख्य प्रस्ताव में कहा गया :

"हम (भारतीय लेखकों) ने हमेशा ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अपने देश को आज़ाद करना चाहा है। हमने अपने देश की आज़ादी के लिए निरन्तर संघर्ष किया है। इस समय हम अपनी न्याय्य राजनीतिक आकांक्षाओं को दूर नहीं कर रहे हैं, और न ऐसा कर ही सकते हैं। किन्तु हम अनुभव करते हैं, और इस बात का ऐलान करते हैं कि हिन्दुस्तान के लिए इस समय सबसे बड़ा ख़तरा फासिस्ट आक्रमण है। इस

आक्रमण की सफलता से हमारी समस्त राजनीतिक आकांक्षाएं खतम हो जाएंगी। और इसके विपरीत, फ़ासिज़्म की पराजय से साम्राज्यवाद के अन्तिम विनाश के लिए रास्ता तैयार हो जायेगा।............इसलिए हमें अपनी कृतियों द्वारा अपने देशवासियों को फासिज़्म के खिलाफ मानसिक रूप से तैयार और मज़बूत होने में मदद देनी चाहिए। पुस्तकों और पुस्तिकाओं के जरिए, रेडियो और सिनेमा के जरिए, गीतों और नाटकों के जरिए हमें यह सन्देश अपने देश के करोड़ों भाई-बहिनों के पास पहुँचाना चाहिए।"

देश की हालत काफी जटिल थी, अनिश्चितता और निष्क्रियता ने लोगों को हत-बुद्धि-सा कर दिया था। राष्ट्रीय वातावरण काफी उलझा हुआ था। इसलिए इन फैसलों का महत्व और भी बढ़ जाता है। क्योंकि, जवाहरलाल के सन्देश के शब्दों में, उपयुक्त "क्रियाशीलता शून्य से नहीं, विचारों की स्पष्टता से ही पैदा हो सकती है......।"

कान्फ्रेन्स में यह भी निश्चय किया गया था कि अगले कुछ ही हफ्तों के अन्दर देश के समस्त साहित्यिकों, कलाकारों और वैज्ञानिकों की एक कांग्रेस बुलायी जाए, और उसमें फासिस्ट-विरोधी प्रचार-आन्दोलन तथा राष्ट्रीय-स्वतंत्रता आन्दोलन (जो कि वस्तुतः एक ही हैं) के काम के लिए एक विशद योजना तैयार की जाए।

किन्तु इसके पहले कि यह हो सकता, ९ अगस्त को, कांग्रेस पर ब्रिटिश साम्राज्य-शाही का हमला हो गया और देश के एक कोने से दूसरे कोने तक उथल-पुथल मच गयी। इस राष्ट्र-व्यापी अनियंत्रित क्रोध और रोष की बाढ़ में दिल्ली कान्फ्रेन्स के फैसले डूब-से गये।

लोगों ने संज्ञा-हत् होकर देखा एक तरफ तो नौकरशाही की अन्धी करतूतों को जो राष्ट्रीय नेताओं को जेलों में डालकर और गोलियों तथा संगीनों के ज़रिए जनता के मनोबल को कुचल कर फासिज़्म के खिलाफ़ बर्मा और मलाया की तरह लड़ने की तैयारी कर रही है, और दूसरी तरफ देश के उन गुमराह भक्तों और सेवकों को जो आज़ादी के नाम पर अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहे हैं।

ऐसी परिस्थिति में बहुत ही कम लोग अपन स्थिति पर दृढ़ रह सके।

यह नितान्त अस्वाभाविक भी न था। इतनी बड़ी राष्ट्रीय अव्यवस्था, अराजकता और गड़बड़ी से अप्रभावित रहना कठिन चीज़ थी।

अस्तु राजनीतिक क्षेत्र की ही तरह साहित्यिक क्षेत्र में भी फासिस्ट-विरोधी आन्दोलन अपने पूरे वेग और विस्तार के साथ प्रगति न कर सका। राष्ट्रीय-शक्ति, अर्थात् राष्ट्रीय सरकार के अभाव में हम राष्ट्रीय-रक्षा के साधनों को संगठित करने से वञ्चित रह गये; राष्ट्रीय रक्षा के लिए हमें जिस तरह और जितनी तेज़ी से तैयारी करनी चाहिए थी, वह हम न कर सके। और न साहित्यिक ही अपनी कला का उप-योग करके जन-जागरण और जन-संगठन द्वारा राष्ट्रीय-रक्षा के कार्य में वांछित योग दे सके। बढ़ते हुए फासिस्ट-विरोधी साहित्यिक आन्दोलन को बहुत बड़ा धक्का पहुँचा।

फिर भी, और यह हमारी मानसिक परिपक्वता का प्रमाण है, हिन्दी साहित्य में काफ़ी लोग ऐसे रह गये जिनकी सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि ने उन्हें धोका न दिया, और जो उस भयानक तूफ़ान के बीच भी अपने डाँड़ों को दृढ़ता-पूर्वक पकड़े हुए निर्दिष्ट दिशा में बढ़ते गये।

अगस्त संकट के शुरू होने के कुछ ही दिन बाद इलाहाबाद के कई प्रतिष्ठित साहित्यिकों ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होंने कहा था :

"हम देश के तमाम लेखकों से अपील करते हैं कि वे दमन का विरोध करें और फासिज्म के विरुद्ध युद्ध के लिए देश की तमाम ताकतों का संगठन करें।"

आगे उन्होंने कहा था :

"आज जब सब कुछ दाँव पर रखकर युद्ध हो रहा है, उसमें जनता की ताकत ही से विजय हासिल हो सकती है। लाठियों और गोलियों से जनता का आन्दोलन कुचला नहीं जा सकता। हमारा देश आज एक विशाल जेलखाना बन गया है। हम सरकार से मांग करते हैं कि वह हमारे देश-भक्तों को तुरन्त रिहा करे ताकि वे अपने देश की रक्षा और हमारे दरवाजे पर खड़े हुए दुश्मन का खात्मा करने के लिए जनता को संगठित कर सकें।"

इस वक्तव्य पर हिन्दी के साहित्यिकों जैसे कवि श्री पन्त, निराला, नरेन्द्र, हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कवियत्री महादेवी वर्मा, पहाड़ी, प्रकाश चन्द्र गुप्त, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि के हस्ताक्षर थे। हिन्दी-जगत् में इन लोगों के परिचय की जरूरत नहीं है।

लगभग उसी समय बनारस प्रगतिशील लेखक संघ ने एक कन्वेंशन की आयोजना की थी, और उसकी ओर से एक फासिस्ट-विरोधी वक्तव्य प्रकाशित किया गया था। इस वक्तव्य का अन्तिम अंश इस प्रकार है :

"पूर्ण स्वतंत्रता ही हमारा ध्येय है। इसलिए हम सब बुद्धि-जीवियों और लेखकों का कर्त्तव्य है कि हम देश का गला घोटने वाले दमन का विरोध करें और भारत भूमि के पूर्वी और पश्चिमी सिंहद्वारों पर विदेशियों द्वारा आशंक्य भावी आक्रमण के विरुद्ध युद्ध के लिए अपने देश-वासियों के हृदय में दृढ़ संकल्प की शक्ति पैदा करें और इस प्रकार स्वतंत्रता-प्राप्ति और उसकी रक्षा के पुण्य कार्य में अपना और अपनी कृतियों का पूर्ण सहयोग प्रदान करें।"

इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने वालों में "आज" के यशस्वी सम्पादक बाबूराव विष्णु पराड़कर के साथ साथ हिन्दी के कतिपय बहुत ही बड़े साहित्यिक और कलाकार, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, राय कृष्णदास, केशवप्रसाद मिश्र, रामचन्द्र वर्मा, रणदा उकील, जयचन्द्र विद्यालंकार, नंददुलारे बाजपेयी, पद्म नारायण आचार्य, लल्ली प्रसाद पाण्डेय, शिवरानी देवी प्रेमचन्द, श्रीपतराय, अमृतराय, गोविन्द बल्लभ और त्रिभुवननाथ भी शामिल थे।

इस वक्तव्य पर और भी कई महानुभावों के दस्तखत थे, जिसमें से कई तो उर्दू और बँगला के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं।

इन वक्तव्यों से पता चलता है कि फासिस्ट-विरोधी भावना हमारे वयोवृद्ध साहित्यिकों के अन्दर भी कितनी तीव्रता से काम कर रही है। यही नहीं, ये वक्तव्य किसी कदर हमारे साहित्यिकों की दूरदर्शिता और स्पष्ट-दर्शिता के भी परिचायक हैं। आन्दोलन के नाम पर जो बवण्डर-सा उठा था वह उनके दृष्टि पथ को धुंधला या आच्छन्न नहीं बना सका, और उनके दृष्टिकोण की सापेक्षता नष्ट नहीं होने पायी।

इन वक्तव्यों में जिन चीज़ों का हवाला है, उनके बारे में हिन्दी में पिछले ११-१२ महीनों में काफ़ी लिखा गया है। इस फासिस्ट-विरोधी साहित्य में जापानी अत्याचार की कहानियाँ, उसकी फासिस्ट-व्यवस्था, जापान में, या जापानी शासन के अंतर्गत चीन या कोरिया में, साहित्यिकों और कलाकारों के साथ उसका बर्ताव; जापानी फासिज्म की आर्थिक व्यवस्था; हिन्दुस्तान में उसके इरादे आदि विषयों पर सीधे-सीधे लेख लिखे गये हैं। देश के साहित्यक पत्रों में हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ पत्र मासिक "हंस" तो प्रगतिशील लेखक आन्दोलन का मुखपत्र हो गया है। हिन्दी साहित्यिक दुनिया में उसने यथार्थतः राष्ट्रीय और फ़ासिस्ट-विरोधी प्रवृत्तियों और आन्दोलन का नेतृत्व किया है। प्रारम्भ से ही उसने अपनी टिप्पणियों द्वारा देश और दुनिया पर छाये हुए खतरे से परिचित कराके साहित्यिकों को उनके महान् दायित्व के बारे में सचेत करने की चेष्टा की है। उसने चीनी लेखकों, गायकों, और अभिनेताओं आदि के ज्वलन्त दृष्टान्त सम्मुख उपस्थित किये हैं। उसकी लम्बी और ओजपूर्ण टिप्पणियों के उद्धरण देना असंभव है। मई १९४२ के अंक की लम्बी टिप्पणी में उसके योग्य सम्पादक ने अपनी अकाट्य दलीलों से यह सिद्ध करने के बाद कि फासिस्ट-विरोधी लड़ाई ही राष्ट्रीय आज़ादी की वास्तविक लड़ाई है, लिखा है:

"अतः भारतीय लेखकों को जापानी फासिज़्म का मुकाबला करना है। विश्व के फासिस्ट-विरोधी लेखकों की परम्परा से हम अनेक सबक़ सीख सकते हैं कि मुकाबला कैसे किया जाए।"

विश्व के फासिस्ट-विरोधी लेखकों के बारे में लिखा है—

"फासिज़्म ने यदि मनुष्य के मस्तिष्क की उच्चतम सफलताओं के प्रति उपेक्षा और शत्रुता दिखाई है तो विश्व के श्रेष्ठतम लेखकों और विचारकों ने विचारों की स्वतंत्रता और मनुष्य की संस्कृति के लिए प्राणों की बाजी देकर एक महान् परम्परा की नींव भी डाल दी है।"

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि क्या लेखकों और कलाकारों से प्रचार का साहित्य और कला उत्पन्न कराना कला और साहित्य के प्रति अन्याय होगा, लिखा है :

"लेकिन यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि पहले तो फासिज्म की विजय के बाद कला और संस्कृति नष्ट की जायगी अतः इस अनिष्ट को रोकने के लिए प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है, दूसरे यह कि युद्ध सदैव न चलता रहेगा, अगर इस बीच अपने अस्त्र का भरपूर उपयोग करके हमने जनता में साहस और आत्म-विश्वास उत्पन्न कर दिया है, तो इस सारे प्रचार-कार्य से हम लेखकों और कलाकारों में स्वयं एक नई

चेतना का उदय हो जायगा, एक नई कलात्मक प्रतिभा का उदय होगा, जो वर्तमान जीवन की वास्तविकता से हाथा-पाई किये बिना कोटड़ों में बन्द रहने से शायद कभी न होती, और इस कारण हमारा इस दायित्व को सम्हालना कला और साहित्य के लिए यों भी लाभप्रद होगा। उसमें एक नई प्रौढ़ता, एक नया प्राण-रस होगा जो आज नहीं है।"

टिप्पणियों के अतिरिक्त लेखों में अमृतराय का "फासिज्म का सांस्कृतिक ब्लैक-आउट", चौहान का "चीन के लेखक, कलाकार और जापान-विरोधी युद्ध", सिबतेहसन का "जन-नाट्यशाला का आन्दोलन", प्रकाशचन्द्र गुप्त का "जापानी साम्राज्यवाद का नग्न रूप" हैं, जिनमें फासिज्म की विभीषिका प्रस्तुत की गयी है।

दूसरे लेख जो इस संबंध में बहुतायत से निकले हैं, वे सोवियत जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के बारे में हैं। सोवियत की उन्नतिशील व्यवस्था के बारे में पढ़ते ही उन उद्देश्यों और आदर्शों के प्रति जो उसे अनुप्राणित करते हैं, सहानुभूति उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है, और तब फासिज्म की बर्बरता और भी घृणित और भयावह हो उठती है। सोवियत-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के बारे में ऐसे लेख निकले हैं। "लोक युद्ध" में हर सप्ताह एक पृष्ठ "सोवियत पृष्ठ" होता है। "लोक युद्ध" का जन्म ही राष्ट्रीय-संकट की इस परिस्थिति में राष्ट्रीय आज़ादी की फासिस्ट-विरोधी शक्तियों का संगठन और संचालन करने के लिए हुआ था, और उसने पिछले ७–८ महीनों में इस ओर बहुत काम किया है। प्रयाग की "विश्ववाणी" ने "सोवियत-संस्कृति अङ्क" निकाला था, जिसमें काफी सामग्री पठनीय थी। आगरा के सोशलिस्ट लिटरेचर पब्लिशिंग कम्पनी के योग्य साथियों ने "जापान: एशिया का दोस्त या दुश्मन" नाम की पुस्तिका निकाली थी। उसमें रमन्ना शास्त्री ने बहुत सरल भाषा में जापानी फासिज्म से देश के जन-साधारण को परिचित कराने की चेष्टा की है। इलाहाबाद से जैनुल आब्दीन अहमद ने एक अच्छी-सी पुस्तिका प्रकाशित की है जिसका नाम जहाँ तक मुझे याद है "जापान की राजनीतिक और आर्थिक नीति है"।

जर्मन अत्याचारों के संबंध में मोलोतोफ का नोट भी पुस्तक-रूप में कानपुर से हिन्दी में प्रकाशित हुआ है। यू०पी० प्रगतिशील लेखक संघ ने भी "फासिस्ट-विरोधी सांस्कृतिक मोर्चा सीरीज" के नाम से एक पुस्तक-माला निकालने का निश्चय किया था, जिसका विवरण पाठकों को हंस के जून '४३ अङ्क में मिल सकता है।

"माधुरी", विशालभारत", "सरस्वती" और "विश्वमित्र" में भी यदा-कदा एकाध लेख निकले हैं। मसलन् माधुरी के "विदेशांक" में भगवती प्रसाद श्रीवास्तव का "रूस की प्राण-शक्ति" शीर्षक से एक अच्छा-सा लेख था। सोवियत की वैदेशिक नीति पर रामनारायण यादवेन्दु का एक आधा सही, आधा ग़लत लेख था। लेकिन चूंकि पत्र की कोई निर्धारित नीति नहीं है, वह सोवियत-पक्षी और सोवियत-विरोधी लेखों का एक अजीब कुतूहलमय संग्रह हो गया है। यही फासिज्म के संबंध में है। यदि एक तरफ यूरुप के अन्दर नात्सियों के जुल्मों का दिग्दर्शन है तो अन्य लेखों में नीत्शे की तारीफ है और प्राणपण से यह साबित करने की कोशिश की गई है कि जापान फासिस्ट नहीं है।

पर यह कमोबेश सभी पत्रों के बारे में है। मेरा उद्देश्य कटु आलोचना नहीं है, समय की गंभीरता में उसके लिए स्थान नहीं; किन्तु यह सच है, और हमें इससे बड़ा दुख होता है कि हमारे प्रतिष्ठित मासिकों ने इस संबंध में अक्षम्य उदासीनता और अयोग्यता दिखलाई है। जीवन की सबसे बड़ी हक़ीक़त के प्रति यदि इतना अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार हो तो उसे केवल उदासीनता कहकर नहीं टाल दिया जा सकता। आखिर, समाज, देश, और दुनिया के प्रति हमारे साहित्यिक पत्रों का भी कुछ उत्तरदायित्व है या नहीं? इस लेख के सिलसिले में अपने मासिक पत्रों की पिछले दो वर्षों की फाइलें मैंने देखी हैं। उसके बाद किसी भी स्वाभिमानी भारतीय के जो भाव हो सकते हैं, उन्हें व्यक्त नहीं किया जा सकता। राष्ट्र-भाषा का राष्ट्र की वाणी से क्या,कोई सरोकार नहीं?

"सरस्वती" में एक लेख उमेशचन्द्र मिश्र का लेनिनग्राड पर था, और "विजय का प्रोग्राम" शीर्षक से केवल एक लेख मौजूदा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर। आशाराम का यह लेख स्पष्ट और तर्क-युक्त है। "विशाल भारत" को "कछुओं के अंडों की खोज" और "भैंसों की नस्ल" से अवकाश नहीं। उसकी मुख्य चिन्ता है कि "पशु बाल न खाने पाएँ।"

फ़ासिज़्म को गालियाँ नहीं है—हाँ, सम्पादकीय टिप्पणियों में स्तालिन को, सोवियत की "साम्राज्यवादी नीति" आदि को अलबत्ता बुरा-भला कहा गया है। (अगस्त '४१ और मई '४२)। वीणा के दो लेख पढ़कर तो सर लज्जा से झुक जाता है। प्रश्न यह कभी नहीं है कि आप किसी बात या नीति के पक्ष में हैं या विपक्ष में किन्तु यह प्रश्न अवश्य है कि हम अपने प्रतिष्ठित मासिकों से खोजपूर्ण, प्रामाणिक और उच्च सामग्री की अपेक्षा करें या न करें? और इसके दो उत्तर नहीं हो सकते।

कड़वी भाषा में केवल यह कह देने से तो काम नहीं चल सकता कि ये पत्र—हमारे सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक प्रहरी—जीवन की धार से कटकर अलग अपने-अपने नन्हें पोखरों में ही उभ-चुभ हो रहे हैं।

जब से यह लड़ाई शुरू हुई, भारत सरकार की तरफ से कुछ फासिस्ट-विरोधी मसाला समय-समय पर प्रकाशित हुआ है और दूसरे पत्रों के पास प्रकाशनार्थ भेजा गया है। हिन्दी के हमारे मासिकों में जो लेख निकले हैं, उनमें से कई में उसकी गहरी छाया दिखलाई दी, गो कि "छाया" शायद उसके लिए बहुत मुलायम शब्द है। यह दशा काफ़ी शोचनीय है। और निश्चय ही हमारे उत्तरदायित्व पूर्ण सम्पादकों और पत्रकारों को इधर ध्यान देना चाहिए। इस मसाले में दिये हुए आंकड़ों या तथ्यों के इस्तेमाल से किसी को शिकायत नहीं हो सकती, किन्तु यदि हम इन तथ्यों या घटनाओं के विश्लेषण या मूल्यांकन के संबंध में सरकारी राय को अपनाने लगेंगे तब तो निश्चय यह मानना होगा कि हमारी राष्ट्रीयता में घुन लग गया है।

(क्रमशः)

संस्कृति-विनाशक फ़ाशिज़्म और कलाकार

[अली सरदार जाफ़री]

अगर कोई ताजमहल को ढा दे, फ़तहपुर सीकरी के महलों, दिल्ली के लाल किले और कुतुब मीनार को गिरा दे, अजंता और एलोरा के चित्रों और मूर्तियों को तहस नहस कर दे तो आप क्या महसूस करेंगे? इसी के साथ अगर वह शान्ति निकेतन में, जहाँ के वायुमंडल में टैगोर के सुकुमार, वेदना और उसकी मिठास से भरे हुए गान अब तक तैर रहे हैं, आग लगा दे, कालिदास, तुलसीदास, गालिब और इक़बाल की महान् रचनाओं की होली जलाये और भारत की सभ्यता और संस्कृति के दूसरे नमूनों को, कला और साहित्य के सर्वोत्तम भांडारों को खाक में मिला दे तो आपका दिल दुखेगा या नहीं? कम से कम मैं तो ऐसे उजड़े हुए देश या ऐसी वीरान दुनिया में एक पल भी रहना पसंद न करूँगा।

मानव की हज़ारों साल की मेहनत ने जिस सौंदर्य और आह्लाद की रचना की हो, जो सिर्फ व्यक्ति ही की नहीं समूचे राष्ट्र की संपत्ति हो, जिसमें हमारी राष्ट्रीय चेतना और सामूहिक विवेक की झलक हो, जिसमें हमारे पुरखों की भावनाओं और अनुभूतियों का दिल धड़क रहा हो, उसकी हिफाजत को हर व्यक्ति अपना पवित्र कर्तव्य समझता है। कुछ चीज़ें होती हैं जिनके सहारे मनुष्य जीवित रहता है। गुलामी की अँधेरी और सर्द रातों में आशा की एक किरण-सी फूटती नज़र आती है और हमें साँस लेने का हौसला होता है।

हर राष्ट्र के लाखों और करोड़ों दिल और दिमाग़ मिलकर उसकी प्रकृति की रचना करते हैं। प्रत्येक युग की एक आत्मा होती है जो हमें कला और साहित्य की अनमोल कृतियों में दिखाई पड़ती है। इसीलिए हम इन रत्नों का आदर करते हैं, पवित्र समझते हुए हम इनका स्पर्श करते हैं, इन पर गर्व करते हैं। इनमें हम अपनी अछूती इच्छाओं और आनंददायक स्पृहाओं को पूरा होते देखते हैं। हम यह समझने लगते हैं कि सौन्दर्य परखने की हमारी सबसे अच्छी कसौटी और सुरुचि इन्हीं में पिन्हाँ है। हम यह महसूस करने लगे हैं कि जैसे उनको हमीं ने रचा और गढ़ा है, लेकिन अगर वह मिट जायें तो फिर हम उनका जवाब पैदा नहीं कर सकते। यह किसी एक देश, एक नस्ल और राष्ट्र की नहीं बल्कि सारी मानवता का सामूहिक दायभाग हैं। आज हर धर्म और शरीफ़ आदमी के सामने यह सवाल है कि अपनी सभ्यता और संस्कृति की संपत्तियों की रक्षा किस तरह की जाय। पूरब और पश्चिम से जापान और जर्मनी की शकल में तबाही और विध्वंस का एक तूफ़ान उठ रहा है जो न दुनिया ने कभी देखा था, न सुना था। इन डाकुओं की नृशंसता चंगेज़ और हलाकू से भी बढ़कर है। चोर और डाकुओं के पास भी अपना विवेक होता है। बहुत से पतित आदमियों में भी महानता की ओर जाने की एक छुपी उमंग होती है। लेकिन फ़ाशिस्ट नेताओं की बेशर्मी और ओछेपन को देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। और विश्वास नहीं होता कि मनुष्यों की माँओं के पेट से ऐसे भूत और प्रेत भी पैदा हो सकते हैं—चीनी लेखक और दार्शनिक लिन यू तांग हैरान है कि "जब से परमात्मा ने यह सृष्टि रची है, कभी किसी ने यह

दृश्य नहीं देखा कि हँसते हुए बच्चों को हवा में उछालकर खूनी सिपाही अपनी-अपनी संगीनों की नोक पर रोक लें।" लेकिन चीन की धरती में यह जापानी सिपाहियों का आये दिन का खेल है। रूसी लेखक अलेक्सिस तॉल्सतॉय लिखता है कि "हम नैतिक पतन की उन हीनतम गहराइयों का अन्दाजा भी नहीं कर सकते जहां हिटलर के सिपाही जा गिरे हैं। इन्हें जंगली भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जंगलियों से संस्कृति की सतह तक आने की आशा भी नहीं की जाती। हिटलर के सिपाहियों को इस नाम से याद करना जंगलियों का अपमान है। हिटलर के सिपाहियों को जंगली दरिन्दा कहना प्रकृति का अपमान करना है। वे पतित ढंग के गुण्डे हैं।"

इनके पास नैतिकता और विवेक नाम की कोई चीज़ नहीं है। इनके पहलू में दिल और दिल में एहसास तक नहीं। "अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं के सरदार हिटलर" ने जर्मन राष्ट्र की नई नस्ल की शिक्षा-दीक्षा और उसका संगठन पेशेवर फ़ौजों की तरह किया है। आज वह सारी दुनिया के लिए हैजा और ताऊन से भी बड़ी महामारी बन गई है। इन्हें सभ्यता और संस्कृति, काव्य और संगीत यहां तक कि मनुष्यों के जीवन तक से किसी किस्म की दिलचस्पी नहीं रह गई है। यह गेटे, हाइने और बीथोवेन का राष्ट्र नहीं है, ये हिटलर, गोबेल्स और गोरिंग की संतान हैं। इनके हर पग में विध्वंस है। इनके पीछे महानाश चलता है। ये जीवित मनुष्यों की जान ही के ग्राहक नहीं बल्कि श्रद्धेय पूर्वजों की याद के भी दुश्मन हैं। ये खुद अपने जर्मन राष्ट्र का नाम धूल में मिला रहे हैं। ये केवल यहूदी नस्ल के आइंस्टाइन, फ्रायड, अर्न्स्ट टोलर से घृणा नहीं करते, बल्कि इनके लिए विशुद्ध जर्मन आर्य नस्ल के अलावा सारी मानवता घृण्य है। इन आदमखोरों के झंडे पर लिखा है : जब मैं सभ्यता का नाम सुनता हूँ तो अपना रिवाल्वर सँभाल लेता हूँ। इनके जीवन-दर्शन का आदि और अन्त घृणा से होता है। आज से प्रायः अस्सी वर्ष पहले ब्रिटिश और फ्रांसीसी सिपाहियों ने पेकिंग के उस ऐतिहासिक महल को लूटा था जिसमें चीन के हजारों साल के गाढ़े श्रम ने शिल्प और चित्रकला का खजाना जमा किया था। लेकिन एक सदी से कम समय में पूँजीवाद का रूप इतना भयानक हो गया है कि आज सभ्यता को आग लगाने वाले और मानवता की हत्या करने वाले फाशिस्ट जर्मनी के सिपाहियों की कांट-छांट से संसार की कोई सुन्दर और पवित्र चीज सुरक्षित नहीं। आज उनकी अँधेरी परछाईं हर रोशनी को अँधेरे में बदल देने पर उतारू है। वह जीवन और अस्तित्व के चिन्ह मिटाकर सारी दुनिया को एक क़ब्रिस्तान बना देना चाहती है। जर्मन फ़ील्डमार्शल जनरल राइशनाउ का १० अक्टूबर सन् १९४१ ई० का एक हुक्म यह है कि सोवियत् इलाके की सिर्फ़ वह इमारतें बाक़ी रक्खी जायँ जिनमें सिपाहियों को रहना हो। बाक़ी तमाम इमारतें मिस्मार कर दो। पूरब के ऐतिहासिक या सांस्कृतिक स्मारकों का कोई मूल्य नहीं है।

६ नवंबर सन् १९४१ को रूसी क्रांति की चौबीसवीं वर्षगाँठ पर भाषण करते हुये स्तालिन ने हिटलरी नैतिकता और राजनीति की असलियत को हिटलर के अपने शब्दों में बयान किया। हिटलर कहता है कि "हम जर्मनों को दुनिया को

पराजित करने के लिये तमाम ढंग काम में लाने चाहिये। अगर हम जर्मनी का विश्व-साम्राज्य बनाना चाहते हैं तो हमें सबसे पहले स्लाव और रूसी, पोल, चेक, स्लोवाक, बलगारी, यूक्रेनी और बेलोरूसी क़ौमों को मिटा डालना चाहिये। कोई कारण नहीं कि हम ऐसा न करें।"

"मनुष्य", हिटलर ने कहा है, "पैदाइशी गुनहगार है। ज़ुल्म के बग़ैर उस पर हुकूमत नहीं की जा सकती। उसे ठीक रास्ते पर लाने के लिए तमाम तरीक़ों का इस्तेमाल वैध है। अगर राजनीतिक पालिसी को सफल बनाने के लिए झूठ बोलने, दग़ा देने, क़त्ल करने की ज़रूरत हो तो इससे हरगिज़ दरेग़ न करना चाहिये।"

"हर उस व्यक्ति को क़त्ल कर दो जो हमारा विरोधी हो।" गोरिंग लिखता है, "क़त्ल करो, क़त्ल करो। तुम नहीं मैं इसका उत्तरदायी हूँगा, इसलिये निडर होकर क़त्ल करो।"

हिटलर लिखता है, "मैं मनुष्य को कलंकित करने वाले उस पाखंड से मुक्त करता हूँ जिसे विवेक कहते हैं। शिक्षा की तरह विवेक भी मनुष्य को काठ का उल्लू बना देता है। मेरी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मैं नैतिकता, विवेक, सिद्धांत या दृष्टि-कोण का पाबन्द नहीं हूँ। ये चीजें मेरी राह में रुकावट नहीं बनतीं।"

अतः जर्मन सिपाहियों ने अपने स्वामियों के आदेश के एक-एक शब्द को पूरा किया। वे जहाँ-जहाँ गये वहाँ-वहाँ ध्वंस और महानाश फैलाते गये। आज सुक़रात और अरस्तू, वीनस और हेलेनी की भूमि यूनान से लेकर वाल्टेयर और रूसो बालजक और ह्यूगो की मातृभूमि फ्रांस तक जर्मन फ़ाशिज़्म की बर्बरता और प्रति-क्रिया का काला झंडा लहरा रहा है। सोवियत् यूनियन के जिन इलाक़ों पर हिटलरी शैतानों ने अस्थायी क़ब्ज़ा कर लिया था और जिन्हें बाद को लाल फौज ने मुक्त किया, वहाँ वे अपने भयानक पदचिह्न छोड़ गये। उन्होंने रूस के मशहूर संगीतकार चाइकोव्स्की का स्मारक मिटा दिया, विश्व-विख्यात कहानीकार चेखोव की जन्मभूमि का अपमान किया और गोगोल ऐसे साहित्यकार की पुस्तकें जला दीं, पुश्किन जिसके काव्य और गीतों ने रूस की साहित्यिक चेतना को उभारा, उसकी क़ब्र खोद डाली और मशहूर विद्वान और विचारक टॉलस्टॉय के घर को जो दुनियाँ के साहित्यिकों के लिए एक पवित्र स्थान था, आग लगा दी। यही नहीं बल्कि उन्होंने कला और संस्कृति के सारे चिह्नों को मिटाने की कोशिश की। जहाँ कहीं उन्हें अतीत के स्मारक मिले, उन्हें मिस्मार कर दिया। अस्त्राखान की धर्मशाला को जो १८ वीं सदी के रूसी स्थापत्य का सर्वोत्तम नमूना थी, तोड़ फोड़कर खत्म कर दिया। कलाकार, साहित्यिक और विद्वान, कोई इनके हस्तक्षेप से बच न सका। वे प्रलय की तरह आये, मौत और भयानक सन्नाटा फैलाते हुए चले गये।

ये आदमखोर संस्कृति और सभ्यता के कितने बड़े दुश्मन हैं, इसका अंदाज़ा इस छोटी-सी घटना से हो सकता है कि जब उन्होंने टॉल्सटॉय के जन्म-स्थान यास-नाया पोल्याना पर क़ब्ज़ा कर लिया था तो वहाँ के बाशिन्दों ने दो जर्मन अफ़सरों को इस तरह बात करते सुनाः एक शिक्षक की गोद में एक बच्चे को देखकर एक अफ़सर ने

उधर इशारा करके कहा, "इसमें कोई शक नहीं कि यह बच्चा कभी रूसी भाषा न बोल सकेगा।" दूसरे अफ़सर ने हाँ में हाँ मिलाते हुए घमंड से कहा, "मुमकिन है कि बुड्ढे रह जायँ जिन्हें रूसी भाषा के दो-एक शब्द याद हों। बाक़ी सब जर्मन भाषा बोलेंगे।"

इस पर तुर्रा यह है कि हिटलरी डाकू अपने आप को सभ्य और सुसंस्कृत समझते हैं और ख़याल करते हैं कि उनकी सभ्यता और संस्कृति दुनियाँ में सबसे अच्छी है।

स्तालिन ने ठीक कहा है कि सिर्फ़ पेशेवर ठग और जालसाज़ ही यह दावा कर सकते हैं कि जर्मन फ़ाशिस्त जिन्होंने सारे योरप मे फाँसी के तख्ते खड़े कर दिये, जिन्होंने पुरअमन आबादी पर तरह-तरह के जुल्म तोड़े, जो शहरों और देहातों में आग लगा रहे हैं और योरप की सांस्कृतिक कृतियों को तबाह व बरबाद कर रहे हैं वे योरप की संस्कृति के अलमबरदार हैं! हक़ीक़त यह है कि जर्मन फाशिस्त योरप की संस्कृति के दुश्मन हैं, और जर्मन फ़ौज मध्य युगों की, प्रगति-विरोधी और दमनकारी फ़ौज है जिसका उद्देश्य यह है कि योरप की सभ्यता को ख़ाक में मिला दे और जर्मन लीडरों और पूँजीपतियों की रक्तरंजित "सभ्यता" का कड़ुवा प्याला अपने गुलामों को पिलाये।

आज विश्व की साधारण जनता से ज़्यादा साहित्यकारों, कलाकारों, वैज्ञानिकों और दार्शनिकों का कर्तव्य है कि वे फ़ाशिज़्म के उपद्रव को कुचलने के लिए उठें। आज काग़ज़ और क़लम, रणक्षेत्र और तलवार में बदल जाने चाहियें। आज हमारी और आपकी ज़िन्दगी ही संकट में नहीं बल्कि वे सारे मूल्य, वे सारे सिद्धांत, वे सारी कलात्मक और सांस्कृतिक कृतियां संकट में हैं जो हम आपको जान से ज़्यादा प्यारी हैं, जिनकी सृष्टि, रचना और रक्षा में सुक़रात के समय से लेकर अब तक दुनियां के सबसे अच्छे दिल और दिमाग़ और स्पृहणीय दार्शनिक, ज़हर का प्याला पीते आये हैं।

ये सुन्दर और पवित्र संस्कार बाक़ी रहेंगे या मिट जायँगे, इसका जवाब हमें देना है। फ़ासिज़्म अपना फ़ैसला सुना चुका है और उस पर अमल कर रहा है।

भारतीय जन-नाट्यशाला

[रामविलास शर्मा]

सांस्कृतिक प्रदर्शनों के मुक़ाबले में भारतीय जननाट्य शाला (Indian People's Theatre) के नाटक शिथिल रहे। बनाव-सिंगार, टीमटाम और अच्छा अभिनय होने पर भी इन नाटकों को देखकर सहसा कोई यह नहीं कह सकता था कि जनता में राजनीतिक और सामाजिक चेतना फैलाने के लिये यहाँ पर एक नये आंदोलन का जन्म हो रहा है। इसका कारण यह हो सकता है कि पीपुल्स थियेटर के संगठनकर्ताओं ने जनता में उसी तरह काम न किया था जिस तरह आंध्र या केरल के अभिनेताओं और उनके निर्देशकों ने किया था। इन नाटकों पर नागरिकता की छाप थी और वातावरण मुख्य रूप से हमारे मध्य वर्ग का था।

आरंभ में श्री हीरेन मुखर्जी ने श्री मनोरंजन भट्टाचार्य की अनुपस्थिति में उनका संदेश सुनाते हुए एक छोटा सा भाषण किया। १९ वीं शताब्दी में पाश्चात्य प्रभाव के कारण नाटक जीवन से भाग निकलने की राह बन गये थे और बड़े बड़े थियेटरों में दिखाये जाने वाले नाटकों में भी जन संपर्क का अभाव ही दिखता था। सोवियत् और चीन में जनता की भाषा में जनता के नाटकों का प्रदर्शन आरम्भ हुआ और उसे अन्य देशों में ऐसे नाट्य आंदोलन आरम्भ हुए। सांस्कृतिक सम्मेलन के प्रदर्शनों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा—मज़दूर वर्ग के साथ आगे बढ़ना इस युग में साहस की सर्वश्रेष्ट परीक्षा है।

पहले, मराठी लेखक अनंत काणेकर का छोठा सा एकांकी नाटक दिखाया गया। विषय था हिन्दू-मुस्लिम एकता का। एक नवाब साहब का मोटर ड्राइवर हिन्दू-संघ में भर्ती हो जाता है जिस पर नवाब साहब से तकरार हो जाती है। उनके लड़के के घायल होने पर वह अपना खून देने के लिये राज़ी नहीं होता लेकिन बहुत समझाने के बाद मनुष्यता के नाते मान जाता है। किसी कारणवश मुसल्मान नौकर के खून से काम न चल सकता था। नवाब और उनके नौकर शोफर का अभिनय बहुत अच्छा था। इस तरह के नाटक देखकर पता लगता है कि हमारे लेखक हिन्दू-मुस्लिम समस्या की वास्तविकता से कितनी दूर हैं।

तिंग लिंग का चीनी नाटक हंस में छप चुका है। इसका अंग्रेजी में प्रदर्शन किया गया था। इस नाटक में भी वास्तविकता का अभाव-सा था। यदि कोई हिन्दुस्तान में ही बैठकर चीन के बारे में नाटक लिखना चाहे तो बिना दिक़्क़त के ऐसा नाटक लिख सकता है। कुछ छोटी-मोटी बात नाटक या कहानी में जान डाल देती है जिससे मालूम होता है कि यह नाटक चीन में ही लिखा गया होगा या कहानी हिन्दुस्तान में ही लिखी गई होगी। इस तरह की कला का यहाँ अभाव था। दो

चीनियों का उत्पीड़न, जापानियों से ऊपरी ढंग से मिले हुए एक चीनी का अपने शत्रुओं का भेद लेना, प्रेमिका द्वारा शत्रु समझ कर छुरे से घायल किया जाना और मरने के पहले प्रेमिका को अपने कागज-पत्तर देकर प्रेम की बात कह उसे बाहर भगा देना और फिर "डाउन विद् जैपनीज़ इम्पीरियलिज्म" कह कर स्टेज पर गिर पड़ना—यह नाटक का कथा विषय था। सांस्कृतिक सम्मेलन में कोई भी प्रदर्शन अंग्रेजी में न था, यानी डेवनशायर के किसानों या मज़दूरों का नाच दिखाने की कोशिश न की गई थी। लेकिन पीपुल्स थियेटर ने चीनी नाटक को अंग्रेज़ी पोशाक में हिंदुस्तानी जनता के सामने रखा। फिर भी लोगों ने करतल ध्वनि के साथ उसका स्वागत किया तो इसलिये नहीं कि नाटक अच्छा था बल्कि इसलिये कि जनता के हृदय में चीन के प्रति सहानुभूति है और जापानी साम्राज्यवाद के प्रति उत्कट घृणा। विनय राय ने "लुटेरा जापान" गीत गाया था। वह अकेला गीत इस नाटक से कहीं अधिक हृदय को स्पर्श करता था।

बंगला का नाटक एक वैज्ञानिक और उनके कवि पुत्र के बारे में था। कवि एकांत चिंतन में लीन हैं और जनता मौन और निराश है। कुछ नौजवान लड़के जागरण का गीत गाते हुए आते हैं और उसे सुनकर जनता भी जागती है और कवि का एकांत चिंतन भी समाप्त होता है। अब पिता से संघर्ष समाप्त होता है। पिता नहीं चाहते कि लड़का राजनीतिक कार्यों में भाग ले परन्तु अन्त में लड़के की विजय होती है। निर्माण की दृष्टि से यह एक सफल नाटक था परन्तु अभिनय में जन-गीत ही सबसे अच्छे थे। विज्ञान के प्रोफेसर का मेकअप और अभिनय लैबोरेटरी असिस्टेंट का था और उनके लड़के के अभिनय में स्वाभाविकता की कमी थी। ऐक्टिंग की चेष्टा ने अभिनय को ख़राब कर दिया था। आरम्भ में पाँच आदमियों का एक ही मुद्रा में हाथों से घुटने बाँधे हुए बैठना—और उनके आगे कवि का श्री रवींद्रनाथ ठाकुर का गीत गा कर उन्हें और हताश करना, फिर विनय राय का साथियों के साथ गीत गाना और पिता-पुत्र के विवाद में खिड़की से जन गीत की आवाज़ फिर सुनाई देना—ये नाटक के प्रशंसनीय स्थल थे।

अन्त में बम्बई फिल्म जगत् के प्रसिद्ध लेखक और बम्बई के प्रगतिशील लेखक संघ के मन्त्री और अब अखिल भारतवर्षीय प्रगतिशील लेखक संघ के सहायक मन्त्री श्री ख्वाजा अहमद अब्बास का नाटक खेला गया। नाटक अच्छा था इसलिये कि रोचक था लेकिन उसे रोचक बनाने के लिये जिन उपायों का सहारा लिया गया था, उन्हें कोई उच्च कोटि का कलाकार कभी न अपनाता। उर्दू के साधारण प्रहसनों की तरह आरम्भ में मियाँ बीबी की मीठी तकरार हुई है; मियाँ वैज्ञानिक हैं, कीमिया-गीरी के जमाने के, अमृत तैयार कर रहे हैं लेकिन बँगला नाटक के प्रोफेसर का चोगा पहने हुए हैं। अमृत बना लेने पर ख्वाब में चञ्चली देवी फिल्म स्टार कीमियागर या वैज्ञानिक जी के पास तशरीफ लाती है और दोनों में ऐसा भद्दे ढंग का मज़ाक होता है जैसा बहुत सस्ते फिल्मों में ही देखने को मिलता है। चंचली देवी नाम भी खूब है!

अब्बास साहब ने शा और उनसे विवाह करने की इच्छा रखने वाली सुन्दरी का मज़ाक भी ज्यों का त्यों अपना लिया था। अमृत पीने के लिये जान बुल आये और जान बुल को लेकर बहुत सस्ते किस्म का प्रोपैगैंडा किया गया। हिटलर भी आया लेकिन उसे भी अमृत पीने को न मिला। अन्त में एक मज़दूर को सबसे योग्य समझकर वैज्ञानिक जी ने अमृत पीने को दिया परन्तु उसने इसकी आवश्यकता न समझी क्योंकि मज़दूर कभी मरते नहीं। मजदूरों से सहानुभूति प्रकट करने का ख़याल अच्छा था लेकिन पीपुल्स थियेटर के नाटकों से इससे कुछ और ज्यादा की आशा हम कर सकते थे। आंध्र, केरल, बंगाल, पंजाब के नाच गाने जनता के इतने ज्यादा नजदीक क्यों थे। इसका कारण एक कटु सत्य है जिसका सामना करना ही होगा और वह यह है कि नागभूषणम या विनय राय की तरह ख़्वाजा अहमद अब्बास और अनिल डिसिल्वा ने जनता से संपर्क प्राप्त नहीं किया, उतना भी नहीं जितना एक प्रगतिशील लेखक के लिये अनिवार्य है। इस जन सम्पर्क के अभाव में पीपुल्स थियेटर एक स्वांग भर बन सकता है, जिससे कुछ मध्य वर्ग के युवक-युवतियों का मनोरंजन भले हो जाय, जनता का कुछ भी भला नहीं हो सकता। प्रगतिशील आन्दोलन बदनाम ज़रूर हो सकता है।

काव्य की मूल प्रेरणा

[श्रीचन्द्र अग्निहोत्री]

कविता मनुष्य की आदिम कला है। आदिम युग में कविता का कोई स्वतंत्र स्थान न था, क्योंकि उस समय मनुष्य का सारा ज्ञान, अनुभूति काव्य में रूप ग्रहण करता था। धर्म, इतिहास, जादू विद्या, क़ानून सभी का वाहन काव्य या गति था। वह काव्य आधुनिक अर्थ में काव्य न था, उसकी विशिष्टता थी आवेशमय भाषा। शब्द, झंकार, छन्द, अनुप्रास के संयोग के कारण आदिम भाषा में जो मोहकता आ गई थी, जो आकर्षण उत्पन्न हो गया था, उसी से वह काव्य के आसन पर बैठी। सुर था आदिम भाषा का प्राण। वह भाषा विशेष चित्ताकर्षक और चित्रात्मक थी। पुरानी अटूट भाषा के द्वारा सभी भाव दूसरे के मन में पूर्ण रूप से प्रतिफलित होते थे। इसीलिए आदिम भाषा और काव्य में बहुत घनिष्ठ आत्मीयता थी। आदिम मनुष्य प्रत्येक शब्द का व्यवहार रूपक के तौर पर करता। सभ्यता के क्रमिक विकास और यांत्रिक सभ्यता के आविर्भाव के साथ साथ भाषा में जो परिवर्तन हुआ है, उससे अनेक पुराने शब्दालङ्कारों की सरसता और सौन्दर्य नष्ट हो गया है। जीवन यात्रा जब धीरे धीरे जटिल होने लगी, तो भाषा की वह आदिम सरलता और स्फूर्ति लुप्त हो गई, और धीरे धीरे आया गद्य। गान और गीति काव्य का जब जन्म हुआ था, तब गद्य न था।

कोई भी प्रीतिकर उत्तेजना, अनुभूति या शंका संगीत के छन्दों में फूट पड़ती। असभ्य जंगली थोड़ा उत्तेजित होने पर भूकम्प के समय, शिकार के समय, विवाह के समय गान करता। उसकी गान रचना मौखिक ही चलती। नदी की छाती पर नाव के डाँड़ चलाते समय हब्शी या तो कोई प्रणय कहानी कहता या किसी सुन्दरी नारी के रूप का वर्णन करता। पूर्व अफ्रीका का निवासी कुछ उलटे पुलटे अर्थ हीन शब्दों को एक साथ, स्वर के साथ बार बार दोहराते न थकता। कार्लबुशर का कहना है कि संसार की समस्त जातियों के दैनिक जीवन के कार्यों का एक मात्र सहायक है यह छन्दबद्ध गान (Arbiet und Rhythmus)। आदिम युग में जहाँ महाकाव्य का कुछ भी चिह्न नहीं मिलता, वहाँ भी गीति-काव्य का एक आध चिह्न प्राप्य है। बोयस का कहना है :—

"जहाँ महाकाव्य का कुछ चिह्न नहीं, वहाँ भी गीतिकाव्य के कुछ चिह्न मिल सकते हैं। यह गीतिकाव्य अर्थहीन संगीतानुयायी शब्द-विन्यास हो सकता है; या इस शब्द झंकार के बीच कुछ ऐसे शब्द भी हो सकते हैं जिससे कोई विशेष भाव या अनुभूति व्यक्त हो सके; या युद्ध, धर्म, प्रेम, और प्राकृतिक सौन्दर्य के सम्बन्ध में किसी भावावेश का प्रकाशन हो सकता है।" (इण्टरनेशनल जर्नल, अमरीका)

थलबित्ज़र (W. Thalbitzer) का कहना है कि ग्रीनलैण्ड की इस्किमो जाति के जादू मंत्रों में कुछ ऐसे शब्द उच्चरित होते, जिनका अन्यत्र बात चीत में कभी व्यवहार न होता। मेथरिस और अफ्रीका के हब्शियों के धर्मसूत्रों में भी ऐसे मंत्र पाये जाते हैं। जेसपर्सन ने The Oath of the Canting Crew से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं :—

No dimber, dambler, angler, dancer.
Prig of cackler, prig of pancer.
No swigman, swaddler, clapper-dudgeon,
Cadge-gloak, curtal, or cur mudgeon.
(Farmer's Muse Pedestris).

कविता का विशेष गुण है संगीत। संगीत के छन्द में संघ आवेग (Collective Emotion) को प्रकाशित करने का प्रचुर अवसर है। इसी से आदि काव्य संगीत-धर्मी है। लेकिन आदिम मनुष्य को इस संघ आवेग की ज़रूरत क्यों थी ? बाघ, शत्रु, भूकम्प या वृष्टि का भय दूर करने के लिये संघबद्ध होना तो मनुष्य का जन्मगत स्वभाव है। जहाँ सभी के विपत् में फँस जाने की आशंका है, वहाँ सब मिलकर उसका सामना करेंगे। इस कार्य में इस संघ भाव को जाग्रत करने के लिए बाहर के किसी उपाय का अवलम्बन करने की क्या ज़रूरत ? नृत्य या उत्सव में गान गाकर वह मनोभाव जाग्रत करने की आवश्यकता तब होती है, विशेषतया समाज की दृष्टि से, जब बाहर कुछ दिखलाई न पड़ते हुए भी किसी घटना के घटित होने की सम्भावना हो। इस समय हो सकता है बाघ ने आक्रमण नहीं किया या अतिवृष्टि नहीं हुई लेकिन भविष्य में बाघ आक्रमण कर सकता है, और अति वृष्टि हो सकती है। यह निरी कल्पना नहीं, इस आशंका के पीछे है अतीत की अभिज्ञता। इसलिए किसी घटना के सामने घटित न होने पर भी भविष्य में घटित होने की सम्भावना होने के कारण ऐसे किसी उपाय का अवलम्बन करने की आवश्यकता होती है, जिससे बीच बीच में यह संघ भाव सबके हृदयों में जाग्रत किया जाय। इसीलिए संगीत की आवश्यकता है। इस प्रकार जीविका और निरापद रहने की आवश्यकता से हुआ काव्य का जन्म, और वास्तव (Reality) से हुई अवास्तव (Illusion) की सृष्टि।

आदिम मनुष्य को अपने नितान्त अर्थनीतिक उद्देश्य—शिकार पाने या फसल पैदा करने के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ता था। केवल जन्म-जात प्रवृत्ति के द्वारा वह उद्देश्य सिद्ध न होता। वह जन्म-जात प्रवृत्ति किसी सामाजिक उपाय से अन्न की माँग की पूर्ति के लिए काम में लाई जाती। इस सामाजिक उपाय का एक मुख्य अङ्ग था संघ-उत्सव (Group Festival) जहाँ सबका पुंजीभूत हृदयावेग एकता-बद्ध निर्दिष्ट पथ में मुक्त होकर बहता। आदिम काव्य का जन्म इसी संघ-उत्सव से हुआ। असली उद्देश्य अर्थात् फ़सल का अस्तित्व वहाँ नहीं है। इस समय फ़सल

रहती है कल्पना में, और काल्पनिक फ़सल उत्सव-मत्त मनुष्य की आँखों के आगे लहलहाती है। नृत्य की उन्मत्तता में, संगीत के सुरों के आरोह अवरोह में और कविता के छन्दों में आदिम मनुष्य प्रत्यक्ष वास्तव से अपने को अलग करके इस काल्पनिक संसार में ला बैठाता; जहाँ उसकी आँखों के सामने श्यामल शस्य पवन के झूले पर झूलता। उस समय यही काल्पनिक जगत् संगीत की उन्मादना से वास्तव से बड़ा जगत् जान पड़ता। उत्सव समाप्त होने पर वह संसार मिट न जाता। फ़सल के उस काल्पनिक जगत् को वास्तव का रूप देने के लिए आदिम मनुष्य संगीत से अनुप्राणित होकर एक साथ आनन्द पूर्वक परिश्रम करता।

लेकिन किस तरह यह संघ-भाव सजग होता? जो शब्द दैनिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य के भावानुषंगी (Emotional Associates) हुए हैं, वही धीरे धीरे एकत्र होकर छन्द के द्वारा संगीत में मूर्त होते।

आदिम कला इस प्रकार संघ-भाव (Collective Emotion) पैदा करके उसे निर्दिष्ट अर्थनीतिक उद्देश्य-साधन के पक्ष में चलाती। इसके परिणाम स्वरूप परिश्रम का अवसाद बहुत कम होता, और मनुष्य श्रम में आनन्द प्राप्त करता। मिल कर सब ज़मीन जोतते, अन्न बोते। इस सम्मिलित श्रम की संचालिनी शक्ति था संघ-आवेग, और इस संघ-आवेग का जनक था संगीत या आदिम काव्य।

समाज के क्रमिक विकास के साथ साथ यह हृदयावेग बदला। आदिम खाद्य-संग्रहकारी और शिकारी मनुष्य अपनी इच्छा और आकांक्षा को चरितार्थ करने के लिए अपने को प्रकृति के बीच में छोड़ देता। प्रकृति के साथ सामञ्जस्य बनाये रखने के लिए वह अपने सामाजिक रूप में परिवर्तन करता, इसीलिए आदिम कला प्राकृतिक और अप्रत्यक्ष (Perceptive) थी। जैसे पुरातन प्रस्तर-युगीय मनुष्य (Palaeolithic man) का चित्रांकन और ऑस्ट्रेलियन असभ्यों का पक्षियों और पशुओं का अनुकृत नृत्य और संगीत। गोत्रगत पूजा, जादू, टोना आदि (Totem) हुआ उपलक्ष्य और मनुष्य प्रकृति। इसके बाद एक स्तर ऊपर आया फ़सल पैदा करनेवाला और पशु पालने वाला मनुष्य। प्रकृति को ग्रहण करके उसे बदलने की चेष्टा अपनी इच्छा पूर्ति के लिए हुई। इसीलिए इनकी कला हुई इच्छा प्रसूत (Conative) जैसे नूतन प्रस्तर-युगीय मनुष्य (Neolithic) के काल्पनिक चित्रों का सौन्दर्य, और अफ्रीकन तथा पॉलिनिसियन गोष्ठियों का धर्मोत्सव। इसका उपलक्ष हुआ शस्य-देवता, पशु-देवता और प्रकृति हुआ मनुष्य। इसके बाद इसी प्रकार गोष्ठी में प्रकृति को वरण करने के फल स्वरूप श्रम-विभाग की सूचना मिली और धीरे धीरे प्रभु, पुरोहित और शासक श्रेणी का अविर्भाव हुआ। कला उस समय प्रभु का स्तुति गान करती और देवता भी गुण कीर्तन करते। मनुष्य प्रकृति के साथ विभेद और एकता के सम्बन्ध में सचेतन होकर धीरे धीरे अपने भीतरी विभेद के सम्बन्ध में सचेतन हुआ, क्योंकि इस सचेतनता का वातावरण विद्यमान था।

इस प्रकार समाज के क्रम-विकास के साथ साथ मनुष्य ने परिस्थिति के साथ संग्राम कर के काव्य को समृद्ध किया। अर्थनीतिक आवश्यकताओं को दूर करने के

लिए जिस तरह उत्पादन का अस्त्र धीरे धीरे उन्नत हुआ, उसी प्रकार काव्य भी प्राथमिक प्रेरणा से उन्नततर अवस्था में रूपायित हुआ। उत्पादन का अस्त्र मनुष्य के हाथ में ही नये कार्य में लगा। हाथ की आकृति में ज़रूर परिवर्तन न हुआ, लेकिन अस्त्र का व्यवहार बदल गया। आदिम मनुष्य के साथ इस युग के मनुष्य की यदि कुछ भी आन्तरिक एकता है, तो वह है मनुष्य के हृदय की सहज प्रवृत्ति के साथ अर्थात् मनुष्य के चिर-आकांक्षा-मुखर, वासनास्पन्दित हृदय के साथ। सामाजिक क्रम विकास के प्रत्येक स्तर में अनुभूति बदल जाती है, वासना नई वासना का रूप लेती है, लेकिन मनुष्य के भीतर का अबोध वासना-स्रोत कभी नहीं सूखता। वह सदैव बहता है, गतिशील है। क्रमोन्नति से युग युग में उसका विकास होता है। आदिम काव्य की भाँति मनुष्य युग-युग में काव्य की प्रेरणा से एक काल्पनिक जगत् में अपने को छोड़ता है, क्योंकि यह काल्पनिक होता है, उस समय के वास्तव जगत् से अधिक वास्तव। यह अधिक वास्तव जगत् तब भी प्रत्यक्ष जीवन्त वास्तव में परिणत नहीं हुआ, और इसी परिणति के लिये काव्य-कल्पना में उसका अभिनन्दन करता है। यहाँ ग़लत समझ बैठने की गुंजायश है, लेकिन ग़लत कुछ भी नहीं है। पूछेगा कि—तो काव्य ऐसी कोई चीज़ देगा, जिसका अस्तित्व नहीं। ऐसी बात नहीं। बखार लगे धान और लहलहाते खेतों के सम्बन्ध में काल्पनिक उत्सव किये बिना मनुष्य खेती के लिये परिश्रम न करेगा। संगीत की मत्तता उसकी थकान दूर करेगी। एक साथ निकले संगीत के सुर पर ताल देकर वह हल जोत कर, बीज बोकर, खेत निराकर, फसल तैयार करेगा। अन्न की जरूरत भी उसे है। अन्न उपजाने के लिए उपयुक्त परिस्थिति भी है। ज़रूरत है प्रेरणा की। काव्य यह प्रेरणा जगाता और मनुष्य को उन्नततर वास्तव में ला बिठाता है। इस उन्नततर वास्तव में लाया मनुष्य तब काव्य की उन्मत्तता से उसे अपने श्रम से प्रत्यक्ष वास्तव में रूपायित करने की चेष्टा करता है। अन्ध सहज-प्रवृत्ति से यह रूपान्तर नहीं उपस्थित होता। अर्थनीतिक उद्देश्य-साधन की सक्रिय चेष्टा से यह रूपान्तर होता है। काव्य के उपादान का प्रत्यक्ष अस्तित्व काव्य का सत्य (Truth) नहीं, काव्य की गतिशीलता और संघ-आवेग (Collective Emotion) काव्य का सत्य है।

भाव की गम्भीरता में निमज्जित होने का जिसके पास अवसर न था, उस आदिम मनुष्य को सानुप्रासिक शब्दों के आघात से संगीत के सुर से उत्तेजित और अनुप्राणित किया जाता। इसी छन्द और सुर की प्रेरणा से मनुष्य खेत में काल्पनिक जगत् को वास्तव रूप देने के उद्देश्य से एक साथ जाता। इसी लिए उसे रूपायित करने के लिए श्रम करने में उसे अवसाद न आता। धीरे धीरे प्रकृति के साथ संग्राम और उन्नततर समाज व्यवस्था के फल स्वरूप कर्ममय जीवन में काव्य के स्वाद से वंचित होने पर मनुष्य ने अवसर मिलने पर जीवन में विनोद के लिए काव्य को ग्रहण किया; क्योंकि श्रम विभाग के परिणाम स्वरूप समाज वर्ग विभक्त हो गया। उसमें शासक वर्ग की शासन व्यवस्था ने एक वर्ग को प्रचुर अवसर दिया, और एक वर्ग को दिया श्रम के बदले मुशकिल से ज़िन्दा रहने का अधिकार। वर्गहीन समाज के बिना काव्य

में वह संघावेग मूर्त होकर मनुष्य को कर्म-प्रवण न कर सकेगा। इसी लिए इस युग के काव्य में मंगल-वाणी नहीं, गति नहीं, स्फूर्ति नहीं। यंत्र के फन्दे में पड़कर वह भी यंत्रवत् हो गया है। यन्त्र में उसे विराट्शक्ति का परिचय नहीं मिला। वास्तव से घबरा कर कहीं वह उस पार जाने के लिये निशा और मृत्यु को निमन्त्रण देता है, कहीं छाया लोक में रहस्यमय मकड़ी का जाला बनाता है। वह अपना स्वर्ण युग ला सकता है युग वाणी बनकर, वास्तव के कठोर धरातल पर अपना भवन बनाकर।*

---

* कॉडवेल की 'इल्यूज़न और रियलिटी' के आधार पर।

कुकुरमुत्ता

[प्रकाश चन्द्र गुप्त]

प्रसिद्ध छायावादी कवि 'निराला' "कुकुरमुत्ता" "खजोहरा", "गर्म पकौड़ी", "रानी और कानी" आदि नई कविताएँ लिख कर हिन्दी काव्य को एक नवीन दिशा सुझा रहे हैं। कुछ आलोचक इसको 'निरालापन' कहेंगे। वास्तव में 'निराला' जी के काव्य की यह नवीन धारा आज की कठोर सामाजिक भूमि से टकरा कर ही निकल रही है। अंग्रेज़ी के अति-आधुनिक (Modernist) कवि टी. एस. इलियट (T. S. Eliot) आदि के काव्य की गति भी कुछ ऐसी ही भग्न, ऊबड़-खाबड़ होती है। साहित्य की इस विचित्र धारा के अनुरूप ही चित्र और शिल्प कलाओं में हमें कुछ वाद Cubism, Sur-realism आदि मिलते हैं।

'निराला' जी के काव्य की गति, लय और ताल से परिचित पाठक को इन नई कविताओं का संगीत कुछ विशेष आश्चर्य में न डालेगा। 'निराला' जी सदा ही ध्वनियों के जोड़-तोड़ से परीक्षा करते रहे हैं। कविता और कहानी में आपने विप्लवकारी प्रयोग किए हैं। गद्य में "बिल्लेसुर बकरिहा", "सुकुल की बीवी" "कुल्लीभाट" आदि इसके उदाहरण हैं। कविता के प्रति आप अपने छायावादी काल में कहते हैं :—

"वही तोड़ बन्धन
छन्दों का निरुपाय—

अर्ध विकच इस हृदय-कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह !"

छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता की महान ऐतिहासिक शक्ति है। महादेवी जी के अनुसार जीवन का सूक्ष्म सत्य छायावादी कविता में प्रगट हुआ। स्थूल के प्रति जो अरुचि छायावाद को थी, उसका आज अवश्य ही लोप हो रहा है। छायावाद के प्रिय कवि पन्त और 'निराला' आज प्रवासी हो गए हैं। महादेवी जी की मृदु, कोमल 'दीपशिखा' अवश्य ही आज भी छायावाद के प्रकोष्ठ में अपना मधुर, स्थित आलोक बिखरा रही है।

"कुकुरमुत्ता" धरती की कोख से पैदा हुआ है। उसे खाद, सिंचाई, यत्न के लालन-पालन की अपेक्षा नहीं। उसका छत्र चाहे जहाँ तन जाता है। यदि गुलाब शोषक है, दूसरों के रक्त-स्वेद से पलता है, तो मानो कुकुरमुत्ता श्रमजीवी है, अपने ही पौरुष से पला। सत्य की इस ठोस धरती से कुकुरमुत्ता का जन्म हुआ है।

'निराला' जी की प्रेरणा कभी यथार्थ से विमुख नहीं रही। "तोड़ती पत्थर" जैसी कविता वास्तविकता की ठोस भूमि पर है ;

"वह तोड़ती पत्थर ;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार ;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार बार प्रहार :—
सामने तरु-मालिका, अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप ;
गर्मियों के दिन।
दिवा का तमतमाता रूप ;
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू।
गर्द चिनगीं छा गईं,
प्रायः हुई दुपहर :—
वह तोड़ती पत्थर।

"कुकुरमुत्ता" में उसी प्रेरणा की कड़ियाँ कुछ आगे बढ़ी हैं। 'निराला' जी का रोमान्स और व्योम में विचरता हुआ छायावाद आज पंख कटे पक्षी की भाँति अवश्य पृथ्वी पर आ गिरा है। भयंकर संकट में पड़ी मानव जाति अपनी गिरी दशा से कवि के उदार हृदय को क्षुब्ध कर रही है :

"बाग़ के बाहर पड़े थे झोपड़े,
दूर से जो दिख रहे थे अधगड़े ;
जगह गन्दी; रुका सड़ता हुआ पानी
मोरियों में; ज़िन्दगी की लन्तरानी—
बिलबिलाते कीड़े; बिखरी हड्डियाँ;
सेल्हरों की, परों की, थीं गड्डियाँ;
कहीं मुर्ग़ी कहीं अन्डे।
धूप खाते हुए कन्डे।
हवा बदबू से मिली।
हर तरह की बुसीलीई पड़ रहीं।..."

पृथ्वी की इस कुरूपता से बँधी कवि की दृष्टि को छुटकारा नहीं मिलता और छुरी से तेज़ व्यंग से समाज की अहम्मन्यता को वह तराश कर विचलित कर देता है।

"कुकुरमुत्ता" वास्तव में व्यंग-काव्य है जिस प्रकार टी० एस० इलियट का "वेस्टलैण्ड" (The Waste Land") किन्तु "कुकुरमुत्ता" में न वह प्रसार है, न अतीत की रुपहली स्मृतियों के प्रति मोह। "कुकुरमुत्ता" सीधी भाषा में पाठक के हृदय और मस्तिष्क पर सीधा प्रहार करता है :

"एक थे नव्वाब,
फ़ारिस से मँगाये थे गुलाब।
बड़ी बाड़ी में लगाये।
देशी पौधे भी उगाये।
रखे माली कई नौकर।
ग़ज़नवी महमूद का-सा बाग़ मनहर
लग रहा था।
एक सपना जग रहा था
साँस ले तहज़ीब की
गोद में तरतीब की

हिन्दी में शायद अभी तक इतनी चुस्त, मुहावरेदार और सीधी भाषा में कविता नहीं लिखी गई। साथ ही साथ इस भाषा में एक वेग, प्रवाह और सजल संगीत है जो हमको किसी पहाड़ी नद के भैरव स्वर का स्मरण दिलाता है। "कुकुरमुत्ता" का परिचय देखिए :

"देख मुझको, मैं बढ़ा,
डेढ़ बालिश्त और ऊँचा हूँ चढ़ा;
और अपने से उगा मैं,
बिना दाने का चुगा मैं;
क़लम मेरा नहीं लगता,
मेरा जीवन आप जगता।..."

"कुकुरमुत्ता" की विशेषता उसका सर्वव्यापी व्यंग है। इस व्यंग की सर्वज्ञता से कोई सामाजिक पहलू नहीं बचता।

(i) "चुन्ने खाँ के हाथ का मैं ही सितार,
दिगम्बर का तानपूरा, हसीना का सुरबहार।"

(ii) "कहीं का रोड़ा, कहीं का पत्थर,
टी० एस० इलियट ने जैसे दे मारा,
पढ़ने वालों ने जिगर पर रख कर
हाथ कहा, 'लिख दिया जहाँ सारा'..."

(iii) "प्रोग्रेसिव का जैसे क़लम लेते
रोका नहीं रुकता जोश का पारा।"

(iv) "गोली की माँ बंगालिन, बहुत शिष्ट,
पोइट्री की स्पेश्यलिस्ट,
बातों में ज्यों मजती थी,
सारङ्गी वह बजती थी।"

इस सार्वभौम व्यंग के बीच बीच चपल सौन्दर्य लिए कुछेक पंक्तियाँ चमक जाती हैं :

"चलीं दोनों जैसे धूप-छाँह,
गले गोली के पड़ी बहार की बाँह।"

अथवा, कुकुरमुत्ता का कथन :

"सुबह का सूरज हूँ मैं ही,
चाँद मैं ही शाम का।"

व्यंग-काव्य में अतिशयोक्ति स्वाभाविक है। कहीं कहीं अपने वर्णन की बाढ़ में कवि इस प्रकार बह गया है कि हम सोचने लगते हैं, क्या कवि पाठक का मज़ाक़ कर रहा है? कुकुरमुत्ता का आत्म-वर्णन अवश्य ही अतिरंजित है और प्रभावशाली होने पर भी यदि कुछ पंक्तियाँ तराश दी जातीं, तो अधिक प्रभावशाली हो जाता।

इस प्रकार के व्यंग-काव्य की महत्ता पाठक कठिनाई से पकड़ पाता है। इस पर हँसना भी आसान है। बड़े कवि जब एक शैली को अपना लेते हैं, तो उनकी 'पैरडी' (parody) आसानी से हो सकती है। 'कुकुरमुत्ता' की अच्छी 'पैरडी' उर्दू के प्रसिद्ध कवि और आलोचक श्रीरघुपति सहाय 'फ़िराक़' ने की है।

"अबे, सुन बे, हुँड़ार,*
भूल मत जो खा के लेता है डकार।
खून चूसा तूने इस बकरे का दुष्ट,
कह तो अपने कटु-वचन कर दूँ मैं पुष्ट।
क्या न बकरे ने जपा था हर का नाम?
क्या न बकरे को पड़ा दुख सुख से काम?
क्या न बकरे को 'सताया जाड़ा घाम'?
माँस बकरे का लगा जो तुझको मिष्ट?
भ्रष्ट कितनी हो गई है तेरी दृष्टि?
काम तूने क्यों किया ऐसा निकृष्ट?
मित्र हैं मेरे निराला जो घनिष्ट?
है मेरा 'शुचिनाम' श्री रघुपति सहाय
मेरी भाषा है कहीं से भी न क्लिष्ट
कह तो तुकबन्दी से भर दूँ लाखों पृष्ठ।..."

---

* हुँड़ार गँवारू भाषा में भेड़िए को कहते हैं।

"रानी और कानी" शीर्षक कविता में कवि के हृदय की पीड़ा का हमें अच्छा परिचय मिलता है। रानी एक कहारिन की लड़की थी; वह कुरूप और कानी थी किन्तु खूब काम करती थी। फिर भी उसकी माँ उसके विवाह की बात सोच कर दुखी थी;

> फिर भी माँ का दिल बैठा रहा,
> एक चोर घर में पैठा रहा,
> सोचती रही वह दिन रात,
> कानी की शादी की बात,
> मन मसोस रहती
> जब आ पड़ोस की कोई कहती,
> 'रानी, औरत की ज़ात
> ब्याह, कहो, कैसे हो,
> कानी जो है वह?'
> सुनकर रानी का दिल हिल गया,
> काँपे सब अङ्ग,
> दाँई आँख से
> आँसू भी बह चले माँ के दुख से,
> लेकिन वह बाँई आँख कानी
> ज्यों-की-त्यों रह गई रखती निगरानी।"

आज कवि ने जान-बूझ कर जीवन की कुरूपता को अपनाया है। मेसफ़ील्ड की भाँति मानो वह कहता है: "मेरे गीत संसार के सभी पीड़ित, भग्न, टूटी वस्तुओं के विषय में, गूँगे, लँगड़े-लूले, अन्धों के बारे में हों!" आज मधु के बदले कवि विष का घूँट अपने पाठकों को पीने के लिए दे रहा है; क्या उनमें इतनी शक्ति है कि उसे पी सकें?

"खजोहरा" में कवि ने ग्राम-जगत का बड़ा सजीव चित्र खींचा है। सावन में ग्राम-छवि का स्मरण कर कवि का मन आह्लाद से भर गया है और उसके व्यंग की तेज़ धार कुछ उतर गई है:

> दौड़ते हैं बादल काले-काले,
> हाईकोर्ट के वकील मतवाले।
> जहाँ चाहिये वहाँ नहीं बरसे,
> देख धान सूखते नहीं तरसे।
> जहाँ भरा पानी वहाँ छूट पड़े,
> कहकहा लगाते हुए टूट पड़े।
> फिर भी यही बस्ती है माद में
> नातिन-सी नानी की गोद में।

× × × ×

कच्चे घर ऊबड़खाबड़ गन्दे
गलियारे, बन्द पड़े कुल धन्धे।
लोग बैठे लेते हैं जमहाई
चलती है ठंढी-ठंढी पुरवाई।
निराई जा चुकी है खरीफ़,नहीं
करने को रहा कोई काम कहीं।
वर्षा से बढ़ती ज्वार, बाजरा, उर्द;
गाँव हरे भरे सब, कलाँ और खुर्द।
रोज़ लोग रात को आल्हा गाते
ढोलक पर अपना जी बहलाते।
झूलती झूला गाती हैं सावन
औरतें—"नहीं आये मनभावन।'

इन सावन के बादलों के बीच कभी-कभी सूर्य खिल उठता है और गाँव सोने चाँदी सा चमक उठता है :

"पिछला पहर दिन का, पड़ी पीली धूप,
सारे गाँव का हुआ सुनहला रूप।"

अथवा "सूरज की किरन हुई नौजवान,
चाँद मुस्कराया, खिला आसमान।"

इस गाँव में भतीजे के जन्म-समय बुआ बुलाई गई। एक दिन वह तालाब नहाने गई। वहाँ उनको खजोहरा चिपक गया। उनका दोष केवल यह था कि वह सुन्दर न थीं!

"पैठीं ताल में बुआ जैसे हथनी,
मारे डर के काँपने लगा पानी।
लहरें भगीं चढ़ने को किनारे पर,
रेला पानी बुआ ने जब बाहों में भर।
नींव के खम्भों से पैर कीच में थे,
जाँघ से छाती तक अंग बीच में थे।

'निराला' जी का व्यंग आज नारद मुनि के समान समाज के चौरस्तों का चक्कर काट रहा है और उसका प्रहार ऐसा तीखा होता है कि शिकार तिलमिला उठे। उनके काव्य के इस रौद्र-वीभत्स रूप से न घबरा कर हमें अपनी समाज-योजना की ओर मुखातिब होना पड़ेगा और मानना पड़ेगा कि कवि की प्रेरणा का स्वरूप आज और भी सत्य और शिव है।

मनुष्य और पशु

[राधाकृष्ण]

अभी हाल में आदमी ने पशुओं के ऊपर एक भारी विजय प्राप्त की है। पहले इक्के, ताँगे और फिटिन की सवारी थी। उसे घोड़े खींचते थे। फिर रिक्शा का प्रचलन हुआ। इसे आदमी खींचते हैं। लगातार कई वर्षों तक आदमी और घोड़ों में एक भीषण व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता चलती रही। उसके बाद आदमी ने घोड़ों को परास्त कर दिया। अब तमाम रिक्शा ही रिक्शा नजर आते हैं। घोड़े वाली गाड़ियाँ बहुत विलुप्त हो चुकी हैं; कुछ जो बची हैं, सो शीघ्र ही विलुप्त होने को प्रस्तुत हैं।

घोड़े की अपेक्षा आदमी अच्छा होता है। दुलत्तियों का खौफ इनसे नहीं रहता। घोड़े तो कानून की जरा भी परवाह नहीं करके सड़क पर जहाँ-तहाँ लीद कर देते हैं, आदमी के द्वारा ऐसी हरकत नहीं होती। ये कानून की पाबन्दी मानते हैं। इसके अलावा जिस मुसाफिर को ये अपनी गाड़ी पर चढ़ाते हैं उससे दुख-सुख की बातें भी किया करते हैं।

एक रिक्शा वाला मेरी फुलवारी के घर में रहता है। रोज आधीरात को वह टिमटिमाती हुई लालटेन (जिससे मिट्टी के रंग की लाल-सी रोशनी निकलती रहती है) लेकर फुलवारी में घुसता है। मेरे माली से उसकी रिश्तेमन्दी है। रोज रात को वह वहीं सोता है। उसे मैं जानता हूँ। नाम है उसका रामू। उस रामू को मैंने अक्सर फुलवारी में आते देखा है; जाते किसी दिन भी नहीं देखा। तड़के उठकर कब वह चल देता है सो मुझे मालूम नहीं। तब से वह आधी रात तक रिक्शा में जुता रहता है। किसान के बैलों को हल लेकर कभी-कभी ही काम करना पड़ता है लेकिन रामू को सब दिन काम करना पड़ता है। बारहो मास, तीसो दिन। रामू है और उसका रिक्शा है।

सो रिक्शा भी उसका नहीं है। रिक्शा का वह भाड़ा देता है। रिक्शा किसी मध्यवर्गीय विधवा की है। वह कोई काम नहीं कर सकती। उसीने पाँच-सात रिक्शे खरीद लिये हैं। आठ आने रोज के हिसाब से हर एक रिक्शा का भाड़ा मिल जाता है। रामू भी उसी विधवा का रिक्शा खींचता है।

मैंने रामू के रिक्शे पर सवारी भी की है। भीड़ वाली सड़कों पर भी वह आँका-बाँका होकर इस तरह तेजी से दौड़ता है कि देखकर आश्चर्य होता है। मोटर से, बस से, कभी-कभी ऐसा मालूम हुआ कि टक्कर लग जायगी, 'अब लगी अब लगी,' कि रामू बाल-बाल बच कर निकल गया है। पहले लोग इक्कागाड़ी के घोड़े के गले में घुँघरू बाँधते थे। रामू भी घुँघरू रखता है; घुँघरू रखने का कानून है। लेकिन वह इतना करता है कि घुँघरू का हार बनाकर गले में नहीं बाँधता। सिर्फ एक ही घुँघरू वह अपने दाहिने हाथ में रखता है और चलते समय अविराम गति से रिक्शा के

बम्पर से घुँघरू टकराता रहता है। ठक-ठक, ठक-ठक, एक सधा हुआ गत-सा बराबर निकलता रहता है। रिक्शा पर सवारी करने वालों को यह गत कंठस्थ हो जाता है। खुद रामू को भी इस गत के अस्तित्व की याद नहीं रहती। ऐसा गत बजाते रहना उसके लिये अनिवार्य है—ठक ठक, ठक ठक—मधुर-सी एक आवाज। तब राही जान लेते हैं कि पीछे से रिक्शा आ रहा है। वे हट जाते हैं, राह दे देते हैं, रिक्शा आगे निकल जाता है। रामू अच्छा आदमी है। जब मैंने उसे भाड़े के पैसे दिये हैं तब उसे लेते समय उसे कुछ संकोच हुआ है और बरबस हँस कर उसने अपना संकोच हँसी में ढाँक दिया है। वह मुझे पहचानता है। मुझ पर कुछ अहसान-सा भी करना चाहता है, मगर...खैर...

अब मेरे एक मित्र हैं सो लालपुर में रहते हैं। उस दिन उनके यहाँ रामू के रिक्शे पर ही पहुँचा। देखता हूँ कि दरवाजा बन्द है और वहाँ कुर्सी पर एक पुर्जे पर चंद पंक्तियाँ मेरे नाम लिखी हैं कि तुम आओ, तो जरा बैठ जाओ, कुर्सी रखी है। काम जरूरी था। अगर कुर्सी नहीं भी रहती तब भी वहाँ रुकना ही पड़ता। मैं कुर्सी पर बैठ गया और रामू भी वहीं दीवार से सटकर जमीन पर बैठ गया। वक्त काटने और रामू को जानने का यह अवसर मुफ्त में मिल गया था। परिचय को घनिष्ठ करने के अभिप्राय से मैंने पूछा—आजकल कैसा कमाते हो, रामू?

'आजकल' शब्द से मेरा खास मतलब था। उस समय हाल-हाल लड़ाई शुरु हुई थी। लोभी लुटेरों ने हर एक चीज का दाम बढ़ाना शुरू किया था। प्रत्येक चीज पर कंट्रोल भी उसी समय लागू हुआ था। यह नवम्बर १९३९ की बात है।

रामू ने कहा—कमा लेता हूँ, बाबू साहब, सवा-डेढ़ का रोजगार रोज हो जाता है।

'तुम्हारा घर कहाँ है?'

'यहाँ से सात कोस पर एक गाँव है, मुड़या।'

'बाल बच्चे?'

'दो लड़के हैं, एक लड़की है।'

'घर वाली?'

'सो भी है। आजकल बीमार है, बाबू जी!'

उसने एक लम्बी साँस ली।

घोड़े दौड़ते हैं, हाँफते हैं, लेकिन घरवाली के विरह से कातर होकर ऐसी व्यथा भरी लम्बी साँस नहीं लिया करते। अपनी घर वाली की बीमारी की उन्हें सुध नहीं होती और वे ऐसे कातर नहीं होते।

मैंने रामू को सोचने दिया। उसकी घरवाली की स्मृति में कोई बाधा नहीं डाली। मैं खुद सोचने लगा कि रामू का घोड़ा होना ही ज्यादा अच्छा था। तब वह इन प्रपंचों में नहीं पड़ता। सिर्फ खाने और दौड़ने के पीछे मस्त रहता। आदमी होकर यह अपने बाल बच्चों के बारे में चिन्ता करता है, स्त्री बीमार पड़ती है तो सोचता है। इस रामू से तो घोड़े ही अच्छे। रामू के तन पर अगर मुसाफिरों का बोझ रहता है

तो मन पर स्त्री, बालक और घर-दरवाजे का भार रहता है। यह बोझ भी तो कम नहीं। यह तुलना कठिन है कि रामू और किसी घोड़े में कितना वैषम्य है। रामू ने व्यापारिक क्षेत्र में घोड़े को परास्त कर दिया है; लेकिन खुद घोड़ा नहीं हो पाया।

... ...

फिर रामू को नहीं देखा। उसकी मुझे कोई याद भी नहीं थी; लेकिन जब बहुत दिनों के बाद उसे देखा तो याद आया कि बहुत दिनों से मैंने रामू को नहीं देखा था।

रिक्शास्टैंड पर पहुँचते ही रामू ने मुझे सलाम किया। आदमी यह सलाम नाम की चीज खूब पसन्द करता है। रामू की जगह अगर कोई घोड़ा होता, बैल होता या बारहसिंघा ही होता, तो कदापि सलाम नहीं करता। कुत्तों में कुछ-कुछ ऐसी आदत है। वे सलाम नहीं करते, दुम हिलाते हैं। रामू सलाम करता है।

लेकिन रामू को हो क्या गया है? शरीर में हड्डियाँ छोड़कर स्वास्थ्य निकल गया है। आँखें गड्ढे में धँस गई हैं। चेहरा कितना करुण मालूम होता है। अगर कोई बीमार बैल को गाड़ी में जोते, तो हम उसे बुरा-भला कहेंगे। उसे हृदयहीन पशु साबित करने में जरा भी संकोच नहीं करेंगे। लेकिन रामू बीमार बैल नहीं जोतता। वह बीमार रहकर खुद अपने को गाड़ी में जोत लेता है। इसलिए हम नैतिक या कानूनी आपत्ति नहीं करते।

मैं रिक्शा पर बैठ गया।

'कहाँ चलूँ, बाबूजी?'

'घर!'

और रामू घर की ओर दौड़ पड़ा। लेकिन उससे दौड़ा नहीं जाता। धीरे-धीरे दौड़ता है और प्यासे कुत्ते की तरह हाँफता है। रामू बहुत बीमार रहा होगा। उसके बाद उसकी आवश्यकताओं ने उसे रिक्शा में जोत दिया। कोई घोड़ा या बैल ऐसी अवस्था में स्वेच्छापूर्वक गाड़ी से जुतना मंजूर नहीं करता। मगर रामू घोड़े की अपेक्षा ज्यादा समझदार है। कैसा हाँफ रहा है। छाती की हड्डियाँ स्प्रिंग की तरह हिल रही हैं।

जहाँ कोई बाधा न हो वहाँ हम मध्यवर्गीय की सहानुभूति बड़े जोर से उमड़ पड़ती है। मुझे भी जल्दी पहुँचने की कोई जल्दी नहीं थी। मैंने रोक कर कहा— 'तेज चलने की जरूरत नहीं है रामू।'

रामू धीरे-धीरे चलने लगा। तब भी उसे रिक्शा को खींचने में जोर लगाना पड़ता था, तब भी वह हाँफ रहा था।

मैंने पूछा—'बीमार थे क्या?

'हाँ सरकार!' उसने हाँफते-हाँफते जवाब दिया—'बहुत बीमार था। बचने की उम्मीद नहीं थी। छः महीने की बीमारी भोगकर अभी-अभी तो उठा हूँ।'

और अभी ही रिक्शा में जुत गया। जरा स्वस्थ तो हो लेने देता। यह तो ऐसा मरियल हो गया है कि कोई भी इसके रिक्शा पर बैठना मंजूर नहीं करेगा।

रिक्शा पर चढ़ते समय आदमी रिक्सावाले के स्वास्थ्य को भी देखता है। लोग इसकी सूरत देखते ही मुँह सिकोड़ लेते होंगे।

पूछा—'आज कल कैसा कमाते हो?'

'क्या कमाऊँगा, सरकार! लोग मेरे रिक्शा पर चढ़ते ही नहीं। कहते हैं आराम करो!'

मैंने पूछा—'आजकल कितने दिनों से रिक्शा खींच रहे हो?'

'पंद्रह-बीस दिनों से!'

सो रामू कष्ट में है। शरीर और मन कुछ भी ठीक नहीं और हमारा पौने दो मन का शरीर टाँगे जा रहा है। अगर मैं तीन और चार मन का भी होता तब भी रामू उज्र नहीं कर सकता था। उसे ले जाना पड़ता ही।

घर पहुँच कर मैंने उसे पैसे दिये और कहा—देखो कोई जरूरत आ जाय, तो मुझे खबर देना। शायद तुम्हारी कुछ सहायता कर सकूँगा!'

रामू ने कृतज्ञता से हँस दिया।

और उसी रात को उसने खबर भी भेज दी।

ग्यारह बजे होंगे। दिन भर का थका- माँदा, एक उपन्यास पढ़ कर तबीयत बहला रहा था। एक बुड्ढी विलासिनी किस प्रकार उठते हुए नौजवानों को फँसाती थी। लेखक बार-बार हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहा था। ऐसा स्वाभाविक है, ऐसा मनोविज्ञान से सम्मत है। बुढ़िया का दोष नहीं।…कि माली ने आकर समाचार दिया—रिक्शावाला रामू मेरे यहाँ पड़ा है। उसे खून के कै हो रहे हैं। तीन कै हो चुके।

सुनकर मैं सर्द हो उठा।

हमारे एक मित्र डाक्टर हैं। उन्हें बुलाया। रामू को भली भाँति परीक्षा करने के बाद बोले—सेकेंड स्टेज में है!

पूछा—'अब क्या उपाय हो सकता है?'

'सेनिटोरियम! परफेक्ट रेस्ट! और कोई उपाय नहीं है।'

मगर घोड़ा का काम करने वाला यह रामू किसी सेनिटोरियम में कैसे प्रवेश पा सकता है। इस ने घोड़े को परास्त किया था और उसकी कमाई खाता था। इसने पूँजीपतियों को परास्त नहीं किया था कि उन लोगों के समान ही सेनिटोरियम में प्रवेश पा सकता, वहाँ का खर्च उठा सकता।

डाक्टर ने उसे सलाह दी—तुम घर चले जाओगे! और दूसरे दिन सबेरे उठ कर उसने अपने घर की राह ली। यहाँ से सात कोस पर उसका घर था। जो सबको गाड़ी पर बिठाता था आज उसके लिये कोई गाड़ी नहीं थी।

तजरबे

[विष्णु]

एक

दद्दा !   ५-५-१९४३

कल आपकी चिट्ठी मिली। आपके लिखे अनुसार मैंने सब काम करने का प्रबन्ध कर लिया है केवल सामान खरीदना बाकी है। पर दद्दा ! यह महँगाई तो जान निकाले डाल रही है। सोचता हूँ कि कैसे जिया जायेगा लेकिन देखता हूँ कि दुनिया का कोई काम रुका नहीं है। मरना जीना तो किसी के बस की बात नहीं पर यह विवाह शादी भी उसी तरह हुए चले जा रहे हैं। साधारणतः दुनिया की यह दार्शनिकता मुझे पसन्द है पर कभी कभी दिल शंकाओं से भर उठता है। सोचने लगता हूँ कि यह सम्पन्न लोग तो बदहज़मी के दर्द के सामने भूख के दर्द को जान नहीं सकते। मध्यवर्गीय जनता भी एकादशी के एक-आध व्रत के बहाने दिन बिता सकती है परन्तु वे लोग जो सम्पन्नता के युग में भी हफ्ते में चार दिन एकादशी मनाया करते थे वे अब क्या करेंगे।

जब यह बात मैंने अपने एक मित्र से कही तो वे एकदम बोले—अब वे हफ्ते में छ दिन एकादशी मना लिया करेंगे। नंगे को जाड़ा क्या कम, क्या ज्यादा। उसकी आदत ही कम खाने की है और आदत हर एक वस्तु को उचित बना देती है। गान्धी को देखो, रोज कम खाता है तभी जब चाहा व्रत रख कर दुनिया में तूफान मचा देता है।

वे न जाने और भी क्या अन्ट-शन्ट बकने लगे। बोले—सरकार गान्धी के सब हथकन्डे समझ गई है। तभी सारी दुनिया जूझ मरी पर वह टस से मस नहीं हुई। सीता-स्वयम्बर का धनुष बन गई। रावण बाणासुर जैसे वीर जूझ मरे पर टस से मस नहीं हुई। भगवान् इस युग में रहे नहीं जो राम बन कर आते। बात फिर महँगाई, गरीबों से लेकर गान्धी-गवरमेन्ट, राम-रावण तक पहुँच गई। बीते इतिहास की चर्चा उखाड़ डाली गई। वर्तमान के टुकड़े टुकड़े कर डाले गये। दिमाग खौलते हुये दूध की तरह उबलने लगा। कहाँ तो मुझमें करुणा उमड़ी पड़ती थी और कहाँ क्रोध का दावानल फूट पड़ा। मैंने तीव्र होकर कहा—यह सब गान्धी की बदौलत है कि तुम सरकारी खजाने के माल खाकर गुर्राना सीख गये हो नहीं तो अफ्रीका के गुलामों की तरह जंजीरों में बँध कर बाजारों में बिकते फिरते।

उन्होंने एक दम लम्बी साँस खींची। बोले—निशिकान्त ! काश कि ऐसा होता। काश कि मैं जंजीर में बँधा हुआ नंगे बदन जेठ की तपती दोपहरी या माघ पूस के कड़कड़ाते जाड़े में बाजारों में घसीटा जाता। तब या तो मेरे प्राण मुझे ही खा जाते या मुझ पर जुल्म करने वालों के पीछे प्रेत बन कर लग जाते कि उन्हें ही नहीं उनकी दस दस पीढ़ियों को जीना मुश्किल हो जाता। गान्धी की पैदा की हुई उमस में तो

दम घुटा जा रहा है। यह बात मुझे अच्छी नहीं लगती। वरना यह गान्धी हमारे देश का गौरव है निशिकान्त लेकिन अब इसका काम समाप्त हुआ। इसे मर जाना चाहिये। महापुरुष ज्यादा देर जीते अच्छे नहीं होते।

दद्दा! यह सुनकर मेरी क्या अवस्था हुई मैं नहीं बता सकता। क्रोध न जाने कहाँ चला गया। आप जानते हैं मैं कितना कम बोलता हूँ पर जब कभी बोलने लगता हूँ तो बेबस हो जाता हूँ। यह मेरी कमजोरी है। उस दिन भी मेरी कमजोरी के कारण ही बात इतनी बढ़ गई थी। मुझे बड़ी लज्जा लगी। मैंने कहा—कौन जाने शायद तुम ठीक कहते हो?

उन्होंने फिर उसी तरह कहा—शायद यही, मैं ठीक कहता हूँ। भारत में अब पानी बरसने की नहीं आग बरसने की जरूरत है।

'आग?'

'हाँ आग निशिकान्त! वह आग जो सब कुछ जला कर भस्म कर दे। सब कुछ, यहाँ तक कि आत्मा और परमात्मा को भी। तभी वह गरीबी जिसका तुम वर्णन करने चले थे दूर हो सकती है। मैं कुछ कहूँ कि वे फिर बोल उठे—तुमने गरीबी देखी है निशिकान्त! नहीं देखी, केवल वर्णन पढ़ा है शायद किया भी हो क्योंकि तुम तो लेखक भी हो। उन देशों की बात लिखते हो जिसमें रहने वाली मातायें अपने पेट चीर कर निकाले हुये बच्चे बेच देती हैं। जहाँ पति अपनी प्राणेश्वरी पत्नियों को परमेश्वर के भरोसे छोड़ कर चले जाते हैं··· लेकिन तुमने गरीबी देखी नहीं है। मैंने देखी है।

मैं क्या कहता। वे ही बोलते रहे—निशिकान्त! कल शाम सैर करके लौट रहा था तो बाजार पार करने के बाद उस बड़े चौक में सहसा एक रुदन और झुँझलाहट भरी आवाज सुन कर चौंक पड़ा। देखा तो पास के एक जीने पर एक बुढ़िया बैठी है और उसके सामने खड़ी है एक चार पाँच वर्ष की बालिका। बुढ़िया हाय हाय कर रही थी और चीख रही थी—हरामजादी राँड तू··· राक्षसी मर जाती तुझे गढे में धर दूँ···।

तुझे फूँक दूँ···।

तेरा पेट है या कुँआ···।

वह लड़की चुपचाप एकटक उसे देख रही थी बिना बोले बिना रोये जैसे वह समझ ही नहीं रही थी कि यह क्या हो रहा है या इतनी समझदार थी कि जानती थी यह तो रोज का रोना है हो लेने दो। उसकी इस अवस्था पर मुझे न जाने क्यों दया आई। उसके छोटे छोटे बाल उलझ कर सुअर के बालों की तरह खड़े हो गये थे। शरीर का एकमात्र कुरता जो अनेक पैबन्दों का जोड़ मात्र था, बिना बटन के कारण पीठ पर लटक गया था। हाथ पैर सींक के समान पतले थे और पेट अच्छे खासे घड़े की तरह बढ़ गया था। इसीलिये वह इस तरह खड़ी थी कि मानो पीछे की ओर कला बाजी खाने की सोच रही है। वह बुढ़िया भी कुछ कुछ ऐसी ही थी। अन्तर केवल इतना था कि उसने एक धोती पहिनी थी जो कुरते की तरह बड़े बड़े

टुकड़ों का एक लम्बा जोड़ मात्र थी और कि उसकी आँखों में आँसू भी थे और जबान उसकी बड़ी तेजी से चल रही थी जो तमाम दुनिया की गालियाँ उस दिन समाप्त करने का प्रण कर चुकी थी कि सहसा वह उठी और बड़े जोर से दाँत किचकिचा कर दो थप्पड़ लड़की की कमर में जड़ दिये।

लड़की न डोली न हिली। केवल उसी तरह देखती रही। बुढ़िया स्वयं इस तरह चीख उठी मानो वे थप्पड़ उसी के लगे थे, बोली—चुड़ैल। मेरी तरफ आंख फाड़कर क्या देखती है। मुझे भी खायेगी। मैं तो आप मरने वाली हूँ पर तेरा क्या होगा, हरामजादी! तुझे कौन मालपुआ खिला देगा। मेरा बाप...कुत्ते की तरह ठोकरें खाती फिरेगी ...।

और फिर चीखकर रो उठी। लड़की उसी तरह खड़ी रही, देखती रही।

हाय रे हाय! तू चलेगी भी या नहीं! मुझे तो सवेरे ही आटा पीसकर देना है। कुतिया! हरामजादी, जरा भी नहीं सोचती कि बुढ़िया माँ क्या खायेगी? उसके भी तो पेट है...आज तुझे घर में नहीं घुसने दूँगी, समझी? रात भर यहीं मरना .....

इतना कह कर वह धम धम करके ऊपर चढ़ गई और जोर से किवाड़ बन्द कर लिये मानो अब उसने लड़की को अपने से दूर करने की ठान ली है। मैं तब न जाने क्यों करुणा से भरा भरा भी मुस्करा उठा फिर आगे बढ़ कर लड़की के सामने जा खड़ा हुआ। वह मुझे देख कर जरा चौंकी और इस तरह ताकने लगी मानो पूछती है—तुम भी मुझे मारोगे.....।

मैंने यथाशक्ति करुणा से भर कर पूछा—मुन्नी! तुम यहाँ रहती हो?

वह नहीं बोली।

यह तुम्हारी माँ है?

वह फिर भी नहीं बोली।

मैंने उसका हाथ पकड़ लिया और उसे अपने पास खींचता खींचता बोला—बोलती नहीं, गूँगी है? मैं पूछता हूँ तुमने रोटी खाई है?

वह अभी उसी कौतुहल से मुझे देख रही थी पर इस बार उसने सिर हिलाकर कहा—हाँ।

कल?

नहीं।

परसों?

नहीं।

तो तुम्हारी माँ नाराज क्यों हो रही थी?

बालिका फिर अजीब कौतूहल से मुझे देखने लगी फिर एक दम जैसे क्या हुआ उसकी खाली आँखें भर आई और देखते देखते वह सुबक उठी। मैंने अपने को सँभाल कर शीघ्रता से कहा—न, रोते नहीं।

वह बोली अटक-अटककर—आज तीन दिन में अम्मा ने रोटी बनाई थी। मुझे भूख लगी थी मैंने खा ली तो अब कहती है......

बालिका आगे कुछ कहे कि बुढ़िया ऊपर से चीख उठी—ओ कलमुही राँड, वहीं खड़ी है, ऊपर नहीं आयेगी। हाय रे हाय! सब मर गये यही क्यों छाती फूँकने को रह गई है। यह भी क्यों नहीं मर जाती......।

लड़की ने एक बार ऊपर देखा और फिर मुझे। क्षण भर के लिये झिझकी फिर चुपचाप जीने पर चढ़ने लगी। एक पैड़ी चढ़ती मुड़ती और मुझे देख लेती—उस दृष्टि में न दया की याचना थी न क्रोध की तेजी केवल कौतूहल की हलकी-सी झलक थी। मैं उसी तरह खड़ा खड़ा उसे देखता रहा। दर्द काफी उभर आया। चुभन तेज़ हो उठी। मैंने सोचा सचमुच यह मर क्यों न गई। फिर सहसा मुझे अपने पर ग्लानि होने लगी। मैंने कहा—मैं किसी की मौत चाहने वाला कौन? लेकिन निशिकान्त! सच कहता हूँ आज तीन दिन हो गये मेरा दिल दर्द से भरता ही जा रहा है जब उस लड़की की बात सोचता हूँ रो पड़ता हूँ। सोचता हूँ इतनी कचाई क्यों? दुनिया में न जाने क्या क्या भरा पड़ा है पर मन मानता नहीं। जब अपने बच्चे को किलकारियाँ मारते और पूरी के टुकड़े इधर उधर बखेरते देखता हूँ तो दर्द और भी तेज हो जाता है। आखिर यह विषमता क्यों?

दद्दा! उनकी बात सुनकर सच तो यह है कि मैं आपही करुणा से भर आया! कुछ उनके कहने का ढंग ही ऐसा था। वे उस घटना से बड़े प्रभावित हुये थे, उसके बाद वे इसी तरह की बातें करते करते चले गये। बोले—'उस विषमता को दूर करने के लिये गांधी के पास कोई अस्त्र नहीं है। गरीबी स्वीकार नहीं की जा सकती। जिस दिन मनुष्य ने गरीबी को स्वीकार कर लिया उस दिन उसका अन्त हो जायेगा। वे शायद ज्यादा गलत नहीं थे।

लेकिन मैं अपनी बात कहूँ। इतनी गरीबी रहते सम्पन्न लोगों को खिलाना मुझे अच्छा नहीं लगेगा। आगे आपकी मरजी। आप जैसा कहें।

जवाब दीजिये। भाभी को प्रणाम कहिये और कहिये कि कभी कभी खत लिखने से विद्या कम नहीं हो जायेगी। अशोक, अमिता और अजित का स्नेह।

आपका
निशिकान्त

दो

ता० २५—५—४३

दद्दा!

आपका खत मिला। भाभी ने लिखा यह उनकी कृपा है। मेरा आशीर्वाद है उनकी विद्या सदा फले फूले। उनका कहना कि जन्मभर जिस शहर में रहे, सदा जिन लोगों का खाया वक्त पर उनसे आँख चुरा जाना ठीक नहीं है बहुत ज्यादा गलत तो नहीं है। दुनिया में रहकर दुनिया के नियम पालने ही चाहिये पर दद्दा! वक्त भी देखा जाता है अपवाद उसी लिये बने हैं। केवल बदले के लिये

अपने पैरों को चूल्हे में जलाकर पूरी उतारना मुझे अच्छा नहीं लगता फिर आप तो यहाँ से चले गये हैं। आँख ओट पहाड़ ओट। चुप खींच जाइये। सदा से ऐसा होता आ रहा है, ऐसा होना ही चाहिये, बिरादरी वाले नाराज होंगे दलीलें इस सदी में ज्यादा कीमत नहीं रखती। भाव अभी चढ़े जा रहे हैं गेहूँ तो २॥ सेर का भी मुश्किल है। चावल को पूछो मत। घी रुपये का ३½ छँटाक है विनौलों का है। या दूध का यह बताना मेरे बस से बाहिर है। चीनी बड़ी कठिनाई से मिल सकेगी। भाव २½ सेर है। अब सोचो इतना पैसा कहाँ पाओगे। सफेद कपड़ा पहिनते हो तो दुनिया समझती है तुम्हारे पास पैसा है, यह फिर लचर दलील है। दुनिया के जानने मात्र से तो पैसा हो नहीं जाता। एक ज्याफत के पीछे मुफलिसी खरीदना मुझे अच्छा नहीं लगता वह भी लोक लाज के लिये। अपने पड़ोस के बड़े मकान के बाबू जी को जानते हो कितने ठाठ से रहते थे लेकिन सच जानना दद्दा, मुश्किल से पेट भरते हैं और वह दिन नजदीक है कि सारी शानदार इमारत भरभरा कर गिर पड़ेगी। मैं कई बार सोचा करता हूँ मकान जब कमजोर पड़ जाता है तो लोग उसे गिरा क्यों नहीं देते। क्यों उसके गिरने की बाट देखा करते हैं चाहे तब भले ही उसमें रहने वाले भी दब कर क्यों न मर जायें।

और दद्दा तुमने उस बुढ़िया वाली बात के लिये जो लिखा सो ठीक हो सकता है। भावुकता बहुत बुरी चीज नहीं है बशर्ते कि उसके साथ इच्छा भी हो। भावुकता तो दूर वह हीन भाव भी जिसकी सारी समझदार दुनिया निन्दा करती है मनुष्य को ऊँचा उठा देता है। यह भी ठीक है कि 'दुनिया ऐसी ही विषमताओं से भरी पड़ी है। हम किस किस को देखें। सबसे पहिले अपने को देखना अपने को जानना जरूरी है।' दद्दा! जुग-जुग जीओ तुमने मेरे मुँह की बात छीनी है। अपने को जानने से बढ़ कर इस दुनिया में है क्या? यह सब बातों की एक बात है परन्तु... यह 'परन्तु' मनुष्य को कहीं नहीं जीने देता मरने भी नहीं देता। किन्तु परन्तु के मिटते ही जीवन भी मिट जाता है। विवाद के अभाव में शिथिलता का जन्म होता है और शिथिलता मौत से बढ़कर अनैसर्गिक अकाल मृत्यु है। तो मैं कहूँ दद्दा। अपने को जानने के लिये दूसरे को जानना इतना ही जरूरी है जितना गणित सीखने के लिये हिन्दसों को जानना जरूरी है। आँखें मींचकर बराबर अन्दर झाँकते रहने के लिये तो आँखें मनुष्य को नहीं मिली हैं। उनका उपयोग खोलकर चारों ओर देखने में ही है। यह देखना ही मनुष्य को जीवन और मृत्यु के चक्कर में फँसाता है जिसे दुनिया कहते हैं।

लो दार्शनिक बनकर अपने दद्दा को उपदेश देने लगा। बड़ों को बताना तो है न धृष्टता। उस दिन गाँव में जब मैंने चन्दू दादा का विरोध करते हुए गान्धी की बात समझाने की कोशिश की तो वे एक दम क्रुद्ध हो उठे बोले—देखो रे लोगो! कैसा कलजुग आ गया। यह कल का छोकरा हमें पढ़ाता है। अबे तू तो क्या तेरा गान्धी भी मेरे पैर छूने योग्य है। मुझसे तो बहुत छोटा है।

दलील लाजवाब थी। पैर छूने की बात का क्या जवाब देता। चुप हो गया परन्तु मैं जानता हूँ आप पैर छूने की बात में इतना विश्वास नहीं करते तभी तो इतना लिख गया हूँ। सच तो यह है कि ये बातें मेरे मन के इतना नजदीक है कि अपने को रोकना चाहकर भी नहीं रोक सकता। एक नशा-सा छा जाता है और कल्पना के सागर में गोते खाते खाते उस दुनिया में चला जाता हूँ जिसे यूरोप वाले 'यूटोपिया' कहते हैं। वहाँ मेरा आदर्श संसार बसा है, मेरी इच्छायें कामनायें साकार मौजूद होती हैं। आप मुझे पागल कह सकते हो पर एक बात बताओगे। यह 'भविष्य' क्या है? क्या यह 'यूटोपिया ही नहीं है? आज जो कुछ देखते हैं वह क्या हमारे पूर्वजों के लिये भविष्य की मधुर कल्पना से कुछ भिन्न था। भविष्य की मधुर कल्पना 'यूटोपिया' का व्यावहारिक नाम है।

तो मैं आपकी बात कहूँ न? नौकर देख रहा हूँ। घर का काम करने को। वह बुढ़िया राज़ी हो सकती है। आज कल वह मेरे उन्हीं मित्र के घर काम करती है। वे मित्र भी बड़े सनकी हैं। कई दिन उसी बुढ़िया का वैराग्य रहा। एक दिन उनके घर गया तो उनकी पत्नी बोली—न जाने तुम्हारे भइया को क्या हो गया है। सोचते-सोचते रो पड़ते हैं, सुबकियाँ बँध जाती हैं। मैंने पूछा तो कह देते हैं कुछ ख्याल आ जाता है। एक दिन आये तो बोले—शीला! तुम्हारा पढ़ना लिखना तो खतम ही है। मैंने कहा—घर के कामों से फुरसत मिले तो पढ़ूँ और फिर हर तीसरे साल यह परीक्षा तुम मेरे सिर पर लाद देते हो।

वे मुस्कराये नहीं बल्कि उसी तरह बोले—इसी लिये मैंने सोचा घर के काम के लिये एक नौकरानी रख लूँ तुम्हें फुरसत मिलेगी।

'नौकरानी!'

'हाँ! एक गरीब बुढ़िया है उसके एक मात्र एक पोती है⋯।'

'तो फिर कहिये वह कृपा मुझ पर नहीं है उस बुढ़िया पर है।'

इस बार वे जरा मुस्कराये बोले—शीला! एक काम करने से यदि कई पर मेरी कृपा होती हो तो वह अच्छा ही है। शीला! मुझे उस लड़की पर दया आती है बुढ़िया कल मर सकती है पर उस बेचारी अबोध बालिका का क्या होगा।

'कितनी बड़ी है।'

'कोई पाँच साल।'

'माँ बाप है।'

'ना।'

फिर जैसे मैं भी वाणी खो बैठी। वे भी चले गये। कलसे वह बुढ़िया आने लगी है। बोलती क्या है रोम रोम से आशीर्वाद देती है। लड़की तो शायद गूँगी है।

तो दद्दा! आखिर तुम्हारे शब्दों में इस भावुक मित्र ने अपने दिल के दर्द को मिटाने के लिये हाथ पाँव हिलाने शुरू कर दिये पर सच कहता हूँ तुम्हारी तरह मेरा मन भी शंकाओं से भरा आ रहा है।

पत्र का जवाब जरा जल्दी देना। भाभी को प्रणाम। बच्चों को स्नेहालिंगन। लड़ाई तो जैसे आजकल अंगड़ाई तोड़ रही है। और भारत की भाग्य लिपि इतनी मद्धिम पड़ चुकी है कि पता नहीं लगता क्या लिखा है।

आपका
निशिकांत

तीन

ता०-२०-६-४३

दद्दा !

पत्र मिले कई दिन बीत गये। जवाब नहीं दे सका। इस गरमी ने तो जीना मुश्किल कर दिया। हर वक्त पसीना बहता रहता है। कपड़े फाड़ देने को तबियत करती है। लेकिन कुछ भी हो यह गरमी है बहुत जरूरी। जेठ जितना तपेगा उतनी ही वर्षा होगी नहीं तो वह अकाल पड़ेगा कि बन्दे को नाज का दाना भी मयस्सर न होगा।

आपने ज्याफ़त का विचार छोड़ दिया यह अच्छा किया। और बहुतेरे वक्त आयेंगे। खाने खिलाने का क्या वक्त? एक मित्र की बात मुझे याद आई। इस बार मलेरिया के कारण दिवाली बहुत फीकी रही। उनके घर भी सब पड़े थे। कोई पानी देने वाला भी नहीं था। बेचारे तड़प कर रह गये। लक्ष्मी आवेगी और अंधेरा देख कर लौट जायेगी। एक हिन्दू के लिये इससे बुरी बात क्या हो सकती थी। बेचारे बुखार में तड़पते तड़पते उठे। दो दीये जलाये और हाथ जोड़ कर कहा—लक्ष्मी माता, अच्छा हो जाने पर दुगने उत्साह से तुम्हारा स्वागत करूँगा। उन्होंने किया। राम नवमी के दिन खूब जश्न मनाया। मेरा उनसे मतभेद हो सकता है परन्तु बात अपवाद की है। मुझमें धर्म के प्रति अब श्रद्धा नहीं रह गई है।

खैर ज्याफत हो या न हो आप आना ज़रूर। अपने उन मित्र से परिचय कराऊँगा। बड़ा अजीब आदमी है। सारे दिन नेताओं को कोसता रहता है। कहता है सब सुधारक हैं। कब तक पैवन्द लगाते रहेंगे'''लेकिन इधर एक परिवर्तन उसमें भी आ चला है कभी कभी कहता है—आदमी मुसीबत में ठीक रहता है। जरा सा सुख सहानुभूति होते ही उसका दिमाग आस्मान पर चढ़ जाता है। सुख स्वतंत्रता की माँग के पीछे दूसरे को दुखी और परतंत्र बनाने की भावना छिपी रहती है। और यही बुरा है।

मुझे उनकी बात पर अचरज होता है और दुख भी होता है क्योंकि वह ये बातें स्पष्ट नहीं कहता घुमाफिरा कर ऐसे बोलता है जैसे कोई पाप किया हो। मुझे लगता है वह अपने को धोखा दे रहा है। कई बार घर गया तो भाभी भी तो इसी तरह बोलती है। कभी कहती है—निशिकांत। तुम्हारे भइया ने तो जीना मुश्किल कर दिया। कहाँ से लाकर यह मुसीबत सिर पर लाद दी।

मैंने चकित बनकर कहा—क्या हुआ भाभी ?

'होगा क्या ? न जाने कहाँ से इस बुढ़िया को बुला लाये हैं।'

'काम नहीं करती।'

'काम तो करती है परन्तु चोर जान पड़ती है इतने दिन हो गये कभी तिनका तक किसी ने नहीं उठाया। अब जब जिस चीज़ को देखती हूँ वही गायब। आज गिलास नहीं, कल दवात गायब है। महँगाई के इस जमाने में ज़रा ज़रा सी चीज कितनी कीमती हो गई है।'

'यह तो बुरी बात है।'

'हाँ निशिकान्त गिरस्ती में क्या नहीं चाहिये! माँग लेना और बात है। फिर मैं तो जब तब उसे चीजें देती रहती हूँ। वह बोलती भी ऐसे है जैसे इशारे पर जान दे देगी।'

एक बार फिर गया तो बोली—निशिकान्त! मैं तो भइया के पास जा रही हूँ।

मैंने कष्ट कल्पना करते करते पूछा—विवाह होगा कोई?

रुष्ट सी बोली—कैसा विवाह? यहा तो मरना हो रहा है।

'क्यों...?'

'क्यों क्या? वही बुढ़िया है। उँगली पकड़ कर पहुँचा पकड़ने की बात है। पहिले छोटी मोटी चीजें उठाने की बात थी अब जबान भी पकड़ने लगी है। आराम-तलब इतनी हो गई है कि कहती है—बीबी जी। शाम को जल्दी काम निपटा लिया करो।

मैंने पूछा—क्यों?

'बीबी जी! मुझे रोटी बनाने को देर हो जाती है। कई बार तो यह मुन्नी भूखी सो जाती है।'

मैंने सोचा बड़े दिन लगे हैं। अभी खाने को टुकड़ा नहीं मिलता था। अब ज़रा-सी देर में प्रान निकलते हैं। ऊपर से तुर्रा यह कि चोरी बराबर जारी है। कहती हूँ तो तुम्हारे भइया जान खाते हैं कहते हैं—तुम नहीं जानतीं शीला, पढ़ लिखकर सब खो दिया। बेचारी मुफलिसी में रही है। भूखा कौनसा पाप नहीं करता। बेचारी ने उस बस्ती में दिन गुजारे हैं जहाँ गाली-गलौज चोरी डाके बुरी चीज नहीं हैं।

मैंने कहा—तो फिर सौंप दीजिये न सारा घर।

वे बोले—बेशक सारा घर खुला रखो यहाँ तक कि जेवर का बक्स भी उसे दिखाओ।

मैं बोली—पागल हो रहे हो।

लेकिन वे चुप रहे पर देखती हूँ कैश बक्स खुला पड़ा रहता है। कभी कभी आफिस से लौटकर पूछा करते हैं—क्यों जी तुमने पैसे निकाले है क्या?

लेकिन मैं तो कभी उनका कैश बक्स छूती नहीं। कमरा झाड़ने वही जाती है और वही निकाल लेती होगी। अच्छा है किसी दिन सब कुछ उठाकर ले जाये।

मैंने कहा—यह तो बुरी बात है लेकिन वह लड़की कैसी है?

भाभी बोली—अरे निशिकान्त! वह लड़की नहीं होती तो बुढ़िया का झोंटा पकड़ कर कभी का बाहिर निकाल देती। बोलना तो जानती नहीं। कोई चीज दी

तो हाथ फैला दिया नहीं तो बस ताका करती है। पुष्पा पढ़ती है तो उसे देखा करती है। कभी कभी जो वह बोलती है उसे दोहराने लगती है। मैंने एक दिन पूछा—तू भी पढ़ेगी री। तो गरदन हिला दी। सच कहती हूँ जी चाहता है उसे पढ़ा दिया जाये। वे भी कहते हैं पर मैं सोचती हूँ अब तो जरा सी बात है कल सारा बोझ सिर पर पड़ेगा और फिर पढ़ी-लिखी लड़की को कौन सँभालेगा। फिर जरा रुक कर बोली—सच कहती हूँ अगर उसकी यह आदतें और ये नखरे बढ़ते गये तो मैं उसे घर में नहीं घुसने दूँगी। तभी तो जा रही हूँ कि पीछे तुम्हारे भइया को पता लगेगा तो छट्ठी का दूध याद आ जावेगा। सो दद्दा ! कहवाते हैं जो मेरे मित्र में परिवर्तन यह पैदा कर रही है। मैं भी देखता हूँ इनका अन्त कैसे होता है ?

आप जरूर आइयेगा। सबको साथ लाइये। रास्ते की मुसीबत तो काफी है पर कभी कभी सब सहना पड़ता है। भाभी को प्रणाम। बच्चे को प्यार।

आपका—निशिकान्त।

(चार)

ता० २२—६—४३

दद्दा !

परसों एक पत्र डाला था। शायद अभी न मिला हो। रास्ते में बड़ी देर लग जाती है। लड़ाई ने तो सब कुछ अस्तव्यस्त कर दिया।

पर आज का पत्र तो एक जरूरी काम से लिख रहा हूँ। कल मैं ऑफिस से लौटा तो भाभी का सन्देशा मिला अभी चले आओ।

मैंने आगुन्तक से पूछा—क्या बात है ?

वे बोले—जान पड़ता है। उनका कुछ चोरी चला गया है।

'क्या ? कुछ पता है।'

'कुछ सोने के जेवरों का जिकर था।'

मेरा माथा ठनका। मैंने मन ही मन अपने मित्र को कोसा ! क्या मुसीबत पैदा कर दी है। भाभी ठीक कहती है ये ओछे दिल वाले ओछे ही काम करेंगे इनको मदद दूर से ही करनी चाहिये।

और जब मैं उनके घर पहुँचा तो सचमुच सोने की जेवर की चोरी की बात थी, मुझे देखते ही भाभी बोली—मैंने कहा था निशिकान्त ! एक दिन इस घर को आग लगेगी। लो देख लो मेरा नया गुलूबन्द गायब है। आज कल उसकी क्या कीमत होगी ५००-६०० का मिलेगा लेकिन......

वे आगे न बोल सकीं रो पड़ीं। और रोते रोते अटक अटक कर बोलीं—मेरी कौन सुनता है। बाप के जा रही थी परन्तु नहीं जाने दिया। कहती हूँ मुझे घर से निकाल दो उसी चुड़ैल हरामजादी बुढ़िया को बसा लो.....

भाभी के दिल को ठेस लगी थी लेकिन भइया गुमसुम बैठे थे जैसे कोई मौत होगई हो। मैंने पूछा—बुढ़िया ने क्या कहा ?

भाभी बोली—अभी तो लड़ झगड़ कर गई है। कहती थी अगर मैंने गुलूबन्द उठा कर भी देखा हो तो मेरी आँखें फूट जावें। मैंने छुआ हो तो हाथ गल जावे। मेरे शरीर में कोढ़ चुवे। मुन्नी अभी मर जाये—बीबी जी ! तुम बड़ी हम छोटे ! छोटे हमेशा चोर होते हैं...और फिर लगी रोने चिल्लाने।

मित्र बोल उठे—अरे निशिकांत। कहीं रखकर भूल गई है। वह बुढ़िया गुलूबन्द का क्या करेगी कौन उससे खरीदेगा।

भाभी भभक उठी—रख कर भूल गई। पागल समझ रखा है। तुम्हारे कैश बक्स के पैसे भी मैं ही रखकर भूल जाती हूँ। खाने पीने की हजारों चीजें भी मैंने ही रख दी हैं...सब मेरा ही दोष है। मुझे बावली बना रखा है। महिना भर पहिले तो मैं ऐसी नहीं थी...।

अरे जी...मित्र बोले—दो चार छोटी मोटी चीजें उसने उठा ही लीं तो क्या बिगड़ गया। आदत क्या एक रात में बदलती है। तुम्हारे हाय हाय करने से तो वह आदत छोड़ने से रही। बल्कि कुछ बढ़ेगी ही।

मैंने कहा—देखो मित्र। तुम जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ गये हो। गरीबी पाप है वह दूर होनी चाहिये लेकिन किसी को पकड़ कर इस प्रकार घर में ला बिठाना कैसे ठीक है मैं नहीं समझता।

मित्र बैठे थे, खड़े हो गये बोले—निशिकान्त ! घर तो एक दिन उन्हें सौंपना ही पड़ेगा लेकिन खैर अभी तो मेरे भीतर भी यही प्रश्न उठा करता है। एक दिन मैंने उस लड़की से पूछा—मुन्नी ! तेरी दादी चोरी किया करती है।

पहिले वह बड़े अचरज से मुझे देखती रही फिर बोली हाँ।

'और तू भी करती है।

'एक बार एक पेड़ा उठाया था।'

'बस।'

'हाँ। तब दादी ने बहुत मारा था कहा था खबरदार जो आज से इनके घर फिर किसी चीज को हाथ लगाया हो। ऐसे अच्छे...।

वे अपनी बात पूरी कर भी नहीं पाये थे कि वह लड़की आकर उनके पास खड़ी हो गई। सब एकटक चकित विस्मित उसे देखने लगे। उसके हाथ में एक पोटली थी। उसे उसने चुपचाप मित्र के हाथों में थमा दिया।

मित्र को जैसे भूकम्प ने आलोड़ित किया हो। उन्होंने उस पोटली को टटोला और फिर तीव्र होकर कहा—किसने दिया है।

लड़की सहम गई। भाभी व्यंग से बोली—मैंने कहा था...

लेकिन मित्र एकदम ढीले पड़ गये बोले—मुन्नी ! तुम्हें यह पोटली किसने दी है ?

मुन्नी ने एक बार उन्हें देखा और कहा—माँ ने दी है।

'क्या कहा था ?'

'कहा था चुपके से दालान में रख आना।'

'और ?'

....

'क्या कर रही है वह अब ?'

'रो रही है।'

'जोर जोर से ?'

'हाँ ! बहुत जोर से रो रही है कह रही है मैं जहर खाकर मरूँगी।'

'और इतना कह कर वह लड़की भी रो पड़ी !

मित्र एकदम उठ खड़े हुए और बाहर जाते जाते बोले—सचमुच उसे मर जाना ही चाहिये। मरने के बाद ही नव जीवन उदय होता है। और फिर सहसा रुक कर उन्होंने भाभी से कहा—शीला। ऊपर की कोठरी खाली कर दो बुढ़िया आज से यहीं रहेगी।

भाभी अचरज और आशंका से भरी भरी वहीं बैठी रही। मैं उठा। एक बार उस रोती हुई लड़की की ओर देखा और चला आया।

अब जब उस घटना को पूरे चौबीस घण्टे बीत चुके हैं मैं सोच रहा हूँ सचमुच इस देश में आग लगने की जरूरत है, ऐसी आग कि जिसमें पड़कर जीवन का अवशेष भी बाकी न रहे।

अपने विचार लिखियेगा।

आपका
निशिकान्त।

अमजद

[रामगोपालसिंह चौहान]

"यह भी कोई इन्तजाम में इन्तजाम है। पूरे दो घण्टे बीत चुके तब तो कहीं बड़ी कठिनाई के बाद तो मिला और वह भी चावल।" ठंढी साँस भरते हुए अमजद ने कहा। कहते कहते उसके बुखार के शरीर में सुरसुरी-सी दौड़ गयी।

महीनों क्या, सालों की लगातार लड़ाई के बाद तो यह दुकान खुली और वह भी डंके की चोट पर एलान करती हुई कि यह नाज की दुकान है, नाज की। इसमें गेहूँ, जौ, चना, चावल, उर्द, मूँग, अरहर, हर तरह का मसाला, मिट्टी का तेल ग़रज़े कि आवश्यकता की हर चीज़ मिलेगी। इसमें पर आया क्या? चावल और चीनी, और थोड़ा सा सड़ा-घुना गेहूँ। जो सिर्फ़ सूँघने को मिलता है, उसका खाना न खाना बराबर। चावल और चीनी के मीठे चावल बना बना कर खाये जाओ और किये जाओ ग्यारह-बारह घंटे काम और झोंकते जाओ कोयला।

अमजद गठरी उठाकर चल दिया। वह आगे पैर बढ़ाता पर वे लड़खड़ा रहे थे। सुबह सात बजे से शाम को सात बजे तक काम करते करते चूल चूल हिल चुकी थी उसकी। हाथ पैर जवाब दे चुके थे। दिन भर एञ्जिनों की आग बनाते बनाते हाथों में फफोले पड़ गये थे। पिछले ही दिन इतवार के दिन डबल ड्यूटी करनी पड़ी थी, तभी से उसे बुखार था। शाम को ड्यूटी के बाद जब वह काम खतम कर चुका तो उसे बुखार था, उसके पैर कारखाने से नाज लेने के लिए दुकान की ओर न उठते थे, पर उसे मालूम था कि आज वह चावल ले जायगा, तभी बच्चों को खाने को मिलेगा वर्ना उन्हें योहीं सोना पड़ेगा। और दूसरे दिन ला नहीं सकता क्योंकि हफ्ते में एक निश्चित दिन ही नाज मिला करता है।

वह किसी तरह चलता हुआ दूकान आया। एक भीड़ की भीड़ जमा थी। हर कोई अपने लिये पहले लेने की कोशिश कर रहे थे।

कैसी है भेड़ चाल उनकी। तनिक भी सब्र नहीं। थोड़ी देर बाद ही सही, नम्बर तो आ ही जायगा; पर नहीं धक्का मुक्की करने में तो मज़ा आता है। क्या पता बीबी बैठी बाट जोह रही हो और देर से जाने पर डंडे से खबर ले। सोचते सोचते एक बारगी उसके झुर्री-पड़े गालों पर मुस्कराहट की क्षीण झलक आ गयी। उसे अपनी जवानी के मीठे सपने याद आ गये। जब वह भरती हुआ था और स्टेशन की मेमें उसकी खूबसूरती देखकर रश्क करती थीं। और आज उसके गाल पिचक गये हैं, चेहरा उतर गया है, शरीर लटकर काँटा हो गया है।

एकाएक आगे कुछ गड़बड़ नज़र आयी। अमजद का खुमार उतरा तो उसने अपने आप को वहीं का वहीं खड़े पाया और देखा कि दूकान बाबू चिल्ला चिल्लाकर रामदीन से कह रहा था कि मेरे पास रुपये के पैसे नहीं हैं। जा कहीं से तुड़ाकर ला।

'कहाँ से लाऊँ बाबू जी बाजार में भी तो पैसे नहीं मिलते और आप के पास अभी कई अठन्नियाँ आई हैं उनमें से एक दे दीजिए।'

'है तो तेरे बाप का इजारा। जा हट भीड़ मत लगा। यहाँ औरों को भी नाज लेने दे।'

इतने ही में पीछे से बाबूजी के हाथ पर रुपये रखते हुए एक ने कहा—सलाम बाबू जी लाइये मुझे दे दीजिये।

उसको देखते ही पूरी पाँत में खलबली मच गई। लोग कानाफूसी करने लगे: यह तो वही है जो यहाँ से एक एक साथ तीस-तीस रुपये का चावल ले जाकर चोर बाज़ार में बेचता है।

रुपये गिनते हुए बाबू ने मुस्कराते हुए कहा: कहो पीरू कहाँ रहे? अब की कई दिन में दीख पड़े अच्छे तो रहे न?'

'हाँ तुम्हार किरपा है।' पीरू ने धीरे से कहा।

'बाबू जल्दी तौलिए, हमको भी लेना है। तीन-तीन घण्टे खड़े हो गये पर अभी हमारा नम्बर ही नहीं आया। हम सब आपकी रिपोट करेंगे कि बाबू रिश्वत लेकर एक एक को एक एक बार तीस-तीस का चावल देता है जो बाजार में बेचा जाता है और उसका दण्ड सबको भुगतना होता है।'

बाबू एक बार तो सिटपिटा गया और पीरू की ओर इशारा किया। और वह अपना पल्लू उठाकर धीरे धीरे खसक गया। सब हिकारत की निगाह से देख रहे थे उसकी ओर, और कह रहे थे कि बिना रिपोट किये हम न मानेंगे।

अमजद रास्ते भर यही सब सोचता-विचारता घर आया।

चीज़ों की कीमतें बढ़कर दुगनी से भी दुगनी हो गयी हैं, नाज बाज़ारों से लापता है। किरोसिन की अलग हाय तोबा है और रेजगी का भूत अलग सवार है। जहाँ जाओ 'रेजगी है साहब?' कोई इन्तज़ाम है यह। घुन लगा हुआ है इसको तो। महँगाई की माँग करते करते जमाना गुजर गया पर उनके कानों पर जूँ तक न रेंगी। मुरदों से काम लेना चाहते हैं। जिस डाल पर बैठे हैं खुद ही उसी को काट रहे हैं। 'विनाश काले विपरीत बुद्धी'। काम बढ़कर दूना हो गया है। काम करते करते कलेजा आता है मुँह को।

अमजद की हड्डी दुहरी, छरहरा बदन, आँखों में लाल डोरे, मत्थे की नसें सूत-सी मोटी, उसका हृदय भाग्य-शिला से टकरा टकरा कर टुकड़े टुकड़े हो चुका था। उसका पचीस साल का ही जीवन गरीबी का एक इतिहास कहा जा सकता है। वह स्वयं भी तो पचीस साल की उमर में पैंतिस-चालिस साल का दिखने लगा।

अमजद ने दूकान से आते ही चावल रशीदा को दिये। वफातन और रफीक दोनों ही भूखे सो गये थे। उसे भी बुखार तेज हो आया था। जाते ही लोथ-सा चारपाई पर धर रहा।

वह रात भर सोया नहीं। यों ही करवटें बदलते ही काटी। सुबह जब वह उठा तो रात भर जागने की थकान के चिन्ह साफ नज़र आते थे। उसे अब भी बुखार था। वह उठा, हाथ मुँह धोकर थोड़े से बासी चावल खाये उसने और कारखाने जाने को तैयार हो गया।

'कहाँ जाते हो आज तो बुखार है तुम्हें। सिक रिपोर्ट ही दे दो।' रशीदा ने अमजद का रास्ता रोकते हुए कहा।

'नहीं रशीदा! कल शाम को चावल लेने के बाद अस्पताल भी गया था। पर डाक्टर ने कहा कोई खास बात नहीं है। अभी काम करने के काबिल हो। सिक करने से काम का हरजा होगा। और मुझे कुनेन का पानी पिलाकर अलग किया। जैसे वही तो अमृत हो। उसकी राय में तो आदमी जब मरने के करीब होता है तभी काम न करने के काबिल भी होता है। रिश्वत दी होती तो तभी सिक कर देता।'

बुखार भी एक नशा होता है। अमजद जाते ही काम पर जुत गया, न किसी से बोला न किसी से बात की। सुबह सात बजे से ग्यारह बजे दुपहर तक लगातार चार घण्टे काम किया। छ एञ्जिनों की आग बना कर तैयार की उसने।

उसका बुखार बढ़ गया था, सर चक्कर खाने लगा था। काम करते करते कई बार चक्कर आया पर उसने अपने को सम्हाल लिया। अब वह पस्त हो चुका था, एकाएक धड़ाम से एन्जिन से नीचे गिर पड़ा और नीचे आते आते बेहोश हो गया।

उसकी बेहोशी की खबर बिजली-सी फैल गयी। पूरे शेड में और सबके सब काम छोड़कर आ खड़े हुए हैं अमजद के पास! चार्जमैन लोकोफ़ोरमैन सभी आ गये। फ़ोरमैन ने कड़कती आवाज़ में कहा—'जाओ तुम लोग अपने काम पर। लोग हिचके। अमजद शेड की यूनियन कमेटी का खास मेम्बर था। मज़दूर उसे बहुत प्यार करते थे। पर रामू जो कि शेड कमेटी का एक दूसरा मेम्बर था सबको काम पर ले गया। वह जानता था कि गाड़ी लेट नहीं होनी चाहिए। फ़ोरमैन अमजद को यह कह कर कि 'अभी ठीक हो जायगा' योंही छोड़कर चले गये।

अमजद जब होश में आया तो रामू उसे सहारा देकर अस्पताल लाया। अस्पताल आते ही वह फिर बेहोश हो गया। अस्पताल से डाक्टर साहब गायब थे। शायद शहर में मरीजों को देखने गये थे। दो घण्टे की पूरी इन्तजारी के बाद आये और उसे फिर वही पिला दिया कुनेन का पानी। रामू उसे घर पहुँचा कर ड्यूटी पर वापस गया तो उसको गैर हाजिर लगाया जा चुका था।

अमजद को बीमार हुए पूरा हफ्ता बीत चुका था। पहले से अब वह अच्छा था। सुबह का समय था लोग ड्यूटी पर जा रहे थे। एकाएक रामू आया।

'अरे अमजद कैसी तबियत है तेरी।' आते ही रामू ने कहा।

'तुम्हारे जाने मरा हूँ या जीता। दादा आज तो सूरत दिखायी है तुमने।' रूठी-सी सूरत बनाकर अमजद ने कहा।

'अरे बड़ा काम था। जब से तू बीमार पड़ा है लोगों में एक नया ही जोश है। यूनियन का किला बन गया है अपना एन्जिन घर। नाज की दूकान में गेहूँ भी मँगवा लिया है। आज से वह बँटेगा भी।'

अमजद ने उठते हुए खींचकर कहा 'हाँ' और उसके ज़र्द चेहरे पर सुर्खी दौड़ गई। जीत की इस खबर ने उसकी हारी-बीमारी को कोसों दूर भगा दिया था।

अपनी मदद आप

[अमृतराय]

महादेव
राम सुमेर
जुमेराती
मुनाफ़ाखोर अढ़तिया
बच्चे और युवक

पहला दृश्य

[समय—मई महीने का एक दिन, सुबह ग्यारह बजे]

[स्थान—अनाज की एक सरकारी दुकान। दुकान में कुछ बोरियाँ रखी हैं और अनाज के अलग अलग ढेर पड़े हैं। दुकान के सामने की भीड़ का एक हिस्सा दिखाई पड़ रहा है

स्टेज दो हिस्सों में बँटा हुआ है। दोनों के बीच लकड़ी का एक पटरा दिया गया है। दाहिनी तरफ़ वाला हिस्सा दुकान है। बाईं तरफ दर्शकों के सबसे पास एक तारकोल-सा काला आदमी उनकी ओर पीठ किये बैठा है। वह एक घुटनों तक पहुँचनेवाली चीकट धोती पहने है और उस पर एक चमकती हुई सफ़ेद गंजी पहने है। उसकी पीठ पर मोटे काले अक्षरों में लिखा है—अनाजचोर, मुनाफ़ाखोर। यह आदमी शुरू से आख़ीर तक बैठा रहता है, गोया वह भी काला पर्दा ही हो।

भीड़ के अन्दर बड़ी खलबली है। अजब भाग दौड़ का दृश्य है। भीड़ सिमट कर एक जगह आ गई है और किसी चीज को घेरे खड़ी है। पीछे के लोग अँगूठों के बल खड़े हो होकर उस चीज़ को देखने की कोशिश कर रहे हैं। महादेव लोटे में पानी लिए आता है। भीड़ को काटता हुआ वह अपने लिए रास्ता साफ़ करता है। वह 'चीज़' अब दिखाई पड़ रही है : एक बुड्ढा औंधे मुँह जमीन पर पड़ा है। लोग अपनी धोती और कुर्ते से उसे हवा कर रहे हैं। महादेव तीस के अंदर का बहुत हँसमुख आदमी है। नीला निकर और खाकी कमीज पहने है।]

महादेव—रास्ता छोड़ो भाई या बुड्ढे की जान लेकर ही दम लोगे। हवा तो पहुँचने दो बेचारे के पास। हटो, पानी का छींटा देने दो। बुढ़ापे का शरीर—

रामसुमेर—इसे हो क्या गया महादेव, मिर्गी तो नहीं आती ?

महादेव—कहाँ की मिर्गी और कहाँ की मुर्गी ! घाम नहीं देखते। कितना जबर घाम है। खा गया। कोई हँसी-ठट्ठा है तीन-तीन चार-चार घण्टे खड़े रहना। बुढ़ापे का शरीर ऊपर से घाम। तवे-सा। माथा चटके न तो हो क्या।

[महादेव पानी के छींटे दिये जा रहा है।]

रामसुमेर—सचमुच देखो तो कितनी कितनी देर खड़े रहना पड़ता है। कैसा दिन लगा है। कलजुग का पाप उमड़ा है।

जुमेराती—आसमान फट पड़ने ही की देर है अब सुमेर।

रामसुमेर—आसमान फट पड़ने में अब भी कोई कोर-कसर है। पर एक बात तो बताओ मोहल्ले की पचीस दूकानें तोड़ने से क्या मिला। उनसे कितनों की ज़रूरत पूरी होती थी।

महादेव—देखते नहीं, यह सरकारी दूकान खुली है।

जुमेराती—ऊँट के मुँह में जीरा।

महादेव—कहो, सरकारी कंट्रोल का जनाज़ा।

रामसुमेर—जनाज़ा कैसा ?

महादेव—जनाज़ा नहीं तो और क्या। उन पचीस दूकानदारों को सरकार ने मारा क्यों ? इसीलिए न कि उन्होंने भाव चढ़ा दिये थे। सरकार ने आव देखा न ताव भाव पर बंदिश लगा दी, अनाज पर कण्ट्रोल हो गया। पर अब तो कंट्रोल हट भी गया।

जुमेराती—अच्छा तो भाव गिराने के लिए कंट्रोल जारी किया गया था।

महादेव (मुस्कराते हुए)—जी जनाब, स्कीमों के मामले में हमारी सरकार किसी से कम शेर नहीं, कोई दिल्लगी समझा है आपने उसे ?

रामसुमेर—पर भैया महादेव, नतीजा तो कुछ उल्टा ही हुआ दीखता है मुझे।

जुमेराती—यह सरकारी दूकानवाला अढ़तिया तो सबसे जबर मुनाफ़ा खानेवाला है।

रामसुमेर—तब तो यह वही कहावत हो गई, सौ सोनार की न एक लोहार की। उन बेचारों के लिए तो मुनाफ़ा चटनी था, इसने तो दाल-भात बना लिया है, दाल-भात।

महादेव—यही तो हुआ ! जादू हुआ जादू। इधर सरकार ने भाव पर कंट्रोल किया, उधर माल बाज़ार से लापता हुआ और चोरगोदामों में पहुँच गया। बड़े-बड़े मुनाफ़ाखोर पैदा हो गये और उन बड़ों में बड़ा यह। [दूकान की ओर इशारा करता है।] और अब तो सारा बाज़ार ही चोर बाज़ार है। मुनाफ़ाखोर की पाँचों घी में हैं।

जुमेराती—ठीक ही कहा है, दुनिया गोल है।

महादेव (हल्के-हल्के मुसकराते हुए]—हाँ। निकले मुनाफ़ाखोरी रोकने और हो गया उल्टा। तभी तो मैंने कहा सरकारी कंट्रोल का जनाज़ा।

जुमेराती—लेकिन आखिर ऐसा हुआ क्यों ?

महादेव—और क्या होता ? भाव पर बन्दिश लगा रहे हो, माल पर तुम्हारा क़ब्ज़ा नहीं। माल अगर चोरगोदाम में चला जाता है जहाँ मुँह माँगे दाम मिलते हों, तो अचरज क्या ?

[मुनाफ़ाखोर घूम कर मूँछों पर ताव देता दिखाई पड़ता है।]

रामसुमेर—पर माल पर सरकार क़ब्ज़ा करती भी कैसे ?

महादेव—हमको-तुमको साथ लेकर अपनी स्कीम चलाती, मुनाफ़ाखोर के ऊपर हमला करती तो क्या माल पर क़ब्ज़ा न हो जाता ?

रामसुमेर--यह तो ठीक कहते हो।

महादेव--लेकिन जनता को आगे लाने से, साथ लेने से वह घबराती है। इसी-लिए जनता को बाहर रखकर अपने कागज़ी घोड़े दौड़ाया करती है। सब फिस न हो तो हो क्या ?

[बेहोश बुड्ढा थोड़ा कुनमुनाता है, तरी मिली है न। करवट बदल कर लेट जाता है। आवाज़ें आती हैं :]

--चलो भाई आ गया होश में। नहीं, हम तो समझे थे--

--पुरानी हड्डी है। टाँठा है। नखरा किये पड़ा था।

--बड़े बेदर्द हो यार। उसे तो जान के लाले पड़े थे। तुम्हारे लिए नखरा था। बकरे की जान गई, खाने वालों को मज़ा ही न आया।

--चलो जागा। अच्छी नींद निकाली।

--है कहाँ का, जानते हो महादेव ?

महादेव--अरे वही घसीटे का बाप तो है। घर से निकलता-विकलना कम ही है। दमे का पुराना रोगी है। दिन-रात सांस फूलती रहती है।

[इसी वक्त तीस का एक साँवला आदमी आता है। यही घसीटे है।]

घसीटे--जीता तो है न ? जौ लेने आया था। यहीं ढेर हो रहा।

जुमेराती--नमाज़ पढ़ने आया था, रोज़ा गले पड़ गया।

[बातचीत सुनकर बुड्ढा आँख खोलता है। अब वह काफ़ी ठीक है। खड़ा होकर घसीटे के गले में बाँह डालकर स्टेज के बाहर हो जाता है। न जाने क्यों, लोग चैन की सांस लेते हैं, मानो वह बुड्ढा अब तक उनकी गर्दन पर ही सवार रहा हो। जो लोग तमाशे के लिए खड़े थे अब चले जाते हैं। अब सिर्फ़ पीछे के तीन-चार लोग रह गये हैं जिन्हें अभी पाना बाक़ी है। लेकिन इसी वक्त दूकान पर से आवाज़ आती है—आज का रसद खत्म।

रामसुमेर—अब नहीं अब बना। हो गई सोलहो दण्ड एकादशी (हँसता है।)

जुमेराती—[तैश में] तुम्हें भी बड़े बेमौक़े दिल्लगी सूझती है, सुमेर।

रामसुमेर—जौ न मिला तो दिल्लगी से भी गया, जुमेराती। दूकान तो बंद हो ही गई। अब चाहे रो लो चाहे हँस लो। मुझे तो हँसना पसन्द है।

महादेव--मुझे भी।

जुमेराती (और भी बल खाकर)—मैं कहता हूँ इस साले के पास अभी बहुत-सी बोरियाँ हैं।

महादेव—ज़रूर हैं और जितनी यहाँ हैं उसकी हज़ार गुना चोर गोदामों में हैं, तब ?

जुमेराती—तब क्या पूछते हो। चलकर लूट लो।

महादेव—अगर लूटने से खाना मिलता हो। खाना है पर लूटने से न मिलेगा। लूट खाना पाने का नहीं तबाही का रास्ता है।

जुमेराती—हुआ करे, कुछ तो करना ही है। इस तरह कीड़ों की मौत मरने से वही अच्छा।

महादेव (उसी तरह)—लूट से आपसी मारकाट, खून खराबी ही हाथ लगेगी।

जुमेराती (बहुत झुंझलाकर)—अरे तो कोई रास्ता बताओगे भी कि औलिए की तरह नसीहत ही देते रहोगे? है कोई रास्ता?

महादेव—है। रास्ता है। इसी की आज शाम को रहीम के यहाँ—

रामसुमेर—रहीम कौन?

जुमेराती—रहीम को नहीं जानते, बड़े गावदी हो। अरे वह अल्लामियाँ की नूर, बकरे की-सी दाढ़ी।

रामसुमेर—ओह, उसे कहते हो। क्या है उसके यहाँ?

महादेव—उसके मकान के सामने आज मीटिंग है, खाने का सवाल हल करने के लिए।

रामसुमेर }
जुमेराती } उसका कोई हल हो तब हो?

महादेव—हल तो उसका होगा ही होगा। जब खाना देश में है—

रामसुमेर—कितना? ज्यादा तो ईरान चला गया और सरकारी गोदामों में।

महादेव—यह सच है कि अनाज बाहर गया और सरकारी गोदामों में भी। लेकिन पूरी पैदावार के खयाल से बहुत थोड़ा। कहीं चालीस करोड़ लोगों का खाना, ईरान भेजा जा सकता है और खासकर अबकी जब खेतों में सोना बरसा है सोना? देश में दस-बीस लाख फ़ौज का होना भी कोई बड़ी समस्या नहीं।

जुमेराती—तो तुम्हारा कहने का मतलब कि बहुत अनाज देश में है?

महादेव—यही तो। बहुत अनाज देश में है। लेकिन चोरगोदामों में दबा पड़ा है। देखा नहीं पिछले महीने कंट्रोल हटने के साथ कैसा गाड़ियों का ताँता लगा रहा। मार अनाज ही अनाज हो गया। नहीं देखा? [मुनाफ़ाखोर मूँछों पर फिर ताव देता दिखाई देता है।] माल है लेकिन सरकार के पास अगर उसे निकालने का कोई ढंग है तो अपने काग़ज़ी घोड़े दौड़ाना, लंबी-चौड़ी स्कीमें बनाना। सरकार समझती है कि जनता को कोढ़ की तरह दूर ही दूर रखकर अपनी हवाई स्कीमों के बल पर वह सवाल हल कर लेगी। और इसीलिए मुनाफ़ाखोर उसे एक पटकनी के बाद दूसरी पटकनी दे रहा है। सलामत रहें वे और उनके काग़ज़ी घोड़े।

जुमेराती—सलामत रहे कहते हो? बिजली गिरे उन पर। वे तो अपने काग़ज़ी घोड़े दौड़ाते हैं, बीतती हम पर है।

महादेव—इसीलिए तो हल भी हमें ही निकालना होगा। हमीं को आगे आना होगा। सरकार का मुँह ताकने से काम न चलेगा।

रामसुमेर—यह तो बिलकुल पक्की बात है। अपनी ही ताक़त का हमें भरोसा है। हम अगर अब और बैठे रहे तो ग़ारत हो जायेंगे।

महादेव—और अगर हम अपने खाने के लिए लड़ेंगे, अपनी अनाज-कमेटियाँ बनायेंगे, अपना संगठन मज़बूत करेंगे तो सरकार को हमारा सहयोग लेना पड़ेगा। अच्छा तो मीटिंग में आना। साढ़े सात बजे।

रामसुमेर—ज़रूर।

जुमेराती (सोच में)—तुमने सुना है सुमेर,—सराय में कल एक माँ अपने तीन बच्चों को लेकर कुएँ में कूद पड़ी। अपनी भूख बर्दाश्त हो जाती है, बच्चों का तड़पना नहीं देखा जाता।

महादेव (उदासी के स्वर में)—आजकल ऐसी मौतें काफ़ी हो रही हैं। [दो पल की उदास खामोशी के बाद यकायक चिल्ला पड़ता है] हम ऐसी मौतें न होने देंगे। हम अपने भाई-बहनों को यों तलछ-तलछ कर मौत की काली चादर न ओढ़ने देंगे [दाँत भींचकर] हम अपने लिए खाना लेंगे, लेंगे, लेंगे। हज़ार-हज़ार पर्दे चीरकर हम खाना निकाल बाहर करेंगे जुमेराती, हम भूख का राज मिटाकर ही दम लेंगे। [धीमी आवाज़ में] देश में जब खाना है तो वह हमसे छिप नहीं सकता, वह हमें मिलेगा, ज़रूर ज़रूर मिलेगा। लेकिन मिलेगा हमारी कोशिश से ही। [धीमी आवाज़ में] अच्छा तो साढ़े सात बजे।

जुमेराती
रामसुमेर } अच्छा।

[जुमेराती और रामसुमेर एक ओर और महादेव दूसरी ओर चला जाता है। स्टेज के इस हिस्से में बिलकुल अँधेरा हो जाता है। मुनाफ़ाखोर अनाजचोर के पास की सभी बत्तियाँ बल उठती हैं और स्टेज के मुख्य हिस्से में जैसा ही सियापा है, वैसी ही यहाँ रोशनी है। मुनाफ़ाखोर बड़े वीभत्स ढंग से खिलखिला रहा है।]

मुनाफ़ाखोर [बहुत धीरे-धीरे]—सुना तुमने, महँगी से लोग भूखों मरते हैं। हिः हिः हिः, घास खा गये हो। महँगी से कभी किसी को भूखों मरते सुना है। वह कोई दूसरी महँगी होगी। इससे तो घर में हुन बरसता है। और मरने की तुमने भली चलाई? जिसका दिन पूरा हो गया उसे कोई रोक सका है, क्या महँगी और क्या सस्ती। परमात्मा के कारबार में कौन दखल दे सकता है। [गाने लगता है अपनी मोटी आवाज़ में : प्रभु जी तोरी लीला अपरंपार। इसी एक पंक्ति को वह तरह-तरह से गा रहा है। सुनकर उसी तरह रोंगटे खड़े हो जाते हैं जैसे दाँत के नीचे बालू आ गई हो या साँप उठकर नाचने लगा हो।]

—प्रभुजी के कारबार में दखल दे ऐसा कौन है। उनकी मर्ज़ी कहीं मौत बरसते है कहीं सोना! [क्रूर हँसी।]

दूसरा दृश्य

[दूसरे दिन शाम को छ बजे। रहीम के घर के सामने। मुख्य स्टेज की बाईं तरफ अनाज कमेटी के स्वयंसेवक एक क़तार में खड़े हैं। बीच स्टेज में हमारे परिचित लोग हैं।]

रामसुमेर—महादेव, कल तुमने दो चक्की के पाट वाली बात खूब कही।

महादेव—कोई झूठ तो कहा नहीं। अच्छे भले दो पाट हैं चक्की के। एक तरफ अनाजचोर सब अनाज दाबे बैठा है और दूसरी ओर सरकार अपनी हवाई स्कीमों के तीर चला रही है। नहीं है मरन हमारी?

जुमेराती—सोलहो आना। मरन हमारी नहीं तो और है किसकी? लेकिन देश में खाना हो और लोग भूखों मरें कितना बड़ा जुर्म है।

महादेव—जुर्म न सुर्म। खाने के लिए हमें अनाजचोर को हराना पड़ेगा, नहीं तो यही होगा। और हरा हम सकते हैं। सरकार जहाँ हार गई वहाँ हमारी जीत होगी।

रामसुमेर--इतना पाप कहां समायेगा? परमात्मा से तो डरना था--

महादेव--तुमने भी एक ही चलाई सुमेर। उसके लिए तो उन्हें अपनी घूँस पर विश्वास है।

रामसुमेर--घूँस कैसी?

महादेव--धर्मशाला, अनाथालय, पंडों को दान घूँस नहीं तो और क्या है?

जुमेराती--अपने भाई-बहनों के लहू से रँगा रुपया--

महादेव--(बीच में टोंककर) लेते उसे शर्म नहीं आती, उसके हाथ कटकर नहीं गिर पड़ते, यही न? नहीं ऐसा कुछ नहीं होता। भाई बहनों के पेट में घूँसा मारकर जो रुपया हाथ लगता है वह भी उसी फुर्ती से बाज़ार में चलता है जैसा नेकी से पाया हुआ रुपया। बल्कि और अच्छी तरह। और उस पर लहू के दाग़ भी नहीं होते।

रामसुमेर–ठीक कहते हो महादेव। दुनिया का कारोबार इसी तरह चलता है।

[थोड़ी देर तक तीनों चुप रहते हैं। दो और बड़े लोग खड़े-खड़े अनाज कमेटी के स्वयंसेवकों की क़वायद देख रहे हैं, जो समूचे दृश्य में चलती रहती है। स्वयं-सेवकों का नेता उनसे बोल रहा है।]

स्वयंसेवकों का नेता--साथियो, तुम जनता की अनाज कमेटी के स्वयंसेवक हो। तुम जनता के सिपाही हो। अपने भाई-बहनों को खाना देने की ज़िम्मेदारी तुमने अपने सर ली है। उसे ठीक से पूरा करने के लिए तुममें फ़ौजी मुस्तैदी ज़रूरी है। [थोड़ा रुककर] यह एक पक्की बात है कि अपने भाई-बहनों को खाना दिलाने का जो बीड़ा तुमने उठाया है उसे तुम पूरा कर सकते हो, तुम्हारे कंधे इसके लिए काफ़ी मज़बूत हैं। तुम बड़े लोगों से भी ज़्यादा काम इस ओर कर सकते हो। तुम उन सभी जगहों में पहुँच सकते हो जहाँ बड़े लोग नहीं पहुँच सकते। तुम्हें मुहल्ले के एक-एक घर का रत्ती-रत्ती हाल जानना चाहिए, उनकी ज़रूरतों को समझना चाहिए। और उन्हें पूरा करने के लिए अनाजचोरों के चोरगोदामों का रत्ती-रत्ती हाल जानना चाहिए। चोरगोदामों से अनाज निकालकर अपने भाई-बहनों के हाथ में हमें देना है। और हम ऐसा कर सकेंगे क्योंकि हम जनता की सन्तान हैं, जनता की तकलीफ़ ने हमें पैदा किया है, जनता के बीच हमारी जड़ें हैं। हम अपने भाई बहनों को भूखों न मरने देंगे।

महादेव—सुमेर आओ हम लोग भी इनके साथ चलें। जहाँ सरकार के कागजी घोड़े हप्प बोल गये, वहाँ हमारे बछेड़े कूदेंगे।

रामसुमेर—देखो न कितना जोश है?

महादेव—और हो क्यों न?

[स्टेज पर ज़रा और आगे बढ़कर, दर्शकों के ठीक सामने पहुँच कर—] मुनाफ़ाखोर अनाजचोर को हराने के लिए, सरकार की हवाई स्कीमों को जमीन पर उतारने के लिए, अपने लिए खाना हासिल करने के लिए—

[रामसुमेर, जुमेराती और सारे स्वयंसेवक] सरकार का मुँह ताकना छोड़ो। आगे आओ, अपनी अनाज कमेटी बनाओ। अपनी रोटी अपने संगठन के ज़ोर से हासिल करो।

[मुनाफाखोर का चेहरा यकायक बिलकुल स्याह पड़ जाता है जैसे साँप सूँघ गया हो। चेहरे से उसकी ज़बरदस्त घबड़ाहट का अन्दाज़ लगता है: अब मेरे दिन लद गये। वह एक बार ज़ोर से 'हाय' करता है और बेहोश हो जाता है। इस वक्त स्टेज के इस हिस्से में बिलकुल अँधेरा हो जाता है। मुख्य हिस्से में रोशनी और तेज़ हो जाती है। और उसी में सबका नारे लगाते हुए जाना—

चुराये हुए अनाज का एक-एक दाना जनता के खून की एक-एक बूँद है।
चोरगोदाम जनता की भूख पर कायम है।
मुनाफाखोरों का नाश हो।
जनता की मदद से खाने-कपड़े का रेशनिंग हो।

चार भले आदमी

[अशोक]

[यू० पी० के किसी शहर में एक महाजन का मकान। बैठक में रेडियो के पास महाजन। लाला रामदास और उनके दो मित्र बैठे हैं। जगमोहन एक गजलप्रेमी स्कूल मास्टर और तिवारी जी एक क्लर्क। तिवारी जी रेडियो की सूई घुमा रहे हैं। आर्केस्टा की धीमी आवाज़]

जग—बस लगा रहने दो यहीं। अब उसके ज़्यादा कान न उमेठो।

ति०—अभी नौ बजने में बीस मिनट हैं। यह अँग्रेज़ी म्यूज़िक तुम्हें अच्छी लगती है ?

जग—यह अँग्रेज़ी नहीं जर्मन म्यूज़िक है। तुमने बर्लिन ही लगाया है ना ?

ति०—हमारे लिये तो दोनों बराबर हैं, चाहे जर्मन हो चाहे अँग्रेजी। दोनों में वही पीं पाँ— समझ में खाक नहीं आता। अच्छा लाला जी आपको मजा आता है इस रेंकने में ?

रामदास—भैया, हम तो देहाती प्रोग्राम सुनते हैं। फुर्सत ही नहीं मिलती, रेडियो कौन सुने ?

ति०—तो रेडियो फिर क्यों खरीदा था, सिर्फ देहाती प्रोग्राम सुनने के लिये ही ?

रा०—खरीदा किस गधे ने था ? रुपया फँस गया था। सो एक रेडियो उठा लाये। कभी तुम सरीखे चार भले आदमी आ गये तो वही इसकी सुई घुमा करके बर्लिन बर्लिन सुन लेते हैं।

जग०—तिवारी जी, आपने दरवाज़े की सिटकनी चढ़ा दी है ?

रा०—हाँ, मैंने ही दरवाज़ा बन्द किया था।

ति०—यार कोई हिंदुस्तानी स्टेशन लगाने दो। कहीं से गजल वजल होती हो तो सुनी जाय। जगमोहन भाई तुम्हारी समझ में आती है यह पीं पाँ—

जग०—समझ में तो मेरी भी नहीं आती लेकिन इसी के बाद तो खबरें होने वाली हैं। पता नहीं, नौ बजे के पहले ही कोई ख़ास ख़बर सुना दे।

ति०—ख़बरें सुनकर ही क्या बना लोगे ? तुम्हारे मनाने से न तो जर्मनी हार जायगा, और न जीत जायगा।

जग०—हूँ, कितनी बड़ी लड़ाई हो रही है। दुनिया की तकदीर का फैसला हो रहा है और आपको गजलों की पड़ी है।

ति०—लड़ाई तो इसीलिये हो रही है कि दुनिया में शांति हो। हम लोग चैन से गज़ल गायें।

जग०—हाँ जी, क्यों नहीं।

ति०—तो जब तक चैन से गा सकते हैं तब तक क्यों न गायें ?

जग०—जब सिर पर बम बरसेंगे तब गाना गज़लें।

ति०—(गुनगुनाना) रहने लगा है दिल में अँधेरा तेरे बग़ैर—

जग०—अहाहा क्या पूछना है !

ति०—अच्छा नहीं पूछना है तो तुम्हीं बताओ, जब बम बरसेंगे तब तुम क्या बना लोगे ?

रा०—अजी यहाँ बम गिराने कौन आवेगा ? बम गिराने को यहाँ रखा ही क्या है ?

ति०—कलकत्ते पर बम गिर चुके हैं कि नहीं ?

रा०—सुना करो। कलकत्ते तक आये थे, तो चार कदम पर तो अपना शहर भी है। यहीं तक उड़ कर आने में कौनसा पेट्रोल खर्च हो जाता।

जग०—क्या बजा है अब तिवारी जी ?

ति०—अभी देर है लाला जी, तुम तो ब्याज खाना जानते हो। बाकी दुनिया से तुम्हें मतलब क्या ? अब जितना रुपया फैला रखा है, देखना सब डूब जाता है या नहीं।

रा०—अजी जापान आ जाय चाहे जर्मनी, लाला रामदास का रुपया उसके बाप भी नहीं डुबा सकते। और सुना है, कि हिटलर यूरुप में बहुत हार रहा है।

जग०—यह तो पालिसी है लाला जी, जाड़े में पीछे हटता है और गर्मी में आगे बढ़ता है।

तिवारी—तो रूस की बरफ़ में हिटलर आँखमिचौनी खेल रहा है।

जग०—आँखमिचौनी नहीं, रूसियों का बराबर नुकसान हो रहा है। हम किले में तोप के पीछे बैठे हैं। तुम हम पर हमला करोगे तो मारे नहीं जाओगे ? हिटलर का इसमें क्या नुकसान होता है ?

रामदास—आज हमारे गाँव से कारिंदा आया था। कहता था कि बहुत से गाँववाले कहते हैं—लड़ाई होई नहीं रही। हमारी सरकार से लड़े, ऐसी मजाल किसे है। सुना मास्टर साहब, ऐसे भी अहमक दुनिया में बसते हैं।

जग०—जाहिल, गँवार हैं। और क्या ?

तिवारी—सुना है कि स्टालिनग्राड में जर्मनी का बड़ा नुकसान हुआ है।

जग०—ये सब चंडूखाने की गप्पे हैं। नुकसान होना होता तो हिटलर उतनी दूर जाता ही क्यों ?

राम०—अब कितने मिनट रह गये हैं जी ?

तिवारी—बस, दो मिनट और हैं।

जग०—अच्छा, सब लोग खामोश हो जाओ। अब बोलने ही वाला है।

(दरवाज़े पर दस्तक)

राम०—कौन ? (फिर दस्तक)

राम०—अजी, बोलते क्यों नहीं हो ?

जग०—(धीरे से) रेडियो बंद कर दो। पता नहीं कन है।

(रामदास दरवाज़ा खोलने जाते हैं)

(रेडियो बंद करना)

जग०—कम्बख्त को इसी वक्त मरना था।

(कुछ फ़टेहाल-से एक मध्यवर्ग के व्यक्ति के साथौ लाला रामदास आते हैं)

राम०—कहिये जनाब, आप क्या चाहते हैं ?

आदमी—माफ़ कीजियेगा ?

राम०—हाँ जी, माफ कर दिया। अब बताओ काम क्या है।

आदमी—मुझे आपसे एक बहुत ज़रूरी काम है।

राम०—तो सुनाइये ना, क्या काम है।

आदमी—मैं कई बार आपसे मिलने आया लेकिन मुनीमजी ने कह दिया कि आप काम कर रहे हैं या किसी से बात कर रहे हैं।

राम०—और इस वक्त क्यों आ गये ?

आदमी—आपका दरवान मेरे ही गाँव का है। उसने कहा कि इस वक्त आप घर पर ही हैं।

जग०—क्या बज गया तिवारी जी !

लालाजी—उहुँ। (इशारे के लिए खाँसना)

राम०—हाँ जी, तो फिर किसी वक्त आना। इस वक्त तो हम जरा चार भले आदमियों से बातचीत कर रहे हैं।

आदमी—भला आदमी तो मैं भी हूँ। एक बहुत जरूरी काम से आपके पास आया हूँ।

जग०—भले आदमी हो तो कल किसी वक्त आओ ना। इस वक्त तो छुट्टी दो।

तिवारी—(गुनगुनाना) रहने लगा है दिल में .....। (हँसना)

आदमी—रंगून में मेरी जूतों की दुकान थी। लड़ाई में मैं तबाह हो गया।

राम०—अच्छा, तुम रंगून से आये हो ? तब तो तुमने लड़ाई देखी होगी।

आदमी—जी साहब, देखी क्यों नहीं। जापानी लोग बम में बैठ कर आते थे और जिधर गोला गिराना चाहते थे, उधर को ही उसका हैंडल घुमा देते थे।

राम०—कहो तिवारी जी, मैं झूठ तो नहीं कहता था। अब सुन लो कान खोल कर। यह तो अपनी आँखों देखकर आये हैं।

तिवारी—रंगून पर बम गिरे तो बहुत दिन हो गये। तुम इतने दिन तक कहाँ रहे ?

आदमी—साहब, पैदल चला था। रंगून से चलते चलते कलकत्ते आया। जहाँ जाय भूला, वहाँ पड़े सूखा। कलकत्ते में भी बम गिरे तो यहाँ आया।

तिवारी—सुना लालाजी, कलकत्ते में बम गिर चुके हैं। आप मानते ही न थे

जग०—अच्छा, तो कलकत्ते में बम गिरते तुमने देखे थे ?

आदमी—हां साहब, देखे क्यों नहीं थे। सड़क में पचीसों फीट नीचे घुस जाते थे और जमीन में पानी निकल पड़ता था।

ति०—क्या कहा पानी निकल पड़ता था?

जग०—मैं कहता था कि नहीं तिवारी जी? आप मेरी बात मानते ही न थे।

रा०—अर्जुन ने भीष्म पितामह के लिये जमीन से पानी निकाला था कि नहीं? किताबों में झूठ थोड़े ही लिखा है।

ति०—आपके गाँव में भी दो चार बम गिरें तो खेतों की सिंचाई का अच्छा इन्तजाम हो जाय।

जग०—और सुना है कि कलकत्ते में चीज़ें बड़ी सस्ती हो गई हैं।

आ०—कुछ पूछिये ना। आठ आठ आने में फ्लेक्स के जोड़े मिलते थे। चावल और मछली को कोई पूछता ही न था।

ति०—फ्लेक्स सस्ता हो गया था चावल मछली को कौन पूछता?

रा०—क्या कहा आपने?

ति०—मैं कह रहा था, जब फ्लेक्स इतना सस्ता हो गया था, तब आप यहां कैसे बैठे रहे? कलकत्ते चले जाते तो लाखों की रकम काटते, रकम!

राम०—लेकिन जान का जोखिम भी तो था।

जग०—अब तो ९ बजकर कई मिनट हो गये होंगे।

आ०—लाला जी, मैं आपके पास बहुत जरूरी काम से आया हूँ।

रा०—तुम्हारा काम तो पूरा हो सकता है लेकिन अब आज कल तुम्हारा क्या हाल है?

आ०—मेरी जूतों की बहुत बड़ी दूकान थी।

ति०—उन जूतों में से कुछ बचे भी हैं, या सब वहीं छोड़ आये।

आ०—इस वक्त तो पास में यही एक घिसा हुआ जोड़ा है। दाहिने के तले में एक सूराख भी हो गया है।

जग०—लाला जी, विदा भी कीजिये इनको, यहां साइन टली जा रही है और ये अपने जूते का फटा तल्ला दिखा रहे हैं।

आ०—(कुछ कड़ी आवाज़ में) मालूम होता है आप लोग बर्लिन की खबरें सुनने के लिये उतावले हो रहे हैं।

जग०—मान लो, हम लोग बर्लिन ही......

राम०—(बात काट कर) अजी नहीं, हम लोग दिल्ली की खबरें सुनते हैं। सोच रहे थे, आपको क्यों तकलीफ दी जाय, अकेले में सुनेंगे।

आदमी—जी! अकेले में सुनेंगे। मेरे सामने दिल्ली की खबरें सुनते तो क्या तुम्हें पुलिस पकड़ ले जाती?

राम०—पुलिस पकड़ ले जाती? हमने पुलिस का क्या बिगाड़ा है?

आ०—आप साफ़ साफ़ क्यों नहीं कहते कि आप बर्लिन और टोक्यो की खबरें सुनते हैं।

राम०—हम तो लखनऊ का पंचायत घर सुनते हैं। और जगह की बातें हमारी समझ में आती ही नहीं।

आ०—यह चर्चा किसी और को दीजियेगा।

जग०—(बीच में) अच्छा लाला जी, हम चलें ना ? कल फिर मुलाकात होगी।

राम०—अजी बैठिये भी जरा इनसे बातें करते जाइये। देखिये, यह हमारे दोस्त जगमोहन जी हैं......

जग०—हमारी लाला जी की बहुत थोड़ी सी मुलाकात है। मैं तो यहां पहली बार आया हूँ, आप चाहे दरबान से पूछ लीजिये।

ति०—(आदमी से) आप तो अपना नाम पता बताइये ? कहां से तशरीफ लाये हैं आप ?

आ०—मैं ने बताया तो कि मैं रंगून से आया हूँ। वहां मेरी जूतों की दूकान थी।

ति०—तो इन दोनों पर आप क्यों खामख्वाँ रोब गांठे चले जा रहे हैं।

आ०—मैंने रोब गाँठने की कौन सी बात कही ?

राम०—कुछ नहीं भाई। रोब दाब की कौन सी बात है। हम चार भले आदमी रेडियो के सामने बैठे हैं और रेडियो भी नहीं सुन रहे हैं। यह हमारा कर ही क्या सकते हैं ?

आ०—कुछ नहीं साहब। मैं तो खुद ही आप के पास एक बहुत जरूरी काम से आया हूँ।

राम०—हाँ जी फ़र्माइये, यह भी आपका ही दौलतखाना है।

आ०—मैं यहाँ पर एक जूतों की दूकान खोलना चाहता हूँ।

राम०—कितनी पूँजी है आपके पास ?

आ०—पूँजी होती तो आपके पास क्यों आता ?

रा०—तो भला बताइये बिना पूँजी के दूकान कैसे खुलेगी ?

आ०—रंगून में मेरी जूतों की बहुत बड़ी दूकान थी।

रा०—वह तो थी; अब क्या है आपके पास ?

आ०—नहीं जी वह अब भी वहाँ है। मैं उसमें ताला बन्द कर आया हूँ। जब हमारी सरकार वहाँ जायगी, तब फिर ताला खोलकर जूते बेचने लगूँगा।

ति०—(हँसता है)

आ०—इसमें हँसने की कौन सी बात है ?

ति०—मैं यह अर्ज़ करना चाहता हूँ कि जब रंगून वाली दूकान खुलने ही वाली है तब आप लालाजी को क्यों तकलीफ दे रहे हैं।

रा०—हाँ जी, तिवारी जी ने बात तो पक्की कही। अब आराम से वहीं जूते बेचना।

जग०—लेकिन हमारी सरकार भी तो रंगून पर बम गिरा रही है। कहीं इनकी जूतों की दूकान पर ही......

रा०—रहे वही बछिया के ताऊ। हमारी सरकार को जूतों की दूकान से क्या लेना है ? क्या उसे जूतों की कमी है ?

आ०—आप जानते नहीं, रंगून का रास्ता बड़ा खराब है। चार महीने तो मुझी को कलकत्ता आने में लग गये थे। फिर फ़ौज फाँटा, खच्चर, टट्टू, ऊँट, हाथी, रेल, मोटर, इन सब को लेकर जरा सोचिये रंगून पहुँचने में कितना टाइम लगेगा।

रा०—तो तुम समझते हो, तब तक जापानी तुम्हारी दूकान का ताला न तोड़ डालेंगे ?

आ०—ताला तोड़कर क्या लेंगे ? जापानियों के पैर में तो दो अढ़ाई इंची के जूते आते हैं। मेरी दूकान में छः इंची से कम कोई जूता ही नहीं है।

ति०—क्या तुम्हारी दूकान में बच्चों लायक जूते बिलकुल न थे ?

जग०—और ज़रा बड़े भी पड़े तो क्या रुई लगाकर न पहन लेंगे ?

रा०—हमें तो दादा बड़ा जूता ला देते थे। कुछ दिन रुई लगाकर पहनते थे, और जब पैर बड़ा हो जाता था तब वैसे पहनने लगते थे बिना रुई के ही।

ति०—तब जूते चलते भी तो थे खूब ! अब वे दिन कहाँ रहे।

जग०—हमारे दादा तो बच्चों के लिये अब भी बड़े जूते ही लाते हैं और कुछ दिन तक रुई लगाकर पहनाते हैं।

ति०—तुम अपने दादा को वहीं भेज दो तो जापानियों को जूता पहनना भी सिखा देंगे और रोजगार भी चमक जायगा।

जग०—क्या कहा ?

आ०—कुछ भी हो साहब ! अभी तो दूकान का ताला खुलता नहीं।

रा०—तो भाई जाओ अपने घर। हम लोगों को क्यों परेशान कर रहे हो ?

आ०—मैं आपके पास बहुत ज़रूरी काम से आया हूँ।

रा०—वह तो सुन लिया। अब राम राम करके घर जाओ ना ?

ति०—हाँ जी, देखो ज़रा, कहीं ग़ज़ल वज़ल होती है कि नहीं।

जग०—अभी तो दिल्ली से ही खबरें हो रही हैं।

आ०—आपने मेरी बात अभी सुनी कहाँ ? पूँजी कम लगे और मुनाफा ज़्यादा हो। ऐसी तरकीब है मेरे पास।

ति०—तो उसी से खुद क्यों नहीं कमा खाते ?

आ०—पूँजी जो नहीं।

रा०—अच्छा, तो क्या तरकीब है तुम्हारी ?

आ०—आपको यह तो मालूम ही है कि जूतों का भाव बहुत तेज हो रहा है।

रा०—हमने तो तीन चार जोड़े खरीद कर रख लिये हैं। इधर दस पाँच साल तक ज़रूरत पड़ेगी नहीं; तब तक शायद लड़ाई भी खत्म हो जाय।

ति०—और जो कहीं इस शहर पर बम गिरे तो ?

रा०—तो जहाँ सब कुछ नास होगा वहाँ तीन चार जोड़ी जूते भी सही।

आ०—यहाँ बम नहीं गिरेंगे। आप बेफिक्र रहें।

रा०—देखा, तिवारी जी ! मैं कहता था न कि यहां बम न गिरेंगे। अब यह भी वही बात कह रहे हैं। हां जी, तो मान लो जूतों का भाव तेज हो गया है, तो फिर ?

ति०—फिर क्या ? एक जूतों की दुकान खोल लो। बहुत से जोड़े हो जायँगे। अगली लड़ाई तक काम आयँगे।

आ०—लाला जी, मैं यह कह रहा था कि जूतों का भाव तेज हो गया है। मैं कार्ड बोर्ड लगाकर ऐसे बढ़िया जूते बनवा सकता हूँ कि ज़रा भी फर्क न मालूम हो। बस मुनाफा ही मुनाफा है।

तिवारी—लेकिन ये कार्ड बोर्ड के जूते रुई लगाकर उतना थोड़े ही चलेंगे, जितना दादा के चलते थे।

राम०—यह तो कोई बात नहीं, लेकिन मुश्किल यह है कि हमारे यहां तो कभी जूतों की दुकान खुली नहीं।

तिवारी—आपके बापदादों ने बनस्पति घी बेचा था ?

राम०—अजी, सो तो अब जमाना ही बदल गया है।

तिवारी—तो बस, जैसे बनस्पति घी चल गया है, वैसे ही कार्डबोर्ड के जूते भी चल जायँगे।

जग०—तल्ला जल्दी टूटेगा।

तिवारी—इनके जूते में भी तो सुराख़ है। क्यों भाई, यह जोड़ा भी कार्डबोर्ड के तल्ले का है ?

आदमी—लालाजी, आप सोचते क्या हो ? कहीं फौज में ठेका मिल गया तो बस सोना ही बरसेगा।

तिवारी—धन्य हो महराज, जूतों से सोना बरसाते हो।

जग०—हल्के-फुल्के जूते, भागने में भी पैर जल्दी उठेंगे। सलाह तो अच्छी है।

आदमी—और रही दुकान खोलने की बात, सो मैं सब इन्तजाम कर लूँगा।

राम०—दुकान किसके नाम से होगी ?

आदमी—जात बिरादरी में आपकी बदनामी होगी। नहीं तो आपके नाम से सबसे अच्छा था। आप ठीक समझें तो मेरे नाम से ही खोल सकते हैं।

तिवारी—मैं बताऊँ, मुनुआ के नाम से कर दो। उसका घर का नाम मुनुआ है। कोई जानेगा भी नहीं।

जग०—मुनुआ तो अभी छोटा है। 'मुनुआ एण्ड सन्स' दुकान का नाम हो नहीं सकता। कोई भाई भी नहीं है, जो 'मुनुआ एण्ड ब्रदर्स' नाम रखा जाय।

तिवारी—लड़का और भाई नहीं है तो क्या हुआ ? बाप तो है। नाम रखिये मुनुआ एण्ड फादर्स, कार्डबोर्ड शू मेकर्स, डीलर्स, सप्लायर्स, लायर्स, वगैरः वगैरः।

आदमी—खैर, नाम तो सोच लिया जायगा। अभी जो जरूरी काम है, वह सुन लीजिये।

तिवारी—अभी जरूरी काम बाकी ही है ?

आदमी—कलकत्ते से एक चमड़े का व्यापारी भागकर आया है। यहाँ का भाव उसे मालूम नहीं है।

तिवारी—वही कलकत्ते वाला भाव जानता होगा। वही आठ आठ आने जोड़ा। चाहे फ्लेक्स लो, चाहे बाटा।

राम०—वह जूते नहीं, चमड़े का व्यापारी है।

तिवारी—तो आठ आने गज़ चमड़ा बेचता होगा।

आदमी—मतलब यह है कि चमड़ा आपको बहुत सस्ता मिल जायगा।

राम०—लेकिन मुझे तो चमड़े की पहचान है नहीं।

तिवारी—जूतों की पहचान तो है।

आदमी—चमड़े की पहचान वगैरः सब मैं कर लूँगा। आप उस व्यापारी से मुलाकात कर लीजिये। ५००) में ५०००) का माल हाथ आ जायगा।

राम०—तो कब मुलाकात होगी उससे?

आदमी—जल्दी ही मुलाकात कर लीजिये तो अच्छा हो। कहीं किसी और ने सौदा कर लिया तो बस हाथ मलना ही हाथ लगेगा।

राम०—तो अभी चला जाय?

आदमी—चलिये, लेकिन रुपये लेते चलियेगा। उसको बयाना दे आवेंगे, बाकी रुपया माल मिलने पर दे देंगे।

(बाहर दस्तक और आवाज़—लालाजी!)

राम०—कौन?

आवाज़—लाला रामदास हैं?

राम०—तिवारी जी, आपने दरवाज़ा खुला ही छोड़ दिया था? और सामने रेडियो रखा है? (एक पुलिस सबइन्स्पेक्टर का प्रवेश)

सब-इन्स०—लालाजी आप हैं यहाँ?

जग०—ये तो पुलिस के आदमी हैं। ये जूतेवाला जरूर खुफिया था। अब धरे गये सब के सब।

राम०—आइये, आइये, सरकार! कैसे तकलीफ की इस वक्त?

जग०—अच्छा, लालाजी, हम चलें। अब कल मुलाकात होगी।

सब-इन्स०—बैठिये साहब, कहाँ चले। अभी आपको गवाही देनी होगी।

राम०—कैसी गवाही?

जग०—जी, मैं तो यूँही चला आया था।

सब-इन्स०—हाँ, हाँ, तो मैं कब कहता हूँ कि आप डाका डालने आये थे।

राम०—तो सरकार की क्या खातिर करूँ इस बखत?

(मौका पाकर जूतों का व्यापारी निकल जाता है)

सब-इन्स०—आपके यहां कोई रंगून का रेफ्यूजी बनकर तो नहीं आया था?

राम०—रेफूजी तो साहब नहीं मालूम। एक रंगून के व्यापारी ज़रूर यहां हैं। अरे, वह आदमी कहां गया?

सब-इन्स०—कोई है ? देखो कोई बाहर तो नहीं गया ? मैं फिर मिलूँगा। जरा उन हज़रत को देखूँ। रंगून के व्यापारी बने थे। (जाना)

जग०—तिवारी जी, मेरा तो दिल धक धक करने लगा था।

राम०—अब दरवाज़ा तो बंद कर आओ, कहीं फिर आ गये तो ?

तिवारी—देखा, कैसा छटा हुआ बदमाश था, वह छेददार जूतेवाला।

जग०—कहीं दरोगा से कह न दे कि हम लोग रेडियो सुनने बैठे थे ?

राम०—हम लोगों ने सुना कब था ?

तिवारी—वह पीं पां नहीं सुना था ?

जग०—वह हमारी समझ में कब आया था ?

तिवारी—इससे क्या ? खून करो चाहे खून करने की कोशिश करो, फाँसी की सजा दोनों में है।

जग०—अब क्या बजा है ?

राम०—बजा होगा कुछ। अब कान पकड़ा। देहाती प्रोग्राम छोड़कर कुछ सुनेंगे नहीं। अच्छा रेडियो लिया, लैसन का पैसा अलग, और यह न सुनो, वह न सुनो, यह झंझट अलग।

जग०—मालूम होता है लौट आये।

रा०—कौन ?

ति०—वही होंगे। और कौन ? अब चलेंगे सब बड़े घर। (फिर दस्तक)

रा०—अरे भाई कौन हो ? बोलते क्यों नहीं ?

बच्चे की आवाज—क्यों बोलें ? अम्मा गुस्सा बैठी हैं। आप खाना खाने क्यों नहीं आते।

ति०—ओहो बेटा मुनुआ हो ? आइये जनाब, मुनुआ एंड फादर्स फर्म के मालिक।

मुनुआ—फादर माने बाप। फादर्स माने बहुत से बाप, क्यों चाचा जी।

जग०—मैं तो समझा, वही जूते वाला बच्चा बनकर धोखा दे रहा है।

रा०—चलो अब सीख गये। पंचायती घर सुनना हो तो आना, नहीं तो न आना।

ति०—और जब बम गिरेंगे तब ?

रा०—पहले तो यहां बम गिरेंगे ही नहीं। और गिरे तो जैसे सबका राम मालिक है वैसे ही हमारा भी।

ति०—बम में आदमी बैठकर आवे तो कहियेगा—मान जाओ हमसे कम सूद पर ही रुपया ले लेना। आगे राम मालिक है।

जग०—हां जी राम का ही भरोसा है। अच्छा नमस्ते।

रा०—नमस्ते।

(जाते हुए तिवारी का गुनगुनाना : रहने लगा है दिल में अँधेरा तेरे बगैर।)

दो जन-गीत ❀

[स्व० बुद्धिभद्र दीक्षित]

जाग जाग मोरे खेत राजा,
अब काहे मुरझाने ?
तुइ दुखिया किसान की आसा,
तुइ पलटइ जीवन का पासा,
काहे मन सकुचाने ?
अब काहे मुरझाने ?
जाग जाग तुइ सब दुख हरले,
सुख संपति से घर मोरा भर दे,
तुम्हरी सरनि लुकाने।
जाग जाग मोरे खेत राजा,
अब काहे मुरझाने ?

(२)

अधिक अन्न उपजाओ हो पंचो,
अधिक अन्न उपजाओ।
बैल तुम्हारे छैल छबीले,
बढ़िया हर और फार नुकीले,
कसि कसि बाँह लगाओ हो पंचो,
अधिक अन्न उपजाओ।
नीर कुआँ का, नहरि की धारा,
ताल-तलैया, नदिया नारा,
भरि भरि जल खिंचवाओ हो पंचो,
अधिक अन्न उपजाओ।
परमेश्वर की कृपा घनेरी,
चहुँ दिसि अन्न अन्न की ढेरी,
छकि छकि खाओ, लुटाओ हो पंचो,
अधिक अन्न उपजाओ।

❀ ऑल इंडिया रेडियो, लखनऊ के सौजन्य से प्राप्त।

बंगाल के किसानों का गीत

[हेमांग विश्वास]

तोमार कास्तेटारे दिओ जोरे शान, किसान भाइ रे
कास्तेटारे दिओ जोरे शान।
फसल काटार समय एले काटबे सोनार धान,
दस्यु जदि लुटते आसे काटबे ताहार जान् रे।
कास्तेटारे दिओ जोरे शान।
शान दिओ, जोर से दिओ, दिओ बारे बार,
हुँशियार भाइ कभू जेनो जाय ना ताहार धार रे।
कास्तेटारे दिओ जोरे शान।
ओ किसान तोर घरे आगुन, बाइरे जे तूफ़ान,
विदेशी सरकार घरे, दुयारे जापान रे।
कास्तेटारे दिओ जोरे शान।
एकताय भाइ चीनेर मानुष होइल बलीयान;
छयटी बछर जापानी रे करलो जे हैरान रे।
कास्तेटारे दिओ जोरे शान।
एक हये आज दाँड़ाओ देखि हिन्दू मुसलमान;
एक निमिषे आसबे स्वराज, पालाबे जापान रे।
कास्तेटारे दिओ जोरे शान।

अनुवाद

अपने हँसिये पर खूब सान चढ़ाना, किसान भाई;
अपने हँसिये पर खूब सान चढ़ाना।
फसल काटने के समय सुनहले धान काटना;
और अगर डाकू तुम्हें लूटने आवें तो उनके सिर काटना।
अपने हँसिये पर खूब सान चढ़ाना।
सान चढ़ाना और कसकर चढ़ाना, बार बार चढ़ाना;
भाई, इस बात का ध्यान रखना कि उसकी सान उतर न जाय;
अपने हँसिये पर खूब सान चढ़ाना।
किसान, तुम्हारे घर में आग लगी है और बाहर तूफ़ान है;
घर में विदेशी सरकार है और बाहर जापान है।
अपने हँसिये पर खूब सान चढ़ाना।
भाई, एकता से चीन के मनुष्य बलवान हुए;
जो छः साल से जापानियों की नाक में दम किये हुए हैं।
अपने हँसिये पर खूब सान चढ़ाना।
आज हिन्दू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर खड़े हो;
एक छिन में स्वराज मिलेगा और जापान भाग खड़ा होगा।
अपने हँसिये पर खूब सान चढ़ाना।

पंजाबी किसानों का गीत

[शीला भाटिया]

उठ जंगे आज़ादी ओए साथिया छिड़पया गजदा वजदा।
आ कमरा कस लाई ओए साथिया आलस नई ओ फबदा।
आ चढ़े जापानी ओए साथिया ब्यूगल जगदा वजदा।
गज्ज शेर हिन्द दे ओए साथिया टुर मैदान बिच डट जा।
ओ कठ चाली करोड़ाँ दा साथिया की नइओ कर सकदा।
ओ तेरा अपना तजरबा ओए साथिया गज्ज गज्ज के दसदा।
ओ जंग लड़ने लई ओए साथिया हुकूमत अपने तथा बिच खस लै ;
ओ जद पबक पैन गे ए ओस ने विसना नई ओ नसदा।
ओ कठ चाली करोड़ाँ दा साथिया की नई ओ कर सकदा।
चूँ संगल गुलामी दा साथिया कदै वी नई ओ कटदा।
उठ जंगे आज़ादी ओए साथिया छिड़पया गजदा वजदा।

(उठ साथी, आज़ादी की लड़ाई शुरू हो गई है।
आ कमर कस ले; तुझे आलस नहीं शोभा देता।
जापानी चढ़ आये हैं; लड़ाई का बिगुल बज रहा है।
हिन्द के शेर गरज; साथी चल मैदान में डट जा।
एक साथ मिलकर चालीस करोड़ क्या नहीं कर सकते।
तू अपना अनुभव ही गरज कर सबसे कह दे।
लड़ाई के लिये हुकूमत अपने हाथ में कर ले।
जब तू ललकारकर झपटेगा, तब दुश्मन भागताही दिखाई देगा
एक साथ मिलकर चालीस करोड़ क्या नहीं कर सकते?
इस तरह तो गुलामी की ज़ंजीरें कभी न कटेंगी।
उठ साथी, आज़ादी की लड़ाई जोर-शोर से शुरू हो गई है।)

कय्यूर के शहीद

[बँगला गीत]

फिराइया दे दे दे मोदरे
कायूर बँधूदेरे। १।
मालाबारेर कृषक-सन्तान,
कृषक सभार छिल प्राण,
अमर होइया रहिबे तारा
देशेर दशेर अन्तरे। २।

कृषक-मायेर राखते इज्जत-मान,
फाँसी काष्ठे दिलो प्राण;
फिरिया पाबो ना रे मोदेर
कायूर बँधूदेरे । ३ ।
लज्जार कथा धुइबो रे कोथाय ?
तादेर बाँचाइते ना पारिलाम हाय !
तादेर छाड़िया दिते वाध्य करते ना पारिलाम
देशेर अबूझ सरकारे रे । ४ ।
शोन रे देशेर कृषक-सन्तान,
शोन रे देशेर देश प्रेमी सन्तान,
शोन रे देशेर वीरेर मायेर प्राण,
अक्षमतार दे रे प्रतिदान—
फिराइया दे तादेरे देशेर काजे
हाजार हाजार । ५ ।
चार कायूरेर बदले आज भाइ,
हाजार हाजार कायूर चाइ,
फिराइया पाबो रे मोदेर
कायूर शहीदेरे । ६ ।

(हमारे कय्यूर के साथियों को लौटा दे, लौटा दे, लौटा दे ।१। मलाबार के किसानों की सन्तान, वे किसान-सभा के प्राण थे, वे देश की जनता के हृदय में अमर होकर रहेंगे ।२। किसान माँ की इज्जत आबरू रखने के लिये, वे फाँसी के तख्ते पर झूल गये, अब हम अपने कय्यूर के साथियों को फिर न पा सकेंगे। हम अपना मुँह कहाँ छिपायें ? ।३। हम उन्हें बचा नहीं सके। हम उन्हें छोड़ देने के लिये देश की अबूझ सरकार को बाध्य नहीं कर सके ।४। सुनो, देश के किसान-बच्चो, सुनो, देश से प्रेम करने वाले नौजवानो, सुनो, देश की वीर माता के सपूतो, अपनी अक्षमता का प्रतिदान दो। देश के लिये उन्हें लौटा लो, हज़ार हज़ार की संख्या में ।५। भाई, आज चार कय्यूर किसानों के बदले, हमें हज़ार हज़ार कय्यूर के शहीद चाहिये; हम अपने कय्यूर के साथियों को फिर पायेंगे, ज़रूर पायेंगे ।६।)

सड़क पर—ले० श्री 'पहाड़ी'; प्र० प्रकाश-गृह अलाहाबाद। मूल्य ॥।≡)

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी के सुप्रसिद्ध कहानी-लेखक श्री 'पहाड़ी' जी की नौ कहानियों का संग्रह है। 'पहाड़ी' जी की कहानियाँ सन् ४० तक की रचनाएँ हैं। तब से आज तक लेखक की कला और उसका व्यक्तित्व और भी परिष्कृत हो चुका है और जब उनकी नई कहानियाँ निकलेंगी, उनमें अवश्य कुछ और नई चमक-दमक होगी।

इन कहानियों में 'पहाड़ी' जी ने जीवन की निम्नतम सतह को छुआ है। जीवन के यह दृश्य बड़े यथार्थ, कटु और तीखे हैं। इनकी निर्ममता और कसैलेपन से पाठक चौंक उठता है। आवारे, शोहदे, शराबी, पतित स्त्रियाँ—समाज की जूठन और साथ-साथ इसी छाया-जग में विचरता युवकों का दल जो छिपे-छिपे पिस्तौल के ज़ोर से सामाजिक ढाँचा बदलने के लिए दाँव-घात लगाता है! इन वर्गों का चित्रण लेखक ने किया है। एक कठिन ऊब और अवसाद इस यथार्थवाद में हमें मिलता है।

"गली के नुक्कड़ पर बूचड़ की दुकान! बाहर ज़मीन पर पड़ी अंतड़ियों पर तीन लुंडैरू कुत्ते जुटे हुए कभी-कभी अपनी जाति का सही स्वरूप सुझाते—भू-अ-अ-अ। आपस में झगड़ उठते। फिर खपरैलों से छाये कच्चे मकानों का पिछवाड़ा। पास पड़ी मेहतरानी की टोकरी पर मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं। पास ही लगी नाली में मैला बह रहा है। जिसकी बदबू से एक भारी छी-छी पैदा हो रही थी...।"

[विश्राम]

भारतीय-समाज की सड़न और बदबू का लेखक ने सशक्त वर्णन किया है। उसकी लेखनी में बल और ओज के साथ नग्न सत्य का सामना करने की क्षमता है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं हुआ कि इस रोग का प्रतिकार क्या है। वह इस शोषण का अंत करने को आतुर है, किन्तु क्या उसका हथियार वस्तुवाद न होकर आदर्शवाद है? एक जगह 'पहाड़ी' जी कहते हैं:

"वस्तुवाद से कुचले ज़माने में कब आदमी का उचित आदर होता है।"

[पृ० १०८]

दूसरी जगह—"जनता तो घास का कोरा पूला होता है। उस पर आग लगाने को दिमाग चाहिये, और वे दिमाग शहरों के गली-कूचों में आवारागर्दी करते फिरते हैं। उनके रहने की ठीक व्यवस्था नहीं, और न खाने की है।" [पृ० ९७]

कहानियों की शैली में ओज और नूतनता है। लेखक के पास जीवन का कठोर अनुभव और इस भीषणता का विरोध करने की क्षमता है। सन् ४० से ४३ तक अपनाये समाजवादी दृष्टिकोण की आगे और भी स्पष्ट अभिव्यक्ति होगी, यह हमारा विश्वास है।

—प्रकाशचन्द्र गुप्त

निकट की दूरी—ले० सर्वदानन्द वर्मा, प्र० हिन्दुस्तानी बुकडिपो, लखनऊ। मू० २)

'निकट की दूरी' एक घटना-प्रधान उपन्यास है, गोकि यहाँ पर मनुष्य के अन्तर्द्वन्द और मानसिक संघर्ष का भी अभाव नहीं है। पर साहित्य में कथा मात्र का महत्व कुछ भी नहीं होता। हम एक प्रगतिशील युग से गुज़र रहे हैं। हमें यह न भूलना चाहिये कि कहीं प्रगतिशीलता के नाम पर प्रतिक्रियात्मकता को तो अनजान में प्रश्रय नहीं दे रहे हैं। हमें स्थूल को छोड़ सूक्ष्म और शरीर से आगे प्राण की ओर अग्रसर होना होगा। हम अपनी कथा में जहाँ तक प्राण संचार कर सकेंगे, उसमें जहाँ तक स्वाभाविकता ला सकेंगे, घटनायें जहाँ तक जल-प्रवाह की तरह नैसर्गिक रूप में आयेंगी, वहीं तक उपन्यास टेकनीक की दृष्टि से भी ठीक कहा जायेगा और इसी बात की खास कमी इस उसन्यास में है। इसमें घटनायें और पात्र एक दूसरे से सम्बद्ध तो हैं, पर घटनायें जिस प्रकार इस उपन्यास में घटी हैं, वे स्वतः जीवन की प्रेरणा से नहीं घटी हैं। वे इसलिये इस रूप में घटी हैं कि वे लेखक को सूट करती हैं। लेखक बैठकर सूत्र पकड़ कर जिस तरह चलाता है, उसी तरह घटनाओं को अग्रसर होना पड़ता है। जैसे, सुधीर का आ जाना, फिर लखनऊ मेडिकल कालेज में जाते-जाते अतुल का उनलोगों के साथ एक कम्पार्टमेंट में बैठ जाना, इत्यादि। पद पद पर ऐसी घटनायें घटती हैं, जिन्हें देखकर देवकीनन्दनजी के ऐय्यारी बटुये या लखलखा की याद आ जाती है।

उपन्यास की पृष्ठभूमि यथार्थवादी होते हुए भी उसका treatment रोमांटिक है। बातें हमारे दैनिक-जीवन की होते हुए भी इस ढंग से कही गई हैं कि उनमें एक विचित्रता आ जाती है।

लेखक से कुछ हम विविधता की उम्मीद करते हैं। हम चाहते हैं कि लेखक वासी बातें हमारे सामने न रखे, उसमें कुछ नूतन भी हो, हमें ऊपर उठाने की शक्ति उसमें हो, नये थीम हों। पर वर्माजी में हमें कोई क्रमिक विकास के चिह्न दृष्टि-गोचर नहीं होते। उनके सारे उपन्यासों का प्लाट ले-देकर एक ही है। उदाहरण-स्वरूप वर्माजी के प्रत्येक उपन्यास में एक तो ऐसे पात्र होते हैं, जो केवल लेखक के विचारों और आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसे पात्र 'संस्मरण में महेशानन्द', 'नरमेध' में देवेन्द्र और 'निकट की दूरी' में सुन्दरी भाभी हैं। वर्माजी भले ही मानें कि रजनी उनके अधिक नज़दीक हैं और इतर पात्र उसके ही चरित्र को खोलकर दिखलाने के लिये लाये गये हैं, पर पाठक की धारणा, कम से कम मेरी, तो और ही होती है। सुन्दरी के जीवन के सौंदर्य और उसके पारिवारिक जीवन का आदर्श ही और पात्रों के सहारे से निखरकर सामने आता है।

प्रत्येक उपन्यास में स्त्री मात्र विवाहिता होती है, पर उनका प्रेमी भी होता है। उस प्रेमी से गुप्त सम्बन्ध का पता क़रीब-क़रीब एक ही ढंग से पति महोदय को लगता है और वहीं कथा अपना जाल पसारने लगती है और क़रीब-क़रीब एक ही ढंग से बढ़ती है। परिणाम यह होता है कि एकरसता आ जाती है,

और दूसरे उपन्यासों को पढ़ने के लिये प्रेरणा नष्ट हो जाती है। वर्माजी को अब ज़रा और भी ऊँचा उठकर नये-नये परीक्षणों को भी काम में लाना चाहिये। यदि वर्माजी इस पुराने ढंग को जिसमें प्लाट होता है, कथा climax पर आती है, एक केन्द्र-पात्र चुन लिया जाता है, जिसके चारों ओर पात्र चक्कर काटते रहते हैं, छोड़कर आजकल जो उपन्यास के क्षेत्र में नये प्रयोग हो रहे हैं, उनकी ओर बढ़ें तो अच्छा हो। अंग्रेजी-साहित्य में आल्डुअस हक्सले और वरजिनिया वुल्फ़ ने इस तरह का प्रयोग किया है और हिन्दी में जैनेन्द्र और अज्ञेय कर गये हैं।

मेरे सपने—ले० भगवतीप्रसाद वाजपेयी, प्रकाशक पं० विष्णु नारायण भार्गव, हिन्दुस्तानी बुकडिपो, लखनऊ। मूल्य १।)

भगवतीप्रसादजी वाजपेयी से कहानी लेखक के रूप में हिन्दी-जगत् बहुत दिनों से परिचित है। यह उनकी सबसे ताज़ी पुस्तक है, जिसमें उनकी दस कहानियां संग्रहीत हैं।

सबों में क़रीब-क़रीब एक ही बात है अर्थात् पतनोन्मुख बुर्जुवा वर्ग, दूसरों के श्रम पर, शोषण पर, जीवित रहने वाले, ऐशो आराम करने वाले, शोषक वर्ग के लोगों का विलासमय और आशा का प्रेम-प्रदर्शन।

सबसे बड़ी निराशा तो हुई 'विद्रोही' नामक कहानी पढ़कर। इसमें न तो आग हैं, न शक्ति, न जोश। बर्फ़ से भी ठंढा है। कार की दुर्घटना से आहत मिस सतिका बनर्जी को मिस्टर रमेश अस्पताल में अच्छा करते हैं। फिर उसकी बातों से निराश हो दो वर्ष वैराग्य धारण करते हैं। फिर एक भिखमंगे ने "उनके नेत्र खोले"। वे एक राज्य के मैनेजर हुए। फिर एक बार डाकुओं के हाथ से शायद मिस बनर्जी की रक्षा की। बस 'मैं अपने ऊपर किसी शक्ति का अनुभव नहीं करता। मैं उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त हूं। मैं अब जो चाहता हूं, वही करता हूं।' उसी तरह एक दूसरी कहानी है 'चित्रकार'।

जिस कहानी के पात्र ख़ामख़ाह प्रेम में निराश हो शराब की घूंट से "ग़म ग़लत" करते हों, तपेदिक़ के शिकार होते हों, आत्म-हत्या कर लेते हों, उनको सदा निर्जीव और निष्प्राण ही कहा जायगा। मनुष्य करुणा के भावों से जल्द प्रभावित होता है इस बात को जानकर सस्ते तरीक़ों से उसके हृदय के मर्म को छूने की योजना लेखक की असमर्थता का सूचक है। 'मेरे सपने' में ज़रूरत से अधिक इस 'टेकनीक' का उपयोग किया गया है। 'दुग्धपान और 'तृण' इसी तरह की सस्ती कहानियों की श्रेणी में आती हैं।

प्रेम की बातें हों, पर उनमें हमारे जीवन के अनुरूप हों, जिनसे हमें अपने आज के जीवन के प्रवाह को समझने में सहायता मिले। हिन्दी कहानी-साहित्य की सब से बड़ी आवश्यकता है कि उसमें कुछ नूतनता हो, साथ ही साथ कुछ स्फूर्ति दायक उन्नायक तत्त्व।

—देवराज उपाध्याय।

सम्पादकीय टिप्पणी

सोवियत लेखक और हम

चीनी साहित्यिक छः साल से अपनी संस्कृति, अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं। जापानी आक्रमण होने के साथ चीनी साहित्यिकों ने भी युद्ध का बाना पहना और मोर्चे पर डट गये। बहुत से साहित्यिकों ने सचमुच की राइफ़लें उठा लीं, बहुतों ने अपनी क़लम को ही, स्टालिन के शब्दों में, अपनी 'राइफ़लों' को, और भी उत्तरदायित्व तथा आत्मविश्वास के साथ पकड़ लिया। तिंग लिंग और कुओमो जो और दूसरे अनेक साहित्यिकों के नेतृत्व में सैकड़ों नाटक-मंडलियां देशभर में घूम-घूम कर जापान-विरोधी नाटक खेलती हैं और जनता के मनोबल और आक्रमणकारी के विरुद्ध उसके नियम के संकल्प को मज़बूत करती हैं। प्रायः निहत्था चीन इतने वर्षों से एक इतने शक्ति शाली डाकू का मुक़ाबिला कर रहा है और आज उसकी शक्ति को प्रायः छिन्नभिन्न कर सका है, चीन-विजय के उसके सपनों को धूल में मिला सका है, इस बात का बहुत बड़ा श्रेय इतिहास वहां के साहित्यिकों-कलाकारों को देगा जिन्होंने अपने साहित्य, अपनी कला को अपनी मातृभूमि, अपनी संस्कृति की रक्षा का अस्त्र बनाया।

सोवियत संघ के ऊपर जर्मन फ़ासिज़्म का हमला होने के साथ सोवियत साहित्यिकों-कलाकारों ने तो अपने चीनी साथियों से भी ज्यादा मुस्तैदी से देश की पुकार का जवाब दिया। स्तालिन के देश के इन साहित्यिकों की क़लम सचमुच राइफ़ल बन गई। शान्ति काल में उनके विषय दूसरे थे। हिटलरी जर्मनी के हमले के साथ तो उनकी दुनिया ही बदल गई। शान्तिकाल की जो चीज़ थी जहां थी वहीं रुक गई। अब देस को दूसरी चीज़ों, दूसरे साहित्य, दूसरी कला की ज़रूरत थी। अलेक्सी तॉल्सतॉय, शोलोख़ोफ़-जैसे अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखक युद्धसंवाददाता बन गये और मोर्चे पर घूम-घूम कर युद्ध की यानी सोवियत वीरता और जर्मन-फ़ासिस्त नृशंसता की आँखों-देखी कहानियाँ लिखने लगे। हिटलरी जर्मनी को हमेशा के लिए मिटा डालने के लिए जिस दृढ़ता की, उसके प्रति जिस इस्पात-सी हिम-सी ठंढी घृणा की ज़रूरत है, उसका संचार उन्होंने अपनी साहित्यिक कृतियों से किया। उन्होंने उन सारी जगहों को देखा जहाँ हिटलरी जर्मनी के भेड़िये अपने स्मारक छोड़ गये थे! खून को खौला देने वाले उन स्मारकों में उन्होंने हिटलरी जर्मन को पहचाना, एक-एक दृश्य ने उनके हृदय पर अपनी छाप जैसे धुरी से अंकित की। उन्होंने फ़ासिस्त बर्बरता और जनता के क्रोध की गाथायें कहीं। संस्कृति के उस दुश्मन को पहचान और उसका मुक़ाबला उन्होंने कहीं क़लम से किया। और कहीं राइफ़ल और दस्ती बम से। उनकी पवित्र भूमिपर, उनकी संस्कृति पर, आक्रमण हुआ था। उनकी रगों में खून बहता था। वे सोवियत नागरिक थे। वे सोवियत लेखक थे। वे सोवियत की संतान थे। दुश्मन से नफ़रत करना, अपनी मातृभूमि को प्यार करना उन्होंने सोवियत क्रांति से सीखा था। उस सबकी परीक्षा का दिन जब आया तो वह उसके लिए तैयार मिले। वह किस गौरव से इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, इसकी साक्षी

इतिहास देगा। पर आज तो वे इतिहास का निर्माण कर रहे हैं। अंधा भी आज देख सकता है कि हिटलरी जर्मनी का अभिमान सोवियत रूस में असफल रहा। लाल फ़ौज, लाल हवाई बेड़े, लाल बेड़े, लाल छापेमारों के साथ-साथ लाल साहित्यिकों का कृतित्व भी इसमें है। इस महान राष्ट्रीय युद्ध के दौरान में उनके यहाँ जो साहित्य निकला है, उसे देखकर हर व्यक्ति यह मानने को बाध्य होगा कि क़लम उतना ही सशक्त हथियार है जितना कि टैंक या मशीनगन या राइफ़ल। संभव है यह उक्ति कुछ चमत्कारपूर्ण लगे। लेकिन अगर यह बात समझ ली जाय कि सोवियत रूस की जीत मुख्यतः सोवियत जनता के मनोबल की जीत है और इस मनोबल को दृढ़ बनाने में सोवियत साहित्यिकों का महत्वपूर्ण हाथ है, तो यह उक्ति ज़रा भी चमत्कारपूर्ण न लगेगी। जिस तरह लाल छापेमार या सैनिक अपनी राइफ़ल या मशीनगन से दुश्मन पर हमला करता है, ठीक उसी तरह लाल साहित्यिक अपनी क़लम से, लाल चित्रकार अपनी तूलिका से, लाल व्यंग-चित्रकार अपनी पेंसिल से, लाल अभिनेता अपने अभिनय से। शोलोखोफ, एरेनबुर्ग, तॉलसतॉय, सिमोनोफ़, एफ़िमोव, कुक्रिनिक्सी, लुतकी ने सोवियत संघ की रक्षा के लिए जो किया है और वे आज जो कर रहे हैं, वह उतना ही महत्वपूर्ण है जितना एक कमांडर का मैदान में लड़ाई का संचालन करना। स्तालिन ने कालाकार की परिभाषा दी है: मानव आत्मा का इंजीनियर। आज ये इंजीनियर इस तरह से सोवियत जनता की आत्मा का निर्माण कर रहे हैं कि वह मौत को बिलकुल कुछ न समझे, अपने पूरे अस्तित्व के साथ दुश्मन से घृणा कर सके; सोवियत बच्चे और नारी की आँखों में भोंकी गई फ़ासिस्त संगीन उनकी आँख में भी उसी तरह चुभे, अपनी मातृभूमि को इतना प्यार करे कि उसके कण-कण को फ़ासिस्त भेड़ियों के ख़ून से सींच दे। अपने काम में उसे सफलता मिली है और मिल रही है। अपने देश की रक्षा के लिए अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए हमारे चीनी और सोवियत साहित्यिकों ने जिस तरह अपने उत्तरदायित्व को समझा, हम हिन्दी के साहित्यिक अभी नहीं समझ पाये हैं, वर्ना हम यों हाथ पर हाथ धरकर बैठे होते?

यह ठीक है कि हम उस तरह स्वाधीन नहीं हैं जैसे सोवियत रूस या जैसे चीन। यह भी ठीक है कि ब्रिटिश साम्राज्यशाही हमें मौक़ा नहीं देती कि हम मौलाना आज़ाद के सब्दों में अपने लाखों नौजवानों की लाशें तड़पा सकें, इज्ज़त के साथ जी और इज्ज़त के साथ मर सकें। लेकिन यह रोना किससे? इस तरह रोने से न तो जापानी आक्रमण कर संकट टल जाता है और न ब्रिटिश साम्राज्यशाही की उन चालों को ही हराया जा सकता है जिनकी वजह से हमारी देश रक्षा ख़तरे में पड़ गई है और दिन प्रति दिन पड़ती जा रही है। अब रोने या निष्क्रिय बैठने का वक़्त नहीं है, काम करने का वक़्त है, देश को जापानियों से बचाने और अंग्रेज़ों से मुक्त करने का वक़्त है। सीधा सवाल तो बस इतना है; देश हमारा है। बावजूद इस बात के कि आज हम पर ब्रिटिश शासन है, देश हमारा है, भारत में बसनेवाली जातियों का है। आज हमारे देश पर, और हमारी संस्कृति पर जापानी आततायियों का आतंक है। अब

अगर हम नहीं तो और कौन हमारे देश की, हमारी संस्कृति की रक्षा करेगा ? क्या यह एक सरासर ग़ुलाम मनोवृत्ति नहीं है कि हम इस बात का रोना रोयें कि ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने न तो स्वयं हमारी रक्षा की और न हमें ही अपनी रक्षा करने की ताक़त दी ? आज यह हमारे हाथ की चीज़ है कि हम जापानिनों से देश को बचाने के लिए ख़ुद आगे आवें और जनता के संगठन और जनता की चेतना से जापानी आक्रमण को परास्त करें और ब्रिटिश सामाज्यशाही के हाथों से ताक़त भी छीन लें। सोवियत संघ के नेतृत्व में, विश्व की जनता के संयुक्त अभियान के आगे, हिटलरी फ़ासिज़्म के निश्चित विनाश ने विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था के विनाश और सभी जातियों की स्वाधीनता का मार्ग खोल दिया है। आज हम इतिहास के उस युग में खड़े हैं जब मानवता एक नया करवट लेने वाली है, जब उसके जीवन का एक नया अध्याय खुलने वाला है, जब साम्राज्यशाही शोषण का हमेशा के लिए अंत होकर समूचे विश्व की जनता के बीच भाईचारे और समता की स्थापना होने वाली है। विश्वसाम्राज्यवादी व्यवस्था की सबसे विकृत संतति, फ़ासिस्त साम्राज्यवाद, का विनाश उसी का पहला क़दम है जो साथ ही नियामक भी है।

इस प्रकार, आज की परिस्थिति में इस बात का रत्तीभर संशय करना कि देश को बचाने के लिए आगे आना ब्रिटिश साम्राज्यशाही की शृंखलाओं को मज़बूत करना है, घटनाओं के प्रवाह को, जनता की बढ़ती हुई शक्ति को न समझना है। अपनी शक्ति में, विश्व की जनता में, हमें विश्वास हो और हम अपने देश को बचाने के लिए आगे आवें यही हमारी स्वाधीनता का मार्ग है। यही वह प्रक्रिया है जो साम्राज्यवाद की शृंखलाओं को चट्-चट् तोड़कर अलग फेंकती जायगी। अब साम्राज्यवादी व्यवस्था नई शृंखलायें गढ़ने की क्षमता नहीं रखती। उसका बाज़ार तो अब उठ रहा है। विश्वसाम्राज्यवाद का अंत करने के लिए अब भी काफ़ी रास्ता चलना बाक़ी है, अभी बहुत क़ुरबानी भी करनी है। लेकिन अब उस बर्बर साम्राज्यवादी युग का अंत स्पष्ट दीख पड़ने लगा है। इसी लिए आज देश को बचाने के लिए जंग का साज करना ब्रिटिश साम्राज्यशाही को नई शृंखलायें गढ़ने का मौक़ा देना नहीं बल्कि पुरानी शृंखलाओं को तोड़कर फेंकना और अपनी स्वाधीनता की ओर बढ़ाना है।

आज अपने देश को अपना देश जानकर उसकी रक्षा करने के लिए हम साहित्यिकों को डट जाना चाहिये। जितनी ही जल्दी हमारी चेतना जागेगी उतनी ही कम क़ुरबानी हमें करनी पड़ेगी। देश को किस तरह से बचाया जाता है, साहित्यिकों का कार्य इस ओर कितना महत्वपूर्ण हो सकता है, इसके लिए सोवियत और चीनी साहित्यकारों का नेतृत्व हमें मिला हुआ है। आज वह दिन है कि हमारे देश-रक्षा के गाने गांवों-गांवों, खेतों-खलिहानों, मिलों फ़ैक्टरियों, शहर की सड़कों-सड़कों पर गूँज जायें। अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने का, कला की अपनी शमशीर चमकाने का ऐसा दूसरा अवसर इतिहास हमें फिर न देगा। और अगर आज हम अपनी मातृभूमि के प्रति अपना कर्तव्य न चुका सके तो आने वाली नस्लें हमारे नाम पर थूकेंगी।

[Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P., Kashmir and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions.]

प्रगतिशील साहित्य का अग्रदूत

: सम्पादक :

शिवदानसिंह चौहान (जेल में)

स्थानापन्न : अमृतराय

वार्षिक मूल्य ६) : : विदेश में १२ शिलिंग

एक अंक का आठ आना

हंस

वर्ष : १३ जून १९४३ अंक : ९

प्रगतिवाद : एक अंतर्राष्ट्रीय विचारधारा—

अमेरिकन सर्वहारावर्गीय साहित्य

[जोजेफ़ फ़्रीमैन]

हमारे युग से पहिले कला की चाहे जो ऐतिहासिक स्थिति रही हो, भविष्य के वर्गहीन समाज में उसका चाहे जो उपयोग हो, आज के सामाजिक संघर्ष ने उसे पक्षपाती वाद-विवाद का विषय बना दिया है। जिस सामाजिक वर्ग के लिए आलोचक बोलता होता है, और आलोचक की निजी बुद्धि, चारित्रिक बल और साहस के अनुरूप वाद-विवाद का रूप बदलता रहता है। कम्यूनिस्ट दोटूक बात कहता है: सर्वहारा वर्ग को अपने एक हथियार की शक्ल में कला को, जो वर्ग-संघर्ष का एक औज़ार है, विकसित करना होगा। फ़ाशिस्ट भी उतनी ही दोटूक बात कहता है: कला को पूँजीवादी सरकार के हितों की दासी बनना होगा। इजारादारी पूँजीवाद और सर्वहारा वर्ग के बीच, फ़ाशिज़्म और कम्यूनिज़्म के बीच डावाँडोल स्थिति रखनेवाले मध्यवर्ग की ओर से बोलनेवाला उदारपंथी सारे सामाजिक विग्रहों ही की तरह इसमें भी 'निष्पक्ष' बिचवइया बनने का ढोंग करता है। अकेले वही 'वैज्ञानिक' दृष्टि से, निर्लेप भाव से बोलने का दम भरता है।

कपड़े पहनकर, रबड़ के दस्ताने चढ़ाकर, अपने शल्य-चिकित्सा के उपकरणों को उठाते हुए—सब बनावटी—'सफ़ेदपोश', वह 'निष्पक्ष' उदारपंथी आलोचक, उपस्थित बालक-बालिकाओं के सामने, 'विज्ञान' का पार्ट अदा करनेवाले पुराने अभिनेता के शांत, निर्लेप स्वर में कला के शरीर विज्ञान पर भाषण देना प्रारम्भ करता है। पहला वाक्य समाप्त होते न होते स्पष्ट हो जाता है कि उसकी उच्च 'वैज्ञानिक' दृष्टि पक्षपाती घृणा के तीखे विष से बोझिल है। किसी विचार की धुँधली से धुँधली रूप-रेखा तक पहुँचने के बहुत पहले ही 'सफ़ेदपोश' व्यक्तियों और पार्टियों पर चोट करना शुरू कर देता है। फिर ज़ाहिर हो जाता है कि हम कला पर वैज्ञानिक निबंध नहीं बल्कि एक राजनैतिक पैंफ़लेट (पुस्तिका) पढ़ रहे हैं। किसी निबन्ध या किताब को राजनैतिक पैंफ़लेट कहकर पुकारने से न तो उसकी प्रशंसा होती है, न निन्दा। ऐसे पैंफ़लेटों की, संसार में अपनी जगह है। तो भी, यहाँ पर, उदारपंथी आलोचक

के केस (मामले) में हमें एक राजनीतिक पैम्फ्लेट मिलता है जो और कुछ होने का ढोंग करता है। कला को एक राजनैतिक हथियार घोषित करनेवाले सिद्धांत पर किया गया हमला स्वयं एक राजनैतिक हथियार हो जाता है।

मार्क्सवादी के साथ उदारपंथी के झगड़े की जड़ यह नहीं है कि वह किसी नये और मौलिक सिद्धान्त की वकालत करने का इच्छुक है। गालियों से विचारों को, सिद्धान्तों को थोथे वाद-विवाद से छानकर निकालने पर कुछ पिटी पिटाई बातों से, जिनका बड़ा दुःखद गठबन्धन कुछ निषेधों से हुआ रहता है, ज्यादा कुछ हाथ नहीं लगता। क्यों कोई इतनी प्राथमिक और सीधी-सी बात को सिद्ध करने के लिए बोतलों स्याही ढलकाये, यह नहीं समझ में आता। किसी ने कभी इसे नहीं नकारा—मार्क्सवादियों ने तो और भी नहीं। हमने कविता और विज्ञान, कविता और कर्म के अन्तर को हमेशा स्वीकार किया है; और यह कि जीवन का फैलाव आँकड़ों, अनुक्रमों, प्रस्तावों के आगे तक है। 'मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों' पर गालियों की बौछार करके इस सीधी-सी बात को मर-मरकर सिद्ध करने का प्रयत्न निष्पक्ष विज्ञान नहीं वितंडावाद है और सो भी बेईमान।

समस्या है: आज के वर्ग-समाज में, कला और समाज, कला और विज्ञान, कला और कर्म का क्या संबंध है। यह सच है कि विज्ञान और कर्म से भिन्नतः कला का विशेष क्षेत्र मानव-अनुभवों को समझना और दूसरों तक पहुँचाना है। पर क्या कोई मानव-अनुभव अपरिवर्तनीय और सार्वभौम होता है? क्या बारहवीं सदी के आदमी अपने विशेष अनुभवों में बीसवीं सदी के आदमियों—जैसे ही हैं? क्या जीवन, अनुभव, विचार, भाव १३०० के सामंती सरदार, १४०० के तरुण व्यापारी, १५०० के खोज करनेवाले, १६०० के साहसिक, १७०० के वैज्ञानिक, १८०० के मिल-मालिक, १९०० के बैंकर, १९३५ के कमकर के लिए एक ही हैं? क्या कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट कवियों, सामंती और बूर्ज्वा नाटककारों, ब्रॉडवे और थियेटर 'यूनियन, के अनुभव को समझने और दूसरों तक पहुँचाने में कोई अन्तर नहीं है? क्या हाइने का सामाजिक अनुभव वैसा ही है जैसा आर्चिबाल्ड मेकलीश का? क्या पीत्रो अरेतिनो और टी० एस० एलियट का प्रणय-सम्बन्धी अनुभव एक ही है?

हम कह सकते हैं कि ये निजी अन्तर हैं: अनुभव एक व्यक्तिगत चीज़ है और व्यक्ति युग-युग में बदलते रहते हैं। फिर भी बुनियादी अन्तरों के सामाजिक और वर्ग आधार से ज्यादा स्पष्ट दूसरी चीज़ नहीं है। दास-स्वामी वर्ग के यूनानियों में, अपने सारे निजी अन्तरों के बावजूद आपस में जितना साम्य था, उतना उनमें से किसी का रोमांटिक सम्प्रदाय के बूर्ज्वा कवियों से नहीं है; रोमांटिक कवियों में अपने सारे निजी अन्तरों और विग्रहों के बावजूद, वैसी ही प्रकृति के सोवियत् साहित्यकारों और अमरीकन औपन्यासिकों की अपेक्षा, आपस में कहीं ज्यादा साम्य था।

कला कर्म नहीं है; विज्ञान भी वह नहीं है; पार्टी प्रोग्राम से भी वह भिन्न है। उसका अपना काम है, अनुभवों को समझना और दूसरों तक उसे पहुँचाना। गिरफ़ इसी 'अनुभव' शब्द में है। उदारपंथी आलोचक 'सफ़ेदपोश' चाहता है कि हम यह

मान लें कि एक लड़की के बालों को उड़ाती हुई पतझड़ की हवा या 'प्यासी छातियों' के बारे में लिखना, 'अनुभव' के बारे में लिखना है; लेकिन अक्बर की क्रान्ति या पंचवर्षीय योजना, या दक्षिण में नीग्रो लोगों के अमानुषिक ढंग से मार डाले जाने या सैनफ्रैंसिस्को की हड़ताल के बारे में लिखना, 'अनुभव' के बारे में लिखना नहीं है। इसलिए यह कहना "अपनी वासनाओं को घनी घास में सुला दो" कला है; और गरजो चीन, मायाकोव्स्की की कविताएँ या जोज़ेफ़ीन हर्ब्स्ट और रॉबर्ट कैन्ट-वेल के उपन्यास प्रोपेगैंडा हैं।

अपने देश के जीवन का अध्ययन करते हुए सोवियत् आलोचकों ने देखा कि कवि की सामग्री जीते-जागते मनुष्य हैं, निराकार इकाइयाँ नहीं। वह क्रान्ति में भाग लेनेवाले, उसके पक्ष या विरोध में लड़नेवाले, उसके उद्देश्यों को आगे बढ़ाने या पीछे घसीटनेवाले, अन्ततः क्रान्ति से ही नवनिर्मित होनेवाले व्यक्तियों के निजी अनुभव के माध्यम से क्रान्ति का महान् अनुभव दूसरों तक पहुँचाता है। वह ऐसे लोगों का वर्णन करता है, जिनके दोस्त बनते हैं और दुश्मन बनते हैं, जो औरतों को प्यार करते हैं और औरतें जिन्हें प्यार करती हैं, जो देश का रूपान्तर करने के काम में जी-जान से लगे हुए हैं। ये सारी चीज़ें, कलाकार—अगर वह कलाकार है और सिर्फ़ आन्दोलक नहीं—अपनी कला के विशेष आङ्गिक (टेकनीक) द्वारा करता है। वह पार्टी का थीसिस नहीं दोहराता; वह दूसरों तक उस अनुभव को पहुँचाता है जिसमें से पार्टी की थीसिस का जन्म हुआ। जब तक कलाकार के गहरे से गहरे विचार और भावनाएँ पुरानी व्यवस्था के साथ बँधी हुई हैं, जब तक वह एक बूर्ज्वा के दिल व दिमाग़ से जीवन का अनुभव करता है, तब तक वह अनुभव, जिसे वह दूसरों तक पहुँचाता है, बूर्ज्वा वर्ग की आँखों से देखा गया रहेगा। ऐसा कवि क्रान्ति की उन सारी कमज़ोरियों को ही समझेगा, जिनका कारण पुरानी व्यवस्था में है जो कि उसे बड़ी प्रिय और आत्मीय लगती है; वह न देख सकेगा क्रान्ति की महानता को जिसका उद्गम नये में है, जिसे वह समझ नहीं सकता। वह सोवियत् यथार्थ की ग़लत तसवीर देगा; वह उन लोगों को हतोत्साह करेगा जो उसे पढ़ते और उसमें विश्वास करते हैं। पर चाहे कोई कलाकार क्रान्ति की सच्ची धारा को समझे या न समझे, उसकी कृति विज्ञान और कर्म और वर्ग से अलग नहीं होती।

पार्टी का कोई प्रस्ताव, कोई सरकारी फ़रमान कला नहीं पैदा कर सकती, एक आन्दोलक को कवि नहीं बना सकती। पार्टी-सदस्यता का कार्ड स्वतः किसी कम्यूनिस्ट को कलात्मक प्रतिभा नहीं दे सकता। वह जो भी चीज़ हो जिससे व्यक्ति कलाकार, यानी वैज्ञानिक और कर्मक्षेत्र के आदमी से भिन्न, बनता है, उसे कोशिश करके पैदा नहीं कर सकता। लेकिन कोई अगर कलाकार है, कोई अगर ऐसा आदमी है जिसमें रचनात्मक साहित्यकार की संवेदन-शक्ति, उसकी बुद्धि, उसके भाव, उसकी बिम्बमय चिन्तन-शैली, उसका भाषा पर अधिकार है, तो वह जीव शून्य में नहीं है।

वनस्पति-शास्त्री से भिन्न रूप में कवि फूल का चित्रण करता है और सेनापति

से भिन्न रूप में युद्ध का। अर्नेस्ट हेमिंग्वे का कारपरेतो के प्रत्यावर्तन का चित्रण, इटालियन सेनानायकों से भिन्न है; चीन से संबंध रखनेवाली त्रीशियाकोफ़ की कहानियाँ, चीन ही पर कम्यूनिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय संघ की कार्यकारिणी के प्रस्ताव से भिन्न हैं। कवि की सामग्री अनुभव है न कि सिद्धान्त या कर्म। लेकिन जिस सामाजिक वर्ग से कवि का सम्बन्ध है, वह उसके अनुभव की प्रकृति और विशेषता का नियामक होता है। सर्वहारा वर्ग का एक चीनी कवि अनिवार्यतः हमें उस कवि से भिन्न अनुभव देता है जो चियांगकाई शेक से बँधा हुआ है, या उस बुर्ज्वा कवि से जो अपने को निष्पक्ष समझता है। इसके अलावा, हमारे युग के-से तीखे वर्ग-संघर्ष के युग में जीवन में उतारे जाने पर पार्टी के प्रोग्राम, सामूहिक कर्म, वर्ग-उद्देश्य, स्वयं अनुभव हो जाते हैं, इतने महान् अनुभव, इतनी दूर तक जानेवाले, इतने व्यापक कि बहैसियत अनुभव के वे प्रणय के चोंचलों और पतझड़ की हवा और तारा और बुलबुलों और पेरिस के 'कफ़े' में नशे में चूर होने से ऊपर उठ जाते हैं। वह सचमुच एक ओछा ही दिमाग़ होगा जो यह नहीं सोच पाता कि सोवियत् संघ के लोगों के लिए, कवियों के लिए भी, शोहदों या प्रेमियों के रूप में अपनी वैयक्तिक वेदना (Sensation) की अपेक्षा उन महान् परिवर्तनों से अधिक प्रभावित होना संभव है जिन्होंने एक समूचे राष्ट्र को अँधेरे की जगह रोशनी, ग़रीबी की जगह खुशहाली, कमज़ोरी की जगह ताक़त, ग़ुलामी की जगह आज़ादी दी। वह सचमुच संकीर्णता (Philistinism) के दलदल में फँस गया है जो उस अनुभव को, उस आवेग को नहीं देख पाता जो सारे पूँजीवादी देशों में चलनेवाले कमकरों के संघर्ष को, जिसे वह अपने को मुक्त करने और एक नई दुनिया बनाने के लिए चलाते हैं, देखकर पैदा होता है।

अमरीका की साहित्य गोष्ठियों में चलनेवाले झगड़े-तकरार की यही कुंजी है। कोई यह नहीं कहता कि कलाकार कलाकार न रहे; कोई उसे अनुभव की उपेक्षा करने के लिए नहीं कहता। प्रश्न है : अनुभव है क्या? सिर्फ़ वही जो कि क्रान्ति से कोसों दूर है, अगर स्पष्टतः उसका विरोधी नहीं, सर्वहारावर्ग के अनुभवों से प्रेरित कवि को उसकी दुम, उसका दास, भोंडा उपदेशक, और नमक हलाल व्याख्याकार, कह सकता है; दूसरी ओर बुर्ज्वा की तरह रहनेवाला कवि, जिसके अनुभव एक संकीर्ण व्यक्ति की स्वरति छोड़ और कुछ नहीं हैं, कला के प्रभुत्व को 'बड़ी स्वाधीन शक्ति से प्रतिपादित करता है।' कला अपनी विशेष प्रकृति में विज्ञान और कर्म से चाहे कितना ही भिन्न हो, लेकिन वह उनसे कभी पूरी तरह विलग नहीं होती। जिस तरह विज्ञान और कर्म आत्म-निर्भर और निरपेक्ष नहीं, उसी तरह कला भी नहीं। कला के बारे में ऐसी बात कहना पुरोहितों और राजनीतिज्ञों की हाँ में हाँ मिलाना है जो क्रमशः गिरजेघरों और सरकार के आत्म-निर्भर और निरपेक्ष (Sovereign) होने की बात करते हैं। इन सब मामलों में आत्म-निर्भरता और निरपेक्षता का भ्रम, समाज की वर्ग-प्रकृति को छिपाने के लिए, शासकवर्ग के प्रचारक को निष्पक्षता की चादर ओढ़ाने के लिए फैलाया जाता है।

कला के नाम पर और कम्यूनिस्टों को पन्नों भर-भर गाली देने के साथ-साथ

'अनुभव' जैसे अस्पष्ट शब्द को इस्तेमाल करके शासक वर्ग के नीतिकारों ने वर्तमान अवस्था (दुरवस्था !) Status quo को बौद्धिक रूप से और भी दृढ़ बनाया है। असल में कहना वह यह चाहते हैं कि सिर्फ़ 'उनका' अनुभव अनुभव है। वे सर्वहारा वर्ग के अनुभव को या तो जानते नहीं या उससे नफ़रत करते हैं; इसलिए वह उनके लिए अनुभव ही नहीं और इस नाते कला के योग्य विषय नहीं है। लेकिन अगर कला को 'ज्ञान के विकास' और 'वैज्ञानिक कर्म के आंगिक (टेकनीक)' से नाता तोड़ना होगा, अगर उसे राजनीति और वर्ग-संघर्ष—जिनका कमकरों के जीवन में विशाल महत्त्व है—की उपेक्षा करनी होगी, तब कला के लिए किस तरह के अनुभव बाक़ी बचेंगे ? सिर्फ़ वैयक्तिक वेदना, आवेग, आचार, उपजीवी वर्ग का अनुभव। ऐसी कला आज बूर्ज्वा लेखक पैदा कर रहे हैं। यह अनुभव वर्ग-प्रेरित होता है, लेकिन जैसा हमेशा बूर्ज्वा वर्ग के साथ हुआ है, वे झूठा दावा करते हैं कि उनके मान (Values) मानवता के मान हैं।

अगर आप एक ऐसे कमकर को लें जो रचनात्मक कल्पनाशक्ति रखता है और उससे अपने अनुभवों को ईमानदारी से लिखने को कहें तो वह बूर्ज्वा के अनुभव से इतना दूर होगा कि 'सफ़ेदपोश' हमेशा ही की तरह फिर 'प्रोपेगैंडा' का शोर मचाने लगेगा। फिर भी कमकर का जीवन ठीक उन्हीं अनुभवों के चारों ओर चक्कर काटता है जो बूर्ज्वा सौंदर्य प्रेमी को अजीब मालूम पड़ते हैं। बूर्ज्वा सौंदर्य प्रेमी उन अनुभवों से नफ़रत करता है और विश्वास नहीं कर पाता कि वे अनुभव हो भी सकते हैं। 'सफ़ेदपोश' समझता है कि सिर्फ़ मॉस्को का फ़रमान ही लोगों को मिलों, हड़तालों, राजनैतिक वाद-विवाद के बारे में लिखने को मजबूर कर सकता है। वह इतना जानता है कि ऐसी चीज़ें लिखने के लिए उसे जबर्दस्ती मजबूर ही किया जा सकता है; अपने मन से वह कभी न लिखेगा क्योंकि सर्वहारावर्गीय साहित्य के विषय उसके अपने जीवन के बाहर हैं। लेकिन कमकर उन्हीं अनुभवों पर लिखता है जिन्हें बूर्ज्वा 'प्रोपेगैंडा' कहता है, वे अनुभव जो मौजूदा समाज के आधारभूत शोषण का पर्दा फ़ाश करते हैं।

सर्वहारावर्ग के दृष्टिकोण से समसामयिक विश्व को चित्रित करनेवाला लेखक बहुधा स्वयं कमकर नहीं होता। युद्ध, बेकारी, व्यापक सामाजिक-आर्थिक संक्रान्ति निम्न-मध्यवर्गीय लेखक को सर्वहारावर्ग की पंक्ति में ढकेल देते हैं। उनका अनुभव कमकर वर्ग के अनुभव का-सा या उसे बहुत पास से छूनेवाला हो जाता है, वे पहले के अपने जीवन को और अपने चारों तरफ़ के हर व्यक्ति के जीवन को नई आँखों से देखते हैं; अनुभव की उनकी पकड़ अब उस वर्ग से निर्मित होती है जिससे उन्होंने नया सम्बन्ध स्थापित किया है; वे क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग के दृष्टिकोण से लिखते हैं; वे सर्वहारावर्गीय साहित्य रचते हैं।

जब कोई कविता, नाटक या उपन्यास किसी राजनैतिक विषय को हाथ में लेता है, उस समय कला का वर्ग-आधार बहुत स्पष्ट हो जाता है। तब जीवन की तरह साहित्य की ओर भी पाठकों और आलोचकों की प्रतिक्रिया में गोलमाल की बात

नहीं होती। फिर भी एक सामान्य अनुमान है कि कुछ "जीवन शास्त्रीय" अनुभव वर्ग तत्त्वों से परे होते हैं। प्रेम, क्रोध, घृणा, भय, किसी को ख़ुश करने की, बनने की, अपने बारे में रहस्यजाल बुनने की इच्छा, यहाँ तक कि अहंकार और स्वरति, सार्वभौम प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं; लेकिन जो शक्ल वे लेती हैं और इन सबसे ज्यादा वे कारण जिनसे वे पैदा होती हैं, दोनों ही वर्ग संस्कृति से प्रेरित, और प्रेरित ही क्यों निर्द्धारित होते हैं। एक मरते हुए अभिजातवर्ग और पूर्ण विकसित बूर्ज्वा वर्ग के जबर्दस्त चित्रण को लीजिए; उन चीज़ों पर ग़ौर कीजिए जिनसे किसी शार्लू या किसी मैडम वर्दुरीं में गर्व, स्पृहा, लज्जा का संचार होता है। क्या कोई भी आदमी जिसका दिमाग़ ठिकाने है कह सकता है कि ये चीज़ें—किसी ड्यूक के घर खाने का न्यौता, एक लंबा ऐतिहासिक वंश-वृक्ष, एक कमकर को किसी ग्विरमांतिज़ या वर्दुरीं की-सी दर्पपूर्ण वाचालता के लिए प्रेरित कर सकती हैं ? जुए में बेईमानी करने के लिए शार्लू शार्ली मोरेल पर नाराज़ हो सकता है; क्या वह बैरन कल्पना कर सकता है कि गोली चलाने के लिए फोरमैन से नाराज़ होना क्या चीज़ है ?

सर्वोत्तम कला निराकार क्रोध को लेकर नहीं चलती। और जब चलती है तो निराकार और उपदेशात्मक हो जाती है। सर्वोत्तम कला की सामग्री है निश्चित अनुभव जो निश्चित व्यक्तियों में एक निश्चित स्थान पर एक निश्चित काल में एक निश्चित भाव का इस प्रकार संचार करता है कि दूसरे काल और स्थान में जिन लोगों को वैसे ही अनुभव हुए हैं, वे उसे अपना ही अनुभव कहकर अपना सकें। जैक कानराय जो प्रूस्त-रचित उपन्यासों के आमोद-कक्ष के अभद्र गर्व, स्पृहा और लज्जा से अपरिचित है, मिल जीवन के गर्व, स्पृहा और लज्जा को चित्रित कर सकता है। आमोद-कक्ष और मिल-की अनुभूतियों के साम्य को चाहे हम पहचान लें, लेकिन उन अनुभूतियों को जगाने वाली चीजें और घटनाएँ भिन्न हैं। और चूँकि कोई अनुभूति बग़ैर किसी चीज़ या घटना का सहारा लिए जी नहीं सकती, इसलिए कला को अनिवार्यतः निश्चित अनुभव लेकर चलना पड़ता है फिर चाहे आँख बचाकर पलायन का सहारा लेकर टेढ़े-मेढ़े ढंग से ही वह ऐसा क्यों न करे। उदारपंथी आलोचक ने जो यह निष्कर्ष निकालता है कि सर्वहारावर्गीय साहित्य को छोड़कर बाक़ी सारा साहित्य एक-सा ईमानदार और कलापूर्ण होता है और सर्वहारावर्गीय कवि को छोड़कर हर कवि 'अनुभव', 'जीवन', 'मानव मानों' से अनुप्राणित होता है, ठीक से शुरू करने से पहले ही अपनी खोज समाप्त कर दी है। रचनात्मक लेखक की प्रवृत्तियां चाहे वे कितनी ही मानव हों, आदिम मनुष्य की प्रवृत्तियों से वे चाहे कितनी ही मिलती-जुलती हों, उसकी सामाजिक स्थिति उसके अपने वर्ग से या उस वर्ग से प्रभावित होती हैं जिससे वह मानसिक और भावना-गत तादात्म्य अनुभव करता है और जिसके दृष्टिकोण से वह अपने चारों ओर के संसार को देखता है।

पहली नज़र में उसके विषय और उसकी भाषा समसामयिक यथार्थ से कितना ही दूर क्यों न जान पड़ें, उसकी रचनायें कितनी ही 'ईमानदार' और 'कलापूर्ण' क्यों न हों, पर क्या कोई ऐसा लेखक है जिसकी रचनायें किसी-न-किसी रूप में उस

राजनैतिक सरकार से जिसमें कि वह रहता है, अपने युग के ज्ञान से, अपने वर्ग की प्रवृत्तियों से, क्रांति से जिससे उसे मुहब्बत है या नफ़रत है या जिसकी उपेक्षा करने की वह कोशिश करता है, प्रभावित नहीं होतीं ? एक ओर 'अनुभव' और दूसरी ओर सरकार, शिक्षा, विज्ञान और क्रांति के बीच सारे मिथ्या और पंडिताऊ विरोध में असली चीज या असली विरोध क्या है ? यह प्रश्न और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि हर युग के बेहतरीन दिमागों ने, अफ़लातून और अरस्तू से लेकर वर्ड्सवर्थ और शेली तक, वोरोंस्की और आई. ए. रिचर्ड्स तक, कला के लिए किसी-न-किसी सामाजिक प्रेरक-शक्ति का होना स्वीकार किया है। 'मार्क्सवादी-लेनिनवादी सौंदर्य-शास्त्र' को खत्म करने की सारी हाल की कोशिशें सिर्फ़ आदर्शवादी घासलेट का दलदल होकर रह जाती हैं। 'अनुभव' शब्द 'जीवन' यों 'आइडिया' या 'परमतत्व' की तरह एक निराकार आध्यात्मिक विचार हो जाता है। लेकिन हवाई से हवाई सपने ही की तरह निराकार से निराकार और आध्यात्मिक से आध्यात्मिक विचार के पीछे भी यथार्थ छुपा रहता है।

आइये हम आध्यात्मिक विचार के एक खास उदाहरण को लें। हाल में कार्ल मार्क्स के इन शब्दों का उद्धरण एक बूर्ज्वा आलोचक ने दिया था :

"अपने विकास के एक चरण में पहुँचकर समाज में उत्पादन के साधन सम-सामयिक उत्पादक-संबन्धों से या उन संपत्तिगत (Property) संबन्धों से, जो कि उत्पादक-सम्बन्धों के लिए एक क़ानूनी शब्द है, जिनमें वे रहते चले आरहे थे टक्कर में आते हैं। उत्पादन के साधनों के विकास-कर्ता से बदलकर वे (उत्पादक-संबन्ध) उनकी जंजीर बन जाते हैं। तब सामाजिक जन-क्रान्ति का युग आता है। आर्थिक आधार के बदलने के साथ सारी विशाल इमारत ही काफ़ी जल्दी से बदल जाती है।"

आलोचक ने टिप्पणी दी थी कि एक सामाजिक नियम का यह सच्चा वैज्ञानिक परिचय है। संभव है भविष्य में कोई 'बौद्धिक प्रकर्ष' वाला कलाकार ऐसी एक कविता लिख सके जिसमें यह विचार बड़े 'महान् रूप में और अनायास' ही चित्रित हो। लेकिन, उन्होंने आगे और जोड़ा, "कोई व्यक्ति क्रांति को इस ठोस रूप में अनुभव करने की स्थिति में नहीं हो सकता।"

इसलिए "भाव को ठोस चिह्नों और चित्रों में देने की कोशिश औसतन् एक उड़ान (tour de force) ही होगी।"

स्वयं हमारे लेखक महोदय ने 'औसतन्' को रेखांकित किया है। सचमुच वही महत्वपूर्ण शब्द है, न सिर्फ़ इस निबंध में बल्कि उस सारे आन्दोलन में जो बूर्ज्वा प्रचारक सर्वहारावर्गीय साहित्य के खिलाफ़ चला रहे हैं। अगर कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त सही है, जैसा कि यह रूढ़िवादी आलोचक मानता है, तब तो इस वर्णित प्रक्रिया (प्रोसेस) के अन्दर पूँजीवादी समाज का हर व्यक्ति आ जाता है चाहे वह मार्क्स के सिद्धान्त से एकदम अनजान ही क्यों न हो। कमकर ने मार्क्स का नाम भी चाहे न सुना हो लेकिन वह जानता है कि मिल में चीज़ें ज़रूरत से ज्यादा भरी हुई हैं और वह बेकार है और वह अपनी ही पैदा की हुई चीजें खरीदने में असमर्थ है।

वह उत्पादन के साधनों और सामयिक उत्पादक-संबन्धों के संघर्ष के वाक्य चाहे वह न समझ पाये, चाहे वह रूज़वेल्ट, जेनरल जांसन, फ़ादर कॉफ़लिन, हेलांग, या फ़िल ला फ़ेयेत जैसे जनता को बरग़लानेवालों का शिकार हो जाय; लेकिन वह 'यथार्थ' जानता है, उसका 'अनुभव' इन्हीं यथार्थों का बना होता है।

अब आइये थोड़ी देर को यह मान लें कि ऐसा एक कमकर है जो मार्क्सवाद को नहीं जानता पर प्रतिभासंपन्न कहानी कहने वाला है। सामाजिक जन-क्रान्ति शुरू होने के समय का अपना विशिष्ट अनुभव वह ठीक-ठीक बयान करता है, जैसा कि बहुतेरे रूस, जर्मनी, हंगरी, मेक्सिको और चीन के कमकरों ने किया है। उसकी वृत्ति को कम्यूनिस्ट घोषणापत्र की व्याख्या नहीं कहा जा सकेगा उसी तरह जैसे मधुमक्खी के आचरण को फ़ाबर की किताब की व्याख्या कहा नहीं जा सकता। फिर भी कमकर का अनुभव मार्क्स के सिद्धान्त को बल देता है, नहीं तो वह सिद्धान्त सच नहीं। कविता में कमकर का किया हुआ उस विशिष्ट अनुभव का चित्रण कला है, उसी तरह जैसे मार्क्स की की हुई उसकी सम्यक् व्याख्या विज्ञान है। और ऐसी कहानी कमकर के लिए, कमकर के दृष्टिकोण से बौद्धिक यह कृति उड़ान भी न होगी। यह उसके 'अनुभव' की 'स्वाभाविक', 'स्वतन्त्र' अभिव्यक्ति होगी।

पर क्या कमकर या कमकर के साथ तादात्म्य स्थापित करनेवाला बुद्धिजीवी औसत होता है? याद रखिये, उस रूढ़िवादी आलोचक ने, जिसका मैंने उद्धरण दिया था सिर्फ़ यह कहा था कि मार्क्स के भाव को ठोस प्रतीकों और चित्रों में देने की कोशिश औसतन् एक उड़ान होगी। बूर्ज्वा सौन्दर्य-प्रेमी के दृष्टिकोण से कमकर स्पष्टतः 'औसत' नहीं होता उसी तरह जैसे कमकरों और दलित निम्नमध्यवर्ग के 'अनुभव' अनुभव नहीं होते। बूर्ज्वा कवि 'औसत' कवि होता है; बूर्ज्वा अनुभव 'अनुभव' होता है। अगर हम इस झूठे अनुमान को स्वीकार करें तभी उड़ानवाली बात अनिवार्य्य होगी। जब कि एक सौंदर्यप्रेमी, बूर्ज्वा व्यक्ति का जीवन व्यतीत करता है और फिर दिमाग़ी तौर पर 'कम्यूनिस्ट' बनने की कोशिश करता है, तभी यह द्वन्द्व पैदा होता है। 'सफेदपोश' के लिए कला अनुभव से विकसित होती है और अनुभव से मतलब होता है बूर्ज्वा अनुभव। सर्वहारावर्गीय जीवन के बारे में, जिसका वैज्ञानिक वर्णन मार्क्स ने किया है, लिखने की बात वह दिमाग़ी उड़ान की शकल में ही सोच पाता है—एक कम्यूनिस्ट किताब पढ़कर और फिर "नसीहत देने की नीयत और काफ़ी प्रयास से पैदा की गई मौलिकता" के साथ एक मार्क्सवादी विचार को, जो पहले से ही सही मान लिया गया है, चित्रों और भाव चित्रों में 'उदाहरण देकर समझाने' की तरह। ऐसे आदमी को स्वभावतः मजबूरी तौर पर उड़ान और बहुत ख़राब 'सर्वहारावर्गीय साहित्य' का रास्ता पकड़ना पड़ता है; वह सामान्य से विशेष की ओर बढ़ता है न कि विशेष से सामान्य की ओर।

(क्रमशः)

चीन और नये साहित्य की धारा

[रशीद जहाँ]

दूसरी ज़बानों से कम अनुवाद हमारी ज़बानों में हुए हैं और ख़ासकर चीनी ज़बान से। हम तक दूसरी ज़बानों का साहित्य अंग्रेज़ी के माध्यम से पहुँचता है और चूँकि चीनी ज़बान अंग्रेज़ी में भी बहुत ही कम अनूदित हुई है लिहाजा हमारी जानकारी चीनी साहित्य के बाद में बस नाम ही की है। कुछ कहानियाँ अमरीकन लेखकों ने अंग्रेज़ी में अनुवाद की हैं। उसमें एक किताब एडगर स्नो ने संग्रह की है, जिसका नाम 'ज़िंदा चीन' है। यह किताब कई मशहूर चीनी लेखकों की कहानियों का संग्रह है और चीन के नये लेखकों की ज़िंदगी का हाल भी इसमें है। इस किताब के अलावा लिन यू तांग की कुछ किताबें हैं और फिर अमरीकन पत्रकारों की कुछ किताबें हैं। गोकि यह साहित्य इतना ज़्यादा नहीं कि चीनी साहित्य पर कोई ख़ास राय दी जाय लेकिन इस सबको पढ़कर यह अंदाज़ा ज़रूर हो जाता है कि नया चीनी साहित्य क्या है और किधर जा रहा है।

सदियों से चीनी सभ्यता एक क्रमिक (Continuous) रास्ते पर चल रही थी। उसकी बुनियादें कन्फ्यूकस मीन क्यो यस, मो ती, स्यू ज्यू, जैसे दार्शनिकों के विचारों पर खड़ी थी लेकिन अब जब कि हर तरफ़ खलबली मची हुई है, देश और विदेश की अमीर और गरीब की पेचीदा टक्करें वहाँ के समाज और ज़िंदगी की जड़ें हिला रही हैं तो लेखक भी इन्हीं कशमकश के पेचों में उलझे बग़ैर नहीं रह सकते। अब देखना यह है कि चीनी साहित्यिकों पर इस सब तितर-बितर का क्या असर पड़ रहा है और वे किस तरह इस गुत्थी को सुलझाने की कोशिश कर रहे हैं।

दरअसल चीनी नये साहित्य की बुनियाद सन् १९१७ में पड़ी है जब कि ह्यू शी और चीन त्यू स्यू ने एक ज़बर्दस्त आन्दोलन चीनी ज़बान को आसान करने के लिए किया था। उन्होंने पुराने लिखने-पढ़ने के तरीक़े को जो वेन् येन कहलाता था और जो बहुत ही मुश्किल था, उसका सख़्त विरोध किया और नया तरीक़ा जो बोलचाल का तरीक़ा था यानी पाई हा में लिखना शुरू किया। लेकिन पुराने लेखक इस तरह माननेवाले कब थे। लिहाज़ा लगातार कई साल यह कलमी लड़ाई जारी रही। इसका फैसला सन् १९२० में सन यात सेन ने कर दिया यानी पाई हा के तरीक़े को सरकार ने मान लिया।

जिस ज़माने में यह 'वेन् येन' और 'पाई हा' का झगड़ा चल रहा था वही ज़माना गणतांत्रिक क्रांति का था और यही वजह थी कि पाई हा बावजूद आसान होने के जनता तक न फैल सकी। सन् '२० के बाद जब यह स्कूलों और कालेजों की ज़बान मान ली गई तो इसमें बहुत तरक्की हुई और साल-दो साल के अन्दर सैकड़ों पत्रिकाएँ निकल आईं। बहुत सी पुरानी किताबें इस नई ज़बान में कर दी गईं और बहुत-सा विदेशी साहित्य भी अनुवाद होने लगा। इस ज़बान की पहली पत्रिका 'नये

जवान' के नाम से चीन त्यू स्यू ने सन् '१८ में निकाली और इसमें प्रसिद्ध लेखक ह्यू शी ने लिखना शुरू किया। ह्यू सी चीन में नये साहित्य का पिता समझा जाता है।

एक और ज़बर्दस्त लेखक ल्यू सेन ने इस ज़माने में अपनी किताब 'एक पागल आदमी का रोजनामचा' पाई ह्वा में छपवाया और यही नहीं कि नई शैली और नये विन्यास को पक्का कर दिया बल्कि एक नये साहित्य की नींव रखी। ल्यू सेन आज चीन का सबसे बड़ा और ज़बर्दस्त लेखक समझा जाता है और उसकी तुलना गोर्की और चेखॉव से की जाती है यानी जो असर गोर्की का नये साहित्य पर हुआ वही असर अपने देश में ल्यू सेन का चीनी साहित्य पर है।

ल्यू सेन उसका उपनाम है, असली नाम चाव शू चीन है और वह एक विद्वानों के खानदान में सन् १८९१ में पैदा हुआ। बाप की मौत के बाद वह बिल्कुल ग़रीब हो गया। बड़ी मुसीबतों से उसने शिक्षा पाई। फिर वजीफ़े से जापान डाक्टरी पढ़ने गया। सन् १९०९ में चीन वापस आ गया। सन्' ११ की क्रान्ति में उसने हिस्सा लिया। फिर शिक्षा-विभाग में नौकर होकर पीकिन यूनिवर्सिटी में वह नियुक्त हुआ और रूसी, जर्मन, जापानी ज़बानों से चीनी में अनुवाद किया और सन् १९१८ में जब चीन त्यू स्यू (जो आगे चलकर कम्यूनिस्ट हो गया और जिसे चियांग काई शेक की सरकार ने वर्षों क़ैद कर रखा था, अब मालूम नहीं कि कहाँ है) ने 'नये जवान' के नाम से पत्र निकाला तो ल्यू सेन भी बराबर उसी में लिखता रहा। हाँ, 'पागल की डायरी' के अलावा 'लड़ाई की आवाज़' भी बहुत पसंद की गई। उसकी लेखन-शैली मज़ाकिया और व्यंगोक्तियों का रंग लेने के अलावा बहुत तेज़ और तीखी भी होती है। नमूने के लिए उसकी मशहूर कहानी 'दवा' का खुलासा पेश करती हूँ। साहित्यिक सौंदर्य तो निश्चय ही चीनी से अंग्रेज़ी में अनुवाद होने पर कम हुआ। खुलासे में अब और भी कम हो जायगा।

एक ग़रीब अशिक्षित चाय की दूकानवाला है। उसका बच्चा बीमार है। वह उसके लिए हुक्मी दवा खरीदने जा रहा है। जानता है उस दवा से बच्चा ज़रूर अच्छा हो जायगा। सुबह ही सुबह। सर्दी से दाँत से दाँत किटकिटा रहा है, लेकिन वह दवा लेने जाता है। दवा उसको सुबह के अँधेरे में एक शख़्स बेचता है। दवा में से कुछ गाढ़ा-गाढ़ा टपक रहा है। घर लाकर उसको भूनकर सोते बच्चे को उठाकर खिलाता है। दोनों माँ-बाप मिलकर उसको खिलाते हैं। बाद में लोग आने लगते हैं और सबको उस हुक्मी दवा पर यक़ीन है। अब पता लगता है कि हुक्मी दवा एक क़त्ल किये गये व्यक्ति का ख़ून है। यह शख़्स क्रान्तिकारी होने की सज़ा में क़त्ल किया गया; बाप जल्लाद से ख़ून खरीद कर लाया है। दूकान में लोग क़त्ल किये गये व्यक्ति को ही बुरा कहते हैं कि बादशाह के खिलाफ़ था, वग़ैरह, वग़ैरह। कुछ साल बाद चायवाले की बीवी अपने छोटे बच्चे की क़ब्र पर गई। वह उसको याद करके रोने ही को है कि इतने में एक बुढ़िया आधी पगली अपने बेटे की क़ब्र पर आती है। चायवाली को महसूस होता है कि यह भी एक माँ है और उस पर उसे बहुत तरस आता है। वह आगे बढ़कर उस गिरती-पड़ती बुढ़िया माँ को आकर थाम लेती है। उसका

दिल बुढ़िया की तरफ खिंचता है। उससे बात करने की कोशिश करती है।

लेकिन चायवाली को नहीं मालूम होता कि यह उसी क़त्ल किये गये व्यक्ति की माँ है जिसका खून उसने अपने बेटे को खिलाया था।

ल्यू सेन की कहानियों का संग्रह 'ना हन' भी उसी ज़माने में छपा और उसने साहित्य का मुँह वास्तविकता के प्रति मोड़ दिया।

सन् '१७ से '२७ तक आपको दो किस्म का नया साहित्य मिलेगा यानी एक तो रोमानी और दूसरा यथार्थ का चित्र।

रोमानी साहित्य ने भी कुछ सुधारक तर्ज़ अख्तियार किया और पुराने रीति-रिवाजों के खिलाफ़ कलम उठाई। मसलन् औरतों की आजादी, शादी-ब्याह में लड़के और लड़की की मर्ज़ी वग़ैरह। लोग 'कला कला के लिए' में विश्वास रखते थे लेकिन इस रोमानी ग्रूप का एक हिस्सा था जो बहुत आगे बढ़ा हुआ था, इसमें नाटककार, क्यू मो जो का नाम खास तौर पर मशहूर है। यह ग्रूप ही आगे चलकर यानी सन् २७ में क्रान्तिकारी लेखकों का दायरा बना।

क्यू मो जो सन् १८९२ में पैदा हुआ। वह कवि, नाटककार, आलोचक, औपन्यासिक और कहानी-लेखक है। उसने भी ल्यू सेन की तरह जापान जाकर डाक्टरी पढ़ी है। उसकी शादी एक जापानी औरत से हुई है। वह चीनी और जापानी दोनों ज़बानों में लिखता है और दोनों मुल्कों में मशहूर है। उसकी किताबें कुओ मिन्-तांग ने ग़ैरकानूनी करार दीं और पुलिस के तंग करने पर वह जापान चला गया था। अब जब चीन और जापान में लड़ाई है तो न मालूम वह ज़िंदा भी है या मार दिया गया। होनान में जो पुरानी इमारतें मिली हैं उसकी एक किताब, उनके बारे में है। यह किताब बहुत मशहूर है। इसकी खोजों से पता चलता है कि चीनी सभ्यता, जितना कि ख़याल था, उससे भी सदियों पुरानी है।

यह लेखक प्रगतिशील है और इसकी शैली रोमानी ढंग की होती है और चीन के बेहतरीन लेखकों में से एक है। वह चीन के पुराने रीति-रिवाज और शासन के बहुत खिलाफ़ है। चीन को आज़ाद देखना चाहता है और इसी से चीनी सरकार उसके बुरी तरह पीछे पड़ी रहती है और ल्यू सेन की तरह वह भी नाम बदल-बदलकर लिखता है और उसी की तरह अक्सर छिपा रहा है।

दूसरा गिरोह ज्यादा नहीं बढ़ सका, क्योंकि वह यथार्थ के साथ उम्मीद का सिलसिला नहीं बाँध सके। काली कोठरी की नक्काशी भी एक जबर्दस्त आर्ट सही, लेकिन काली कोठरी में क़ैद होनेवाले खुद काली कोठरी के बारे में जानते हैं और वह उसमें से निकलने का रास्ता ढूँढ़ते हैं। इन यथार्थवालों का साहित्य सिर्फ़ उदासी, बेकसी और मुसीबत पर खत्म था। इस गिरोह का बेहतरीन लिखनेवाला यू टा फू है। वह १८९६ में पैदा हुआ। उसने भी जापान में शिक्षा पायी। वह पहला लेखक था, जिसने पुराने तरीक़े की शादियों, खानदान के बंधनों के खिलाफ़ और तलाक़ के समर्थन में क़लम उठाई। लड़के-लड़की की मुहब्बत हमारे यहाँ की तरह चीन में भी बुरी ख़याल की जाती है और सेक्स तो खैर गाली से भी बदतर हुआ। यू टा फू ने इन सब विषयों पर

लिखा। उसके कैरेक्टर रंजीदा ज़िंदगी से तंग और हद से ज़्यादा रोमानी और दम घोंटने वाले होते हैं। यू टा फू ने सन् '२७ के बाद क्रान्तिकारी साहित्य लिखने की कोशिश की, लेकिन उसमें इतना सफल नहीं हुआ। तीस साल पहले उसकी कविता सब कवियों से ज़्यादा प्रभावक और प्रिय थी और अब भी चीन के मशहूर और बड़े लेखकों में वह गिना जाता है और उसका बहुत असर चीन के तरुण साहित्यिकों पर है। सन् १९२० में लेखकों की दो संस्थाएँ बनीं। एक संस्था ने अपने को लिखनेवालों की संस्था कहा। यह रोमानी लिखनेवालों की संस्था थी। क्यू मो जो और यू टा फू भी इसमें थे। उन्होंने एक पत्रिका 'रचनाएँ' के नाम से निकाली और क्यू मो जो की कविताओं का संग्रह 'देवी' सन् १९२१ में छपा और यू टा फू ने 'डूबना' नाम का एक उपन्यास लिखा। दोनों किताबें बहुत पढ़ी गईं और चीनी ज़बानों पर उनका बहुत अच्छा असर हुआ।

इसी ज़माने में दूसरी संस्था जो बनी वह यथार्थ को नंगा करने के ख़याल से, और साहित्यिक रिसर्च सोसाइटी उसका नाम हुआ। उसमें माओ तुन, वेंग तुन, मिस लिओपिन वग़ैरह थे। ल्यू सेन यद्यपि इस संस्था का बाक़ायदा मेंबर न था लेकिन उसकी हमदर्दी और मदद इस संस्था के साथ थी। इसके मैग्ज़ीन का नाम 'लिटरेचर' था। माओ तुन का ख्याल भी ल्यू सेन की तरह यही है कि कला जो सामाजिक ज़िन्दगी और समाज से अलग हो वह कला नहीं है। लिहाज़ा माओ तुन की चीज़ें काफ़ी ज़ोरदार तरीक़े से समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं। और 'लिटरेचर' इन्हीं ख़यालों को पेश करता था।

दोनों साहित्यिक संस्थाओं में विदेशी ज़बानों से अनुवाद पर बहुत ज़ोर दिया गया है। जापानी, रूसी, फ्रांसीसी, हंगेरियन, पोलिश, अंग्रेज़ी जबानों से बहुत अनुवाद हुए। और उनका असर चीनी ज़बान पर पड़ा और रूसी लेखक ख़ासकर गोर्की और टॉल्सटॉय और चेखॉव बहुत बढ़ गये। इसी सिलसिले में मैं यह भी कह देना चाहती हूँ कि हमारे मशहूर कवि टैगोर का अनुवाद भी चीनी ज़बान में हुआ।

सन् '२४ से सन् '२८ तक बराबर चीनी साहित्य रोमानी या यथार्थ का रूप लेकर तरक्की करता रहा और अनुवाद भी होते रहे जिसका असर बराबर चीनी साहित्य पर पड़ता रहा। ल्यू सेन, ह्यू शी, क्यू मोजो, माओ तुन, मिस तिंग लिंग के असर में तरुणों पर अलग अलग लेकिन प्रगतिशील असर पड़ता रहा। लेकिन जब च्यांग काई शेक की सरकार ने प्रतिक्रियावादिता का झंडा ले लिया और हज़ारों क्रान्तिकारियों को मौत के घाट उतारा और चीन में च्यांग काई शेक और कम्यूनिस्टों में गृह-युद्ध शुरू हुआ तब कोई मशहूर लेखक ऐसा न था जिसकी हमदर्दी क्रान्ति से न होती और जो क्रान्तिकारी लेखक न बन गया होता।

सन् '२७ से पहले एक और गिरोह का ज़िक्र कर देना भी ज़रूरी है। यह गिरोह एक मैग्ज़ीन के चारों ओर था। इस मैग्ज़ीन का नाम 'नया चाँद' था। इसका लीडर सिउ-सिउ था। इन लोगों को क्रान्तिकारी साहित्य या सुधारवादी साहित्य से शौक़ न था। ये लोग मुहब्बत, गुल व बुलबुल के तरानों को महत्त्व देते थे। यह ग्रुप बहुत

ही सीमित था। इनकी पब्लिक छोटी सी थी। जनता में या विद्यार्थियों में ये बिल्कुल पसंद न किये जाते थे। इस सिलसिले में लिन यू तांग का ज़िक्र करना भी ज़रूरी है।

लिन यू तांग ने सन् १९२७ से पहले एक क्रान्तिकारी पत्र निकाला था। लेकिन जब ज़ुल्म ने लेखकों के ख़िलाफ़ तलवार उठाई तो लिन यू तांग ने एक अलग तरीक़ा अख़्तियार किया। यह लेखक चूँकि अमरीका में शिक्षा पाया हुआ है, इसलिए अंगरेजी में भी लिखता है। लिहाज़ा इसकी किताबें यहाँ आसानी से आ जाती हैं और चूँकि उसकी रचनाएँ क्रान्तिकारी साहित्य के आसपास तक नहीं पहुँचतीं, इसी लिए कस्टम्स ऐक्ट में नहीं पकड़ी जातीं। सन् १९२७ से पहले लिन यू तांग एक क्रान्तिकारी पत्र हैंकाओ में निकालता था, लेकिन बाद में वह क्रान्ति से अलग हो गया। उसके लेख एक दिलचस्प मज़ाक का और थोड़ा-सा आलोचनात्मक रंग लिये होते हैं। लेकिन वह ज़्यादातर चीन के रीति-रिवाज और रहन-सहन के तरीक़ों और अध्यात्म के बारे में लिखता है। इसकी किताब 'मेरा वतन और मेरे लोग' में यही विषय हैं। वह यूरोपियन सभ्यता और चीनी सभ्यता की तुलना भी करता है और घड़ी घड़ी कहता हैः जिस तरह हम चीनी तुम अमरीकनों को अजीब मालूम होते हैं, उसी तरह हमें भी अमरीकन अजीब लगते हैं। दुनिया में हर कौम एक कसौटी पर नहीं तौली जा सकती। हर एक के अपने मानदंड हैं और अपनी तराजू।

लिन यू तांग की किताबें अंग्रेजी में उन साम्राज्यशाही लेखकों[1] के मुँह पर बहुत भद्र और व्यंगपूर्ण चाँटा हैं जो एशियाई कौमों को नीचा और ज़लील समझते हैं और उन पर हुकूमत करना अपना हक़ समझते हैं और चूंकि उसकी तहरीर में ग़ुस्से का नाम नहीं है, लिहाज़ा वह एशियायी क़ौमों के सामने उन सफ़ेद देवताओं की कलई उतार देता है। लेकिन कमज़ोरी यह है कि वह बजाय आगे भावी की ओर देखने के कनफ्यूकस की तरफ़ देखकर भूत को भविष्य से ज़्यादा महत्त्व देता है क्योंकि लिन यू तांग सिर्फ़ पुराने क़ायदों को सुलझाने की कोशिश ही नहीं करता, बल्कि उनकी तरफ़दारी भी करता है। मसलन् औरतों को मर्दों के बराबर वह नहीं ख़याल करता। वह औरतों की पूरी आज़ादी का हामी नहीं। वह कहता है कि घर में रहना उसके जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। दुनिया का सबसे सुनहरा सपना एक औरत के लिए माँ बन जाना है। वह भूल जाता है कि माँ बनकर भी औरत ग़ुलाम ही रहती है। चीन ही के एक लेखक जू शी ने 'ग़ुलाम माँ' की कहानी में दिखा दिया कि दो दफ़ा माँ बनकर भी माँ का बच्चों पर कोई हक़ नहीं है।

लिन यू तांग क्रान्तिकारी लेखकों के साथ क़दम न उठा सका और ख़ुद 'मेरा वतन और मेरे लोग' में कहता है कि चीनी जवान जोश में आकर क्रान्तिकारी बनते हैं, तीस वर्ष की उम्र होते-होते अक़्ल आ जाती है और फिर वह कनफ्यूकस की फिलासफ़ी समझकर ख़ामोश हो जाते हैं। सच तो यह है कि लिन यू तांग इस हमले में

---

[1] मसलन् किपलिंग यूरोपिन क़ौमों में अहम्मन्यता (सुपीरियरिटी कॉम्प्लेक्स) पैदा करने की और एशियाइयों में हीन भाव पैदा करने की कोशिश करता है।

अपनी कमज़ोरी को अकल का जामा पहनाने की कोशिश करता है। सन् '२७ में जब च्यांगकाई शेक ने प्रतिक्रिया का झंडा लहराया और साथ साथ लेखकों पर भी सख्तियां, क़त्ल शुरू हुए तो बड़े बड़े लेखक छिपकर काम करने लगे। नये साहित्य का केन्द्र नानकिंग से हटकर शांघाई में आ गया। इस ज़माने में कोई बड़ा लेखक न था जो इस क़त्लेआम से प्रभावित न होता और ख़ासकर जब अख़बार और पत्रिकाएँ बन्द की जाने लगीं और शहर-शहर लेखक[1] भी मौत के घाट उतार जाने लगे तो धीरे धीरे दोनों साहित्यिक ग्रूप जो रोमानी और यथार्थ के नाम से मशहूर थे, क़रीब होते-होते एक हो गये और सन् '३० में एक क्रान्तिकारी लेखकों की लीग स्थापित हुई। सन् १९३० तक ल्यू सेन पूरी तौर पर इस लीग का मेंबर बन गया और चीन के विद्वानों का नेतृत्व करने लगा। इसी ज़माने में क्यू मो जो की कहानी 'मज़दूर का एक बाज़ू' छपी। इसमें क्यू मो जो ने बताया कि यद्यपि मज़दूर का एक बाज़ू पूँजीपतियों की क्रान्ति (Coup d'etat) में कट गया है, लेकिन उसका दूसरा बाज़ू अपनी यानी मज़दूरों की क्रान्ति के लिए अब तक बाक़ी है। इसी क़िस्म का नया क्रान्तिकारी साहित्य लिखा जाने लगा। इस दमन में पहले ज्यादातर प्रोपेगेंडा, थ्योरी वग़ैरह साहित्य के सबसे बड़े अंग थे, लेकिन अब साहित्य एक साहित्यिक सूरत भी अख़्तियार कर रहा था। सन् '३२ में उसका स्टैण्डर्ड इतना ऊँचा हो गया था कि लोग कुछ और पढ़ते ही न थे। 'क्रान्तिकारी लीग' की आवाज़ कोने कोने में फैल रही थी कि च्यांग काई शेक ने लेखकों पर क़यामत ला दी।

पुलिस के दमन से बचने और साहित्य को ज़िंदा रखने के लिए 'लिटरेचर' ने दूसरी शकल बदली और सामाजिक और मौजूदा हालात की नक्काशी शुरू हुई। नये साहित्य की बुनियादें और मज़बूत हो गईं और इस ज़माने के साहित्य को यथार्थवादी (Realist) के बजाय नया यथार्थवादी (New Realist) साहित्य कहना पड़ता है। इस साहित्य में माओ तुन और मिस तिंग लिंग सबसे आगे बढ़ गये। इस साहित्य का अंदाजा मिस तिंग लिंग की 'बाढ़' से होता है।

एक बाढ़ के विनाश की तस्वीर है। एक गाँव के किसान हर तरफ़ इसे रोकने की कोशिश करते हैं, औरतें बच्चे घरों में परेशान हैं। जो और गाँव डूब चुके हैं वहाँ से औरतें बच्चे चले आ रहे हैं। न गवर्नमेण्ट का पता है, न ज़मींदार साहब का। पहले मर्द पानी का मुकाबला करते हैं, फिर औरतें बच्चे तक उसमें लग जाते हैं। सिर्फ़ एक बुढ़िया रह जाती है और पानी का ज़ोर उसी तरह बढ़ रहा है।

इसी दमन के ज़माने में चीन के ड्रामा ने भी बहुत तरक्की की। ख़ासकर उन जगहों में जहाँ सोवियत् क़ायम हो जाती थी। और अब यह ड्रामा चीन का सबसे ज़बर्दस्त हथियार जापानियों के ख़िलाफ़ है। ड्रामा को बढ़ानेवाले एन हीन और सींग सीन थे।

---

१ ह्यू यह पिंग (लेखिका तिंग लिंग का शौहर) उम्र छब्बीस साल। २ मिस फैंग कैंग फो, उम्र चौबीस साल। ३ सिंग ह्री, उम्र इक्कीस साल। ४ पेन फो, उम्र बाइस साल। ५ ली वेंग स्वेन उम्र २६ साल। ६ जू शी, उम्र ३१ साल आदि। ये लोग ७ फ़रवरी १९३१ को मारे गये।

चीनी साहित्य सामन्ती ज़माने से एकदम फाँदकर क्रान्तिकारी यानी प्रोलेतारियत के साहित्य पर आ जमा है। बूर्ज्वा साहित्य चीन में बहुत कम है और जो है वह साहित्य के स्टैण्डर्ड का नहीं है। इसका कारण ल्यू सेन यह बताता है :

'चीन कभी असली बूर्ज्वा साहित्य नहीं पैदा कर सकता, क्योंकि चीन में कभी बूर्ज्वा सभ्यता यूरोपियन मुल्कों की तरह नहीं फैली। चीन के सामने तो अब जो संस्कृति है वह एक क्रान्तिकारी संस्कृति है। हाँ यह हो सकता है कि अगर चीन गुलाम देश बन जाय और उपनिवेश[1] हो जाय तो चीन का साहित्य उपनिवेशों का सा हो जायगा। लेकिन वह संस्कृति न आज़ाद संस्कृति होगी, न राष्ट्रीय। साहित्य का लगाव आदमी की जिंदगी से है। जिस तरह यह नहीं हो सकता कि दूसरे देश तो हवाई जहाज़ इस्तेमाल करें और चीन लकड़ी के पहिये घुमाये, उसी तरह साहित्य को भी बूर्ज्वा ज़माने की खाई फाँदनी पड़ी है।'

वह कहता है, क्योंकि हमारे देश की घटनाएँ ऐसी रही हैं कि बूर्ज्वा सभ्यता हमारे यहाँ नहीं रही है और हमने कोई बूर्ज्वा लेखक नहीं पैदा किया और बूर्ज्वा साहित्य नहीं लिखा है, इसलिए हमारे नये साहित्यिक की बुनियादें उतनी मज़बूत नहीं जितनी कि दूसरे देशों की जहां बूर्ज्वा साहित्य मौजूद है। इसीलिए लिन यू तांग को भी वह बूर्ज्वा लेखक नहीं मानता है ; बल्कि उसे सामंती ज़माने के तौर-तरीक़े में रँगा हुआ एक लेखक कहता है।

सन् १९३७ में चीन की राजनीति ने एक और पल्टा खाया और चीन में गृह-युद्ध बंद हुआ और जापान से मुक़ाबला शुरू हुआ। इस ज़माने से अब तक जो साहित्य निकला है, उसके बारे में जा जानकारी है, उससे पता चलता है कि क्रान्तिकारी ग्रूप अब भी आगे है। चीनी साहित्य राष्ट्रीयता और आज़ादी के तराने गा रहा है, जापानी फ़ासिज्म से टक्कर ले रहा है; क्योंकि साहित्यिक जानते हैं कि जापान की जीत साहित्य की मौत है। चीन में नये साहित्य के पास मुहब्बत और गुल व बुलबुल का वक़्त नहीं है। वह चीन की ग़ुलामी और ग़रीबी को तहस-नहस के दर पर है। इसमें गीत, कहानियाँ, ड्रामा, सिनेमा हर चीज़ का इस्तेमाल नया साहित्य कर रहा है।

---

१ हिन्दोस्तानी, बर्मी वग़ैरह।

सोवियत् कला साहित्य

[विष्णु दे]

रवीन्द्रनाथ ने लिखा है :

रूस की जब यात्रा की तो बहुत आशा नहीं करता था। क्योंकि कितना साध्य है और कितना असाध्य है, इसका नमूना ब्रिटिश भारतवर्ष से ही मुझे मिला था। भारतवर्ष की उन्नति होना कितना कठिन है, यह बात क्रिस्तान पादरी टामसन ने अत्यन्त करुण स्वर में समस्त पृथ्वी को बताई है। हमें भी मानना पड़ेगा कि कठिनता है ही, नहीं तो हमारी ऐसी दशा ही क्यों है? एक बात मुझे मालूम थी कि रूस के जनसाधारण को उन्नत करना भारतवर्ष की अपेक्षा ज्यादा ही कठिन था। पहले तो यहाँ के समाज में जो सामान्य श्रेणी के लोग थे, उनके घर के बाहर की दशा हमारे यहाँ के उसी श्रेणी के लोगों की तरह थी—उसी तरह निरक्षर, निरुपाय, पूजा-पाठ, पण्डे-पुरोहित, दिनरात के गण्डा-तावीज़ से बुद्धि दबी पड़ी थी। ऊपरवालों के पैरों की धूल से उनका आत्मसम्मान मलिन था। उन्होंने अपना आधुनिक पिछले हज़ार वर्ष के अचल खूँटे से बांध रखा था। बीच बीच में यहूदी पड़ोसियों के खून से जो निष्ठुरता की गई उसका अन्त नहीं है। उच्च श्रेणी से चाबुकखाने में जैसे खुद मज़बूत थे, वैसे ही अपने समश्रेणीवालों पर अन्याय-अत्याचार करने में मुस्तैद रहते थे। यह उनकी दशा थी। आजकल जिनके हाथों में उनका भाग्य है वह अंग्रेजों की तरह ऐश्वर्यशाली नहीं हैं। १९१७ के बाद से ही उनका अपने देश पर अधिकार आरंभ हुआ है। राष्ट्र-व्यवस्था खूब पक्की हो सके, इतना समय और साधन उन्हें नहीं मिला। घर और बाहर हर जगह विरोध ही मिला। उनमें आपस की फूट फैलाने के लिए अंग्रेज़ ही क्या अमरीकनों ने भी छिपे और प्रकट रूप से कोशिश की। जनसाधारण को समर्थ और शिक्षित बनाने में उन्होंने जो उद्योग किया उसकी "डिफ़िकल्टी" भारत के अधिकारियों की डिफ़िकल्टी से कई गुना बड़ी थी। इसलिए रूस जाकर कुछ अधिक देख पाऊँगा, ऐसी आशा करना अनुचित होता। जो जाना और जो देखा उससे आगे तो आशा नहीं की जा सकती। अपने दुखी देश में पली अत्यन्त दुर्बल आशा लेकर ही मैं रूस गया था। जाकर जो देखा उससे मैं विस्मय से अभिभूत हो गया। सुना जाता है कि यूरोप के किसी किसी तीर्थ स्थान में चिरपंगु भी जाकर दैवकृपा से पल भर में लाठी फेंक आये। यहाँ भी वही हुआ, देखते देखते लँगड़े की लाठी से इन लोगों ने भागनेवाला रथ बना लिया। जो पैदल से भी गये बीते थे वे लगभग दस ही बरस में रथी हो गये। मानव-समाज में वे सर ऊँचा किये खड़े हैं, उनकी बुद्धि अपने वश में है, उनके हाथ-हथियार उनके अपने हैं। हमारे सम्राट्वंशीय क्रिस्तान पादरियों ने भारतवर्ष में बहुत दिन बिताये हैं। डिफ़िकल्टीज़ कैसी जमी हुई हैं, यह भी वे समझ गये हैं। फिर भी उनका एक बार मॉस्को आना उन्हें गुन करेगा। पर आने से खास

फ़ायदा नहीं होगा क्योंकि खासकर कलंक देखना ही उनका व्यवसायगत अभ्यास है। उन्हें प्रकाश नहीं दिखाई पड़ता, खासकर उसमें जिस पर उन्हें विरक्ति हो।

विप्लव के साथ-साथ एक आश्चर्यजनक नवजीवन जिस तरह सोवियत् यूनियन के सब देशों की सब श्रेणियों में दिखाई पड़ा, उसी का प्रभाव शिक्षा, कारखानों में काम करनेवालों का स्वास्थ्य, किसानों की उन्नति, सब क्षेत्रों में शीघ्र स्पष्ट हुआ। इनकी किताबें पढ़ने से इस विपुल और गंभीर प्रभाव की सीमा मिलती है और ट्राट्स्की की बात सोचने से कुछ अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि कैसी भीतरी बाधाओं के रहते सोवियत् को काम करना पड़ा था। पर वह भीतर-बाहर की अनेक बाधाओं को रौंदता गया। इस नूतन सर्वव्यापी निर्माण की अंतरंग प्रेरणा से साहित्य और कलाकार भी छूटे नहीं हैं। रवीन्द्रनाथ की अभ्यर्थना के विवरण में ही इस आर्ट का उत्साह दिखाई पड़ता है।

विप्लव के साथ साथ किस तरह से साहित्य और साहित्यिकों की मर्यादा जन-साधारण में व्याप्त हो गई, यह विवेचना मनोवैज्ञानिक औपन्यासिकों के मन के अनुकूल है। अवश्य ही सोवियत् यूनियन में यह मर्यादा मानवधर्म के एकान्त विकास की ही है। जो व्यवस्था जातिधर्म, विशेषकर मानव का महत्त्व स्वीकार और व्यक्ति का अधिकार अंगीकृत करे, वहीं कला और साहित्य का यह पुनर्जागरण संभव है। इसके लिए राष्ट्र के उद्योग के साथ कलाकारों की सहायता भी ज़िम्मेदार है। इसके सिवा जो कुछ बरसों में ही ९८ प्रतिशत शिक्षा और १८ से ४० वर्ष के सभी स्त्री-पुरुषों को पढ़ने की सुविधा मिलने से पैदा होनेवाले जीवन के आनन्द और सार्थकता का भी वही ज़िम्मेदार है।

यहाँ केवल कला और साहित्य की दिशा ही संक्षेप में द्रष्टव्य है। सभी जानते हैं कि रूस की साहित्यिक प्रतिभा आकस्मिक नहीं है। गोगोल, पुश्किन, तुर्गनेव, दॉस्तावेस्की, तॉल्स्ताय, चेखोफ़ और गोर्की की ही पुस्तकें हम पढ़ते हैं। इन विराट् लेखकों के सिवा भी रूसी साहित्य का एक धारावाहिक इतिहास है। उसका परिचय कुछ कुछ अँगरेज़ी अनुवाद से भी मिलता है। लरमोंतोफ़ या निक्रासोफ़ को अलग करके इस शताब्दी के आरंभ में रूस के साहित्य में जो प्रयोग हुए, उनकी तुलना इंग्लैंड या फ्रांस में ही मिलती है। भिन्न भिन्न साहित्यिकों और कलाकारों के दलों ने जो प्रचुर किन्तु एकान्त चेष्टा की, वह सामाजिक उद्देश्य से थोड़ी देर के लिए व्यर्थ, कड़वी और आसन्न युगान्तर के पूर्वाभास में अस्पष्ट रूप से चञ्चलता के साथ तीखी हो गई थी। सन् '३५ में यूनियन की जो १५०० लेखकों की सभा हुई थी, उसमें बुखारिन ने एक बड़ी और ऊँचे दर्जे की समालोचना पढ़ी। उसी वक्तृता में मार्क्सवादी समालोचना के बहुत से प्रश्न मौलिक रूप से आलोचित हुए थे। आधुनिक साहित्य की विस्तृत समालोचना भी इस वक्तृता का मुख्य अंश है। वक्तृता अँगरेज़ी में मिलती है। इसमें बिएली, ब्लॉक और ब्रुइसोफ की आलोचना है। इनके समसामयिक अनेक लेखक विप्लव के समय पलायन कर गये, पर इन्होंने नवयुग से आँखें चार कीं। इनका थोड़े ही से अनुवाद पढ़कर भी इनके कवित्व और बुद्धि के

साहस पर श्रद्धा होती है। ब्लाक की प्रसिद्ध The Twelve की कविता का अनुवाद पढ़ने से पुरातन मानव के पथ-हारा आवेश के कवि के रूप में नूतन विश्व को ग्रहण करने का मूल्य कुछ समय में आता है। ब्रुइसोफ़ और अधिक अच्छा कवि था और बुख़ारिन की भाषा में "किसी दूर से आये दीप्त अतिथि" से रूस में जन-प्रिय और मान्य है। अकालमृत्यु के पहले ब्रुइसोफ़ ने लिखा था :

Days will shine forth with matchless maytime lustre,
Life will be song: a red and golden cluster
Of flowers will bloom on all the graves that be
Though black the furrow though the wind be stinging,
Deep in the earth the sacred roots are singing—
But you the harvest will not live to see.

पलायन करनेवालों को छोड़ देने पर भी जो कलाकार अन्य मतान्तरों का देश में प्रचार कर रहे हैं, उनमें कुप्रिन, प्रोकोफियेव, मिर्स्की उल्लेखनीय हैं। कुप्रिन द्वितीय श्रेणी का लेखक तो है ही, एवं प्रोकोफियेव पश्चिमी संगीत की आधुनिकता का भूतपूर्व दिक्पाल है। प्रोकोफियेव की कठिन टेकनीक साधना ने किस प्रकार सर्वसाधारण का मनोरंजन किया, यह संगीत-जगत् की स्मरणीय घटना है। बच्चों के लिए लिखे गये सिम्फ़ानी की सरलता का उसने जो आश्चर्यजनक नमूना रखा है, उस शिल्प की क्रमबद्धता और अविकलता निर्विरोध है। मास्को वापस आकर बचपन से जाने-पहचाने शहर को वह प्रायः पहचान ही नहीं पाया। नये घर और बड़े बड़े रास्तों की शकल बिलकुल वैसे ही बदल गयी थी, जैसे नर-नारी बदल गये थे। कुप्रिन ने इस विषय में जो लेख लिखा है, उसमें स्पष्टरूप से उसने अपने आश्चर्य और गर्व का वर्णन किया है और अपनी कृतियों के साथ ही उसके भविष्य की आलोचना की है।

यह कुप्रिन का ही विचार नहीं, उसको प्रमाण स्वरूप अलेक्सिस तॉल्स्ताय के समान शान्त और स्थिर बुद्धिवाले लेखक ने भी इस बात को मैड्रिड की लेखकों की सभा में और सोवियत् सभ्य निर्वाचित होने के पहले कहा था। शोलोखोव के समान कठोर स्पष्टवक्ता ने यह बात स्वदेश और विदेश में और इंग्लैण्ड जाने पर कही थी। इसका समर्थन स्टानिस्लाव्स्की के समान नाट्यकार, मास्कोविन के समान अभिनेता, डाइनेकर के समान चित्रकार की उक्ति में भी मिलेगा।

स्वकीयतावादी बूर्ज्वा कलाकारों को ब्रुइसोफ़ ने यही कहा था :

That which flashed in a far off dream
Is embodied now in smoke and thunder;
Then why do you frown with the unsteady eye
Of a frightened roe-deer in the woods ?
Oh, to you, aesthetes, and to you, dreamers,
The dream was sweet but as the far-off distance
And only in books and in accord with the poet
Did you love originality.

और मायाकोव्स्की ने तो गत युद्ध के आरंभ में लिखा था—

Where peoples' short vision is cut short
By the head of the hungry crowds,
In the thorny crown of the revolution.
The year 16 will burst in.

विप्लव के पहले बूर्ज्वा आत्मप्रसाद के विपक्ष में मायाकोव्स्की की व्यंगवाणी ध्वनित हुई थी, उसकी एक किताब का नाम ही 'जनरुचि के मुँह पर थप्पड़' है। उस समय उसका विद्रोह अवश्य ही शौक़ीन साहित्य के प्रबल किन्तु धर्म विरोध की फड़फड़ाहट में समाप्त होता। जब उसके प्रबल कंठस्वर ने सत्य का उपलक्ष पाया, श्रोता पाये तब विप्लव के काव्य में कवित्व का विप्लवकारी प्राण भी पाया। उसके मासिकपत्र Lef की शकल ही बदल गई। यह बात नहीं थी कि उसके सहकारी उसके साथ क़दम मिलाकर चल सके। ख्लेबनिकोव भाषा की अपनी खोज में ज्वायस की भाँति भूलभुलैयों में घूमकर रह गया।

आसेइएव और कामेन्स्कि तक ने भी आशा पूरी नहीं की। किन्तु मायाकोव्स्की का अट्टनाद यूनियन की सीमा—चीन—में भी पहुँचा। आज निर्माण के भौतिक जगत् में नेतिमूलक Agitverse का मूल्य निर्द्धारण हो चुका है; किन्तु आज भी माया-कोव्स्की के छन्द विस्तार और जटिल टेकनीक को लेकर लेखक और पाठकों का सर उसी तरह चकराता है जिस तरह सुकवि पेस्टरनाक के प्रतीक प्रयोग की कठिन भावाभिव्यक्ति के रहस्योद्घाटन में।

मायाकोव्स्की की आत्महत्या के बारे में अनेक मिथ्या खबरें विदेश में फैली हैं। असल में इस आत्महत्या का कारण व्यक्तिगत ट्रेजडी है। सामूहिक खेती के आंदो-लन संबंधी संघनिर्माण के उद्योग के जड़ पकड़ने पर मायाकोव्स्की की अस्थिर प्रतिभा ने तृप्ति नहीं प्राप्त की। वह Lef से Ref में आये, पेरिस गये, मँपारनस में मद्यपान किया, मनाका में जुआ खेला, और फिर मास्को वापस आकर कई महीनों बाद आत्महत्या की। प्रेम अथवा समस्त व्यक्तिगत चीज़ों को उन्होंने अपने से अलग ही रखा और अपने Command to the armies of art में दूसरों से भी कहा :

I don't beleive in flowery nice ! I sing once again of men as crumpled as hospital beds and women as trite as a proverb.

और आत्महत्या के पहले लिखा था :

As they say, 'the incident is closed. Love-boat smashed against mores. I'm quits with life. No need itemizing mutual griefs, woes, offences. Good luck and good bye.

इस पर मर्माहत होकर स्तालिन ने कहा था कि कम्युनिस्ट कवियों को भी "सम्पूर्ण मानव" होना होगा। उत्साह को अलग कर प्रकृति के प्रतिशोध का परिणाम करुण ही होगा।

एसेनिन की कवि-प्रतिभा मायाकोव्स्की के समान नहीं थी। उसका मन गाँव

की लाल पगडंडियों पर उन्मत्त हो लगा रहता था। लोकसाहित्य की सरसता में उन्होंने काव्य का जो सहज और सबल रूप संग्रह किया, साहित्य के लिए वही उनका दान था। मन ही मन वह यन्त्र-सभ्यता नहीं चाहते थे। गस्पलान में उनके परिवर्तन का निष्क्रिय स्वप्न टूट गया। यह लोकप्रिय कवि शराबी हो गया, इसाडोरा डङ्कन से विवाह करके भी भीषण कुसंग में पड़कर शक्ति क्षीण होने पर अन्त में उन्होंने आत्महत्या कर ली। इन दो कवियों की बात इस लिए याद रखने योग्य है कि वह सिद्ध करती है कि पलायन के समान ही उन्नत उत्साह के मूल में ही रोमांटिक भ्रान्ति होती है। विएद्नी भी इनके फन्दे में पड़ गया। उसी प्रकार उशाकोफ, सेवतेलोफ़, तिखोनोफ़ इत्यादि ने नेति छोड़कर सृष्टि का, निर्माण, का समाजवादी यथार्थवाद का सहारा लिया। इस विषय में अन्य आलोचनाओं के साथ लेखकों की विराट् सभा में दी हुई गोर्की की वक्तृता में इस विषय की अमूल्य बातें पढ़ने योग्य हैं। उसका बँगला में अनुवाद हो गया है। गोर्की की उत्कृष्ट समालोचना के अतिरिक्त बुखारिन का प्रबन्ध भी इस सभा का एक दान है। एरेनबुर्ग, लियोनोव और राडेक ने भी इस समालोचना में योग दिया था। अवश्य ही रूस में भूल स्वीकार और उसका संशोधन बहुत प्रचलित है और वह इतना शीघ्र कि बहुत से आलसी व्यक्ति तो घबड़ा जाते हैं। आन्दोलन युग के त्रुटि-संशोधन से Rapp का गठन हुआ। परन्तु Rapp का कार्य कला और साहित्य में भ्रमपूर्ण और भिन्न ही रहा। इसके बाद Central art Committee ने भी उसके साथ ही भिन्न भिन्न कला संघों से पृथक्, पर सहयोग के साथ कार्य किया। निश्चय ही यह सब जनसाधारण में व्याप्त था। उन लोगों की लगन अद्भुत और प्रबल थी। लेखकों की सभा से ही डान आइवल के कोयले के मज़दूर, पूर्व साइबेरिया के पयोनियर, मास्को के कारखानों के श्रमिक, फ़ौजी, मल्लाह, बच्चों के झुंड इत्यादि सभी में उसका उत्साह लगन और शिक्षा दिखाई पड़ती है।

यह सब लोग अधिकाधिक पुस्तकें, चित्र, विषयवस्तु का प्रसार, वर्तमान दैनिक नवजीवन के जटिल शिल्प के मनन में सुसम्बद्ध, सहज और आवेगशील साहित्य देखना चाहते हैं। यही Social Realism की उत्पत्ति है। अन्य देशों में जीवन की वास्तविकता से लेखकगण किस प्रकार पथभ्रष्ट हो रहे हैं, यह यहाँ के लेखकों ने अनुभव किया। नवीन सभ्यता के खाके को देखने से महाकाव्य और उपन्यास ही उनका आदर्श हो रहा है। सामूहिक कृषि शोलोखोव का साहित्यिक विषय बना। ग्लाडकाव को कारखानों से प्रेरणा मिली। पावलेन्को के Red Planes Fly East का विषय सुदूर एशिया की सभ्यता, चीन जापान का संघर्ष, स्याम में जापान इत्यादि रहे। विप्लव और गृहयुद्ध के बीच भी बहुतों को अनेक विषय मिले, फ़ुरमनोफ़ का चपायेफ़, इवानोफ़ का The Armoured Train। गोर्की के इगोर बुलिशेफ़ और डॉस्टागायेफ़ नाम के नाटकों में भी ऐतिहासिक मनोयोग और मनस्तत्त्व का मेल हो गया है—१९१७ के मार्च और नवम्बर के बीच की अवधि ही इसका काल है। अत्यन्त विवेकी लेखकों का इसमें उत्साह था, इनमें से कई फ्रांस के विश्लेषण में सिद्धहस्त थे। तॉलस्तॉय,

लियोनोव, पेरिस निवासी एरेनबुर्ग, शागिनियन किसी भी साहित्य के गौरव हो सकते हैं। ट्रेटियाकव को biointerview में डेन शी शुआ के विश्लेषण के अनुसार चीन का तरुण मन स्पष्ट था। नाटकों में भी यह कोमल मनोवृत्ति विप्लव में उपयोगी सिद्ध हुई। विशिनेव्स्की का An Optimistic Tragedy, पोगोडिन का The Aristocrats आफ़िनोजेनाफ़ का Fear और सर्वोपरि, अकालमृत ऑस्ट्राव्स्की के नाटक हैं। समालोचना और हास्यरस का काफ़ी पुट दिये उपन्यास और नाटकों में Six Soviet Plays को Squaring the circle में या Another man's Child में कम्यूनिज़्म को लेकर अच्छा हास्य है। पिलनियाक वग़ैरह ने इस तरह की गल्पें भी लिखी हैं जिनसे मालूम होता है कि गोर्की द्वारा निन्दा की गयी leaderism सचमुच ही यहाँ पर भूत बनकर पीछे नहीं पड़ी। हो सकता है कि कोई फट् से बाबेल या पास्टरनाक का नाम लेकर कह दे कि सरकारी दबाव में आकर इन्होंने इतना कम लिखा। मज़ा तो यह है कि बाबेल ने .खुद ही हँसकर इसका जवाब दे दिया है कि वह बीच बीच में चुप रहकर कला की चर्चा करना चाहते हैं। एरेनबुर्ग ने इस पर टिप्पणी करते हुए .खूब कहा है कि वह .खुद तो बहुत लिखते हैं, फिर भी बाबेल की तरह कोई कोई अगर कम ही लिखते हैं तो उस बात पर जोशो-ख़रोश बेकार है, क्योंकि यह तो सिर्फ़ आदत की बात है। वह .खुद खरगोश की तरह बार बार बच्चे देता है, और बाबेल हाथी की तरह है, उनकी लेखनी की प्रसवपीड़ा गहरी है।

किन्तु यूनियन के साहित्य के विस्तार का इस साधारण लेख में कुछ आभास नहीं दिया जा सकता। सभी श्रेणी के देश और भाषाओं में इसका प्रचार है। ऐसे भी देश हैं जिन्होंने इस समाज तंत्र की सभ्यता का पूर्ण प्रसाद पाया है और जिनमें पहले वर्णमाला भी नहीं थी। आज रूस छोड़कर उसी यूनियन में सर्वत्र सत्तर भाषाएँ उन्नति कर रही हैं। यूक्रेन में मिकिटेनेका, श्वेत रूस में अस्सी-वर्षीय शिरघान झाडे बहुत सी भाषाओं में अनूदित हैं। आर्मीनिया और जॉर्जिया ने भी सिर ऊँचा किया है। आर्मीनिया का प्रधान कवि आकोपियान का अनुवाद पैस्टरनाक और विपद्नी ने किया है। जॉर्जिया के कवियों में ताबिद्जे चिकोवानी और शाल्वा डाडियानी का नाम सुना जाता है। सबसे अधिक विस्मयजनक उजबकिस्तान के महाकवि अब्दुला क़ादिरी हुए। 'प्रगति' नामक किताब में इनके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। ताज़िकिस्तान के कवि शात्रेहिन आइनी और हाशिम लखूती भी उल्लेख करने योग्य हैं। किरग़िज़-स्तान में तो कुछ वर्षों पहले वर्णमाला तक नहीं थी। आजकल वहाँ बहुत से स्कूल, अस्पताल, लायब्रेरी, अस्पताल और रेडियो के साथ साहित्य-चर्चा भी चलती रहती है। अली तोकोम्बायेफ़ उस देश के महाकवि हैं। लखूती का नाम भी समस्त यूनियन में मान्य है और इस ईरानी कवि ने यूनियन को ही मातृभूमि माना है।

केवल संख्या और प्रसार ही नहीं पर तत्त्व और गंभीरता की ओर यूनियन का लक्ष्य अधिक है। यह ज़रूर है कि प्रसार भी आश्चर्यजनक है। गोर्की की पुस्तक सिर्फ़ रूसी में बीस वर्ष में तीन करोड़ तीस लाख प्रति बिक गई और तरुण लेखक शोलोखोफ़ की वर्ष बीतते बीतते पाँच लाख से छ लाख, तॉल्स्तॉय की तीन लाख से

चार लाख । पुश्किन की काव्य पुस्तक ३५ और ३६ साल में १,७५,००,००० प्रति बिक गयीं । विदेशी लेखकों की भी पुस्तकें खूब चालू हैं । गेटे, शेक्सपियर, स्कॉट, डिकेंस, बालज़क, फ्लोबेयर, मोपासाँ और हाइने की गति विस्मयजनक है । सरकारी प्रकाशक भी पाठकों की माँग पूरी नहीं कर पाते । फ़ाख्तवांगर के उपन्यास की माँग एक लाख से ऊपर हुई पर वह केवल ६०००० ही छपी । रोलाँ के कोला ब्रायनाँ के भी कुछ ही वर्षों में १२० संस्करण प्रकाशित करने पड़े । ड्राइसर, डॉस पैसोस, हैमिङ्वे, कोनरेड, गॉल्ज़वर्दी, वेल्स, टॉमस मान, जिड, बारबुस की रचनाओं की भी ख़ूब बिक्री है ।

लायब्रेरियों का विस्तार एक कारण ज़रूर है । ३६ साल में सब तरह की लेकर पुस्तकालयों की संख्या १३५८४७ थी । इनमें १५००० लायब्रेरियों की पुस्तक-संख्या दस लाख से ऊपर थी । यह विस्तार अवश्य व्यापक था । नियमित आर्केस्ट्रा और गानेवालों के दल छोड़कर शौक़िया गानेवालों के दल ३६ साल में तीस हज़ार एक और आर्केस्ट्रा पच्चीस हज़ार से ऊपर हो गये थे । केवल सरकारी धन की सहायता ही इनके लिए ज़िम्मेदार नहीं है । थियेटर सिनेमा इत्यादि की संख्या ही चवालीस हज़ार थी ।

विप्लव के बाद चालीस भाषाओं ने पहलेपहल छापेखाने का मुँह देखा । संस्कृति का यह प्रसार पूर्वीय असभ्य जातियों को जिस जल्दी से सभ्यता में लाया, वह हम लोगों को कल्पना करना भी कठिन है । राष्ट्रीय जीवन ने एकता में जो अखण्डता पाई वह सच्ची संस्कृति के संसार में भी, शिक्षा और सृष्टि में विरोधी नहीं है । सब जगह ही शिक्षा का प्रबन्ध है । उस व्यवस्था के लिए जो व्यापक चिन्ता, सहयोग और अर्थ-साहाय्य है उसका परिचय यहाँ संभव नहीं है, किन्तु एक बात द्रष्टव्य है । दूसरे देशों में कलात्मक साहित्य में जो कुछ रचित होता है उसमें जो कुछ सत् होता है वह सरकारी या सामाजिक प्रसिद्धि के लिए सरकार के विपक्ष में रहने पर बाध्य होता है । उसी तरह विश्वविद्यालयों में संस्कृति के शत्रु और शिक्षकों की शर्मनाक रसिकता ही रहती है । पर सोवियत् यूनियन में सरकार रचयिता और रचना की भक्त है । शिक्षालय भी उसी तरह कला के बढ़ानेवाले हैं । यह सिर्फ़ आर्टिस्टों की सहायता करने में या भावी आर्टिस्टों को गढ़ डालने में नहीं पर पाठक, दर्शक, श्रोता और समालोचक तैयार करने में भी । क्योंकि वैज्ञानिक मनोवृत्ति केवल दर्शन या कल कारख़ानों में ही नहीं, सांस्कृतिक क्षेत्र में भी सार्थक है । इसी लिए अन्य विषयों के ज्ञान की भी इतनी मर्यादा, और शिक्षा का इतना सम्मान है । ज्ञान का सम्मान छोटी छोटी बातों में भी देखा जाता है । किरशोन ने हवाई जहाज़ पर नाटक लिखा, नामी हवाबाज़ों ने उनके नाटक को सुनकर दो-एक सुझाव पेश किये और किरशोन ने संशोधन कर दिया । बच्चों की शिक्षा से कलात्मक साहित्य में किस तरह सभ्यता का आरंभ होता है, वह एक बड़ी भारी और टेढ़ी बात है । उसके बाद तो बराबर ही तसवीर और गीत, साहित्य, नाट्यशाला और सिनेमा हैं ही । मार्शाक और चूवास्की की आलोचना में समझा जाता है कि किस मेहनत और चिन्ता से बच्चों के लिए श्रेष्ठ आर्ट का प्रयोग होता है । उनका क्लब, थियेटर, सिनेमा, पत्रिका और प्रकाशक की

व्यवस्था अलग ही है। नाटालिया आर्ट् स की कहानी प्रसंगतः क्षम्य है। १८ साल की लड़ाई के आन्दोलन में ही भीषण दुरवस्था में जब सोवियत् गठन के कार्य में लगा था, मास्को के सोवियत् में एक पंद्रह वर्ष की लड़की आई। बात क्या है ? कुछ नहीं, उसे बच्चों का थियेटर करने के लिए अच्छा-सा बड़ा मकान चाहिये। और डिरेक्टर कौन है ? लड़की ने कहा, मैं ही, और कौन ? बहुत लोग हँसे पर कर्दज़ेनज़ेव उत्सुक हुए। थियेटर हुआ। आखिरकार आज ४० लाख बालक-बालिका साट्स के भक्त हैं। कर्दज़ेज़ेव आज C. A. C. के सभापति हैं। साट्स का प्रभाव आज देशव्यापी है। उसका एक मन्त्र है—Children must be shown great art.

कलाकारों की वयस्कता के लिए भी इसमें बहुत सुविधाएँ रखी गई हैं। भावी अभिनेता-अभिनेत्रियाँ शिशु-प्रतिभा के खेल से ही विकास पाते हैं। निश्चय ही वयस्क नाट्यशालाओं में उसी तरह विस्तृत और गंभीर शिक्षा दी जाती है जिस तरह दूसरे कला-कौशल में। स्थपति, लेखक, चित्रकार, संगतराश, संगीतज्ञ, कलाकार सब की ही शिक्षा का बेरोक सुअवसर हैं। दीर्घ और क्रमिक पाठ्यक्रम-रचना में विशेष ज्ञान का परिचय होता है। इसके सिवा पढ़ने के समय रुपये-पैसे की फिक्र और बाद में बेकारी का सवाल नहीं है। पढ़ने के समय में ही धनलाभ सम्भव है। विद्यालय से निकलने के साथ ही संघ को योगदान का रिवाज है। मास्को में लगभग १६०० स्थपतियों में १२०० स्थपति संघ के सदस्य हैं। यह सब ४००० से ५००० रूबल प्रतिमास पाते हैं और नक्शा पास होने पर कमीशन अलग।

अन्य देशों की सामाजिक व्यवस्था में सब ही कलाकार थोड़ा बहुत अपने ऊपर निर्भर होते हैं। उससे बहुत सी शक्ति दुश्चिन्ता में नष्ट हो जाती है। उसके सिवा अपनी रक्षा की कठिनता है। उसी के बीच में फिर भी कुछ कलासाधना में कुछ लेखक समर्थ हैं, किन्तु नाट्य या स्थापत्य में बहुत कुछ परमुखापेक्षी होते हैं। सोवियत् नाट्य या स्थापत्य का उत्कर्ष और प्रसार स्वाभाविक है।

नाट्य में स्टेनिस्लावस्की, नेमिरोव डॉन्चेनेका प्राचीन उत्कर्ष के स्थायी उदाहरण हैं। उसी तरह तरुण उखलपकव, टाइरोव या मायारहोल्ड, वाखटान्गोव का कला में उत्कर्ष और तरह तरह की परीक्षा का सुयोग अन्यत्र दुर्लभ है। और इनकी नाटक-रचना पृथिवी व्यापी होती है। सोफोक्लीज़ से शेक्सपियर की तरह, रवीन्द्रनाथ, ओ' नील ने जो प्रेरणा रूस में पाई वह अतुलनीय है। थियेटर की इस सर्वव्यापी उन्नति के साथ रूस में फ़िल्म आर्ट की उन्नति का ख्याल रखना भी ठीक है। बहुत से डिरेक्टर आज विश्वविख्यात हैं-आइज़ेन्स्टाइन, पुडोव्किन, डॉव्चेंको, चाओरेलि, जिगन, एमलर, वासिलिएव सिनेमा और समाज की अभूतपूर्व उन्नति में लगे हैं। कहा जाता है कि यूनियन प्रसिद्ध Peter the First चित्र कलकत्ते में आया था। इसका एक डिरेक्टर दूसरे रूप में हमारा परिचित है : 'मातिस' की कला पर अलेक्जैंडर रॉम की समालोचना है। मातिस पर वह एक बड़ी अच्छी पुस्तक है। संभवतः फ्राइ ने जिस गोरखधंधे में हमें डाल रखा उससे छुटकारा पाने के लिए यह अच्छी किताब है।

थियेटर की तरह सिनेमा भी यूनियन में देशभर में फैला हुआ है। स्थपति को

भी विभिन्न देशों में वातावरण, जलवायु तथा निवासियों के अभ्यास के अनुसार ही भवन-निर्माण का कार्य करना होता है। कालिनिन ने एक बार कहा था :

"Our people say to the architect, 'Plan us an underground, remember that people will have to travel this underground to and fro from work; think how to make the journey as little fatiguing as possible."

इसीलिए यहाँ भवन-निर्माण में जहाँ तहाँ जैसे तैसे एक अच्छा सा घर बना देने से वह बन नहीं जाता। यहां ग्रोपिउस या लेकोरबुसि की व्यर्थता और सीमाबद्धता नहीं है। और स्थापत्य की समस्या भी यहाँ पर और जटिल है। घर नहीं मोहल्ला और सारा रास्ता ही एक पूरी इकाई होगा। इसके सिवा जो बनवाता है वह क्या चाहता है वह भी भीतर से देखना होगा, जिससे आने-जाने का रास्ता सीधा-सादा हो, समय और श्रम बचे। रूस भर में घर पाँच-छः मंजिले हैं। मास्को के मज़दूरों के क्लब की तसवीर लीजिए, उसमें स्टूडियो, थियेटर, जिमनेशियम, लायब्रेरी, नर्सरी अनेक हाल, पढ़ाई के कमरे, भोजन के कमरे इत्यादि हैं। और संस्कार भवन भी इसी तरह पेचीदा है। बिल्डिंग कोआपरेटिव घर तो मास्को में एक पूरे गाँव की बस्ती सी है। सरकारी सहायता से ही वह संघ बना है। पूरे शहर की बनावट भी सोवियत् स्थापत्य का काम है। मागनिटोगोर्स्क, डिनिप्रोपेट्रोव्स्क, बोलोशोय ज़ापोरोज़िए, रेगिस्तान में इगरेका, आवरोस्ट्राय इत्यादि के प्लान किये शहर हैं। कोलखोज की स्थापत्यकला में उन्नति हुई है। बहुत दूर—हमारे लिए पास—स्टैलिनाबाद, आस्खाबाद, आल्या आटा की शकल भी आधुनिक रुचि से स्वास्थ्यप्रद और सुविधाजनक है। सब होने पर भी कला ने समान रूप से उन्नति नहीं की है, किन्तु प्रवदा भवन, शोचि सानाटोरिया, रेव्स्कोवस्की का अन्डरग्राउन्ड स्टेशन, खारकोव के House of Projects इत्यादि के चित्र चित्त को तृप्ति और आनन्द देने वाले हैं।

स्थापत्य तथा चित्रकला के विषय में जानना हमारे लिए अवश्य दुस्तर है। फिर भी अंगरेज़ी में कुछ पुस्तकें मिलती हैं। कला की मर्यादा तब समझ में आती है जब पता चलता है कि १९३६ में २४० चित्रकार, ८० ग्राफिक आर्टिस्ट और ६० संगतराश कलाकारों को लगभग ३० लाख रूबल दिये गये या १९३७ में सरकार ने ६ लाख रूबल सिर्फ़ चलती फिरती प्रदर्शनी पर खर्च किया। यह कहना काफ़ी है कि सिर्फ़ देशीय कला नहीं, प्राचीन और आधुनिक सब ही कलाकार सम्मान पाते हैं। हार्मिटेज, ट्रेटियाकव और वेस्टर्न आर्ट गैलरी पाश्चात्य यूरप की चित्रकला के हिसाब से अमूल्य है। इसोगिज़ की प्रकाशित पुस्तक से इनके कलासंग्रह का अन्दाज़ा मिलता है। इस कला-चर्चा का सुफल सोवियत् चित्रों में पाया जाता है। कोरिन का गोर्की, ब्रोडशिक की मिल की तसवीर, लेबेडेवा की सुकुमार डिकोरेटिव चित्रावली एकाडेमिक परंपरा का ही विकसित रूप है। गोर्यैव का रङ्गों का प्रकटन, पेट्रव वॉड्किन या कुजनेटसव में उसी तरह सफल हुआ है, जैसा सफल चित्रण आर्मेनिया के मासिक में प्रकाशित सारियान के स्वदेश नामक चित्र में हुआ है। सोवियत् में सुविधा है, कलाकारों को

में भागकर भावुकता से बोझिल exotic चित्रों को नहीं बनाना होता है। नवजीवन में का उल्लास, नाना प्रदेशों के तरह तरह के दृश्य पर और जीवन यात्रा चित्रकार के लिये जीवन चित्रादर्श मिलते हैं। इस समय भी इम्प्रेशनिस्ट वर्णतारल्य चलता ही है, पिमेनाव के बनाये चित्रों में उसका आभास पाया जाता है। जिस तरह पेरिस और लन्दन की नज़रों में मोने, पिशारो, ह्विसलर प्रभृति के चित्र पड़े हैं, उसी तरह सोवियत यूनियन में कला के जादू से शहर और गाँव में घनिष्ठता हो गयी है। मास्को का मेट्रो, रेलमार्ग चेल्युस्किन, मालिगुइन क्रासिन का मेरुदेश, कलकारखाना, पूर्व का चायखाना इत्यादि सब चित्र के विषय हैं। पोर्ट्रेट का ख़ूब चलन है। जेरासिमाव, काद्रूजमान, सामोखवाल्वे के प्रशंसनीय चित्र बने हैं। जार्जिया, यूक्रेन तथा अन्य स्थानों पर चित्रकला बढ़ती पर है। पोस्टर चित्र में कुक्रिनिक्सी के साथ दो कलाकारों का नाम आता है क्रावचैंका और फावर्स्की पीमेनव में जिस तरह माने की सफलता है और देगा की जेरासिमाव में, वैसे ही आधुनिक पाश्चात्यकला के कठिन विप्लवी विषयों में डाइनेका के चित्र आवेगवान और सजीव हैं।

सुना जाता है कि प्रस्तर-कला में सोवियत कला ने अभी भी वैसी प्रतिभा का परिचय नहीं दिया है। फिर भी कोरोलेव की प्रतिमायें और लेबेदेवा की सुन्दर मूर्ति नगण्य नहीं हैं। मरकुरव या नेरोदा का 'स्टालिन' शक्तिशाली चित्रण है। दिमित्रि चालापिन या इवानव की आश्चर्यजनक शक्ति भी तुच्छ नहीं है। यह अनेक लोग सोशलिस्ट समाज की सन्तान हैं जिन्होंने साधारण मेहनतकश दशा से कला की शिक्षा का सुयोग पाया है। इसी से आशा होती है कि इस बीच ही इस जीवन में जिन्होंने Monumental कीर्ति प्रतिष्ठित की है, कला में भी वे उसी आधुनिक कला की चिरभिलषित Monumentality प्रदर्शित करेंगे। उनका काफी आभास इस बीच ही कला साहित्य की रचना में मिल गया है। उसीसे देश विदेश के कलाकार सोवियत में सम्मान और मनोयोग पाते हैं। रोलाँ, मालरो, ब्लॉक, ड्राइसर, एन्डर्सन नेकेशाय आदि रवीन्द्रनाथ के साथ ही सहमत हैं। बर्नार्ड शॉने भी मास्को की एक सभा में वही कहा:

We know that there have been many civilizations, that their history has been very like the history of one civilization, and that when they arrived at the point which Western Capitalistic civilization has reached, there began a rapid degeneracy, followed by complete collapse of the entire system and something very near to a return to savagery by the human race.........

Now Lenin organised the method of getting down that corner. If his experiment is pushed through the end, if the other countries follow his example and follow his teaching...... we shall have a new era in history.......

And that is what Lenin means to us. If the future is the future as Lenin foresaw it, then we may all smile and look forward to the future without fear. But if the experiment is overthrown and fails, if the world persists on its capitalistic lines, then I shall have to take a very melancholy farewell of you, my friends.

पिछले महायुद्ध के बाद की अंग्रेज़ी कविता

[विनय घोष]

आधुनिक काव्य आधुनिक और काव्य दोनों ही है। इसलिए आधुनिक काव्य की आलोचना करने में केवल 'काव्य' के गुण समूह देकर उसकी परीक्षा करने से जिस तरह उसके माधुर्य का लोप होगा वैसे ही आधुनिकता के उपकरणों का अनुसंधान करने के पहले 'काव्य' क्या है, उसकी जाँच न करके देखने से समालोचना ही व्यर्थ होगी। काव्य के 'उपकरण' और काव्य के 'गुण' में से कोई भी अपरिवर्तनीय नहीं है, इस बात की सचाई मामूली तौर से ज़रा-सा सोचने पर ही साफ़ हो जायगी। उपकरण परिवर्तनशील है क्योंकि काव्य की प्रेरणा, बहिर्जगत् ही परिवर्तनशील है। काव्य का उद्देश्य या गुण मानव के मन में कवि की अनुभूति को, आनंद वेदना करुणा आदि संचारित करने की सार्थकता पर निर्भर करता है। आज जिस प्रकार हम आनंद या दुख पाते हैं निश्चय ही पचास बरस पहले उस तरह का आनंद न पाते, पाने पर उसकी गंभीरता में और ग्रहण करने में बहुत अन्तर था। इसलिए अनुभूति के उद्दीपन के साथ साथ उसका रूप भी बदलता रहता है, तब केवल 'आनंद' या दुःख की विशुद्ध सत्ता के पुराने खंभे पर भार देकर काव्य की अपरिवर्तनीयता के समर्थन में दार्शनिक तत्व का आर्तनाद करना अर्थहीन है। मानव चिर दिन ही आनंद पायेगा, दुःख पायेगा और मानव भी रहेगा। यह कहना अर्थहीन बातों की माला गूँथने के बराबर है। क्योंकि हर चीज़ के रूप और प्रकृति में परिवर्तन होता है, इसलिए किसी निश्चल मान-दंड से काव्य या मानवसृजित किसी कला का विवेचन नहीं किया जाता और इसलिए ही पहले कहा गया है कि आधुनिक काव्य, आधुनिक और काव्य दोनों ही है।

वस्तु और मन के सक्रिय विरोध में जिस तरह मानव और उसके ज्ञान का विकास होता है, उसी तरह बहिरंग और अन्तरात्मा के आवर्तन में काव्य का विकास रहता है। काव्य की विषयवस्तु के परिवर्तन के साथ साथ काव्य की टेकनीक निर्धारित होती है, और शुद्ध आङ्गिक (टेकनीक) या विषय की निर्जीव साधना काव्य की जड़ता की परिचायक है। अर्थात् विषय (content) और अङ्ग (form) परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। काव्य के दरवाजे पर आवेग जब दस्तक देता है तब उसे अन्दर का मार्ग दिखाकर युक्ति और परिपाटी प्रस्थान कर जाते हैं, सौष्ठव और गांभीर्य जब क्लासिसिज़्म के साथ अन्टर्धान हुए तो रोमांटिसिज़्म के साथ आविर्भूत हुई स्वाधीनता, कुतूहल और चमत्कारिता। इस तरह से विषय और अभिव्यंजना प्रणाली के वियोग और संयोग से काव्य का इतिहास बना है। अठारहवीं शताब्दी के काव्य का परिमित और नियमित छंद तत्कालीन युग के यांत्रिक रूप की अभिव्यंजना-गणित और ज्योतिष से जानी पृथ्वी की प्रतिच्छवि ही थी। किन्तु अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जब फ्रांस और अमेरिका के वक्षस्थल पर विप्लव का तूफान हुआ तब कवियों ने भी पृथ्वी के यांत्रिक रूप के विरोध में घोषणा कर साम्य, मैत्री और

स्वाधीनता के वन्दनागीत गाना आरंभ किया। सुन्दरतम पृथिवी पर 'सब ही सुन्दर है,—प्राचीन कवियों की इस कोमल धारणा के विरुद्ध रोमांटिक कवियों ने जिहाद की घोषणा की और उन्होंने शेली की तरह 'A heaven of serene and mighty ocean', एवं वर्ड्स्वर्थ की तरह 'A sense sublime of something far more deeply interfused' अनुभव किया। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में फिर वही यांत्रिक धारणा वापस आ गयी। इस बार पदार्थविदों के लिये नहीं किन्तु प्रधानतः जीव शास्त्रियों तथा यंत्र आविष्कारकों के लिये। तब पाया गया कि मानव के आविष्कृत यंत्रों ने उसकी मुक्ति साधना का व्रत पालन न कर मानव को श्रृंखलित कर दिया, स्वच्छन्दता के बदले में मन में भेद बुद्धि और वैषम्य को जन्म दिया। उसके साथ ही दिखाई पड़ा कि डारविन का सिद्धान्त 'शक्ति की सर्वत्र जय' देवता को सन्तुष्ट न कर यंत्रों के शक्तिमान मालिकों के आत्मप्रसाद में सहायक हुआ। इसलिये मैथ्यू आर्नल्ड ने

> This strange disease of modern life
> With its sick hurry its divided aims.

सहन न कर सकने के कारण नैराश्य में डूब कर विलाप करना आरंभ किया। इसके साथ ही टेनिसन ने "When through the woods noble savage ran" की कल्पना परित्याग कर ड्राइडन को अतिक्रमण कर देखा

> Nature red in tooth and claw
> With ravine, shriek'd against his creed.

प्रायः एक सौ बरस बाद के बुरे स्वप्न का आभास यह लोग दे गये। इसके अतिरिक्त किसी किसी कवि ने जब पृथिवी की तात्कालिक विकलता से भागकर आर्थर के काल्पनिक सामंत युग में शरण ली थी और निरापद अनुभव किया था, उस समय इंग्लैंड के तत्कालीन कवियों ने घर और बाहर के कलुष और कदर्थता का पूर्ण विकास देखकर मध्ययुग के गिरिजा के अभ्यन्तर में या व्यक्तित्व की विलास कथा में अगर प्रवेश किया था तो इसमें आश्चर्य क्या है?

उसी समय अमेरिका में 'Bostonian' एडगर एलन पो काव्य की नीरव साधना में प्रवृत्त हुआ। उसके काव्य में वह गुण था कि जिसके कारण उसे 'a poet without a neighbourhood' कहा गया। यह प्रतिवेशहीन कवि प्रायः सत्तर वर्ष पहले काव्य के जिस रूप की आराधना कर गया, उसके समसामयिक काव्य-प्रेमी उसका जो भी मूल्य क्यों न आँकें, महा समुद्र पार फरासीसी कवि बाड्लेयर ने उसी रूप का ध्यान किया एवं उसके बाद के कवि मालार्मे और वर्लेन ने उसी रूपपूजा की सामग्री संग्रह की। उसके बाद चैनल पारवर्ती इंग्लैंड के कवि इलियट ने इस प्रकार से उस काव्यमूर्ति को अर्घ्य दिया कि आधुनिक कवि अभी भी उसका मोहत्याग नहीं कर पाते। एलेन पो द्वारा कल्पित, बॉडलेयर द्वारा पूजित, मालार्मे और वेर्लैन द्वारा अर्चित और इलियट द्वारा चिन्तना की हुई वही काव्यमूर्ति, रूपक काव्य या Symbolist Poetry के नाम से प्रख्यात है। एलेन पो की कविता की

विशिष्टता अप्राकृतिक अनुभूति के संचारण में थी। क्रम से अन्तर्हित होनेवाली प्रतिच्छवि की समष्टि और शब्द संगीत की सहायता से जिन कवियों ने व्यक्तिगत आवेग और क्षणस्थायी काल्पनिक मूर्ति को रूपायित करने के लिये चेष्टा की वे "रूपक" काव्य की नीव डाल गये।

अस्वस्थ देह और मन लेकर जब एलेन पो ने व्यक्तिगत असंतोष की अनुभूति का काव्य में निरूपण किया उस समय अमेरिकन कवि वाल्ट ह्विटमन ने असीम आनन्द और उत्साह से देश और काल के साथ अपने काव्य की स्वाभाविक सरलता तथा स्फूर्ति के द्वारा आत्मीयता स्थापित करने का प्रयास किया। वह एलेन पो के स्वर में स्वर मिलाकर विज्ञान को "Vulture, whose wings are dull realities" न कह मुक्तकण्ठ से—"Hurrah for positive Science ! long live exact demonstration !" कह उठा एवं भौतिक प्रसाधन पर लक्ष्य न रख उन्होंने उसके ऊपर धर्म के गुरुत्व को आरोपित किया। निश्चय ही एमिली डिकिन्सन की तरह उन्हें स्वातंत्र्य-सचेतन कवि का अनादर मिला। किन्तु जेरार्ड मैनले हॉपकिन्स का समादर उससे कहीं अधिक मूल्यवान है, क्योंकि साम्प्रतिक कवियों में जिन्होंने एलेन पो और एमिली के समान Unique काव्य के छायातल को छोड़कर भविष्यत् की ओर दृष्टि प्रसारण का साहस एकत्रित किया है हॉपकिन्स उनका प्रिय है, इसका कारण है कि अपनी ही भाषा में हॉपकिन्स "in a manner......communist" है।

गत महायुद्ध कवियों का हृदय वहिर्जगत से अन्तर्जगत की ओर ले आया। बर्गसाँ और फ्रायड आदि दार्शनिक और मनोवैज्ञानिकों ने अवचेतना के अतल गह्वर में गोता लगाकर व्यक्तिगत वाष्पाकुल संवेदन तथा आवेग के संचय में उन्हें प्रलुब्ध किया किन्तु केवल बर्गसाँ और फ्रायड से ही कवियों के इस अन्तर्मुखी मानस का परिचय नहीं दिया जाता, क्योंकि संवेदन वा आवेग व्यक्तिगत एकान्त अभिज्ञता का कितना ही आश्रय लेकर क्यों न रहे, वहिर्जगत के किसी अंकुश (Stimulus) का आघात बिना लगे वह अभिज्ञता कवि के पथ में किस प्रकार लाभप्रद होगी ? यह पृथ्वी तो उन्माद के लिए आश्रय स्थान नहीं है, यदि वैसा होता तो संभव था। इसलिये दृश्यमान वहिर्जगत में किसी उद्दीपक का होना आवश्यक है, तभी अभिज्ञता प्राप्त करना संभव है। और उसको केन्द्र मानकर ही तरह तरह के संवेदन और आवेग संभव हैं : महायुद्ध की न्यूरोसिस की रक्षा के लिये कवि और कलाकारों का यह एक defence mechanism या कवच कहना चाहिये। युद्ध के पश्चात् जो एक शून्यता और रिक्तता का स्थान परिणत हुआ उसके पेटिबोर्जुआ और बोर्जुआ श्रेणी के कवियों ने अपनी श्रेणी और दम्भपूर्ण अन्तः सारशून्यता, न्यायविचार और न्यायदर्श के प्रति अश्रद्धा दिखाई सही किन्तु रग रग में बद्धमूल श्रेणी-संस्कार सशस्त्र प्रहरी की तरह उनकी युक्ति का पथ छेके रहा। इस विराट पृथ्वी पर जिनको कहीं स्थान न मिला, जिन्हें संसार और मानव किसी ने स्थान नहीं दिया, अपनी श्रेणी के मौसेरे भाइयों को दिन के प्रत्यक्ष आलोक में मार्ग दिखाने के लिये जो आकृष्ट नहीं हुए, उनकी क्या दवा है ? उनके लिये एकमात्र उपाय है अपने अन्तर की स्तब्ध स्थिरता में लौटकर व्यक्तिगत अभि-

ज्ञता के घोंसले में शीघ्रगामी संवेदन और अन्तर्वेग की गोधूलि के अन्धकार में पंख सिकोड़ कर बैठे रहना और वैसा न करने पर स्वार्थान्ध हो कल्पना मार्ग के सहारे भाग्य की गोद में लौट पड़ना।

युद्ध से उत्पन्न इस नूतन असंतोष, वैराग्य, पलायनी-मनोवृत्ति और गर्वोन्नत आत्मचेतना को कविता में अभिव्यंजित करना होगा, इसलिये काव्य के रूप का परिवर्तन भी आवश्यक है। व्यक्तिगत अनुभव से उत्पन्न संवेदना और आवेग का सूक्ष्मतम स्पन्दन भी काव्य में प्रतिध्वनित करना होगा। वही इंग्लैंड के नूतन कवियों ने एलेन पो, बोदलेयर, मालार्मे, वर्लेन का पथ अनुसरण कर मानसिक दूरबीन के आगे जल्दी जल्दी फिरने वाले प्रतिरूप पाठकों को दिखाने चाहे। नवीन कवियों ने काव्य में शब्दों के कोषगत उद्देश्य को अतिक्रमण कर उसके आनुषंगिक भाव और अर्थ का निर्देश किया। इसके साथ ही उनका दर्शन, विज्ञान, इतिहास और मनोविज्ञान का पाण्डित्य तथा चलचित्र एवं रेडियो की अद्भुत अपील (आवेदन) उसके साथ थी। इससे उन पाठकों की मुश्किल हो गयी जो हमारे हिसाब से साधारण शिक्षित हैं। किन्तु जिस नवीन काव्य की सृष्टि हुई वह Symbolist Poetry या रूपक काव्य कहा गया। शब्दों का वर्ण है, स्वर है, श्रेणी है, इतिहास है, शब्दों के तानेबाने में है कवि की कल्पना, क्षणिक आवेग, और विलीयमान संवेदन, और इन सबके रासायनिक संमिश्रण से जो काव्य उत्पन्न हुआ उसका अन्तर और बाहर दोनों ही मानसिक दूरबीन घुमा घुमा कर देखना होगा। उनके बीच में दरार सा अन्तर तो रहेगा ही पर वह दरार संगीत के ताल, सम की तरह होगी जिसका कम्पन यदि मिट न जाय तो उसकी समग्रता का रूप फूल की तरह खिल उठेगा।

बात ज़रा जटिल हो गयी है। ठीक से कहने से आधुनिक सिनेमा की बात उल्लेख की जा सकती है। चलचित्र के आधुनिक परिचालक के साथ में 'रूपक' कवि का सादृश्य है। अतः चलचित्र के कुछ उदाहरण देना ठीक होगा।

चलचित्र की एक विशिष्टता है "The art of leaving out"—अर्थात् छोड़ने की कला। प्रसिद्ध परिचालकों ने कहा है कि किसी भी विषय में सिनेमा का उद्देश्य होगा "Don't say it all. Don't treat your public as collective dumb-bells" अर्थात् कुल बात नायक नायिका के मुँह से कहलाई नहीं जायगी, कुछ तो दृश्य में दिखाया जायगा और बाकी दर्शकों को स्वयं समझना होगा। सिनेमा की दूसरी विशिष्टता है Continuity और Conjunction. किसी दृश्य में दो पात्रों के कथोपकथन में यदि एक तीसरे पात्र का नाम आ जाय और उसके परवर्ती दृश्य में उस चरित्र का आविर्भाव हो तो चलचित्र की अविच्छिन्नता रहती है जैसे पर्दे पर कोई अपनी प्रेमिका के लिये गाना गाता है, सामने उसी स्त्री का फोटो है। इस दृश्य में से यदि धीरे धीरे वही स्त्री निकल—dissolve हो—पड़े तो चित्र की Continuity ठीक रहेगी। उसके बाद मान लीजिये हमने एक पात्र के मुँह से सुना कि कहानी का नायक ट्रेन से आ रहा है। दिखायी दिया कि उसी नायक का छोटा बच्चा खिलौने की रेलगाड़ी लिये खेल रहा है। कैमरे से वही छोटी तमाशे की रेलगाड़ी Pick up करके दिखाया

गया चलती ट्रेन का घूमता पहिया। उसके बाद उससे dissolve करके दिखाया गया कि एक कमरेमें वही नायक बैठा है। इसको कहा जाता है 'Continuity preserved by conjunction अर्थात् यहाँ सुन्दर संयोजना से चित्र की अविच्छिन्नता रखी गयी। परिचालक की कारीगरी इसी पर निर्भर करती है। परिचय के बाद ही यदि उक्त दृश्य में दिखाया जाता कि नायक चलती ट्रेन के डब्बे में बैठा है तो समझा जाता कि निर्देशक कुन्दज़ेहन है। पहले दर्शक का मन और आँख बच्चों की रेलगाड़ी में लगकर घूमते हुए पहिये की ओर झुकते हैं, तब चलते हुए डिब्बे में नायक को देखते हैं। कहीं भी एक स्थल से दूसरे पर कूदने में मन या आँख पर आघात नहीं पड़ता है। किन्तु दूसरे में आँख और मन पर चलती ट्रेन घड़घड़ाकर आ पड़ती है। अलग से यह बच्चों की ट्रेन का दृश्य अर्थहीन है। सिनेमा की टेकनीक का यह एक विशेष मूल्यवान दृष्टिकोण है। इसके अतिरिक्त Camera angles हैं। कैमरा की सहायता से बुद्धिमान निर्देशक अर्थ या तात्पर्य समझाना चाहते हैं। The Fall of St. Petersburg नामक रूसी फ़िल्म में जब किसान अपनी लड़की को लेकर सेंट पीटर्सबर्ग में आया तब निर्देशक एक सबसे ऊँचे मकान की छत से उनका चित्र लेता है, वह मार्केट स्क्वायर की ओर पैदल जाते हैं। चित्र में इन दोनों व्यक्ति का चेहरा एक विशाल जगह घेरे हुए मकोड़े की तरह देखकर बहुत लोग पूछेंगे दोनों व्यक्ति का इस तरह मकोड़े की तरह चित्र लेने में क्या सार्थकता है? निर्देशक कहेगा "मैं वही तो दिखाना चाहता था,—निर्मम तानाशाही के जबड़े में यह आज कीड़े-मकोड़े की तरह क्षुब्ध हो गये हैं। इसमें हँसने की बात नहीं, सोचने की बहुत कुछ है।"

जो कुछ हो, चलचित्र की यह आलोचना यहाँ अप्रासंगिक नहीं है। नूतन कवि Symbol या रूपक की सहायता से चलचित्र की पद्धति पर जो काव्य निर्माण करते हैं वह 'रूपक' काव्य कहा जाता है। वहाँ भी दरार रहती है, और चलचित्र के दर्शक की तरह पाठक को वह दरार भरना होगी। चलचित्र के Camera angle की भाँति ही कवि वहिर्जगत पर दृष्टिनिक्षेप करते हैं, और विषय पर गुरुत्व आरोप करने पर दृष्टिनिक्षेप निर्भर करता है। फिर ऊपर जो सिनेमा बच्चों की रेलगाड़ी का उल्लेख है, विच्छिन्न भाव से देखने पर कवि के काव्य में उस तरह का अर्थहीन शब्द अथवा वर्णनारूपक कवि के काव्य में बहुत रहता है, कुछ तो केवल ध्वनि के लिये, कुछ भावाभिव्यक्ति के लिये, किन्तु कवियों का कहना है कि समस्त कविता की अनवच्छिन्न गतिरक्षा इस संयोजना से ही होती है। अन्तर का काम, आवेग, संवेदना कोमल अथवा कठोर शब्दों से अलंकृत रूप में काव्य में प्रस्फुटित होती है। कहीं मात्र स्वरों का आवर्त, ध्वनि की तरंग, अन्तर्छन्दों का प्रवाह रहता है, तो कहीं अस्तंगत इतिहास-जीर्ण कथा के साथ दुर्बोध्य पाण्डित्य, इन सबके ही मिलाने के लिये कवि मध्यस्थ (इलियट की भाषा में Catalytic agent) का कार्य करता है और उस अपूर्व संयोग से ही काव्य सृष्टि होती है।

अंग्रेजी में इस नवीन रूपक काव्य का जिन्होंने निर्माण किया है उनमें टी. एस. इलियट उल्लेख योग्य है। इलियट का काव्य संगीत प्रधान है। तरह तरह से काव्यिक

और अकाव्यिक शब्दों के द्वारा उन्होंने विभिन्न प्रकार से उनका आवेग और संवेदना प्रकट की है। इसके अतिरिक्त मृत्यु का स्वर भी उनकी कविता की एक विशिष्ठता है। उनके पाण्डित्य के कठिन स्पर्श में भी उनका काव्य अत्यन्त दुर्वह हो जाता है, और हमारे विचार से सहृदय पाठक उसके प्रचंड आघात से चक्कर खाकर वापस लौट आता है। इलियट की संसार प्रसिद्ध कविता The Waste Land में इस गुण समूह का सुन्दर काव्यिक समन्वय पाया जाता है। वेस्टलैण्ड का भाव वही है जो इलियट की अधिकांश कविता का है—यौन अक्षमता या प्रेम की विफलता के साथ आत्म-पराजय और अवनति का सम्बन्ध। इस भाव को तो अवश्य ही उन्होंने ख्याल गाने वालों की तरह सुर तान में प्रगट किया है। जो रोमान्टिक कहानी वेस्टलैण्ड का स्रोत है वह तामूर (Tammur), ओसिरिस (Osiris) और एडॉनिस (Adonis) की उर्व्वरता की आख्यायिका से ली गयी है। कहानी Fisher king की पौरुषहीनता दूर करने की है किस तरह उसने अपनी शक्ति वापस पायी और साथ साथ उसका मरुराज्य शस्यश्यामल हुआ। राजा की रोग मुक्ति के लिए Lance और Grail की खोज में Pure knight ने Chapel Perilous की यात्रा की। Lance और Grail लिङ्ग प्रतीक Phallic symbols अर्थात् जीवन प्रतीक हैं। उसके बाद Tiresias की कथा में तो कविता को और भी दुर्वह कर दिया है। टिरेसियस स्त्री पुरुष दोनों ही है, उसका भूत भविष्यत् अविदित नहीं है, उसे होमर के गीत और आगामी तीन हज़ार वर्ष का इतिहास भी उसी तरह ज्ञात है जैसे इलियट की तरह आधुनिक विद्वान् फ्रायड, फ्रेज़र दान्ते, ऋग्वेद, बौद्ध अग्निमंत्र आदि सब कुछ जानते हैं। इसके अतिरिक्त Tarot Pack ताशों की एक गड्डी है जिसे जिप्सी लोग आज की भाग्य गणना के लिये काम में लाते रहते हैं एवं उससे ही मिस्र के प्राचीन पंचांग में मिस्र नदी का ज्वार भाटा निर्द्धारित होता था। टेरट पैक Cup, Lance, Sword, Dish सबही Fertility symbol या उर्व्वरता के प्रतीक हैं।

इन सब पूर्वोक्त प्रतीक की सहायता से इलियट ने कभी एलिज़ाबेथ के राज-दरबार में और कभी समरोत्तर लंदन में वेस्टलैण्ड के दृश्य चुने। उनकी कविता में कभी तो नगर निवासियों के वीभत्स प्रेम का जघन्य आलाप सुना जाता है, कभी शीर्ण टाइपिस्ट का नीरस शब्द या कभी शानदार ड्राइंगरूम में किसी महिला का हिस्टीरिया में लुढ़कना। उसमें फिनीशिया और स्मर्ना की स्मृति है; दान्ते का नरक एवं आधुनिक प्रेमालाप है। इन सब हलके और गहरे संस्थान में से आर्केस्ट्रा की तरह हमारे कान में नैराश्य, असीम शून्यता और सर्वग्रासी व्यर्थता का सुर पहुँचता है। मानों यह ट्रॉय के प्राचीन गठन और एथेन्स के प्राचीर ध्वंस का संगीत—"The incoherence, the shabbiness, the emptiness of a loveless infertile world" हो।

Symbolist या रूपक काव्य के सिवा भी काव्य का एक और रूप प्रचलित हुआ, जिसे Imagist या चित्र काव्य कहा जाता है। कुछ लोग Imagism को Inverted symbolism कहते हैं, कुछ लोगों का कहना है कि Imagist लोग advocates of nudism in poetry हैं। एज़रा पाउन्ड इस चित्रधर्मी काव्य के

सर्व प्रधान प्रतिनिधि हैं। बाह्य या आन्तरिक विषय को प्रत्यक्ष रूप से देखना होगा और शब्दों के बाहुल्य का नितान्त परित्याग करना होगा। छन्द शब्द या मात्रा गिनने से न बनेगा किन्तु केवल गीत के स्वरों की तरह शब्दों के साथ मिलकर रहेगा। रूपक के कवियों की तरह द्रुतसंचरणशील प्रतिरूप समष्टि के स्पर्श से इमेजिस्ट कवि अपनी अनुभूति दूसरों के मन में जाग्रत नहीं करते, वे प्रत्यक्ष जगत् अथवा वस्तु के प्रचण्ड आघात में प्रतिरूप अथवा अनुभूति की सृष्टि करते हैं। इसीलिये Imagism को Inverted symbolism कहा गया है। एज़रा पाउन्ड के अतिरिक्त एमि लावेल और एच. डी प्रभृति अनेक कवि इस चित्रधर्मी काव्य के प्रेमी हैं।

इलियट ने मुक्ति की खोज में गिरजे के अभ्यन्तर में प्रवेश किया और वहाँ से मृत्यु का शान्तिपाठ अथवा धर्म का पुनर्जीवन सुनाया। पाउन्ड ने मानव को इतिहास, देश और काल से परे बुलबुले के समान देखा, जिसके आविर्भाव और अन्तर्धान की पुनरावृत्ति मात्र यह पृथ्वी करती रहती है। ज्वायस ने अवचेतना की गोधूलि अन्धकार में सुना स्पेंग्लर का चक्रावर्तन—बर्बरता और सभ्यता, सभ्यता और बर्बरता की यान्त्रिक गति; उसी गोधूलि अन्धकार से वह अतल अन्धकार में चले गये जो हमलोगों को अगम्य रहा। इन सबके मुँह से सुना कि यह पृथिवी, यह सभ्यता व्याधिग्रस्त है, मानव को शान्ति नहीं, अतः मुक्ति नहीं और व्याधि के निराकरण का उपाय भी नहीं। केवल व्यक्तिगत अनुभूति और संवेदना का सञ्चय लेकर अवचेतन मन के गोरखधंधे में घूमो और आवश्यकता होने पर गिरजे में वापस जाकर धर्म की आश्वासन-वाणी सुनाओ, अतीत के गौरव से गौरवान्वित होओ और वैसा न होने पर पथ के उन्माद के समान मूल्यहीन कहकर सब फूँक में उड़ा दो। यह वाणी मानव ने नहीं सुनी और न सुनेगा ही क्योंकि यह इतिहास की वाणी नहीं है। और न सभ्यता की ही वाणी है। इस श्रेणी के कलाकार कहेंगे, कलाकार को कभी मनुष्य ने समझा भी है! किन्तु यह आत्माभिमान आज जड़ है।

गतिशील इतिहास मानव सभ्यता के पथ पर जो वाणी सुना जाता है वह युग-मानव के कान में पहुँचेगी ही। पर वह वाणी युगान्तरकारी ही सुनते हैं, वे ही उसको सब मनुष्यों के समीप प्रतिध्वनित करते हैं और मनुष्य उसको ही सुनता है। अवश्य ही बृहत्तम मानवश्रेणी की परिधि में गतिशील जो रहता है वह द्रुतगामी इतिहास है। उसके चक्र के नीचे जो आ जाता है वह तो शायद प्रलाप ही सुनता है क्योंकि जो पिस जायगा वह चाहे गलत सुने, अर्थपूर्ण को अर्थहीन समझे पर इससे इतिहास को कोई हानि नहीं पहुँचती। इतिहास उस ओर दृष्टि फेर कर भी नहीं देखता। वह अपने ही नियम के अनुसार, धूलि और धूम्रजाल में से, रक्त का समुद्र पार कर, अट्टहास-विद्रूप और आर्तनाद को स्तब्ध कर तरंगित हो टेढ़ीमेढ़ी चाल से आगे ही बढ़ता है। पीछे घू कर नहीं देखता, अनवरत चलता ही चला जाता है।

सेसिल डे लुइस और स्टिफेन स्पेंडर के काव्य में इतिहास का वही स्वर सुनाई पड़ता है। ये शेली की तरह भविष्य का स्वप्न देखते हैं। यंत्रयुग के उपादान इनके काव्य की खूराक साज सज्जा उपमा और वक्रोक्ति जुटाते थे, पर साथ

ही इनके छन्द का शिञ्जन माधुर्य भी मुग्धकर था। ओडेन साम्यवादी समाज के लिये उतना व्यग्र न था जितना कि पूँजीवाद के ध्वंसावशेष पर तीक्ष्ण विद्रूपबाण प्रहार करने के लिये। भविष्य की ओर जब वह आँख उठाकर देखता है तो वहाँ केवल मध्यम-वर्ग के संकट की ही कहानी पर चिन्तित होता है और उनके हास्यास्पद काम देख कर विरक्त होता है। ओडेन के पास वही गुप्तचर, विमान-चालक, तोप तमंचा, भग्न गृह आदि का परिचय मिलता है।

स्पेंडर रोमांटिक कवि है। शेली की तरह उसकी दृष्टि भी भविष्य की ओर फैली है। उसकी कविता भी आशा, आकांक्षा, उद्दीपना के वे ही नूपुर बजा जाती है; बृहत्तम मानव के साथ साथ पैर मिलाकर एक साथ वह जययात्रा के लिये निकलता है। जिन्होंने इस पृथिवी को अभिशप्त किया, अभाव और अनाचार की मृत्यु यंत्रणा भोगने के लिये जिन्होंने आज्ञा दी, उनका केवल विरोध करके ही वह शान्त नहीं हुआ, अभिशप्तों का आह्वान करके उसने कहा—

> Oh comrades, step beautifully from the solid wall
> advance to rebuild and sleep with friend on hill
> advance to rebel and remember what you have
> No ghost ever had, immured in his hall

शेली के समान स्पेंडर भी कल्पना को जीवन्त रूप दे सकता था। किन्तु वह कल्पना जो असंभव नहीं है, अलीक नहीं; वास्तवतर, बृहत्तर और सत्य है। स्पेंडर के स्वप्न अथवा कल्पना का स्रोत वास्तविक जगत् ही है, उसी का समाज और सभ्यता है, यह उसके उपमा निर्वाचन से ही स्पष्ट है। वह रास्ते के मोड़ पर चलती गाड़ियों या बेकारों की भीड़ भी देखता है, युद्ध की साजसज्जा देखता है, विगत महायुद्ध की वेदनादायक स्मृति के साथ साथ आसन्न युद्ध की तैयारी उसके मन में भीति और घृणा का उद्रेक करती है, किन्तु फिर भी वह अपने साथियों से कहना नहीं भूलता :

> Drink from here energy and only energy
> As from the electric charge of a battery

स्पेंडर के साथ ही डे लुइस का साहस भी खूब अधिक था। डे लुइस का विश्वास था

> Men shall be glad of company, love shall be more than
> a guest;
> And the bond no more of paper.

इसके साथ इलियट के अल्फ्रेड प्रूफ्रॉक के उत्कट नैराश्य I have measured my life with coffee spoons से तुलना करने से मालूम पड़ता है कि समुद्र की उत्ताल तरंगों के कल्लोल के पास ही जैसे कुतिया की अस्पष्ट नाक की आवाज़ सचमुच ही सुनाई पड़ती हो—The world ends not with a bang, but with a whimper. इस रुदन को सुनकर दया करने के अतिरिक्त और चारा ही क्या है? क्योंकि आजकल चारों ओर रेक्स वार्नर के Hymn की प्रतिध्वनि है—

> ....this is the spring of blood
> Heart's heyday, movement of masses, beginning of good.

सोवियत् रूस में युद्धकालीन संस्कृति

[सज्जाद ज़हीर]

२२ जून सन् ४१ को हिटलर के अचानक हमले ने सोवियत यूनियन की सारी ज़िन्दगी में एक क्रान्तिकारी उथल-पुथल मचा दी। सोवियत जातियों के शान्तिमय रचनात्मक जीवन का यकायक खातमा हो गया। सोवियत समाज के सामने मृत्यु और जीवन का प्रश्न खड़ा हो गया। या तो जंग में कामयाबी हासिल करके मातृभूमि को फासिस्टी बर्बरता से बचाया जाये और स्वतंत्रता और समानता के सिद्धान्तों को जीवित रखा जाये, या फिर रूसी क्रान्ति और उसके बाद के २४ वर्षों के कठिन परिश्रम द्वारा निर्मित महान् सभ्यता को जो तमाम दुनिया के लिए मिसाल बन गयी थी, हिटलरी भेड़िए की भेंट चढ़ा दिया जाये। सोवियत रूस ने फ़ैसला किया कि ऐसा नहीं होगा। उसने तय किया कि अपनी क़िस्मत का फैसला खून के प्यासे फासिस्ट वहशियों के हाथ में नहीं सौंपेगा। वह अपना वह हश्र नहीं होने देगा जो फ़ान्स का हुआ। उसने नाजियों पर पूर्ण विजय प्राप्त करने का निश्चय किया। अब सोवियत रूस के जीवन का प्रत्येक अंग इस उद्देश्य की प्राप्ति का एक साधन बन गया है। स्टालिन ने ऐलान किया कि शान्तिमय रचनात्मक तरीके जो युद्ध के पहले सर्वथा उचित थे, यदि वर्तमान परिस्थिति में इस्तेमाल किये गये, जब कि युद्ध ने हालत बिल्कुल बदल दी है, तो वे हमारी बर्बादी के कारण बन जायेंगे। मोर्चे की आवश्यकता देश की अन्य सब आवश्यकताओं के ऊपर हो गयी। देश की फ़ौजी ताकत को बढ़ाना प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वर्ग और सरकार के प्रत्येक विभाग का कर्तव्य हो गया। इसके लिए न केवल यह आवश्यक था कि अधिक से अधिक युद्ध-सामग्री तैयार की जाये, अधिक से अधिक फौज की ट्रेनिंग की जाये, फौज और जन-साधारण के खाने-पीने की व्यवस्था की जाये, ग़ैर-फौजी आबादी को ख़तरे के क्षेत्रों से हटाकर सुरक्षित स्थानों में पहुँचाया जाये, जीवनोपयोगी वस्तुओं की पैदावार को बढ़ाया जाये, बल्कि यह भी आवश्यक समझा गया कि देश के सब विद्वान, वैज्ञानिक, साहित्यिक, लेखक और कवि, थियेटर सिनेमा नृत्यकला और संगीत के विशारद, चित्रकार, आदि अपनी समस्त योग्यता का उपयोग युद्ध में विजय प्राप्त करने के निमित्त करें। सोवियत विद्वानों ने स्वयम् यह अनुभव किया कि ऐसे नाजुक मौके पर जब कि उनका वजूद ही ख़तरे में है, जब कि उस समाज व्यवस्था पर ही हमला किया गया है जिस पर सोवियत सभ्यता और संस्कृति का भव्य भवन खड़ा है तो उनका कर्तव्य होता है कि देश के अन्य लोगों के साथ वे भी देश रक्षा के लिए तत्पर हो जाएँ।

\+ + + +

सोवियत के सैकड़ों उपन्यास-और नाटक-कार, कहानी, लेखक, कवि और साहित्यिक इस वक्त युद्ध के मोर्चे पर हैं। वे युद्ध की आँखों देखी घटनाओं के रिपोर्ताज (वर्णन), लेख और संक्षिप्त वक्तव्य आदि सोवियत के पत्रों के लिए लिख रहे हैं। उनके जोशभरे और रोमांचकारी लेख युद्ध भूमि की खाइयों से लेकर

कारखाने के मज़दूरों और सामूहिक खेती के किसानों तक पहुँचते हैं। और उनमें अपने देश की रक्षार्थ बड़े से बड़ा त्याग करने की भावना पैदा करते हैं। सोवियत लेखकों के संघ की लेनिनग्राड शाखा के सौ से अधिक सदस्य इस समय जंगी अखबारों के स्टाफ़ में शामिल हो चुके हैं। मशहूर रूसी उपन्यास-लेखक शोलोखोफ़, एलिया एरेनबुर्ग, एलेक्सी टॉलस्टाय, जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त की है, भी अक्सर युद्ध के मोर्चों पर जाकर अपने अनुभव पत्रों में प्रकाशित करते हैं। सोवियत के कवि भी किसी से पीछे नहीं हैं। और नाटककार कोस्तान्तिन सिमोनोफ़ आर्कटिक (ध्रुव उत्तर) के बर्फ़ीले इलाकों से लेकर अमूर सागर के तट तक गश्त कर चुका है। जहाँ युद्ध सबसे भयंकर होता है वहीं पर वह भी पहुँचता है। सिमोनोफ लाल सेना के पत्र "लाल सितारे" के सम्वाददाता की हैसियत से लेख लिखता रहता है। उसने शायरी तर्क नहीं की है, और न ड्रामा-नवीसी ही छोड़ी। युद्ध के संबंध में उसका एक नाटक "रूसी लोग" इस वक्त सोवियत के थिएटरों में खेला जाता रहा है, और बहुत ज्यादा पसन्द किया गया है। सिमोनोफ के लेखों का संग्रह "बेरेन्ट्स सागर से अमूरसागर तक" पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ है। संघ के सम्बंध में बहुत-सी किताबें, आँखों देखी घटनाएँ कहानियों और उपन्यासों के रूप में प्रकाशित हो रही हैं। लीडन और मारियेता शागिनियान ने मास्को की रक्षा के संबन्ध में पुस्तकें लिखी हैं। लीडन की पुस्तक का नाम है, "१९४१ के जाड़े में"। उसमें मास्को पर जर्मन हमले की आँखों देखी घटनाओं का वर्णन दिया गया हैं। मास्को पर गंभीर संकट, और फिर जर्मनों की पराजय और सोवियत का जवाबी-हमला, जर्मन घायलों और जाड़े से मरे हुए सिपाहियों और टैंकों, तोपों और अन्य युद्ध-सामग्री के ढेर, ज़िन्दा लोगों को छोड़कर जर्मन फ़ौजों का भागना—इन तमाम बातों का नकशा उन किताबों में खींचा गया है। शागिनियान की किताब का नाम "एक मास्कोवी की डायरी" है। इस किताब में जंग के दिनों में मास्को की जिन्दगी का नक्शा खींचा गया हैं। उसमें दिखाया गया है कि मास्को के मज़दूर मर्द और औरतें किस लगन से कारखानों में काम करते हैं। उसमें दिखाया गया है कि मास्को के पुस्तकालयों में जानेवाले अब वे लोग नहीं जो युद्ध के पहले जाते थे। उनमें से ज्यादातर तो मोर्चों पर चले गये हैं। उसमें बम से बचने के लिए रक्षास्थानों में बैठे हुए मज़दूरों की आपस की बातचीत दी गयी है। इस तरह संकट के इस ज़माने में मास्को निवासियों के जीवन की झाँकी हमें इस किताब में मिलती है और हम अन्दाजा लगा सकते हैं कि सोवियत राजधानी के बाशिन्दों ने किस आश्चर्य-जनक वीरता का प्रदर्शन करके जर्मनों को शिकस्त दी और अपने शहर को बचा लिया। एक सोवियत कवि, एलेक्जेण्डर ज़हारोफ़ ने जिसने लड़ाई के प्रारंभ ही से कभी सोवियत फ़ौजों के साथ और कभी सोवियत बेड़े के साथ जंगी हालात का ज़ाती तजुर्बा किया है, कहता है कि बीस वर्ष के कवि जीवन में उसे कभी इतनी क्रियात्मक प्रेरणा नहीं प्राप्त हुई थी जितनी युद्ध के दिनों में हो रही है। एक दूसरा कवि एलिया सेलोन्स्की सिबास्तोपोल के घेरे के समय न सिर्फ़ उस शहर

में मौजूद था, न सिर्फ़ उसने वहाँ की जिन्दगी बसर की, बल्कि उसने जंग में हिस्सा भी लिया। सेलोन्सकी ने जंग के मुतल्लिक कई उम्दा नज़में लिखी हैं, उसकी एक कविता में, जिसका शीर्षक है "मैंने अपनी आँखों से देखा है" फ़ासिस्टों के अत्याचारों का दिल हिला देने वाला वर्णन मिलता है। सोवियत की ग़ैर-रूसी जातियों के कवि भी युद्ध से प्रभावित होकर कविताएँ लिख रहे हैं। प्रसिद्ध तातारी कवि, जम्बूल, की कविता "स्टालिन की आवाज" एक महान साहित्यिक कृति है। हैदराबाद के नौजवान कवि 'मख़दूम' ने इस कविता का उर्दू में अनुवाद किया है। सोवियत में विदेशी फ़ासिस्ट-विरोधी लेखकों की किताबों के अनुवाद भी बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित किये जा रहे हैं। प्रसिद्ध फ़ासिस्ट-विरोधी जर्मन लेखक बर्ट ब्रेक्ट की किताब ".ज़ुल्म की तालीमगाह" छापी गई है। थियोडीर प्लीवियर, एक दूसरा जर्मन लेखक, जिसके क्रान्तिकारी उपन्यास अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, की किताब, "केवल एक घटना" भी हाल में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में १९३२ ई० में हिटलर और गोरिंग की साज़िश से जर्मन पार्लियामेंट की इमारत में आग लगाने और उसके बारे में दूसरी घटनाओं का वर्णन है। हंगरी के एक लेखक, बेला बालाश की भी किताबें निकली हैं। इनमें से एक में कारपेथियन यूक्रेन में और दूसरे में हालैण्ड में नाजियों के अत्याचार बताए गये हैं। जहाँ विदेशी लेखकों की किताबों के अनुवाद प्रकाशित हो रहे हैं, वहाँ रूसी लेखकों की पुस्तकें विदेशी भाषाओं में भी छापी जा रही हैं। इलिया एरेनबुर्ग की किताब "क़ैदी पेरिस", यरमेलोफ़ की किताब "फासिस्टों का शत्रु गोर्की", फ़ादियेफ़ की किताब "फर्सवे, गृहयुद्ध के दिनों का एक वीर" के अनुवाद जर्मन भाषा में प्रकाशित हो चुके हैं। कातायेफ़ की किताब, "सीमान कोटको" का अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

सोवियत के कवियों और संगीतकारों ने जंगी गीतों की ओर भी ध्यान दिया है। गीत, कविता और संगीत के सामञ्जस्य से तैयार होता है। गीतों के द्वारा जनता की भावनाओं को बहुत जल्दी अनुप्राणित किया जा सकता है। और अगर गीत अच्छा हो, उसमें सचाई हो, और वह किसी जाति या वर्ग की सर्वश्रेष्ठ भावनाओं को व्यक्त करता हो तो उससे बड़े बड़े काम लिये जा सकते हैं। यह मशहूर बात है कि फ्रांसीसी क्रांतिकारियों के प्रसिद्ध गीत "मारसाईज़" ने क्रांतिकारी सेना और फ्रांस की जनता के जोश को ऐसे वक्त में ऊपर उठाया था जब कि प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने पेरिस को ख़तम कर देने के लिये उसको चारों तरफ से घेर लिया था। नैपोलियन जैसे जनरल ने कहा कि यह एक गीत हजारों सिपाहियों के बराबर है। मगर गीत सबसे ज़्यादा प्रभावशाली तभी होता है जब उसकी बुनियाद किसी ऐसे ज़ोरदार और पुरख़लूस जज़्बे पर हो जो किसी बहुत बड़ी मसर्रत के असर से किसी बहुत बड़ी मुश्किल, किसी बहुत बड़ी जद्दोजहद के वक्त इंसानों के दिल से चश्मे की तरह फूट निकले। चुनांचे सोवियत में ऐसा ही हुआ। फ़ासिस्ट हमले के पहले ही दिन से सोवियत कवियों और संगीतकारों ने पुरजोश तराने लिखने शुरू किये जिनका मक़सद सोवियत फ़ौजों और सोवियत जातियों के देशभक्ति के

जज़्बे को बेदार करके, जाँबाज़ी और दिलेरी के कारनामे करने के लिये आमादा करना था। कुछ जनप्रिय गीतों के शीर्षक इस प्रकार हैं : "हिटलर ख़तम हो गया"—यह गीत फ़ासिस्ट आक्रमण के दूसरे ही रोज लिखा गया और मास्को के संगीतज्ञों के पत्र के विशेष अंक और "सोवियत आर्ट" नामक पत्र में प्रकाशित किया गया। लेनिनग्राद के कवि सावानोफ़ ने 'हम शपथ लेते हैं' के शीर्षक से एक गीत लिखा और विश्व-विख्यात संगीतज्ञ शोस्ताकोविच ने उसको स्वर दिया। सोवियत के एक और गीत लिखने वाले मुरादअली, जो संगीतकला के भी विशारद हैं, के एक गीत का शीर्षक है, "देश और स्तालिन के नाम पर"; उनका एक दूसरा गीत है, "हम समुद्र यात्रा को चले"। इसी तरह और बहुत से नाम गिनाये जा सकते हैं। एक बहुत जन-प्रिय गीत है जिसमें सोवियत समुद्री बेड़े के मल्लाहों की अपने घरों से विदाई का ज़िक्र किया गया है। उसके शब्द हैं :

भाइयो, आओ हम खूब ऊँचे सुरों में गायें,
जब ऐसी शाम हो तो गाना ही चाहिये
अपने चाहने वालों के और समुन्दर के मुतअल्लिक़
और अपने उस घर के बारे में जिसकी याद हमें हमेशा सतायेगी।

कहा जाता है कि इन गानों में इतनी हरारत है और उनके नग़में इतने सुरीले हैं कि वे सारे देश में आग की तरह फैल जाते हैं।

सोवियत साहित्यिक इस तरह के कामों में व्यस्त हैं तो इसके माने यह नहीं हैं कि अब वहाँ महान साहित्यिक कृतियों की रचना नहीं होती या गम्भीर पुस्तकें नहीं लिखी जातीं या खोजबीन या अध्ययन का काम बिलकुल ख़तम हो गया है। यह सच है कि युद्ध की आवश्यकताओं के ख़याल से अधिकतर साहित्यिक इस समय ऐसे कामों में लगे हुए हैं जिनका युद्ध से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, लेकिन सोवियत का वह सांस्कृतिक प्रयत्न भी जारी है जिसका युद्ध से कोई सीधा सम्बंध नहीं है। चुनांचे सोवियत अख़बारों में साहित्य, इतिहास, पुरातत्व-विज्ञान, कानून, और पूर्वी देशों के विषय में नई पुस्तकों की आलोचनाएँ पाई जाती हैं। इस सिलसिले में सोवियत साहित्यिक "चान" के उपन्यास "चंगेज़ ख़ाँ" का सोवियत पत्रों में ज़िक्र किया गया है। चान को ऐसा उपन्यास लिखने के लिये सोवियत ने वह इनाम दिया है जो स्तालिन के नाम पर है। यह इनाम सोवियत में ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है जिसने कोई महत्वपूर्ण काम किया हो। इस उपन्यास में सात सौ साल पहले की घटनाएँ बहुत रोचक रूप से वर्णन की गयी हैं। लेखक ने बहुत दिलचस्प तरीके से ख़ारज़्म की इस्लामी रियासत, समरक़न्द, बुख़ारा, मर्व और अरगंश की अंदरूनी कैफ़ियत की तसवीर खींची है और दिखाया है कि यह सभ्य और सुसंस्कृत इस्लामी देश अन्दरूनी झगड़ों की वजह से चंगेज़ ख़ाँ और उसके ख़ूनी मंगोलों के शिकार हो गये। उपन्यास का एक पात्र, दुर्वेश हाजी रहीम एक जगह कहता है :

"अगर ख़ारज़्म के तमाम बाशिन्दों ने एक होकर अपनी शमशीरे ग़ज़ब अपने दुश्मनों पर उठाई होती तो—मंगोल और उनकी लाल दाढ़ीवाले बादशाह (चंगेज़ ख़ाँ)

ख़ारज़्म पर छः महीने के लिये भी क़ाबिज़ न हो सकते। उनको मजबूर होकर अपने दूरदराज़ के मैदानों को वापिस लौटना पड़ता और फिर वह हमेशा के लिये वहीं रहते।"

इस योग्य लेखक ने इस किताब में न सिर्फ़ १२१५ ई० और उसके बाद की भयानक घटनाओं, दरबारी साज़िशों, इस्लामी संसार के सभ्य और सुसंस्कृत देशों के राज्यों के आपसी झगड़ों और अनैक्य का चित्र खींचा जिसकी मिसाल आधुनिक पश्चिमी योरुप से दी जा सकती है, बल्कि अपनी ज़ोरदार लेखनी से एकता का सबक़ भी हमें सिखाया है। जो काम ख़ारज़्म ाही से न हो सका वह सोवियत यूनियन ने कर दिखाया। वहाँ आपसी फूट की वजह से चंगेज़ ख़ाँ संसार की एक श्रेष्ठ सभ्यता को नष्ट कर देने में सफल हो गया। यहाँ सोवियत जातियों की दृढ़ एकता ने हिटलर की कमर तोड़ दी।

इस विषय में सोवियत की शिक्षा और पूर्वी देशों के साहित्य एवं भाषाओं के सोवियत विद्वानों की चर्चा भी अनुचित नहीं होगी। हाल में सोवियत की "एकेडमी आफ़ साइंस" की ओर से एक लम्बा तार हमारे प्रसिद्ध वैज्ञानिक, सर चन्द्रशेखर रमण के पास आया है, जिसमें सोवियत रूस के उन कामों की चर्चा की गयी है जो हिन्दुस्तान के प्राचीन एवं आधुनिक साहित्य से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक हिन्दुस्तानी यह बात बहुत दिलचस्पी से सुनेगा कि प्राचीन संस्कृत और पाली पुस्तकों का रूसी भाषा में अनुवाद किया गया है। और प्राचीन हिन्दू और बौद्ध सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में रूसी विद्वान अनुसंधान कर रहे हैं और इनके विषय में बहुत-सी पुस्तकें भी लिखी गयी हैं। टैगोर की बहुत-सी किताबों का रूसी और सोवियत की दूसरी भाषाओं में अनुवाद हो गया है और वे सोवियत संघ में बहुत जन-प्रिय हैं। तुलसीदास की रामायण और लल्लूलाल के प्रेमसागर का अनुवाद भी पूरा हो गया है। आधुनिक उर्दू साहित्य के संकलन प्रकाशित किये गये हैं। उर्दू, तामिल, बंगला और मराठी के व्याकरण रूसी भाषा में तैयार हुये हैं। आधुनिक हिन्दुस्तानी भाषाओं के विद्वान प्रोफ़ेसर बारानीकोफ़ और उनके साथियों का इल्मी काम अब भी जारी है। आज़रबाइज़ान की ख़बर है कि वहाँ फ़ारसी के प्रसिद्ध कवि निज़ामी गंजवी की "मख़ज़ने असरार" नामक काव्य-पुस्तकों की एक अप्राप्य हस्तलिखित प्रति मिली है। सोवियत राज्य ने इस किताब का एक नया चित्रमय संस्करण प्रकाशित किया है, जिसका अनुवाद रूसी भाषा में किया गया है। यह अनुवाद मारियेता शागिनयान ने गत वर्ष किया था जब कि सोवियत रूस में निज़ामी की आठसौवीं बरसी मनाई गई थी।

ताशकंद की कुछ साहित्यिक ख़बरें भी हमारे लिये ख़ास दिलचस्पी रखती हैं। यहाँ की लाइब्रेरी में फ़ारसी और तुर्की भाषाओं की प्राचीन पुस्तकों की पचास हज़ार से अधिक हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्रित की गई हैं। सोवियत का विद्या से प्रेम और मध्य एशिया की जातियों के साहित्यिक नवजागरण का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि युद्ध-काल में भी सोवियत की शिक्षा संस्थाएँ, प्राचीन विद्याओं की पुरानी किताबें सोवियत के कोने-कोने से ढूँढ़कर पुस्तकालयों में बाक़ायदा जमा

करती हैं। उनमें से कुछ ऐसी पुस्तकें हैं जो मध्य-युग की इस्लामी सभ्यता और संस्कृति के उज्ज्वल दृष्टांत हैं। इन किताबों का रूसी और दूसरी भाषाओं में अनुवाद किया जा रहा है। यहाँ पर हम कुछ ऐसी पुस्तकों का जिक्र करते हैं जो इस ज़माने में ही प्राप्त हुई हैं, और जिनके प्रकाशन और अनुवाद का अभी कुछ दिन हुए प्रबन्ध किया गया है।

ताशक़ंद के सरकारी पुस्तकालय को शर्फुद्दीन यज़दी की प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक "तैमूर नामा" की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। यह लेखक तैमूरलंग का समकालीन था। उसने इस किताब में तैमूर की विजयों का सविस्तर वर्णन किया है। यह प्रति १४३६ ई० में लिखी गई थी। इस पुस्तकालय में उबेदुल्ला इब्ने क़ासिम की एक प्रसिद्ध अरबी किताब मौजूद है। यह किताब सन् ९५५ ई० में लिखी गयी थी और इस्लामी धार्मिक पुस्तकों में इसे बहुत उच्च और पूज्य पवित्र माना जाता है। पुस्तकालयों के अधिष्ठाता ए० ए० उस्मान ने एक अख़बार के सम्वाददाता को बयान देते हुए कहा कि उनकी देखरेख में प्रसिद्ध अरबी यात्री, याक़ूत की पुस्तक "मौअज्जम फ़ी बलादिलअज़म" का अनुवाद किया जा रहा है। इस्लामी संस्कृति के विद्वान जानते हैं कि यह किताब संसार की ऐतिहासिक और भौगोलिक पुस्तकों में एक बुनियादी पुस्तक मानी जाती है। याक़ूत ने तमाम मिस्र, शाम, अरब, उत्तरी अफ्रीका और मध्य-एशिया का सफर करके तमाम बड़े बड़े शहरों के हालात इस किताब में लिखे हैं। यह किताब तेरहवीं शताब्दी के इस्लामी संसार के बारे में मालूमात का एक बहुमूल्य कोष है। अभी तक याक़ूत का अनुवाद किसी योरुपीय भाषा में नहीं हुआ था। अब यह काम सोवियत सरकार की ओर से हो रहा है। एक और किताब है जिसका अनुवाद किया जा रहा है। हम हिन्दुस्तानियों के लिये उसका विशेष महत्व है। यह बाबर का आत्मचरित है। सौ वर्ष हुए इसका अनुवाद जर्मन और अंग्रेज़ी भाषाओं में हुआ था मगर उसमें बहुत से दोष थे। अब उसका प्रामाणिक अनुवाद हो रहा है।

× × × ×

युद्ध के ज़माने की महत्वपूर्ण समस्या यह थी कि सोवियत संघ के उन इलाकों के साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन को कैसे बरक़रार रखा जाय, जहाँ इस समय शत्रुओं का क़ब्ज़ा हो गया है। हम जानते हैं कि सोवियत सरकार ने किस तरह अपने कारखानों की मशीनों और ऐसे हर प्रकार के सामान को, जिससे शत्रु को युद्ध में फ़ायदा पहुँच सकता था खतरे के स्थानों से हटा कर दूर-दराज़ के उन इलाकों में पहुँचा दिया जहाँ उनसे दोबारा काम लेकर राष्ट्रीय उत्पादन में अधिक से अधिक उन्नति की जा सकती थी। जिस तरह औद्योगिक सामान को हटा लिया गया उसी तरह साहित्यिक, वैज्ञानिक संस्थाओं को भी सोवियत सरकार ने हटा कर ऐसे स्थानों में पहुँचा दिया जहाँ वे अपने काम बिना किसी रुकावट के जारी रख सकती हैं।

यूक्रेन सोवियत का वह प्रदेश है जो औद्योगिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत आगे बढ़ा हुआ है। इस देश पर फ़ासिस्ट अधिकार हो जाने से सोवियत को बहुत

नुक़सान पहुँचा है लेकिन यूक्रेन के साहित्यिक, कवि, लेखक, वैज्ञानिक, अधिकृत यूक्रेन से निकलकर सोवियत के दूसरे इलाकों में वक्ती तौर से जा बसे हैं। वे अपनी सम्पूर्ण मानसिक शक्ति का इस्तेमाल अपने देश को शत्रु के नापाक क़ब्ज़े से छुड़ा लेने के लिये कर रहे हैं। यूक्रेनी लेखकों का केंद्र इस समय बाशकीर प्रजातंत्र की राजधानी ऊफ़ा है। यहाँ से यूक्रेनी भाषा में पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। हाल में मशहूर यूक्रेनी लेखक, अलेक्जांडर कौरनेचिक की पुस्तक "यूक्रेन के गेरिला सिपाही" निकली है जो बहुत पसंद की गई है। यूक्रेनी कवियों के संग्रह, नाटक, और यूक्रेनी साहित्यिक पत्रिकाएँ भी यहाँ से प्रकाशित हुई हैं। यूक्रेनी लेखक संघ ने युद्ध के विषय में एक पुस्तकमाला निकालनी शुरू की है। पुस्तकमाला का नाम "युद्ध का मोर्चा और पीछे का प्रदेश" है। इस माला की अठहत्तर किताबें प्रकाशित हो चुकी थीं। बहुत से यूक्रेनी कवि और साहित्यिक यूक्रेनी सेनाओं के साथ रूस के दक्षिणी मोर्चे पर मौजूद हैं। बहुत से युद्ध में भाग भी ले रहे हैं। एक यूक्रेनी कवि मकोला बाज़ान ने युद्ध के मोर्चे पर एक लम्बी कविता लिखी है। इस काव्य में १८३५ ई० की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है जब एक यूक्रेनी राजकुमार के नेतृत्व में जर्मन आक्रमणकारियों को परास्त किया गया था। लेकिन जहाँ यह सच है कि अधिकतर यूक्रेनी साहित्यिक इस समय तनमन से युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हैं और उनकी कृतियों में युद्ध की किसी न किसी बात का वर्णन होता है, वहाँ प्राचीन महान ग्रंथों को भी नहीं भुलाया गया है। चुनांचे युद्ध काल में भी यूक्रेन के सबसे बड़े राष्ट्रीय कवि टारस शेवचिंको की कविताओं के संग्रह की एक लाख प्रतियाँ निकली हैं, और दूसरे पुराने लेखकों की पुस्तकें भी निकली है और इस ज़माने में भी पढ़ी जाती हैं।

बाल्टिक सागर के देशों के साहित्यिक भी चुप नहीं बैठे हैं। हज़ारों लाखों एस्टोनी, लैट, लिथुएनी, इस समय अपने देशों को जर्मन दासता से मुक्त कराने के लिये सोवियत की लाल सेना में लड़ रहे हैं और इन देशों में गेरिला जत्थे जर्मनों को चैन से नहीं बैठने देते। इन जातियों के कवि, कहानी लेखक और साहित्यिक अपनी किताबों में अपनी जाति के स्वतंत्रता की लड़ाई की घटनाओं का वर्णन करते हैं और इस तरह शत्रु पर विजय प्राप्त करने में अपनी जाति की सहायता करते हैं। लाटविया के एक कवि की कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिसका नाम "लाटविया जिन्दा है।"

\+ + + +

ग़रज़, वह मध्य एशिया के ताज़िक, तुर्कमान या उज़बेक हों, क़फ़क़ाज़ के आज़रबाइजानी, जियार्जी, या अर्मनी हों, या रूसी, श्वेत रूसी, यूक्रेनी हों, या बाल्टिक के देशों के निवासी हों, सोवियत यूनियन की तमाम एक सौ ग्यारह भाषाओं में लिखने वाले साहित्यिक वहाँ की तूफ़ानी ज़िन्दगी के थपेड़े खा रहे हैं और अपनी क़ौम के आग्नेय जीवन से अनुप्राणित होकर एक ऐसे साहित्य की रचना कर रहे हैं जो सोवियत भूमि के बीस करोड़ नर-नारियों की तात्कालिक मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करके उन्हे ध्येय-पूर्ति और विजय का मार्ग दिखाता है।

सोवियत संघ का एक प्रसिद्ध साहित्यिक इलिया एरेनबुर्ग कहता है :

आज इतिहास का देवता तुला और रोस्तोफ़ के आसपास मैदानों में रम रहा है। दुःखान्त गाथाओं का देवता आज यूरोप के श्मशान में चक्कर काट रहा है। कविता की देवी रणक्षेत्र में सैनिकों का आह्वान कर रही है। युद्धकाल में जनता को हम सबकी ज़रूरत होती है—झण्डा ले चलने वालों की भी और बिगुल बजाने वालों की भी।...... अपने उज्ज्वल भविष्य के ख़याल से मौन रहने, इतिहास में जाने के ख़याल से वर्तमान में जड़ और निःशब्द रहने से अधिक भयानक कोई चीज़ नहीं हो सकती। ऐसे समय में मौन और निःशब्द रहने वालों पर इतिहास थू थू करेगा। इतिहास निश्चल और निष्क्रिय रहनेवालों की ओर दृष्टि भी नहीं डालेगा। फिर, आओ, हम भी इस महापर्व में शामिल हों, सक्रिय और युद्धरत हों। आओ हम भी गर्द और खून में लथपथ हों, क्योंकि ये ही कूच करती हुई जनता के लिबास हैं।

जनता के फ़ासिस्त-विरोधी युद्ध में लेखक—स्पेन से सबक़

[महादेव साहा, अमृतराय]

जनता के युद्ध की एक बदली हुई तसवीर आज हमारे सामने है। पिछले साल इन्हीं दिनों सोवियत् मोर्चे पर जर्मन फ़ासिज़्म की जीतें हो रही थीं। जान और माल के अकूत नुक़सान के बावजूद हिटलर ख़ारकोफ़ और रोस्तोफ़ लेकर स्तालिनग्राद की ओर बढ़ रहा था और कोहक़ाफ़ में माइकोप के बाद ग्राज़नी और बाकू के तेल की ओर और हिन्दुस्तान की ओर बढ़ रहा था। अफ्रीका में भी उसके पैर मज़बूती के साथ जमे हुए थे। पूरब में जापान ने प्रशान्त में अपने पैर जमा लिए थे। पूरब और पच्छिम से हिन्दुस्तान पर फ़ासिस्ट हमले का ख़तरा पैदा हो गया था। भविष्य एकदम अँधेरा था ; जन शक्ति में जिनका विश्वास नहीं था, उन्होंने समझा कि मानवता के लिए दूसरा अंधकारयुग अब शुरू होगा।

लेकिन उसी के बाद आज स्तालिनग्राद, जिसने हिटलरी सपनों को राख कर दिया। स्तालिनग्राद ने मानवता को उसके सबसे हिंस्र दुश्मन से हमेशा के लिए बचा लिया। वहीं पर यह चीज़ हमेशा के लिए तै हो गई कि दुनियाँ आज़ाद होगी, चाहे इसके लिए उसे जो क़ीमत चुकानी पड़े। और यह साल जब कि विश्व की जनता का फ़ासिस्त-विरोधी युद्ध अपने दूसरे वर्ष में पैर रखने जा रहा है हर जगह जनता की जीत का दृश्य दिखलाता है। सोवियत् संघ में जर्मन फ़ासिज़्म की हार अनिवार्य है, यह अब अधिकांश लोग देखने लगे हैं। जिन्हें सोवियत् की शक्ति पर रत्ती भर विश्वास नहीं था, वे भी लाल फ़ौज और सोवियत् जनता के दहला देने वाले चट्टानी प्रतिरोध को अचरज के साथ आँखें मलमल कर देखते हैं और यह स्वीकार करने पर मजबूर होते हैं कि जनशक्ति के आगे कोई ताकत टिक नहीं सकती। सोवियत् संघ में फ़ासिस्त भेड़िये शेर और बबर से मुक़ाबिला होने पर अब कुत्तों की तरह दुम दबाकर भाग रहे हैं। तीन महीने में सोवियत् को रौंद डालने के उनके सपने उनसे कभी के विदा हो चुके। उनकी जगह अब दूसरे सपनों ने ले ली है: सोवियत गेरिलों के अचानक हमलों के सपने उनकी नींद तोड़-तोड़ देते हैं। अँधेरे से उन्हें ख़ौफ़ मालूम होता है, दहशत उनकी रग-रग में समाई रहती है और बिजली और फ्लेयर की रोशनियों से रात को दिन बनाने की कोशिश में ही उनका सारा वक्त जाता है। छापेमारों की संगीनें और दस्ती बम नींद में भी उनका पीछा करते हैं।

ट्यूनीसिया में मित्रराष्ट्रों की जीत ने यूरोप में दूसरे मोर्चे का रास्ता साफ़ कर तो ऐसे वक्त जब लड़ाई के मोर्चे पर फ़ासिज्म के खिलाफ और जनता के फ़ासिस्त-विरोधी मोर्चे में छुरा भोंकनेवाले हिटलरी दलालों के खिलाफ़ सोवियत जनता के नेतृत्व में विश्व की जनता की जीतें हो रही हैं, हमारे लिए इंटरनेशनल ब्रिगेड के उन बहादुर सिपाहियों की याद करना ज़रूरी है जिन्होंने स्पेनी प्रजातंत्र को फ्रैंको के विद्रोह के खिलाफ़

जर्मन और इटालियन फ़ासिज़्म से बचाने के लिए अपनी जान दी; जिन्होंने मैड्रिड की लड़ाई में जनशक्ति का पहला असली परिचय दिया जिसका और भी निखरा हुआ रूप हमें स्तालिनग्राद में मिला; जिन्होंने क़लम और बंदूक़ और मशीनगन से लड़कर फ़ासिस्त जल्लादों के ख़िलाफ़ मानव संस्कृति की रक्षा करनेमें अपने प्राणों की आहुति दी, जो हँसते-हँसते मौत से गले मिले क्योंकि फ़ासिस्त ताऊन से मानवता को बचाने में वे खेत रहे थे, क्योंकि फ़ासिस्त राक्षसों को नेस्तनाबूद करने के पुनीत यज्ञ में उन्होंने अपने को होम कर दिया था। एक मतलब में स्पेन में लड़नेवाली इंटरनैशनल ब्रिगेड, सोवियत् और चीन के लड़ाकों से भी ज्यादा हमारी श्रद्धा का पात्र है क्योंकि वह सिद्धान्तों की रक्षा के लिए लड़ी थी। सोवियत् में लड़नेवाले लोग, आम जनता और लेखक-कलाकार सभी किन्हीं ठोस चीज़ों के लिए लड़ रहे हैं, अपनी ज़मीन, अपने कल-कारखानों के लिए लड़ रहे हैं, उस सच्ची आज़ादी को बचाने के लिए लड़ रहे हैं जिसे उन्होंने अपना रक्त देकर हासिल किया, मर मर कर इन पचीस वर्षों में उन्होंने मज़बूत किया। वे एक ठोस चीज़ के लिए लड़ रहे हैं। आज़ादी उनके लिए सिर्फ़ एक मीठा सा शब्द नहीं, बल्कि एक ठोस चीज़ है, जिसे वह अपने चारों ओर की समृद्धि और भाई-चारे में, अपनी सांस्कृतिक उन्नति थियेटरों-क्लबों-नाचघरों-सार्वजनिक शिक्षालयों में, अपने बच्चों के हँसते हुए गुलाब-से मुखड़ों और अपनी पत्नी की स्वस्थ, मांसल, गोल बाहों और भरे-भरे से रक्त ओठों में, सामूहिक जीवन के उल्लास में अनुभव करते हैं। वह इसी नये जीवन को बर्बरता और शोषण के अभियान के ख़िलाफ़ बचाने के लिए देवोपम शौर्य से लड़ रहे हैं; आज वहाँ एक-एक बच्चे की दिलेरी को देखकर शेर और बबर का कलेजा दहल जायगा।

लेकिन तब भी वह अपेक्षाकृत आसान चीज है क्योंकि वहाँ पर आदमी कुछ उन चीज़ों के लिए लड़ रहा है हाथ में लेकर जिनकी गरुअई को वह अनुभव कर सकता है; लेकिन इंटरनैशनल ब्रिगेड के जिन लेखकों के बारे में आप यहां पढ़ेंगे, वे एक 'आइडिया', एक सिद्धान्त के लिए लड़े। एक 'आइडिया' को लेकर लड़ना बहुत मुशकिल है क्योंकि वह कोई चीज नहीं है जो आप हाथ में ले सकें। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि जो लोग उस 'आइडिया' को छाती से लगाकर लड़े, उनके लिए वह सचमुच उनकी प्रियतमा या बच्चे की जीती-जागती तसवीर ही की तरह वास्तविक रहा होगा। जब तक उन्होंने अपने सिद्धान्त की धड़कन को अपने दिल में, उसकी हरारत को अपने दिमाग में और उसकी तिलमिलाहट को अपने रेशे-रेशे में बल खाते न महसूस किया हो, तब तक वह उस चीज़ के लिए हरगिज़ नहीं लड़ सकते थे। वह 'आइडिया' सचमुच ही उनके लिए धरती की तरह ठोस चीज़ हो गया होगा, उस धरती की तरह जिस पर वह खड़े थे और जो बमबारी से हिल रही थी, उस बंदूक की तरह जिसकी मूँठ उनके हाथ में थी, उस दूरबीन की तरह जो उनके हाथ में थी और जिससे वे सिर्फ़ न उस दुश्मन को देख रहे थे जिसे अपनी मशीनगन या बंदूक का निशाना उन्हें बनाना था, बल्कि जिससे वे देख रहे थे: सारी खूँरेज़ी और मारकाट के उस पार किसानों मजदूरों की आज़ादी को, उनके पंचायती राज को।

वर्गहीन मानवता को दूर तक देखने वाला उनका वह आला, इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन, उनको बतलाता था कि सारी खूँरेज़ी के उस पार कुछ है। इसी 'कुछ' को वे गोलियों की अनवरत बौछारों के बीच, कँटीले तारों से हो-होकर स्पेन के मैदानों में खोज रहे थे। इस खोज से लौटकर जो वापिस न जा सके, उनका नाम और परिचय आपको यहां पर मिलेगा। साथ ही उनका नाम और परिचय भी यहाँ पर है जो कि वापस लौटे और फिर अपने खोज के काम में लग गये, स्पेनी मैदान के अपने नये तजुर्बे से लैस।

गार्सिया लोर्का (१८९८–१९३६)

फ़ासिस्त शक्तियों के रक्तरंजित हाथों से अपनी मातृभूमि, अपने देश की जनता की राष्ट्रीय सरकार की रक्षा के लिये जिस तरुण स्पेनी कवि ने हँसते-हँसते अपना प्राणार्पण कर दिया, उसका नाम था गार्सिया लोर्का।

स्पेन के तरुण कवियों में लोर्का का स्थान सबसे ऊँचा था। उसका नाम यूरोप भर में मशहूर था। प्रसिद्ध समालोचक जॉन लेमान् ने लिखा है कि वह समग्र स्पेनी लेखकों का प्रतीक था। सुख दुख से सने ग्राम्य जीवन ने ही उसे साहित्यिक बनने के लिये अनुप्राणित किया था। उसकी प्रौढ़ रचना में हमें स्पेन की जनता की आशा-आकांक्षा, सफलता-विफलता की जीती जागती तस्वीरें मिलती हैं। लोर्का के अनेकों गाने आज भी बड़े चाव से खेतों खलिहानों में गाये जाते हैं।

लोर्का इतिहास प्रसिद्ध ग्रैनेडा नगर में रहता था और वहाँ के किसानों में घूमा करता था। वह कवि, गायक और नाट्यकार था। अपने निजी अनुभव से ही वह कविता और नाटक की सामग्री इकट्ठा करता था। "खून का विवाह" (The Wedding of Blood) और "बढ़ता हुआ पौधा" (The Plant in Growth) नामक उसकी पुस्तकों को जनता का असीम समादर प्राप्त हुआ। कलाकारों ने इन पुस्तकों में कला के उत्कृष्ट रूप का दर्शन किया था।

नाट्यकला की उपयोगिता का वह बहुत ही कायल था। 'ला बाराका' नाम से उसने अभिनेताओं का एक दल बनाया था। गावों और नगरों में जाकर कला की प्यासी जनता के सामने न केवल नवीन नाट्यकारों की उत्कृष्ट कृतियों का, बल्कि स्पेन के प्राचीन कलाकारों की कृतियों का भी प्रदर्शन वह करता था। लोर्का का दृढ़ विश्वास था कि अतीत की सभ्यता और संस्कृति की प्रगतिशील परम्परा की उत्तराधिकारिणी जनता ही है। अतएव सामन्तशाही और पूँजीवाद ने जनता को जिस अधिकार से वंचित कर दिया है, उसे फिर से जनता के अधिकार में लाने के लिए लड़ना वह अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता था।

जब स्पेन के प्रतिक्रियाशील पूँजीपतियों, जमीदारों, सेनापतियों और महंतों ने हिटलर और मुसोलिनी से मिलकर जनता की सरकार को ध्वंस करने के लिये फौज़ी षड्यंत्र किया तो लोर्का ने अपनी कलम रख दी, और उसकी जगह कंधे पर बन्दूक लेकर मोर्चे पर पहुँच गया।

एक ओर उसकी कविता, उसके गाने और उसके नाटक जनता को मानवता के दुश्मनों से जूझने के लिये प्रोत्साहित करते, दूसरी ओर उसका साहस, वीरता, बलिदान भावना सैनिकों के हृदय को अपूर्व बल प्रदान करती।

१९३६ के अगस्त महीने में फासिस्तों ने ग्रैनेडा दखल कर लिया। लोर्का गोली से उड़ा दिया गया; वहाँ के विशाल मैदान में उसकी पुस्तकों की होली जलाई गई। फ़ासिस्त जल्लादों ने गोली और आग से लोर्का का नाम और प्रभाव मिटा देना चाहा था; लेकिन उसके गाने, उसकी कवितायें आज भी क्रान्तिकारी स्पेन की जनता की ज़बान पर हैं।

लोर्का की जनप्रियता के विषय में ऊपर कहा गया है। उसकी मृत्यु के बाद उस पर अनेकों कवियों ने कवितायें लिखकर शोक प्रकट किया और उसके आदर्शों को आगे बढ़ाने की शपथ ली। उनमें से लियोपोल्दो उरुतिया की एक कविता का कुछ अंश नीचे दिया जाता है :

Ay, Federico Garcia,
How sad in this sunsetting
Sinks down your old, your gipsy coloured town.
Why so sorrowful, my gardens ?
Palm-tree, why do you sigh ?
Ay, Federico Garcia,
We wait for a date that draws nigh !
And grieving, the sea
Conveys the pallor of the day to the doors,
And spatters with salt stars
The windows along the quay.

राल्फ फॉक्स (१९०१–३७)

स्पेन की समर भूमि में फासिस्तों से लड़कर राल्फ़ फ़ॉक्स के वीर गति को प्राप्त होने की खबर से दुनिया के सभी प्रगतिशील लोग विचलित हो गये थे। ब्रिटेन के तरुण प्रगतिशील लेखकों में उसका क्या स्थान था, इसे बताने की जरूरत नहीं। फ़ॉक्स की जन्म भूमि में जो शोक सभा हुई थी, उसमें उसके एक साहित्यिक मित्र ने उसके विषय में जो कुछ कहा था उससे उसके चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसने कहा था—"मैं अपने पर लज्जित हूँ। वह हमेशा मुझे काम में ठेलने की कोशिश करता था। मैं जानता था कि यह काम जरूरी है, लेकिन मैं सदा हाँ-ना के फेर में पड़ा रहा। फॉक्स इतना काम करता था; लेकिन फिर भी लिखने, घूमने और अनोखी खबरें इकट्ठा करने का समय वह निकाल लेता था, जिस पर मुझे बड़ी ईर्षा होती थी।"

इन बातों से फॉक्स के उत्साह और अथक परिश्रम का पता चलता है। वह एक ही साथ राजनीतिक आन्दोलनकारी, पत्रकार, उपन्यास और कहानीकार, ऐतिहासिक तथा समालोचक था। फॉक्स के समृद्ध मन के सामने कुछ भी कठिन या दूर नहीं

मालूम होता था। उसने अनेकों देशों का भ्रमण किया था, सोवियत संघ तथा मध्य एशिया के भीतरी भागों में घूमा था। और भी देशों की यात्रायें उसने की थीं। सुदूर प्राच्य की सभ्यता और इतिहास का उसने गंभीर अध्ययन किया था। 'लेनिन की जीवनी' से उसने ख्याति पाई। उसकी नाटकीय शैली से लेनिन का चरित्र जीवित हो उठा है। 'बृटिश साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक नीति' उसके भारत सम्बन्धी ज्ञान और तीक्ष्ण विश्लेषण शक्ति के लिये प्रसिद्ध है। 'चंगेजखाँ' में उसने इतिहास के सबसे बड़े सामरिक अभियान के संगठनकारी का अनिन्द्य जीवन-चित्र अंकित किया है। चंगेजखाँ के अनोखे जीवन को तनिक भी धक्का न पहुँचा कर बहैसियत आदमी के उसने उसका चित्रण तथा ऐतिहासिक विश्लेषण किया है। People in the Steppes में उसने मध्य एशिया के सोवियतजनों का चित्रण किया है। वह ब्रिटेन के प्रगतिशील लेखक आन्दोलन के जन्मदाताओं में से था।

१९३६ में उसने फ्रांस की राजनीति का विश्लेषण करके "फ्रांस का भविष्य" (France faces the future) नामक पुस्तक लिखी। मृत्यु के पश्चात् उसकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इनमें से 'उपन्यास और जनता' (Novel and the People) में वर्तमान युग की साहित्य रचना का प्रधान रूप उपन्यास का तात्पर्य, उत्पत्ति और उसकी आधुनिक अधोगति के कारणों का बड़ी निपुणता से विश्लेषण किया गया है। युद्धभूमि में 'आज का पोर्तुगल' नामक पुस्तक भी लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'ब्रिटेन का मज़दूर आन्दोलन' 'साम्यवाद और परिवर्तनशील सभ्यता', 'फैक्टरियों की प्रतिध्वनि' (विद्यार्थी जीवन में लिखी कहानियाँ), 'मार्क्सवाद और आधुनिक चिन्ताधारा' (बुखारिन, पोपोक आदि के रूसी निबन्धों का अंग्रेजी अनुवाद), भौतिकवाद के इतिहास सम्बन्धी निबन्ध (प्लेखनोफ के होलबैक, हालवेशियस, मार्क्स पर लिखे रूसी निबन्धों का अनुवाद)।

अन्तर्राष्ट्रीय सेना (International Brigade) में सैनिक की हैसियत से लड़ते समय २ जनवरी १९३७ को वह कार्दोवा मोर्चे पर वीरगति को प्राप्त हुआ।

जॉन कॉर्नफोर्ड (१९१५–३६)

उसके पिता ट्रिनिटी कालेज के अध्यापक थे। लड़कपन से ही वह कविता लिखा करता था। कुछ दिनों में ही उसकी रचनाशैली की तीक्ष्णता तथा शक्तिशाली दृष्टिकोण ने पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया। ब्रिटिश कम्यूनिस्ट पार्टी में शामिल होने पर उसकी असाधारण संगठनशक्ति का पता चला। उसने अपने बहुतेरे साथियों को कम्यूनिस्ट आन्दोलन में शरीक किया।

स्पेन की लड़ाई छिड़ जाने पर उसने क्षण भर भी आगा-पीछा नहीं किया। विश्वविद्यालय से इतिहास की गवेषणा के लिये उसे वज़ीफा दिया गया था। लेकिन उसे ठुकरा कर वह स्पेन के लिये रवाना हो गया। आरागन के मोर्चे पर दो महीने रहकर वह ब्रिटेन लौट आया और एक दल संगठित करने लगा। थोड़े दिनों बाद यही "अन्तर्राष्ट्रीय सेना" की ब्रिटिश शाखा बन गई।

स्पेन की युद्धभूमि में भी उसने कवितायें लिखी। जिन चन्द कविताओं को

लिखने का उसे अवसर मिला, उनमें उसकी तीव्र अनुभूति तथा सुन्दर मानसिक चिन्ता धारा का परिचय मिलता है।

गद्दारों के हमले से मेद्रिद को बचाने के समय उसके सिर में जोरों की चोट लगी, लेकिन इस पर भी वह अपने अधीनस्थ सेना का संचालन करता रहा।

कॉर्नफ़ोर्ड के बारे में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि स्पेनी गृह युद्ध की शुरुआत और उसकी मौत के दरमियानी वक्त में, उसकी कविता का स्रोत न सिर्फ़ इतना कि सूखा नहीं बल्कि कुछ वर्षों तक बँधे रहने के बाद यकायक फिर नये जोश से फूट पड़ा। इस वक्त की उसकी जो थोड़ी कवितायें देखने को मिलती हैं, उसके मुकाबिले में उसकी पुरानी कवितायें फीकी जान पड़ती हैं। वे उस वक्त अलग अलग पत्र-पत्रिकाओं में छपी थीं और बाद में उसके मित्र पैट स्लोनने उनको कॉर्नफ़ोर्ड की जीवनी के साथ संग्रह कर दिया है। इसमें कॉर्नफ़ोर्ड के कुछ चुने हुए आकर्षक पत्र और निबंध भी हैं जिनसे उसकी अनोखी प्रौढ़ता और एकनिष्ठा का परिचय मिलता है। फ़ुल मून पेट तियर्ज़ (तियर्ज़ में पूरा चाँद) की शुरू की पंक्तियों को देखने से अच्छी तरह पता चलता है कि अपने मार्क्सवादी विश्वासों को ठोस कविता की शकल देने की ज़बर्दस्त योग्यता उसमें थी—

The past, a glacier, gripped the mountain wall,
And time was inches, dark was all,
But here it scales the end of this range,
The dialectic's point of change,
Crashes in lights and minutes to its fall,
Time present is a cataract whose force
Breaks down the banks even at its source,
And history forming in our hands,
Nor plasticene but roaring sands,
Yet we must swing it to its final course.

रूस के बोलशेविक नेता किरोफ़ पर, जिसकी त्रात्स्कीवादी फ़ासिस्त एजेंटों ने हत्या की, उसकी कविता से भी उसकी वैसी ही प्रतिभा और तीव्र अनुभूति का परिचय मिलता है :—

Nothing is ever certain nothing is ever safe,
Today is overturning yesterday's settled good,
Everything dying keeps a hungry grip on life,
Nothing is ever born without screaming and blood.

चाहे वह किसी क्रांतिकारी संघर्ष के बारे में लिख रहा हो, चाहे अपनी प्रियतमा के साथ अपने संबंध के बारे में कार्नफ़ोर्ड की असली शक्ति उसकी सादगी और ईमानदारी में थी।

उसकी विचार-गत निष्ठा उसे ओडेन और स्पेंडर से साफ़ अलग करती है जिनमें इसी चीज़ की कमी है। समाज के प्रति उत्तरदायित्व का उसे ओडेन, स्पेंडर की अपेक्षा

बहुत अच्छा ज्ञान था। निस्संदेह उसकी मृत्यु ने ब्रिटेन के सब से होनहार कवि को उठा लिया।

चार्ल्स डोनेली

आयलैंड का तरुण कवि चार्ल्स डोनेली जरामा की लड़ाई में १९३७ में मारा गया। स्पेनी मोर्चे के लिए रवाना होने के पहले उसने बहुत कुछ लिखा था, लेकिन आयलैंड टुडे में उसकी जो कविता उसकी ज़िंदगी के आख़िरी महीने में छपी थी, उससे जिस प्रतिभा का परिचय मिलता है वह स्पेन के उसके तजुर्बों से मिलकर सचमुच बहुत विकसित हो सकती थी:

Death comes in quantity from solved
Problems on maps, well-ordered dispositions,
Angels of elevation and direction ;
Comes innocent from tools children might
Love retaining under pillows........

आंद्रे मालरो (१९०२–)

मालरो का शरीरी जीवन बड़ा साहसी रहा है, लेकिन उसका अशरीरी यानी आध्यात्मिक जीवन भी कुछ कम साहसी नहीं। मनुष्य की नियति के स्रोत और ऐसी किसी आकांक्षा या उद्देश्य की खोज जिसे मनुष्य अपने सारे उत्साह और निष्ठा से अपना सके, ऐसा कोई अनुभव जो उसकी प्रकृति के अभिन्नतम अंग को सबसे सार्थक ढंग से अभिव्यंजित कर सके—यही सुनहली डोर उसकी सारी कृतियों को एक करती है। अनुसंधानक और पुरातत्ववेत्ता की शकल में वह सबसे पहले पूर्वीय देशों से परिचित हुआ। इन पूर्वीय देशों ने उसकी रचना शक्ति को बहुत ज्यादा प्रभावित किया और उसके कई उपन्यासों की ज़मीन चीन और इंडोचीन में है।

स्पेनी गृहयुद्ध के पहले के उपन्यासों में उसका सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास 'शंघाई में तूफ़ान' था। इस उपन्यास को उस माला का पहला उपन्यास समझना ठीक होगा जिसमें मालरो मानवीय न्याय और आज़ादी क़ायम करने के लिए किये गये विश्वव्यापी संघर्ष की मानों एपिक कहानी लिखना चाहता है!

उसका दूसरा उपन्यास 'नफ़रत के दिन' (Days of Contempt) है जिसमें उसने एक जर्मन फ़ासिस्त-विरोधी नेता की जिसे नात्सियों ने क़ैद में डाला और बुरी तरह मारा है, संक्षिप्त जीवनी उपन्यास के माध्यम से पेश की है। लेकिन इसी बीच वे सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष जो यूरोप में सतह के नीचे और ऊपर हो रहे थे, और जिनका बड़ा अच्छा अक्स विदेशी लेखकों की रचनाओं में मिलता था, पहले की अपेक्षा कई गुना उग्र हो गये थे और उनकी सबसे हिंस्र अभिव्यक्ति स्पेनी गृह युद्ध में होने ही वाली थी। इस नये चरण में मालरो ने बहुत महत्वपूर्ण काम किया।

मालरो ने प्रजातंत्र की ओर से लड़नेवाले एक हवाबाज़ के अपने तजुर्बे को आधार बनाकर अपना सबसे महान उपन्यास 'आशा के दिन' (Days of Hope) लिखा। स्पेन पहुँचकर उसकी प्रकृति के दोनों रूपों—काम करने की इच्छा और

साहित्य रचना की इच्छा—का बड़ा अच्छा परिपाक हुआ। और इस बात ने कि उसने न सिर्फ़ प्रजातंत्र का एक हवाई बेड़ा तैयार कर दिया जब कि पहले वहाँ एक हवाई जहाज़ न था, वह उसमें लड़ा, अमरीका में घूमा बल्कि उसके लिए चन्दा इकट्ठा किया, और साथ ही स्पेनी युद्ध से प्रेरणा पानेवाले उपन्यासों में सबसे महान् उपन्यास लिखा, उसे एक पौराणिक वीर का-सा गौरव दे दिया है और आधुनिक यूरोप के मुक्ति युद्ध में जिसकी दाग़बेल स्पेनी युद्ध में पड़ी में उसकी स्थिति बायरन की सी है।

उसके उपन्यास 'आशा के दिन', का सूत्र ही उसकी समस्त प्रतिभा का सूत्र है—आशा का एक क्रांतिकारी आविर्भाव, कि एक नया भविष्य भी है जो पकड़ में आ सकता है, एक ऐसा भविष्य जिसमें गुलामों बेकसों की कराहें नहीं हैं, जिसमें भूख और रक्तपात नहीं है, जिसमें सब बराबर हैं और सब खुश हैं।

टाम विन्ट्रिंघम

विन्ट्रिंघम ने स्पेनी युद्ध को लेकर कुछ बड़ी अच्छी कवितायें लिखी हैं। इनका आधार कवि का निजी अनुभव है। विन्ट्रिंघम इंटरनैशनल ब्रिगेड में गौरवपूर्ण पद पर रहकर लड़ा था। अपनी कविताओं में विन्ट्रिंघम ने एक बहुत चीमड़ शैली अपनाने की कोशिश की है, जिससे उसके चिन्तन और संकल्प की दृढ़ता ठीक ढंग से अभिव्यंजित हो सके—अनावश्यक भावुकता और आवेश को हटाया है क्योंकि ऐसा करना उन लोगों के लिए ज़रूरी था जो स्पेनी संघर्ष में जीत, मानवता की जीत के इच्छुक थे। एक पंक्ति देखने से बात स्पष्ट हो जायगी :—

Neither fools nor children any longer,
Those ways, traits, gone away,
That once made life a luck game, death a stranger:
We're going on······ ···········

रेमो सेन्द्र

कई साल पहले 'ओकबुब्रे' नामक स्पेनिश पत्रिका ने अपने पाठक-पाठिकाओं से पूछा था, कि स्पेन का सबसे जनप्रिय लेखक कौन है। इसके उत्तर में सेन्द्र का ही नाम आया था। सेन्द्र स्पेन की जनता तथा स्पेन की क्रांतियों के साथ जीवन-पथ पर चलता आ रहा है। स्पेन की हरएक क्रान्तिकारी लहरने सेन्द्र की रचनाओं में आसन जमाया है। विद्यार्थी जीवन से ही वह क्रान्तिकारी आन्दोलन में शरीक हुआ, और अनेकों बार गिरफ्तार भी। स्पेन के सेगोमिया नामक स्थान पर सन् १९२७ ई० में उसे फांसी की सजा दी गयी। भाग कर उसने अपनी जान बचायी। सन् १९३६ ई० में वह स्पेन गणतंत्र की विजयी पल्टन में भर्ती हो गया, और थोड़े ही दिनों में एक 'कंपनी' का अधिनायक बनाया गया। इसी समय से वह 'मिलिशिया पॉपुलर' नामक पत्र में लेख लिख रहा था, तथा युद्धक्षेत्र के कष्टमय जीवन और अभिज्ञताओं को लेकर एक उपन्यास का लिखना खतम कर रहा था। 'स्पेन में युद्ध' नामक उपन्यास में सेन्द्र की आत्मकहानी का कुछ-कुछ पता चलता है। लेकिन इसमें व्यक्तिगत जीवन

विस्तृत होकर सामाजिक जीवन में विलीन हो जाता है। इसे हम सामाजिक जीवन की प्रतिच्छवि कह सकते हैं।

पहले सेन्दर मोरक्को की सेना में था। १९२१ ई० में स्पेन के सामन्त तथा पुरोहित सम्प्रदाय ने मोरक्को में जो हत्याकांड मचाया था, उसमें सेन्दर को अपनी इच्छा के विरुद्ध शामिल होना पड़ा। मोरक्को अभियान का वर्णन उसने अपने Earmarked for Hell नामक उपन्यास में किया है। अन्तर्जातीय भाईचारा सेन्दर की किताबों के पन्ने-पन्ने में मिलता है। Earmarked for Hell और 'जनता का हुक्मनामा' उपन्यासों के बीचवाले समय में सेन्दर ने क्रान्तिकारी संघर्ष में हिस्सा लिया। Earmarked for Hell का नायक मियान्से व्यर्थ प्रतिवाद करके चुप हो जाता है। लेकिन 'शृंखला' का नायक जेल में बन्द पत्रकार सिर्फ़ प्रतिवाद से ही संतुष्ट नहीं होता। वह शिक्षित क्रांतिकारी है, पूँजीवाद नामक रोग की दवा जानता है। वह अकेला है, यही उसकी 'ट्रेजडी' है। कई वर्षों के बाद सेन्दर ने 'सात लाल रविवार' नामक उपन्यास लिखा। इस पुस्तक में वह मज़दूरों को लाया है। उनके प्रबल क्रांतिकारी उत्साहों तथा निश्चित जीत के विश्वास को जनता के सामने स्पष्ट कर दिया है। इसके नायक की आकांक्षा तथा विश्वास एक ही है। यहाँ पर वह पहले के नायकों की तरह अकेला नहीं है। क्रांतिकारी साथियों से कंधा मिलाकर वह चल रहा है।

सेन्दर ने ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। (Mr. Wit in Canton) 'कैन्टन में मि० विट' नामक किताब में १८७३ ई० वाले कार्ताजेना के 'कैन्टन' (देश-विभाग) आन्दोलन का जिक्र किया है। यह 'बंग-भंग' (१९०५) वाले आन्दोलन की तरह एक आन्दोलन था। इसकी लेखन-शैली ऐसी ज़िन्दा है, कि पढ़ने से मालूम होता है, कि यह आज के महायुद्ध का इतिहास है।

गुस्ताव रेगलर

मैड्रिड में होने वाले विश्व-लेखक-सम्मेलन (१९३७) के एक आदमी की बात आज भी प्रतिनिधियों को याद है। वक्ता आराम कुर्सी पर बैठा था; खड़े होने की ताक़त उसमें नहीं थी। श्रोता लोग बड़े आग्रह से युद्ध में घायल प्रतिनिधि के दुर्बल कंठ का भाषण सुन रहे थे। यही गुस्ताभ रेगलर थे। घाव सूखने के पहले ही युद्ध क्षेत्र से साहित्य-क्षेत्र में अपना कर्तव्य पालन करने के लिए वह आये थे। जर्मनी की अन्यतम श्रेष्ठ संतान रेगलर ने फासिस्ट बर्बरता विरोधी संघर्ष में अपने को उत्सर्ग कर दिया है। जर्मनी के तरुण लेखकों में रेगलर की काफी प्रतिष्ठा है। वे संस्कृति तथा अतीत के महान उत्तराधिकार को मानवता की मुक्ति का हथियार समझते हैं। इस आदर्श से अनुप्राणित होने के कारण ही एक धनी धार्मिक घराने में पैदा होने पर भी जर्मन सामरिक अफ़सर रेगलर धनी समाज से नाता तोड़ कर जर्मन कम्यूनिस्ट पार्टी में भर्ती हुए। जर्मनी में फासिस्त-विरोधी संयुक्त मोर्चा के यही संगठनकर्ता थे। निर्वासित होकर इन्होंने प्रथम सोवियत लेखक कांग्रेस में भाग लिया था।

उसके बाद पेरिस के विश्व लेखक सम्मेलन में इन्होंने एक गरम भाषण दिया था। जर्मनी के वर्तमान शासकों के बारे में उन्होंने कहा था, 'तुम अपना सीमान्त बन्द कर दे सकते हो, तो भी हमारी किताबें जर्मनी में जायँगी ही। तुम लोगों ने मुशाम की हत्या की है, मुशाम मशहूर क्रांतिकारी कवि था, इसी अपराध से वह कन्सेन्ट्रेशन कैम्प में ठूँस दिया गया, और वहां पर नाज़ियों ने बुरी तरह अत्याचार करके उसे मार डाला, ओसित्स्कीको तुम लोगों ने क़ैद किया है, यह शांतिवादी जर्मन लेखक था, उसे शांति के लिए नोबेल पुरस्कार दिया गया था। कुछ दिन पहले नाज़ियों ने उसे कन्सेन्ट्रेशन कैम्प में फांसी दे दी। लेकिन तुम हमारा मुँह बन्द नहीं कर सकते। मज़दूर जनता के प्रति हमारी संवेदना का—सत्य के प्रति हमारी जलती हुई निष्ठा का गला तुम घोंट नहीं सकते।'

रेगलर अथक योद्धा है। क़लम उसके हाथ में एक हथियार है। अपनी पुस्तक "रोटी, जल, और गोलो" में उसने व्याधिग्रस्त वाइमार गणतंत्र (Weimar republic) पर तीव्र आक्रमण किया है। 'फिज़ूल खर्च बेटा' (Prodigal Son) में उसने जन-स्वार्थ विरोधी पुरोहित सम्प्रदाय का भंडाफोड़ किया है। १९३१ ई० में थोड़े दिनों के लिए स्वीज़रलैंड में रहने के समय—"रोपनी" नामक उपन्यास लिखा। इस उपन्यास में उसने जन-क्रांति के अमर सत्य तथा जर्मन जनता के क्रांतिकारी उत्साह को ज़िन्दा स्वरूप दिया है। आधुनिक क्रांतिकारी उपन्यासों मे "रोपनी" एक श्रेष्ठ पुस्तक है। इस पुस्तक में मानो क्रांति की धड़कन सुनायी पड़ती है।

लुडविग रेन

मृत आँरि बरबूस ने कहा था—"युद्ध से घृणा करना अपराध नहीं है, सचमुच युद्ध से घृणा करना चाहिये; लेकिन पुरुषोचित घृणा लेकर युद्ध के बारे में लिखना उचित है।" इसी मनोभाव को लेकर रेन ने 'युद्ध' नामक उपन्यास लिखा। निष्क्रिय शांतिवादियों से उनका किसी तरह का मेल न होने पर भी, खानदानी Prussian Aristocrat वंश का यह फ़ौजी अफसर—आर्नल्ड फिट फॉन गोलसेनाउ (लुडविग रेन उनका नक़ली नाम है) ने जंगीवाद को अपना आदर्श नहीं बनाया है। इस पुस्तक में युद्ध तथा युद्ध-नायकों का विश्लेषण किया गया है।

युद्ध ही से रेन ने सीखा है कि, अगर सत्य नामक कोई चीज़ है, तो यह सर्वहारा क्रांतिकारी सिपाहियों के पक्ष में है। इसीलिए सामन्त वंश के इस अफसर ने अपने वर्ग तथा वंश से अपना नाता तोड़ दिया। जर्मन-युद्ध खतम होने पर जर्मन अफसरान क्रांति-दमन करने में लग गये; लेकिन रेन ने इस काम में उन्हें मदद देने से इन्कार किया, और सम्मानित जर्मन सेनाध्यक्ष के ओहदे को उसने ठुकरा दिया।

१९२७ ई० में रेन जर्मन-कम्यूनिस्ट पार्टी में भर्ती हुआ। इसी समय उसका 'युद्ध' प्रकाशित हुआ, और साथ ही साथ दुनिया में इसकी बड़ी इज़्ज़त हुई। इसका अनुवाद २१-२२ भाषाओं में हुआ है। १९३० ई० में रेन ने 'युद्ध के बाद' प्रकाशित कराया। इस पुस्तक में जर्मन सेनापतियों ने अपने भाग्य का वर्णन किया है। १९३०

में रेन खारकोफ में होनेवाले क्रांतिकारी लेखकों की कांग्रेस में शरीक में हुआ। १९२२ ई० में 'रूस भ्रमण' नामक पुस्तक में सोवियत रूस के बारे में उसने अपनी राय ज़ाहिर की है। उसने 'लड़े बग़ैर मौत' नाम की किताब भी लिखी है। यह नात्सी जर्मनी की कहानी है जिसमें बताया गया है कि एक दिन नात्सियों को ख़त्म कर देने का इस्पाती अडिग संकल्प विरोधी तत्वों की अपरिमित पीड़ा में से ही पैदा होगा। उसने फौजी कौशल पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कई किताबें लिखी हैं। इसीलिये १९३४ ई० में नाज़ी अदालत ने रेन को 'जर्मन कम्यूनिस्ट पार्टी का युद्ध विशारद' क़रार देकर ढाई वर्ष क़ैद की सजा दे दी। उसको छुड़ाने के लिये दुनिया भर में आन्दोलन शुरू हुआ। इसी से जर्मन सरकार उसे ज्यादा दिनों तक जेल में बन्द नहीं रख सकी।

रेन उस समय 'अन्तर्राष्ट्रीय फौज' में सेनापति की हैसियत से लड़ रहा था। फौज के सभी लोग उसकी इज़्ज़त करते थे। असाधारण साहस, मानसिक दृढ़ता, विनय तथा मानवता की मुक्ति के आदर्श की निष्ठा के लिये यह कलाकार सेनापति प्रगतिवादी जनता की अशेष श्रद्धा का पात्र बन गया है।

बिली ब्रेडेल

जर्मनी में वाइमार गणतंत्र के ज़माने में साम्यवादी पत्रों के संपादकों को अक्सर जेल जाना पड़ता था। बिली ब्रेडेल को भी इसी जुर्म में जेल की हवा खानी पड़ी थी। १९३० में जेल ही में उसने 'कारखाना' (The Engineering works) नामक पहला उपन्यास लिखा। इस पुस्तक में ब्रेडेल ने जर्मन मज़दूरों की दैनिक जीवन-यात्रा प्रणाली की और कम्यूनिस्टों के काम का बड़ी होशियारी के साथ वर्णन किया है।

ब्रेडेल की शिक्षा हैमबुर्ग शहर में हुई थी। हैमबुर्ग का इतिहास जर्मन मज़दूर वर्ग के श्रेष्ठ अग्रगामी कार्यकर्त्ताओं के नाम से सम्बन्ध रखता है। थालमन, लुतगेंनस शुलरेजे, और अद्रे इसी हैमबुर्ग के थे। इसी हैमबुर्ग शहर में रह कर ब्रेडेल साम्यवादी पार्टी का सदस्य बना। ब्रेडेल पहले उपन्यास नहीं लिखता था, वह पत्रकार का काम करता था, और साम्यवादी पार्टी की हैमबुर्ग शाखा के मुख पत्र 'हैमबुर्ग कोल्कसेक्रों' का सम्पादन करता था।

तेरह महीनों तक वह जर्मन-जेल में बंद रहा। इन तेरह महीनों का वर्णन उसने 'अग्नि परीक्षा' नामक उपन्यास में किया है। बर्बरता के प्रति मानव नाम का विरोध तथा उसका प्रतिरोध ही इस पुस्तक की विषय वस्तु है। 'अग्नि परीक्षा' में हम देखते हैं, कि ब्रेडेल, अब प्राथमिक साहित्यिक जीवन की दुर्बलता से मुक्त है। शब्दों का जाल बुनना अब उसका पेशा नहीं रह गया, आधुनिक जगत को चलाने वाली शक्तियों को उसने हमारे सामने प्रत्यक्ष कर दिया है। जेल के सिपाहियों को सूक्ष्म रूप से देख कर उसने समझ लिया है कि वे दुर्बल हैं। बंदियों में जो आत्म विश्वास है, वह उनमें नहीं। ब्रेडेल के नये उपन्यास का नाम 'अनजान भाई' है। इसमें हिटलरशाही के ज़माने में क्रांतिकारियों की गुप्त कार्यप्रणाली और जीवन धारा का वर्णन किया गया है।

ब्रेडेल स्पेन सरकार की तरफ से लड़ रहा था।

रैल्फ़ बेत्स

अँगरेज तथा अमेरीकन लेखकों की रचनाओं में हम अक्सर स्पेन के बारे में पढ़ा करते हैं। किसी ने स्पेन को कुमारी की तरह पवित्र बताया है, किसी ने स्पेन को अफ्रीका का एक हिस्सा माना है, यूरोप का नहीं, और किसी का कहना है, कि स्पेन प्राच्य तथा पाश्चात्य के पिशाच-विवाह की संतान है। राल्फ बेत्स ने ही पहिले पहल स्पेन के वास्तविक जीवन का चित्र अंकित किया है। बेत्स ने सामन्त युगावशिष्ट रीति नीति में या मृत्यु के आदर्श में स्पेन का सौन्दर्य या वैशिष्ट नहीं देखा है; उसने स्पेन के नवजीवन की सूचना को क्रांतिकारी आन्दोलन में देखा है।

बेत्स एक अँगरेज़ मज़दूर का पुत्र है। भूमध्य सागर में वह एक जहाज़ में खलासी का काम करते करते किसी तरह स्पेन पहुँचा और वहीं के मज़दूरों में रहने लग गया।

बेत्स की समस्त रचनाओं से जीवन का स्पंदन सुनाई पड़ता है। "दुबले आदमी" तथा The Olive Tree नामक उपन्यासों तथा उसकी छोटी कहानियों से उपर्युक्त कथन की सचाई का पता चलता है।

जिस स्पेन को बेत्स इतना प्यार करता है उसी के लिए वह लड़ा था।

हान्स मार्शल वित्सा

१९२९ ई० में बर्लिन के 'रोटे फौने' नामक पत्र में हान्स की छोटी छोटी कहानियाँ निकलती थीं। उस समय वह खान मज़दूर था। उस समय तक वह जर्मन भाषा अच्छी तरह नहीं बोल सकता था। १९ वीं शताब्दी के अंत में उसका परिवार पोलैंड से आकर जर्मनी में बस गया। १४ साल की उम्र में जब हान्स ने खान में काम शुरू किया, तो उसे जर्मन अच्छी तरह नहीं बोलना आता था, लेकिन जर्मन मज़दूरों की शोचनीय हालत का इसे काफी तजुर्बा हो चुका था।

उसके बाद जर्मन लड़ाई शुरू हुई। १९३० ई० में "वरदूँ में मैंने ईश्वर को खोया" के नाम से छोटी कहानियों का एक संग्रह छपवाया। इसके पहले १९३० ई० में उन्हों 'स्पेन पर तूफान' नामक उपन्यास में अपने बारे में तथा जर्मन लड़ाई के बादवाली अपनी अभिज्ञता का वर्णन किया है। हान्स की पुस्तक आत्मकथा के ढंग से नहीं लिखी गयी है, तो भी उसमें एक भी ऐसी घटना का ज़िक्र नहीं है, जिसके बारे में लेखक को प्रत्यक्ष अभिज्ञता नहीं है।

लेकिन हान्स जिस भाषा को अच्छी तरह नहीं समझता था उस भाषा में साहित्यिक कैसे बन गया। उसके उत्तर में हान्स ने एक बार कहा था, 'यह बहुत ही सहज बात है, मुझे जो लिखना पड़ा था, उसकी अभिज्ञता उन्नततर जीवन के लिए है, उसके संघर्ष ने मुझे लिखने के लिए मजबूर किया था।' उसका पहला उपन्यास 'स्पेन पर तूफान' कला की दृष्टि से दोषमुक्त न होने पर भी अत्यन्त हृदयग्राही और अकपट

रचना है। इसके बादवाली पुस्तकों को पढ़ने से लेखक की क्रमोन्नति का पता चल जाता है। १९३३ ई० में बर्लिन से प्रकाशित होनेवाले 'कोनेकी लड़ाई' तथा 'इस्पात का काम' नामक दोनों उपन्यासों को पढ़ने से ही मालूम होता है !

राष्ट्रशक्ति नाज़ियों के हाथ में चले जाने के बाद हान्स को जर्मनी छोड़ने के लिये मजबूर होना पड़ा। पहले वह स्वीज़रलैंड और उसके बाद पेरिस पहुँचा। स्पेन में फासिस्त हमला शुरू होने पर वह स्पेन में जाकर अन्तर्राष्ट्रीय फौज में दाखिल हो गया। युद्धक्षेत्र से उसने एक पत्र में लिखा था, 'आज हम दावे के साथ कह सकते हैं कि हमारी जीत निश्चित है।' यही आशावाद हान्स की रचना का मौलिक सुर है।

कहानी

बेज़ुबाँ

[चन्द्रकिरण सौनरिक्सा]

दोनों एक साथ दौड़ीं। जस्सो छोटी होने पर भी पार्वती से आगे निकल गई, उसने 'थप' से 'चोथ' पर हाथ रख दिया और हाँपते हाँपते बोली—"मेरा !"

दूसरे ही क्षण पार्वती ने भी उसपर हाथ रख दिया— "चल झूठी !" पारो ने उसे धकेलते हुए कहा। पहले मैंने देखा था।

वह जस्सो का हाथ खींचकर हटाने लगी। जस्सो भी प्राणपण चेष्टा करके पार्वती को धकेलने लगी, आज उसे कुल दो ही चोथ गोबर मिला था; इतना थोड़ा गोबर लेकर यदि वह घर जाय तो उसकी माँ उसे पीट पीट कर अधमरा कर देगी। "देख पारो, गोबर मेरा है !" उसने अपने नन्हे नन्हे हाथों से गोबर को ढक लेने की चेष्टा करके कहा। "हट जा री ! देख देर होती है।"

परन्तु पारो ने सब अनसुना कर दिया। वह लगभग ग्यारह वर्ष की होगी, जस्सो से तीन चार वर्ष बड़ी। उसने जस्सो को धक्का देकर परे गिरा दिया और गोबर समेट अपनी टोकरी में रख कर उठाने लगी। जस्सो ने निष्फल क्रोध से गरजते हुए रुआँसे स्वर में कहा—"मरी, तेरे बाप मैया मर जाँय, सुसरी !"

पारो ने टोकरी पटक दी और उससे चिपट गई, दोनों परस्पर गुँथ गईं। नोचा-खसौटी, गाली-गलौज का बाजार गरम हो गया, जस्सो ने पार्वती के बाल नोच लिए, पार्वती ने बस न चलने पर जस्सो की फ्राक दाँतों से पकड़ कर 'झर्र' कर दी।

"अरी मैया !" फ्राक फटी देखकर जस्सो फफक कर रो उठी, उसकी नई फ्राक हाय अब वह कैसे करे। उसकी माँ तो उसे जीता न छोड़ेगी। परसों ही तो बबुआइन के यहाँ से माँगकर लाई थी। उसने होली के लिए बड़े यत्न से सजा कर अपने उस पुराने ढक्कनदार कनस्तर में रख दी थी जो उसके यहां का एक मात्र सन्दूक, बक्स या सूटकेस था; पर जस्सो ने आज बसंतपंचमी को रो धोकर उसे पहिन लिया। अब फटी फ्राक को दोनों हाथों से पकड़ कर वह धरती में लोट-लोट कर रोने लगी, साथ ही पारो और उसके बाप भाइयों को आशीर्वचन भी देती जाती थी।

दूर पर तीन चार भैंसे जंगल जा रही थीं। एक ने गोबर किया। पार्वती अपनी टोकरी उठाकर उधर दौड़ गई। "सुसरी, कुतिया, मर जाय !" रोते रोते जस्सो भी उठी, टोकरी सिर पर रखकर गोबर की तलाश में चल दी।

लगभग सभी ढोर जंगल जा चुके थे। धूप खूब चढ़ आई थी और साथ साथ जस्सो की भूख भी बढ़ गई थी। सवेरे से वह गोबर बटोरने निकली थी, बिना कुछ खाये और दिन तो बासी-कूसी रोटी का एक आधा टुकड़ा, जो रात से बच रहता, खाकर चलती थी, पर आज घर में कुछ नहीं था, लैया चना तक भी नहीं। कल रात

ही आटा इतना थोड़ा था कि उसकी माँ ने कुल डेढ़ रोटी खाई थी, इसी से बारह बजते-न-बजते जस्सो की आँतें कुलबुला उठीं। घर जाने से रोटी उसे मिल सकती थी, माँ ने कहीं न कहीं से उधार करके रोटी का प्रबंध किया ही होगा, पर घर वह कैसे जाय, नई फ्राक फट गई है, गोबर भी कुल आधी टोकरी है। अम्मा आज अच्छी तरह मरम्मत करेगी। मार के भय से बालिका टोकरी सिर पर उठाये, सड़क पर इधर-उधर चक्कर काटने लगी, पेट की आग निरन्तर तेज होती जा रही थी, रह रह कर उसके पाँव 'सीदीपुरे' की ओर मुड़ते थे, परन्तु सहसा ही फटी फ्राक का ध्यान उसके पगों की बेड़ियाँ बन जाता था।

दो बजने आये, जस्सो भूख-प्यास से क्लान्त देह लिए सड़क के किनारे नीम तले पड़ी थी। गोबर की टोकरी औंधी करके, उसी पर सिर रक्खे, गोबर से सने हाथों से अपनी पतली चिकन की फ़्राक समेटे वह गठरी-सी बनी, पड़े पड़े ही सो गई थी।

"हरामज़ादी! यहाँ लोट लगा रही है।" उसकी माँ उसे खोजती हुई आई, एक दो हाथ पीठ पर जमा कर बोली—सबेरे से निकली है तो घर आने का नाम नहीं लिया क्योंरी ओ जस्सो! चल तेरा सिर फुकी चूल्हे में देती हूँ।" नन्दो ने उसकी चुटिया पकड़ कर बैठा दिया—"घर में छोरा बीमार है, रंडी को यह भी फ़िकर नहीं कि दो घड़ी ले लूँ।"

"अम्मा!" जस्सो ने रोकर कहा—"गोबर नहीं मिला।" उसने दोनों हाथों से फ्राक समेट ली कि माँ की दृष्टि न पड़े।

"नहीं मिला तो तू घर क्यों नहीं आई, यहीं क्यों मर गई। चल तू घर आज कैसी रोटी खिलाती हूँ, काम काज की तो है नहीं ढाई सेर खाने को दे दो।"

लाचार जस्सो खड़ी हुई और साथ ही फ्राक के फटे हुए छोर हाथों से छूटकर लटक पड़े।

"अरी! फ्राक फाड़ डाली! तेरा नास जाय, कलमुँही" नंदो को जैसे बिच्छू डस गया हो—अब होली को क्या पहनेगी पत्थर! तुझे काली माई समेट लें।" हूँ हूँ करके उसने अनगिनती थप्पड़ जस्सो पर बरसा डाले।

"अरी अम्मा! अब नहीं फाड़ूँगी तेरे हाथ जोड़ूँ।" जस्सो के रुदन से राह चलते ठिठक गये पर नन्दो को तरस न आया, उसकी दया, माया, स्नेह, ममता, प्यार हृदय की समस्त कोमल भावनाएँ पेट की भट्टी में भस्मसात् हो चुकी हैं, दस वर्ष पहले की वही नन्दो जो घण्टे में दो घड़ी नाज पीट लेती थी और भैया को मारने के कारण माँ से झगड़ा करके उसे गोद में लिये ही रोटी बना लेती थी, चौका बर्तन झाड़ कर लेती, खेत पर रोटी दे आती थी आज अधबूढ़ी हो चुकी है। हाथ पांव निरन्तर के शारीरिक श्रम के कारण अब भी मज़बूत हैं। परन्तु मुख का लावण्य, अन्नवस्त्र की चिन्ता कर्ज और बाल बच्चों की फिक्र में कभी का विदा ले चुका है। वही नंदो जो भैया को आधी आधी रात तक नीम में रस्सी डालकर झूला झुलाती थी अब अपने बालक के रो रो कर आंखें सुजा लेने पर भी काम छोड़कर दूध नहीं पिलाती। मन की कोमलता और भावुकता की धारा यथार्थ के जलते तवे पर गिर कर छन्न से 'छू' हो गई थी।

बच्चा बीमार है। खांसी बुखार से सूख कर कांटा हो गया है। उसे रीं-री करता छोड़ कर उपले उठाने आई थी, बादल हो रहे थे, बरस पड़े तो उसकी चार दिन की मेहनत और दो बेला की रोटियों पर पानी पड़ जायगा, जस्सो सबेरे से भूखी ही फिर रही है यह सोचकर उस शुष्क हृदयानारी के मन में भी कहीं कुछ खुरच उठा था—इसीसे उसे खोजने भी निकली। यहां वह नई फ्राक फड़वा कर मौज से सो रही थी, नन्दो के मन की आर्द्रता भाप बन गई।

"अच्छा घर चल!" उसने बालिका को धक्का देकर कहा—जाकर छोरा को ले, नहीं आज तुझे जीता न छोड़ूंगी।"

"अम्मा, रोटी—" जस्सो मार भूलकर करुण स्वर में पुकार उठी, क्योंकि उसने देखा कि मां कंडे की टोकरी उठाये बाबुओं के घर की तरफ चल दी थी।

नन्दो का मन कुछ नरमाया—"छींके पर रक्खी है डेढ़ रोटी। नोन तेल चुपड़ कर खा लीजो।" 'नोन तेल'—जस्सो का मन क्षुब्ध हो उठा। कितने दिनों से वह आलू की तरकारी को कह रही है, पर नन्दो ने आज बसंतपंचमी को भी न बनाई, पैसे ही न थे—पिटी हुई पीठ और थका हुआ मन लेकर जस्सो घर चली।

"मार डालेगी कम्बख्त तू किसी दिन बेबी को—"बहूजी ने तड़प कर कहा—"बड़ी गरमी छाई थी देख लिया न मज़ा छत पर सोकर। कितना मना किया कि छत पर मत सो, नहीं मानी लड़के को बीमार डाल दिया।"

धाय चुपचाप सिर नीचा किए बच्चे का पेट सेंकती रही, नन्दो ने आंगन में टोकरा उतार कर कहा—बहूजी! उपले लाई हूँ।"

"मोहन से कह"—बहूजी ने बिना उधर दृष्टिपात किये अपना पिछला वक्तव्य जारी रक्खा—कितना समझाओ पर अकल में भूसा भरा है, न जाने तुझे धाय किसने बना दिया—अरे, इतना गरम फाहा रख दिया? बेवक़ूफ कहीं की—

"बहूजी गरम नहीं है"—धाय ने रुआंसी होकर उत्तर दिया—"बच्चे तो सिकाई कराते रोते ही हैं।"

"हाँ, हाँ, रोते हैं"—बहूजी ने झनक कर कहा—"पहले अपने गाल पर रख कर देख लो तब उसके पैर पर लगाओ। मोहना अरे गाड़ी तैयार हुई या नहीं।"

मोहना का कहीं पता न था, नन्दो को देर हो रही थी—उसके मन की सोई हुई माँ भी इस ऐश्वर्य भवन में आकर जाग उठती थी, उसके भी फूल-सा बच्चा है, कितने ही दिन से रोगी है, दवादारू की कौन चलाये वह तो अपने लाल को दो घड़ी चैन से लेकर बैठ भी नहीं सकती।

"बहूजी! गिनवा लो।"

"ठहर जा, कोई आफ़त आ रही है, मोहना को आने तो दे।"

'छोरा बीमार है, बहूजी, इसीसे कह रही हूँ।'

बहू जी तिनक पड़ी—ऐसी ही फिक्र थी छोरा की तो आई क्यों? न आती। उसे ही पालना झुलाती रहती, गन्दा रखकर उसे बीमार डाल दिया, न टाइम से दूध देना न नहलाना, न गरम कपड़े पहनाना फिर कहती है बीमार है—

और नन्दा चुप हो गई, टाइम से!—दिन भर गोबर कूड़ा चक्की चरखे से उसे छुट्टी ही कब मिलती है जो टाइम से दूध पिलाये, फिर दूध उतरता भी नहीं—सूखी रोटियों से भला दूध होता है? गरम कपड़े कहाँ से लाये! नहाने के लाभ भी वह गँवार नहीं जानती उसके विचार में तो छोटे बालक को नहलाने से ठंड लग जाने की आशंका रहती है, स्वास्थ्य के नियम उसे नहीं मालूम मातृशिक्षा भी उसने नहीं पाई, फिर गोबर कंडों की दुनिया में बसने वाली नन्दो सफ़ाई का क ख ग भी तो नहीं जानती।

वह चुपचाप खड़ी रही, बहूजी के लल्ला को ज़रा-सी खाँसी होने पर घर भर दौड़-धूप में लगा है, सवेरे ही डाक्टर देख गया। इधर उसका गुन्नू खाँसते-खाँसते बेदम हो जाता है, आये दिन बुखार में तपता रहता है, पर उसके पास इतना पैसा भी नहीं है कि हकीम जी के यहाँ से दो आने की पुड़िया ले आये—जम्मो के पाँव का फोड़ा दो बार पक कर फूट चुका है, केवल मरहम के अभाव से अच्छा नहीं होने आता। अपने-अपने भाग्य हैं...उनके भाग्य में सुख लिखा होता तो मुझ मजदूरनी के यहाँ क्यों पैदा होते, किसी सेठ साहूकार के यहाँ जन्म लेते...रूप रंग में वह किस ऊँची ज़ात से कम है।...वह सोचती रही...हे भगवान्! मोहना जल्दी से आ जाय। आध घन्टा निकल गया, धाय ने सिकाई कर के रेशमी लिहाफ़ से ढँककर बेबी को पालने में सुला दिया।

बहूजी का शृंगार समाप्त हो चुका था, वह भी सिनेमा जाने के लिये मोहना की प्रतीक्षा में थीं—

"हरामख़ोर! जाकर बैठ ही गया"—बहूजी बुड़बुड़ाई।

"बहूजी! ओवलटीन और गुलूकोज़ तो बहुत महँगे हो गये"—मोहना सदर द्वार से ही पुकार मचाता घुसा—एक रुपये नौ आने वाले डिब्बे तीन रुपये छः छः आने हो गये—"

"हो जाने दे मरों को। लड़ाई क्या छिड़ी सभी चीज़ों में आग लग गई?"—बहूजी ने भुनभुना कर कहा—"पर तूने इतनी देर क्यों करी?"

"बहूजी की बातें! लो देर क्यों करी, सारे बाज़ार में तलाश करता रहा, मुश्किल से सवा तीन को डिब्बा मिला, सुना है हफ़्ते भर में दाम दूने हो जायँगे।"

"अच्छा! तो आज ही दोनों के आधे-आधे दरजन डिब्बे ख़रीद लाओ"—बहूजी ने एक बार फिर दर्पण में अपना क्रीम-मण्डित मुख मंडल निहार कर कहा—जार्जेट लाया?"

"जी लाया हूँ"—मोहना ने जेब से कपड़ा निकाल कर कहा—साढ़े पाँच रुपये गज़ मिला?"

"देख गाड़ी तैयार हुई?"

मोहना ओवलटीन का डिब्बा धाय के आगे रख कर बाहर चला।

"भइया पहले मेरा हिसाब कर दे"—नंदो ने खुशामद की।

"ठहर जा, अभी आया—"

नन्दो विवश, क़साई के खूँटे से बँधी गाय-सी खड़ी रही, दस मिनट में मोहना लौट आकर बोला—हरामज़ादा भीखू बैठा 'चरस के दम' लगा रहा था, मुझे आता देख के अब गाड़ी जोतने लगा है बहूजी !—

"भइया !"

"मर भइया की नानी। ले गिन, देखूँ कितने हैं"—उसने टोकरी पलटते हुए कहा—बड़े पतले लाती है अब। पांच सेर दूध के तले बीस कंडे फुक जाते हैं।"

नंदो चुप रहो।

"एक-दो-आठ-दस बारह'—

"बस भइया—नंदो ने टोका—एक पैसे में बारह ही दूँगी। औरों ने तो दस कर दिये हैं।'

"अरी वाह ! ये भी क्या लड़ाई पर जा रहे हैं'।

"न न—बारह के हिसाब से ही दूँगी" नंदो अड़ने लगी।

"ऐ बहू जी ! मोहना ने पुकार मचाई—सुनिये इस नंदो की बदमाशी, पैसे के बारह देती है। कल तक तो सोलह थे, आज एक दम 'अंगरेजी रेट' कर दिया !"

बहू जी दो रसगुल्ले खाकर ऊपर से दूध पी रही थीं, मुँह पोछते हुए बाहर आ गईं।

"क्यों री ! सोलह से एकदम बारह। ग़ज़ब करती है तू भी, उपले न हुए सोना चांदी हो गये।"

नंदो का मन क्षुब्ध हो उठा। ओवलटीन के डिब्बे दूने दामों पर भी दरजन भर मँगा लेंगी, और मुझ ग़रीब के पैसे दो पैसों पर—

"बहू जी ! सभी जिन्स मँहगी हो रही है"—उसने दबी ज़बान से उत्तर दिया।

"तो यह भी जिन्स है ?"—बहू जी तिनक पड़ीं—तुम लोगों की आँखों में लिहाज़ तो होता ही नहीं। पैसे दो पैसे पर मरती हो। अभी चार दिन हुए मुन्नी की नई फ्राक दी थी, उसकी तो याद न रही। कंडे सोलह से बारह कर दिये। रहने दे मोहना, सुन्दरिया के यहाँ से ले आइयो।

नन्दो ने तब डबडबाई आँखों से अपने 'धन' को देख कर कहा—अच्छा बहू जी पैसे के चौदह लगा लो !

'गिन ले'—बहू जी ने मोहना से कहा।

३

दूसरे दिन ग्यारह बजे तक काम से निपट कर, गन्नू को ओढ़नी से लपेट, नन्दो अस्पताल चली। आधा गोबर पाथ लिया था, आधा जस्सो के माथे डाल आई, वह बेचारी, नन्हें नन्हें हाथों से काफी देर में एक उपला बनाती और उठाते न उठाते वह टूट जाता, फिर बनाती। घुटने तक गोबर में लिसी, घघरी को कमर में खोंसे वह मरे मन से पाथ रही थी, बीच बीच में जब जुएँ रेंगने से सिर में खुजली उठती तो उन्हीं सने हाथों से खुजा लेती। माँ के थप्पड़ों का डर न होता तो कभी की वह खेलने निकल जाती—।

नन्दो भागती हुई अस्पताल पहुँची, बारह बजे अस्पताल बन्द हो जाता है, खैराती अस्पताल ठहरा, डाक्टरानी और नर्सें नन्दो की नौकर थोड़े ही हैं जो साढ़े ग्यारह के बाद भी दवा दें। वह तो सरकारी नौकर हैं, यद्यपि ग़रीबों के मुफ़्त इलाज और सेवा टहल के लिये ही उन्हें काफ़ी वेतन देकर रक्खा गया है. परन्तु उनके विचार में तो वे जो इन गन्दे चिथड़े लपेटे हुए नर कंकालों के रोगों पर उल्टी सीधी नज़र डालकर जैसी तैसी दवा दे देती हैं यह उनको ऐन मेहरबानी है; अव्वल तो वहाँ दवाएँ ही गिनती की होती हैं—हर एक बुखार में कुनैन, पेट के मर्ज़ में कास्टरआइल और फोड़े फुन्सियों पर टिनचर और वोरिक मरहम। "मेम साहब! पहले मेरे छोरा को देख लो—" नन्दो ने रोगियों की भीड़ में धँसकर आगे बढ़ते हुए कहा—इसकी खाँसी नहीं जाती" "बेवक़ूफ़! पीछे हट, एकदम सिर पर लाद दिया—नुसखा लिखते हुए मेम साहब ने जिनके रंग पर नवा नालिश करने जा रहा था—झिड़क कर कहा—तुम लोगों में तमीज़ तो है ही नहीं।"

नन्दो पीछे खिसक गई।

भीड़ की अधिकांश रोगिणियों ने जो नन्दो जैसी ही लुटते पतझड़-सा यौवन लिए थीं, उसी की भाँत मैली कुचैली, फटे हुए लहँगे ओढ़नी या चूड़ीदार पैजामे और पैबंद लगे बुरके लादे थीं, जिनके हाथ पाँव और गले में चाँदी और गिलट के घिसे हुए, मैल से काले कड़े छड़े और हँसुलियाँ पड़ी थी, जिनके बच्चों के सूखे हाथ पाँवों और बढ़े हुए पेट पर गण्डे तावीज़ों की मालाएँ मढ़ी हुई थी, उसे धक्का देकर कहा—"वाह री, पीछे आई और पहले दवाई माँगती है! तू ही है एक नवाबज़ादी—।"

"नवाबज़ादी तू, तेरी माँ—" नन्दो ने पलट कर कहा। इन अपने जैसी नालियों में रेंगते कीड़ों-सी नारियों से वह क्यों दबे!

"राँड़! मेरी माँ तक चढ़ती है। ज़ुबान खींच लूँगी।"

"खींच के देख। तेरे सिर का एक एक बाल बीन डालूँगी।"

"सुसरी",

"सुसरी तू"

"चुप! चुप! कमबख़्तो! शोर करोगी तो चपरासी से कहकर सबको बाहर कर दूँगी"—डाक्टरानी ने डाँटा।

सन्नाटा छा गया,

"नम्बरवार आओ।"

नम्बर से सब परचा लिखवा कर दवा लेने चलीं।

"लड़का कब से बीमार है"—मेम ने नन्दो से पूछा।

"जी, दो तीन मास से रोगी हो रहे है, कभी खाँसी कभी बुख़ार—"

"और आज लाई है? बहुत ठीक और दो महीने बाद लाती,"—मेम ने व्यंग से कहा—ऊपर का दूध देती है या रोटी खिलाने लगी है?"

"जी ! दूध-कहाँ से लाऊँ, मेरे भी नहीं होता। कभी खिचड़ी कभी रोटी का टुकड़ा पकड़ा देती हूँ।"

"खूब ! मारने के काम तो तुम लोग खुद करती हो। फिर मेम साहब की जान खाने आजाती हो। हिन्दोस्तानी औरतों को अक़्ल तो छू नहीं गई। लो यह नुसखा पिछली तरफ़ से दवा बनवा लो—और हाँ सुनो ! इसे ओवलटीन और ग्लुकोज़ पिलाओ—खाली दवा देने से अच्छा नहीं होगा।'

"क्या ?"

"ओवलटीन और ग्लुकोज़"—लेडी डाक्टर ने चिढ़कर कहा—दिमाग़ खा डाला चुड़ैलों ने। जाओ।" और अपना बेग सम्हाल कर चरमर करती वह दूसरी तरफ़ चली गई। पौने बारह बज रहे थे।

नन्दो परचा लिए खड़ी रह गई—ओवलटीन—ग्लुकोज़ इनके बिना अच्छा नहीं होगा ! तब दवा लेने से फ़ायदा। सात रुपये दो आने में दोनों डिब्बे आवेंगे—उसने उँगलियों पर हिसाब लगा कर देखा। हाँ सात रुपये दो आने, कल ही तो बहू जी का नौकर लाया है। कहाँ से लायेगी वह सात रुपये दो आने। तीन रुपये हैं कुल उसके पास। इन्हें उसने दो महीने से बचाकर बहुत ही सँजोकर अपने उसी कनस्तर में रख छोड़ा है जस्सो की हँसुली गढ़ाने के लिए। छोरा के लिये वह इन तीनों को भी खर्च देगी। पर इन रुपयों से तो एक भी चीज़ न आवेगी। शेष चार रुपये दो आने कौन देगा ?—मेम साहब अगर नुसख़े पर दवा के बजाय ओवलटीन लिख देती—सोचती हुई नन्दो दूसरी तरफ़ मुड़ गई। पिछली तरफ़ बड़ी भीड़ थी। कम्पाउन्डर की खिड़की पर बीमार स्त्री पुरुषों का ठठ जमा था, कोई फोड़े पर तेल से चीकट पट्टी लपेट मरहम की पुकार मचा रहा था, तो कोई कान दर्द से तड़प कर 'हाय डाक्टर जी मर गया—'की आवाज़ बुलन्द किये था, स्त्रियाँ अपनी गोदियों में मरे बन्दरियों के बच्चे जैसे सूखे शिशु लटकाये दवा के लिए एक दूसरी पर टूटी पड़ती थीं, खैराती अस्पताल जो ठहरा। मुफ़्त दवा मिलती है—इस युग में जहाँ मिट्टी भी मोल बिकती है पानी भी। वहाँ अंगरेज़ी सरकार ने अपने पैसों से ग़रीबों के लिये अस्पताल खोल दिया है। इस दया धर्म के बल पर ही तो उनका राज्य सप्तद्वीप नवखंड में फैला है, देव दुर्लभ कुनैन भी—जिसमें आधा पानी मिला होता है—यहाँ दस पाँच धक्के खाने से मिल जाती है।

दोनों कम्पाउंडर जल्दी जल्दी दवा बना रहे थे, जैसी तैसी उल्टी सीधी। क्या करें। दस नौकरों का काम दो पर था। नंदो को देर हो रही थी। ठेकेदार के यहाँ की दो सेर हल्दी पीसनी है, आज ही देनी है पीसकर। पिसाई के दो आनों का लोभ तो उतना नहीं है जितना ठेकेदारनी की नाराज़ी का डर। पूरे एक बीसी रुपयों की क़र्ज़दार है वह उनकी।

टन-टन-टन···बारह बजे, कम्पाउन्डरों ने दवा बनाने से हाथ रोक कर कहा—बस, अब शाम को आना छः बजे, तब बनेगी दवा। रोगी शोर मचाते रह गये, खिड़की फट से बन्द हो गई।

नंदो नुसखा लिये खड़ी रह गई। शाम को फिर आना होगा—डेढ़ मील चल-कर। न, वह नहीं आयेगी—फिर हल्दी देने कौन जायगा। और आने से फ़ायदा। मेम ने कहा है ओवलटीन पिलाओ। इसके बिना अच्छा न होगा। इतने पैसे वह कहाँ से लायगी—मरे-मरे यह भी मर जाय—जहाँ तीन चले गये यह भी सही...और झर-झर नुसखा फाड़ कर वह जल्दी जल्दी अस्पताल से बाहर आगई।

बहू जी का लल्ला बिलकुल अच्छा होगया, उसी की ख़ुशी में आज हवन होना था। कल जब जस्सो वहाँ से पैसे लेकर लौटी तो उसने आकर कहा—'अम्मा! बहू जी ने कहा है कि कल तड़के ही पहुँच जाना। घर आँगन धोना होगा, पिट्ठी की दाल पीसनी होगी'—

नन्दो सुन कर चुप रही, काम से उसे इनकार नहीं है। काम करेगी तो चार पैसे मिल ही जाँयगे, दो बेला भरपेट पूरी कचौरी भी ले पायेगी। परन्तु छोरा जो बीमार है। दस दिन से हकीम की दवा ला रही है फिर भी फ़ायदा नहीं, फ़ायदा भी क्या हो। बीच बीच में दवा का क्रम टूट जाता है! प्रायः ही नन्दो पिसाई कुटाई को बड़े घरों में चली जाती है—क्या करे पेट को तो टुकड़ा चाहिए ही, लड़का मरे या जीये, तन को भी मोटा झोटा लहँगा ओढ़नी चाहिए। वह यदि बच्चे को लिए बैठी रहे तो मजूरी कौन देगा उसे, जस्सो का बाप भी तीन महीने से महाजन के यहाँ दिन रात पर नौकर है। बाप की बरसी पर बीस रुपये लिये थे। उन्हीं की एवज़ में वह चार महीने को बन्धक पड़ा है। इस बीच कुल दो बार आ पाया था—बस।

रात भर गन्नू को खाँसी आती रही। रो रो कर घर सिर पर उठा लिया। न स्वयं सोया, न नन्दो की पलक झपकने दी।

'सो जा, नासपीटे सो जा अँधेरे उठकर जाना है बहू जी के जग देर हो गई तो प्रान साँसत में कर देंगी।' पर नासपीटा न सोया। नन्दो को रात खड़े ही बीती। सवेरे को ज़रा बालक कुछ शान्ति पाकर सो गया तो वह भी कमर सीधी करने को धरती पर पड़ रही। और पड़ी सो पड़ी ही रह गई। आँख खुली तो धूप चढ़ आई थी, जस्सो द्वार के पास बैठी बासी रोटी खा रही थी, और गन्नू टट्टी में सना पड़ा था। नन्दो के पाँव तले से ज़मीन निकल गई, आज बहू जी जीता न छोड़ेंगी, एक दम झाड़ू से खबर लेंगी। नन्दो का क्रोध जस्सो पर उतरा। उसने जस्सो की कमर में एक धौल लगा कर कहा—"हरामज़ादी आराम से रोटी निगल रही है। रात भर तो मिनकी तक नहीं। तू अगर इसे रात को रख लेती तो मुझे सवेरे उठने में देर क्यों होती?'

जस्सो के मुँह का ग्रास बाहर निकल पड़ा 'हाय बाप'—वह धरती में लोट कर रोने लगी।

नन्दो ने ओढ़नी का फटा छोर नीचे करते हुए बुड़बुड़ा कर कहा—"बाप की बच्ची। साँस लिया तो गला घोट दूँगी। उठकर छोरा को धो और ले।"

फिर वह सर्राटे से चल पड़ी, परन्तु मन में कोई चुटकियाँ भर रहा था कि नाहक छोरी को मारा, बिचारी दिन भर तो लिये रहती है।

दरवाज़े में पैर रखा ही था कि बहूजी ने ललकार कर कहा—क्या ज़रूरत थी आने की। बेगम साहब आठ बजे आई हैं। लेने के समय तो हाथ पसार देती है काम करते दम निकलता है।

'बहू जी! रात छोरा की तबियत बहुत खराब थी इसी से—'

'तो जा, अपने छोरे को लेकर बैठ। मैं तो मोहना को भेजकर सुन्दरिया को बुलाये लेती हूँ। और हाँ सुन, अपने आदमी से कह दीजो पहली तक हिसाब साफ़ कर दे।'

और ग़रीबी की मारी नन्दो हाथ जोड़कर बोली—'मेरी बहू जी, रानीजी, मैं अभी किये देती हूँ छिन भर में, बताओ दाल कहाँ रक्खी है।'

वह दौड़ कर झाडू बालटी लिये कमरा धोने चल दी।

फिर सारे दिन नंदो को पानी पीने की फ़ुरसत न मिली, घर धोना, दाल पीसनी, हलवाइयों के लिये आटा मलना, आलू छीलना, गोला कसना—कोई एक काम था? शाम को दावत हुई, आठ बजे लोग खा पीकर गये, केवल स्त्रियाँ रह गईं गाने बजाने को, आज रतजगा था। नन्दो ने कई बार चाहा कि घर फेरा लगा आये, मगर इतनी फ़ुरसत न हुई।

रात को उसने कहा—बहू जी। तनिक घर हो आती।

'अरे। एक रात न गई तो क्या, देखती नहीं काम फैल रहा है।'

'बहू जी। जस्सो भूखी होगी और छोरा भी बीमार है—'

'अच्छा!' बहू जी ने सोचकर उत्तर दिया—भाग कर जा, घन्टे भर में लौट आना। तेरा नेग कल दे दूँगी—

नन्दो कुछ देर आस लगाये रही, पर नेग के साथ खाना देना भी बहू जी भूल गईं। तब दिन में छिपा कर रक्खी हुई चार कचौरियाँ लँहगें में खोंस कर वह घर चली। दौड़ती हुई पहुँची।

तेल के टिमटिमाते दीपक के प्रकाश में जस्सो खड़ी हुई ऑं-ऑं करके गन्नू को सुलाने का प्रयत्न कर रही थी। वह खाँस खाँस कर दोहरा हुआ जाता था;

'ले इसे'—माँ को देखते ही जस्सो ने बालक को खटोले पर पटक दिया—'सबेरे से जाकर बैठ गई। रोटी भी नहीं बना गई,...देख तो इसने टट्टी करके कितने कपड़े सान दिये।'

सच ही गुदड़ी—कथरी—ओढ़नी—बिछाने का टाट सभी वमन और दस्तों से भरे पड़े थे।

'ले खाले'—नन्दो ने कमर में खोंसी हुई कचौरियाँ पटरे पर रख दीं। भूखे भेड़िये की भाँति जस्सो उन पर टूट पड़ी।

टिहडि-टिहडि-खों-खों-बच्चे की पसलियाँ धौंकनी-सी चल रही थीं, नन्दो ने उसे गोद में ले लिया—दूध में लगाया। निरन्तर खाँसने से बच्चे की नसें सूज गई थीं। दूध पीते दर्द होता था। वह रोता रहा, खाँसता रहा, उलटी करता रहा।

दो घन्टे हो गये—खाँसी का तार न टूटता था। बच्चे की आँखें निकल निकल

पड़ती थी। इस बीच में नन्दो ने तनिक-सी अफ़ीम भी दे दी थी पर कोई अन्तर न पड़ा। आध घन्टा—और बच्चे ने उल्टी करके सारी अफ़ीम बाहर कर दी। नन्दो अब क्या करे—तीन घन्टे होने आये—बहू जी क्या कहेंगी—उसने दोबारा डिबिया खोली और ज़रा ज़्यादा-सी अफीम घोलकर पिला दी, गन्नू ने दो एक बार मुँह बिगाड़ा फिर दूध मुँह में लेकर पड़ रहा, आँखों में आँसू भरे नंदो उसके सींक-से हाथ पैरों को सहलाती रही—बच्चा शान्त पड़ गया।

उसे लिटा कर चादर ओढ़ाकर उसने जस्सो से कहा—"बिटिया कुन्डी चढ़ा ले मैं जा रही हूँ।"

"फिर जायगी, रातको भी? मुझे डर लगता है मैं भी चलूँगी।"

"नहीं बिटिया डर काहे का! हम गरीबों को काहे का डर? भइया के पास बैठ। मैं सबेरे तेरे लिये मिठाई लाऊँगी।"

नंदो चल पड़ी, उसके पाँव आगे और मन पीछे को लौट रहा था। मन कड़ा करते वह चली गई।

रात भर वहाँ खूब गाना बजाना हुआ, नंदो एक पाँव से थिरकती रही—नाच कर नहीं, पानी पिलाते पंखा डुलाते, आई गईयों की जूतियाँ और चादर सम्हालते। पाँच बजे सबेरे गीत बन्द हुये।

घर झाड़ बुहारकर दरियाँ और फर्श की चाँदनी उठवाकर, बर्तन मँजवाकर लगभग नौ बजे नंदो ने छुट्टी पाई। बहूजी की इच्छा थी कि वह मोहना के साथ परोसे बँटवाकर तब घर जाय।

परन्तु, नन्दो का मन उचट रहा था। वह बार बार घर जाने कहती। बहूजी ने बेमन से झनक-पटक कर, सोलह कचौरियां और एक चवन्नी उसे पकड़ाकर कहा—अब खुश! जा, बारह बजे तक लौट आइयो अभी मुझे काम है।"

नंदो भागती हुई घर आई।

जस्सो माँ को आते देख कर बोली—अम्माँ रात वाली दवाई बड़ी अच्छी थी, तब से भइया ने एक भी उल्टी नहीं की, रोया भी नहीं—सो रहा है, रोया भी नहीं—नन्दो का जी 'धक्-धक्' करने लगा। उसने खटोले के पास जाकर चादर हटा दी। गन्नू को जैसे वह लिटा गई थी, वैसे ही पड़ा था, मुँह पर कुछ पीलापन आ गया था। नन्दो ने उसे पुकारा भइया-लल्लू, फिर हिलाया डुलाया। न कहीं—कुछ नहीं, न रोया न कुछ खासा शान्त स्थिर भाव से पड़ा रहा, मानो भव की समस्त पीड़ाओं से मुक्त होकर चिर-विश्रामशैया पर पड़ा हो। नंदो ने घबरा के उसे उठा लिया। पतले पतले हाथ पाँव, बर्फ-से ठन्डे हो रहे थे, पेट की नसें उभरकर और भी अधिक पीली हो गई थीं, साँस का कहीं पता न था।

"ओ गन्नू, मेरे लाल।" नन्दो उसे कलेजे से चिपटा कर फफक कर रो उठी। पल्ले में बँधी कचौरियां गाँठ खुल जाने से कोठरी में छितरा गई थीं—

उसका एकलौता बेटा

[कोन्स्तांतिन सिमोनोफ]

यह पड़ाव के बहुत पीछे की बात है। हवा के भीषण झोंके ज़मीन पर पड़े बर्फ़ और ओलों को उड़ा रहे थे। पुल उड़ाने के बाद छापामार किनारे की ओर उस छोटी-सी निर्जन खोह को जा रहे थे जहाँ उनको ले जाने के लिए उन्हें एक मोटर तैयार मिलने वाली थी। पहली ही बार बर्फ़ पिघलने के बाद चोटियों पर बर्फ़ जम गई थी और उन पर चढ़ने के लिए हाथों और घुटनों के सहारे चलना पड़ता था। भेड़ियों के गिरोह की-सी दृढ़ता से जर्मन उस बर्फ़ में उनका पीछा कर रहे थे। वे बीच-बीच में पीछे रह जाते और पहाड़ियों में फँस कर न जान पाते कि शिकार किस ओर गया लेकिन फिर वे उनके चिह्न पा जाते।

सब कुछ बड़ी शान से होता चलता अगर शुरू ही में लेफ़्टिनेन्ट यरमोलोफ़ ऑटोमैटिक राइफ़ल की एक लक्ष्यहीन बौछार से घायल न हो गया होता—यह हद दर्जे की बदकिस्मती अचानक ऐसे लोगों पर आ गिरती है जो दर्जनों बार, मुसकराते हुए, मौत से बाल-बाल बचे होते हैं। यरमलोफ़ के दोनों पैर घुटनों के ऊपर से टूट गये थे। वह गिर पड़ा, कोहनियों के सहारे ज़रा उठा और उसने पानी माँगा। एक फ्लास्क में से कुछ बूँदें उसके मुँह में डाली गईं। उसने अपनी टूटी टाँगों को और अपने शरीर के नीचे भरकर आसपास के बर्फ़ को रँगती हुई, खून की काली नदी को देखा और कहा—"मुझे छोड़ दो।" वे सब जानते थे कि वह बात ठीक कह रहा है, लेकिन उसे छोड़ना उनकी ताक़त से परे था। यरमलोफ़ की आँख बचाते हुए कप्तान सर्गेयेफ़ ने उसे उठाने और ले चलने का हुक्म दिया। वे पन्द्रह थे। पाँच-पाँच आदमी मिलकर बारी-बारी से यरमलोफ़ को ले चले। चढ़ाई आने पर, वे उसे बर्फ़ पर लिटा देते और फिर जब कुछ आदमी सरककर ऊपर पहुँचते नीचे वाले लोग उसे बाँहों में उठाकर ऊपर वाले लोगों के हाथ में दे देते। सारी मनोयोगपूर्ण कोशिशों के बावजूद उन्हें ज्यादा कामयाबी नहीं मिल रही थी।

उनकी चाल अब पहले से कहीं धीमी हो गई थी और जर्मन उनके बहुत नज़दीक आ पहुँचे थे। पीछे आने वाले आदमी रास्ते के पथरीले ढूहों की आड़ लेकर अपनी हल्की मशीनगनों की बौछार से उनको रोके हुए थे। दो घंटे बाद उनकी हालत खतरनाक हो गई। वे इतने धीमे चल रहे थे कि जर्मन संभवतः बगल से होकर उनके बराबर तक आ पहुँचे थे।

बर्फ़ की एक दरार को पार करते वक्त यरमलोफ़ को एक पल के लिए होश आया। उसने कप्तान को आवाज़ दी।

उसने कहा—"पास...पास आओ।"

सर्गेयेफ़ कान उसके जलते होठों के पास ले गया।

"तुम्हें यह सब करने का हक़ नहीं है।" यरमलोफ़ ने कहा। गोकि उसके शब्द मुशकिल से सुन पड़ते फिर भी उसका स्वर यकायक दृढ़ और रोषपूर्ण होगया :"तुम्हें यह सब करने का हक़ नहीं है। तुम सत्यानाश कर दोगे। यह सरासर देशद्रोह है।"

उसने बोलना बन्द कर दिया और आँखें मूँद लीं। वह बात नहीं करना चाहता था।

सर्गेयेफ़ समझ गया कि 'देशद्रोह' शब्द का इस्तेमाल जानबूझकर किया गया है जिसमें उसे मजबूर होकर यरमलोफ़ की ख़्वाहिश पूरी करनी पड़े। और यरमलोफ़ की ख़्वाहिश ठीक तो थी ही—भयानक, लेकिन ठीक। सर्गेयेफ़ उससे अलग होकर साथ-साथ चुपचाप चलने लगा। दरार पार कर चुकने पर एक छोटी-सी पहाड़ी की ढाल पर जहाँ चट्टानें इधर-उधर बिखरी पड़ी थीं उसने उसे उतारने का हुक्म दिया। एक तम्बू को बिछाकर उन्होंने उसे बर्फ़ पर उतार दिया। सर्गेयेफ़ ने दूसरों को आगे बढ़ने का हुक्म दिया। उसने अपनी पेटी में से फ़्लास्क को खोला, फ़ौजी झोले में से बन्द खाने का एक डब्बा लिया और चाकू से उसे खोला। उसने डब्बे और फ़्लास्क को यरमलोफ़ के पास, जहाँ उसका बायाँ हाथ पहुँच जाता था, रख दिया। उसके बाद उसने यरमलोफ़ का रिवाल्वर रखने का चमड़े का केस खोला, रिवाल्वर निकाला और उसे तंबू पर इस तरह रख दिया कि उसका लकड़ी का कुन्दा यरमलोफ़ की उँगलियों को छू रहा था।

यरमलोफ़ ने उसे झुकी हुई लेकिन अपलक आँखों से निहारा, पर कहा कुछ नहीं। दो बड़े पत्थर आपस में मिलकर जो कोण बनाते थे उससे पीठ के बल टिककर वह यों लेटा हुआ था जैसे आराम कुर्सी में हो।

उससे आँख मिलाना अब सर्गेयेफ़ के लिए मुमकिन था। मरते हुए आदमी की इच्छानुसार उसने सब कुछ, जो भी ज़रूरी था वह सब कुछ कर दिया था।

सर्गेयेफ़ ने कहा—"तो बस बिदा।"

यरमलोफ़ ने उसके हाथों को अपने हाथों में लिया और बिना बोले अप्रत्याशित दृढ़ता से पकड़कर उसे हिलाया।

सर्गेयेफ़ बिना एक बार पीछे मुड़कर देखे, आगे बढ़ता गया। एक सेकंड बाद उसकी सफ़ेद कमीज एक चट्टान की आड़ में चली गई और यरमलोफ़ ने सोचा कि वह आखिरी आदमी है जिसे वह जीते जी देखेगा—और यों तो जर्मन भी हैं!

उसे दर्द के कारण भीषण तकलीफ़ हो रही थी। वह जल्द से जल्द उसे खत्म कर देना चाहता था लेकिन जर्मनों का खयाल आते ही आत्महत्या के विचार उसके दिमाग से भाग जाते। उसने रिवाल्वर उठाके उसका लीवर ठीक किया और हवा में फ़ैर किया। वह नहीं चाहता था कि उसके साथियों को संशय के कारण तकलीफ़ उठानी पड़े, अच्छा है वे यह समझ लें कि सब खत्म हो गया, यही अन्त है। लेकिन वह—वह अब भी लड़ता जायेगा। उसे बहुत खुशी जिस बात की थी वह यह कि उसने इतनी आसानी से रिवाल्वर के कड़े लीवर को उठा लिया था। हाँ तो अब भी उसके हाथों में ताक़त थी—क्या कहना! उसने फिर रिवाल्वर उठाया और

घास के एक टुकड़े का, जो बर्फ़ के अन्दर से झाँक रहा था, निशाना लेना चाहा। उसने आसानी से निशाना ले लिया, उसका हाथ काँपा नहीं। उसने रिवाल्वर नीचा कर लिया।

बर्फ गिर रही थी। बर्फ से लदे पीले बादल आसमान पर छाये हुए थे। ध्रुव पर का सूरज डूबा न था लेकिन धुँधलका हमेशा से ज्यादा अँधेरा था। एक चतुर स्काउट के सहज ज्ञान के बल पर उसे विश्वास हो गया कि पीछा करते हुए जर्मन देर-सबेर उसके पास से गुज़रेंगे ज़रूर। अब सवाल था कि किस दूरी से वे उसे देखेंगे। करीब तीस गज पर वह मार सकेगा। उसने चिन्तित हो कर आसमान को देखा, बशर्ते बर्फ़ का तूफ़ान चलता ही रहे।

वह अकेला था, एक दम अकेला, कोई उसकी मदद करने वाला न था, न तो उसके साथी, न उसका सबसे पुराना दोस्त — उसका पिता। आँख मूँद कर उसने अपने पिता को याद किया, जैसा कि उसने उन्हें आख़िरी बार, फ़ौजी हेडक्वार्टर के भुइँघरे में देखा था। सिगरेट के सिरे को चबाते हुए वह तोपख़ाने के अपने काग़ज़ों को गौर से देख रहा था और बिना सर उठाये हुए नाराज़गी के-से स्वर में उसने कहा था कि स्काउट अपना काम ठीक से नहीं कर रहे हैं, पिछले महीने उन्होंने सिर्फ़ चार तोपख़ानों का पता लगाया। लेकिन बावजूद इस नाराजगी के स्वर के यरमलोफ़ जानता था कि उसने अपना काम ठीक से किया है और उसका पिता उससे संतुष्ट है। झूठमूठ ही वह बड़बड़ा रहाथा — बेटे के प्रति अपने प्यार को छुपाने का यही उसका ढंग था।

और फिर उसका दिमाग़ अपने पिता के साथ उसकी मैत्री की सामान्य घटनाओं की तारतम्यहीन, भागती हुई स्मृतियों से भर उठा। कैसे उसके पिता ने उसे डाँटने का नाट्य किया था, ज़रा भी अफ़सोस न किया था जब बचपन में उसे घोड़े ने फेंक दिया था; कैसे वे दोनों व्यायामशाला में तलवार से लड़ा करते थे; कैसे एक बार वह अपने पिता को कोने में धकेल ले गया था और कितना प्रसन्न हुआ था बुड्ढा और कैसे मूंछों में मुसकान छिपाये पहली बार अपनी पत्नी से खाने के वक्त उसने कहा था कि दो आदमियों के लिये वह शराब के दो गिलास मेज़ पर रक्खे। उसे याद आया कि उसका पिता हमेशा उसकी तरफ़ सख़्ती से पेश आता था, कभी उसे रत्ती भर प्यार न दिखलाता था। लोकाचार के नाते अलेक्सी के सिवाय कभी अल्योशा कह कर न पुकारता था, कैसे वह उसे हमेशा लोगों के सामने डाँटता था। शायद ही कभी उसकी तारीफ़ करता था, और सो भी उसके मुंह पर नहीं। और फिर भी अनुभूति की उस तीव्रता के साथ जो कुछ ही घंटे का मेहमान आदमी महसूस करता है, उसने अपने पिता के साथ अपनी उस लंबी, शान्त यहाँ तक कि कुछ अनासक्त मैत्री के पीछे छुपे रहने वाले गहरे प्रेम, कोमलता और गर्व को अनुभव किया। वह निस्संदेह अपनी मां को प्यार करता था, निस्संदेह। लेकिन इस पल उसके प्यार से भरे हाथ, उसकी थकी मुसकान, या रोते आंखों के नीचे की उसकी खुशनुमा झुर्रियाँ उसे नहीं याद आ रही थीं। इस पल उसे लगा कि वे सारी चीज़ें

बहुत दूर चली गई हैं और उनका कोई संबंध उन चीज़ों से नहीं है जिन्हें वह इस वक्त झेल रहा था। लेकिन इस वक्त उसके पिता की टूटी-फूटी स्मृतियाँ उसके लिये बहुत महत्व रखती थीं, उनका सीधा संबन्ध हाथ के क़रीब रिवाल्वर रखे हुए उसके इस तरह यहाँ पड़े रहने से था, और गोकि अपने पैर में होने वाले भयानक दर्द को खत्म कर देने की इच्छा वह मुशकिल से दबा पा रहा था, फिर भी, इस सब के होते हुए भी वह इन्तज़ार करेगा और करता जायगा।

जो कुछ वह कर रहा था, उसको करने का निश्चय स्पष्टतः उसने सिर्फ़ इसलिए नहीं किया था कि यह ग्यारहवाँ मर्तबा था जब वह छापेमार के काम पर जा रहा था और अचानक मौत अब उसके लिए मामूली सी चीज़ हो गयी थी, बल्कि इसलिए कि चार साल की उम्र से ही वह अपने पिता के साथ बारक-बारक, यूनिट-यूनिट घूमा था इसलिये कि घोड़े पर से गिरने के कारण उसके पिता ने उसके लिए आँसू न गिराये थे, इसलिए कि उसका पिता उससे इतना ज्यादा खुश हुआ था जब तलवार चलाते समय वह उस रोज़ उसे कोने में धकेल ले गया था, और इसलिए कि जो मौत वह मरना चाहता था, उसका पिता निस्संदेह उसके अलावा और किसी तरह की मौत की कल्पना उसके लिए न कर सकता था।

उसने आंखें खोलीं और चारों ओर देखा। बर्फ़ पहले ही की तरह खूब गिर रही थी। उसके पांव एक सफ़ेद ढूह के अन्दर बिलकुल छिप गये थे और तंबू पर के काले धब्बे अब नहीं दिखाई पड़ते थे। एक पल के लिए उसे लगा जैसे वह फिर एक नन्हाँ-सा बच्चा हो गया है, बिस्तर में पड़ा है और यह बर्फ़ नहीं सफेद कंबल है और उसकी माँ अभी आयेगी, कंधों तक उसे खींच कर उसके चारों ओर लपेट देगी। खून की कमी से ही उसे यह कमज़ोरी की नींद सी आने लगी थी। इस मूर्च्छा की हालत पर उसे किसी न किसी तरह जीत तो पानी ही थी। दाँत भींच कर, अनिवार्य दर्द के लिए अपने को तैयार कर, उसने अपनी सारी ताक़त एकत्रित की और यकायक पाँव को झटका दिया। वह भयानक दर्द जो थोड़ी देर के लिए मंद पड़ गया था, फिर सारे शरीर में कौंध गया। वह दर्द एक लोमहर्षक चीज़ थी मानों किसी ने एक सूली उसे आर पार कर दी हो। लेकिन जिस चीज़ की उसने कामना की थी, उसे मिल गई थी—दर्द ने उसे झकझोर कर उसकी मूर्च्छा को दूर कर दिया था।

वह चौकन्ना हुआ। उसने अपनी दाहिनी तरफ़, पहाड़ी की जिस ढालपर वह था उसके सामने की ढाल की तरफ़ से, सरसराहट सुनी। "बड़ी अच्छी बात है कि इतनी जल्दी ही वे आ पहुँचे," उसने सोचा और अपने बायें हाथ से, टीन का डब्बा उलटकर उसने उसे अपने दाहिने हाथ के नीचे रख लिया। फिर, रिवाल्वर फटकारते हुए उसने अपनी दाहिनी कोहनी टीन के डब्बे पर टिकाई—इस तरह ऊँचा भी था और हाथ हिलने का डर भी इसमें न था।

सरसराहट और साफ़ सुन पड़ने लगी। जर्मन, उतावली के साथ बड़ी उतावली के साथ बढ़ रहे थे। खूब! लेकिन वह अकेला क्यों था, एकदम अकेला? अगर कहीं ऑटोमैटिक राइफ़लों से लैस उसके दो आदमी यहाँ पर होते............

"अभी एक मिनट में सब खेल तमाशा खत्म हो जायगा और कोई न जानेगा, पिता जी भी नहीं, कि यह सब कैसे हुआ," उसने सोचा। वह चिल्लाना चाहता था, "पिताजी, क्या मेरी आवाज़ आपको सुन पड़ती है?"

उसने अपनी कोहनी और आराम से टीन के डब्बे पर टिकाई और एक बार फिर यह जानने के लिए निशाना लिया कि क्या वह उस घास के टुकड़े को जो बर्फ़ में अब मुश्किल से दिखाई पड़ता था अब भी मार सकता है।

रास्ता दाहिनी तरफ़, उससे कुछ हटकर जाता था और पहला जर्मन उससे पंद्रह गज़ की दूरी पर गुजरा, और उसने उसकी ओर ताका तक नहीं। दूसरा, जो कि घुड़सवारों के अपने कोट के ऊपर एक सफेद कपड़े का गंदा अँगरखा पहने हुए था, झुका और यकायक बाईं ओर ताकते ही मुँह से एक चीख निकाली। यरमलोफ़ ने टीन के डब्बे को कसकर दबाये हुए, जब तक कि उसकी कोहनी दुखने नहीं लगी फ़ैर किया। बन्दूक के झटके से उसकी कमज़ोर बाँह डब्बे पर से खिसक गई। बड़ी मुश्किल से उसने अपनी कोहनी को फिर डब्बे पर टिकाया और दूसरे जर्मन का जो कि चीख और शरीर के गिरने की आवाज़ सुनकर उसकी ओर मुड़ा था निशाना लिया। जर्मन की ऑटोमैटिक राइफल उसकी कमीज़ के फ़ीते में उलझ गई थी और जब तक उसने उसे अपनी गर्दन से निकाल नहीं लिया, यरमलोफ़ रुका रहा उसने आखरी पल में ही, जब कि जर्मन अपनी ऑटोमैटिक राइफ़ल को बाँह पर टिकाकर घोड़ा दबाना ही चाहता था, फ़ैर किया। राइफ़ल जर्मन के हाथों से छूटकर गिर पड़ी; वह दो एक क़दम तक लड़खड़ाया फिर एक दम मुँह के बल बर्फ़ में गिर पड़ा और उसके हाथ यरमलोफ़ के पाँवों को छू से रहे थे।

ढाल की दूसरी तरफ़ से एक-साथ बहुत-सी परछाइयाँ दीख पड़ीं। हाँ—बिलकुल परछाइयाँ। और चूँकि उसके लिए अब वे आदमी नहीं बल्कि एक संपूर्णता में घुल मिल जाने वाले सिर्फ़ काले धब्बे रह गये थे, इससे यरमलोफ़ ने जान लिया कि उसकी चेतना लुप्त हो रही है और अगर वह उनके हाथों में जिन्दा नहीं पड़ना चाहता तो उसे फ़ौरन आखिरी गोली दाग़नी चाहिये। इस आखिरी सेकंड में उसे यकायक अपनी माँ का ख़याल आया जिसने कितनी ही बार प्यार से उसके मुँह और बालों को चूमा था, और उसने रिवाल्वर कनपटी पर नहीं लगाया, बल्कि अपनी खुली हुई जाकट के अन्दर, फ़ौजी क़मीज़ के बायें जेब से प्रायः दो इंच नीचे, दबाया। उसने अपनी उँगलियों को इतने ताक़त से कसा कि उसका दाहिना हाथ, छटपटाहट के अपने आखिरी क्षण में जब बर्फ़ पर गिरा तो उस वक्त भी वह रिवाल्वर को मुट्ठी में दाबे हुए था।

(२)

कर्नल यरमलोफ़ सबेरा होते होते फ़ौज के हेड क्वार्टर पर वापिस आया। बसंत के मौसम में गिरनेवाली बर्फ़ के कारण उसे आखिरी बारह मील पैदल ही तय

करने पड़े थे और इस वक्त वह अपने गीले बूट उतारकर अपने कैम्प के बिस्तरे पर फैला हुआ सिगरेट का मजा ले रहा था। बर्फानी तूफ़ान, जो कि इन महीनों में नहीं हुआ करता, पिछले दो दिनों से चल रहा था। हवा के झोंकों ने भुइँधरे की सारी गर्मी को निकाल बाहर किया था और लोहे के गोल चूल्हे में लकड़ियाँ डालने के लिए कर्नल नंगे पैरों बीच-बीच में उठता रहता था। अगली चौकियों की हालत के बारे में वह अपने बड़े अफ़सरों को रिपोर्ट दे चुका था। कमिसार का बिस्तर ख़ाली था, वह अब तक डिविज़नल हेडक्वार्टर से न लौटा था, और भुइँधरे में एक अजीब ख़ामोशी का, जो कि सिर्फ़ लकड़ियों के चटख़ने और बाहर हवा की हू हू से भंग होती थी, राज था।

पहले, शान्ति के दिनों में, जिसे अकेलापन समझा जाता था—अपने प्यारे लोगों, बीवी-बच्चे का वियोग, घर से अलग कट कर पड़े रहना—अब, लड़ाई के ज़माने में बहुत दिनों से ऐसा नहीं समझा जाता। वे अनगिनत लोग जो उससे, तोपचियों के अध्यक्ष से, मिलने दिन रात, हर घड़ी आते रहते थे, उसका कमिसार- -जो कि एक मस्त और समझदार यारोस्लाव-वासी था—जिसके साथ एक ही छत के नीचे वह ग्यारह महीने से था, उसकी टुकड़ियों के कमांडर जिनमें से एक-एक को वह आवाज़ से पहचानता था और जिन्हें हर रात वह टेलीफ़ोन पर बुलाता था—इन सबों ने जो उसे तमाम दिन में साँस लेने की फ़ुर्सत न देते थे और उसकी जिन्दगी का हिस्सा बन गये थे, उसके अन्दर अकेलेपन के एहसास को कभी का मार दिया था। लेकिन आज जब बर्फ़ानी तूफ़ान के कारण निगरानी की चौकी पर से ज़रा भी दिखाई न पड़ता था और जब तक कि तूफ़ान ख़त्म न हो जाय तब तक हर चीज़ को ज्यों का त्यों पड़ा रहना ही था, जब यकायक एक या मुमकिन है दो घंटे के लिए टेलीफ़ोन पर बातचीत करने या यहाँ हेडक्वार्टर पर सलाह-मशविरा करने तक की ज़रूरत ख़त्म हो गई थी, तब न जाने क्यों उसे नींद नहीं आयी और एक ऐसा अकेलापन जो उसने जीवन मेंकभी महसूस न किया था, उसके ऊपर अचानक छा गया।

उसने अपनी पत्नी की शकल हृदयंगम करने की कोशिश की। लेकिन वह उस पल कहीं इतनी दूर, साइबेरिया में, थी कि उसके मन की आंखों के सामने सिर्फ लिफ़ाफ़ों की एक अनंत क़तार का भागता हुआ-सा दृश्य आया। इन लिफाफों में से कुछ, जिन पर उसकी हस्तलिपि में पता लिखा होता था, सम्भवतः अब भी वहीं साइबेरिया में लेटर बकस में पड़े हों; कुछ डाकगाड़ी में, रास्ते में हों, कुछ यहीं बहुत पास डाकख़ाने में अजनबी हाथों द्वारा अभी इसी वक़्त चुने और अलग किये जा रहे हों। सब चल रहे थे, उसकी तरफ़ आ रहे थे लेकिन फिर भी वे सिर्फ़ ख़त थे और ख़त चाहे कितने ही अच्छे क्यों न हों आख़िर हैं सिर्फ ख़त ही।

लेकिन उसका लड़का उसके पास था। और मुमकिन है इसीलिए कि वह यहाँ पर उसके नज़दीक था, कर्नल को इस बुरी तरह अकेलापन महसूस हुआ। वह अपने लड़के से बहुत कम मिलता था। एक बार अपने पुराने दोस्तों के हाथ

उसने यह दर्खास्त भिजवाई थी कि उसका लड़का उसी की टुकड़ी में डाल दिया जाय और इसीलिए कि एक बार उसने अपने नियम के विरुद्ध ऐसी एक दर्खास्त दे दी थी, उसके बाद से काम की ज़रूरतों को छोड़कर वह फिर कभी अपने लड़के से न मिलता था। और काम की ज़रूरतें कम होती थीं, बहुत कम। आखिरी बार वह उससे एक महीना पहले मिला था, जब यहीं पर यहीं इसी भुँइधरे में उसके लड़के ने दुश्मन के पड़ाव के बहुत पीछे काम करने वाले तोपचियों के दल के जाँच पड़-तालियों की कार्रवाई की रिपोर्ट दी थी। कर्नल को उस वक्त खुशी हुई थी कि उसके लड़के का चेहरा इतना दृढ़ और मर्दाना था,और वह इतना शान्त अल्पभाषी और व्यव-हार में स्वयं उसके प्रति, अपने पिता के प्रति, इतना ज्यादा शिष्टाचार-परायण था। पहली बार उसने महसूस किया कि उसकी प्रिय, कुशल और स्नेहशीला पत्नी ने, जिससे वह इस विषय पर इतना ज़्यादा बहस किया करता था, और चाहे जो हो उसके एकलौते बेटे को बिगाड़ा नहीं था और बीस बरस की उम्र में उसने अपने लड़के को वैसा ही, ठीक वैसा ही पाया जैसा कि वह उसे देखना चाहता था और ठीक वैसा ही जैसा कि अपनी याद के मुताबिक वह स्वयं उस उम्र में था। उसे इस बात की खुशी हुई कि उसके लड़के ने उसके साथ चाय पीने के निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया था और तैयारी की मुद्रा में खड़े होते हुए, जाने की आज्ञा माँगी थी। उसने उसे आज्ञा तो दे दी थी लेकिन भुँइधरे के दरवाजे तक उसके पहुँचते ही उसने उसे यकायक पुकारा था—'अलेक्सी'।

और जब उसका बेटा घूमा तो उसने उसे आंख मारी दिल्लगी के साथ, दोस्ताने में, उसी तरह जैसे कि बचपन में वह उसे आंख मारता था जब वह कोई शैतानी करते जिससे उसकी आगे आनेवाली सिफ़तों की अंदाज़ा लगता था, पकड़ा जाता था। उसके लड़के ने जवाब में आँख मारी थी और होंठों पर मुसकान लिये हुए दोहराया था—"मैं जाऊँ जनाब!" और कर्नल ने भी मुसकराते हुए उसे जाने की इजाज़त फिर दी थी। ऐसी थी उनकी आखिरी मुलाकात।

असलियत यह थी कि वह उसे बहुत प्यार करता था और उसके लिए उसके मन में वैसी ही हूक उठती थी जैसी उन्हीं पिताओं के मन में उठती है जिनका एक-लौता बेटा होता है, जो उनकी आशाओं, उनके गर्व और उनके इस विश्वास का प्रतीक होता है कि उनका लड़का अंततः एक सच्चा मर्द बनेगा—उन्हीं-सा या उनसे भी अच्छा।

और इसीलिए कि उसके प्रति अपने लाड़ प्यार के कारण वह शर्मिन्दा था, कर्नल अपने लड़के को 'अलेक्सी' छोड़ कर और कुछ न पुकारता था गोकि अन्दर अन्दर वह उसे 'अलयोशा' या 'अलयोश्का' नाम से ही जानता। उसे कभी-कभी लगता कि उसका लड़का अपने प्रति उसकी ममता को भाँप लेता है, और ठीक उसी वक्त जब वह उसके साथ खास तौर पर सख्त बर्ताव कर रहा होता है।

भुँइधरेमें फिर सर्दी समा गई थी। कर्नल अँगीठी के पास बैठ कर उसमें लकड़ियाँ फेंकने लगा। लोहे की वह अँगीठी जवानी की स्मृतियाँ उभारने लगी— वे दिन जब वह बुधोनी के नीचे एक घुड़सवार दस्ते का कमांडर था। कुछ दिन से वह अपने काम का अभ्यस्त हो गया था और बाज़ मौके पर अपने नीचे वालों में उन लोगों पर हँसता और उनका मज़ाक उड़ाता जिन्हें ख्वाहमख्वाह उन चीज़ों में टांग अड़ाने का मर्ज था जहां उनकी जरूरत न होती। लेकिन कभी-कभी जैसे कि इस वक्त, उसे लगता कि उसे युद्धोल्लास, दुश्मन से गुँथने की तत्काल की अनुभूति से वंचित कर दिया गया है। उसके दिमाग के सामने घोड़ों की जोड़ियों से खींची जाती हुई, ज़मीन को रौंदती हुई, घूम कर मौक़े की जगह पर आती हुई हल्की तोपों जो कि नजदीक से गोलियों की बौछार कर रही थीं, भारी रूखे स्वर में दिये गये आदेशों, तोपचियों के पसीने से तर चेहरों, ज़मीन पर कटे रूख की तरह गिरते हुए, दुश्मन की वर्दी में लैस आदमियों की भागती हुई स्मृतियां दौड़ गई। अब वह इन सबों से वंचित था। युद्ध के सारे दौरान में उसे सिर्फ कल और परसों अतीत की याद दिलाने वाली यह अनुभूति हुई थी। फ़ौजी दस्ते ने हमला किया था और निगरानी की खास चौकी आगे बढ़ कर एक ऐसी ऊँची और ऊबड़खाबड़ पहाड़ी पर कायम की गयी थी जहाँ से आसपास का मैदान दूर तक दीखता था। इस मौके पर ड्यूटी ने उसे न सिर्फ वहां रहने की इजाज़त दी थी बल्कि उसका वहां रहना लाज़मी कर दिया था। और इसलिए पूरे तीन दिन तक उसने कई तोपची टुकड़ियों की लड़ाई का संचालन स्वयं किया था। ये फौज की भारी तोपों की टुकड़ियां थीं और दुश्मन की किलेबंदियों, तोपखानों और चौकियों पर दूर से ही गोलाबारी करती थीं। लेकिन पहाड़ी पर से इतनी दूर तक दिखाई पड़ता था कि अपनी फौजी दूरबीन से वह जर्मनों की भागती हुई शकलों, गिरते हुए घोड़ों और आसमान तक धमाके के साथ उड़ते हुए लकड़ी के कुंदों को पहचान लेता था, चाहे धुंधली तरह ही सही।

लेकिन कल और परसों उसे पहली ही बार मौका मिला था। और मुमकिन है कि जल्दी फिर न मिले। इस विषय में उसका लड़का उससे ज्यादा भाग्यवान था।

कर्नल किसी के सामने भी, यहां तक कि कमिसार के सामने भी इस बात को जिसे वह हद से आगे बढ़ा हुआ समझता था मान न सकता था और न अपने को दोष देने को ही उसका मन करता था। एक पिता की हैसियत से उसके लिए, छापेमार की जो ज़िन्दगी उसके एकलौते बेटे ने चुनी थी वह एक बड़ी ख़तरनाक ज़िन्दगी थी। उसके बेटे ने उसकी स्वीकृति नहीं माँगी थी और उसने ठीक ही किया था। वह उससे कह ही क्या सकता था? ज़रूर उसने स्वीकृति दे दी होती। बल्कि अगर उसके लड़के ने बड़े फौजी दफ्तर पर उसके नीचे जगह पाने की मांग की होती तो वह सिर्फ नाराज़ न होता बल्कि इसे रोकने के लिए उससे जो बन पड़ता भरसक वह सब करता। नहीं, उसे फौजी दफ्तर के काम से आम तौर पर नफरत न थी—यह निकम्मी बात होती— लेकिन उसके लड़के को

वही रास्ता तय करना था जो उसने खुद तय किया था और मजाल नहीं कि वह इस रास्ते में कोई भी मंजिल छोड़ जाय। और अपने कर्तव्य को पूरा करने में जिन्दा रहना उसके बेटे पर और सिर्फ़ उस पर ही निर्भर करता था—उसको इससे कोई मतलब न था, उसी तरह जैसे उसके बेटे को रात की उन भागती हुई घड़ियों में दख़लन्दाज़ी करने का कोई हक़ न था जिनके बीच से वह, उसका पिता, गुज़रता था जब छापेमार पार्टियां कई कई दिन तक दुश्मन के पड़ाव के पीछे भटका करती थीं और उनके बारे में कुछ ख़बर तक न मिलती थी जैसे कि इस वक़्त। असलियत में, ईमानदारी और सचाई की बात यह है कि आज उसके न सोने की वजह आख़िरकार उसका बेटा ही था। पिछले कई दिनों से स्काउटिंग पार्टी की कोई ख़बर नहीं मिली थी। बर्फ़ानी तूफ़ान ज़ोरों के साथ चल रहा था और कोई नहीं कह सकता था कि वह कब ख़त्म होगा? कर्नल ने आख़िरी लकड़ी डाली और बिस्तर पर बैठ कर नींद आने की झूठी उम्मीद में अपनी पेटी उतारने लगा। उसी वक़्त दरवाज़े पर दस्तक हुई।

"आ जाओ।"

स्काउटिंग टुकड़ी का कमांडर कप्तान सर्गेयेफ़ भुइँधरे में दाख़िल हुआ। स्पष्ट था कि वह अभी ही लौटा था, अभी वह अपनी भ्रामक रंग की जाकेट पहने था, उसकी आटोमैटिक रायफल कंधों पर थी और अपने उत्कर्ष सूचक बिल्ले उसने नहीं लगा रखे थे।

"क्या है?"

"एक मिनट", अपनी आटोमैटिक राइफल को आवाज़ के साथ फ़र्श पर रखते हुए और कमिसार के बिस्तर पर बैठते हुए सर्गेयेफ़ ने जवाब दिया।

सर्गेयेफ़ कठोर गंभीर प्रकृति का आदमी था। उसके चेहरे को देखते ही जान पड़ता था कि वह बुरी तरह थका हुआ है और अभी ही वापस आया है, और चूँकि पिछली बार जाँच-पड़ताल के लिए निकलने पर उसे कोई ख़ास काम तोपची टुकड़ी ने नहीं दिया था इसलिए इस वक़्त उसका आना अप्रत्याशित और आशंकाजनक था।

"क्या है?" कर्नल ने दोहराया और उसने एक सिगरेट जलाते हुए अपने बिस्तर के बराबर-बराबर खिसककर सर्गेयेफ के ठीक आमने-सामने बैठना चाहा।

"एक मिनट।" सर्गेयेफ़ ने दोहराया और किसी कारण से अपनी आटोमैटिक राइफ़ल को धीरे से ठेलकर अलग कर दिया; गोया वह उसके बात शुरू करने में कोई रुकावट हो।

कर्नल ने पूछा, "क्या उसे चोट लग गई है?"

सर्गेयेफ़ ने फुसफुसाकर जवाब दिया, 'नहीं, आन्द्रे पित्रोविच!'

'नहीं' के उच्चारण में कोई ख़ास बात न थी, बल्कि इस बात से कि लड़ाई के इन सारे महीनों में पहली बार उसने इतनी हमदर्दी के साथ उसको संबोधित किया था, नाम और पिता के नाम के साथ, मानो वह कोई बीमार हो, कर्नल समझ गया कि बस अब उसे विवरण जानना ही बाक़ी है।

सर्गेयेफ़ के चले जाने पर कर्नल बिस्तर पर चित लेटकर छत को देखने और सोचने की कोशिश करने लगा। लेकिन उसका दिमाग़ ख़ाली था, एक शब्द उसके सर में चक्कर काट रहा था, सिर्फ एक—"अलयोशा" "अलयोशा" "अलयोशा" वह शब्द जो अपने बेटे के जीते जी वह कभी न बोला था। "अलयोशा" उसने दोहराया "अलयोशा", फिर ख़ामोश हो गया, उसने आँखें बन्द कर लीं; फिर खोलीं और अनवरत इसी एक शब्द को दोहराता रहा। और फिर भी उसका दिमाग़ ख़ाली था, उसके पास बाक़ी था सिर्फ़ दुःख जिसके लिए ऐसा उसे लगा, लड़ाई के इन लंबे महीनों में उसने अपने को कई बार तैयार करना चाहा था, और सफल नहीं हुआ था। फिर भी अपने में किसी तरह जान डालने के लिए वह सर्गेयेफ के साथ अपनी बातचीत को ध्यान में लाने की कोशिश करने लगा। क्यों उसने उससे वह बेमानी और निकम्मा सवाल पूछा था, क्या मेरे लिए कोई चिट्ठी है? साफ़ है कि नहीं थी। अगर होती तो सर्गेयेफ़ ने उसे दी न होती? लेकिन आख़िर थी क्यों नहीं? दो शब्द ही होते।

और यकायक इस चिट्ठी के बारे में और इस बात के बारे में कि कोई चिट्ठी न थी सोचते हुए उसने सविस्तार समूची घटना की तस्वीर अपनी आँखों के आगे बना ली; बर्फ़ पर बचाव के लिए बनाया गया तंबू, उसके लड़के के लँगड़े पैर, रिवाल्वर का कुन्दा जिसके बारे में सर्गेयेफ़ ने बताया था, और वह आख़िरी गोली जिसकी आवाज़ जाते हुए उसने सुनी थी। नहीं, चिट्ठी की कोई ज़रूरत न थी। खुद उसने भी न लिखी होती। फिर उसने अपने दिमाग़ के सामने अपने लड़के के आख़िरी रास्ते को देखा—वे चोटियाँ जिनपर उस गतिहीन शरीर को तंबू पर लाया गया था, वे चट्टानें जिन पर उसे अकेला छोड़ दिया गया था, एकदम अकेला, या नहीं—अपने हथियार रिवाल्वर के साथ, जीवन में सैनिक का आख़िरी दोस्त। उसने उसके सर्द शरीर को और पास पहुँचते जर्मनों को देखा। जर्मन... आधे घंटे पहले कप्तान सर्गेयेफ ने जान-बूझकर, मानो उसके दुःख को कम करने के लिए, विस्तार के साथ उन जाँच-पड़ताली दौरों का बयान किया था जिनमें उसके लड़के के साथ-साथ उसने भाग लिया था, दुश्मन की चौकियों पर फेंके गये दस्ती बम, बारूद से उड़ा दिये गये पुल, वे जर्मन अफ़सर जिन्हें उन्होंने खत्म किया था। नहीं, इसने उसके दुःख को कम नहीं किया था। वह उसका एकलौता बेटा था और अब उसके मर जाने पर, दुनिया में कोई चीज उसकी क्षति को पूरा नहीं कर सकती, लेकिन इस ख़याल के कारण कि उसका लड़का कामयाब हुआ था सारी चीज़ों के बावजूद अपने को खत्म करने में कामयाब हुआ था, उसका दुःख निराशा में न बदला था, लेकिन दुःख वह ज्यों का त्यों बना रहा।

अनायास ही अपनी पिछले कुछ दिनों की ज़िन्दगी के बारे में उसने सोचा, भागते हुए सैनिक जिन्हें उसने अपने फ़ौजी दूरबीन से देखा था, गिरते हुए घोड़े, बारूद से उड़कर आस्मान से बात करते हुए कुन्दे, और उसे उस दम लगा कि उस लड़ाई की भीषणता में, जिसमें उसने इन दिनों भाग लिया था, जैसे उसके

लड़के की मौत का पूर्वाभास था, उसके प्रतिशोध, दुःखी पिता के प्रतिशोध का पूर्वाभास।

उसे लगा कि उन पलों में जब वह भारी आवाज़ में निगरानी की चौकी पर फुर्ती के साथ हुक्म दे रहा था, वह अपने लड़के के बग़ल में था और साथ-साथ...वे उन आदमियों को मार रहे थे, खत्म कर रहे थे, तहस नहस कर रहे थे, जिन्हें वह इस बुरी तरह नफ़रत करता था कि उनका गला घोंटने के लिये बेचैन था।

लेकिन इन सब के बावजूद उसकी तबीयत सुधरी नहीं। उसी वक्त उसे लगा कि वह कभी भी हताश न होगा और पहले ही की तरह अब भी बावजूद उस दुःख के जो उसे बर्दाश्त करना पड़ा था, वह उतने ही जोश के साथ जीना और लड़ना चाहता था, हां मुख्यतः लड़ना।

लेकिन उसकी बीवी? वह क्या कहेगी ... वह अपने हाथों से इन हत्यारों का गला नहीं घोंट सकती, उसकी तरह वह मौत बरसानेवाली तोपों का मुँह उन हत्यारों की तरफ नहीं मोड़ सकती, उसको यह लिखना, यह बताना कि उसके लड़के ने अपनी आखिरी गोली अपने लिए रख छोड़ी थी...नहीं, यह नामुमकिन था। उसको यह बताना कि उसके लड़के के शरीर को उसके साथी कब्र में नहीं रख सके...यह भी नामुमकिन था। उसको लगा कि उसका दुःख न मिटेगा, न कल न परसों...कभी नहीं और उसे अपनी बीबी को फ़ौरन खत लिखना चाहिये। अभी इसी मेज़ पर, बग़ैर कल पर टाले, क्योंकि कल लिखना आज से भी ज्यादा मुश्किल होगा। वह उसको फ़ौरन लिखेगा। मगर जो सत्य वह उससे कह न सकेगा उसके लिए उसकी ओर से क्षमा की प्रार्थना है। क्योंकि सबसे भीषण और महत्वपूर्ण अंश के बारे में सच-सच कहना ही मानों मजबूरन शेष घटनाओं के सत्य को उससे छिपाना था।

उसके ख़त ख़त्म करते-करते बसन्त की अस्पष्ट धुँधली सी रात ख़त्म हो चुकी थी। वह अपने भुँइधरे से निकल आया। बर्फ़ानी तूफ़ानों और पहाड़ी चोटियों के ऊपर सूरज चढ़ आया था। पश्चिम से तोपों की भारी गरज सुनाई पड़ रही थी। उसने अपनी घड़ी देखी। ठीक आठ बजे थे, हाँ ठीक आठ। यह उसी के तोपों की गोलाबारी थी। तोपों का हमला शुरू हो गया था। वही हमला जिसका वक्त कल शाम को उसने आज सबेरे आठ बजे के लिए नियत कर दिया था। जब कि उसे उस वक्त तक यह न मालूम था कि अब उसका संसार में कोई न रहा जिसे वह अपना बेटा कह कर पुकार सके।

पहले ही की तरह तोपों ने ठीक आठ पर गोलाबारी शुरू की—ठीक जैसा कि होना चाहिए था। युद्ध पूर्ववत् चलता रहा।

—अनुवादक, अमृतराय

सम्पादकीय टिप्पणी

अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का चतुर्थ अधिवेशन

२२ से २५ मई तक बंबई में हुआ। एक बहुत व्यापक और गहरे संकट की काली छाया में हम मिले थे। इसलिए स्वाभाविक ही था कि हमारे सभी प्रस्तावों और निश्चयों पर इस संकट की गहरी छाप हो।

हमारी संस्कृति के लिए सबसे बड़ा खतरा आसन्न जापानी आक्रमण का है।

यह निश्चित है कि विश्व की जन-शक्तियों के आगे धुरी राष्ट्रों की स्थिति और भी बिगड़ने पर धुरीराष्ट्र संयुक्तराष्ट्रों के सबसे कमज़ोर मोर्चे पर हमला ज़रूर करेंगे, याना जापान भारत को हथियाने की कोशिश ज़रूर करेगा।

कोरिया, मंचूरिया, अधिकृत चीन की संस्कृतियों को रौंदकर, उनकी भाषाओं का गला घोंटकर, उनके शिक्षालय ग़ारत कर, उनके राष्ट्रीय पर्वों, नाच-गानों पर रोक लगाकर, संस्कृति का यह सबसे बड़ा दुश्मन अब हमारी युग-युग की पुरानी संस्कृतियों पर आक्रमण करना चाहता है। हमारी सुनहली धरती पर किया गया आक्रमण हमारी संस्कृतियों पर भी होगा। फासिज्म संस्कृति को इतिहास के पन्नों तक से मिटा डालना चाहता है। इसका थोड़ा-सा परिचय जर्मनी और इटली से उच्चकोटि के बीसियों कलाकारों के निर्वासन, जलाई गई किताबों, अस्तबल में बदले गये पुस्तकालयों, बमबारी से ध्वस्त म्यूज़ियमों से मिलेगा; चाइकोव्स्की, तॉल्सतॉय, गोगोल, शोलोखोफ़, चेख़ोफ़ के प्रतिहिंसावश जलाये गये मकानों से मिलेगा; इस बात से मिलेगा कि यासयाना पोलयाना में जर्मन फ़ासिस्त हब्शियों ने तॉल्सतॉय के उपन्यास अन्ना करेनिना की अमूल्य पांडुलिपि से आग जलाई; जापान में क़त्ल किये गये साहित्यिकों, कोरिया में राष्ट्रीय पर्वों और कोरियन भाषा के निषेध से मिलेगा। आज वही बर्बर जापानी फ़ासिस्ती साम्राज्यवाद हमारी संस्कृतियों को भी उसी तरह मिटा डालना चाहता है जिस तरह उसने अपने पड़ोसी कोरिया, मंचूरिया की संस्कृति को मिटाया।

और आज हमारी संस्कृति के रक्षक कौन हैं?—विदेशी नौकरशाह जिन्हें हमारी संस्कृतियों से नफ़रत है, जो खुद उसे विकृत करने के लिए सदियों से सचेष्ट रहे हैं। ऐसे लोग क्या हमारी संस्कृति को बचा सकते हैं। हरगिज़ नहीं, उनकी बला बचाये, उनके नज़दीक हमारी संस्कृति का मूल्य ही क्या? इसीलिए आज जब बीसवीं सदी के इन बर्बर हूणों का हमला हमारी संस्कृति पर कभी भी हो सकता है, तो उसकी रक्षा के लिए हमीं को आगे आना पड़ेगा। संस्कृति खतरे में है हमारी, उसकी रक्षा के लिए अपनी छातियों की दीवारें बनायँगे दूसरे? हमारे सर पर एक जुआरी नौकरशाही का होना ही तो अपनी संस्कृति के प्रति हमारी ज़िम्मेवारी को और भी बढ़ा देता है।

एक विदेशी नौकरशाही हमारे ऊपर बैठकर, हमारे जीवन, हमारी संस्कृति को विनाश की ओर ले जा रही है, इसलिए हमारा उत्तरदायित्व ख़त्म नहीं हो जाता, वह और भी बढ़ जाता है, असंख्यगुना बढ़ जाता है। आज वस्तुतः ब्रिटिश साम्राज्यशाही इतनी कमज़ोर और भारत की स्वाधीनता की शक्तियाँ इतनी मज़बूत हो गई हैं कि जापानी साम्राज्यवाद से देश को बचाने के लिए चेतनाशील भारतीय जनता का उठ खड़ा होना ही अपनी स्वाधीनता की ओर उसका पहला कदम होगा। आज देशरक्षा के लिए जनता की गोलबंदी करना ही हमारी आज़ादी की लड़ाई है, आज़ाद विश्व की आज़ाद संस्कृतियों के बीच भारत की आज़ाद संस्कृतियों को स्थापित करने की लड़ाई है। इसी नाते साहित्यकों का उत्तरदायित्व आज बहुत बड़ा है। वे ही जापानी बर्बरता से भारतीय संस्कृतियों की रक्षा करने के लिए भारतीय जनता को सचेतन और उद्बुद्ध,-अनुप्राणित और प्रेरित कर सकते हैं। आज जब कि हमारी राष्ट्रीय संस्कृतियाँ ख़तरे में हैं यह प्रश्न अनर्गल है कि साहित्य का राजनीति से कोई संबंध होना चाहिए या नहीं। आज जब कि स्वयं हिन्दी भाषा और साहित्य, (उसी तरह जैसे जापानी भाषा और साहित्य, कोरियन भाषा और साहित्य जो आज जापानी फ़ासिस्तों के लौहबूटों के नीचे मरे पड़े हैं) सूर और तुलसी, भारतेन्दु और आचार्य द्विवेदी, प्रसाद और प्रेमचंद की साहित्यिक परंपरा ख़तरे में है, ऐसा प्रश्न उठाना अपनी भाषा और संस्कृति के साथ दगा करना है। आज हमारी साहित्यिक, सांस्कृतिक निधियों पर आक्रमण होनेवाला है। हमको उसकी रक्षा करनी ही है और हम उसकी रक्षा करेंगे। अपने राष्ट्रीय कर्तव्य से हम मुँह नहीं चुरायेंगे। आज अपने इस कर्तव्य से मुँह चुराना आनेवाली पीढ़ियों की शतशत धिक्कारों का पात्र बनना है। एक विदेशी नौकरशाही हमारी संस्कृति को नहीं बचाना चाहती, नही बचा सकती इसलिए हम उसे बचाने के लिए आगे न आवें जब कि ऐसा करना हमारे बस में है, हमारी ताक़त को बढ़ाता है, हमें आज़ादी की ओर ले जाता है, इस बात में कौन-सा तर्क है ?

हमारा मुख्य प्रस्ताव इसी मुख्य संकट के ऊपर है। प्रायः वैसा ही और उसी से लगा हुआ संकट खाद्य पदार्थों का है। यह समस्या कितना उग्र रूप धारण कर चुकी है और अगर हमने कुछ किया नहीं तो कितनी उग्र अभी और होगी, यह सोचकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इसके संबंध में भी सम्मेलन ने एक प्रस्ताव द्वारा अपनी स्थिति स्पष्ट की। काग़ज़ का संकट साहित्य जगत को पक्षाघात की तरह जड़ किये दे रहा है। एक प्रस्ताव द्वारा हमने इस विषय में सरकारी नीति की कठोर निन्दा की। जो भी समस्याएँ आज हमारे देश को उद्वेलित कर रही हैं, उनसे एक जीवित स्पन्दनशील साहित्य का उद्वेलित होना भी बिलकुल स्वाभाविक है। और अधिवेशन के प्रस्तावों को सरसरी निगाह से देख जाने पर और चाहे कुछ न हो लेकिन एक बात साफ हो जाती है, और वह यह कि ये नये साहित्यिक अपनी सारी कमज़ोरियों के बावजूद अपनी जनता के साथ हैं, जनता की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी समस्या उनकी अपनी है।

जनता के साथ उनके घनिष्ठ संपर्क की, जीवन की, स्पन्दन की अच्छी घोषणा उन प्रस्तावों से होती है।

प्रगतिशील लेखक संघ के चतुर्थ अधिवेशन की घोषणा

इस गम्भीर संकट के काल में हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखकों का सबसे बड़ा कर्तव्य है कि वे राष्ट्र के मनोबल को सुदृढ़ बनाएँ। उनका फर्ज है कि वे जनता के साहस और संकल्प को मजबूत करें ताकि हमारी आजादी का दिन नजदीक आए, हमारी संस्कृति और सभ्यता सुरक्षित रहे, उसकी उन्नति हो, और हम इस कठिन संकट काल से स्वतंत्र, शक्तिशाली और संगठित होकर निकल सकें।

प्रगतिशील लेखक सदा से ही भारत की स्वतंत्रता और देश में एक न्यायोचित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के लिए लड़ते रहे हैं। यही नहीं, उन्होंने हर प्रकार की सामाजिक प्रतिक्रिया और प्रगतिविरोधी विचार-धारा के खिलाफ भी संघर्ष किया है। हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता को उन्होंने विश्व की स्वतंत्रता के एक अभिन्न अंग के रूप में समझा है; और जहाँ उन्होंने जनता के हर प्रकार के साम्राज्यवादी प्रभुत्व से मुक्त होने और अविच्छिन्न अधिकार की घोषणा की है, वहाँ उन्होंने फ़ासिज़्म का भी विरोध किया है, जो साम्राज्यवादी सत्ता का ही सबसे खूँख़ार रूप है।

जिस समय हमारी पुरानी परिचित दुनिया नष्ट भ्रष्ट हो रही हो और इतने दिनों से पोसी हुई मान्यताओं की पुनर्स्थापना की आवश्यकता हो, यदि लेखक अपने जीवन-कार्य के प्रति ईमानदार रहना चाहता है तो उसे जनता से नाता जोड़ना होगा। इसका अर्थ इस बात से इनकार करना नहीं है कि साहित्य रचना करना एक कठिन कला है, जिसकी अत्यंत प्राचीन और अनोखी परम्पराएँ हैं। न इसका यह मतलब है कि हम प्रवंचना में पड़ जाएँ कि आज्ञा दे देने से ही सम्पूर्ण और परिपक्व नयी संस्कृतियाँ तैयार हो जाती हैं। लेकिन जब समाज पीड़ा-ग्रस्त हो, जब वह अपने जीवन-मरण के संघर्ष से गुजर रहा हो, तब लेखक को स्वयं अपने ही हित की रक्षा के लिए अपने शीश-महल से बाहर निकल आना चाहिए। यदि हम केवल कुछ थोड़े चुने हुए लोगों को ही सांस्कृतिक विरासत का संरक्षक समझते हैं, तो जैसा कि फ़ासिज़्म के अंतर्गत उन देशों में हुआ है, जो उसके लौह-बूटों के नीचे कुचले जा चुके हैं, यहाँ भी अन्याय और जुल्म की शक्तियाँ उन्हें अवश्य ही पाशविक दमन के बल से ज़बर्दस्ती अपने अधीन कर लेंगी। सोवियत का उदाहरण हमें बतलाता है कि क्रांति, प्रतिष्ठा, गौरव और सभ्यता को किस प्रकार आम जनता की सम्पत्ति बनाने का अवसर देती है।

हमारा देश अपने इतिहास के सबसे गम्भीर संकट में फँसा हुआ है। एक ओर एक क्रूर और नालायक विदेशी साम्राज्यवादी नौकरशाही जनता के हाथ में ताकत देने से इनकार कर रही है। दूसरी ओर खूँख़ार, लुटेरा, जापानी फासिज़्म हमारे पूर्वी सीमांत का दरवाज़ा खटखटा रहा है। हज़ारों हिन्दुस्तानी देशभक्त जेलों में बन्द पड़े हैं। फ़ासिस्ट आसाम और बंगाल पर बम बरसा रहे हैं, अन्न और वस्त्र की

दिन-ब-दिन कमी होती जा रही है। कागज़ और किताब और पत्र छापने के लिए ज़रूरी दूसरी चीज़ों की सख़्त कमी है, जिसके कारण एक ऐसी परिस्थिति पैदा होगयी है, जो हमारे सांस्कृतिक जीवन के विकास के लिए बहुत ख़तरनाक है। उत्पादन अस्त-व्यस्त हो रहा है। हमारे समाज की पूरी आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने की आशंका है।

हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इक़बाल की महान् मानववादी और स्वतंत्रता-प्रेमी परम्पराओं के उत्तराधिकारी हैं। आज वे अपनी जनता को स्वतंत्र देखना चाहते हैं; संसार के सभी राष्ट्रों को साम्राज्यवाद और फ़ासिज़्म के ख़तरे से मुक्त करना चाहते हैं। हम सोवियत और चीन के लेखकों की ओर आदर और श्रद्धा से देखते हैं, जो अपनी बहादुर जनता के साथ-साथ कठोर फ़ासिस्ट-विरोधी लड़ाई के कष्टों और तकलीफ़ों को बर्दाश्त कर रहे हैं और इस कटु और कष्टकर युद्ध में भाग लेने के गौरव और उल्लास का भी अनुभव कर रहे हैं। इस अंधकार की घड़ी में भी वे कला और साहित्य की लौ को जाग्रत किये हुए हैं। हम भी पीछे नहीं रहेंगे। हम भी अपने देश की स्वतंत्रता और एकता के सन्देश को अपने देशवासियों के पास पहुँचाएंगे, और उनके अन्दर उनकी अपनी ही शक्ति में विश्वास जाग्रत करने का अनवरत प्रयत्न करेंगे। आज प्रगतिशीलता का और दूसरा कोई अर्थ नहीं है। जब मानव समाज की नींव ही ख़तरे में हो, जब उसके सम्पूर्ण भविष्य के अंधकार-मय हो जाने की आशंका हो, जब फ़ासिस्ट प्रतिक्रियावाद जीवन में जो कुछ भी अच्छा, भला और सुन्दर है, उसे नष्ट करने के लिए अपना अन्तिम हमला कर रहा हो, और जब प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादी दल हमारे देशवासियों की स्वतंत्रता और एकता के पथ को रोके खड़ा हो, तब प्रगतिशीलता को हर आदमी तक आशा और आज़ादी का सन्देश ले जाना चाहिए और ऐलान कर देना चाहिए कि जो क़ौम आज़ादी पाने के लिए एक हो जाएगी, उसे दुनिया की कोई भी ताक़त नहीं हरा सकती।

इन आम उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए, प्रगतिशील लेखक संघ को नीचे लिखी विशेष बातें ज़रूर करनी चाहिए :—

(१) छोटे छोटे नाटकों, कहानियों, कविताओं, गीतों और पवाड़ों की रचना, जिनमें साम्राज्यवादी गुलामी से छुटकारा पाने के लिए और जापानी आक्रमणकारियों से अपने देश की रक्षा करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया हो।

(२) विदेशी प्रगतिशील रचनाओं और विशेषकर सोवियत और चीनी साहित्य का अनुवाद और प्रचार करना चाहिए।

(३) समय समय पर नियमित रूप से विभिन्न हिन्दुस्तानी भाषाओं की महत्वपूर्ण रचनाओं का अंग्रेजी में संकलन निकालना चाहिए।

(४) हिन्दुस्तान की विभिन्न भाषाओं में प्रगतिशील साहित्य के संग्रहों और पत्र-पत्रिकाओं को प्रकाशित करना चाहिए।

(५) मज़दूरों और किसानों के बीच साहित्यिक और सांस्कृतिक क्लबों या बैठकों (मुशायरों, कवि-सम्मेलनों) का संगठन करना चाहिए, और प्रगतिशील लेखक संघ का जन-साहित्य और कला से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए ।

(६) भारतीय जननाट्य संघ के सहयोग में ऐसे नाटकों आदि की रचना करनी चाहिए, जिन्हें जन-नाट्य-संघ खेल सके ।

नीरो की प्रेतात्माएँ

जिनका स्पष्टीकरण प्रगतिशील लेखक संघ की घोषणा में हुआ है ठीक उन्हीं आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ लेकिन उनके पंडित समाज में उन समस्याओं की पहुँच नहीं। साहित्यिक दरबार जो ठहरा ! उनके नक्क़ारख़ाने में इस तूती की आवाज़ सुनाई नहीं पड़ती। यह दूसरी बात है कि यह तूती कोई ऐसी-वैसी नहीं। भूख से आज भारतीय समाज छटपटा रहा है, कीड़ों की मौत मर रहा है। हमारे प्राचीन गौरवशाली देश पर विपत्ति घहरा रही है। और हमारे शासक अपनी साम्राज्यवादी नीति के कारण हमारे मोर्चे को निरन्तर कमजोर बनाते जा रहे हैं। हमारी संस्कृति पर मध्ययुगीन बर्बरता का आतङ्क है, चारों ओर अनहोना हाहाकार मचा हुआ है, चारोंओर एक से एक बड़ी विभीषिकाएँ नंगा नाच दिखला रही हैं, लेकिन साहित्य सम्मेलन के हमारे महारथियों, भाग्यविधाताओं का महंती सिंहासन नहीं डोलता। कहने के लिए विवश हूँ कि देश काल की सीमाओं से परे उनके प्रस्ताव सावन के अंधे की हरेरी के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वे सचमुच देश-काल की सीमाओं से परे हैं : निश्चय ही वे १९४३ के उस भारत के नहीं हैं जिसे हम आप राह चलते देखते हैं—किसी अपरिचित देश और काल से उधार माँगे हुए-से जान पड़ते हैं। प्रगतिशील लेखक संघ और साहित्य सम्मेलन के प्रस्तावों की तुलना करने पर (और तुलना करना सर्वथा न्याय्य है, हर दृष्टि से) इसी बात का मौलिक अंतर दिखाई पड़ता है कि एक में जीवन अपनी स्वाभाविक गति से प्रवाहित हो रहा है और दूसरे में वह मृत हो गया है और सड़ाँध की बौछारें अपने चारों ओर फेंक रहा है ! ज़रा सी कुनमुनाहट उसमें बाक़ी नहीं, सिर्फ़ सड़ाँध—

दुःख किस बात का होता है ?—सिर्फ़ इस बात का कि हमारे सम्मान के अधिकारी ये बड़े बड़े लेखक, जिनके ऊपर हिन्दी की यह भव्य इमारत खड़ी हुई है, जीवन के प्रति, अपने समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से इतना विमुख क्यों हैं ? आख़िर जो समस्याएँ हमारे लिए हैं, हैं तो उनके लिए भी। तो उनकी ओर से ये लोग मुँह फेरकर किस तरह बैठे हुए हैं। उनकी ओर इन्हें सजग तो होना ही चाहिए था। किसी को भी आपत्ति न हो सकती थी अगर वे उन समस्याओं का कोई दूसरा हल बताते। हम सब हलों पर ग़ौर करते और जो सबसे अच्छा होता, सर्वमान्य होता, उसे अपनाते। दुःख हमें इस बात का नहीं कि उन्होंने समस्याओं को हल करने का वह रास्ता क्यों नहीं बतलाया जो कि, मसलन्, प्रगतिशील लेखक बतलाते हैं। असली ऐंठन जो होती है वह यह देखकर कि इन प्रौढ़ साहित्यकों के नज़दीक वे बातें जो

आज हमारी ज़िंदगी की जड़ों को साफ़ हिलाते देखी जा सकती हैं, समस्याओं की शक्ल में आती ही नहीं। सामाजिक चेतना से वे ऐसे कोरे हैं किस तरह? जो प्रश्न आज हमारे सामने हैं उनके सही या ग़लत उत्तर पर हमारा भविष्य निर्भर करता है। हम आज़ाद होंगे या एक गुलामी से निकलकर दूसरी गुलामी का तौक़ गले में पहन लेंगे, हम ज़िन्दा रहेंगे या मर जायँगे, हमारी संस्कृतियां आज़ाद हिन्दुस्तान में फले फूलेंगी या खोदकर गाड़ दी जायँगी--समस्याएँ आज इस शक्ल में हमारे सामने हैं। हम उनका जवाब देने से मुँह चुरायें, यह हो सकता है, लेकिन समस्याएँ आज जब इन्हीं तात्विक, जीवन और मरण के रूप में हमारे सामने आ रही हैं, जब हमारा भविष्य समय की निहाई पर है और हम चाहें या न चाहें अनुकूल और प्रतिकूल घन की चोटें उस पर पड़ रही हैं, और हमारे भविष्य का निर्माण कर रही हैं, ऐसे वक्त हमारा अपने दरबों के अन्दर चले जाना अगर कायरता नहीं तो कायरता फिर क्या है? हाँ, हमारा भविष्य हमारी आँखों के सामने समय की निहाई पर है और उस पर से उतरने पर उसकी क्या शक्ल होगी, यह हमारे ऊपर निर्भर करता है, इस बात पर निर्भर करता है कि हम आज क्या करते हैं, हम आजअपने भविष्य के निर्माण में कहाँ तक आगे आते हैं, प्रतिकूल घन की चोटों को किस तरह नाकाम करते हैं, अनुकूल घन की चोटें किस तरह लगाते हैं। आज देश को जापानी साम्राज्यवाद से बचाना (और इसमें यह निहित है कि हम नौकरशाही की सारी चालों को खत्म करते चलें) ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा हम अनुकूल घन की चोटें अपने भविष्य-निर्माण के लिए लगा सकते हैं और अपनी स्वाधीनता की ओर बढ़ सकते हैं। इसी-लिए अपने देश की रक्षा और अपनी संस्कृति की रक्षा आज हमारा प्रमुख राष्ट्रीय कर्तव्य है।

और इसी चीज़ की गन्ध तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रस्तावों में नहीं है। उनके सामने सिर्फ एक समस्या है--हिन्दी को राजभाषा बनाना, जब कि आज राष्ट्रीय जीवन विनाश के कगार पर खड़ा है, जब कि हमारा देश, हमारी संस्कृति एक दस्यु के हाथ से निकल कर दूसरे दस्यु के हाथ जाने की तैयारी में है। हिन्दी को राजभाषा बनाने की योजनाएँ तैयार करने के पहले अपने देश को बचाने की योजनाएँ तो बनाइये जिसमें हिन्दी राजभाषा होगी। लेकिन हरिद्वार हिन्दुस्तान के बाहर है। वहाँ पर सोलह में से दस या ग्यारह प्रस्ताव हिन्दी राजभाषा के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। अलग-अलग प्रस्ताव पास करने के बजाय अगर उन्हें एक मुख्य प्रस्ताव का रूप दे दिया गया होता तो ज्यादा अच्छा होता। हिन्दी अपनाने के लिए कुछ संस्थाओं को बधाई देना और न अपनाने के लिए कुछ संस्थाओं को पानी पी पी कर कोसना ही अगर आज भी सर्वोपरि महत्व की बात है, तो यह एक मुख्य प्रस्ताव में भी तो किया जा सकता था। प्रस्तावों की संख्या इतनी बढ़ाने से तो जागरूकता का थोड़ा बहुत आभास मिलता है ज़रा इससे भी तो ख़ौफ़ खाइये!

सिर्फ़ एक अच्छा प्रस्ताव सम्मेलन में पास हुआ—जनपदों की संस्कृति के बारे में। लेकिन जिस तू तू मैं मैं और झगड़े-तकरार के बाद वह पास हुआ उसने उस

प्रस्ताव का सारा सौंदर्य जैसे सोख लिया। फिर भी हम समझते हैं कि राहुल सांकृत्यायन और देवेन्द्र सत्यार्थी का उस कमेटी में होना आशाप्रद है और हमारा विश्वास है कि उसी क्षेत्र में इस वर्ष काम होगा।

आज ज्वालामुखी के मुहाने पर बैठकर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के महारथी राष्ट्रीय संकट की उपेक्षा जिस क्रूरता से करते हैं, उससे रोम के राजा नीरो की याद हो आती है जो रोम को जलता हुआ छोड़कर पास के जंगल में चला जाता था और वहाँ बैठकर सारंगी बजाता था। उसकी सारंगी की ध्वनि में जो कर्कशता रही होगी वही हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन प्रस्तावों में है जो 'हिन्दी-राज भाषा' और-'राज भाषा-हिन्दी' की धुरी पर चकरघिन्नी की तरह घूम रहे हैं।

सम्मेलन के पिछले अधिवेशन और इस बार के अधिवेशन के दरमियान भारतीय जनता को नौकरशाही दमन के जिस पहिये के नीचे कुचला गया, उससे उड़ी हुई धूल के कण भी साहित्य सम्मेलन की चकरघिन्नी को रोकने में असमर्थ हैं। उसके सम्बन्ध में भी सम्मेलन के पास एक शब्द कहने को नहीं है। एक तूफ़ान आया और बाग़ के सारे पेड़ों को जलाकर, सुखाकर, उखाड़कर चला गया। इन्हीं मिस्मार पेड़ों के तने पर बैठकर ये साहित्यिक महारथी विचार करते हैं लेकिन इनकी एक बात से उस भयानक वीराने की झलक नहीं मिलती, मालूम यही होता है कि उनके चारों ओर का बाग़ पहले से ज्यादा लहलहा उठा है। सूखे पेड़ों के बीच बैठकर वे अतीन्द्रिय हरियाली का चित्र देते हैं। लेकिन उस 'हरियाली' से जीवन की गन्ध नहीं मृत्यु की गन्ध आती है और ज़हरीली सड़ाँध। नीरो की प्रेतात्माएँ अपने क्रूर हास्य से पास-पड़ोस की हवा को ज़हरीला बनाती घूम रही हैं।

राष्ट्रीय संस्कृतियों का मेला

कम्यूनिस्ट पार्टी की कांग्रेस के सिलसिले में आंध्र, केरल, तमिलनाड, बंगाल, बंबई, पंजाब आदि से सांस्कृतिक जत्थे आये थे। उनका प्रदर्शन हुआ। उससे हमने जाना कि संस्कृति एक संपत्ति है और संस्कृति ही वह हथियार भी है जिससे उस संपत्ति की रक्षा भी की जा सकती है। प्रगतिशील लेखक संघ ने अपने मुख्य प्रस्ताव में नारा दिया था कि अपनी संस्कृति को बचाने के लिए सभी भाषाओं और बोलियों के साहित्यिकों को इसी दम एक हो जाना चाहिए। राष्ट्रीय संस्कृतियों के मेले से स्पष्ट हो गया कि जनता के कला-रूपों, लोक-गीतों, लोक-नृत्यों के द्वारा ही जनता को अपनी संस्कृति बचाने लिए के अनुप्राणित किया जा सकता है। जनता के कला-रूपों में से विकसित होने वाली वाणी जनचेतना पर सबसे अच्छी सान रख सकती है। आज अपनी प्राचीन संस्कृतियों को बचाने के लिए ही जनता के पुराने पर चिरनवीन कला-रूपों में देश रक्षा का स्वर भरना साहित्यिकों, कलाकारों का कर्तव्य है।

—अमृतराय

लेखक परिचय

कोंस्तांतिन सिमोनोफ़

सोवियत कहानीकार और औपन्यासिक।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा

बहुत दिनों से कहानियाँ लिखती हैं। पहले 'छाया' नाम से प्रेम और गृहस्थी की कहानियाँ लिखती थीं, अब आपकी कहानियों में बहुत ही पुष्ट सामाजिक दृष्टिकोण मिलता है। आज के प्रगतिशील कहानीकारों में आपका विशिष्ट स्थान है।

जोज़ेफ़ फ्रीमैन

प्रमुख अमरीकन आलोचक और कवि।

महादेव साहा

सोवियत संघ और साम्यवाद पर आपके लेख अकसर 'विश्ववाणी' 'हंस' आदि में प्रकाशित होते रहते हैं।

रशीद जहाँ

उर्दू में अनेकों सामाजिक कहानियाँ और लेख लिखे हैं। 'औरत' नाम से एक कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

विनय घोष

आयु २७ वर्ष। बँगला 'आनंद बाज़ार पत्रिका' और 'युगांतर' में लिखते हैं। उपसंपादक 'अरणि', प्रमुख प्रगतिशील बँगला साप्ताहिक। फ़ासिस्त-विरोधी लेखक संघ की कार्यकारिणी के सदस्य। आलोचक, कहानीकार और पत्रकार।

पुस्तकें :—(१) शिल्प, संस्कृति ओ समाज—साहित्य, संस्कृति और समाज की मार्क्सवादी समीक्षा (२) नूतन साहित्य ओ समालोचना (३) आंतर्जातिक राजनीति (४) सोवियत सभ्यता (दो भाग) और कई पुस्तिकाएँ।

सज्जाद ज़हीर

आप भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के जन्मदाताओं में से हैं। इस वर्ष संघ के मंत्री चुने गये हैं। बंबई से प्रकाशित होने वाले कम्यूनिस्ट साप्ताहिक 'क़ौमी जंग' का संपादन करते हैं। 'बीमार' नाम का एक नाटक प्रकाशित हो चुका है।

[Approved by the Governments of the U. P., Behar, C. P., Kashmir and Bombay Presidency for use in Colleges, Schools and all other educational institutions.]

प्रगतिशील साहित्य का अग्रदूत

: सम्पादक :

शिवदानसिंह चौहान (जेल में)

स्थानापन्न : अमृतराय

वार्षिक मूल्य ६) : : विदेश में १२ शिलिंग

एक अंक का आठ आना

हंस

वर्ष : १३ अप्रैल-मई १९४३ अंक : ७

प्रगतिवाद की दृष्टि में रचनात्मक साहित्य

प्रगतिशील आलोचना

[हीरेन मुखर्जी]

प्रगतिशील आलोचना को सामान्यतः दो बुराइयों के कारण क्षति उठानी पड़ती है; एक ओर तो नक़ली मार्क्सवादी का असंयम जो अपने उत्साह में यह भूल जाता है कि लिखना एक शिल्प है जिसकी अपनी एक लम्बी और अनूठी परम्परा है; और दूसरी ओर ग़रीबों और दीनों के दुःखों के फ़ोटो-सदृश चित्रण की प्रशंसा करते न थकनेवाले और बाक़ी सारी चीज़ों को प्रतिगामी पुकारने वाले भावना-प्रधान व्यक्ति की कोरी भावुकता। यह बचकानेपन की क़िस्में हैं जिनसे साहित्य में प्रगति के इच्छुक सभी लोगों को अपना पीछा छुड़ाना चाहिए।

प्रगतिशील आलोचना का पहला और आख़ीरी लफ़्ज़ यही है कि जीवन और साहित्य अविभाज्य हैं। उस कलाकार में निश्चय ही कोई गड़बड़ी होगी जो अपने एकाकीपन, अपने हवा महल में रस पाता है। उसकी ऐन्द्रजालिक परी-कहानियाँ क्षम्य हो सकती थीं अगर समाज में ओलिम्पस पर्वत (यूनानी पुराण के अनुसार जिस पर देवताओं का वास है) की सी अपार शान्ति का साम्राज्य होता, जहाँ न ओले गिरते हैं न मेह न बर्फ, और न हवा ही डोलती है— यानी दूसरे शब्दों में एक रंगीन तिलिस्म।

Where falls not hail, nor rain, nor any snow
Nor ever wind blows lightly.

जीवन को सकारना लेखक का सबसे बेशक़ीमत स्वत्व है—अपने उद्दाम वेग, अपनी जीवन्त स्पन्दन-शील अभिव्यक्ति के साथ जीवन। ज़िन्दगी के उसके ख़ाके का गुण और फैलाव उसकी कृतियों को शक्ति और स्वर देता है।

इसके बारे में कोई सन्देह न रहना चाहिए। जीवन की वास्तविकताओं से अलग होते ही कला, कला न रहकर कृत्रिमता में बदल जाती है। दैत्य पैंटिअस

की यूनानी पौराणिक कथा के गंभीर महत्त्व को लेखकों को समझना चाहिये। जब तक उसके पैर धरती माता पर जमे रहते थे, इस एंटिअस को लगातार नई ताक़त मिलती रहती थी, लेकिन हरकुलीज़ के उसे हवा में उठाते ही वह बिल्ली के बच्चे की तरह कमज़ोर हो गया। इसका मतलब 'यत्नपोषित अवकाश' से उत्पन्न प्रामाणिक कला के शुद्ध सौन्दर्य को नकारना नहीं है; न ही इसका मतलब उद्देश्यों के एकाङ्गी विवेचन में उस सौन्दर्य की ओर तिरस्कार का भाव या अज्ञान ही प्रदर्शित करना है। इसका मतलब बहुत लोगों द्वारा मानी जाने वाली इस बात को सिर्फ नकारना है कि कविता और रोमांटिक कविता-पद्धति एक चीज़ है, कि कवि चातक या बुलबुल जैसी कोई चीज़ है जो घनी छाँह में छिपा रहता है और मनुष्यता का हनन करने वाली आध्यात्मिकता की चोटियों पर उड़ानें लेता और विभोर होकर मूर्छित होता रहता है। इसका मतलब सिर्फ इस बात को दृढ़ता से कहना है कि यह एकान्तवास लेकर जता ! गया प्रतिवाद न तो गौरवपूर्ण है और न यह कविता की, न उन कवियों की ही महान् परंपरा से मेल खाता है, जो मनुष्यों के संसार में रहने वाले एक मनुष्य से ज़्यादा कुछ अपने को न समझते थे। इस बात से हमको सिर्फ यह समझने में मदद मिलती है कि हमारे युग की सबसे अच्छी रचना, कम या बेश सफलता के साथ यथार्थ जगत् में वापस लौट आने की, समाज के साथ पुनः ऐक्य स्थापित करने की लेखक की कोशिश का परिचय देती है।

हममें से बहुतों को संस्कृति को एक स्वतन्त्र इकाई समझने की आदत पड़ी हुई है। हमने इस ख़याल में अपने को जकड़ रखा है कि काम न करना कलात्मक प्रतिभा को विकसित करने के लिए एक ज़रूरी शर्त है। हम भूल जाते हैं कि दिमाग़ी काम के विशेषज्ञों का चलन अपेक्षाकृत थोड़े ही दिन से हुआ है, कि बहुत दिनों तक कलाकार और दस्तकार एक से ही थे, कि मशीन-व्यवसाय के जोर पकड़ने और फैक्टरी प्रक्रयाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभाजन होने के साथ साथ हर काम औरों से कटकर अलग-अलग किया जाने लगता है—दार्शनिक प्रयोगशाला से दूर, वैज्ञानिक रंगशाला से, लेखक व्यवसायी से और समस्त उपजीविवर्ग फैक्टरी, खान और खेत में सतत होनेवाले प्राणदायक उत्पादन से जिसके ही कारण कुछ भाग्यवानों को अवकाश नसीब होता है। लेकिन ढेर-सा अवकाश होने से कोई पनपने वाली संस्कृति पैदा नहीं होती; वह पैदा होती है सामाजिक जीवन में हाथ बँटाने से। और आज की पूँजीवादी दुनिया में हाथ बँटाने की यही असंभाव्यता, एक आर्थिक संकट और दूसरे के बीच के दिनों की बेबस जिंदगी का विषाद; कठोर निर्ममता और निष्ठुर हिंसा जो आज जीवन में सामान्य बातें हो गई हैं, पर पुरुषत्वहीन आक्रोश, यह सब आज की अधिकांश साहित्यिक कृतियों की हतबुद्धिता और नैराश्य में, उनकी और भी घनी व्यक्तिवादिता में, जी जान से संस्कार किये गये अपने सारे आंगिक (टेकनिकल) उत्कर्ष के बावजूद उनके बुनियादी ओछेपन में प्रतिबिंबित है। अगर इन रचनाओं पर मानव के प्रति निष्ठुर घृणा या निराशावादिता का रंग चढ़ा हुआ है तो वह स्वाभाविक ही है।

"इतिहास का स्टीम रोलर पुराने ज़माने के स्मारकों को ढहा रहा है, और

कवि की ओर बढ़ रहा है जो अब भी सौन्दर्य के द्वार पर हौसले के साथ सन्तरी बना खड़ा है। उसमें अब कोई आशा बाकी नहीं; वह अपने पराजय की अनिवार्यता को जानता है, वह अपने को अकेला महसूस करता है। किस्मत ही उसकी जानी-पहचानी दुनिया को बचा सकती है। लेकिन अपनी चेष्टाओं में वह एक पल को भी ढिलाई नहीं करता; वह गाना बंद नहीं करता। मुमकिन है उसके गाने खुशी न पहुँचाते हों; अफसोस और विरक्ति से उसकी आवाज़ भी मुमकिन है रूखी हो; अपना डर भुलाने के लिए मुमकिन है वह चीख-चीखकर गाता हो, लेकिन सिर्फ उसी की आवाज़ आसन्न प्रलय बाढ़ के तीखे शोरगुल के ऊपर सुनाई पड़ती है। वह हमारी श्रद्धा का पात्र है; जल्द ही वह ग्रस लिया जायगा; पर वह हमारी श्रद्धा का पात्र है।"

कविता का यह मर्सिया एक ऐसे व्यक्ति के एक प्रसिद्ध निबंध से लिया गया है जो बंगाल के तरुण कवियों में अग्रणी रहा है। इसमें एक तरह की करुण ऐंठ, कविता को ऐतिहासिक शक्तियों के 'गंदे' स्पर्श से बचाने की चाह, जीवन और साहित्य में एक घातक विभेद दीखता है। कोई अचरज नहीं कि इस कवि को, जिसने इधर कुछ ही दिन से लिखना बंद कर दिया है, दुनिया भार हो रही थी। वास्तविकताओं से अलग होने की कलाकार की माँग अनिवार्यतः उसे यहीं पहुँचाती है। अगर आप यह कहते हैं कि कला के मान समाज के मानों से ऊँचे हैं और अगर आपके विचार में समाज के वातावरण को बदलने का कोई रचनात्मक दृष्टिकोण कला के सत्य के प्रति दगा करने के बराबर है, तो आप निरन्तर अन्तर्मुखी होते जायँगे, आपकी रचनाशक्ति के सोते रुक जायँगे, आपके साहित्य को जीवन देनेवाली शक्ति हवा हो जायगी। यह क्या कोई अचरज की बात है कि लेखकों ने रास्ता न सूझ पड़ने के कारण इन दिनों अतीत में, खास तौर पर कैथलिक धर्म में मज़बूती से पैर जमाने की कोशिश की है; और हॉप्किन्स की तरह उर्वरता की प्यास से भिन्न-भिन्न मात्राओं में पीड़ित हुए हैं—'ऐ जिन्दगी के देवता, मेरी जड़ों के लिए मेह भेज!' यह क्या कोई अचरज की बात है कि आधुनिक कविता, अपने विषय में अनाश्वस्त रही है और अधिकांश आधुनिक उपन्यास बारीक साइकोएनालिसिस (मनोविश्लेषण शास्त्र) के कुशल निबंध, जो जीवन को, संवेदनों, उद्देश्यों और मनोभावों के एक बहुत बारीकी से बुने हुए ताने-बाने की शक्ल में जो सूर्योदयकालीन कुहरे के रंग की तरह पकड़ में न आनेवाला होता है, पेश करते हैं? पाठक के दिमाग पर वे जीवन के पहलुओं की लाइलाज उलझनों की एक छाप छोड़ जाते हैं और यह इशारा-सा करते हैं कि अगर उसे समझने का कोई तरीका है तो वह बुद्धि के तिरस्कार से। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो साहित्य की महान् परंपरा पर आघात करता है। जैसा कि एक विख्यात लेखक ने एक बार जोर देकर कहा था, "साहित्य का मतलब है परस्पर मेल-जोल।" हमको जो समझना है वह यह कि साहित्य किससे मेल-जोल करता है। और आधुनिक 'डेकेडेंट' साहित्य—निन्दा के अर्थ में नहीं परिभाषा के अर्थ में डेकेडेंट जिससे कुछ खास खूबियों का बोध होता है—बेशरमी के साथ एक चुने हुए अल्प-संख्यक वर्ग से,

जिनका काम कहा जाता है 'ऐसे मानदंडों को बनाये रखना है जिनसे किसी युग के जीवन में मसृणता आती है' संबंध स्थापित करने की बात कहता है। पर फिर भी यह एक प्रतिकूल यथार्थ है कि हमारे इस बीमार और लोभी समाज की पुनर्रचना में इस अल्प-संख्यक वर्ग की न कोई आवाज है और न हो सकती है। आज के विश्व-व्यापी तूफान बवंडर के बीच से मानवता के गुजर चुकने के बाद भी अगर कहीं यही अल्प-संख्यक वर्ग ही उन ईसाई पादरियों की तरह जिन्होंने रोम के पतन के समय पुरानी सभ्यता के आधे-तीहे की रक्षा की थी, हमारी आधुनिक सभ्यता की बाग लिये डटा बैठा रहा तो क्या वह उन लोगों के, जिनकी सिफत आडम्बर के साथ जिन्दगी बिताना और निम्नस्तरों के संपर्क से हौवे की तरह अपने को बचाना है, छुई मुई हाथों में मुरझा न जायेगी? और इस लड़ाई के रौरव से फिर मानवता के गुजरने का क्या मतलब अगर कला और साहित्य बदस्तूर मुट्ठी भर व्यक्तियों की इजारादारी बने रहे जिसे वे छोड़ना नहीं चाहते?

जैसा कि कॉडवेल कहता है कवि इच्छा की स्वाधीनता के बूर्ज्वा भ्रम से पीड़ित रहे हैं। उन्होंने समाज के विरोध में अपनी ऐकान्तिक इच्छाओं को खड़ा करके स्वाधीनता चाही है और अनिवार्यतः असफल रहे हैं क्योंकि वास्तविक स्वाधीनता समाज के साथ सहयोग करके ही जीती जा सकती है। कलाकार और बुद्धिजीवी की दीख पड़ने वाली स्वाधीनता वास्तव में समाज के प्रमुख न्यस्त स्वार्थों की गुलामी है। वे न्यस्त स्वार्थ जिनको इस बात की जरूरत है कि हमारे युग-जीवन की असली चीजों से लोगों का ध्यान अलग खींचा जाय, यानी सामाजिक संघर्ष से, मुक्ति, शान्ति और प्रगति पाने और उसे सुरक्षित रखने से! यही कारण है कि अधिकांश आधुनिक कला में एक ओर तो उनकी बड़ी भद्रता का आनन्द मिलता है पर दूसरी ओर एक अस्पष्ट निराशावादी बेबसी का भाव पैदा करके कर्म-आरूढ़ होने की इच्छा मारने की कोशिश की जाती है।

आइए, साफ़गोई से काम लें। कब तक, हाँ, कब तक हम राजनीति और अर्थ-शास्त्र की उपेक्षा करके कला के लिए कला का आनन्द ले सकेंगे? और अगर कुछ चुने हुए व्यक्ति ही हमारी संस्कृति के पहरुए हैं तो क्या वे जबरन असत् की शक्तियों के गुलाम नहीं बनाये जा सकेंगे, जैसा कि फ़ासिज़्म ने विश्व के सबसे सुशिक्षित राष्ट्र (जर्मनी) के साथ किया है? कब तक लेखक पुरानी बोहिमियन मस्ती के इस संशोधित रूप में विलास करेगा, कब तक वह अपनी इस झूठी, बेजान 'स्वाधीनता' को, जो स्वार्थपरता और सामाजिक गैरजिम्मेवारी का ही दूसरा नाम है, बचाये रख सकेगा? यह समझने में वह और कितना वक्त लेगा कि उसकी कला की रक्षा जनता कर सकती है, जिसकी चेतना के साथ फिर उसका तादात्म्य स्थापित होना एकदम जरूरी है। शायद लेखक जनता के बड़े हिस्से को या तो असमर्थ या उदासीन समझने लगा है, लेकिन जहाँ यह सच है कि पूँजीवादी व्यवस्था में और चीज़ों ही की तरह कला के सामूहिक उत्पादन के कारण उसके गुण में ह्रास हुआ है, वहीं इसी सामूहिक उत्पादन की रीति का समाजवादी प्रयोग इस संबंध में सारे संशयों को खत्म

कर देता है। सभी विश्वसनीय प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि सोवियत् संघ में कला और साहित्य कठिनाइयों में से होकर ज़रूर गुज़रे हैं, लेकिन उसमें साथ ही यह भी परिलक्षित है कि जन-क्रान्ति ऐसी संभावना तैयार करती है कि सब मर्यादा प्राप्त कर सकें और उस मर्यादा को एक सामूहिक स्वत्व में बदल सकें। जैसा कि पॉल नीज़ाँ ने १९३६ में पैरिस में लेखकों की कॉन्फ्रेंस के सामने कहा था, 'अगर दासप्रथा अफलातूँ और उसकी एकेडेमी के शिष्यों को विचारक बनने का अवकाश दे सकती थी तो मशीनें यही इज़्ज़त हर व्यक्ति को बख्श सकती हैं—जैसा कि वे स. स. स. र. (सोवियत् संघ) में कर भी रही हैं। पुराने ह्यूमनिज़्म में कुछ व्यक्ति सिर्फ़ जीते हैं और कुछ सिर्फ़ सोचते। एक दिन दोनों को एक होना होगा।'

अतः लेखक को प्रगति के साथ कंधा मिलाकर चलना होगा, और ऐसा करने का सब से ठीक तरीका समाजवाद को अपनाना है। यह आसान नहीं है; ऐसा करने में कल्पना-प्रधान रचनाएँ करने के अलावा दूसरे काम करने पड़ेंगे, एक नयी शैली बनाने की कोशिश में लगना पड़ेगा। यह भी संभव है कि काम में वह इतना फँस जाय कि उसे लिखना बन्द कर देना पड़े— क्या इन्हीं सालों में जन-हित के लिए लेखकों ने अपना जीवन भी होम नहीं दिया है? तो क्यों फिर वह अपने मौजूदा तौर-तरीक़े छोड़े और एक ऐसी चीज़ अपनाये, पहली बार नज़र डालने पर जिसका कोई संबंध उसके संवेदनों से नहीं जान पड़ता।

उसे साफ़-साफ़ शब्दों में, पर चोट पहुँचाने के लिए नहीं, यह बतलाना चाहिए कि अगर वह जनहित यानी समाजवाद को नहीं अपनाता तो उसकी रचनाएँ अधिकाधिक झूठी, हमारे अशान्त युग की वास्तविकताओं के प्रति झूठी और इसलिए अल्पजीवी होती जायँगी। उसे अतीत का, सपनों का, शब्दों की हेरफेर के जादू का सहारा लेना पड़ेगा; भले ही उसका निरीक्षण पैना और चमत्कारिक गहराई लिये हो, लेकिन उससे जीवन की सच्ची तस्वीर न मिलेगी उसकी उक्तियों की चमक दमक में एक मरणोन्मुख सभ्यता के मोहक पर पीले-निर्जीव रंगों का प्रतिबिम्ब तो होगा; पर आगामी पुनर्जागरण की कुनमुनाहट और हरारत का संकेत उनसे न मिलेगा। अकेलेपन और असंतोष की काली चादर उसे ढँक लेगी—'पैदा होने को मैं हुआ और बस एक बार बहुत है'— या बेचैन होकर वह हमारे लिए एक महत्त्वहीन अतीत के स्मारकों की ओट में छिपेगा। उसे तो सचमुच यह समझना चाहिये ही कि जनता के भले-बुरे को अपना समझना हमारे युग के कलाकारों के लिए, जैसा कि सभी के लिए, सबसे बड़ी वीरता का काम है।

जैसा कि इलिया एरेनबुर्ग ने एक बार कहा था, 'एक वास्तव में निःस्वार्थ कला नये समाज में ही संभव है।' क्योंकि भविष्य के वर्गहीन समाज में, लेखक को राजनैतिक संघर्ष में अपनी शक्ति और समय खर्चने की ज़रूरत न होगी और वह अपने समय की बुनियादी शक्तियों से कटकर अलग हो जाने की आशंका से कातर हुए बगैर अपने काम में लग सकेगा और निश्चय ही अगर लेखक सोचने का कष्ट उठाये तो फिर एरेनबुर्ग के शब्दों में उसे यह समझने पर मजबूर होना पड़ेगा कि 'बुर्ज्वा समाज जीवन

को उसकी संपूर्णता में नहीं देखता, उसे अलग अलग घंटों में बाँट देता है। लेखक जीवन के किसी विशेष महत्वपूर्ण क्षण को जिसका बाकी से कोई संबंध नहीं, दौड़कर पकड़ लेता है।' वह समझ लेगा कि बूर्ज्वा साहित्य जटिलता के नाम पर मनमानी कर के चीज़ों को ज़रूरत से ज्यादा आसान बना देता है और यह कि आज की अस्थिर प्रवृत्तियाँ जीवन को पूर्णता और निर्भीकता के साथ देखने की परंपरा से अलग आ पड़ी हैं।

प्रगतिशील आलोचना लेखक को उसके ऐतिहासिक कर्त्तव्य, जिससे अपनी मौजूदा बीमारी में वह मुकरता है, के पथ पर पुनः आरूढ़ कराना चाहती है। मानवता आज विकास के उस चरण में है जहाँ संस्कृति या तो उस सामाजिक संघटन की तरफ़ बढ़ सकती है, जो, अब गतिशून्य, प्रतिगामी और दमनकारी पूँजीवाद की जगह लेने जा रहा है, या तिल-तिल करके लेकिन भरसक नफ़ासत के साथ मरने के लिए अपने को छोड़ देने की तरफ़। संस्कृति की पहरुआ आज जनता है जो दुश्मन की बिछाई सुरंगों और उसके लगाये कँटीले तारों वाले खेतों पर से टेढ़े-मेढ़े सरकते हुए नये समाज की ओर बढ़ रही है।

और इस बीच जनता घोषणा करती है कि प्राचीन संस्कृति की बेहतरीन चीज़ों की वह वारिस है। सोवियत् संघ ने उन लोगों का मुँह बन्द कर दिया है जो व्यक्तिगत विशेषताओं की हत्या करने वाली एकरूपता (Standardisation) का भूत दिखलाकर निरीह लोगों को डराया करते हैं। क्या शास्त्रीय आलोचक भी यह नहीं मानते कि महान् कला लोकप्रिय होती है, और क्या यही बात सोवियत् संघ में आदि ग्रंथों (Classics) के असाधारण चलन से सिद्ध और पुष्ट नहीं होती? और यह याद रखने की बात है कि जनता को जो साहित्य प्रिय हो, उसे प्रोत्साहन दिये जाने की बात कहते समय लेनिन ने यह भी कहा था, "इसका तो कोई प्रश्न ही नहीं है कि इस मामले में निजी प्रेरणा और व्यक्तिगत प्रवृत्तियों, विचार और कल्पना के उभार के लिए, वस्तु-विषय (content) और अंग (form) के उभार के लिए ज्यादा से ज्यादा अवकाश देना एकदम जरूरी है।"

इस तरह सिद्ध हुआ कि प्रगतिशील आलोचना न तो धरती के कूड़ा करकट, मैल और गंदगी के स्तोत्र गाये जाने की माँग करती है और न जीवन के फोटो-सदृश चित्रण को ही पसंद करती है जो कि सिर्फ असाधारण परिस्थितियों में ही जैसे क्रान्ति-काल में और बहुधा युद्धकाल में जीवन के सत्य को पेश करने में समर्थ होता है। और न इस भ्रम का ही शिकार है कि नई संस्कृतियाँ हुक्म पाते ही अपने पूरे उभार के साथ धरती फोड़कर निकल आती हैं। प्रगतिशील आलोचना इस बात को भली तरह जानती और मानती है कि जीवन की भावनाएँ जितनी ही गहरी और जितना ही भरापन लिये होंगी उतनी ही देर में उनकी प्रकृति बदलेगी और साथ ही यह भी कि यह परिवर्तन मुख्यतः दीख न पड़नेवाला होता है और खुद जीवन की गति ही उसे उत्पन्न करती है। निःसंदेह लेखकों को नये समाज की रचना में योग देना चाहिए। लेकिन हम सचमुच पागलों की दुनिया के अधिवासी हैं अगर हम इसके पहले कि अन-कान्ति

आकर हमारे जीवन को भीतर बाहर से एकदम रूपान्तरित कर दे, किसी महान नये साहित्य की आशा करें। हम सचमुच बड़े नादान होंगे अगर हम यह भूल जायँ कि कविता का एक अतीत है, कि लेखक की संवेदनशीलता और मनोवैज्ञानिक बाधाएँ एक विशिष्ट ढंग की होती हैं, कि घटनाओं के उसकी चेतना को इतनी काफी गहराई से छूने में कि उसकी रचनाशक्ति आन्दोलित हो जाय समय लगता है। इसका उत्तरदायित्व हमारे ही ऊपर है कि ब्रिटेन के राजनीतिक कवि वास्तविकताओं से मुँह फेरकर थोथी आध्यात्मिकता की गोद में शरण लेते हैं और कुछ हमारे ही प्रगतिवादी या तो लिखना बन्द कर देते हैं या दकियानूसी अतीत की गोद में मुँह छिपा लेते हैं। हमको मान लेना चाहिए कि लेखक की ओर हमारी पहुँच अक्सर गलत रही है, और लेखक का क्रान्ति का डमरू बजाने के लिए कहने से ज्यादा अच्छा है कि हमारी जनता जितना तेज हो सके, क्रान्ति करे। इसके पहले कि हम लेखक से नये यथार्थ की अग्रिम तस्वीर पाने की आशा करें, हमें नया यथार्थ (यानी नया समाज) गढ़कर तैयार करना चाहिए।

—हीरेन मुखर्जी

प्रगतिशील नाटक

[उमाशङ्कर जोशी]

हंस के प्रगति अंक में प्रगतिशील नाटक विषय पर लिखने के लिए मुझे आदेश मिला है। कदाचित् सम्पादकों को मालूम है कि यह आदमी आनर्त्त (उत्तर-मध्य गुजरात) का है। फिर आनर्त्त की व्युत्पत्ति तो कितने ही पुराणकार 'नृत' से करते हैं जिसके अनुसार 'नटनर्त्तक-गायका' का वह प्रदेश है; और आज भी भूमि की एक पट्टी, विशिष्ट और भावी विकास की अनेक सम्भावनाओं से युक्त 'भवाई' नामक नाट्यसंस्था को जीवित रखने वाला प्रदेश है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इस ओर रंगभूमि पूर्णतया विकसित है। सफल मराठी नाटककार मामा वरेरकर ठीक ही कहते हैं कि गुजराती रंगभूमि ही मराठी रंगभूमि की जननी है। वह तो बहुत पुरानी बात है। पहले महायुद्ध में समृद्धि की लहरें खेल रही थीं। 'सुन्दरी' का उपमान पाये हुए विरल कलासिद्धि-सम्पन्न अभिनेता जयशंकर की 'सौभाग्य सुन्दरी' में या 'नूरजहाँ' की भूमिका में देखने के लिए, कसी हुई, पूरी की पूरी स्पेशल गाड़ियाँ बम्बई आतीं। आज वही जयशंकर 'सुन्दरी' प्राचीन आनर्त्तपुर के समीप गाँव में घी का व्यापार करते हैं। पुरानी चिरानी अब भी नाटक कम्पनियाँ चल रही हैं। नये ढंग के स्कूल-कॉलेजों में वार्षिक स्नेह-सम्मेलन के अवसरों पर अनेक युवक-युवतियाँ प्रयोग के पीछे अटूट शक्ति खर्च करते हैं—कदाचित हमारे देश के-से अधिक परिमाण में शिक्षित स्त्रियाँ शायद ही और कहीं रंगभूमि पर दर्शन देती हों। इतने पर भी दोनों वर्गों में अमाप अन्तर है। कम्पनियाँ साहित्यिक नाटकों से बिचकती हैं, और मनोरंजन-परायण (amateur) नवीन जनों में भी श्रीयुत सुन्दरी जैसे निष्णात की सिद्धि का सौभाग्य ग्रहण कर लेने की शक्ति नहीं दिखाई देती। परिणामतः ऐसा देखने को मिलता है कि जो चाहिए वह नाटक नहीं हैं और जो नाटक हैं वे चाह पर उतरते नहीं।

यही स्थिति हमारी अनेक भाषाओं के साहित्य के लिए सत्य है, ऐसी आशंका है। बम्बई में पारसियों का किया हुआ उर्दू रंगभूमि का विकास भूलने की चीज़ नहीं। आधुनिक मराठी रंगभूमि की आशाजनक स्थिति गुजरातियों को अज्ञात नहीं है। और बंगाली रंगभूमि की सजीवता की बातें वायु की लहरों में इस ओर आया ही करती हैं। पर एक ओर जहाँ पश्चिम के देशों में सिनेमा के प्रचण्ड आक्रमण के होते हुए भी अनेक उपायों का अवलम्बन करके रंगभूमि टिकी रही है, इतना ही नहीं वरन् अपनी विशिष्टता समृद्ध बनाती रही है, वहाँ दूसरी ओर हमारे यहाँ तो जन-जीवन की प्रगति, उसके उद्‌बोधन में रंगभूमि का क्या दायित्व है इस बात की उपेक्षा ही हुई है, यह निःसंशय है।

क्या प्रगतिशील, क्या किसी भी प्रकार के, नाटक मात्र का स्थान रंगभूमि पर है। नाटक बोलचाल का शब्द है, मतलब एक साहित्य-प्रकार के रूप से वह भाषा की

शक्तियों का पूरा सत निकालकर वास्तविकता, विविधता और समृद्धि धारण करता है, और उसके प्रयोग में बोलचाल के शब्दों के उपरान्त अभिनयादि अंशों से इसकी प्रभावोत्पादकता सीधी चोट कर सकती है। दूसरे इसका उल्लेखनीय लक्षण यह है कि वह समूह-भोग्य कला है। इन लक्षणों से नाटक एक साथ ही मानव-जीवन की सौन्दर्य-मंडित अभिव्यक्ति तथा लोकचैतन्य का स्फुरण करने वाली प्रेरणा बना रहता है। तो फिर आश्चर्य क्या यदि नाटक विषय पर गेटे के इस प्रकार के उद्गार निकल पड़े—"मैंने अनेक बार कहा है और पुनः पुनः कहने के लिये तैयार हूँ कि मनुष्य की सर्व संसिद्धियों में दृश्यकाव्य—नाटक—मूर्द्धाभिषिक्त है और वह सबका परिपाकरूप है।'

यदि हमको जन-जीवन के इस साधन, इस महान् संसिद्धि का ठीक-ठीक लाभ उठाना बन आये तो आज के विषम क्षण में जनता के भावी निर्माण के लिये एक अमोघ शस्त्र हमारे हाथ आ जाय; इसके अतिरिक्त सारी जनता के सामने और चिरकाल के लिए कला-देह में वर्तमान को जीवित रहने की शक्ति उपलब्ध हो जाय।

यद्यपि नाटक का इतना महत्त्व है, तथापि मानव-संस्कृति के इतिहास में उसका निरन्तर प्रकटीकरण दिखाई नहीं देता। उड़ती नज़र डालने पर, संस्कृत नाटक, ग्रीक नाटक, शेक्सपीयर की कृतियाँ, इब्सन की कृतियाँ—इस प्रकार नाटक के तीन-चार युग ही दिखाई पड़ने हैं। उसके अनुसंधान में प्रगतिशील नाटक का स्थान तत्त्वदृष्टि से कहाँ और कैसा है इसका संक्षेप में विचार किया जाता है:—

(१) संस्कृत नाटक मनुष्य जीवन के समान आदि अव्यक्त है और अन्त अव्यक्त है। उसका व्यक्त मध्यभाग को अपनी सामग्री बनाते समय दोनों अव्यक्तों—आदि और अन्त को मंगलमय रूप में स्वीकार कर लेता है अर्थात् 'नान्दी' से शुरू होकर 'भरत वाक्य' में परिणति होती है। बीच की लीला में भी उसकी श्रद्धा नियति की केवल कल्याणाभिमुखता में ही है। उस नियति की छाया के नीचे मनुष्य की संकल्प शक्ति यथाकामाचार के लिए उन्मथन करती है और दोनों के विसंवाद से नाटक अंकुरित होता है क्योंकि नियति के सर्वथा अनुकूल आचरण मनुष्य से सम्भव नहीं। उसके एकांश के अनुकूल होते-न-होते मनुष्य उसके किसी अन्य अंश की उपेक्षा कर बैठता है। प्रजानुरंजन की ओर बढ़ते हुए राम पत्नीधर्म चूक बैठते हैं। प्रणय-पराधीन होने से गार्हस्थ्यमंडन अतिथि-धर्म में शकुन्तला का स्खलन होता है। दारिद्र्य-समुद्र में डुबकी लगाकर चारुदत्त वसन्तसेना की विरल प्रीति रूपी मोती पाता है, पर कारुण्यमूर्ति धूता के पुत्र को, जब पड़ोसियों के लड़के सोने की गाड़ी में मन बहलाते हैं, मिट्टी की गाड़ी पर ही मन रमाना पड़ता है, यह दृश्य वसन्तसेना की आँख पर चढ़ा और खटका, उसको नहीं। नियति के सर्वथा अनुकूल न रह पाने के परिणाम-स्वरूप ही मनुष्य की स्वैराचारी संकल्पशक्ति आड़ के लिए प्राचीर बनाकर बैठती है। निरापद स्थान से दर्शकों का—प्रेक्षकों को सर्वत्र मिथ्या जीवन ह्रास, जीवननाश ही दिखाई देता है। चार दिन के सहवास के बाद अपवचन कहने वाले जिन पतिदेव का मुखदर्शन हुआ, सात वर्ष तक शकुन्तला उनसे दूर दुनिया के किसी कोने पड़ी रहती है; वनवास और लंका-निवास के बाद सुख की दो घड़ी मिली न मिली कि वियोग दण्डिता

सीता बारह वर्ष बाद कहीं जाकर राम का मुख देख पाती है ; चारुदत्त तो बेचारा वधस्तम्भ की भी राम जुहार कर आता है। परन्तु संस्कृत नाटकों की श्रद्धा है कि यह सब लीला यदि नियति की छाया के नीचे ही हो तो नियति स्वयं कल्याणाभिमुख होकर अन्त में सभी मंगलों से युक्त दिखाई पड़ेगी।

(२) ग्रीक नाटक की आलोचना अरिस्टाटिल ने की है। नियति, अचल. अटल नियति के मुकाबले में मनुष्य आत्म गौरव से अपनी निर्बाध संकल्पशक्ति को संचालित करता है। पर वह दृश्य कैसा है? मानो प्रलयमेघ के सम्मुख बनराज की गर्जना। इसमें से पराजय और परास्त दशा ही परिणाम में है। नियति अथवा विश्व का चालक महानियम, ऋत (Superhuman order) अपने ऊपर रंचमात्र आक्रमण अपना लेने के लिए राजी नहीं। इस आक्रमण-दुर्भग स्खलन (Tragic Flaw) के लिए वह सदा जागरूक ऋत मनुष्य की स्वतंत्र संकल्प शक्ति (Free will) को कुचल कर धूल में मिलाकर अपने को सुप्रतिष्ठित करता है। इससे प्रेक्षक के चित्त में भीति और अनुकम्पा की वृत्तियों के संचार का अनुभव होता है और इस प्रक्रिया में मनुष्य की इन दो प्रवृत्तियों का विरेचन (Katharsis) होता है।

(३) अरिस्टाटिल ने जिस ट्रेजेडी का सांग निरूपण किया है और जिसका सर्वोत्तम रूप शेक्सपीयर की रचनाओं में मिलता है, उसके सम्बन्ध में ब्रैडले इस बात पर जोर देता है कि मनुष्य की स्वतंत्र संकल्प शक्ति नियतिक्रम का जितने परिमाण में भंग करती है ठीक उतने परिमाण में नपी-तुली शक्ति उसे नहीं मिलती प्रत्युत कुछ बढ़ी चढ़ी होती है। इससे दर्शक के मन पर पहला और अन्तिम प्रभाव जो पड़ता है वह घोर जीवन-ह्रास (Waste) का होता है। अरिस्टाटिल के बाद ट्रेजेडी के तत्त्व के समर्थ आलोचक हीगेल ने पहले पहल इस बात की ओर ध्यान खींचा था कि प्राचीन नाटक में जो संघर्ष निदर्शित है वह सामान्य जीवन के स्तर पर होता है, और उसे शेक्सपीयर और उसके परवर्ती नाटककारों में देखा जा सकता है। प्रोमिथियस की मनोयातना की तुलना ब्रूटस की मनोयातना से अथवा अन्धे राजा इडिपस की तुलना नादान राजा लियर की दशा से की जा सकती है। एक की यातना के पीछे नियति खड़ी सी दिखाई पड़ती है जब कि दूसरों की शास्ति के पीछे वह कुछ धुँधली-धुँधली दीख पड़ेगी।

(४) इब्सन के नाटकों में एक प्रकार से यह शक्ति-संघर्ष और उग्र दिखाई पड़ता है। लोक शासन से व्यक्ति को मताधिकार मिला है, परन्तु उसकी संकल्प शक्ति तो अनेक पाशों के बन्धन में है। संकल्पशक्ति 'स्वतंत्र' जैसे कहीं दिखाई ही नहीं देती। आदमी आँख खोल कर देखे तो मालूम हो कि उसकी संकल्प-शक्ति के तंतु-तंतु समष्टिगत, संकल्पशक्तियों के अनन्त तन्तुओं में गुथे हुए हैं। दूसरी ओर, धरती पर आकाश की तरह जीवन पर छाये रहने वाले नियति या ऋत जैसे एक और अद्वितीय परम तत्त्व का दर्शन भी, धर्मश्रद्धा घटने के कारण शिथिल होते-होते दुष्कर हो गया है। नियति के विरोध में स्वयंस्फूर्त स्वतंत्र संकल्पशक्ति के हुंकार से नाटक पैदा करने की भी बात न रही। पर इसके बदले, जीर्ण समाज

रचना और निर्जीव जड़ धर्म रूढ़ियों-जैसी जीवन-ग्रासी यंत्रणाओं से जब व्यक्ति की संकल्पशक्ति का एक-एक तार जकड़ा होता है तब उसकी आत्मवेदना की मात्रा कितनी सीमा तक बढ़ जाती है इसमें कलाकारों ने अभिनव नाट्यविधान की प्रेरणा दिखाई है। नियति और स्खलनशील स्वतंत्र संकल्प शक्ति के संघर्ष के स्थान पर समाज और व्यक्ति का संघर्ष निरूपित करना कठिन था क्योंकि समाज को नियति के समान अचल-अटल तत्त्व मान सकने की कोई गुंजाइश ही नहीं थी और व्यक्ति के स्वतंत्र आचरण की शक्ति भी कुंठित जान पड़ी। इस प्रकार दोनों पक्ष बेकार जान पड़े। इसलिए समष्टि के बन्धन से नियंत्रित व्यक्ति के किसी विशिष्ट आचरण से ही नहीं परन्तु समग्रतया व्यक्ति को जो सहन करना पड़ता है उसकी गहनता से नये नाटक का प्रसार हुआ। वर्ड्सवर्थ के सीधे-सादे उद्गार —What man has made of man ?' आदमी ने आदमी की क्या गत बना दी है—में इन नवीन नाटकों का प्रधान सुर और सूत्र हमारी पकड़ में आवेगा। प्रगतिशील नाटक पर विचार करते समय हम एक कदम और आगे बढ़ जायँगे। जीर्ण रूढ़ि और निर्जीव जीवन-रचना के नीचे कोई एकाध व्यक्ति ही नहीं बल्कि असंख्य व्यक्ति दलितकातर हैं, यह धीरे धीरे स्पष्ट होता गया। और व्यक्ति के सहन करने का वैयक्तिक रूप भी न रहा। क्योंकि धीरे धीरे उसे यह भी मालूम हुआ कि अपने और अपने जैसे दूसरों की जीवन-घटना के पीछे समाज का एक अंश है जिसका इस संघटन के टिके रहने में पूरा स्वार्थ है और इसके विरोध में स्वयं को अपने जैसे सब के लिए सिर देने से लेकर उससे भी कुछ अधिक सहन करना पड़े तो यह उनके अपने लिए ही नहीं बल्कि सर्वसाधारण के हित के लिए सहन करना है। इस प्रकार एक मज़बूत किलेबन्दी से और विचक्षण तथा नित्यजाग्रत बल के सामने सामान्य हित के लिए व्यक्तिगत व्यक्ति समूह टकराते हैं और फिर जो संघर्ष स्फुरित होता है उससे निष्पन्न होने वाले अनिवार्य जीवन-ह्रास का जहाँ प्रतिबिम्ब मिले वह प्रगतिशील नाटक है।

इस प्रकार के नाटक का गठन ग्रीक नाटकों के गठन से मिलता हो तो जानकारों को आश्चर्य न होगा। नये अंग्रेज कवियों के नाटकों में कोरस आदि से यही सूचित होता है। शेक्सपीयर और उसके बाद की नाट्य-रचनाओं में जिस प्रकार के रागावेगों में की संकुल संघटना सम्भव थी वह आज सम्भव नहीं दिखाई देती। यही नये कवियों की रचनाओं से भी व्यक्त होता है। व्यक्ति की अपेक्षा बल नाटककार का ध्यान अधिक खींचता जान पड़ता है। इस प्रकार नाटक जम जाता है। क्योंकि ऊपर की चर्चा से एक बात तो दीये-सी रौशन हो गई होगी कि नाटक की सफलता के लिए मनुष्य-जीवन के निष्कारण विपुल (घोर) ह्रास (Waste) के समान कोई अन्य उपादान शायद ही मिल सके। इस ह्रास का भान आज के मानव को जितना उत्कट रूप से हुआ है पहले शायद ही कभी हुआ हो। दूसरे शब्दों में आज प्रगतिशील नाटक की सामग्री जहाँ नज़र डालिए वहाँ मिलेगी। उसको ग्रहण करने के लिए लगन और सहानुभूति से भरी हुई आँखों की ही कमी है, जगत में जो कुछ बन रहा

है उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म संवेदन (Seismographic record) ग्रहण कर सकने वाले तथा विवेकपुष्ट कलादृष्टि के नियमन से उसे आकुलता से बचानेवाले हृदय-रस की ही कमी है ।

नाट्य के अन्तर्गत संघर्ष अनिष्ट और इष्ट तत्वों के बीच ही होना आवश्यक नहीं, दो इष्ट तत्वों के बीच हो तो भी नाटकीय परिपाक होगा । इसलिए हमारे मत से, अपरिहार्य रूप से जिस अनिष्ट तत्व का निरूपण होता है उसके निरूपण में निरन्तर गहरी रंगसाज़ी करते जाना बेकार है। स्टीफेन स्पेंडर के Trial of a Judge में जो कुछ अनिष्ट की लगन और परिपाक है उस पर जिस ढंग से ज़ोर डाला गया है उससे प्रगतिशील नाटक के विषय में एक जबरदस्त शंका होती है ।

और भी शंका के स्थान हैं:—दोनों शक्तियाँ मानव पात्रों द्वारा मूर्त हों तभी नाटक रंगभूमि के योग्य हो सकता है। यदि ऐसा न हो सके और केवल वे शक्तियाँ ही निरूपित की जायँ, तो यह रंगभूमि पर अव्यवस्था फैलाने के समान ही होगा। अंग्रेजी रचनाओं के देखने से इस बात की भी कुछ सूचना मिलती है ।

प्रगतिशील नाटक तत्वतः सुखान्त ही होगा। सभी नाटक अन्ततोगत्वा दर्शक में किसी-न-किसी प्रकार से समाधान की उत्कण्ठा जगाये बिना नहीं रहते; हेगेल का यह अभिप्राय यथार्थ है। परन्तु जिस प्रकार ग्रीक नाटक के अन्त में परम विश्व-नियम का अतिक्रमण करने वाले मनुष्य को दण्डित करके तत्कालीन दर्शक के मन में स्वतः स्वस्थ रहकर उसमें श्रद्धा उपजाने वाले समाधान की प्रेरणा होती थी, उसमें और हमारे नाटक के समाधान में अन्तर है। जिसे सहन करना पड़ता है उसे जीवन ह्रास का निमित्त और साक्षी भले बनना पड़े, अन्त में इससे परम सामंजस्यपूर्ण बृहत् जीवन के परिणत होने की श्रद्धा हमारे दर्शक के चित्त समाधान का कारण बनती है। हमारा नाटक नान्दी से शुरू न होते हुए भी किसी मूक भरत-वाक्य से अवश्य अन्त करता है। संस्कृत नाटकों की तरह रंगभूमि के व्यक्तियों या उनकी कृतियां या भावनाओं से या किसी और तत्त्व से नहीं प्रत्युत सबके हृदय में समाधान होता है। शोषित मनुष्य सिर उठाता है, गिरता है, खड़ा होता है, तड़फड़ाता है, दुःख भोगता है। इस सबके बाद ही इस धरती पर वैषम्य हटेगा, और यह मनुष्य के रहने योग्य हो जायगी यह आज की—आसन्न क्रान्ति के जिस बिन्दु पर हम खड़े हैं उसकी मर्यादा की—हमारी श्रद्धा है। क्रान्ति के सफल होने पर जब आर्थिक शोषण के षड्यन्त्र नेस्तनाबूद हो जायँगे तब नाटक का यही उपादान न रहेगा—शायद मनोविज्ञान के गूढ़ प्रश्नों में मिले—ऐसा हमें मालूम होता है, तो भी पुराने भरतवाक्य की प्रथा को मोड़कर रखने की ज़रूरत नहीं। 'प्रगतिशील' और 'नाटक' इन दोनों को, यदि कोई कला-दृष्टि के नाम पर, एक दूसरे का सत्ता-शत्रु कहकर, आज की इस श्रद्धा को ही यदि भय-स्थान समझे तो उसके कर कमल में ग्रीक-नाटकों को रख देना ठीक होगा। ग्रीक नाट्यकारों की श्रद्धा क्या आज की श्रद्धा है? हाँ, उसकी अपील आज भी हमारे लिए है। उसी प्रकार आज की श्रद्धा भविष्य के भावक के लिए बाधारूप ही होगी ऐसा मानकर चिन्ता में रतजगा करना उत्तम नहीं।

× × × × ×

यह तो हुआ। सूत्र (Formula) के ऊपर कम ही नाटक रचे गये हैं। हमारे नाटक जैसे-जैसे बनते जायँगे तैसे-तैसे प्रगतिशील नाटक का यथातथ स्वरूप आप से आप समझ में आता जायगा, तभी हम समझ भी पायेंगे। ऊपर तो काम चलाऊ विचार ही प्रस्तुत किये हैं और निरूपण को संक्षेप के जोखिम भर रूप में रखकर अन्त में तात्पर्य यह है कि यदि यह प्रयत्न इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का एकाध विचारणीय दृष्टिकोण दे सका तो बहुत हुआ।

तो रंगभूमि की ओर फिरकर दृष्टि डालने से ऐसा नहीं है कि चर्चा-वार्ता में प्रगतिशील नाटक खोजना हो। दर्शक-वर्ग का धीरज और सहानुभूति ही विचार में प्रशंसा पात्र है। शायद इनके खोटे लालन-पालन से नई रंग-भूमि खिल न सकती हो। यहाँ की यह स्थिति अवश्य शंकनीय है। पीपुल्स थियेटर जैसी प्रवृत्तियों से भट्टनागरिकों के ऐसे लालन से बचकर चलना ही भला है। दूसरे जैसा कि ऊपर कहा गया है, नाटक समूह भोग्य, लोक-भोग्य कला है। कविता उसे ऑडेन या मेक्नीस के ढंग पर हो तब भी न पा सके परन्तु जैसे परदेश की मील का वस्त्र लाकर हमको अपनी लोक रुचि की साड़ी धोती करनी होती है वैसे ही रंगभूमि, खास करके लोक-रंगभूमि अपनी भूमि में 'भवाई' आदि संस्थाओं की अपनी हो तो लोकरुचि जाग्रत हो और वश में हो। नाटक की सामग्री में भी उसकी लोक-भोग्यता के कारण सुधी कलाकार संस्कृति के सभी तार झनझना कर अपनी रुचि का संगीत निकाल सकता है। इस जमाने का सर्वोत्तम और कुछ नहीं तो अपने कोरस में प्रगतिशील नाटक Murder in the Cathedral में इलियट ने दो हज़ार बरस पुरानी बुद्ध-कालिक मारक-धारक प्रलोभनों की कथा—(देखिए आज तक यहाँ के किसी लेखक की बुद्धि इधर न गई)—की प्रतिध्वनि का जोड़-जोड़, मध्यकालीन राज्य और धर्म के बीच अंतर, धर्म की आत्म-निर्भरता जब कि राज्य में भविष्य के सामने सच्चा दिखलाने की लोलुपता भी है, नादान भोली जनता के जीवन-सरोवर में आस-पास के इन आघातों से उठनेवाली लहरी-लीला—इस सभी को एक साथ आलिंगन में लेने के लिए कितना प्रयत्न किया है।

अवश्य ही प्रगतिशील नाटक हमारी भाषाओं की प्रतिभा को चुनौती देनेवाली वस्तु है।

—उमाशंकर जोशी

प्रगतिशील पत्रकारकला

(सत्येन्द्रनाथ मजूमदार)

प्रगतिशील पत्रकारकला को कोई सुनिर्दिष्ट नाम देना कठिन है। किसी भी देश या जाति की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था और उसकी हालत के लिहाज से उसका निर्णय किया गया है। नयी विचारधारा के साथ रक्षणशील पुरातन के संघर्ष से जो संस्कार, उन्नति और गठनमूलक विचार मानव समाज के विचार, चरित्र एवं लोकव्यवहार में परिवर्तन की सूचना देने में समर्थ होते हैं वे ही प्रगतिशील कहे जा सकते हैं। पाश्चात्य देशों के समाज और राष्ट्रविधान के इतिहास में प्रगतिशील पत्रकारकला का बड़ा हाथ रहा है।

भारत में ब्रिटिशयुग के शुरू से लेकर समूची उन्नीसवीं सदी के पूरे समय में समाचार पत्रों के संचालन में हमने उसकी ही ध्वनि और प्रतिध्वनि पायी। उन्नीसवीं सदी के पहले भाग में फ्रांसीसी विप्लव के आन्दोलन से उत्पन्न अमृत और विष ने पराधीन भारत के शिक्षित भाग को थोड़ा बहुत प्रभावित और सचेत कर दिया। अभिनव और अभूतपूर्व ब्रिटिश वणिक्-साम्राज्यवाद के मौजूदा शासनदण्ड के नीचे शोचनीय राजनीतिक पराजय से ग्रस्त भारत के चरित्रहीन, देश प्रेम की चेतना से हीन, विलासी, घूसखोरी के लालच में पड़े निकम्मे, तमाम हिन्दू मुसलमान राजा और जमींदार सिर झुका कर खड़े हो गये। अठारहवीं शताब्दी का शेषार्ध बीत जाने के बाद जब से इस देश में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी और वृत्तिजीवी नयी श्रेणी का जन्म हुआ, उस समय से ही हमारे देश में समाचार पत्रों का आरंभ हुआ। उस युग में भारतीय प्रतिभा पहले पहल धर्म और समाज को संस्कृत करने में प्रवृत्त हुई। इन सुधारकों और धर्मप्रचारकों ने ही पहले पहल समाचार पत्रों का आरंभ किया। स्वाभाविक रूप से ब्रिटिश साम्राज्य की नयी राजधानी कलकत्ते में इसकी नींव पड़ी। उस समय के दैनिक और साप्ताहिक समाचार पत्रों में ब्रिटिश शासन नीति की समालोचना की अपेक्षा सामाजिक और धार्मिक विषयों को ही प्रधानता दी जाती थी। भारतीयों में जो लोग इन पत्रों के संचालन में लगे हुए थे वे एक ही साथ पत्रकार, नेता अथवा विशेष धर्ममत के पोषक थे। लार्ड डलहौजी के शासनकाल से लेकर लार्ड कैनिङ्ग के शासनकाल तक हताधिकार हिन्दू मुसलमान उच्चवंशीय सम्भ्रान्त व्यक्ति एक साथ मिलकर स्वतंत्रता के पुनरुद्धार की जिस चेष्टा में लगे हुए थे उसमें उन्हें अंग्रेजी शिक्षितवर्ग का समर्थन नहीं मिला। नील व्यवसायियों के अत्याचारों और सरकारी कर्मचारियों के जुल्म और जबर्दस्तियों के विरुद्ध उन दिनों दो चार पत्रकारों ने अपनी लेखनी अवश्य ही उठा ली थी पर वह ब्रिटिश न्यायबुद्धि के समक्ष सुविचार की माँग रखने या सुनिश्चित संकल्प का ध्येय व्यक्त करने वाली अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती।

सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम को ब्रिटिश शासकों के अनुकरण और निर्देश

को देश का शिक्षित समाज बहुत दिनों तक 'सिपाही विद्रोह' समझता आया है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वेतनभोगी हिन्दू, मुसलमान सिपाहियों ने असन्तुष्ट होकर जो विद्रोह कर दिया था उसके अस्पष्ट और कल्पित कारणों के सिवा शिक्षित समाज को और कोई अधिक बात सोचने समझने या जान लेने में सफलता नहीं मिली है। ठीक ऐसे ही समय में पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विधवा विवाह के प्रस्ताव को लेकर ही भारत का शिक्षित और रक्षणशील हिन्दू समाज इतनी बड़ी राजनीतिक घटना की अपेक्षा अधिक विचलित और प्रभावित हुआ था।

उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे भाग में हम धार्मिक और सामाजिक संस्कार की प्रतिक्रिया से उत्पन्न पुनरुत्थानवादी हिन्दू आन्दोलन और १८७२ ईसवीं से राजनीतिक आन्दोलन का प्रारंभ देखते हैं। इस युग में शिशिरकुमार घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, नरेन्द्रनाथ सेन तथा रानाडे ने समाचार पत्र जगत् में परिवर्तन किया और उस परिवर्तित धारा का अनुसरण करके ही कांग्रेस आन्दोलन के साथ साथ एक नवीन राष्ट्रीयतावाद समाचारपत्रों में प्रचारित होने लगा। यह भी पाश्चात्य विचारधारा से अनुप्राणित था। मेजिनी के धर्मानुगत स्वदेशप्रेम के अनुकरण में भारतीय राष्ट्रीयता ने भी अपना स्वरूप प्रगट किया। हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान और स्वदेश की स्वाधीनता की कामना के मेलजोल से जिस अन्तर्दृष्टि तथा प्रचुर भावावेश का बाहुल्य लिये स्वदेशप्रेम के आन्दोलन की सृष्टि हुई, वही बीसवीं शताब्दी में बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन और अखिल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में सामने आया।

तिलक, अरविन्द, सुरेन्द्रनाथ, विपिनचन्द्र, लाजपतराय, सर फ़ीरोज़शाह मेहता आदि जो लोग इस आन्दोलन के नेता हुए वे सभी, नेता और पत्रकार दोनों ही थे। कुछ ही वर्षों के अन्दर कांग्रेस में नरम और गरम दल प्रकट होने के बाद गरम या राष्ट्रीयतावादी समाचारपत्र प्रगतिशील माने जाने लगे और पाठक समाज में उन्हें आदर भी मिलने लगा। पहले महायुद्ध के बाद जब गांधी जी अखिल भारतीय नेता के रूप में आये तब वे भी 'यंग इण्डिया' और 'नवजीवन' के द्वारा अपने विचार व्यक्त करने लगे।

पहला महायुद्ध समाप्त होने पर समाचारपत्र जगत् में एक प्रकार का परिवर्तन दिखाई पड़ा। भारतीय कल कारखानों के मालिकों ने युद्ध के बाज़ार में देशवासियों का शोषण करके जिस अधिक परिमाण में मुनाफ़ा कमाया और युद्ध की ठेकेदारी से जो प्रभूत धनराशि संचित की उससे नये नये कल कारखाने खोलने की धूम-सी मच गयी। इसके सिवा दोहरी शासन प्रणाली जारी करने के विरोध में गांधी जी और कांग्रेस ने भारत-व्यापी असहयोग आन्दोलन जाग्रत किया। उन दिनों भारतीय व्यापारी समाज को सुविधा देकर सरकार ने अपने हाथ में रखने के लिये किसी किसी शिल्प और वाणिज्य में संरक्षण नीति का सहारा लिया। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि श्रमिकों को कम मजदूरी और देशवासियों के शोषण की संरक्षणनीति के परिणाम स्वरूप पूँजीपतियों को प्राणरक्षा का अवसर प्राप्त हुआ। इस आर्थिक क्षमता के कारण व्यवसायियों की दृष्टि दैनिक समाचारपत्रों पर पड़ी। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ साथ

स्वदेशी-अर्थात् बैंक, बीमा कम्पनी, लोहा लकड़, दवा आदि और कपड़े की मिलों के मालिकों या संचालकों ने विज्ञापन देकर या आर्थिक सहायता पहुँचा कर दैनिक समाचार पत्रों स ढोल पिटवाना शुरू किया। श्रमिकों का धीरे-धीरे बढ़ता असन्तोष, हड़तालें, माँग आदि समाचारों की दैनिक पत्रों में कमी होने लगी। महायुद्ध के बाद के समाचार पत्रों ने प्रचार और धन का मुँह देख लिया था। व्यवसायियों और राजनीतिक नेताओं द्वारा संचालित दैनिक समाचार पत्र नये आकार में प्रकाशित हुए। इसके सिवा सरकारी दमननीति के परिणाम स्वरूप समाचार पत्रों का विचार स्वातंत्र्य का अधिकार भी बहुत अंशों में संकुचित हो चला। इन सब कारणों के साथ ही अन्य कारणों से भी दैनिक समाचारपत्र लालची व्यवसायियों के हाथ जा पड़े। स्वाधीन विचार वाले प्रगतिशील संपादक कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन के परदे में वणिक तंत्र और सामाजिक रक्षणशीलता का सूक्ष्म प्रचार करने लगे। इनमें दो चार आदर्शवादी पत्रों ने जन्म लिया, कुछ मर गये और कुछ तो संग्राम से थक कर बाजार में चलने रहने की नीति धारण करके टिके हैं।

१९२०-३० में दिखाई पड़ा कि व्यवसायी संस्थाओं की शकल में चलाये बड़े बड़े दैनिक पत्रों में प्रगतिशील राजनीतिक तथा आर्थिक विचार धारा का प्रचार असंभव न होने पर भी कठिन अवश्य हो रहा था। इसलिये गांधी जी का अनुकरण कर विशेष मत का प्रचार करने के लिये भारत के विभिन्न केन्द्रों में देशी और अंग्रेजी भाषाओं के कुछ साप्ताहिक और मासिक पत्रों का आविर्भाव हुआ और इनमें तर्कशास्त्रीय तथा भौतिकवादी भाव और विचार धारा का प्रचार होने लगा। सांप्रदायिकता, संकीर्ण राष्ट्रीयता और अस्पष्ट आध्यात्मिकता के मेलजोल से भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में जो आत्मघातक फूट, भेद और विषमता दिखाई पड़े उनके प्रतिरोध और प्रतीकार के उद्देश्य से जिन लोगों ने पत्रकार कला के क्षेत्र में पदार्पण किया उनकी संख्या बहुत ही संकीर्ण है। ऐसे ही समय में गांधी जी का दूसरा व्यापक सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन चला और साथ ही संसार व्यापी आर्थिक संकट काल भी उपस्थित हो गया। इन स्थितियों के कारण समाचार पत्रों को निस्सन्देह कुछ न कुछ त्याग स्वीकार करना पड़ा किन्तु इतना होने पर भी वास्तव में उन्हें बहुत ही फ़ायदा होने लगा। स्वदेशी और विदेशी तरह तरह के सौदे, शृंगार की चीज़ों तथा दवा वग़ैरह की प्रतियोगिता में बेचने के लिये दिये जाने वाले विज्ञापनों से समाचारपत्रों के पृष्ठ के पृष्ठ भरे जाने लगे। नतीजा यह हुआ कि आकार प्रकार और सजावट में तो इन सब की बढ़ती हुई पर सारतत्व की कमी हो चली।

एक दृष्टि से इसे जिस तरह आश्चर्यजनक उन्नति कहा जा सकता है, दूसरी दृष्टि से अवनति भी कह सकते हैं। इस समय से सरकार मौक़ा देखकर स्वतंत्र विचार वाले सम्पादकों, पत्रकारों, और लेखकों को सज़ा देना बेकार समझ कर जुरमाना, जब्ती और पत्रों को स्थगित करने के डराने वाले क़ानूनों और आर्डिनेंसों को बनाने लगी। लाभदायक व्यवसाय नष्ट हो जाने के डर से बड़े बड़े दैनिक पत्रों के संचालक नेताओं और दल विशेष के मनोरंजन, और दमननीति के आघात से बचने के लिये सभी

असंतोष एवं आपत्ति-जनक आदेशों को मानकर समाचारपत्रों का संचालन करने लगे। लोकमत गठन और नवचेतना के प्रचार में समाचार पत्र प्रथम पंक्ति में न रह कर तथाकथित बहुमत का राग अलापने लगे।

इन सब बातों के उल्लेख करने का मेरा उद्देश्य यह है कि इंगलैंड और अमेरिका में जो कुछ हुआ है वही भारत में भी सीमित रूप में हुआ। भारत में अंग्रेज़ी और बंगला समाचार पत्रों के समाचार वितरण की प्रत्येक धारा विलायती अखबारों की नकल है। साधारणतः देशी समाचारों की अपेक्षा विदेशी समाचारों को ही हम अधिक प्रधानता देते हैं। धनी मानी लोगों के जन्म मरण, विवाह, भाषण आदि सचित्र प्रकाशित किये जाते हैं। किन भाग्यवानों के घर कौन कौन भाग्यवान और सौभाग्यवती ने जलपान या चायपान किया, मध्याह्न या नैश भोजन में कौन आमंत्रित हुए—यह सब प्रकाशित करके हमलोग लोकतंत्र—राष्ट्रीय आवेग को संतुष्ट करते हैं। इनके सिवा जो स्थान बाक़ी रह जाता है, उसमें कांग्रेस, हिन्दूसभा, मुस्लिम लीग आदि राजनीतिक दलों के आन्दोलनों के समाचार दिये जाते हैं। कारखानदारों, पूँजीपतियों, ज़मीदारों और देशी नरेशों के स्वार्थों का समर्थन करते हुए ब्रिटिश शासन की समालोचना की अजीब-सी खिचड़ी को यहाँ के दैनिक समाचार पत्रों में राष्ट्रीयता और प्रगतिशीलता कह कर प्रचार किया जाता है। विगत शताब्दी में मनीषी बंकिम चन्द्र ने समाचारपत्रों के सम्बन्ध में व्यङ्गोक्ति करते कहा था, 'यह सब काग़ज़ में लपेटे मात्र कच्चे केले हैं'। आज ५०–६० वर्षों के बाद भी भारतीय समाचारपत्रों की किन्हीं अंशों में उन्नति और श्रीवृद्धि होने पर भी कच्चे केलों की कमी नहीं है। बहुतेरे मेरी इस आलोचना को एकपक्षीय कहेंगे। मुझे इस अभियोग को कुछ अंशों में मान ही लेना पड़ेगा, क्योंकि मैं प्रगतिशील विचार धारा की दृष्टि से विचार करने में तत्पर हुआ हूँ, न कि समाचारपत्रों की व्यावसायिक सफलता और बहुप्रचार का गुणगान करने में। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रगतिशील विचारधारा क्या वस्तु है? राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से विचार कर मैं यही समझ पाता हूँ कि राष्ट्रीय स्वाधीनता और सामाजिक सुविचारों को ही प्रगतिशील विचार कहा जा सकता है। सामाजिक और आर्थिक भेद तथा वैषम्य को दृष्टिगत रखते हुए राजनीतिक स्वाधीनता सम्भव नहीं हो सकती। विचारों के इस द्वन्द्व में ही भारत के राजनीतिक क्षेत्र में साम्प्रदायिकता और अस्पष्ट-अनिर्दिष्ट राष्ट्रीयता तथा अयौक्तिक आध्यात्मिक भावावेश की प्रतिक्रिया रूप में युक्तिसिद्ध समाजतन्त्रवाद अन्य देशों की ही भाँति भारत में ही आविर्भूत हुआ है। आर्थिक वैषम्य पर प्रतिष्ठित जो राष्ट्रीय और सामाजिक व्यवस्था बहुत लोगों की पीड़ा, दुर्गति और अधःपतन के कारण-रूप में विराज रही है, उसको जड़ से उखाड़ने के लिए एक सम्पूर्ण योजना मानसिक पटभूमि में लाने की आवश्यकता है। अंग्रेज़ों के हाथ से अधिकार छीन कर स्वतंत्रता प्राप्त करने से ही सारी समस्याएँ हल हो जायँगी, इस प्रकार के मत में विश्वास करना, और अरविन्द योग बल से भारत का उद्धार करेंगे, गांधीजी प्रेम और मैत्री भावना द्वारा शासक और शोषक के चित्त से हिंसा, द्वेष और लोभ दूर कर देंगे,

अथवा जापान या जर्मनी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को वश में लाकर हमें स्वाधीन बना देंगे—ये सभी विचार एक ही श्रेणी के अन्तर्गत हैं। अत्यन्त दुःख और लज्जा के साथ कहना पड़ता है कि हमारे देश के अधिकतर वृत्तिजीवी पत्रकारों के इसी प्रकार के विचार समाचार-पत्रों में प्रकाशित होते हैं। किन्तु कालचक्र ने पलटा खाया है। वास्तविक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर उदीयमान शिक्षित युवकोंका एक दल पुरातन के आवरण को विदीर्ण कर समाचार पत्रों की सेवा में अग्रसर हुआ है। बहुत थोड़े दिनों में ही किसी किसी दैनिक और बहुत से साप्ताहिक पत्रों के बीच से इन युवकों का प्रभाव बुद्धिजीवी श्रेणी और सर्वसाधारण में वृद्धि पाने लगा है। इस दुर्दमनीय युक्ति-संगत नवीन भावधारा को वञ्चित करने के लिए स्थायी स्वार्थ की रक्षा चाहने वालों में जो शंका और रोष मौजूद है यह अब कोई छिपी बात नहीं रह गयी है।

कुछ दिनों पहले ही जो अवहेला और उपेक्षा के विषय थे, वे आज नियम पूर्वक भय और शंका के कारण हो उठे हैं। कुछ समाचार पत्र-व्यवसायी भी लोक मत की गति निरीक्षण करके इच्छा न रहने पर भी वैज्ञानिक समाजतंत्रवाद के प्रचार में सहायता देने के लिए बाध्य हो रहे हैं। महायुद्ध की प्रचण्ड प्रलय लीला में बहुत कुछ टूट फूट रहे हैं और आगे और भी टूटते फूटते जायेंगे। प्राचीन युग के बहुत से सुप्रतिष्ठित मतवाद और संस्थाएँ जाग्रत जन-शक्ति के पदाघात से चूर्ण हो जायेंगी। इस भूकम्प के बीच बैठकर जो लोग सर्वमानव की मुक्ति और कल्याण के आदर्श को वास्तविक स्वरूप देने के लिए लोकमत को सजग कर रहे हैं वे ही प्रगतिशील पत्रकार हैं और वर्तमान तथा भविष्य उनके ही हाथों में है।

प्रगतिवाद ही क्यों ?

अंचल

[अंचल]

आज साहित्य में प्रगतिवाद को लेकर जितना विवाद चल रहा है वह साहित्य की जागरूकता और बौद्धिक चेतना का ही निदेशक है। उसके गुण-दोषों की चर्चा और अनुशीलना के प्रति ऐसी तत्परता संभवतः इस बात का प्रमाण है कि प्रगतिवाद एक जीवन-दर्शन और जीवन-विज्ञान की प्रगति और गहराई को लेकर अवतीर्ण हुआ है। इसलिये जो लोग उसमें आग और शोला ढूँढ़ते हैं उन्हें गर्मी भी मिलती है और जो लोग रोशनी चाहते हैं उनकी आँखें भी एक नई दुनिया में खुलती हैं। उसमें एक ओर यदि सामूहिक चेतन भावना के लिये अपील है तो दूसरी ओर नवीन युग का वास्तविक विश्वबोध भी है। व्यक्ति और वर्ग में अन्दर से उठकर जो प्रेरणायें कल देश और समाज की शक्तियाँ बननेवाली हैं उन्हें एक आन्तरिक ठहराव उसमें मिलता है। जनवाद की शक्तियों का पूर्ण विकास, जन मानव की पूर्ण मुक्ति और स्वतंत्रता जो सामाजिक और सामूहिक क्रियाशीलता पर आधारित हो—यही उसका ध्येय है। समाजवाद के भीतर से व्यक्ति का सच्चा अभ्युदय ही उसका ध्येय है। इसीलिये उसकी सृष्टि सीमाहीन और बाधाहीन है।

प्रगतिवाद को जो लोग केवल एक दृष्टिकोण मानते हैं वे भी अब यह अनुभव करने लगे हैं कि वह एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। वह इतिहास और तर्क, समाज शास्त्र और मनोविज्ञान के आधार पर चलता है। केवल विश्वास और संस्कार के आधार पर नहीं खड़ा है। वह सत्य को एक सामाजिक शक्ति मानता है। उसे ईश्वरीय अंग बता कर मनुष्य के वश और शक्ति के परे की वस्तु नहीं ठहरा देता। सामाजिक व्यवस्था बदलने का वह मनुष्य का अधिकार स्वीकार करता है, उस पर ज़ोर देता है, उसे विकसित करता है। यदि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के शब्दों में कहें तो वह स्थिति में विरोध पैदा होने या करने और संघर्ष के परिणाम-स्वरूप विकास के लिये नई स्थिति के पैदा होने या करने को ही जीवन की प्रगति का आधार मानता है। यही मनुष्य स्वभाव की प्रकृति है—यही उसकी प्रगति है। इसीलिये आज प्रगतिवाद का विरोध नये आदमियों, नई अवस्थाओं, नये विचारों और नई आकांक्षाओं से विरोध है। प्रग-तिवाद समाज से शोषण की व्यवस्था को समाप्त कर श्रेणी-रहित जन समाज की स्थापना पर विश्वास करता है। कारण स्पष्ट है। मनुष्य का जीवन पैदावार के साधनों पर निर्भर करता है। पैदावार के साधनों पर जिस व्यक्ति या श्रेणी का अधिकार होगा उसी के फैसले और हित के विचारों से समाज की व्यवस्था चलेगी। इस दृष्टि से यदि प्रगतिवाद को मार्क्सवाद का साहित्यिक मोर्चा या front कहा जाता है तो एक प्रगतिवादी के नाते मुझे इसमें कोई असंगति नहीं दीखती। इसी को मैं दूसरे शब्दों में सब का हित या सब का सुख मानता हूँ।

"और सबका सुख चरम उत्कर्ष मानव की प्रगति का"। इसलिये जिस प्रकार

समाजवाद का अर्थ है मनुष्य के जीवन का सामाजिक या सामूहिक तरीका, वैसे ही प्रगतिवाद का अर्थ है साहित्य का सामाजीकरण या साहित्य को केवल व्यक्ति के सुख-दुख, जन्म-मरण, आशा-आकांक्षा और उल्लास-वेदना की अभिव्यक्ति का साधन न बनाकर समाज की पीड़ा, ग्लानि, उतार-चढ़ाव, हर्ष-उद्वेग, उमंग और कुतूहल, सृजन को वाणी देना। अनुभूति को जो लोग अब तक स्वानुभूति ही समझ रहे हैं उन्हें अब साहित्य के निश्चयात्मक आधार और संकल्पात्मक प्रवृत्तियाँ भी बदलती दीखेंगी। परन्तु मजबूरी है। यहाँ जो लोग श्रेणी संघर्ष का भय देखते हैं उन्हें जीवन की यथार्थताओं को आँखें खोल कर देखना होगा। समाज में जो भी परिवर्तन होता है श्रेणी संघर्ष से ही होता है। हम आज वर्ग समाज के प्राणी हैं। श्रेणी संघर्ष तो उसमें एक प्रोसेस की तरह अनवरत चलता आया है, चल रहा है। जरूरत सिर्फ़ उसे आँख खोलकर देखने की है। समाज का सामान्य विकास और एक स्थिति पर पहुँचकर उस विकास का पुंजीभूत होकर गुणात्मक परिवर्तन, क्रांति की शकल में फूट पड़ना, दोनों के पीछे काम करनेवाली प्रक्रिया श्रेणी संघर्ष है।

प्रगतिवाद पर यदि प्रचार का आरोप लगाया जाता है तो वह कोई आरोप नहीं है। प्रगतिवादी साहित्य भावों और विचारों का वाहक होता है ; वह रचना की वृत्ति को अवसर देने या कला के लिये मार्ग की खोज के साथ साथ एक दूसरी पूर्णता का आधार भी प्रस्तुत करता है। यह आधार समाज की मौजूदा परिस्थिति में क्रमागत आचार और नैतिक धारणाओं में पग पग पर खटकते हुए विरोध को उभारे बिना नहीं पनप सकता। तभी परीस्थितियों की अव्यवस्था और धारणाओं में सामंजस्य स्थापित होगा। आखिर आचार और नैतिकता का उद्देश्य भी तो मनुष्य को व्यवस्था और विकास की ओर ले जाना है। इसलिये इस उलझन से निपटने के लिये राह निकालनी पड़ेगी।

प्रगतिवाद को जो लोग कल्पना का विरोधी कहते हैं वे अन्याय करते हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि प्रगतिवादी की कल्पना का आधार जीवन की ठोस वास्तविकता में होता है। इसलिये प्रगतिवाद में कल्पना केवल बीते सुख-दुख की अनुभूति के चित्र बनाकर उससे सुख नहीं उठाती। वह आदर्श की ओर संकेत कर समाज के लिये नया नक्शा भी तैयार करती है। प्रगतिवाद का उद्देश्य समाज का विकास है। समाज की जीर्ण और ह्रासोन्मुख व्यवस्था में आमूल परिवर्तन आने के पूर्व विचारों में क्रान्ति आना आवश्यक है और इसीलिये यह एक प्राकृतिक क्रम है। प्रगतिवाद उसी की भूमि तैयार कर रहा है। प्रगतिवाद ने देखा है और समझा है कि समाज के विकास का रास्ता आगे बन्द हो रहा है। जैसे-जैसे समाज की जरूरतें बढ़ीं और बदलीं वैसे वैसे उसके क्रम में परिवर्तन नहीं हुआ। प्रगतिवाद जिस नवीन क्रम विशेष या व्यवस्था के अनुसार मनुष्य समाज को संचालित करना चाहता है उसमें व्यक्ति की परिस्थितियाँ या अनुभव उतने प्रभावपूर्ण नहीं होंगे जितनी समाज की परिस्थितियाँ और उसके अनुभव। उनके महत्व को प्रकट करना प्रगतिवाद की एक जिम्मेदारी है। उसने उसे समझा है। व्यक्ति मृत्यु की दृष्टि से जीवन को देखता है। समाज, संस्कृति के

विकास की दृष्टि से। पहले के लिये मृत्यु चिर सत्य है। दूसरे के लिये चिर सत्य है जीवन की जड़ें और गहरी करना—जीवन से सम्बन्ध-स्थापक तन्तुओं को दृढ़ और प्राणवान बनाना। प्रगतिवाद की मान्यता है कि मनुष्य का जीवन व्यक्तिगत रूप से ही पूर्ण नहीं है वरन् वह समाज और 'स्टेट' के शरीर का एक जीव कोष्ट है। ऐसी दशा में मानव समूहों के परस्पर संघर्ष और सामाजिक संगठन के प्रश्न व्यक्ति के ऐकान्तिक अहम् के ऊहापोह से अधिक महत्व रखते हैं।

प्रगतिवाद को बिना समझे उस पर यह आक्षेप किया जाता है कि वह संस्कृति का मूलोच्छेद करना चाहता है और अतीत की समस्त कला-कृतियों को उसकी मान्यताओं के साथ ही नष्ट कर देना चाहता है। यह एक घोर भ्रम है। प्रगतिवाद संस्कृति का नाशक नहीं वरन् उन सभी शक्तियों, आन्दोलनों और प्रवृत्तियों का शत्रु है जो संस्कृति को या तो नष्ट करती हैं या उसकी धारा का अवरोध करके उसे गतिहीन बना देती हैं—उसे केवल थोड़े से लोगों के स्थाई उपयोग की ही वस्तु मानती हैं। आज जो सारे संसार में प्रगतिवाद फैशिज्म से युद्ध कर रहा है उसके मूल में पहली बात है। फैशिज्म संस्कृति और उसके समस्त प्रतीकों का संहारक है। जो महायुद्ध इस समय हो रहा है उसमें जहाँ-जहाँ नाज़ी और जापानी सेनाओं ने अधिकार किया है वहाँ-वहाँ कला साहित्य और संस्कृति के समस्त संग्रहालयों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। विश्व पूज्य साहित्यकारों के स्मारकों को पदद‍लित और नष्ट किया है। प्रगतिवाद संस्कृति को एक 'स्टेटिक' चीज़ न मानकर उसे एक 'डायनेमिक' शक्ति मानता है। उसके विकास और उच्चपन पर जोर देता है। साथ ही वह उसे (कला और साहित्य की भाँति) केवल उच्चवर्ग की विरासत न मान कर जन सुलभ कर देना चाहता है। वह संस्कृति की प्रसरणशीलता का उद्योगी है। केवल थोड़े से वर्ग की चीज़ बन कर साहित्य किस प्रकार जीवन से टूट जाता है और रूढ़ियों और रीतियों के गहन जाल में घुटा करता है, यह विश्व साहित्य के इतिहास में हर जगह देखा जा सकता है।

साहित्य के तत्व सदैव जीवन से आते हैं। प्रगतिवाद आज सार्थक साहित्य का ही पर्याय है। उसका मताधार है वास्तविकता—भले ही वह वास्तविकता स्थूल हो या सूक्ष्म हो। साहित्य में एक जो नकली और निर्दोष दीख पड़ने वाला कलात्मक तथ्य बात-बात पर खोजा जाता है वह अक्सर झूठा और बनावटी होता है। उसमें तो जीवित मानवता के सामाजिक शक्ति-युक्त सत्य की खोज होनी चाहिये। हमारे व्यापक सामाजिक विधान को प्रभावित और सही दिशा में प्रभावित करने का यत्न उसमें होना चाहिये। सामाजिक विकास का मार्गावरोध व्यक्तिवाद से होता है, जो व्यक्ति स्वातंत्र्य से मूलतः भिन्न चीज़ है। प्रगतिवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता का पोषक और व्यक्तिवाद का शत्रु है। प्रेमचन्द ने प्रथम प्रगतिशील लेखक संघ के सभापति पद से कहा था, "हमारे पथ में अहंवाद या अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है। और ऐसी कला न हमारे लिये व्यक्ति रूप में उपयोगी है और न समुदाय रूप में।" कला कोई

ऐसा रुचिगत मानसिक या आध्यात्मिक आनन्द नहीं है जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। कलाकार अपनी कला से सौन्दर्य की सृष्टि करके परिस्थिति को विकास के उपयोगी बनाता है। प्रगतिवाद के अन्दर यह सौन्दर्य की भावना व्यापक हो जाती है—उसकी परिधि किसी विशेष श्रेणी तक ही सीमित नहीं होती। तभी ऐसा लगने लगता है जैसे जन जन के जीवन में व्याप्त कुरूपता, कुरुचि, नंगापन और अभाव हमारे अपने ही हैं और हम क्यों ऐसी व्यवस्था की जड़ें खोदने के लिये कटिबद्ध नहीं होते जिसमें हजारों आदमी कुछ चुने हुओं की गुलामी करते हैं। क्यों न ऐसे नये और अभ्युदयशील विधान की सृष्टि की जाय जो सौन्दर्य, सुरुचि, आत्म सम्मान और मनुष्यता का पोषक हो। कर्म का यह सन्देश, जोश की यह पुकार प्रगतिवाद के भीतर से आती है। उसी के अन्दर से अशान्त यौवन की वह उन्मादना फूटती है जिसमें तप कर मानव, जाति के ऊपर जाति का, श्रेणी के ऊपर श्रेणी का और व्यक्ति के ऊपर व्यक्ति का अत्याचार, परम्परा और कर्मफल, भाग्य दोष और दैवी अनुशासन आदि भित्तिहीन युक्तियाँ उपस्थित करके स्वीकार न करेगा, बस विद्रोह की आग लगावेगा।

"प्रगतिवाद ही क्यों" के उत्तर में यह कहना है कि वही आज देशव्यापी दुर्व्यवस्था के छिपे कारणों को उलट रहा है। वह भावों के क्रियात्मक रूप पकड़ता है। मानव ट्रेजेडी और विश्व ट्रेजेडी के मूलगर्तों में वह एक दृढ़ प्रबुद्ध संयत गतिविधि लेकर जाता है और जीवन के संस्कार, भावी संस्कृति के अविकृत उपादान और मनुष्यत्व के मूलतत्व चुनता है, जिनसे नव मानवता का निर्माण हो सके। जनता के अहं और उपचेतन की गहराइयों में वह एक नया किन्तु अमर प्राण ला रहा है। समाज के खुले हुए जीवन की पृष्ठ भूमि पर वह व्यक्ति-जीवन के आरक्त प्राण बीजों को खोल खोल कर रखता जाता है, एक स्वस्थ निश्छल उत्साह के साथ। प्रगतिवाद मनुष्य के मन में भावी समाज व्यवस्था को न्याय एवं साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित करने के लिये, कल्पना को वास्तव रूप प्रदान करने की प्रेरणा देता है। वही मानव की संस्कृति की प्रवाहवान धारा को इस समय आगे बढ़ा रहा है, मार्ग के अवरोधक रोड़े-पत्थरों को दूर करके। वह जीवन के सम्पर्क से विच्छिन्न कल्पना और रस विन्यास को स्वीकार नहीं करता। वह केवल मुट्ठी भर लोगों के मनोरंजन और उपयोग के लिये समष्टि के सुख दुख की उपेक्षा नहीं करता। वह इतिहास की अनिवार्यताओं को स्वीकार करता है। केवल भाव विलासी मानव मन के प्रति ही उसका आवेदन नहीं होता। वह मानव की विचार बुद्धि को भी पुकारता है। नैराश्य और अवसाद से ग्रस्त हमारे वर्तमान समाज की व्यर्थता का उसने अनुभव किया है। एलियट के शब्दों में इस (Decayed house) के एक क्षयग्रस्त समाज व्यवस्थाके अवसान की कल्पना, चेष्टा, एवं न्याय तथा साम्य के ऊपर भावी समाज की प्रतिष्ठा का आग्रह उसमें है। उसी के उपादान आज वह साहित्य में संचित कर रहा है और उन्हें कलात्मक अभिव्यक्ति देता है। वर्तमान जगत के अर्थनैतिक वैषम्य और तज्जनित दुःख और वेदना के गंभीर रूप से वह परिचित है और इस दिशा में सचेतन-सक्रिय है। प्रगतिवादी लेखक

औरों की अपेक्षा यह अच्छी तरह जानता है कि संसार में इस समय जो दो परस्पर विरोधी धारायें चल रही हैं उनमें वह निरपेक्ष होकर नहीं रह सकता। अर्थात या तो उसे प्रगतिशील बनकर श्रमजीवी श्रेणी के साथ चलना पड़ेगा। या प्रतिक्रियाशील फैशिज्म का पल्ला पकड़ना पड़ेगा। एक आधुनिक कवि के शब्दों में (On-y ghosts can live between two fires) स्पष्ट है कि वह साहित्य को समाजचेतना और ऐतिहासिक बोध की वैज्ञानिक भित्ति के ऊपर खड़ा करके जीवन और समाज की समस्त विषमताओं और असंगतियों को नष्ट कर देना चाहता है। भविष्य की शक्तियों पर, समय के बलवान श्रोतों पर उसका अविचल विश्वास है। सिसिल डे लुइस के शब्दों में वह Red advance of life का विश्वासी है। जो समाज की व्यवस्था में अनुभव होनेवाली अड़चनों को परिवर्तन या क्रान्ति द्वारा र करेगा।

प्रगतिवाद को अक्सर श्रद्धा का विरोधी कहा जाता है। यह एक सीमा तक ठीक भी है। परन्तु वह अन्ध श्रद्धा की भाँति अन्ध अश्रद्धा को भी पाप मानता है। जो कुछ उपयोगी है—ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन समाज की सामाजिक प्रगति के सिद्धान्तों का पक्षपाती है—उसके आगे सांस्कृतिक क्रान्ति के आन्दोलनों के सामने वह नत है। जिस स्थल पर तर्क, संघर्ष, ज्ञान, विज्ञान स्वप्न कल्पना सब घुल मिलकर एक सजीव सामाजिकता और सांस्कृतिक चेतना के रूप में वास्तविक और साकार हो जाते हैं वहाँ प्रगतिवाद की श्रद्धा आपसे आप उमड़ने लगती है। प्रगतिवाद में श्रद्धा बुद्धि की अनुयायिनी है और जीवन के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर प्रिय अप्रिय या सत्य मिथ्या के बोध से परिचालित होती है। नवीन वस्तुस्थितियों के अनुरूप रूपान्तरित होने की उसकी मौलिक क्षमता जाग्रत रहती है।

साहित्य की समस्त नई धारायें प्रगतिवाद के भीतर आती हैं। तर्कवाद, यथार्थवाद (स्वस्थ और मात्र विद्रोही), विज्ञानवाद और बुद्धिवाद, पीड़ितों और निम्न से निम्न पददलितों के प्रति बंधुत्व भाव का प्रदर्शन, जीवन की वास्तविकता के निकट आने तथा आज की अन्धकार पूर्ण अव्यवस्था से मुक्त होकर एक नये समाज का निर्माण करने के लिये कष्ट और यातनायें भोगने वाले संसार की प्रखर और आवेग-हीन, प्रबुद्ध आत्मा की अभिव्यक्ति होने का प्रयत्न सब उसमें हैं। जीवन की जटिल गुत्थियों के भीतर से आधुनिक प्रवृत्तियों के विभिन्न सूत्रों को पृथक् करने का जैसा सारगर्भित प्रयत्न उसमें हो रहा है वह उसके लेखकों की संशयात्मक प्रकृति के कारण अपने पूरे ज़ोर पर अभी नहीं उभर पाया है परन्तु नवयुग की आत्मा की बौद्धिक और रसात्मक छटपटाहट तो उसमें दीखती है। साथ ही प्रवृत्तियों और भावों का सामाजिक जीवन (Social conditions) क्या है और समाज और वर्ग के इतिहास के विकास में उनका क्या स्थान है यह भी प्रगतिवाद हल करता है। प्रगतिवाद की मान्यता है कि कला कोई स्वतंत्र तत्व नहीं है जो अपने ही ऊपर जिन्दा रह सके बल्कि वह सामाजिक मनुष्य के उद्योग का नतीजा है और उसके जीवन और वाता-वरण से सम्बन्धित है। ऐतिहासिक प्रगति का एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य

का विकास समाज की दिशा में होता है और समाज का इतिहास की दिशा में। इसे ही हम इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या कहते हैं।

प्रगतिवाद और विप्लववाद को बहुत से लोग एक ही चीज समझते हैं। उसमें भ्रम फैल जाता है। स्मरण रहे कि अब तक हमारे साहित्य में विप्लववाद का जो रूप मिलता है वह ऐकांतिक और व्यक्तिवादी ही रहा है। उसे एक प्रकार का ओजस्वी भाव विलास कहा जा सकता है। प्रगतिवाद में मूल्यांकन के मान सामाजिक हैं। विप्लववाद भावना और केवल भावना पर आश्रित होता है। जब कि प्रगतिवाद में भावना का और बुद्धि एवं तर्क संगति का उचित सामंजस्य रहता है। प्रगतिवाद विनाश और निर्माण के मार्ग एक साथ दिखाता है, सृजन और संहार की प्रेरणायें एक साथ देता है। जहाँ कहीं आमूल संहार की आवश्यकता नहीं है—केवल एक पुरानी प्रथा, व्यवस्था या रीति-नीति को नये प्रकारों में ढालने से ही जहाँ काम चल जायगा–वहाँ प्रगतिवाद विनाश और विध्वंस पर जोर नहीं देता। विप्लववाद में यदि आग है तो प्रगतिवाद में प्रकाश है। हिन्दी साहित्य में विप्लववाद का जो रूप अभी तक देखने में आया है उसकी मूल प्रेरणा आत्मवाद में रही है। परन्तु प्रगतिवाद का स्रोत विश्व-दर्शन और विश्ववाद है। हिन्दी साहित्य पर विप्लववाद का भी ऋण है। चेतना के उषःकाल में हमारे साहित्य ने उसी के द्वारा वास्तव को जाना और हमारे समाज को सत्य का सन्धान मिला। प्रगतिवाद इसके आगे की स्टेज है जब व्यक्ति के अहं और चेतन का सामाजीकरण और लोक संस्कार हो जाता है।

सभ्यता के इतिहास के विभिन्न युगों में हमें प्रगति के लक्षण मिले हैं और प्रगति के विभिन्न अर्थ रहे हैं। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति ने—उसके प्रगतिशील लेखकों ने यूरोप में राजतंत्र के विरुद्ध प्रजातंत्र शासन की स्थापना की पुकार लगाई। स्वाधीनता, साम्य और बंधुत्व का नारा पूरा वेग लेकर साहित्य और कला में आया। परन्तु हमारे युग की प्रगति का लक्ष्य दूसरा है। संस्कृति और इतिहास के क्रम में यह एक और अगली स्थिति है। पूँजीवादी साम्राज्यवाद का मूलोच्छेदन और समाजवादी जन-विधान की स्थापना यही आज प्रगति का अर्थ है और सही अर्थ है। भिन्न भिन्न देशों की परिस्थितियों, संस्कृतियों, संस्कारों और लोकमत के ऊपर आज इसी महान सांस्कृतिक क्रान्ति का प्रभाव देखा जा सकता है। साहित्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह साम्राज्यवाद (जिसमें फैशिस्ट साम्राज्यवाद भी शामिल है) जैसी लोक-प्रगति विरोधी शक्तियों का सामना संयुक्त और सार्वजनिक सांस्कृतिक बल पर करे; अपने विश्वासों और प्रयोगों का—विचारों और मान्यताओं का—सबल कंठ से प्राण-वान स्वरों में जयगान सुनाये। आज मुझे तो ऐसा लगता है कि केवल प्रगतिवाद ही इस सांस्कृतिक क्रान्ति को गति दे सकता है। पूँजीवादी प्रतियोगिता के कारण आज जो संसार की सारी सम्पति एक छोटे से वर्ग के हाथों में चली गई है, पूँजीवादी शोषण के कारण वर्गों और जन साधारण के बीच जितना बड़ा व्यवधान उपस्थित हो गया है, धनी और निर्धन के बीच की खाई जैसी बढ़ती जा रही है वह इतिहास में एक नई घटना है। निर्धनता की व्याधियों से अधिकाधिक पीड़ित शोष

विराट जन संख्या में एक प्रकार से हमारा मध्य वर्ग भी मिल गया है। इन स्थितियों की जैसी भयंकर प्रतिक्रियायें होती हैं उन्हें देखते हुए यह केवल राजनैतिक सवाल ही नहीं वरन् सांस्कृतिक सवाल भी है। जैसे जन साधारण आज अपनी संख्या और बहुमत द्वारा राजनैतिक समस्या को सुलझा रहा है वैसे ही वह सांस्कृतिक समस्या को भी सुलझा सकता है। प्रगतिवाद आज जन साधारण को ही संस्कृति की इकाई बनाकर इस समस्या को सुलझाने का यत्न कर रहा है। पूँजीवाद से उत्पन्न परिस्थितियों ने आने वाली संस्कृति के लिये जन साधारण के आधार की उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया है। इस संस्कृति में मनुष्य का इतिहास आर्थिक नींव पर क़ायम होगा। आर्थिक से यहाँ तात्पर्य है जीवन में संघर्ष और उपायों की शक्ति से पूर्ण। इसलिये प्रगतिवाद न केवल जन समुदाय की वर्तमान वास्तविक दशा का वर्णन करता है, न केवल निम्नवर्गों के संपर्क में आने के फल स्वरूप उच्च और संस्कृत वर्गों की मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का चित्रण करता है प्रत्युत् इस विशाल जन समुदाय की मानवता को भावी संस्कृति के गुण में परिवर्तित करता है।

प्रगतिवाद कला के रूप (form) की विशेषता से इनकार नहीं करता। कला बिना रूप के टिक ही नहीं सकती। कला की जाँच के लिये यह आवश्यक है कि उसके रूप की पहुँच देखी जाय। लेकिन इस रूप को सामाजिक विशेषताओं से पाकदामन बनाकर रखने की चेष्टा गलत है। यह रूप की एक निरर्थक विकृति है। रूप किसी पहले से तय किये हुए विचार की निश्चेष्ट (passive) छाया नहीं है जैसा हमारे कुछ विशुद्ध रसवादी साहित्यकार सोचते हैं। वह तो एक क्रियात्मक (active) तत्व है जो विचार को प्रभावित करता है। रूप को उपजाना और अनुभव करना मनोविज्ञान का ही एक उद्योग है। परन्तु दिक़त तो यह है कि हम सामाजिक मनुष्य का मनोवैज्ञानिक एकत्व भूल बैठते हैं जो सृजन भी करता है और सृजित को बरतता भी है। जीवन के विकास की भाँति कला और साहित्य का विकास भी द्वंद्वात्मक होता है।

समाज का हर एक रूप अपनी विशेष जलवायु में, परिस्थिति में बँध घिरकर साहित्य और कला सम्बन्धी अपनी अलग नीति पैदा कर लेता है, जो समय के साथ परिवर्तित होती रहती है। इस परिवर्तन का होना अनिवार्य है। वरना इतिहास की जो एक Determined consciousness होती है वह झूठी पड़ जायगी। उदाहरण के लिये हमारा प्राचीन साहित्य दुनिया के प्रत्येक भाग में धार्मिक है। उसमें मनुष्य को भाग्य और प्राकृतिक शक्तियों का शिकार दिखाया गया है। वहाँ अगणित देवदानव सर्वशक्तिशाली हैं और उन्हीं के हाथ में मनुष्य का भाग्य है। हमारे वे सारे पौराणिक हीरो मनुष्य के सृजनात्मक मस्तिष्क की उपज हैं। उनमें वे सब खूबियाँ हैं जो परमात्मा और देवताओं में ही हो सकती हैं। समाज के विकास के साथ साथ जैसे जैसे आदमी प्रकृति पर काबू पाता गया वैसे वैसे कला का रूप भी बदलता गया। देवताओं की जगह आदमी ने ले ली। साहित्य में बड़े बड़े राजमहलों और किलों के रोमान्स की सृष्टि हुई। राजारानी उनमें हीरो हीरोइन होते थे। जन वर्ग से उन्हें कोई वास्ता न था। साहित्य में जनवर्ग का काम था उन्हीं हीरो हीरोइनों की सहायता

करना । शाहन्शाही, सामन्तशाही और तिजारत के युग में आने पर कला और साहित्य की नीति में ज्ञात या अज्ञात रूप से फिर एक परिवर्तन होता है । महलों किलों और राजा रानियों के स्थान पर बड़े बड़े समुद्र, जहाज, गुलाम, छोटे छोटे टापू और मालदार सौदागर आ जाते हैं । उसके बाद पूँजीशाही के प्रचार के साथ ही साथ बड़े बड़े कल कारखानों के मालिकों और बड़े-बड़े धंधे वालों के विषय का साहित्य मिलता है ।

एक स्वतंत्र (objective) ऐतिहासिक तरीके की दृष्टि से कला हमेशा समाज की सेवक रही है । उसकी एक ऐतिहासिक उपादेयता यह है कि वह एक खास वातावरण और एक खास हालत का चित्र है, चाहे वह विशुद्ध निरुद्देश्य कला हो चाहे कला के लिये कला हो और चाहे विषयात्मक कला हो । लेकिन न तो हर वर्ग अपनी कला पैदा कर सकता है, न वातावरण का प्रत्येक परिवर्तन कला में परिवर्तन ला सकता है । असल में मनुष्य का कलात्मक उद्योग एक पूर्ण और सिलसिलेवार चीज है । जो द्वंद्वात्मक है और भीतरी टूट फूट से स्थापित होता है ।

प्रगतिवाद को जो लोग रूस या विदेश से आई हुई विचारधारा और चिन्तन शैली मानते हैं और उसे अपनी संस्कृति और समाज के लिये घातक समझते हैं वह यह कैसे भूल जाते हैं कि यह साहित्य के, इतिहास के क्रम में एक stage है । वे कैसे यह आशा करते हैं कि ज्ञान के वैज्ञानिक तरीकों में उन्नयन और विकास के साथ साथ मनुष्य का दिमाग पुरानी पीढ़ी के खयालात से आजाद नहीं होगा । कैसे नई पीढ़ी पिछली पीढ़ियों के बेकार और प्रतिगामी तरीकों को छोड़कर उपयोगिता के नये तरीकों और आधारों को ग्रहण न करेगी । कला या उत्पादकता का अर्थ भी तो यही है कि बाहर के उपकरणों से पैदा हुई शक्तियों के पुराने रूप (forms) बदल जायँ । कला की नई-नई आवश्यकतायें भी जीवन की आवश्यकताओं की भाँति, चरमतः, आर्थिक मसलों से पैदा होती हैं । इसमें थोड़ी-सी सहायता उन्हें वर्गों की स्थिति के परिवर्तन से भी मिलती है जो उस वर्ग विशेष के आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभाव और शक्ति से होता है ।

"कविता में प्रगतिवाद ही क्यों ?" को लेकर भी थोड़ा सा लिखना मेरे लिये अनिवार्य हो जाता है । कविता और प्रगतिवाद का एक साधारण विद्यार्थी होने के नाते दोनों में एक सुखद सामंजस्य स्थापित करने की मेरी चेष्टा होनी ही चाहिये । कविता में भूत और भविष्य दोनों की ओर पलायन अच्छा नहीं कहा जायगा । ऐतिहासिक सत्य अर्थात् इतिहास विज्ञान के आधार पर भविष्य की मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित करना और वाणी देना एक बात है—वर्तमान कुरूपता और विभीषिका से ग्लानि-और कुन्ठा-वश होकर भविष्य के सपने देखते रहना अतीत की ओर पलायन का ही एक दूसरा रूप है । जो 'इन्एक्शन' का प्रसार करता है । 'एक्शन' अर्थात कर्मशीलता प्रगतिवाद की पहली शर्त है । कविता में वह और भी आवश्यक हो जाती है क्योंकि आज के ५० साल पहले तक मानवीय भावनाओं और मानव हृदय की गंभीर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये कविता ही सर्वोत्तम साधन समझी जाती थी । आज भी गद्य के विकास और प्रसार के साथ समाज के ऊपर

कविता का प्रभाव क्षीण नहीं हुआ। यद्यपि वह सिमट कर एक अपेक्षाकृत छोटी सीमा में रह गया है। कवि की स्वाभाविक लालसा यह होती है कि उसकी कविता का प्रभाव व्यापक हो। ऐसी स्थिति में उसे भविष्य के मीठे सपने देखना छोड़कर समाज के वर्तमान श्रेणी भेद के मूलोच्छेद के लिये प्रेरणा और ज्वाला पैदा करना चाहिये। जब तक यह श्रेणीभेद वर्तमान है, तब तक कविता पहले के समान लोकप्रिय नहीं हो सकती। इस श्रेणी भेद से भरे समाज में कविता का विचार कवि के राजनैतिक या सामाजिक मतामत को आधार बनाकर किया जाता है। परन्तु वर्गहीन समाज की स्थापना होने पर ऐसा नहीं हो सकेगा। हमारे वर्तमान की कालिमा से सर्वथा अचेतन कवि को प्रगतिवाद में स्थान नहीं मिलेगा।

वर्तमान श्रेणी भेदयुक्त समाज-व्यवस्था कवि को एक श्रेणी विशेष के साथ सम्बन्ध करके देखती है। सर्व-साधारण के साथ उसका सम्पर्क नहीं होने पाता। फल स्वरूप वह अशान्त, सन्दिग्ध, पराजित और ऐकान्तिक होता जाता है। उसकी कविता में अस्पष्टता और दुरूहता आती जाती है। वह अपने एकाकी ज्ञानवाद, चिन्तन और रहस्यवाद में लीन होता जाता है। श्रेणी भेद के प्रभाव से उत्पन्न और विकसित जनता का ऐसा उदासीन भाव जब कवि देखेंगे तो वे भी प्रतिक्रिया से रुद्ध हो जन-साधारण की रुचि का ख्याल कर कविता नहीं लिखेंगे। परन्तु इस दशा का अन्त होना है, जो समाज चेतना और ऐतिहासिक बोध से होगा। तब उसकी अनुभूति में वह उग्र सामाजिक दार्शनिकता आवेगी जो स्टीफेन स्पेण्डर की नीचे उद्धृत कविता में है:—

I say stamping the words with emphasis
Drink from here energy and only energy
As from the electric charge of a battery
To will this time's change.
Leave your gardens, singing feasts
Your dreams of suns circling before our sun.
Of heaven after our world.
Instead watch images of flashing brass
That strike the outward sense—the polished will.
Flag of your purpose which the wind engraves
No one should seek here rest. But this: no man
Shall hunger. Man shall spend equally.
Our goal which we compel—man shall be man.

सामाजिक दर्शन शास्त्र के व्यापक सत्य से जब कविता अनुप्राणित होती है तब उसका स्वरूप कैसा तेजस्वी हो जाता है यह डे लुइस की निम्न लिखित कविता में देखा जा सकता है:—

Yet living here
As one between two massive powers I live
Whom neutrality cannot save
Nor occupation cheer.
None such shall be left alive
The innocent wing is soon shot down.
And private stars fade in the blood red dawn
Where two worlds strive.
The red advance of life
Contracts pride, calls out to come blood
Beats song into a single blade
Makes a depth charge of guns
Move then with new desires
For where we used to build and love
Is no man's land and only ghosts
Can live between two fires.

[सत्येन्द्र]

आज तक की सभ्यताएँ तथा संस्कृतियाँ न जाने कितने रूप बदल चुकी हैं। वह मनुष्य जो पत्थर के अस्त्रों से पशुओं का हनन करके कच्चा मांस खाकर तृप्ति अनुभव करता था आज पिशाच कहलायेगा, वह आज विशेष प्रकार के यंत्रों से अन्न उत्पन्न करता है, आग पर विशेष साधनों से उस अन्न के विविध रूपान्तर कर विभिन्न भोज्य पदार्थ पकाता है, और अतृप्त रहता है। वह चाहे यह न जाने कि क्यों, पर निश्चय ही जो कुछ उसे उपलब्ध है, उससे आगे वह बढ़ना चाहता है।

"The chief danger which always confronts a society is the desire of those who possess power to prohibit ideas and conduct which may disturb them in their possession. They are rarely concerned with the possible virtues of novelty and experiment They are interested in the preservation of a static society because in such an order their desires are more likely to be fulfilled. Their ideas of right and wrong lie at the service of those desires. The standards they formulate are nothing so much as methods of maintaining an order with which they are satisfied.........

But this is not a static world, and there is no means of making it so. Curiosity, discovery, invention, all of these jeopardize by their nature the foundation of any society to which their result are denied admission." [Liberty in the Modern State : Harold J. Laski.]

इतिहास हमें बतलाता है कि आज तक संसार में अनेकों परिवर्तन और क्रान्तियाँ हुई हैं, आज का भारत वह भारत नहीं जो वेदों के समय था, अथवा उससे पूर्व था। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि यह परिवर्तन बहुधा रूप का परिवर्तन हुआ है। भारत में ही नहीं विश्व भर में अब तक की क्रान्तियों ने, एक-दो अपवादों को छोड़कर रूप परिवर्तन-मात्र किया है। सभ्यता तथा संस्कृति के मूलाधारों की परम्परा में अन्तर नगण्य हुआ है। यूरप की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) से भौतिक सभ्यता (Material Civilisation), जिसे भारत में उपेक्षा-भाव से पाश्चात्य सभ्यता कहा जाता है, का दौर-दौरा विशेष बढ़ा। इसने उत्पादन के साधनों में इतना विशाल परिवर्तन कर दिया, वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम ने इतनी नयी सामग्री प्रस्तुत कर दी कि हरेक क्षेत्र में नयी स्फूर्ति दिखाई पड़ने लगी। इन भूत-ऐश्वर्यों की प्रभूत चकाचौंध में मनुष्य आत्मा और धर्म के दार्शनिक रूप को विस्मृत करने लगे। जीवन की नयी सुविधायें प्राप्त हुईं, संतोष का स्थान भोग और आव-

श्यकता वृद्धि ने ले लिया, इक्के ताँगे और पैदल छोड़कर रेल, ट्राम तथा मोटरों को अपनाया गया। गरीब से गरीब को भी अच्छी सड़कें, अच्छे डाक्टर, अच्छे वाहन, अच्छा प्रकाश, आरामस, विलास के पदार्थ मिल उठे। अब मनुष्य को अपनी मुक्ति की कम चिन्ता थी, उन्होंने विशप के यहाँ जाना छोड़ा, बाजार अथवा सिनेमा-नाटक घरों में जाने का प्रोगाम बनाया, किसी शारीरिक व्याधि में दैवी कारण मान कर अपने पादरी के पास उसके शमन का उपाय करने की उन्हें आवश्यकता नहीं रही, वे डाक्टर की शरण जाने लगे। यह सब हुआ पर गरीब और अधिक गरीब होते गये, अमीर और अधिक अमीर होते गये। सामाजिक व्यवस्था ज्यों की त्यों थी। आर्यों ने वेद बनाये, देवताओं को हवि से प्रसन्न कर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की चाह की, पर वास्तविक पुरुषार्थ वे नहीं कर सके। उन्होंने चाहा उनके शत्रुओं का नाश हो, जूआ संसार से उठ जाय पर उनका चाहा एक न हुआ, यद्यपि अपनी चाह की पूर्ति के लिए देवताओं के नाम उन्होंने अनेकों प्राणियों की बलि दे डाली। बुद्ध ने क्रान्ति उपस्थित की, 'अहिंसा' का जयनाद अशोक के हाथों एक ओर से दूसरे छोर तक व्याप्त हो गया, पर जिन दुःखों और पीड़ाओं को दूर करने के लिए उन्होंने दया का साम्राज्य स्थापित किया वे और बढ़ीं, घटी नहीं। ईसा ने जिस क्षमा का संदेश दिया उस क्षमा से उसके अनुयायियों ने इनक्विज़िशन (Inquisition) की सृष्टि की, शेक्सपीयर के ईसाई एण्टोनियो में यहूदी शाइलॉक के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न की, मुहम्मद ने मानवीय भ्रातृत्व का पवित्र संदेश देकर मुसलमानों को शकल-सूरत में अपने ही जैसे काफिरों को अपने से भिन्न समझने को बाध्य किया, भारत में हिंदू-मुसलमानों का रक्त-शोषक संघर्ष खड़ा किया। 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की'—क्योंकि सामाजिक व्यवस्था में कोई अन्तर नहीं पड़ा। शासक और शासित का भेद बना, जनता जनार्दन का सम्मान नहीं हो सका, दस्युओं की सभ्यता और संस्कृति का प्राधान्य रहा। इतिहास जिस समय से आरम्भ होता है, उसी समय से दस्यु के उपरान्त दूसरा दस्यु अपनी सभ्यता को लेकर विश्व के विविध भागों में अपना आतंक बनाये रहे हैं। सभ्यता के सूत्रों के अध्ययन करने वाले निर्विवाद यह मानते हैं कि यौद्धेय जातियाँ दस्यु थीं।

"So we see that, in the case of Europe, the great civilizations had, on their boundaries, warlike peoples who drew their cultural sustenance from them, and finally threatened to destroy them. These warlike people were therefore entirely parasitic. ......The picture just sketched of the barbaric conquerors of Europe is true for the whole world...... The Turks, for instance, who came from somewhere in Kansu in the west of China have produced but little in art, literature, or science: they have simply been warriors who have lived parasitically on the rest of mankind. [The Growth of Civilisation: W. J. Perry.]

जिन जातियों ने दूसरी जातियों पर अपनी तलवार के बल से आधिपत्य जमाया, अथवा तलवार के बल से लोक प्रियता प्राप्त की उन्होंने क्या दस्यु से बढ़कर कार्य किया। सिकंदर और 'डाकू' की प्रसिद्ध कहानी निश्चयपूर्वक ही प्रत्येक राजा को दस्यु सिद्ध करती है। किन्तु हमारी सामाजिक व्यवस्था ने ऐसे बल-दस्युओं से ही अपने रूप निर्माण की सामग्री नहीं पायी, धर्म-दस्युओं और धन-दस्युओं ने भी इनके साथ हाथ बँटाया है। बल-दस्युओं ने बल एकत्रित करके शेष समुदाय को भयाक्रान्त और निर्वीर्य किया, धर्म-दस्युओं ने आचार और मानसिक निष्ठा को विमोहित कर विविध मान्यताओं से जनपदों को जकड़कर, उन्हें आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य की जटिल शृंखलाओं में जकड़कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और बल-दस्यु तथा अर्थ-दस्यु से समझौता कर भोले मानव को नंगा करते रहने के सतत प्रयत्न में गंभीरतम सहयोग दिया है। अर्थ-दस्यु ने भूखों के हाथ से नहीं मुख में से कौर छीन कर अपना अक्षय भंडार भरकर संसार को दरिद्र बना दिया। ये तीनों मिलकर आज भी अपना क्रूरतम चक्र चलाते जा रहे हैं, और जब तक दम में दम है चलाते चले जायँगे। बल दस्यु कहता है 'तुम्हें राजा की आवश्यकता है, सेनापति और फौज की आवश्यकता है—तुम खेती करनेवाले, मजूरी करनेवाले, दुकानदारी करनेवाले, लिखने-पढ़ने का व्यवसाय करनेवाले, अरे तुम अपनी रक्षा कैसे कर सकोगे? इधर से देखो चंगेजखाँ आ जायगा, उधर से तैमूर लंग, कहीं से सिकंदर, कहीं से नैपोलियन तुम पर टूट पड़नेवाले हैं। और तुम हो, तुम्हें तो तलवार पकड़ने का भी शऊर नहीं है। राजा को कर दो, उस पर तुम्हारी रक्षा, सुख और शान्ति का भार रहेगा। हम तो तुम्हारी भलाई की बात कहते हैं, राजा नहीं होगा तो तुम लोग आपस में कट मरोगे।" धर्म-दस्यु कहता है—"मनुष्य तू अपने को पहचान। तू कौन है? तू क्या शरीर है? नहीं। जिसे तू अपना समझता है वह क्या तेरा है? [अभिप्राय होता है मेरा है। थोड़ा थोड़ा करके तुझे सब कुछ मुझे देना होगा] यह तो सब नाशवान है, तू अमर आत्मा की ज्योति है—छोड़ स्त्री पुत्र, यह माया बन्धन है—विरक्त हो जा या निष्काम कर्म कर—'मागृधः कस्य स्विद्धनम्' 'पर द्रव्येषु लोष्ठवत्' नहीं दूसरे के धन पर ललचाना ही मत छोड़, तेरे पास जो कुछ है वह भी दे डाल।

"पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम
दोऊ हाथ उलीचिये यह सज्जन को काम"

[और उलीचकर हमारे घर में भर दे] अरे तू धर्मात्मा है, तू दानी है, तू पुण्यात्मा है। भगवान बुद्ध भिक्षा के लिए निकले। बड़े-बड़े सेठों के यहाँ से उन्हें हताश लौटते देख एक परम हीना-दीना भिखारिन ने उन्हें अपना अकेला वस्त्र भी दे डाला। भगवान ने इस दान का सबसे अधिक आदर किया—कहानी में भिखारिन के भाव का जो उत्कर्ष है उसे न भूलकर इसका उद्देश्य तो यही समझना होगा कि "दे डाल और नंगा हो जा।"...

"ऋतु बसंत जाचक भया हरखि दिया द्रुम पात,
तातें नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात।"

'तुरत दान महा कल्यान'
"तुलसी वे नर मरि चुके जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनते पहले वे मुए जिन मुख निकसत नाहिं।"

ओ भूले पापी, आ गुरु की शरण आ, संघ की शरण आ, ईश्वर की शरण आ। आ, मैं बताऊँगा तुझे क्या पाप है क्या पुण्य है? तुझे कैसे स्वर्ग मिलेगा कैसे नरक? "भोली भेड़! मैं न रहूँगा तो तुझे सब मूँड़ लेंगे—तू चर्च में आ, मन्दिर में आ, मस्जिद में आ, इबादत कर।" अर्थ-दस्यु कहता है "जिसकी आवश्यकताएँ कम हैं वह असभ्य है। सभ्य वह है जिसकी आवश्यकतायें बढ़ी हुई हैं। तू गँवार मत रह, अपनी आवश्यकताए बढ़ा—नया से नया फैशन अपना, अपनी सुन्दरता बढ़ा, अपनी प्रतिष्ठा बढ़ा. अपना स्वास्थ्य बढ़ा, इन सबके लिए हमने नयी और अद्भुत वस्तुएँ तय्यार की हैं। अपना धन हमारे पास जमा करो, जो पैदा करो हमें दो। तुम अर्थ की समस्यायें क्या समझो? हम इसके विशेषज्ञ हैं। हमारे पास अधिक रुपया होगा तो बड़े-बड़े व्यवसाय और उद्योग तथा आविष्कार हो सकेंगे।" धर्म ने कहा—ईश्वर सर्व-शक्तिमान् है, सर्व व्यापक है—राजा में ईश्वर का अंश है। बल-दस्यु का प्रतिनिधि राजा कहता है: "धर्म विना मेरी प्रजा का कल्याण नहीं। मैं मठ-मन्दिर-मस्जिदें बनवाऊँगा और उसके प्रबंध का भार भी मेरे ऊपर है।" अर्थ दस्यु कहता है—मैं तुम सबका आधार हूँ। वर्तमान विधान मेरे लिए सबसे हितकर है, इसमें परिवर्तन न होने पावे। अर्थ राजा से कानून बनवाता है—और इन तीनों ने मिलकर संसार को बल, बुद्धि और धन से सर्वथा हीन कर दिया है। ये दस्यु अपनी लूट में लगे रहे हैं—और जिन महान पुरुषों ने यहाँ क्रान्ति करायी है उन्होंने अभी तक भक्ति-सेवा-पलायन का उपदेश देकर इनका पोषण किया है। इन दस्युओं के साथ मिलकर महान स्मृतिकारों ने ऐसी संस्थाएँ बनायी हैं कि मनुष्य उनमें जकड़ा रहे, अपनी शक्ति तथा प्रतिभा को ऐसे कार्यों में व्यय करता रहे जो गौण हैं, और जिनमें उसकी प्रतिभा का उपयोग नहीं, जिससे वह सर्वतः विसर्जित हो जाय। उसमें इतना साहस शेष न रह जाय कि इन दस्युओं के षड्यंत्र का कोई विरोध कर सके। स्वत्व, स्वत्व की रक्षा के लिए शासन, शासन की रक्षा के लिए सैन्य, सैन्य की रक्षा के लिए अर्थ, और अर्थ की रक्षा के लिए स्वत्व। 'स्वत्व' जमीन पर, जमींदार बने, राजा बने; स्वत्व मनुष्यों पर—पति बने, पत्नी बने, स्वामी बने, नौकर बने, दास और गुलाम बने; स्वत्व धन पर—पूँजीपति बने, दरिद्र बने, महाजन बने, ऋणी बने। भूमि के लिए और धन के लिए उत्तराधिकार-नियम, मनुष्यों के स्वत्व के लिए विवाह नियम और विविध सामाजिक प्रथायें—Social Sanctions सामाजिक भय, उसके साथ धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा-भाग्य, पुनर्जन्म इत्यादि को लिए हुए धार्मिक भय। मानव का स्वातंत्र्य हरने के लिए क्या नहीं किया गया? बड़े-बड़े धर्मोपदेष्टाओं ने माया और मोह तथा जगत-जंजाल को छोड़ने के मार्ग सुझाये, उन सबने समाज-व्यवस्था को अटल मान लिया—ये सभी महान पुरुष वास्तविक क्रान्ति से भयभीत थे अथवा मानव की मौलिक समस्या को ठीक समझ नहीं पाये थे, फलतः वैराग्य और त्याग या

दान की प्रशंसा गाते रहे। युग-युग के इतिहास का अध्ययन-वैज्ञानिक अध्ययन आज बाध्य कर रहा है कि अब नया क़दम उठाया जाय। आज तक जितने कदम उठाये गये, ग़लत उठाये गये। उन्होंने जो अवस्था उत्पन्न की उससे मानव हीन ही होता गया—उन्होंने क़दमों से मार्ग तो तय नहीं हुआ धूल अवश्य उड़ी और उस धूल से मानव शरीर रुक्ष और बोझल हो उठा है, उसकी आँखें मंद हो गयी हैं—वह क्या करे? उसने भक्ति की जी तोड़कर पर मानव कल्याण नहीं हुआ, संसार से विरक्त हुआ, पर इससे तो कैसे संसार का लाभ होगा? वह लड़ा है। आज तक भयानकता से लड़ता रहा है सभ्यता और संस्कृति के सुनहले नामों की रक्षा के लिए, सुख और शान्ति, उन्नति और उत्कर्ष के लिए, उसने इसी निमित्त बड़े-बड़े वैज्ञानिक शोध किये, एड़ी और चोटी का पसीना एक किया, उसने कल्पित स्वर्ग के इन्द्रप्रस्थ खड़े किए, मनोरंजन की दिव्य सामग्रियाँ बनायीं—पर हुआ क्या? ये सब उसे अगति अथवा दुर्गति की ओर ही धकेलते चले गये हैं। तो क्या मानव यही चाहता है?

इन दस्युओं का साथ साहित्यकार ने निस्संकोच होकर दिया है— इस साहित्य कार ने मानव को Sentimental, राग-रस समूह बना दिया: प्रेम और सौन्दर्य की अकथ कथायें इसने गढ़ीं और फैलायीं—दुष्यन्त शकुन्तला पर मोहित हो रहा है, राम सीता पर, कृष्ण राधा पर और ······ उसने कहा प्रेम शाश्वत सत्य है, या कहा: Beauty is Truth and Truth Beauty"— इसने मनुष्य को भटका दिया:

"I wander'd lonely as a cloud
That floats on high o'er vales and hills,
When all at once I saw a crowd,
A host of golden daffodils
Beside the lake, beneath the trees
Fluttering and dancing in the breeze.
Continuous as the stars that shine
And twinkle on the milky way,
They stretch'd in never ending line
Along the margin of a bay:
The thousand saw I at a glance
Tossing their heads in sprightly dance
The waves besides them danced, but they
Out-did the sparkling waves in glee:
A poet could not but be gay
In such a jocund company!
I gazed and gazed but little thought
What wealth the show to me had brought.
For oft, when on my couch I lie

In vacant or in pensive mood,
They flash upon that inward eye
Which is the bliss of solitude;
And then my heart with pleasure fills
And dances with the daffodils.

Wordsworth.

सौन्दर्य और प्रेम के मद से मानव को विभोर कर विक्षिप्त, अकर्मण्य रागजीवी और पलायनवादी बना दिया— उसने मनुष्य के स्वास्थ्य का नहीं विकार को दृष्टि में रखा।

अथवा कवि वीर-पूजक बना और तब उसने राम की मूर्ति खड़ी की अथवा कृष्ण की। उन्हें सभ्यता प्रसारक अथवा सभ्यता पोषक चित्रित किया। राम राक्षसों का वध करने वाले और ऋषियों के हितैषी बने, माता, पिता, भार्या, भाई गुरु आदि के प्रति कर्तव्य की रूपरेखा उपस्थित करने वाले; कृष्ण प्रेम और राजनीति के कर्मण्य सूत्रधार—किन्तु इस सबमें राम और कृष्ण दस्यु सभ्यता के ही केन्द्र हैं—प्रजा को अपने ऊपर निर्भर कराने वाले। इनका प्रजाहित भी राजाश्रित था— आखिर राम और कृष्ण जो समझें वही तो न्याय और वही तो प्रजा का हित था। वीरपूजकों ने रक्त बहाने वाले मनुष्यों को देवता और ईश्वर का स्थान दिया, और ऐसे व्यक्तियों के हाथ में मनुष्य का दुख-सुख छोड़ दिया। वाल्मीकि ने राम और व्यास ने कृष्ण देकर चाहा कि मनुष्य को पाप से मुक्त करें, सूर और तुलसी ने भी यही चाहा। पर ये धर्मात्मा भी भीषण पाप कर गये राम और कृष्ण देकर।

'दिमाग़ी ऐयाशी' के लिए लिखी गयी रचनाओं के संबंध में क्या कहा जाय ? कला की अभिराम चमत्कारपूर्ण व्यंजना से साहित्य की वृद्धि हुई— स्त्री-सौन्दर्य की परख हुई, उसके हाव-भावों की एक एक सूक्ष्म रेखा भी इन कलाकारों ने उभार कर रख दी। क्यों ? किसलिए ? मानव को राग के दुर्बल संस्कारों के स्वाद में मग्न रखने के लिए।

एक विशाल मानव वर्ग जब यहाँ पीड़ित हो, उसे भोजन, वस्त्र, नित्य आवश्यक सामग्री भी उपलब्ध न हो तब 'सत्य, शिव, और सुंदर' की व्याख्या मानवता का उपहास है। पड़ोस में मृत्यु हो जाये और पड़ोसी के यहाँ नगाड़े बजें यह कोई चाहने की बात नहीं हो सकती। साहित्यकार अभी तक यही करता रहा है। उसने 'सत्य' के लिए जो कुछ लिखा है, वह असत्य रहा है, उसके शिव में अशिव की उद्भावना हुई है, और उसका सुन्दर निर्जीव, निस्पन्द और दुर्गन्धित रहा है। यही कारण है कि युग युगान्तरों से विराट साहित्य कर्म होता चला आया और मानव को कुछ भी न दे पाया। साहित्य ने अभीतक पत्तों को सींचा है। यह बात विश्व के महान कलाकारों से लेकर आज के छोटे से छोटे कवि के संबंध में सत्य है।

हिंदी का एक युग अभी अभी होकर चुका है। कवि नरेन्द्र ने 'प्रवासी के गीत' के वक्तव्य में लिखा है; "पूर्वार्ध के कवि प्रधानतः सौन्दर्योपासक और असीम तथा

अनंत के अनुरागी थे। सौन्दर्योपासकों में से कुछ की रुचि काव्य की प्रकार-योजना में नयेपन तथा विलक्षणता की ओर भी गई। असीम के उपासक बहुधा सीमाहीन में अपनी ऐहिक सीमाओं को भुला देने के लिए प्रयत्नशील रहे।

"सौन्दर्योपासक तथा असीमोपासक, दोनों में एक विशेष समानता थी। दोनों ही वास्तविकता से दूर हटकर अपने को कल्पनाजन्य स्वप्नों में भुलाते रहे।...... हमें उनके मनोभावों को संक्रान्तिकालीन सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में समझना चाहिए।' — अंशतः यह कथन ठीक ही है। समाजव्यवस्था में कवि का कोई स्थान नहीं बन पाया। वर्ग-विभाजन से वह मध्यवर्ग का ही ठहरेगा— और मध्यवर्ग साहित्य से लाभ नहीं उठाना चाहता। और मध्यवर्ग से उसे सहानुभूति तक नहीं मिलती क्योंकि वकीलों और डाक्टरों की भांति वह उनकी सहायता करता नहीं प्रतीत होता, न वणिक् की भांति उन्हें उनकी आवश्यकता का सामान ही बेचता है। वास्तविक बात तो यह है कि समाज में उसे अपने बैठने योग्य कोई स्थान ही नहीं दीखता— वह समाज मे खप नहीं पाता।

ऐतिहासिक दृष्टि से वह अनन्तकालीन दासता से क्षुब्ध है, राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के लिए वह तड़पता है पर अपनी और अपने समाज की विवशता से आहत होकर वह किसी शिलाखंड पर नदी किनारे बैठा अपने मुक्त स्वर्ग की रचना करता है, ईश्वर का स्मरण करता है, संसार से तिरस्कृत वह अपने को उस महान से आहूत और आमंत्रित देखता है, उसे अपने पास आते और उसकी अनुभूति पाते देखता है। अथवा वह इतना हताश हो जाता है कि उसके समक्ष अपनी अभीष्ट सिद्धि का अर्थ ही नहीं रह जाता और तब वह वेदना को अनन्त मानकर उसी में अपनत्व को विसर्जित कर देता है। उसी के लिए जीने-मरने का काव्य रच उठता है :

> नित जलता रहने दो तिल तिल,
> अपनी ज्वाला में उर मेरा,
> इसकी विभूति में फिर आकर,
> अपने पद-चिह्न बना जाना!

मनोविश्लेषणात्मक-दृष्टि से देखें तो यह कवि उच्चवर्ग के वातावरण के निकट विश्वविद्यालयों की राजसी अपदार्थ शिक्षा से विविध सुख-सौन्दर्य विलास का उन्माद पाये हुए है। उसका तारुण्य अवहेलित है, उसके यौवनोद्दाम भावों के ज्वार-भाटे के रेचन का मार्ग उसके लिए अवरुद्ध है। हूक है उसमें, नीरवनिशा में वह अपने बेकली के दीपक जलाकर अपने अवरुद्ध भावों को इन सौन्दर्य रूपकों द्वारा उन्मोचित करता है। उसका अतृप्त उद्दाम काम शतशः रंगीन पुष्पबाणों से अनन्त विमोहक रूप निर्माण कर देता है। वे रूप उसे प्रकृति के विविध व्यापारों में झिलमिलाते उसे अभिसार के लिए बुलाते प्रतीत होते हैं। उन रूपों में प्रेयसी और सजनी तो है, पर वह उन्हें नायिका नहीं कह सकता, रीतिकालीन कवियों की कोटि में कहीं उसे न रख दिया जाय यह भय है उसे, अतः वह नये नये नाम रखकर अपने भावों को संतुष्ट करता है, मूर्त

इन्द्रिय-भोग्य सौन्दर्य की कल्पना को तब वह अनुभूति से पावन बनाकर किसी रहस्य की संयोजना उपस्थित कर देता है। नवीन शब्द संयोजन, नवीन छंद प्रणाली, प्राचीन के प्रति एक विद्रोह लेकर वह खड़ा होता है और इन साधनों से वह अपने मुक्ति बन्धनहीन होने का संतोष साहित्य में मनमानी कर प्राप्त करता है। वह अपने शब्दों में ओज भर देना चाहता है कि जो सुने-पढ़े उसकी अपनी तड़पन से वह भी तड़प उठे।

पर प्रश्न यह है कि क्या यह सब पलायन नहीं। और क्या उससे कुछ भी संतोष हो सकता है। महादेवी वर्मा ने अपने युग की रचनाओं के कवियों के संबंध में लिखा है:—हमारा व्यस्त और व्यक्ति-प्रधान जीवन हमें काव्य के किसी और अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपनी प्रत्येक कंपन को अंकित कर लेने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं। सम्भव है यह उस युग की प्रतिक्रिया हो जिसमें कवि का आदर्श अपने विषय में कुछ न कह कर संसार भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आहत करना था।' इस प्रतिक्रिया तक ही क्या रहा जा सकता है। प्रतिक्रियाओं की परम्परा होती है। छायावाद की प्रतिक्रिया क्या है ?

महादेवी से एक उद्धरण और लें—

"आज गीत में हम जिसे नये रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सब की विशेषताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को अवलंब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम के ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्क-मय बना सका।" मनुष्य को छायावाद और रहस्यवाद से मिलनेवाला अवलंब, भक्ति-मार्ग के राम और कृष्ण तथा वेदान्त के अद्वैत की भाँति ही अति वैयक्तिक हो गया। कवि की अपनी अनुभूति अपने विशेषार्थी शब्दों के द्वारा भी प्रकट होगी, उसमें उसका अपना अर्थ होगा या अवलंब उसी के अनुसार व्यक्तियों के साथ भिन्न हो जायगा, उसमें राम कृष्ण अथवा ब्रह्म जैसी पहचान कराने वाली, एकता स्थापित करानेवाली कोई एक भी रेखा नहीं मिलेगी। इस अपने अपने अवलंब से—जिसके वे अवलंब हैं— उन्हें कुछ संबल मिल सकता है। मानवता को वह विभ्रम में ही डालेगा। जिस अपार्थिव प्रेम ने भक्ति को प्रोल्लासित किया, जिस पार्थिव प्रेम ने शृङ्गार को विलक्षण बनाया वही प्रेम रहस्यवाद में मिलकर भी अवलंब की दुर्बलता का अभाव के कारण शीघ्र ही रहस्यवाद को ही खा गया। जिन तत्वों पर रहस्यवाद खड़ा हुआ है वे सब पुराने जर्जरित युग के तत्व हैं, वे सब मिलकर निराली स्थिति से अनुप्राणित होकर भी परिवर्तन और क्रान्ति की वेगवती धारा का सामना किस प्रकार कर सकते हैं—एक धक्के में वे भूमिसात् होते दिखायी पड़ रहे हैं।

रहस्यवाद के सभी प्रमुख लेखक, महादेवी को छोड़कर, क्यों रहस्यवाद से विमुख हो उठे हैं?

एक राजनीतिक कारण है—१९१९-२० में महात्मा गांधी का 'अहिंसा' आन्दोलन प्रबल था। आन्दोलन क्रान्ति के लिए अग्रसर था, पर आन्दोलन ही होकर रह गया। उसने जन मन को आलोड़ित कर दिया और यह भी अत्यन्त स्पष्ट कर दिया कि वर्तमान व्यवस्था की लौह शृङ्खलायें बड़ी कठोर और प्रबल हैं। जिस प्रकार इस व्यवस्था के संस्थापक अपने व्यवसाय में सुशिक्षित हैं, उस प्रकार उनके विरोधी नहीं। विरोध अहिंसात्मक था, नये प्रकार का था फिर भी व्यवस्थाधिपति उसे सम्हाल ले गये—वैसी योग्यता जनता में नहीं आ पायी थी। गांधी जी के विचार और तीव्रता से फैले—गांधीवाद की रूपरेखा-सी खड़ी होने लगी। आस्तिकता के साथ अहिंसा, मानव में गुण और सत्य के प्रति प्रेम होने का विश्वास, मत परिवर्तन (Conversion) से स्वार्थ के शिकंजे को भी शिथिल किया जा सकता है, व्यक्तिगत शुद्धि और (Self-suffering) सत्य के लिए, व्यक्ति को महान शक्ति प्रदान करती है, इन तत्वों के साथ क्रियात्मक विज्ञापन, भेद-विभेद का अभाव, मानव मात्र के प्रति सहज प्रेम, केवल मानव कल्याण की कल्पना—ये सब तत्व अत्यन्त गति से चले, फैले। १९३० में फिर इनकी परीक्षा हुई—पर भारत के मानव पर लदा हुआ वह बोझ अत्यन्त भारी ठहरा। तब क्रान्ति हुई। विदित हुआ कि सारे उद्योगों को व्यर्थ कर देने वाली व्यवस्था जिन आधारों पर टिकी हुई है जब तक वे नष्ट नहीं होते तबतक वास्तविक मत परिवर्तन नहीं हो सकता। उन आधारों का ध्वंस होना आवश्यक है—प्राथमिक आवश्यकता है। शरीर की जड़ें जिन आवश्यकताओं में हैं, उन्हें बदलो। मानव में मानव भले ही हो पर वह वर्गों में विभाजित है और उसे अपना सजातीयसत्य ही सत्य प्रतीत होता है, वह उसी में विश्वास करता है और उसके लिए अपने प्राण भी देता है। रेलवे यात्रियों की भी अपनी तर्कना होती है—जब तक वे डिब्बे के बाहर हैं वे समझते हैं कि न्याय कहता है कि डिब्बेवालों को उन्हें डिब्बे में आने देना चाहिए, उन्होंने भी पैसे दिये हैं, और उनका अधिकार है कि डिब्बे में बैठें। वह जब डिब्बे में बैठ जाता है तो समझता है कि डिब्बे में किसी दूसरे को अब न आना चाहिए। डिब्बा भर गया, अब किसी भी यात्री का उसमें प्रवेश करना अत्याचार और अन्याय होगा। इसी के लिए स्टेशनों पर डिब्बों में लड़ाइयाँ होती मिलती हैं। लाठी से अक्षर नहीं सीखे जा सकते, क़लम से लाठी का वार नहीं झेला जा सकता। पूँजीपति के रहने से पूँजीवाद रहेगा, पूँजीपति उन साधनों के कारण पूँजीपति हैं जो शोषण करके उसके कोष को द्रुतगति से भरते चले जाते हैं; वे साधन उसके हाथ में होंगे। संपत्ति उसके पास संग्रहीत होगी, और वह कितना ही मत परिवर्तन करे इस भाव को हृदय से कैसे निकाल सकेगा कि यह संपत्ति उसके कारण है और उसकी दया पर इतने निर्भर करते हैं। जो उन साधनों से हीन हैं कैसे वे उन साधनों से सम्पन्न व्यक्ति को आश्चर्य और उच्चता से न देखेंगे। उस ऐश्वर्य का मद किसी क़ानून से भी नहीं रोका जा सकता जब तक कि ऐश्वर्य ही अपहृत न कर लिया जाय। यह

स्पष्ट है कि मौलिक परिवर्तन हो नहीं सकेगा जब तक उसके आधार-भूत भौतिक संबंधों में समुचित हेरफेर नहीं हो जाता। क्या हम ईश्वर, धर्म, स्त्री-पुरुष के वर्तमान संबंध की प्रणालियों को लेकर समाज में कोई भी वास्तविक समस्या हल कर सकते हैं? गोर्की ने एक बार ईश्वर को बनाने का प्रस्ताव कर दिया एक पत्र में लेख लिखकर। उसके उत्तर में लेनिन ने गोर्की को जो पत्र भेजा उसके कुछ स्थल ध्यान देने योग्य हैं।

"ईश्वर को खोजने या बनाने में बहुत थोड़ा अन्तर है। केवल उतना ही, जितना पीले और नीले भूत में।......ईश्वर को चाहे खोजा जाए, चाहे स्वयं बना लिया जाय वह जनता को अज्ञान के अन्धकार से बाहर नहीं निकलने देगा।

अत्यन्त सुशिक्षित और सुसंस्कृत देश अमेरिका, स्विटज़रलैंड आदि में भी किसी नवीन विचार को जनता को समझाना कठिन है। ईश्वर-विश्वास और अध्यात्मवाद ने जनता के मस्तिष्क को जड़ बना दिया है। किसी भी प्रकार का धर्म-विश्वास, परलोक का ध्यान, आध्यात्मिकता अथवा इससे संबंध रखने वाले विचार जनता की मानसिक दासता के कारण हैं। शोक इस बात का है कि जनता इस दासता का स्वागत करने के लिए सदा तत्पर रहती है। ये विचार स्वतंत्रता के लिये भयङ्कर रोगों के कीटाणुओं के समान हैं। धर्म की ओट में सैकड़ों-करोड़ों अपराध, अन्याय और अत्याचार छिपे रहते हैं। मेरी दृष्टि में जनता को ईश्वर पर विश्वास दिलाने का यत्न करना समाज के प्रति सबसे भयंकर अपराध है।........"

आत्मचिंतन के नाम पर आत्म-प्रवंचन से क्या लाभ? जो कोई भी मनुष्य ईश्वर के निर्माण अथवा खोज के लिये जनता को उत्साहित करता है, अथवा इस कार्य में अपनी अनुमति देता है, वह अपने कर्तव्य और बुद्धि के साथ व्यभिचार करता है। आत्म-चिंतन और मनन अपने आपको धोखा देने के साधन हैं। क्रियात्मक क्षेत्र को छोड़कर केवल कल्पना के राज्य में विचरना अपनी निर्बलता और गुणों को छिपाने का यत्न करना है। यह अमीरों का एक नखरा है, कल्पना द्वारा अपने आपको संतुष्ट करना है।........इस अध्यात्मवाद का उद्देश्य जनता को अज्ञान और दासता में फँसाये रखना है। इन शब्दों में एक महान अनुभवी क्रान्तिकारी के स्पष्ट विचार दिये हुए हैं, और उनसे यह समझा जा सकता है कि जिन साधनों से अज्ञान बना हुआ है उन्हें नष्ट करना ही होगा। मनुष्य के मस्तिष्क में से ऐसी प्रत्येक धारणा को निकालना होगा जो अवैज्ञानिक धरातल पर है, जो Superstition (मूढ़ग्राहों) की भांति है, जिसने मनुष्य को मानसिक दासता और जड़ता से आक्रान्त कर रखा है। इस काल में हिन्दू-मुसलमानों के दलों ने धर्म और संप्रदायों की प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति (reactionary tendency) को खोलकर रख दिया। हिंदू और मुसलमानों का विरोध किसलिए, अपने अपने ईश्वर तथा खुदा के लिए? अपने अपने नेतृत्व के लिए? अपने अपने उत्तराधिकार नियम के लिए? अपनी अपनी तहज़ीब और संस्कृति के लिए? मुसलमानों को हिंदुओं का भय क्यों? हिंदुओं को मुसलमानों का भय क्यों? इसीलिए कि धर्म के मूढ़ग्राह ने उन्हें ग्रस रखा है, वे जड़ हो गये हैं और अपरिवर्तनवादी

बन गये हैं। उन्हें न्याय से दूर कर दिया है। यहीं यह भी विदित हुआ कि भारत का जन गांवों में है। १९३५ के गवर्नमेण्ट आव् इण्डिया ऐक्ट ने मतदाताओं की योग्यता की सीमा करके बहुत हद तक मज़दूर और किसानों को भी उसमें सम्मिलित कर लिया, इसके कारण गांव और भी उभर कर सामने आगये। गांव-सुधार, निरक्षरता-निवारण जैसे कार्यों की गति बढ़ी, पढ़े लिखे का ध्यान इधर आकर्षित हुआ। इस सब राजनीतिक स्थिति ने साहित्यकार को विवश किया कि वह इधर ध्यान दे।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद धीरे धीरे साहित्यकार की मनसा को प्रभावित करने लगा है। सबसे पहला विश्वास उसे यह होने लगा है कि पलायनवाद अथवा कल्पना की अमीरी छोड़नी पड़ेगी। कला कला के लिए का सिद्धान्त अमान्य है। उद्देश्यशून्य सुन्दर दृश्य-चित्रों का अंकन केवल सौन्दर्य के लिए अवाञ्छनीय है। उद्देश्य भी कला का वह होना चाहिए जो मौलिक समस्याओं को उधेड़ कर रख दे। इसी के साथ उसे यह विदित हुआ कि अब तक उसने साहित्यकार की शक्ति को समझ नहीं पाया। उसे तो अग्रदूत होना चाहिए, वह जनता के मस्तिष्क का निर्माता है, वह आज अपना उत्तरदायित्व पूरा नहीं कर रहा। वह इन विविध घातक प्रवृत्तियों का चारण-मात्र बनकर रह गया। उसे दिग्दर्शक होना है। यह उसी का उत्तरदायित्व है कि वहजनता को मूढ़ग्राहों और भ्रमित धारणाओं से उन्मुक्त करे। उसने यह भी अनुभव किया कि कल्पना जगत की सामग्री न लेकर वास्तविक जगत, नहीं नग्नवास्तव को लेकर उसे अपना कार्य संपादन करना होगा। कल्पनात्मक पात्रों के प्रति अपनी सहानुभूति का रस उँडेलना अपना क्षय करना है, वास्तविक जगत के प्राणी उसकी उस सहानुभूति के विशेष अधिकारी हैं, काल्पनिक स्वर्ग में अपने को भुलाना प्रवंचना है, वास्तव में जो यथार्थ नरक है उसे धीरे धीरे अपनी शक्ति से परिष्कृत करता हुआ उनमें से स्वर्ग की उद्भावना करना ही श्रेयस्कर होगा। विश्व की पीड़ित आत्मा ने उससे कान में कहा—"ओ तू साहित्यकार उठ, क्रान्ति के लिए मुझे तयार करा, मानवता को शुद्ध मानवता और मुक्त मानवता बनाने के लिए तू कटिबद्ध हो जा।" रहस्यवाद और छायावाद की उद्दीपक अतृप्तकाम रंगीनी ने उसमें जो तीव्रतम वेदना जगा दी थी, असीम की चाह में उन्मत्त भावोत्तेजना ने जो सौन्दर्य के प्रति उचाट उत्पन्न कर दी थी उसमें वह परिस्थिति प्रसूतन्याय (Logic of the situation) से यों भी लौट पड़ने को विकल था। और वह उस वेदना और उस सहानुभूति के साथ गांवों, किसानों, मजदूरों की ओर लौट पड़ा। राजनीतिक और मानसिक अवस्था ने उसे इसी प्रगति के लिए बाध्य किया।

रहस्यवाद की प्रतिक्रिया उसे किसान और मजदूरों के पास ही क्यों ले गयी या क्यों ले जा रही है। रहस्यवाद की रहस्यात्मक अनन्त शून्यता ने प्रतिक्रिया के अपने खोखले को घोर ठोस यथार्थता से ठसाठस भर लेना चाहा। समाजवाद ने यहीं यह परामर्श दिया—"अर्थ के विषम वितरण ने वास्तव को मिथ्या यथार्थ का रूप दे दिया है। अर्थ के विषम वितरण का परिणाम बड़ा भयंकर होता है, हुआ है।

"In politics it defeats every form of government except that

of a necessarily corrupt oligarchy. Democracy in the most democratic modern republics: France and the United States for example, is an imposture and delusion. It reduces justice and law to a farce, law becomes merely an instrument for keeping the poor in subjection; and accused workmen are fired, not by a jury of their peers, but conspiracies of their exploiters. The press is the press of the rich and the curse of the poor: it becomes dangerous to teach men to read. The priest becomes the mere complement of the policeman in the machinery by which the country-house oppresses the village. Worst of all marriage becomes a class affair: The infinite variety of choice which nature offers to the young in search of a mate is narrowed to a handful of persons of similar income; and beauty and health become the dreams of artists and the advertisements of quacks instead of the normal conditions of life. Society is not only divided but actually destroyed in all directions by inequality of income between classes—" [B. Shaw; Preface to Androcles And The Lion]

यह आर्थिक विषमता दस्यु-सभ्यता का परिणाम है, जिसमें दस्युओं ने अपने कुकृत्यों को भाग्य और ईश्वरीय विधान के नाम पर निरंतर चलाया है, और उनसे शोषित संपत्ति के कुछ टुकड़े फेंककर अपने चतुर विरोधियों को मौन कर दिया है। तो कवियों को शोषकों और दस्युओं को त्याग कर शोषितों की ओर जाना पड़ेगा। शोषित ही उत्पादक है, शोषित ही समाज के मूल-आधार और स्रोत हैं। समाज की एक मात्र वास्तविक इकाई (unit) यही शोषित हैं जो पसीना बहाकर धन उत्पन्न करते हैं—ये श्रमिक और किसान, समाज के सबसे नीचे के स्तर पर पड़े हुए हैं और दस्यु-सभ्यता से प्रेरित संपूर्ण समाज उन्हें चूसे जा रहा है। इसीलिए साहित्यकार इनकी ओर चल पड़ा है। उसे आवश्यक हो गया है कि इधर जाय, यदि उसे अपने प्रति ईमानदार रहना है और यदि उसे अपने कर्म को निष्कलुष रखना है।

हमारे संपूर्ण साहित्य का एक बड़ा भारी दोष अभी तक यही रहा है कि उसने यथार्थ को क ने का साहस नहीं किया। उसके साहित्य की टेकनीक वही रही है जो किसी भी दस्यु की होती है। दस्यु या शोषक कभी सत्य से आँखें चार नहीं करता। अपने पाप के प्रति वह इतना चैतन्य होता है कि वह उसे पद-पद पर पुण्य कह कर पुकारना चाहता है—दान जैसे गर्हित कर्म की जो समाज में भिक्षोपजीवियों की सृष्टि करता है, जो दरिद्रता को मौलिक मान कर चलता है वह मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है और इसे संपूर्ण गुणों से श्रेष्ठ बतलाता है। दरिद्रता और दुःख को वरणीय मानता है, क्योंकि उससे ईश्वर का स्मरण सदा बना रहता है :

"सुख के माथे सिल परै नाम हृदय तें जाय,
बलिहारी वा दुःख की पल-पल नाम रटाय।"

इस पाप को छिपाने की प्रवृत्ति की परिवृत्ति साहित्य में होती है अभिव्यञ्जनावाद में, स्पष्ट खुलकर स्वस्थ बातें करना अश्लील और ग्राम्य कहकर भर्त्सना का पात्र समझा जाता है, उसी को ढँककर घुमा फिराकर ललित शब्दावली में रखना, व्यंग से स्पष्ट भाव से उसे उपस्थित करना पुरस्कार के योग्य घोषित किया जाता है। लज्जा और शर्म का महत्व बढ़ जाता है। सभ्यता और शिष्टता में इसका रूप 'धन्यवाद की सभ्यता' का रूप ग्रहण कर लेता है। एटीकेट से मनुष्य इतना बँध जाता है कि वह एक उँगली भी निर्धारित शिष्टाचार के विरुद्ध नहीं चला सकता। नियम सभ्यता और शिष्टता का आतंक, मानापमान का रोब ऐसी विधि से जमा दिया जाता है कि मनुष्य की वास्तविकता कुचल जाती है, वह ऐसी कोई भी बात उस आतंक में करने का साहस नहीं कर सकता जो वह ठीक समझता हो, पर वहाँ के नियमों से प्रतिकूल हो। इन सभ्यतावादियों ने संसार को गुडियों और गुड्डों का घर बना रखा है। बड़े-बड़े घुमाव फेर दे रखे हैं। इस प्रकार के घुमाव-फेर की सभ्यता का पोषण नहीं करना तो क्या उसके द्वारा मिली हुई टेकनीक का पोषण करना होगा? निश्चय ही नहीं। यदि साहित्यकार संपूर्ण स्वास्थ्य को प्रस्तुत करना चाहता है तो उसे इस बनावट का त्याग करना होगा। शब्दों को भी उन गर्हित धारणाओं से मुक्त करना होगा जो बलपूर्वक उसके सिर मढ़ दी गयी हैं। जब तक यह साहस साहित्यकार में नहीं आता, उस समय तक वह अपना उत्तरदायित्व पूरा नहीं कर सकेगा।

उसका उत्तरदायित्व है मानव की मुक्ति, मानव को पूर्ण स्वस्थ करना, उसे यथार्थ मानव बना देना। अतिमानव (Superman) की कल्पना करना व्यर्थ है। पूर्ण स्वस्थ मानव की कल्पना करना ही ठीक है। उस कल्पना को सिद्ध करना—इसके लिये विकास का मार्ग ढूंढ़ना आज की जर्जरित सभ्यता के सहारे असंभव है। अन्तर से नये बीज वपन कर अथवा बाहर से नयी आक्रामक शक्तियाँ लाकर मौजूदा व्यवस्था को हटाने की व्यवस्था करनी होगी—तभी मानव की प्रगति होगी, तभी मानव अगति और दुर्गति से बच सकेगा।

यों प्रगति को अग्रसरता के अर्थ में भी ग्रहण किया जाता है। कोई भी साहित्यकार अपनी साहित्यिक मनोवृत्ति के कारण इसलिए कि जब तक उसे कोई नयी अनुभूति न हो वह लिखने का प्रयास ही नहीं करेगा प्रगतिशील साहित्यिक कहला सकता है। ऊँची कल्पनायें, दिव्य उड़ानें, अनोखी सूझें जैसी पहले कवियों को नहीं सूझीं, कहानियों को नये उन्मेष, पात्रों के विविध नये हावभाव, नये स्थलों, और नये नये विषयों का निर्वाचन क्या साहित्यकार को प्रगतिशील बना सकता है क्या उस साहित्यकार को प्रगतिकर्मी कहा जा सकेगा? हमारी संपूर्ण आध्यात्मिकता, पूर्ण धार्मिकता अपने सारे तत्व को समन्वित कर एक साथ बल लगा कर भी मानव कल्पना का मार्ग मुक्त नहीं कर सकते, मानव को वे कितना ही ऊँचा उठकर जगत के बंधनों से परे लेजाकर परमात्मा को आनन्द निरपेक्ष आनन्द एवं आत्म-विभोरता में (bliss)

स्नात करादें पर,—काव्य की संपूर्ण उक्तियाँ चमत्कारों के विविध वैभवों से मानसिक विलास के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंतरंग उल्लास को चमका दें और वाणी के विलास को चमत्कृत कर दें पर,—राजारानियों को छोड़ सेठ साहूकारों अथवा दरिद्र किसानों की झोपड़ियों से कथानक ढूँढ कर कहानीकार अपनी प्रेम कहानियों में नये से नये रंग क्यों न भरे, रेडियो से स्वर सुनकर रीझे, टेलीफून से बात करके रीझे, हवाई जहाज में बैठकर प्रेम करे, सबमेरीन में समुद्रगर्भ में प्रवेश कर प्रेम करे, प्रेयसी प्रेमिक नये नये रंग रूप से, नये नये मार्ग से आकर कितने ही दावपेंचों और भूलभुलैयों से चले, ओजस्वी और आकर्षक बनकर आवें पर,— पर इन सबसे क्या प्रगति हो सकती है ? बड़ी बड़ी समस्यायें उपस्थित की जायें, नैतिक आचरण की विषमताओं को हटाने के लिए, नयी नयी रचनाएं लिखी जायें, पाप-पुण्य की व्याख्या में उन्हें निरपेक्ष से सापेक्ष बना दिया जाय, "संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है।" यह कहकर नीतिहीनता को चाहे अर्थहीन कर दिया जाय, राष्ट्रीय भावों के प्रसार के लिए जी तोड़ उद्योग क्यों न किया जाय ? मनोविश्लेषण से मौन उत्तेजनाओं के दमन के विष को समझकर आज के मानसिक प्रक्रियाओं को कितना ही कार्य-कारण की दृढ़ सुनिश्चित परंपरा में क्यों न नियोजित कर दिया जाय ? वासनाओं के दमन से अवरुद्ध, अभिशप्त और दग्ध मानस कार्य प्रणाली को दिखाने के लिए कितने ही अद्भुत ग्रन्थों की रचना क्यों न कर डाली जाय ? पर क्या प्रगति हो सकती है ? इनसे मानव बुनियादी प्रगति का क़दम नहीं उठाता। उन्होंने भिन्न समय पर हमारे समाज को प्रगति-पथ पर आगे बढ़ाया है, लेकिन आज की ऐतिहासिक परिस्थितियों में वे नाकाफी हैं।

अब समय आ गया है कि साहित्य इस भोंड़े वितंडावाद से अपने को निकाल ले—नहीं वीररस रसराज है, वाह शृङ्गार रसराज है, वह भी नहीं करुण है जनाब; आदर्शवाद, नहीं उपयोगितावाद, नहीं यथार्थवाद, नहीं अतियथार्थवाद, नहीं बुद्धिवाद; साहित्य गोष्ठी, नहीं मंडल, नहीं सम्मेलन; ब्रजभाषा, नहीं खड़ी बोली, नहीं, अवधी; देव, नहीं बिहारी, सूर, नहीं तुलसी; ज्ञान, नहीं भक्ति; ब्रह्मा, नहीं विष्णु, नहीं शिव; नाटक-नाटिकायें, नहीं पुरुष-प्रकृति; त्रैत, नहीं द्वैत, नहीं अद्वैत; अश्लील, नहीं श्लील; पत्रकार-लेखक, नहीं प्रकाशक; पुराने कवि नहीं नये कवि, उर्दू, नहीं हिंदी, नहीं हिंदुस्तानी—इन्हीं में जूझ रहा है, प्रतिमायें इन्हीं में विगलित हुई जा रही हैं, जड़ताओं में जागृति कहाँ ? जड़ता को दूर करने, प्रतिमा को प्रकाश में लाने, जीवन सशक्त और निर्मल करने के लिए प्रगति की, और उसके लिए प्रगतिवाद की आवश्यकता है। साहित्यकार को वर्तमान व्यवस्था के Merry-go-round चर्खे से उतार कर किसी घोड़े या टट्टू पर विठाना होगा, गदहे पर विठाने में भी हानि नहीं। वह लेकर आगे तो बढ़ेगा, इस व्यवसायी के तमाशाघर के Merry-go-round चर्खे पर ही घूमते-घूमते तो आयु नहीं बीतेगी।

[गुलाबराय]

प्रगति ही क्यों ?—

इसका सीधा उत्तर यह है कि प्रगति जीवन का मुख्य लक्षण है। बाह्य सामग्री को आत्मसात्कर वृद्धि को प्राप्त होना यह जीवित पदार्थों का व्यापक गुण है। यही प्रगति है। साहित्य में भी जीवन का यही लक्षण वर्तमान रहता है और इसलिए वह जीवन की आलोचना ही नहीं वरन् वह स्वयं आत्म-चिन्तन प्रधान प्रवर्गित जीवन है। साहित्य में जीवन का स्पन्दन रहता है और वह जाति की नब्ज़ का काम देता है।

वृद्धि का अर्थ केवल आकार और परिमाण की वृद्धि नहीं वरन् वास्तविक सर्वतोमुखी उन्नति है। इसी को हित भी कहते हैं क्योंकि हित का व्युत्पत्त्यर्थ है—जो बनावे वही हित है, दधातीति हितं। हित में वही धातु है जो विधाता में इसीलिए काव्यालापों को विष्णु का अंश कहा है। साहित्य में भी हित की भावना का प्राधान्य है। हितेन सह सहितं तस्य भावः साहित्यं। अब प्रश्न यह होता है कि हित किसका? सारी सृष्टि का और विशेषकर मानव का। मानव भगवान के विराट शरीर का मुख है। उसी में सृष्टि वाचाल होती है। विशेषकर मानव कहने का यह अर्थ नहीं है कि मानव बन कर सबका भक्षण कर ले। हम यह कह सकते हैं कि जो सबके हित की योजना करे वही प्रगतिशील साहित्य है। प्रगतिशील साहित्य मानवता के हित के हित की को ध्यान में रखता है। अब प्रश्न यह है कि हित किसको कहते हैं। इसके लिए भी यदि हम प्राणिशास्त्र के आलोक से लाभ उठाएं तो कुछ अनुचित न होगा। हमको प्राणिशास्त्र के अध्ययन से विकास की दिशा का पता चलता है। वह है अधिक से अधिक कार्य विभाजन और अधिक से अधिक पारस्परिक संगठन। मानव शरीर को हम इसीलिए विकास श्रेणी में सबसे उच्च स्थान देते हैं कि उसमें इस आदर्श का अधिक से अधिक पालन होता है। जो साहित्य इस स्थिति को लाने में सहायक हो वही सत्साहित्य और प्रगतिशील साहित्य है। इस स्थिति के लाने के लिए जिस संघर्ष और प्रयत्न की आवश्यकता हो उस संघर्ष का प्रतिपादन करने वाला साहित्य भी लोक मंगल का विधायक होगा। इस बात की ओर ध्यान दिलाने के कारण हम आचार्य शुक्लजी को प्रगतिवाद का अग्रदूत कह सकते हैं। जब तक विश्राम कुम्भकर्णी निद्रा न बन जाय तब तक मैं विश्राम को प्रगति की तैयारी ही मानता हूँ और इसीलिए मैं प्रगतिवाद के साथ छायावाद का भी समर्थक हूँ किन्तु उस विश्राम को चिर निद्रा का रूप धारण करने से बचाने और काव्यजगत का उद्बोधन करने का श्रेय हम शुक्लजी को ही देंगे चाहे तुलसीदास में वर्णव्यवस्था के पोषक होने के कारण हम उन्हें प्रगतिवादी शब्दावली में प्रतिक्रियावादी कह लें। काव्य में रहस्यवाद तथा शुक्लजी के अन्य लेख इस बात का ज्वलन्त

प्रमाण हैं। मंगल और अमंगल इन दोनों पक्षों के द्वन्द्व के बीच में मंगल की कला शक्ति के साथ फूटती दिखाई पड़ती है। अत्याचार, क्रन्दन पीड़न, ध्वंस का सहन जगत की साधना या तप है जो वह भगवान की मंगल कला के दर्शन के लिए किया करता है। जीवन भी प्रयत्न-रूप है अतः मंगल भी साध्य रहता है, सिद्ध नहीं। जो कविता मंगल को सिद्ध रूप में देखने के लिए किसी अज्ञात लोक की ओर ही इशारा किया करती है, वह आलस्य अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी है, वह जगत और जीवन के संघर्ष से कल्पना को भगाकर केवल मनमोदक बाँधने और ख्याली पुलाव पकाने में लगती है। प्रगतिवाद भी शोषित और दलित मानवता का पक्ष लेकर भगवान की इसी मंगलमयी कला की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। वह काव्य को फिर (पहली ही बार नहीं क्योंकि काव्य का जीवन से शाश्वत सम्बन्ध है) जीवन के सम्पर्क में लाने का उद्योग कर रहा है। इसलिये वह मान्य है स्तुत्य है, शिरोधार्य है। किन्तु उसमें त्रुटियाँ हैं गा उनकी ओर उसका झुकाव है। उनसे बचना भी उसके लिए परम आवश्यक है।

काव्य के लिये जीवन से सम्पर्क रखना आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है किन्तु जीवन को किसी वर्ग विशेष में सीमित करना काव्य के क्षेत्र को संकुचित करना होगा। अभिजात वर्ग की बुराइयों के उद्घाटन में कमी न रक्खी जाय किन्तु जहाँ उसमें शालीनता की चिनगारी दिखाई पड़े उसकी उपेक्षा भी न की जाय। समाज में अधिक से अधिक कार्य-विभाजन और अधिक से अधिक संगठन का आदर्श पालन करना श्रेयस्कर होगा।

२—उच्चवर्ग की बुराइयों और हृदयहीनता के उद्‌घाटन में काव्य के गौरव का ख्याल रक्खा जाय। काव्य की यही विशेषता है कि वह हित को रूप देता है: 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः। काव्य हित और मनोहर का सत्य-शिव-सुन्दर के साथ समन्वय कर सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रूयात् का आदर्श सार्थक करता है।

३—नारी सौन्दर्य के मोह से प्रगतिवाद नहीं बचा है किन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रगतिवाद कुछ ऊब सा चला है। ठीक है भूखे भजन न होइ गोपाला किन्तु वह प्राकृतिक सौन्दर्य का आस्वादन नारी सौन्दर्य के आस्वादन से कम स्फूर्तिप्रद और स्वास्थ्यवर्धक नहीं है।

४—प्रगति का जहां आंशिक आभास भी मिले उसका स्वागत करना चाहिए क्योंकि प्रगति का आदर्श स्वयं प्रगतिशील है। मानवता की उपासना प्रगतिशील साहित्य की विशेषता हो किन्तु उसकी उपज या देन नहीं है।

५—मानवता की पीड़ितों के साथ सहानुभूति का अंश प्रगतिशील साहित्य ने अपनाया है किन्तु उसके साथ मानवता के और अंश भी हैं उसका भी प्रचार किया जाना वाच्छनीय है। मेरी समझ में मानवता में दूसरे के दृष्टि को आत्मा में तथ्यांश को खोजकर अपनाना, संहार की अपेक्षा सुधार को महत्व देना, संहार को साधन मात्र समझना, उपकृत का सम्मान, शक्ति के साथ शील और विनय का समन्वय, दुशमन को भी धोका न देना, अपने कष्ट की अपेक्षा दूसरे के कष्ट को महत्ता देना

आदि तत्व भी उतनी ही महत्ता रखते हैं जितनी कि पीड़ित के साथ सहानुभूति। प्रगतिवादी कवियों को यथासम्भव इन तत्वों को भी अपनाना चाहिए।

६—सहानुभूति केवल बौद्धिक न होना चाहिए। जहां तक हो गिरे हुए लोगों को ऊँचे स्तर पर लाना हमारा ध्येय अवश्य होना चाहिए किन्तु यदि हमारे उन्नत जीवन के कारण दूसरी जगह खाई हो तो हमको त्याग से काम लेना है। साम्यवाद में जहां उच्च वर्ग की ओर से उत्सर्ग अपेक्षित है वहां मध्यवर्ग की उच्च कोटि की ओर से भी अपने स्वत्वों और अधिकार का त्याग आवश्यक है नहीं तो पर उपदेश कुशल बहुतेरे की बात हो जायगी।

७—प्रगतिवाद को छायावाद या रहस्यवाद की भांति एक फैशन की चीज न बनाना चाहिए। फैशन के लिए प्रगतिवादी होने की अपेक्षा मौन रहना श्रेयस्कर है। जैसे बहुत से रहस्यवादी परमात्मा से दूर हैं वैसे ही बहुत से प्रगतिवादी जनता जनार्दन के सम्पर्क से बाहर हैं। काव्य में कल्पना के साथ सच्ची अनुभूति भी आवश्यक है।

[यशपाल]

साहित्य का उद्देश्य क्या है यह एक विकट प्रश्न है। संसार के सामने उचित अनुचित का विधान करने वाले महान गम्भीर और उदारचेता साहित्यिक इस समस्या पर उत्तेजित हो उठते हैं। जो बहुत ही महान हैं और निस्सीम रूप से उदार चेता हैं उनका कहना है— साहित्य का उद्देश्य साहित्य ही है। मनुष्य स्वार्थ के संकोच से छूटकर साहित्य के उद्देश्य से ही साहित्य रचना करे यह कितने संतोष की बात होनी चाहिये परन्तु साहित्य तो है मनुष्यकी संचित अभिव्यजंना! मनुष्य केवल अभिव्यजंना या अभिव्यक्ति का शौक पूरा करने के लिये ही अभिव्यजंना करे ऐसा तो हो नहीं सकता। तो फिर साहित्य के लिये साहित्य कैसा ?

जैसे ब्रह्मानन्द प्राप्त करने का उद्देश्य सांसारिक समृद्धि नहीं केवल ब्रह्मानन्द ही है वैसे ही यदि साहित्यानन्द को ब्रह्मानन्द का भाई मानकर साहित्यानन्द का उद्देश्य भी स्वतः साहित्यानन्द ही मान लिया जाय तो भी साहित्य का उद्देश्य आनन्द मानना ही पड़ेगा। और आनन्द है क्या ? मनुष्य जीवन की पुष्टि और विकास ही सबसे बड़ा सुख और आनन्द है। अवस्था और समय के अनुरूप मनुष्य औरउसका समाज इस सुख और आनन्द को अनेक रूप और ढङ्ग से प्राप्त करता है। ढङ्ग और रूप बदल जाने पर भी यह सुख और आनन्द शाश्वत और चिरन्तन है। मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की रक्षा, पुष्टि और विकास के लिये ही उसके सब प्रयत्न होते हैं। इन प्रयत्नों को अधिक सफल बना सकना, इस सुख को अधिक सप्राण, सूक्ष्म और सबल बनाने का प्रयत्न ही कला है। इसी उद्देश्य से कला की स्थापना खोज और सृष्टि की जाती है। मनुष्य की यह कला स्थान और अवस्था के भेद से अनेक रूप में प्रकट होती है। मनुष्य के चारों ओर दिखाई देने वाली यह दुनिया उसकी कला और साहित्य उसकी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है। और यदि कला और साहित्य मनुष्य की परिस्थितियाँ और जरूरत की परवाह न कर एक ओर खड़े हो अपने स्वतंत्र अस्तित्व का दावा करें तो क्या ठीक वैसा ही न होगा जैसे मनुष्य के शरीर की छाया शरीर से पृथक होने का दावा करने लगे ? मनुष्य की अभिव्यक्ति को उसके साहित्य को उसकी समस्या और जीवन के प्रयत्न से अलग रखने का स्वप्न बहुत कुछ वैसा ही है जैसे पेट में भूख के अनुभव को पेट भरने के प्रयत्न से दूर रखने की बात करना। किस काल और देश में मनुष्य की अभिव्यक्ति और उसके जीवन का प्रयत्न पृथक् पृथक् रहे हैं ? यह सम्भव भी कैसे हो सकता है कि मनुष्य के भाव, जीवन के लिये उसका प्रयत्न और उसकी भाषा या बात अलग अलग रहे ? अलबत्ता प्रश्न यह हो सकता है कि मनुष्य कौन है ? किसे मनुष्य समझना चाहिये। मनुष्य किसे कहना चाहिये इस विषय में कम मतभेद नहीं रहा। अफलातून ने मनुष्य की पहचान बताई थी दो पैर का जीव वह जिसके पंख न हों। इस पहचान का विद्रूप

किया एक मसखरे ने। एक मुर्गे के पंख उखाड़ उसे चौक में छोड़ मसखरे ने पुकार लगाई यह देखो, हजरत अफलातून का आदमी! इससे अच्छी पहचान है, मननशील को मनुष्य कहना चाहिये। पर मननशील तो एक हद तक पशु भी होते हैं। मननशीलता का कोई पैमाना निश्चित कर मनुष्यता की कसौटी बना लेना कठिन है। कार्ल मार्क्स ने मनुष्य की पहचान बताई है कि वह अपनी आवश्यकता की वस्तुओं को प्रकृति से स्वयम् तैयार करता है, पशु प्रकृति में जैसा कुछ और जो कुछ पा लेता है उसी से अपना निर्वाह चलाता है। अपने निर्वाह के लिये प्रकृति से उपज और पैदावार कर सकने की शक्ति होना वास्तव में मनुष्य की गहरी और व्यापक पहचान है परन्तु शक्ति होने से ही मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। अपने जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक पदार्थों को पैदा करने की शक्ति के अतिरिक्त ऐसा कर सकने का अवसर होना भी जरूरी है। अवसर न होने से शक्ति बेचारी क्या करेगी? दास प्रथा के समय रोम में दास लोगों को "बोलते हथियार" talking tools कहा जाता था। स्पष्ट ही उन्हें मनुष्य नहीं समझा जाता था। मनुष्य वे थे जिन्हें अवसर था इन बोलते हथियारों का व्यवहार अपने उपयोग के लिये करने का। दास प्रथा और ठाकुरशाही के जमाने सामन्तयुग में केवल मालिक लोग मनुष्य थे और दूसरे लोग उन मनुष्यों के उपयोग की वस्तु मात्र। जिस दास का धर्म और कर्तव्य हो मालिक की सेवा और उपयोग के लिये अपने आपको बलिदान कर देना उसे मालिक की बराबरी और श्रेणी का जीव नहीं समझा जा सकता। एक उपयोग में लाने वाला है और दूसरा उपयोगी। उन दोनों के जीवन की अभिव्यक्ति और कल्पना भी एक प्रकार की नहीं हो सकती। और फिर उपयोग में आने वाले नर रूपधारी पशुतुल्य मनुष्य की अभिव्यक्ति का मूल्य क्या? बल्कि कहिये उसे अभिव्यक्ति का अवसर ही कहाँ? उपयोग में आनेवाले शोषित मनुष्य रूप पशु की तो सबसे प्रथम अभिव्यक्ति है जीवन की पुकार। उसका जीवन है मालिक श्रेणी के सुसंस्कृत और सशक्त मनुष्य के हाथ में। शोषित के जीवन की पुकार या अभिव्यक्ति तभी प्रकट हो सकती है या तो जब वह जीवन का अवसर पा जाय या अपने बन्धनों के प्रति विद्रोह करने पर तुल जाय।

जिस काल में मालिक ही मनुष्य थे उस काल के साहित्य में उन्हीं की अभिव्यक्ति साहित्य का रूप पा सकी। जीवन की साधारण आवश्यकताओं से तृप्त परन्तु समृद्धि और शक्ति की लिप्सा लिये हुये उन ठाकुरों की अभिव्यक्ति ने साहित्य को देश विजय और दिग्विजय के गीतों का रूप दिया। इसकी प्रतिच्छाया में सांसारिक भोगों से शरीर के थक जाने पर भी मन को अतृप्त या उन भोगों से विरक्ति और वैराग्य की महिमा के गीत और संसार को मोह जाल बताने वाले साहित्य की सृष्टि हुई। उनके लिये संसार की सुख-सम्पदा ऐसे अप्राप्य और दुर्लभ पदार्थ नहीं थे जिनके लिये तरसा जाय। इनसे विरक्ति थी क्योंकि इन्हें पा लेने पर भी सुख की इच्छा बनी ही रहती थी। तब वे महानुभाव इन्हें ठुकरा कर कहते थे इनमें कुछ भी सार नहीं।

उस समय के मनुष्य समाज की—समाज के अधिकारी ठाकुर वर्ग और उनके मुसाहिबों की—जीवन अभिव्यक्ति बेकारी के कारण बेबस, भूख से बिलखते हुये बाल

बच्चों की उदर पूर्ति की चिन्ता से व्याकुल जवान लड़की के बोझ से समाज की दृष्टि में तिरस्कृत मुंशी जी की जीवन अभिव्यक्ति के समान क्षुद्र और संकुचित नहीं हो सकता थी। उस समय की साहित्यक अभिव्यक्ति थी—शत्रुओं को दैत्य, दानव और राक्षस नाम दे उनका मर्दन कर नये देशों को विजय करना। मालिक ठाकुरों को साधारण मनुष्य की अवस्था से ऊँचा उठा उन्हें देवता कह उनकी स्तुति करना। देव कन्याओं, और अप्सराओं से इन ठाकुरों का रमण। वह रमण होता था फूलों से भरे कदम्बों और मौलश्री वृक्षों की छाया में। शक्तिशाली ठाकुर प्रिया को भुजबल से आलिंगन में ले उसके प्रेम का अधिकारी हो जाता था। पुष्ट शरीर में वासना की तड़प अनुभव होने पर एक के पश्चात् दूसरी, तीसरी कोमलांगी को रथ पर बैठा प्रासाद के प्राचीर में बिना किसी चिन्ता के समेटा जा सकता थी। उस समय के शक्तिशाली ठाकुर की उच्छृंखल वासना स्वस्थ शृंगार रस और प्रेम थी। उस समय के साहित्य में लगान और कर्ज के बोझ से पिसते हुये कथरी हीन किसान के पुआल जला कर पूस के जाड़े से त्राण पाने की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती थी। उस समय के साहित्य में दिन भर की मेहनत के बाद आठ-दस आने पाकर कठिनता से पेट भरने वाले मज़-दूर के जीवन के लिये कुत्सित प्रयत्नों का चर्चा नहीं हो सकता था। ऐसे मजदूर का जीवन जिसके पास बीवी को नित्य भोग की वस्तु बना कर सँभाल रखने का सामर्थ्य नहीं। जिसके क्षीण शरीर में आयु से विक्षिप्त हो गये जीवन के रसों (secretions) के वेग को सँभालने की शक्ति नहीं। जो अपनी पन्द्रह रुपये की कमाई में से आठ रुपये गांव में जमीन पर हो गये कर्ज़ और बीवी-बच्चे का पेट भरने के लिये भेज, एक दफे उत्साह और आनन्द अनुभव करने के लिये, वही उत्साह और आनन्द अनुभव करने के लिये, जिस उछाह से महर्षि विश्वामित्र मेनका को देख विह्वल हो उठे थे, जिस उछाह के लिये महर्षि च्यवन को सुकन्या की आवश्यकता हुई और च्यवनप्राश का आविष्कार हुआ, जिस आनन्द के लिये महाराज विक्रम आसव का प्याला भर भर उर्वशी के लिये कराह उठते थे उसी आनन्द उत्साह की अनुभूति के लिये मूंगफली के तेल की पकौड़ी खा, ताड़ी का चुक्कड़ पी, जेब में दुअन्नी डाल, बीच में पनाला बहती संकरी गली में, दरवाज़े पर पड़े टाट के पर्दे के बाहर खड़े वासना से तड़पते मज़दूर की अभिव्यक्ति उसमें हो नहीं सकती थी। उसमें तो बौर से लदे उपवन, कमल से भरे ताल, किंकणी से बोझल कटी, दीर्घ केशों के बोझ से झुकी ग्रीवा, वासना की तड़प से स्फुरित ओठों और उद्वेग से कमल-से कपोलों पर आ गये स्वेद कणों का सात्विक वर्णन ही हो सकता था। जिस सात्विक प्रेम के प्रभाव से पराशर जैसे महर्षियों का वीर्य मछलियों के गर्भाशय में पहुँच गंगा के पुनीत तट पर परम रूपवती वस्तु मत्स्यगंधा कन्यायें उत्पन्न हो जाती थीं। समाज में जिसे मनुष्य का पद और अधि-कार ही प्राप्त न था, साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति का प्रश्न? उस समय के साहित्य में पति नामधारी हिंसक पशु के निरंतर अत्याचार से पीड़ित, पालतू पशु से अधिक असहाय पत्नी की मानसिक यंत्रणा की अभिव्यक्ति कैसे हो सकती थी। उसके कुछ अनुभव करने या चाहने का प्रश्न ही न था। पुरुष था मनुष्य क्षेत्रज और स्त्री

उसके उपयोग की वस्तु, क्षेत्र ! मनुष्य स्वामी की भक्ति और अनुराग में वह उसके अधिक से अधिक उपयोग की वस्तु बन सके यही उसका धर्म और कर्तव्य था। पत्नी के न तो असंतुष्ट और बेचैनी अनुभव करने का प्रश्न था और न समस्या का कभी उसके दृष्टिकोण से देखने और समझने का क्योंकि वह मनुष्य नहीं उपयोग की वस्तु थी, उसकी अभिव्यक्ति का प्रश्न ही क्या ? अब यदि साहित्य पर्ददार घर के डिब्बे में बन्द स्त्री के किसी छिद्र से या पर्दे से झाँक कर देखने की बात करे या मालिक मर्द-मनुष्य के संतोष की बात छोड़कर अपने मानसिक और शारीरिक संतोष की बात सोचने लगे तो यह साहित्य की अश्लीलता और अनाचार न जान पड़े तो क्या ?

और फिर जब समाज ने ठाकुरशाही की व्यवस्था के शिकंजे को तोड़ डाला और मनुष्यता के अधिकार का फैलाव भद्र समाज के मध्यम श्रेणी के लोगों तक हुआ, इस श्रेणी के लोग अपने भाग्य के निर्णायक बन मनुष्य बन गये। उनकी अभिव्यक्ति ही साहित्य के रूप में प्रकट होने लगी। न्याय, समता और सदाचार की बहुत महिमा गाई गई परन्तु वह न्याय, समता और सदाचार किसकी दृष्टि से ? नित्य संकुचित-कलेवर होती हुई मध्यम श्रेणी की दृष्टि से ही। मध्यम श्रेणी के साहित्य में युद्धक्षेत्र के पराक्रम का नहीं उनके जीवन संग्राम के क्षेत्र का वर्णन अधिक हुआ और पराक्रमी योद्धा के बाहुबल को नहीं, समाज के नैतिक बल और विचार को शक्ति माना गया। गृहस्थ जीवन इस समाज व्यवस्था का केन्द्र रहा और इस साहित्य में व्यक्ति ने पद-पद पर समाज की नैतिकता और गृहस्थ की व्यवस्था पर अपने आपको बलिदान किया। परन्तु समाज की वह नैतिकता और गृहस्थ का सुखद घोंसला सम्भव कितने व्यक्तियों के लिये रहा ! जब अकेले व्यक्ति के पेट के लिये अन्न जुटाना समस्या हुआ तब पति-प्राण अबला पत्नी को सहारा दिये छ बच्चों की उंगली थामे चलाते गृहस्थी का गौरव निभाया कैसे जाय।

और जब मनुष्यता ठाकुर लोगों, सुसंस्कृत मध्यम वर्ग के आँगनों को लाँघकर निम्न वर्ग तक पहुँच रही है तो उनकी अभिव्यक्ति साहित्य में कैसे प्रकट न हो ? साहित्य है मनुष्य समाज की अभिव्यक्ति और आज जब मनुष्यता ऊँचे स्तरों की बपौती न रहकर निम्न स्तरों में छन रही है, या निम्न स्तर मनुष्य बनने का इरादा और साहस कर बैठे हैं तो उनकी अभिव्यक्ति साहित्य में प्रकट कैसे न हो ? वह अभि-व्यक्ति नंगी, रूखी और कुरूप है तो क्या ? और समाज ही मुख्यतः कैसा है ? यदि मनुष्यत्व का ठाकुरशाही और संभ्रान्त मध्यम श्रेणी के दायरों से निकलकर मनुष्य-मात्र में फैल सकना प्रगति है तो साहित्य में निम्न वर्ग की अनुभूति का प्रकट हो सकना भी प्रगति है।

परन्तु प्रगति के नाम पर साहित्य को अभिव्यक्ति के लावण्य और स्वाभाविकता के सौन्दर्य से शून्यकर उसे प्रचार मात्र बना देना क्या साहित्य के सौन्दर्य का नाश कर देना नहीं ? यदि साहित्य में से सौन्दर्य और सुरुचि को निकाल दिया जाय तो वह केवल विधि-निषेध या कायदे कानून की चीज़ हो जायगी। ऐसे साहित्य को पढ़ने से वही सुख होगा जो ए. आर. पी. का पर्चा या मज़दूर सभा की रिपोर्ट पढ़ने

से ही सकता है। कल्पना द्वारा वास्तविकता पर आदर्श की क़लम लगाकर जो वृक्ष खड़ा किया जाता है वह इससे तैयार न हो सकेगा। इसमें श्रान्त मस्तिष्क के लिये शान्ति न होगी और वास्तविकता की कठोरता को मनोरम बना देने वाली स्वप्निल रंगीनियाँ होंगी। नन्दन क़ानन बबूल का जंगल बन जायगा और कोयल की मधुमय कूक केवल कौए की काँय-काँय। परन्तु यदि बबूल के जंगल को नन्दन कानन बनाने का विचार हो तो उसे पहले बबूल का जंगल ही समझना होगा। इसके बिना चारा नहीं क्योंकि यही प्रगति है।

और फिर कौन साहित्य प्रचार की भावना से शून्य रहा है। पति प्रेम में मर मिटने का करुणापूर्ण वर्णन क्या पतिव्रतधर्म का प्रचार नहीं? जीवनभर दुःख और यातना में बिताकर भी अनैतिक उपाय से सुख पाने की चेष्टा या साहस न करना क्या समाज द्वारा मानी गई नैतिकता का प्रचार नहीं? परम्परागत और अपने माने हुये विश्वास का समर्थन प्रचार जान नहीं पड़ता। नयी बात खटकती है इसलिये वह प्रचार जान पड़ती है। उसका खटकना ही शायद साहित्य के सौन्दर्य को क्षीण भी कर देता है।

× × × ×

जो भी हो परिमार्जित रुचि के शिष्ट और उदारचेता महानुभावों को हिन्दी साहित्य में प्रकट होने वाली प्रवृत्तियाँ भली नहीं मालूम होतीं। कविता, कहानी, उपन्यास और दार्शनिक तथा वैज्ञानिक साहित्य में सभी ओर एक वीभत्स छाया और द्रोह की प्रवृत्ति दिखाई देती है जिसे वितृष्णा से नाम दिया गया है—'शिष्णोदरवाद'। जब सब ओर पेट की भूख और अतृप्त काम वासना का ही चीत्कार सुनाई देता है और यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो मानना पड़ेगा कि यही हमारे समाज की अवस्था है और उसका रूप है।

हमारे सम्भ्रान्त और उदार चेता यह तो मान लेंगे कि आज दिन हमारे समाज की अस्लियत 'शिष्णोदर' की अतृप्त भूख और उसका चीत्कार ही है परन्तु साहित्य 'शिष्णोदर' की पुकार से ही भर जाय, यह क्या हमारे समाज और साहित्य के लिये कल्याणकारी और सम्मानजनक है? और क्या यही साहित्य की प्रगति है?

संस्कृति और मनुष्यता का दावा करने वाले साहित्यिक चाहे वे कितने ही नम्र रूप में प्रगतिवादी होने का दावा करें, अपने माथे पर 'शिष्णोदर' की चीत्कार का कलंक लगाया जाता देख तिलमिलाये बिना और झेंपे बिना नहीं रह सकते? समाज में बनाई नैतिक आस्था का भय ऐसा ही है परन्तु यदि समाज की निर्धारित आस्था के बाहरी रूप को बनाये रखने की अपेक्षा समाज अपने गिरेबाँ में झाँक कर देखें तो उसका नारा सदा ही 'शिष्णोदरवाद' रहा है। यह दूसरी बात है कि किस काल और अवस्था में इस 'शिष्णोदरवाद' पर कौन-सा मुलम्मा चढ़ाकर उसे किस रोचक और सम्भ्रान्त रूप में पेश किया गया? उदरपूर्ति की चिन्ता में (व्यक्तिगत या सामाजिक रूप से) चाहे आप अश्वमेध यज्ञ कर चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा कीजिये, उपनिवेशों के लिये लड़िये, राजनैतिक शक्ति के बल पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कायम कीजिये या फिर मनुष्य समाज की भौगोलिक सीमाओं को तोड़ उसे श्रेणी संघर्ष का मैदान समझ

उसमें श्रेणी रहित समाजवाद स्थापित करने की चेष्टा कीजिये सब उदरपूर्ति का प्रयत्न और 'उदरवाद' है। इसी प्रकार शिवजी के तीसरे नेत्र से कामदेव का संहार, रामायण में भगवान का जगत-माता सीता के लिये व्याकुल हो पत्थरों और पेड़ों से उनका पता पूछते जाना, मेघदूत में यक्ष का विलाप, पद्मावती की कथा, बिहारी की सतसई, ओथेलो, हैमलेट, थायस और रवीन्द्र की मानस सुंदरी, है सब वासना की ही पुकार चाहे वह सीधे-साधे रूप में वासना को जगाकर काल्पनिक सुख भोगने के लिये हो या उससे पीड़ित होकर उसे दबा रखने की चेतावनी हो—है 'शिश्नवाद' ही।

× × × ×

मनुष्य की सम्पूर्ण संस्कृति का आधार है उसकी सामाजिक भावना। लेकिन उसकी यह सामाजिक भावना उस समय बदल जाती है जब जेठ की दुपहरिया में मुसाफिर रेल के डिब्बे में यों ठसाठस भरे हों कि सांस लेने लायक वायु के भी आने जाने की जगह मुश्किल से हो। उस समय गाड़ी में बैठे सज्जनों को भीतर आने का प्रयत्न करनेवाले मुसाफिरों को भीतर आने के अधिकार की मांग अमानुषिक विभीषिका और अन्याय जान पड़ने लगती है। और बाहर खड़े गाड़ी चूक जाने के भय से सुधबुध खोये मुसाफिरों को भीतर बैठे मनुष्य केवल खूंखार दरिन्दे जान पड़ते हैं। बहुत कुछ यही हाल मनुष्य की संस्कृति के दूसरे क्षेत्रों में भी है।

मनुष्य का विवेक उसकी उचित अनुचित की धारणा उसकी परिस्थितियों के प्रभाव से निश्चित होती है। प्रत्येक समाज की संस्कृति और सभ्यता का निरूपण उस समाज की अधिकारी श्रेणी द्वारा ही किया जाता है। इस अधिकार की बुनियाद चाहे वंश परम्परा हो, या शस्त्र शक्ति या धन-जीवन के साधनों का स्वामित्व। समाज की व्यवस्था को निर्धारित करने का अधिकार जब एक श्रेणी के हाथ से निकलकर दूसरी श्रेणी के हाथ चला जाता है तब समाज की संस्कृति का रूप भी बदल जाता है। समाज की संस्कृति के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति और साहित्य भी। गाड़ी के भीतर बैठे लोगों की अनुभूति और अभिव्यक्ति में तथा भीतर धँस आने का प्रयत्न करने वालों की अनुभूति और अभिव्यक्ति में अन्तर कैसे न हो? जिस श्रेणी के हाथ से अधिकार और प्रभुता जा रही है और जो श्रेणी अधिकार को ले लेने का प्रयत्न कर रही है—उचित और अनुचित के विषय में, संस्कृति की धारणा में उनका विरोध कैसे न हो।

राजप्रासाद में दासों के हाथ में थमे चँवर और छत्र की छाया में बैठे महाराज और उनकी मुसाहबियत में पलने वाले दरबारी राजभक्ति और स्वामि भक्ति की गुण गाथा क्यों न गायें? भोजनोपरान्त पाचन की औषध की चिन्ता करने वालों को रोटी के नाम से उबकाई क्यों न आये? जिनकी कल्पना इन्द्रियसुख से परिपूर्ण है, संकेत मात्र से जिनके सम्मुख सब दृश्य सज जाता है वे कामिनी के कटाक्ष मात्र का वर्णन सुनकर ही विभोर क्यों न हो जायँ? गाड़ी में बैठे जिन महानुभावों के 'शिश्नोदर' क्रियात्मक और स्थूल रूप से तृप्त हैं उन्हें 'हाय शिश्नोदर!' की चीत्कार से ग्लानि और वीभत्सता क्यों न अनुभव हो? संगीत और मुजरे की महफिल में जहां शिश्नोदर की भावना का तर्पण अत्यन्त सूक्ष्म रूप में हो रहा हो, यदि भिखमंगों का दल टूट पड़े तोटू

रस से भंग कैसे न हो ? उस समय औचित्य की रक्षा के लिये पैदा हो गई मानसिक उत्तेजना और क्रोध में—मन्यु के उत्तेजन में—यह विचार आना कुछ अस्वाभाविक-सा ही हो जाता है कि महफिल के पण्डाल में धंसने की चेष्टा करने वालों के भी 'शिष्णोदर' हैं और उसी तृप्ति की प्रेरणा उन्हें उतावला बनाये दे रही है।

× × × ×

परन्तु क्या 'शिष्णोदर' का निरावरण वर्णन और चीत्कार ही साहित्य की प्रगति है। वास्तविकता के नाम पर वीभत्स और जघन्य का वर्णन करना ही प्रगति है ? इसका निर्णय कौन करेगा ? वही जिसके लिये साहित्य की रचना की जाती है। जिस समय साहित्य सामन्त वर्ग की महफिल के लिये था और सर्वसाधारण का कर्तव्य था कि पालकी में सामन्तों को ढोकर महफिल में पहुँचा दें, उस समय वह सामन्त वर्ग की पसन्द के मुताबिक रहा। उन्हीं के समझने योग्य चित्रण उसमें रहा। जब साहित्य मध्य वर्ग सुसंस्कृत व्यापारी, अफसर तथा नौकरी पेशा लोगों के लिये था तब उनकी रुचि और अनुभूति को लेकर। और जब वह निम्न वर्ग के भी उपयोग की वस्तु बन रहा है तब वह उनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति का दर्पण कैसे न बने। समाज की नयी अवस्था में निम्न वर्ग अपनी संख्या के बल पर सबसे बलवान है और उनके संतोष के लिये साहित्य की नदी को उसकी असंस्कृत (सम्भ्रान्त लोगों के दृष्टिकोण के अनुसार इस वर्ग की रुचि चाहे जितनी असंस्कृत हो) रुचि के अनुसार वीभत्स, दारुण और नग्न भावों की मुद्रा ग्रहण करनी पड़ रही है। इस निम्न वर्ग की शिष्णोदर की अनुभूति और अभिव्यक्ति नग्न है इसीलिये उसका साहित्य भी ऐसा है। सम्भ्रान्त समाज के शिवम्-सुन्दरम् की गूँज जब निम्न श्रेणी के वीभत्स हृदय गह्वर में पहुँचती है तो उसकी प्रतिध्वनि उठती है "हाय शिष्णोदर" के आर्तनाद के रूप में।

परन्तु शिवम् मंगलम् का शिष्णोदर में रूपान्तरित हो जाना क्या प्रगति है ? परिमार्जित और सुसंस्कृत रुचि की कसौटी पर वह प्रगति नहीं दुर्गति जान पड़ेगी परन्तु कसौटी बेचारी क्या करे ? प्रश्न तो है, मनुष्य समाज का सामंतवाद से मध्य श्रेणी के प्रभुत्व में आना और फिर निम्न वर्ग का आत्मनिर्णय का अधिकार पाने की चेष्टा करना प्रगति है या नहीं ? यदि निम्नवर्ग का मनुष्य बनने का, आत्मनिर्णय का अधिकार पाने का प्रयत्न प्रगति है तो साहित्य का समाज के इस विषद अंग की अनुभूति को प्रकट करने के लिये रूप बदलना भी प्रगति है। यदि लक्ष्य पर पहुँचने के लिये किसी दलदल को लांघना पड़े, तो दलदल को लांघना पीछे लौटना नहीं आगे बढ़ना ही कहा जायगा।

× × × ×

इसमें सन्देह नहीं कि प्रगति परिमार्जित रुचि और सुन्दर भविष्य की ओर संकेत करने में उसकी रूपरेखा पेश करने में ही है, परन्तु उस सुन्दर भविष्य को प्राप्त कर सकेगी उस निम्नवर्ग की जागृति और उनका सजग प्रयत्न ही जो आज वीभत्स और जघन्य है, जिनकी कल्पना और अनुभूति 'शिष्णोदर' के निकटतम और स्थूलतम रूप से मुक्ति पा नहीं सकती क्योंकि वे इनके लिये बुभुक्षित हैं। अपनी अवस्था को

पहचानने के लिये यदि वे बार-बार अपनी ओर देख इस हाय हाय का नारा ऊंचा करते हैं तो यह स्वाभाविक है। यदि वे उन्नति के पथ पर कदम आगे बढ़ाना चाहते हैं तो अपनी अवस्था के प्रति घृणा से उन्हें व्याकुल होना ही होगा। इस वर्ग का प्रतिनिधि साहित्यिक भी उनकी उसी घृणा को बुलन्द करने के लिये विवश है।

× × × ×

सम्भ्रान्त समाज की संस्कृति में अपने आपको मजदूर, भूखा और कंगाल स्वीकार करना अपमानजनक था। नयी आने वाली संस्कृति के समर्थक मजदूरों और साधनहीनों के राज की बात कहते हैं और गर्व से कहते हैं हम मजदूर हैं और साधनहीन हैं। वास्तविकता से संकुचित होने वाली निम्न वर्ग की इस हरावल (Vanguard) को 'शिष्णोदरवाद' के नाम से तिलमिलाने की जरूरत क्या?

हम जानते हैं कि न्यस्त स्वार्थ वाले लोग हमको अपने उकसावे के फन्दे में लाकर खत्म करना चाहते हैं, हम पर कीचड़ उछाल कर एक ओर नये जीवन और नये समाज के प्रति अपने आक्रोश और प्रतिहिंसा का परिचय देते हैं और दूसरी ओर सामान्य जनता के बीच हमें बदनाम करना चाहते हैं, उनके बीच हमारी जड़ खोदना चाहते हैं। साम्य के आधार पर एक नया समाज गढ़ना हमारा लक्ष्य है। विपक्षियों के ये भ्रामक नारे हमें मार्गच्युत नहीं कर सकते। अगर भावी का खाका हमारी आँखों के सामने साफ होगा, तो हमारी कोशिशों को विपक्षी क्या नाम देते हैं क्या नहीं, इस बात से ज़रा भी विचलित हुए बगैर हम नवीन समाज रचना के कार्य में सतत आगे बढ़ते ही जायँगे और हमारे क्रान्तिकारी आधार को 'शिष्णोदरवाद' के सरासर गलत नाम से पुकार कर हमारी कोशिशों को निन्द्य सिद्ध करने के विपक्षियों सारे प्रयत्न धूल में मिल जायँगे। और हम स्वयं तो जानते ही हैं कि हम किस जगह पर चोट करके क्या बदलना है, क्या तोड़ना है और क्या बनाना है, इसलिए प्रगतिवाद के इस नये नामकरण से हमारे नज़दीक कोई अंतर नहीं पड़ता। और सामान्य जनता के बीच भी कोई अंतर न पड़ेगा अगर हम धीरज के साथ नये समाज की अपनी तसवीर उनके सामने रखते जायँ। और हम ऐसा ही करेंगे।

---

(५)

[उदयशंकर भट्ट]

प्रगतिवाद के संबन्ध में साहित्य में विचित्र धारणाएँ बन रही हैं। कुछ लोगों को इससे जितनी घृणा है उतनी ही उत्कटता भी दूसरे पक्ष के लोगों में पाई जाती है। छायावाद या रहस्यवाद के प्रारम्भिक काल में (पुराने, रूढ़िवादी) लोग इससे जिस प्रकार चिढ़ते थे, और उस वाद के लेखकों को भला बुरा कहते थे ठीक इसी प्रकार की दशा आज के प्रगतिवादी साहित्य के प्रति है। छायावाद या रहस्यवाद का संबंध उस समय केवल काव्य से था, किन्तु प्रगतिवाद आज के समस्त साहित्य में मूल प्रेरणा की तरह काम कर रहा है।

'प्रगतिवाद' शब्द भी संस्कृत से ही लिया गया है। हालाँकि उसका वाच्यार्थ योरोप की देन है। फिर भी हम देखते हैं इस शब्द का नामकरण सार्थक है, काल्पनिक नहीं। प्रगतिवाद का अर्थ है उत्कृष्ट रूप से किसी विचार धारा को गतिमान करना। अर्थात् जो जड़ है उसे गतिवाला बना देना, जो स्थिर है उसे अस्थिर कर देना। तब इसका अर्थ यह हुआ कि प्रगतिवाद जीवन में गति देने का नाम है। जीवन के अनुसार साहित्य के भी वर्ग हैं। और उसे हम वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय रूप से तीन भागों में बांट सकते हैं। अब देखना यह है कि इन तीनों में किस प्रकार की प्रगति हमको अभीष्ट हो सकती है। किन्तु सब प्रकार की प्रगति में हमारा ध्येय मोटे तौर पर विचारों में क्रान्ति करना ही होगा।

हम मानते हैं हमारे जीवन कि नसें इतनी जकड़ गई हैं कि उनमें नवीन और उपादेय विचार के रुधिर का प्रवाह नहीं हो रहा है। और पुराना इतना विकृत हो गया है कि ,वह जीवन को स्थायित्व नहीं दे सकता, उसे स्फूर्ति प्रदान नहीं कर सकता। इस लिए आज का प्रगतिवादी कहता है कि 'पुराना सड़ गया है नवीन का द्वार खोलो'।

इन तीनों प्रकार के वर्ग में, जो हमने ऊपर गिनाए हैं, विचारों की क्रान्ति की आज अपेक्षा की जाती है। पहले व्यक्तिवादी को लें तो हमें मालूम होगा कि आज का व्यक्ति समाज का बंधन उतना ही मानना चाहता है जितने से उसके व्यक्तित्व की हत्या न हो। वह समाज को स्थिर रखकर समाज का दास न बन जाय। वह अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम रख सके। इसमें जहाँ पुरुष के व्यक्तित्व का प्रश्न है वहां नारी के अस्तित्व का, उसकी मर्यादा की भी समस्या है। और आज के प्रगतिवादी युग में नारी की समस्या जितनी विकट और उग्र है उतनी पुरुष की स्वयं नहीं है। उसका एक मात्र कारण है उसका अनादिकाल से अपने आप को पुरुष की इच्छाओं के आगे 'सरेण्डर' किये रखना। पुरुष की तरह आज की नारी भी चाहती है कि उसके सामने से समाज के आविष्कृत वे बन्धन हटा दिए जायं जिनके लिए वह अब तक तरसती रही है। हम समझते हैं जहां तक जाग्रत नारी के स्वातंत्र्य का प्रश्न है उसका एक न

एक हल होना ही चाहिए। और यह प्रश्न भारत में तो और भी आवश्यक है जहां नारी का विचार-स्वातंत्र्य पुरुष की इच्छा के आगे सदा से आहत होता रहा है। वह चाहती है नारी को पुरुष के समान ही अधिकार मिलना चाहिए। अधिकारों की रक्षा वह स्वयं करेगी। यदि आज वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ है तो कल उस में इतनी शक्ति उत्पन्न हो सकती है कि वह अपनी रक्षा कर सके। उसे पुरुष के समान समाज में, राष्ट्र में स्थान भी मिलना चाहिए। शिक्षा दीक्षा में उसे पूर्ण स्वतंत्रता रहनी चाहिए। कदाचित् प्रगतिवादी यह भी कहता है कि यौन संबन्ध में भी उसे स्वातंत्र्य अपेक्षित है। उसके मार्ग में न तो किसी प्रकार धर्म ही बाधक होकर आ खड़ा हो और न समाज ही उसे अभिभूत या तिरस्कृत कर सके, इतना अधिकार उसे मिलना ही चाहिए।

मैं मानता हूँ नर और नारी की स्वतंत्रता चाहे वह धर्म सम्बन्धी हो या यौन संबन्धी उतनी मान्य होनी चाहिए जितने में वे दोनों विलास के रूप और अपने तथा समाज के एक राष्ट्र के विकृत अंग न बन जाय। उनका अस्तित्व राष्ट्र का उपयोगी न रहकर एक विषैले कीड़े की तरह राष्ट्र का घातक, उसे हीन और नपुंसक बना देने वाला न हो। जीवन की तरह स्वतंत्रता की भी सीमा है। सीमा से पार होने पर वह भार और हमारे लिए ही घातक हो सकता है। इसीलिए मैं मानता हूँ न तो पुराना रूप बुरा ही है और न नया, सब अच्छा है। जो संस्कृति आज लाखों वर्षों से हमें जीवित रखती चली आई है— यह ठीक है उसमें घृणित, दूषित तत्व भी हैं— वह एकदम हेय नहीं है। हम चाहे जिस नए 'डिज़ाइन' का मकान या बँगला बनावें जमीन तो वही पुरानी रखनी होगी। इसलिए मानना होगा कि नर और नारी की वैयक्तिक स्वतंत्रता वहीं तक सीमित रहनी चाहिए जहां तक वह स्वतंत्रता उच्छृंखलता में परिवर्तित न हो। दूसरी बात यह भी है कि परंपरा से प्रत्येक व्यक्ति समष्टि का एक अंश है, वह समष्टि को सर्वांग करता है। पूर्ण करता है। यदि किसी वस्तु में दूषित तत्व अधिक होंगे तो वह वस्तु अपने पूर्ण रूपमें विपाक्त ही अधिक होगी। इसी तरह समाज या राष्ट्र की पूर्णता में व्यक्ति की शुद्धि भी अपेक्षित है। यदि प्रगतिवाद उसी विवेक को लेकर समाज या राष्ट्र में क्रान्ति करता है तो वह उपादेय है, अभीष्ट भी होना चाहिए।

इसी तरह समाज के संबन्ध में भी हमें प्रगतिवादी दृष्टिकोण से यही ध्यान रखना होगा कि वह समाज की स्वतंत्रता को उच्छृंखल न बना डाले। हमारे समाज में जो कुछ भेद है वह दूर होना ही चाहिए। जो उपादेय है वह बाहर का होते हुए भी स्वीकृत होना चाहिए। संस्कृति, धर्म के समान काल और देश की प्रेरणा लेकर चलती है। और काल-परिस्थिति, तथा देश भेद से उसमें विकार भी होता है। हम मानते हैं भारत की संस्कृति बहुत पुरानी है, बहुत से भव्य मस्तिष्कों के युग युगान्त तक विचार मंथन के बाद उसका प्रादुर्भाव हुआ है। परन्तु आज अन्य कई संस्कृतियों के मिल जाने पर उसका एकतंत्र साम्राज्य विच्छिन्न भी हो गया है। इस लिए आज की कोलतार की सड़क पर खड़ाऊँ पहनकर हम बूट पहन खट खट करके चलने वाले व्यक्ति के साथ कदम मिला कर नहीं चल सकते। खड़ाऊँ का मोह छोड़कर हमें बूट

पहना कर ही चलना होगा। बैलगाड़ियों के रत्न जटित होने पर भी हम मोटर के साथ उन्हें दौड़ाकर नहीं ले जा सकते।

हमारे समाज में बेढंगे सीमापन ने वर्ग उपवर्ग के, जाति-उपजाति के छोटे छोटे दायरों में हमें इतना निःशक्त, इतना विकृत मस्तिष्क का बना दिया है कि हम अपने बाहर की किसी बात को सोच ही नहीं सकते, समझ नहीं सकते। और उस समय तो इस थोथेपन का और विवेकहीनता के, मूर्खता के निकम्मेपन का प्रमाण स्पष्ट हो जाता है जब कोई वर्ग या व्यक्ति अपने वर्ग को या व्यक्ति को केवल इस लिए प्रश्रय देता है कि वह भले ही मूर्ख हो, घृणित हो किन्तु है तो वह उसके समाज का ही। वह दूसरे वर्ग के भले से भले व्यक्ति को अपने बुरे के सामने हेय समझता है तथा कूप मण्डूकता के फेर में पड़कर व्यापक सामाजिकता, विशाल राष्ट्रीयता, उदार मानवता के नाश की भी परवा नहीं करता तब उस अवस्था में प्रगतिवादी उस समाज की विषैली संकीर्णता पर प्रहार करता है। वह कहता है यह विषमता सब तरह से घातक है, उसका ध्वंस होना चाहिए। जैसे धर्म विश्वास में व्यक्ति को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए वैसे समाज में समाजगत विश्वास, धर्म बंधनों में स्वतंत्रता होनी चाहिए। समाज का दृष्टिकोण क्रमशः विशाल और राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख, होता रहे यही समाज का प्रधान उद्देश्य होना चाहिए। और जैसे व्यक्ति की स्वतंत्रता की एक सीमा है वैसे ही समाज की स्वतंत्रता की भी एक सीमा है। उसकी स्वतंत्रता वहीं तक ही रहनी चाहिए जहां तक वह राष्ट्रीयता में घातक नहीं होती बल्कि उसे अनुप्राणित करती है। व्यापक अर्थ में प्रगतिवादी समाज में ऊंच-नीच के भेद के साथ धनी-निर्धन का, कृषक-ज़मींदार का, मालिक-मज़दूर का भेद भी तोड़ना चाहता है। वह वर्ग की स्वतंत्रता भी चाहता है। वह शोषक और शोषित को संसार से हटा देना चाहता है। वह दोनों के जीवन को चिर शान्त चिर सुखी देखना चाहता है। उसके मत से किसी एक का स्वार्थ प्रबल होकर दूसरे का नाश, दूसरे का पेषण न कर सके यही वह चाहता है। वर्गभेद जन्म पर न होकर कर्म पर होना चाहिए। सबको समान स्वातंत्र्य प्राप्त हो। समान विचार, समान विवेक के साथ व्यक्ति तथा समाज का स्वार्थ राष्ट्र के हित के लिए हो; समाज के लिए वैसा कोई स्थान नहीं होना चाहिए जिसमें वर्ग विशेष का पोषण हो सके। राष्ट्र के शरीर का पोषण भी प्रगतिवादी का ध्येय है। जिस चीज़ का राष्ट्र के हित में कोई सम्बन्ध नहीं है, वह वस्तु हेय है, त्याज्य है। वह व्यक्ति के लिए समाज के लिए किसी भी तरह उपादेय नहीं है। राष्ट्र की उपादेयता की कसौटी ही व्यक्ति अथवा समाज को मान्य हो, ऐसा मान लेने पर ही प्रगतिवाद का रूप यथार्थ एवं अभिप्रेत हो सकता है।

प्रगतिवादी किस प्रकार के राष्ट्र का निर्माण करना चाहता है यह वास्तव में जटिल प्रश्न है। पर कहना होगा सोशलिज़्म, प्रजातंत्र या और कुछ, इन सबके भीतर उसकी एक मात्र धारणा उस राष्ट्रीयता की तरफ़ है जो विश्वबन्धुत्व उदार-मानवता की ओर हो। संकुचित राष्ट्रीयता कभी भी पूर्ण रूप से शान्ति नहीं दे सकती।

कुछ लोग कहते हैं, सब प्रकार की दासता, समाजगत बन्धनों को तोड़कर सर्वथा स्वतंत्र या दूसरे शब्दों में उच्छृंखल हो जाने का नाम ही प्रगतिवादी होना है। यह मैं कल्पना से नहीं प्रामाणिक कहे जानेवाले प्रगतिशील लोगों के कथनानुसार ही लिख रहा हूँ। ऐसे लोग ईश्वर, धर्म, जाति, वर्ण, समाज सभी प्रकार के बन्धनों को छिन्न करके आगे बढ़ने को प्रगतिवाद कहते हैं। ठीक है जहाँ तक अध्यात्म, विचार का संबन्ध है वहाँ प्रत्येक व्यक्ति यह सब मानने न मानने के लिए स्वतंत्र है, वह आस्तिक रहे या नास्तिक। यह तो उस विचारधारा से संबन्ध रखता है जिसका समाज पर प्रत्यक्ष कोई फल नहीं पड़ता, किन्तु जिस वस्तु या विचार से समाज पर उसका सीधा असर पड़ता है वह किस तरह एक हुंकार से उड़ा देने की चीज़ हो सकती है, यह मैं नहीं जानता। मान लीजिए एक व्यक्ति शादी न करके किसी स्त्री से अपना यौन सम्बन्ध स्थिर करता है और इच्छा करते ही उसे त्यागकर दूसरी की खोज में निकलता है। इस प्रकार दूसरी, तीसरी, चौथी यहाँ तक स्त्री पुरुष सभी इस तरह बन्धनहीन होकर बढ़ते चलते हैं तो समाज पर उसका क्या प्रभाव होगा ? समाज एक प्रकार से विशृङ्खलित हो उठेगा। स्थिरता का लोप हो जायगा और उस नग्न विलास से उत्पन्न संतानों की मानसिक चेतना, बौद्धिक विकास कितना विकृत और नपुंसक हो जायगा, यह सोचने से भी प्राण सिहर उठते हैं। प्रेम या विषयवासना को निर्विघ्न खुलकर खेलने देने को मैं प्रगतिवाद हर्गिज नहीं कह सकता। प्रत्येक गति, प्रत्येक विचारधारा जो हमारे समाज को शुद्ध बना सके, हमारी राष्ट्रीयता में सहायक हो सके वही प्रगतिवादी दृष्टिकोण है। इसीलिए प्रगतिवाद के नाम पर जो लोग अश्लीलता का प्रचार करते हैं वे न तो उसके द्वारा क्रान्ति ही कर सकते हैं और नग्न अश्लील यथार्थवाद का विज्ञापन करके देश या साहित्य का कल्याण ही कर सकते हैं। उनमें से कुछ तो अपनी निकृष्ट प्रतिभा के बल पर साहित्य में चमत्कार पैदा करने की धुन में हैं और कुछ गतानुगतिक विक्रियाशील धुँधले विचारवाले।

साहित्य के दृष्टिकोण में परिवर्तन होना चाहिए। उसके पुराने बन्धन भी टूटने चाहिए जिससे उसकी प्रगति में, शैली में, विवेचन में, वस्तु विन्यास में बाधा न पड़े। वह उन्मुक्त होकर सबका साहित्य बन सके, जीवन को वास्तव चिरसुखी बना सके। इसलिए प्रगतिवाद हमारे लिए अपेक्षित है। प्रगतिवाद ध्येय होकर नहीं साधन रूप से हमारा बने तो मैं समझता हूँ प्रगतिवाद आज के युग के लिए अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य भी है।

जीवन के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण होने से ही प्रगतिवादी साहित्य ठीक-ठीक दिशा निर्देश कर सकता है। जीवन में रूप और अपरूप, सुन्दर और असुन्दर सभी हैं। यथार्थवादी का विचार जीवन की समस्याओं के नग्न और सुन्दर दोनों रूपों को दिखाने में यही होना चाहिये कि वह अपरूप दर्शन द्वारा पाठक एवं समाज में उसके प्रति विराग और अपरूप की जड़ खोद डालने के लिए समाज में एक प्रकार की बेचैनी पैदा कर सके। वह पाठक और दर्शक को इतना उद्विग्न बना दे कि वह यथार्थ के द्वारा भविष्य में उससे बच सके। यदि यथार्थ कला से सजकर कुरुचि

उत्पन्न करता है तो लेखक यथार्थ दर्शन में समाज के लिए अहित की सृष्टि करता है। प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि यथार्थ से केवल इतना ही अभिप्रेत है।

इतना सब होते हुए भी एक बात स्पष्ट है कि बहुत कम हितकर औषधियाँ मीठी होती हैं। इसी तरह प्रगतिवाद का साहित्य कला की दृष्टि में उतना व्यापक नहीं हो सकता जितना रोमान्सवादी, आदर्शवादी साहित्य। वह तो समाज के लिए एक नश्तर है और नश्तर चमकीला सुन्दर होते हुए भी आकर्षक नहीं हो सकता।

युग की परम्परा के साथ प्रगतिवादी साहित्य मानवता की उन्नति के लिए एक निश्चित गति निर्देशक है इसीलिए वह उतना आकर्षक नहीं हो पाता जितना विवेक को गौण रखकर हृदय के रस से पलने वाला अन्य प्रकार का साहित्य। सड़क सुन्दर होते हुए भी लक्ष्य पर पहुँच कर उसमें निवास देने वाले मकान का मुकाबिला नहीं कर सकती, जहाँ हम रहते हैं, खाते हैं, लिखते हैं और अधिकांश जीवन बिता देते हैं। फिर भी इतना मानना पड़ेगा कि प्रगतिशील साहित्य में मस्तिष्क का अंश अधिक होगा भावुकता का कम। प्रगतिवाद हमारे मस्तक, रूढ़ियों, अन्ध विश्वासों, कुसंस्कारों पर चोट करने के कारण ही आज के युग की सबसे अभिनंदनीय वस्तु है जिससे कोई मननशील प्राणी मुँह नहीं मोड़ सकता।

[उपेन्द्रनाथ अश्क]

मानव सदैव यह चाहता है कि उसकी बनाई हुई वस्तुएँ, संस्थाएँ, रस्म रिवाज सदा के लिये क़ायम रहें, पर संसार में स्थायित्व जिस चीज़ को प्राप्त है वह तो केवल परिवर्तन है। प्रगति, परिवर्तन ही का दूसरा नाम है और यही वास्तव में जीवन है।

अपनी परिस्थितियों के अनुसार सदा से इंसान अच्छे से अच्छे उसूल बनाता, अच्छी संस्थाएँ स्थापित करता और अच्छे से अच्छे रस्म-रिवाज चलाता आ रहा है। कालान्तर में, किन्तु, वे सब अपूर्ण साबित होते आ रहे हैं और उसके बाद आने वाले उसके पूर्ण सिद्धान्तों, रस्मों और रिवाजों को अपूर्ण करार देकर; उनमें परिवर्तन कर अथवा उनका उन्मूलन कर, उनके स्थान पर नये सिद्धान्त, नयी संस्थाएँ, नये रस्म-रिवाज क़ायम करते आए हैं, यही परिवर्तन, यही गति जीवन को जीवन बनाती है। यदि यह गति न हो तो जीवन मृत्यु बन जाए; नवल, निर्मल, स्वच्छ जल की अविरल धारा न होकर बँधे, रुके, सड़े पानी का जौहड़ रह जाए।

जीवन और प्रगति मेरे नजदीक पर्यायवाची शब्द हैं। प्रगति क्यों? जो व्यक्ति यह प्रश्न करता है वह वास्तव में यह पूछता है—जीवन क्यों?

और यह प्रश्न, जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है इस एक बिन्दु पर आकर केन्द्रित हो जाता है कि साहित्य को जीवन से सम्बन्ध रखना चाहिए या नहीं? इस विषय पर पहले ही बहुत वाद-विवाद हो चुका है और अब यह बताना कि आज के संघर्ष-मय युग में साहित्य को जीवन से पृथक् नहीं रखा जा सकता समय नष्ट करने के बराबर है, आज के युग में जब हम इस महान् हलचल का अंग हैं और जो कुछ भी कहीं होता है उसका प्रभाव हमारे मन और मस्तिष्क पर पड़े बिना नहीं रहता जीवन से दूर, किसी सपनों के संसार में रहना न तो सम्भव ही है और न श्रेयस्कर ही। और मेरे विचार में तो जो भी साहित्यिक सजग होगा अवश्य ही प्रगतिवादी होगा, यद्यपि प्रगतिवादी साहित्यिक मेरे नज़दीक वही साहित्यिक नहीं जो किसान, मज़दूर, बेकार अथवा विपन्न की दशा ही का चित्रण करता है, वरन् जो भी नवीन को अपने साहित्य की परिधि में लाता है। पुरानी लीक से जो भी परे होकर चलता है, अपने आस पास की दशा का जो भी गहरा अध्ययन करता है, समय की कुरीतियों तथा विषमताओं पर जो भी तीव्र प्रहार करता है और अपने आपको समझने में जो भी हमारी सहायता करता है वही प्रगतिवादी है।

ऐसे प्रगतिवादी साहित्यिक की आवश्यकता आज ही नहीं, सदैव रही है और सदैव रहेगी।

एक प्रगतिशील बँगला कहानी

चूहे

[सोमेन चन्द]

हमारे घर में चूहे इतने बढ़ गये कि कुछ कहा नहीं जाता। उनकी ढिठाई देख कर ताज्जुब होता था। आँखों के सामने ही लड़ाई के मैदान में होशियारी से आगे बढ़नेवाली फौज की तरह ही वे घूमते फिरते थे, दीवार और फर्श के कोनों में तड़ तड़ कर भागदौड़ करते फिरते। जब उस निर्दिष्ट मार्ग में कोई बाधा आ पड़ती, अर्थात् कोई सन्दूक़ या कोई भारी चीज़ उस जगह रास्ते में रखी होती तो अचानक खुट से कूद कर वह चले जाते। रात में तो और भी खौफ़नाक हो जाते। इस खास वक्त में तो उनकी कारगुज़ारी हमारी आँखों आगे जैसे बूढ़े को अँगूठा दिखाकर शुरू हो जाती। घर में कई टूटे मिट्टी के तेल के सन्दूक़, एक बहुत पुराना तेल का टीन, कुछ टूटे पीढ़े और कुछ टूटी मिट्टी की चीज़ें हैं, वहाँ से लगातार खुट् खुट् टन् टन् आदि तरह तरह के शब्द आते रहते। उस समय यह अनुमान लगाना बाकी नहीं रह जाता कि उस तेल के लकड़ी के सन्दूक़ पर इस समय अपदार्थ-जीव, कुबड़ों की रात की सभा जुड़ी हो।

कुछ भी हो, मैं उनसे परेशान हो गया था, मेरी आँखें कपार पर चढ़ गयीं। सोचता हूँ कि उनपर हमला करने के लिये कोई हथियार पास होने पर भी ठीक जगह अभी भी काम क्यों नहीं आता? चूहे मारने की एक कल खरीदने का भी पैसा नहीं है? मुझे ताज्जुब नहीं होता, और हो भी नहीं सकता।

पर मेरी माँ चूहे से बड़ा डरतीं। उनके लिये चूहे का बच्चा भी भालू के बराबर होता। पैर के पास से निकल जाने पर वह उससे चार हाथ दूर भागतीं। चूहे की गन्ध से ही वह घबरा जातीं और जितना ही वह उनसे डरतीं उतना ही घृणा भी करतीं। कितने ही और लोग भी ऐसे होते हैं। मैं तो एक ऐसे आदमी को जानता हूँ केचुवा देखकर ही जिसके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इसके सिवा एक और आदमी है जो मकड़ी देखकर ही बेहद डर जाता है। खुद मुझे जोंक देख कर बड़ा डर लगता है। बचपन में जब मैं गाय की तरह सीधा और अनजान था तो अक्सर मामा के घर जाया करता था; और खासकर बढ़ी बरसात के मौसम में। उस समय समुद्र से विस्तृत दलदल में होकर जाते बरसात के पानी की गन्ध से हमारा दिल भर आता था। छत से बाहर आकर पानी का असीम विस्तार देख मैं टकटकी लगाकर चुपचाप देखता रह जाता, हाथ के पास ही कुईं का फूल पा निर्भय भाव से खींच कर तोड़ लेता। कभी पानी में हाथ डुबा देता, लेकिन तभी मन में होता मानो किसी ने काट लिया —और डर के मारे हाथ खींच लेता। वहाँ जाकर मैं जिनके साथ मिलता जुलता वह हमारी बराबरी के नहीं हैं ऐसा एतराज़ करने का कोई सबब नहीं था, और फिर इस तरह की कोई आपत्ति, आशंका या प्रश्न कभी मेरे मन में नहीं उठा।

उस बचपन के समय के दोस्त मैदान में जानवर चराते। उनके सर के बाल सेवार की तरह बड़े और लाल थे, बदन का रंग बादामी, आँख का रंग भी वैसा ही, पैर अजीब पतले पतले और बीच में कमान की तरह टेढ़े, कपड़ों में एक गमछा, हाथ में एक बाँस की लाठी, अँगुलियाँ लाठी की रगड़ से सख्त हो गयी थीं। उनका मुँह ऐसा भद्दा और बर्ताव ऐसा अश्लील था कि मुझमें जो सुप्त यौनज्ञान था वह बहुधा उत्तेजित हो जाता और मैं अपनी श्रेणी के संस्कार के कारण उसे मुँह से प्रकट न कर पाता। वह मेरा मज़ाक बनाते और मैं शर्म से लाल पड़ जाता। उनमें भीम नाम का एक आदमी था। वह एक दिन मैदान में के नये पानी में से एक बड़ी भारी जोंक हाथ में उठा मेरी ओर ताक कर हँसते हँसते बोला, सुकू फेंक कर तुझे मारूँगा?

मैं उसकी हिम्मत देखकर दंग रह गया। डर के मारे मेरे रोंगटे खड़े हो गये। अक्लमन्द की तरह आहिस्ता आहिस्ता दूर जाकर बोला, 'देख भीम, कहे देता हूँ ठीक नहीं होगा, हाँ ठीक नहीं होगा! मज़ाक नहीं।'

भीम ही ही कर बेवकूफ की तरह हँसते हँसते बोला, 'यह फेंका, फेंका—'

उस दिन की बात आज भी याद आती है। भीम की हिम्मत की बात भी ताज्जुब लगती है। बहुतों का ऐसा स्वभाव होता है—बहुत से केंचुवा देखकर डरते हैं। मैं केंचुवा देखकर तो नहीं डरता सही, पर जोंक देख कर डर से काँप उठता हूँ। इस सब छोटे मोटे डर की जड़ में बोर्जुआ रहन सहन का कोई प्रभाव है या नहीं यह नहीं कह सकता।

यह बात पहले ही कह चुका हूँ—कि मेरी माँ भी चूहे को देखकर बहुत डर जाती हैं। उस वक्त उनको सँभालना ही मुश्किल हो जाता है। चूहा कपड़ा कुतर देगा उधर नज़र न डाल कर उसका ही ज्यादा ध्यान रहेगा। मालूम नहीं किस तरह एक बार उनके ही एक कपड़े के नीचे एक चूहा फँस गया। वह रह रह कर भागने की कोशिश करता, फैले हुए कपड़े के ऊपर उसका यह प्रयास साफ दिखाई पड़ता। माँ पाँच हाथ दूर जाकर गला फाड़ कर बोली, 'सुकू, सुकू!'

पहली पुकार पर जवाब न देने की मेरी आदत थी। इसीलिये जवाब दे दिया है यह सोचकर चुप रहा।

'सुकू? सुकू?'

इस बार जवाब दिया, 'क्यों?'

माँ ने हल्दी पीसने के सिल से रंगे हाथों कपड़े की ओर इशारा करते आँख फाड़कर कहा—यह देख!

मैं चिढ़ गया। चूहे के डर से जान निकल रही होगी, और क्या! इतने चूहे क्यों हैं! मैं ही क्या ऐसा सख्त हूँ? कपड़े बटोर कर रखते रखते माँ चिल्ला उठीं, 'ओहो, पकड़, वह पकड़, वह पकड़।'

'खा तो नहीं आयगा!'

'अहा, बहादुरी तो दिखाना ही चाहिये।'

'माँ, तुम तो डरपोक हो !—चूहा तो बराबर भागने की कोशिश कर रहा था। अच्छा माँ, बाबू से एक कल लाने को नहीं कह सकती हो ? किसी दिन देखोगी कि हमको भी काटना शुरू कर देगा।'

'आहा मारने से क्या होगा ? बेचारा बोल तो सकता नहीं। फिर कल लाने के लिये पैसे भी कहाँ से मिलेंगे ?' माँ के गले की आवाज़ कुछ कातर नहीं हुई, किसी ख़ास बात कहने में भी उनके गले की आवाज़ ऐसी ही अकातर रहती है और अत्यन्त संक्षेप में रुक जाती है। रुकने के बाद वह एक मिनिट भी वहाँ नहीं रुकतीं। वह वैसे ही चली गयीं।

चूहा मारने की एक कल में पैसा लगेगा, यह पहले मेरे ध्यान में नहीं आया था नहीं तो मैं न कहता। क्योंकि इस तरह की बात से एक ऐसी विशेष अवस्था का चित्र मन में जाग उठता है जो केवल एक असीम मरुभूमि की तरह है। मरुभूमि में भी अक्सर पानी मिल जाता है, किन्तु इस मरुभूमि में पानी मिलेगा ऐसी आशा नहीं। इस मरुभूमि का इतिहास मुझसे छिपा नहीं है। मेरे पैर के नीचे जो कंकड़ी दबी थी, जो बालू के कण आस-पास बिखरे थे, वह चुपचाप उस इतिहास को कहते रहते। मैं ध्यान से सुना करता।

होश आने के बाद से अठारह बरस तक बहुत कुछ स्पष्ट सोचता, किन्तु स्पष्ट भावना मस्तिष्क के हाट में कभी बिकती नहीं। ईश्वर के प्रति सन्देह और विश्वास, दोनों ही प्रचुर थे, उसी ईश्वर को कृष्ण नाम से पुकारा था, हे कृष्ण, इस पृथ्वी पर सबको ही बड़ा आदमी कर सकूँ ऐसा वरदान मुझे दो। रवीन्द्रनाथ की परशमणि कविता पढ़कर सोचा था, यदि कहीं एक पारस पत्थर मिल जाता। साथ ही कितने लोगों से सचमुच पूछा भी 'अच्छा आजकल भी लोगों को पारस पत्थर मिलता है ? कहाँ मिलता है बताओगे ?'

जब मैं छोटा था उस समय भी हमारे बड़े परिवार के लोगों की निर्मल देह पर गरीबी की ज़रा भी छाया नहीं पड़ी थी। बोर्जुआ राज के मिटने के दिन उस समय भी व्यापक रूप से शुरू नहीं हो पाये थे। शुरू न होने से मेरा मतलब है कि उस समय भी कितने ही पिता अपने बढ़े हुये मानस गगन में अपने बच्चों के भविष्य का ख़याल कर गंभीर चिन्ता नहीं करते थे।

मेरे सहारे के लिये कम आशा थी और अब उस आशा की शाखा प्रशाखायें कहाँ रहीं ? मुझे यह कहने में दुविधा नहीं है कि वह सब शाखा प्रशाखा फैलीं तो नहीं लेकिन मिट्टी में ही दबी रह गयीं। एक यही सुविधा रही कि पारिवारिक स्वेच्छाचारिता के जन्तु से रिहाई मिल गयी, मुझे ज़रा सबसे अलग रहने को मिल गया।

किन्तु अलग रहना चाहने से ही क्या रहा जाता है ! क्या चूहे मुझे पागल न बना देंगे ? रोज़ ही मैं देखता कि किसी किरासिन के काठ के बक्स या टूटे टीन में घुस कर वे बराबर टुन् टुन् करते रहते, हलकी होने पर भी अविरत ऐसी आवाज़ करते रहते कि थोड़ी ही देर के बाद वह भद्दे संगीत का रूप धारण कर लेती और साथ-साथ मेरी ही क्या बहुतों की विरक्ति का कारण बन जाती। कोई कुत्ता जब धीरे-धीरे

पें-पें कर रोता रहता, तब उसे कोई सहन नहीं कर सकता। कम से कम मैं तो नहीं कर सकता। ऐसा होता है कि जब कोई भद्दा शब्द भद्दे संगीत की शकल का हो जाता है तो वह असह्य हो ही जाता है। चूहों की कारगुज़ारी भी मेरे नज़दीक वैसी ही विरक्ति का कारण हो गई थी।

फिर एक दिन माँ चीखकर पुकार उठी, 'सुकू ! सुकू !'

कह चुका हूँ कि पहले पुकारने पर जवाब देने की कठिन मुस्तैदी मुझ में नहीं है।

माँ ने फिर आर्त-स्वर में पुकारा, 'सुकू।'

फिर तीसरी पुकार की राह न देख अपने को बाकायदा माँ के पास ले जाकर उनकी उँगली के इशारे से जो देखा उससे विस्मित होने का कारण होने पर भी मैं विस्मित नहीं हुआ। देखा हमारे ज़रा से दूध के बर्तन मुँह बाये हमारी ओर देख रहे हैं और उसके पास से ही एक सफेद रास्ता बनाकर एक बड़ा चूहा तेज़ी से चला गया। यहाँ पर एक बात कह देता हूँ, कोई खास खबर सुनकर कुछ विशेष उत्तेजना या भाव दिखाना मेरी आदत में नहीं है, ऐसा बार-बार प्रमाणित हो गया है। इसीलिये यहाँ भी उसका अभिनय नहीं होगा यह बात कहना अनावश्यक है। देखा कि मेरी माँ का पतला कोमल मुँह एक तरह के बड़े भारी शोक में किस तरह पीला पड़ गया। दोनों आँखें गाय की आँखों की तरह करुण हो गयी थीं, और मानो कमलपत्र पर कुछ जलबिन्दु झलझला आये हों,—मानो अभी रो पड़ेंगी। दूध अगर विशेष खाद्य है और अगर वह अपने आर्थिक कारणों से दुर्लभ हो जाय और किसी कारण से खाने के क़ाबिल न रह जाय तो अकस्मात् रोना बहुत ताज्जुब की बात नहीं है। माँ इस तरह रो पड़ीं और मैं चुप खड़ा रहा कि ऐसी हालत में चुप-चाप खड़े रहने के सिवा कोई उपाय ही नहीं।

माँ के बच्चों की तरह बिसुक-बिसुक कर रोने और सुबुक सुबुक कर बात करने से मेरा दृष्टिपथ बहुत दूर तक फैल गया और मैं अत्यन्त गंभीर हो उठा। मुझे लगा कि आसमान में मध्याह्न का सूर्य खूब अग्निवर्षा कर रहा है, नीचे पृथ्वी के धूलिकण और भी अधिक आग बरसा रहे हैं। मेरे हृदय का खेत भी दहक-दहक कर खाक हो गया। ज़रा-सा भी नीला टुकड़ा नहीं दिखाई पड़ता, दूर तक पानी का नामोनिशान नहीं, पानी की एक लकीर भी नहीं, मरीचिका ने धोखा दे दिया। सोचने लगा कि स्वामी विवेकानन्द की अमूल्य ग्रन्थराशि कहाँ मिल सकेगी। श्री रामकृष्ण की उपदेशावली अमूल्य है। समग्र मानवसमाज के कल्याणव्रती श्री अरविन्द पृथ्वी के अनन्य महापुरुष थे। (उस समय यह नहीं सोचता था कि दूसरा साम्राज्यवादी युद्ध भी कभी शुरू होगा !) मेरी मुखाकृति चिन्ताकुल हो गयी, दोनों घुटने पेट के पास लाकर कुत्ते की तरह लेटकर सोचने लगा—अच्छी तरह सोचने के लिये घर के दरवाज़े बन्द कर लिये। सोचने लगा, कोई ऐसी तरकीब नहीं है जिससे इस रोग से छुटकारा मिले ?

शाम के बाद बाबा आये और खबर सुन कर ऐसा भाव नहीं दिखाया जिससे मालूम पड़े कि वह घबड़ा गये हों या कुछ दुखित हुये हों। इसके खिलाफ जल्दी

जल्दी बात करने की आदत न होते हुए भी उन्होंने जल्दी जल्दी कहना शुरू किया, 'खूब हुआ खूब ! मैंने पहले ही सोचा था कि ऐसा ही कुछ होगा। अरे, आदमी की जान के लिये ही आफत, दूध पीकर क्या होगा बताओ।'

मैंने देखा कि बाबा का मुँह सूखा रहने पर भी पसीने से भरा था, बदन पर के भीगे कुरते ने घर भर में गन्ध फैला रखी थी। इस तरह की गड़बड़ में भी उनका भाव दुरुस्त-सा देखकर मैं आश्वस्त हुआ। यह सोचकर कि जो नुक़सान हो गया वह तो हो ही गया, उनकी आलोचना से एक ऐसी अवस्था जिससे सिवा आफ़त के और कुछ न होता, उससे तो छुटकारा मिल गया, अब जल्दी ही मेरी मानसिक अवनति नहीं होगी।

किन्तु बाबा ने कुछ देर बाद ही स्वर बदला—'पा गये ? फुर्ती ही फुर्ती ! दया करके जरा मेरी ओर देखो। मेरा बदन क्या पत्थर का है ? मैं क्या आदमी नहीं हूँ। मैं पिस पिस कर इतना मरता हूँ और तुम उधर फ़ुरती में मस्त ! दुनियाँ की ओर एक बार आँख खोलकर देखो। नहीं तो रहना हो सकेगा ?' बाबा की इस तरह की बात से मुझे बड़ी चोट लगी। मेरे मनमें आया कि इस तरह की बात के पीछे बड़ा गुस्सा है।

समय के बीतने के साथ ही स्वर की गरमी भी बढ़ती गयी। मैं घबड़ा गया। इसके कुछ मिनट बाद ही इस कठिन गर्म आबहवा का जो हाल होगा उससे मेरी लज्जा की हद न रहेगी। इस तरह की हालत से मेरा बहुत बार का परिचय रहने पर भी मेरे शरीर का चमड़ा मोटा नहीं हो गया वरन् भय का कारण और बढ़ गया।

दुनिया के साथ जो मेरा परिचय है बीच बीच उसकी व्यर्थता की वेदना का कारण नग्नता के दृश्य से और भी ज्यादा बढ़ जाता था। बाबूजी बोले, "कह दिया बहस मत करो। यहाँ से चले जाओ, मेरे सामने से हट जाओ, कह रहा हूँ दूर हो जाओ।"

माँ बोल उठीं, "इतना बढ़ना अच्छा नहीं। चिल्लाकर दुनिया भर को अपनी अकलमन्दी जता रहे हो, बड़ा नाम होगा।"

इसके बाद सुनाई पड़ा कि बाबा के गले का स्वर रात की निस्तब्धता भंग कर बम की तरह फट पड़ा। तुम जाओ। यहाँ से जाओगी या नहीं ? मेरी आँख के आगे से हटो ? शैतान कहीं की, डायन.........! बाबा बड़ बड़ करके और भी जाने क्या क्या कहते रहे पर मैंने कान बन्द कर लिये। तकिये में मुँह छिपा कर मुर्दे सा पड़ रहा। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। आफत में पलने पर भी मेरे मन के शिशु ने जन्म से जो शिक्षा पायी उसमें इस तरह की कोई बात नहीं थी। मालूम पड़ा कि आज पहले पहल प्रतिकूलता ने प्रहरी लेकर मेरे दरवाज़े की नीव को हिला दिया हो।

इसके पहले ऐसा न तो देखा और न सुना था। फिर भी मुझे अनुभूति की यह शिक्षा कहाँ से मिली। मैं कह सकता हूँ कि मेरी यह शिक्षा बहुत चुपचाप पैदा हुई थी, मिट्टी की जमीन में से उसने इस तरह रस लिया था कि जरा भी शब्द न हुआ। फूल की सुगन्धि जिस तरह अपनी पँखुड़ियों से निःशब्द उड़ती है उसी तरह उसकी आँखों के दोनों पलकों ने इस अद्भुत खेल का आयोजन नहीं किया था।

और भी यह कह सकता हूँ कि मेरे मन के शिशु के बचे रहने या बड़े होने का इतिहास यदि मालूम करना हो तो फूल के साथ ही तुलना करना होगा। किन्तु उस शिक्षा ने आज कहाँ काम दिया? यह तो निकम्मेपन का दूसरा नाम हो गया। मेरे कमजोर शरीर के दोनों हाथ काट कर पानी में डुबो दिया। दोनों आँखों को डबडबा कर कुछ देर के लिये अंधा कर दिया। मैं क्या करूँ? मुझे क्या करना चाहिये?

'शैतान, डाइन, जा निकल जा।'

वह अजीब बात फिर चमक उठी। न चाहने पर भी यह सब सुनना पड़ता है। हवा के साथ वह ज़बर्दस्ती कान में घुसेगी, मेरी कमजोरी से फ़ायदा उठा कर मेरे मन की मिट्टी पर ज़ोर से डंडा मारेगी।

'कह दिया जा।'

गोपाल और भी आगे बढ़ गया।

कुछ देर बाद माँ ने रुँधे गले से पुकारा 'सुकू! सुकू!' उस समय ही जवाब देने में शर्म आयी, डर हुआ, फिर भी धीरे से बोला, 'कहो?'

माँ ने कहा, दरवाज़ा खोल।

डरते डरते दरवाज़ा खोल दिया, डर इसलिए हुआ कि इस बार बहुत सी बातों का सामना करना होगा। जिसके सुनने में भी डर लगता है ठीक उसीके सामने एक गंभीर विचारपति होकर सब उत्तेजना को शून्य में विसर्जित कर राय देना होगा।

लेकिन जो सोचा था वह फिर नहीं हुआ। माँ घर में घुस ठंढे फ़र्श पर आँचल बिछा कर लेट गयी। ढका हुआ पतला शरीर मुड़कर, हँसिये की तरह हो गया। वह कैसा असहाय दिखाई देता था। छुटपन में जिसे पृथ्वी के समान विशाल सोचा था वह इस समय कितना क्षीण और असहाय मालूम पड़ता था। जिसको वृह-त्तम सोचा था वही इस समय कितना क्षुद्र है, ऐसा मालूम होता था कि उसने अभी भी बचपन पार नहीं कर पाया। और मैं खून की तेज़ी से, मांसपेशी की दृढ़ता से कितना बड़ा, एक एक क़दम रखने में कितना उज्ज्वल और बड़ा हूँ, हिरनी की तरह इस भीरु छोटी सी देह का रक्त पान कर जीवन पाने पर भी आज मैं कितना शक्तिशाली हूँ। मुझे कोई जानता है? ऐसा भी तो हो सकता था कि आज लन्दन की किसी इतिहास प्रसिद्ध यूनिवर्सिटी के कॅरिडर में बीस वर्ष का युवक सुकुमार गंभीर चिन्ता में टहलता रहता, अथवा खेल के मैदान में काफी नाम पैदा कर सब सहपाठियों की नज़रों को आकर्षित करता, या तीस बरस की किसी नीलनयना शुद्ध अंग्रेज़ महिला की धीर गंभीर चाल का भीरु के समान अनुसरण कर एक दिन उसके देह की छाया में बैठकर प्रेम याचना करता! ऐसा तो हो सकता था, तब सुनहली बाल, घनी पक्ष्मराजि से ढँके नेत्र, देह का सौरभ—आहा वह अंग्रेज़ महिला कौन है?—आज वह कहाँ है।—और वही स्वर्णाभि राजकुमार सुकुमार की माँ इस ठंढे फ़र्श पर मामूली कपड़ा बिछाकर सोये? यहाँ से कितना छोटा और असहाय

दिखायी पड़ा। एक व्यर्थ के गर्व में छाती फुलाकर मैंने एक बार माँ की ओर देखा। पुकारा, मा? ओ मा?

कोई जवाब नहीं। गंभीर निस्तब्धता को छोड़कर किसी भग्न नारी कण्ठ ने मेरे कान कान का परदा खोलकर आघात किया ही नहीं। सो तो नही गयीं!

दूसरे दिन भी वातावरण की गंभीरता कुछ कम न हुई। माँ की इस तरह की चुप्पी देखकर मेरे छोटे भाई बहन काफ़ी सहमें दिखाई पड़ते थे। वह नंगे बदन इधर उधर घूमने लगे। स्कूलहीन मेरी छोटी बहन अपने रोज़ाना के अभ्यास के अनुसार प्रेम कुसुमास्तीर्ण नामक एक बड़ा उपन्यास लेकर बैठी। उसे दूसरी ओर देखने का मौक़ा ही नहीं रहता। उस दिन बहुत रात तक सारा घर घने धुएँ से भर गया, सबके नाक और मुँह से पानी बहने लगा, दम घुटने लगा। छोटे भाई बहन को नंगी ज़मीन पर पड़े सोते देख रसोई में जाकर मा से पूछा, मा अभी तक खाना नहीं हुआ?

भीगी आँखों से और चूल्हे में भरसक फूँक मारते मारते मां ने कहा, 'अभी चढ़ा रही हूँ।'

'इतनी देर क्यों हुई?'

मां चुप रही।

समझ गया। वह पुराना रोग है। समझ गया कि चाहने पर भी इस चीज़ से छुटकारा नही मिल सकता–घूम फिर कर आँख के सामने आ ही जाता है। फन्दा काटने की इच्छा करने पर हाथ दाब लेती है, किसी तरह टालने पर भी हाथ ऊँचा कर पुकारती।

इस चीख़ पुकार के इतिहास को अगर शुरू से आखीर तक लिखा जाय तो ज़िन्दगी भर लिखने पर भी समाप्त न हो सकेगा, कोई भी समाप्त नहीं कर सकेगा। उससे कितने ही एक तरह के चित्र मिल जायंगे और सुरुचिपूर्ण पाठकों के विरक्ति भाजन बनेंगे। मैं तो पाठकों को जानता हूँ। उनका मनोरंजन करने में रोने धोने की मूर्खता से काम न चलेगा, या कुछ लिखकर भी रुपये पैसे का हिसाब होशियारी से बचाना होगा या हँसी खुशी लेना होगा। जैसा मेरे बाबा अक्सर करते हैं—काफी अभाव के चित्र पर भी एक दार्शनिक की तरह सिर तिरछा कर हँसते रहते हैं। या फिर जिस तरह हमारे मुहल्ले के बड़ी मूंछ वाले रक्षित महाशय कहते हैं कि घर में दुबली पतली स्त्री और लड़के बच्चों के झुंड को भूखा रखकर भी गली कूचों में राजा वज़ीर मार आते हैं या हमारे प्रेस का नौकर मदन खाली दिन को उपवास का दिन गिनता है, कभी पद्मासन लगा आँख बन्द कर दोनों कठोर लम्बे हाथों से छाती दबाते दबाते ईश्वर को सशरीर बुला लाता है। ऐसा ही होता है। इसके सिवा और उपाय ही क्या है? स्वर्ग का रास्ता रुकने पर आधे रास्ते मेंआकर रुके रहते हैं, जीवन को मुट्ठी में पाकर भी उसकी काफी लापरवाही करते रहते हैं, प्रकृति की चपेट से डाक्टर की बदनामी करते हैं, अथवा ऊर्ध्वबाहु संन्यासी होकर ईश्वर की आराधना करते हैं। यह सब देखकर एक दिन मैंने निश्चय किया कि दुख के समुद्र में अगर कोई गले तक डूबा रहे तो वह मध्यवर्ग का है। मध्यवर्ग नाम लेने से जिनकी जीभ में पानी आ जाता है उस दिन मैं उनमें से ही एक हो गया था। अपने दोस्त को धुआँधार रहस्यमय भाषा में

चिट्ठी लिखी, "यह कौन हैं जानते हो? यह लोग संसार की श्रेष्ठ सन्तान अवश्य हैं पर बिना खाये मरते हैं। जो फूल बिना आदर पाये सूखकर मिट्टी में झड़ कर गिर जाता है यह लोग वैसे ही हैं। यह लोग बाग़ लगाते हैं पर फूल की शोभा नहीं देखते। पेट में काफी सुइयाँ गड़ा करती हैं पर भिक्षापात्र भी नहीं है। परिहास! परिहास!......" ऐतिहासिक व्याख्या के न जानने पर अपने मन में जो कल्पना का महल उठा लिया था उससे मन ही मन ख़ूब तृप्त हुआ। उपवास से दुबली विधवायें अपनी सक्षम लड़कियों के लिये संसारयात्रा के पथ पर किसी तरह समय बिताती चली जाती हैं। उनके लिये मनमें करुणा आनेपर उनकी मन ही मन और ज्यादा पूजा करने लगा।

किन्तु वह सब क्षणिक व्यापार था। शरद के मेघ की तरह जैसे आया वैसे चला गया, दिमाग में थोड़ी सी जगह जरूर पा सका पर उसे ज्यादा दिन रुकने की ठौर न मिली। सोचता हूँ कि आज वह मुझे मुक्ति दे गया नहीं तो एक असम्पूर्ण संकीर्ण पृथ्वी के साथ परिचय रहता। तब वह भावना लेकर मनही मन परितृप्त अवश्य रहती, पर उलटी चाल चलता, एक भीषण प्रतिक्रिया के विष से जर्जरित होता।

ऐसे दिनों एक अलस मध्याह्न में सांघातिक प्रेम में पड़ गया। उस दोपहर को जो अच्छा लगा वह मुँह से कहने से का ी नहीं होगा। उस दिन जितना ही आकाश को देख सका उसकी नीलिमा मन में ऐसी गहरी लगी मानों किसी ने आँखों पर ठंढे पानी का लेप कर दिया हो। भावना के राज्य में टहलते-टहलते मैं उसी दुपहरी को अपने मीमांसा के छोर पर आ पहुँचा और वहीं मेरा दृढ़ विश्वास रहा। आकाश की नीलिमा से दोनों आँखों को सींच कर मुझे चौड़े रास्ते के पास बड़े-बड़े दालानों की पाँत की पाँत दिखाई पड़ी। उनके प्रत्येक कमरे में स्वस्थ, सबल मनुष्यों के पैरों की चाप, सीढ़ियों पर तरह-तरह के जूतों की आवाज़। स्त्री पुरुषों की मिली हुई आवाज़ें, पृथ्वी के रास्तों पर बलिष्ठ-निश्वास बलिष्ठ दरवाज़ों पर टकराती, बलिष्ठ मानव सृष्टि करती है, मुझे बिजली और टेलिग्राफ के तारों का जङ्गल दिखाई पड़ा, मैदान पर मैदान लाँघता बे-रोक टोक ज़मीन को तोड़ता फाड़ता ट्रैक्टर चलता है, सुनहरी फसल आनन्द के गीत गाती है, मशीनों की घड़घड़ और मनुष्यों की हर्षध्वनि से एक अपूर्व संगीत उत्पन्न हुआ। एक समय जो हवा मिट्टी के पुतले—आदमी—का उपहास कर ऊँची हँसी में ठठाकर हँसी थी, वही हवा आज पेड़ के पत्ते पत्ते पर ताली बजा रही है। कोई उसे सुन सकता है? जो सुनते हैं उन्हें नमस्कार है। वही अलस मध्याह्न हृदय में मधुरतम हो गया। देखा एक नंगा बालक रास्ते में बैठा ईंटे का टुकड़ा लिये बड़े मनोयोग पूर्वक लिख रहा है। किसी घर से पकती मछली की बड़ी बू आ रही है, इस असमय में संगीत के प्यासे का हारमोनियम के सुर म मिला बेसुरे गले का गाना सुनाई पड़ता है, प्रचण्ड घाम होने पर भी ख़ूब हवा चल रही है और घर की कोई दुलहिन रास्ते के नल पर अभी-अभी नहाकर अपने वक्ष की तीक्ष्णता के प्रदर्शन को काफी अवकाश देकर सिकुड़ी देह लिये घर में घुसी, कारखाने के दो मज़दूर किसी तरह खाना पीना ख़तम कर कोयले से लिपटी देह लिये वापस दौड़ रहे हैं। यह दृश्य

बड़ा मधुर लगा—पर किसी बोर्जुआ चित्रकार के प्राचीन काल के चित्र की तरह नहीं। यह चित्र जैसा सुख देता है वैसा ही दुःख भी देता है। वैज्ञानिक बुद्धि के राज में ज़रा टहल पाया, इसलिये ही मुझे यह स्मरणीय दिन अच्छा लगा, चमत्कारपूर्ण !

फिर रात में चूहों का उत्पात शुरू हुआ। उन्होंने टीन और लकड़ी के बकसों पर फिर धमा-चौकड़ी शुरू कर दी, वीर दर्प में आँखों के आगे घर का फर्श पार करने लगे। कहीं किसी बक्स के भीतर से दुम निकाल कर मजाक उड़ाने लगे।

रसोई बनाकर मा ने सबको बुलाना शुरू किया, ओ मन्टू, छवि, नारू, उठ भाई, उठ !

मन्टू उठकर पूरी ताकत से रोने लगा। छवि अभी तक अपने उपन्यास के ऊपर औंधी पड़ी थी, अब किताब-उताब फेंक आँख बन्द कर सो गयी।

ओ छवि, खाने को आ, खायगी आ !

बार बार पुकारने पर भी छवि ज़रा भी न हिली।

मा ने आहत कण्ठ से कहा, 'बताओ मेरा क्या दोष है ? मेरे ऊपर क्यों ख़फ़ा है ? ग़रीब होकर पैदा.........

माँ की आँखें छलछला आईं, गला काँप गया। मैंने बिगड़ कर कहा,—वह न खाय तो न खाय, तुम उसके लिये ज़िम्मेदार तो नहीं हो ?

आधी रात का हाल और भी ताज्जुब का है।

धीमे गले की आवाज़ से मैं सहसा जाग उठा। सुनाई पड़ा बाबा बड़े धीमे से बुला रहे हैं—कनक, ओ कनक, सो गई ?

बाबा माँ को नाम लेकर बुला रहे हैं ! मन में एक बड़ा आश्चर्य हुआ। मन ही मन बाबा को अपनी अवस्था का सोचा, और उनकी तरफ से खुद ही प्रेम की कल्पना करने लगा। युवक सुकुमार एक दिन अपनी बहू को भी इसी तरह नाम लेकर पुकारेगा। ज़ोर से पुकार कर इसी तरह संगीत से गुँजा देगा।

कनक ? ओ कनक ?

प्रौढ़ा कनकलता ने कुछ देर तक कोई जवाब नहीं दिया, कभी कुनकुनाई, कभी उः आः की। इधर मैं साँस रोके पड़ा रहा। तकिये में मुँह गड़ाये सो जाने की कल्पना करने लगा। शर्म से लाल हो गया, शरीर से पसीने की बाढ़ छुट पड़ी।

उधर आधी रात का चन्द्रमा आकाश में उदय हुआ, पृथ्वी के शरीर पर सफेद मलमल की चादर बिछा दी थी, साथ में शीतल जल के स्रोत के समान हवा लाया। मेरे घर के सामने भिखारी कुत्तों की सामयिक निद्रामयता की एक शीतल निःस्तब्धता छा रही थी। किन्तु बीच बीच में घर की छत पर निद्राहीन बन्दरों की अस्पष्ट कूँ काँ सुनाई पड़ती थी। मध्यरात्रि का प्रहरी हमें कब सुलायगा ?

अन्त को प्रौढ़ा कनकलता की नीरवता भंग हुई। फिर वह अपनी महिमा से उज्ज्वल हो गई। ज़रा सा घूँघट काढ़ धोती को ख़ूब फैला अपने को अच्छी तरह ढँक लिया। उसके बाद किसी अपढ़ नववधू की तरह धीरे धीरे पैर रखती आगे बढ़ीं। अङ्गों के हिलने डुलने से जो संगीत पैदा होता है, उसी संगीत के आइने में

मुझे सब स्पष्ट हो गया। मैंने लक्ष्य किया कि दो जोड़ पैरों की भीरु और स्पष्ट आवाज़ आहिस्ता आहिस्ता हवा के साथ मिली जा रही है।

बहुत रात गये बाबा गुनगुना कर गाने लगे। बड़ा मीठा गला बेला की तरह सुन पड़ता था। उस संगीत क्रीड़ा में प्रकाश के कण और भी स्वच्छ हो उठे, मालूम पड़ता था कि किसी विशाल अट्टालिका की सर्पाकार सीढ़ियों पर घूम घूमकर उस गीत का स्वर पागल की तरह फिर रहा है। शेषरात्रि की हवा अपूर्व स्नेह से मन्थर हो चली है। एक कौआ बोल उठा। बाबा को गाते पहले भी सुना था, पर आज की तरह सा मधुर और गंभीर स्वर इसके पहले कभी नहीं सुना था। उनके मृदु गंभीर गीत से आज रात मानों पृथ्वी मेरे पास नत होकर आई थी। उसके बाद मैं सो गया।

दूसरे दिन की खुली हँसी से सहसा जाग उठा। उस हँसी के ऐश्वर्य से घर की ईंट ईंट काँप उठी। बाबा ने कहा, "पण्डितजी ओ पण्डितजी, उठिये। और कितना सोते रहेंगे? सवेरे न उठने से कोई बड़ा आदमी हो सकता है? उठिये।"

मैंने बड़ी मुश्किल से आँख मलकर देखा कि कब का सवेरा हो गया। कितनी ही अड़चन होने पर भी बाबा की स्नेह भरी बात पर मैं कभी हँसता नहीं, काफ़ी उमर हो गयी है न, बीस बरस तो पार कर गया।

मसहरी के डंडे खोलते खोलते बाबा बोले, 'पृथ्वी पर जितने ग्रेट मेन देखते हो सबकी ही सबेरे उठने की आदत थी। मेरे बाप माने तुम्हारे दादा की भी वही आदत थी। मैं कितने सबेरे क्यों न उठता, पर उठने पर बैठक में तमाखू खाने की आवाज़ सुनाई पड़ती। ऐसे मेहनती न होने से ज़िन्दगी में इतनी ज़मीन जायदाद इतना रुपया पैसा जमा कर सके! पर उठो पण्डित जी, जो नींद छोड़ने में देरी करते हैं वह जीवन में कभी उन्नति नहीं कर सकते।'

इतना बड़प्पन सहा नहीं जाता, ज़िन्दगी भर में एक दिन सबेरे उठकर ही घर भर को सर पर उठा लिया।

सारा घर ख़ुशी में भर गया। उधर मण्टू सैलून में बाल कटाने के लिये पैसे माँग रहा था, घंटे भर के बाद भी पैसा न पाने पर फर्श पर पछाड़ खाकर ऊँचे स्वर में रोयेगा। नारू चुने चुने वाक्यों की वर्षा कर सबके मनोरंजन की कोशिश में है। छबि अभी अपने उपन्यास की नायिका के शयन गृह में नायक का जाना देखकर मन ही मन पुलकित हो उठी है।

बाबा काम में बड़े व्यस्त हो गये, इस कमरे से उस कमरे में आने जाने लगे।

एक बार मेरे पास आकर बोले, 'तुमने थियरी तो अच्छी निकाली है, पर वह काम की न होगी। आजकल उस तरह की भलमंसी चलेगी नहीं। यहाँ लाठी का काम है। हिटलर की लाठी, समझे पण्डित जी?'

मैं मन ही मन हँसा। बाबा ने जो कुछ कहा वह ऐसे कि मन ही मन बड़ा मज़ा आया। क्या मालूम वह क्यों समझे कि हम सब भलेमानुस हैं। ख़ुद भूखे रह

कर दूसरे की फिक्र करते हैं। खुद मुँह सूखता रहता है, पर दूसरे को ठंढा पानी बाँटते हैं, खुद तो स्वर्ग से गिरे हैं, पर दूसरे के लिए स्वर्ग की राह खोजने के पीछे मतवाले हैं।

फिर बोले कि तुम्हारे रूस ने केवल सज्जनों को ही पैदा किया है, असाधु को नहीं। मार खाकर ही मरेंगे। लेनिन तो बड़े सज्जन थे। वैसे ही टॉल्स्टॉय थे। लेकिन वे लाठी का सामना कर सकेंगे? कभी नहीं।

कहने की तबियत हुई शाबास! ऐसी नवीनता, इतनी स्वकीयता और कहीं दिखाई पड़ी! यह मैं ज़ोर देकर कह सकता हूँ कि इस तरह मेरे बाबा के सिवा और कोई नहीं कह सकता है। उन्होंने एकबार में जो कह दिया, गलत होने पर भी कोई उसे बाल बराबर हटा सके, ऐसा कोई बंगाली का बच्चा भारत भूमि में नहीं देखा। हिटलरशाही दंभ में उनका मुँह चमक उठा।

पर आशा की एक बात यह है कि इन सब चीज़ों में वे पूरी तौर से सीरियस नहीं थे, एकबार जो कहते दूसरी बार उसे कहने में काफी देर लगाते, नहीं तो मेरा जीवन अस्थिर हो जाता। और फिर निस्संदेह वे पैतृक अधिकार से प्रेरित होकर उसका अपव्यवहार करते।

उधर मा काम में लगी दिखाई पड़ती थीं। खूब मन लगाकर वे अपना काम कर रही थीं, जैसे किधर भी देखने को उन्हें समय ही नहीं। कंधे पर बालों की दो लटें घास की तरह आ पड़ी थीं, उसके ऊपर ही बड़ा सा घूँघट काढ़ लिया था। पहनने को एक मैला कुचैला पुराना कपड़ा, दोनों साफ़ पैर पानी में फट कर घायल हो गये थे, पीछे पीछे नारू घूमता फिरता था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति छोड़कर इस बार बाबा ने घर की बातचीत छेड़ी! नारू को पुकारा, "नारू, बताओ तो भाई तुम्हें क्या चाहिये?"

नारू अपने छोटे छोटे टूटे दाँत निकाल कर एकदम कह उठा, 'एक मोटर बाइक। सर्जेन्ट लोग कैसे भड़ भड़ कर घूमते फिरते हैं, एँ बाबा?

किन्तु मंटू की अक्ल कुछ ठीक हो गयी थी। वह सहसा पीछे घूम कर मुँह नीचे लेजाकर कमान की तरह हो बोला, 'बाबा यह देखो।'

देखा कि उसके कुरते के पीछे फट कर छेद ही छेद हो गये थे। बाबू जी हो हो कर हँस पड़े, बोले, मंटू बाबू को इतनी गरमी लगती है कि दो खिड़कियाँ बन गयीं, अच्छा तो हुआ। अब फर फर कर हवा आयगी जायगी, बढ़िया बात है न?

मंटू सब ग़लती भूलभाल कर अक़्लमन्दों की तरह हँसने लगा, नारू अपना टूटा दाँत दिखा कर और ज़्यादा हँसने लगा, बाबा भी साथ में हँसने लगे। हमारा मामूली घर एक असामान्य हँसी से नाच उठा, गुनगुनाने लगा।

सिर्फ़ मैं ही नहीं हँसा, बस मन ही मन आनन्द लेता रहा। सोचा कि आनन्द का यह निर्मल मुहूर्त यदि दीर्घस्थायी हो जाय तो खुशी का पार नहीं। आदमी आदमी हो जाय।

इसके बाद बाबा का चौके में जाना हुआ। एक पीढ़ा डाल दीवार के सहारे बैठकर हँसते हुए बोले, 'आज क्या बनेगा जी ?'

मुँह घुमा हँसते-हँसते माँ ने कहा 'जो कहो।'

अबकी बाबा को बचपन सूझा—'मैं जो कहूँ, है न ? मांस, पुलाव, दही, सन्देश चटनी, चाचोड़ी, रुई मछली का सिर पकाओ। बनाओगी ? मैं जो कहता हूँ वह बनाओगी ?'

'मैया रे मैया ! बस बस अब और कुछ मत कहो !' मा दोनों हाथ उठाकर सर हिलाने लगीं और खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

यह हाल देख नारू दौड़ कर गया, दोनों की तरफ दो बार देखकर और माँ को मुसकराते देख बोला, "अम्मा, क्या हुआ ? इतना क्यों हँस रही हो ? बाबा ने तुम्हें गुदगुदा दिया है ?"

'अरे नहीं रे, इतना दिमाग मत खा—जा खेल।' मा ने बायाँ हाथ बाहर की ओर दिखा दिया।

ज़रा ठीक होकर फिर बाबा बोले, 'अच्छा जिस दिन पहले पहल तुम्हें देखने गया था, उस दिन की याद है ?'

ज़रा-सा भी सोचे विचारे बिना मा ने जवाब दिया—मैं वह सब याद वाद नहीं रखती।

'अच्छा, याद है मैदान में गैया चराती फिरती थीं।'

माँ की आँखें फैल गयीं—मैया रे मैया, क्या हम लोग भले घर के नहीं हैं जो औरत होकर भी गैया चरायेंगे ?

'गैया चराना क्या अपराध है ? ज़रूरत होने पर इधर-उधर ज़रा घुमा फिरा देने में दोष है ? असली बात तो तुम्हें सब याद है, पर जो मन में आता है कह देती हो।'

'हाँ जी हाँ, सब याद है, सब याद है।'

धीरे-धीरे हँसते बाबा ने कहा, 'नाव पर से ही दिखाई पड़ा कि अँधेरी रात में एक मात्र दीप-शिखा के समान मैदान में कौन लड़की है। नाव से उतरते ही देखा कि वह लड़की अपनी जगह से ज़रा भी नहीं हटती या पक्षी की तरह घर की ओर उड़कर भाग नहीं जाती वरन् सीधे हमारी ओर ताक रही है, बिना जाने पहचाने ज़रा भी शर्माई नहीं, पास जाकर देखा, ठीक देवी की मूर्ति की तरह, खुले मैदान में भरा पानी जैसे अच्छा लगता है और गहरी बरसात में और भी अच्छा लगेगा। उसके बाद टूटी कुर्सी पर बैठ टूटे पंखे की हवा खाकर जिसको देखा वह और वो एक ही थीं पर अबकी गूँगी लज्जावती लता की तरह लज्जा से जैसे ज़मीन में गड़ी जा रही हो।'—बाबा हा हा कर खुलकर हँसने लगे। कितनी ही देर बाद बोले, तुम्हें क्या चाहिये—बताया नहीं ?

हमारे लिये एक चौके की धोती ला दो।

लाल रंग की ?

हाँ।

उसके बाद किसके लिये क्या लाये पता नहीं लेकिन देखा कि अपने लिये छः आने की एक जोड़ा चट्टी ले आये। सिर्फ छः आने की। उसके लिये बाबा को बड़ा घमंड था, लेकिन चमड़ा बिलकुल कच्चा है इसलिये उन्हें कुत्ते का भी बड़ा डर था।

कुत्ते का तो पता नहीं पर कई दिन बाद ही एक चट्टी कहीं ग़ायब हो गयी, और ताज्जुब कि किसी को पता नहीं।

दूसरे दिन रेलवे के यार्ड से होकर जा रहा था कि किसी की पुकार से मुँह घुमा कर देखा। देखा कि शशधर ड्राइवर हाथ उठा कर बुला रहा है। एक दफ़ा यहाँ यूनियन बनाने के लिये आने के वक्त इस शशधर ड्राइवर से बातचीत हुई थी। उस दिन साथ में कामरेड विश्वनाथ थे। तब गंभीर भाव से शशधर ने कहा था, देखिये विश्वबाबू, साहब ने उस दिन मुझे बुलाया था।

क्यों?

साले ने कहा 'ड्राइवर' यूनियन छोड़ दो, नहीं तो कहे देता हूँ खराबी होगी। सुनकर मेरा मिज़ाज बिगड़ गया। मुँह पर कह आया, साहेब मेरी ख़ुशी में यूनियन बनाऊँगा। तुम जो कर सको करो। उसी वक्त यह कह कर—ठीक इसी तरह कह कर चला आया।—आने का भाव दिखाने के लिये शशधर ने थोड़ी दूर तक चल कर दिखा दिया, फिर वहीं लौट आया। पहली जान पहचान से उस दिन का दृश्य अजब लगा था। उसी दिन से मैंने अपने दोपहर के ट्रैक्टर के सपने की दीवार पक्की करना शुरू कर दिया। यह बात कहने की ज़रूरत नहीं कि इतिहास जिस तरह हमारी तरफ आता है उसी तरह मैं भी इतिहास की ओर बढ़ा। मैंने जनता की ओर हाथ फैला दिये, उसके हार्दिक अभिनन्दन से मैं धन्य हो गया। उनको भी धन्यवाद है जो हमें इस असहाय अवस्था से छुड़ा गये। धन्यवाद, धन्यवाद। सेवा व्रत नहीं, मानवता नहीं, स्वार्थपरता और श्रेष्ठ उदारता लेकर एक अविश्रान्त वैज्ञानिक अनुशीलन।

मैं शशधर के पास गया। शशधर बोला, चढ़ आइये। उसने मुझे एञ्जिन पर चढ़ा लिया। उसके बाद एक बीड़ी थमा कर बोला, पीजिये सुकुमार बाबू।

शाम को एक जत्थे से मिलने गया। एक मीटिंग अरेंज करना था। उनमें से किसी ने मेरी ओर देखा, किसी ने नहीं। पास ही एञ्जिन की साँय साँय हो रही थी। पॉइन्ट्समैन-गनर वग़ैरह का शोर और सीटी सुनाई पड़ती थी।

देखा कि यासीन इतने दिनों बाद छुट्टी से वापस आया था। मुझे देख काम रोक कर बोला, 'मालूम है उन्होंने क्या कहा!'

हँसकर बोला, 'क्या?'

कहते थे कि आप बैरिस्टर क्यों न हुए?

सब हा हा कर हँस पड़े। मैं भी हँसने लगा।

सुरेन्द्र मेठ गंभीर भाव से बोला, आप से मेरी एक प्रार्थना है यासीन मियाँ! हम सब चंदा लगा कर तुम्हें स्कूल में पढ़ाना चाहते हैं।

इस बार हँसी और भी ज़ोर की रही। काम छोड़ कर सब बैठ गये।

यासीन खफा हो गया, बोला, वाह वा, बस मज़ाक़ ही मज़ाक़ न? चार पैसे देकर खलास, क्यों न? चार पैसे देने ही से क्रान्ति होगी न? क्रान्ति आसमान से टपक पड़ेगी, ऐं?—ज़रा ठंढे पड़कर यासीन एक कहानी कहने लगा। कहानी यों है। इस बार घर जाकर वह अपने गाँव के किसानों की सभा में शामिल हुआ। उस सभा में जिस आदमी ने भाषण दिया था, सहसा उसकी ओर देखकर बोला, 'भाई यासीन, तुम्हारे यहाँ यूनियन नहीं है?' यासीन ने छाती ठोंककर कहा—अलबत है। और साथ ही साथ सीने की जेब से एक रसीद निकाली। वह तब खूब खुश होकर बोला—तुम हमारे कॉमरेड हो भाई यासीन! तुम हमारे अपने ही हो। यासीन तब बड़े बुद्धिमान् की तरह हँसा था।—दुनियाँ में सब ही इस तरह मिले हुए हैं तो क्या हम ही चुप बैठे रहें? चार पैसे देकर ही बस, क्यों न? कहते कहते यासीन का पसीने से तर मुँह और चमक उठा, पर बाद ही वह फिर काम में लग गया। खूब मन लगा कर ठक-ठक कर काम करने लगा।

मैं लौट आया। साम्यवाद का गर्व, इस्पात की तरह उसकी उम्मीद, सोने की तरह उसकी फसल दिल में लेकर लौट आया। इस वक्त शाम हो गयी थी। हल्की हल्की हवा के साथ शेड से तेल और कच्चे कोयले का धुँआँ खूब आ रहा था। मैं बाँई तरफ से कारखाने से लगे रास्ते को पार करने लगा। थोड़ा आगे बढ़कर देखा कि लाइन पर बहुत से एञ्जिन ऐसे खड़े थे मानो गहरा ध्यान लगाये हों। मुझे वह आदमी की तरह जानदार लगे जो इस समय आराम कर रहे हों। उनके शरीर में कितने तरह की हड्डियाँ, तरह-तरह के कल-पुर्जे, सिर में सिर्फ एक आँख, पर वह कैसी चमकदार है! उसे बनानेवाला आदमी है, न हँसना न रोना, सिर्फ कामकाजी की तरह गुस्सा है। इस तरह का कामकाजी आदमी है! सच बात कहने में क्या, इतने कल पुर्जों में, इतने एञ्जिनों के बीच होकर रास्ता चलते मेरे बदन के रोंगटे कैसे खड़े हो गये! मैं भौचक्का होकर उनके मांसहीन शरीर को देखता ही रह गया।

उसके बाद शाम के अँधेरे में घर लौट आया।

कुछ दिन बाद सवेरे सवेरे हाथ में एक चूहेदानी लेकर बाबूजी रास्ते के बीच में रुककर बेवकूफ़ की तरह हँसने लगे। बड़े खुश होकर नारू और मण्टू भी उनकी दो उँगलियाँ पकड़कर बन्दर की तरह उछल रहे थे। कुछ मिनट बाद और भी बहुत से बच्चे-कच्चे जमा हो गये। पास ही एक कुत्ता आकर खड़ा हो गया। उन लड़कों में जो हिम्मती थे वे कोई लाठी कोई बड़े बड़े गुम्मे लिये रास्ते के किनारे बैठे थे।

बात कुछ नहीं थी, कुछ चूहे फँस गये थे।

एक सर्बियन गाथा

[बेला बलाज़]

गुज़लित्सा और तंबूरा† अब काले पहाड़ों में सुन नहीं पड़ते। उनके नौजवान बजाने और गाने वाले या तो धरती के गर्भ में शान्ति के साथ सोये हुए हैं या जंगलों में खामोशी के साथ छिपे हुए हैं। सर्बिया में अब कोई कोलो‡ नहीं नाचता। और जहाँ तक औरतों के करुण गीतों का संबंध है वे भी गुज़लित्सा के साथ नहीं गाये जाते।

सिर्फ़ बुड्ढा जार्जे कभी कभी अपना पुराना बाजा खूँटी पर से उतार लेता गोकि उसके दो सिरे गायब थे और उसके गहरे पेट में एक छेद था। पुराने गुज़लित्सा को ये घाव उस वक्त लगे थे जब इस छोटे से गाँव में लोगों का दिमाग़ ठीक करने के लिये एक जर्मन दस्ता इसलिये भेजा गया था कि एक स्वस्तिक झंडा उताकर फाड़ डाला गया था। और फिर मशीनगन की गोलियाँ झोपड़ियों की खिड़कियों को तोड़ती हुई चली थीं। जार्जे के गोली से छिदे बाजे में से अब एक भारी-सी आवाज निकलती थी।

सफ़ेद बालों, सफ़ेद दाढ़ी वाला वह बुड्ढा अक्सर कहा करता, "गुस्से और घृणा से इसकी आवाज़ भारी हो गई है। मार्को क्राल्जविक* के पुराने गानों की तरह यह अब भी प्रतिशोध और हमारे वीरों की जीत का एक गाना गायेगा।"

अब बुड्ढा जार्जे भी धरती के गर्भ में खामोश पड़ा है। लेकिन एक न एक दिन वह गोली से छिदा गुज़लित्सा उसकी बहादुर मौत का गाना गायेगा।

× × × ×

दादा जार्जे की झोंपड़ी से देखने पर सूरज रुमियानित्सा की नंगी चोटी के ठीक ऊपर दीख पड़ता था जिससे पता चलता था कि सुबह के ग्यारह बजे हैं। सनीचर का दिन था। चौदह साल के मार्को ने नंगी चोटी को निहारा जो कि एक डरावने घूँसे से मिलती जुलती थी, और गिद्धों को पंख फैलाकर हवाई जहाज़ की तरह हवा में तैरते देखा।

मार्को ने कहा, 'गिद्ध पुकार रहे हैं। दादा, तुमने सुना?'

दादा जार्जे ने झोंपड़ी के सामने वाली छोटी बेंच पर बैठते हुए जवाब दिया, "काले पहाड़ के गिद्ध अब पुकारते नहीं, क्योंकि उनका पेट ज़रूरत से ज्यादा भरा है और वे फूल गये हैं," और रुमियानित्सा को निहारा भी जो अपने चट्टानी घूँसे से डरा रहा था।

"लेकिन दादा, मैं चिड़ियों की पुकार सुन रहा हूँ.........।"

बुड्ढे ने कहा, 'तब वह हवा से नहीं आ रही' और अपनी बेंच पर से उठ गया। 'पुकार हमारे लिए है। दादी और भाभी जोर्देका से जल्दी से जल्दी आने को कहो। तुम्हारा भाई मीलोश क़ब्रगाह पर हमारा इन्तज़ार कर रहा है।'

---

† बाजों के नाम। ‡ नृत्य-विशेष। * सर्बियन जनता का राष्ट्रीय हीरो।

मर्को दौड़ता हुआ झोंपड़ी तक गया और फ़ौरन अपनी दादी और भाभी को साथ लिये लौटा। ज़ेदका अपने दो साल के लड़के का हाथ अपने हाथ में लिए चली आ रही थी।

वे सब झटपट क़ब्रगाह को चले। वह ज़्यादा दूर न थी क्योंकि दादा जार्ज की झोंपड़ी गाँव की आख़िरी झोंपड़ी थी। यहाँ से दुबित्सा और दूर के अँधेरे जंगलों तक सीधे जानेवाली चौड़ी सड़क दीख पड़ती थी जो ठीक सोमियानित्सा के धूँसे के नीचे दाहिने को मुड़ती थी।

क़ब्रगाह छोटी थी क्योंकि ख़ुद गाँव ही छोटा था लेकिन पिछले महीने बहुतेरे नये सलीबों के लिए जगह निकाल ने के लिए उसकी एक चहार दीवारी को गिराना पड़ा। दुबित्सा की जर्मन कमान ने जब गाँव में लोगों को अक़्लठीक करने के लिए टुकड़ी इसलिए भेजी कि गाँव में किसी ने स्वस्तिक झंडे को उतार कर फाड़ डाला था, तब क़ब्रगाह एकाएक पुर उठी थी और नये सलीब तेज़ी से उगनेवाली एक घास की तरह पुरानी क़ब्रों के पार खेत में फैल गये थे। और इस तरह गाँव जैसे जैसे छोटा होता गया, क़ब्रगाह बढ़ती गई। क्योंकि सिर्फ़ मर्द और औरतें राइफ़िल की गोलियों और संगीनों से मारी ही न गई थीं बहुतेरे मकान जलकर भूमिसात् हो गये थे।

जब दादा जार्ज, दादी, पोता, पतोहू और उसका बच्चा क़ब्रगाह पहुँचे उस वक़्त औरतें हमेशा की तरह ताज़ी क़ब्रों के आसपास पलथी मारकर बैठी हुई थीं और पुराने मर्सिये गा रही थीं। रसोई में व्यस्त होने के बजाय वे क़ब्रगाह में इसलिए बैठी थीं कि उनके पास पकाने को कुछ न था।

दादा जार्ज आगे आगे क़ब्रगाह के सबसे पुराने हिस्से की ओर गया जहाँ गहरी क़ब्रों को एकेशिया की झाड़ियाँ ढके थीं। वहीं से गिद्ध की पुकार आई थी। एक शाख़ हटाने पर हरी पत्तियों के बीच से मिलोश का ज़ुनूनी चेहरा और काली आँखें दीख पड़ीं। सबों ने होशियारी से एक बार फिर चारों तरफ़ निहारा और जल्दी से एकेशिया की झाड़ियों में सरक कर छुप गये। वहाँ सबकी नज़र से बचकर बैठा और बात किया जा सकता था। उनकी क़ज़ा ही है अगर कोई जर्मन मिलोश को अपने घर वालों से बात करते देख ले!......जो भी हो क़ब्रों के बीच लेट कर मर्सिया गाती हुई औरतें उनकी ओर देखती तक न थीं और अगर कुछ देखतीं तो ख़ामोश रहतीं। लोगों के क़ब्रगाह में आने भर से किसी को शक न हो सकता था क्योंकि गाँव में ऐसा एक भी घराना न था जिसके मरे लोग वहाँ न हों। पर बुड्ढे जार्ज के साथ उसके पोते क्यों थे? उसका लड़का और पतोहू कहाँ थे? लड़का क्रागूजेवात्स में मारा गया था, और उसकी बीबी भी वादी के नज़दीक एक गोरिल्लों की टुकड़ी के साथ लड़ती हुई मारी गई थी।

अब घर के सभी लोग एकेशिया की झाड़ियों में पलथी मारकर बैठे हुए थे। मर्को पहरा देने के लिये क़ब्रगाह की चहारदीवारी पर चढ़ गया। औरतें मर्सिया गाते सुन पड़ती थीं।

"यह लो, मैं तुम्हारे लिए कुछ आटा लाया हूँ," मिलोश ने कहा और एक छोटा सा बोरा अपनी दादी को दिया। "रुमियानित्सा के जंगल में हमारे साथियों ने जर्मनों की एक सामान ले जानेवाली गाड़ी रोक ली थी। वे हमसे छीना हुआ यह आटा स्टेशन ले जा रहे थे। हमने उसमें से थोड़ा सा वापस पा लिया।"

मिलोश चौबीस साल का एक खूबसूरत नौजवान था। वह अब भी एक फटी सर्बियन वर्दी पहने था और उसके सर पर पट्टी बंधी थी क्योंकि उसके माथे पर चोट आ गई थी। उसने अपने दो साल के बच्चे को घुटनों पर लिया और उन सबका हाल चाल पूछा, उसने बकरी के बारे में पूछा, जिसे एक गढ़े में छिपाकर अब तक वे जर्मनों से बचा लाये थे। उसने अपने बारे में उन्हें कुछ भी नहीं बतलाया क्योंकि रिश्तेदारों को भी यह नहीं जानना चाहिये कि सर्बिया के गोरीले कहाँ छिपे और क्या कर रहे हैं।

मिलोश ने अपने बच्चे का सर थपथपाते हुए कहा, 'रुमियानित्सा के चट्टानों में इतनी ढेर-सी लाल घास उग रही है। मैंने इतनी घास पहले कभी न देखी थी।'

'क्योंकि इतना ज्यादा खून इस साल बहा है,' दादी ने कहा और अपना खूबसूरत सफेद गर्वोन्नत सर हिलाया। उसका चेहरा कठोर और स्वाभिमान का भाव लिये हुए था। 'हमारे खून ने घास की जड़ों को रँग दिया है।'

दादा जार्जे ने सर हिलाया।

उसने गंभीर चेहरे से कहा, "लाल घास एक चिन्ह है। यह उस खून की ओर इशारा करती है जो अभी बहेगा।"

दादी ने कहा, 'सर्बियनों का खून अभी ही इतना बह चुका है कि अब और बाकी नहीं।"

मिलोश दृढ़ता से चिल्लाया, "तब लाल घास का इशारा सर्बियन खून की तरफ नहीं है, बल्कि जर्मन डाकुओं के खून की तरफ है जो इस साल भी बहेगा।"

उसने मुश्किल से यह कहा ही था कि मर्को चहारदीवारी पर चिल्लाया :

'देखो! जर्मन मोटरगाड़ियाँ दुबित्सा से आनेवाली सड़क पर चली जा रही हैं।' मिलोश ने अपने बच्चे को चूमा और उसे अपनी माँ के हाथ में फिर दे दिया। वे सब खड़े हो गये।

उसने कहा, 'गेहूँ को एक सुरक्षित जगह में गाड़ दो। मैं फिर जल्द ही आऊँगा और तुम्हारे लिए और कुछ लाऊँगा।'

जोर्दंका गिड़गिड़ाई, 'अच्छा हो कि न आओ। बड़ा जोखिम है।'

'अगर मैं तुम्हारे लिए कुछ लाऊँ नहीं तो तुम खाओगी क्या?'

दादा ने कहा, "हम लोगों के लिए ज्यादा अहमियत यह बात रखती है कि तुम्हारे और तुम्हारे साथियों के लिए जंगल में खाने के लिए काफ़ी हो। जो हो अब हम तो और लड़ नहीं सकते।"

दादी ने गंभीरता-पूर्वक कहा, "हम जानते हैं कि जब प्रतिशोध की घड़ी आयेगी तुम आ जाओगे।

मर्को ने चहार दीवारी पर से आवाज़ दी :

"जल्दी करो मिलोश। जर्मन गाड़ियाँ एकेशिया की झाड़ी तक पहुँच चुकीं। तीन खाली गाड़ियाँ जिनके साथ सिपाही हैं।"

'वे फिर अनाज हथियाने आये हैं,' ज़ेदेंका ने आह भरी और अपने बेटे को छाती से चिपका लिया।

मिलोश ने ज़ेदेंका और अपने दादा-दादी को चूमा, चहारदीवारी फाँदा और एक पल में ओझल हो गया।

गाना एकाएक बन्द हो गया। औरतें अपने-अपने घरों की तरफ चलीं क्योंकि वे जर्मन गाड़ियों के आने का मतलब समझती थीं। वे लोगों से उस बचे-खुचे अनाज को लूटने आ रहे थे जो उन्हें एकदम भूखों मरने से बचाये हुए था।

दादा जार्जे भी अपने घराने के साथ घर की ओर धाया। उसके पड़ोसी ने जो कि क़रीब-क़रीब उसके इतना ही बुड्ढा था, अभी-अभी अपने बाड़े में एक गड्ढा खना था। उसकी बीवी गाड़ी जानेवाली चीज़ों को अपने कपड़े में लिये पास खड़ी थी।

उसने पूछा, "इतना बड़ा गड्ढा क्यों? सिर्फ़ आधी रोटी और तीन अंडे ही तो हैं?"

पड़ोसी ने वह आधी रोटी और तीन अंडे बिना कुछ कहे लिये और उन्हें गाड़ दिया, फिर उसने उस जगह पर सूखी बालू छितरा दी।

जर्मन फैल गये और एक साथ ही गाँव की तीन कोनों से तलाशी लेना शुरू किया। हर गाड़ी के लिए दो सार्जेंट नियुक्त थे। उनकी बड़ी विस्तृत योजना थी। उनकी फेहरिस्तों में था कि कौन से और कितने मकानों की तलाशी लेनी है और उनके मालिकों के नाम—हाँ, तो दुबित्सा का जर्मन ज़िला कमान गाँव को भली तरह जानता था! तो भी काम धीरे धीरे चल रहा था क्योंकि लूटने के लिए ज़्यादा न था। दादा जार्जे के दरवाज़े के सामने खड़ी गाड़ी तक एक सिपाही ज्वार के तीन बोरे और चीज़ का एक टुकड़ा लाया जिसका कुछ हिस्सा खाया हुआ था।

सार्जेण्ट मेजर ने अपने हाथ की फेहरिस्त को हिलाते हुए गाली बकी, 'बिजली गिरे इस पर! मुझे चालीस मन रसद देनी है!'

उसी वक़्त एक दूसरा सिपाही एक चुअने तसले में सात आलू लिये आया।

सार्जेण्ट मेजर गरजा, 'मुझे बेवकूफ़ बनाने की कोशिश कर रहा है, गधा कहीं का! ये सात आलू लेकर के मैं क्या करूँगा? ठीक चार बजे जर्मनी के लिए रसद की गाड़ी रवाना हो जायगी।'

एक पिचके गालों वाला सार्जेण्ट बाहर निकला और सार्जेण्ट मेजर से फुसफुसाया, 'जर्मनी में लोग भूखों मरना शुरू हो गये हैं। कल मुझे अपनी बीवी की चिट्ठी मिली।'

'तब इन सर्बियन कुत्तों को पहले मरना होगा।'—सार्जेण्ट मेजर चीखा और उसका फूला हुआ मांसल चेहरा गुस्से से लाल पड़ गया।

सिपाही ने कहा, 'सारे मकान में आलू का एक और छिलका भी नहीं है।'

'लेकिन लोग जी रहे हैं, न ? वे कुछ खाते तो होंगे न ? बस, उन्होंने ज़रूर कहीं न कहीं अनाज छिपाया होगा। क्या ? वापस जाओ, फिर तलाशी लो।'

पिचके गालों वाले सार्जेण्ट ने सड़क की तरफ़ देखते हुए कहा, 'यह देखो गाउदी यांक को वे लिये आ रहे हैं। कुछ चीज़ें ढूँढ़ निकालने में वह हमारी मदद करेगा।'

दो सिपाही एक सर्बियन लड़के को साथ लिये सड़क पर चले आ रहे थे। वह गंदा था और अविश्वसनीय रूप से फटे हाल। वह सर झुकाकर चलता था, उसकी गाउदी निगाहें अस्थिरता के साथ एक ओर से दूसरी ओर दौड़ रही थीं।

इसी बीच बुड्ढे जार्ज की झोंपड़ी में जर्मन सिपाहियों ने सारी चीज़ें उलट-पुलट कर रख दी थीं। अपनी राइफल के कुन्दों से उन्होंने पुरानी बन्दूक को तोड़ डाला था। दो फूटे घड़ों के पास मेज़ की दराज़ फर्श पर पड़ी थी। कपड़े रखने की पुरानी आलमारी तोड़ डाली गई थी और उसकी निकम्मी चीज़ें फ़र्श पर बिखेर दी गई थीं।

दादा जार्ज और दादी कोने में खड़े थे। गोद में बच्चे को लिये ज़ेदेंका उनके पास थी और चौदह साल का मर्को मेज के पास खड़ा था। इस तरह वे एक क़तार में खड़े थे और मलबे को शान्ति-पूर्वक निर्निमेष दृष्टि से देख रहे थे। सिर्फ़ उनकी आँखें चमक रही थीं। दादी दादा के हाथ पकड़े थी। बीच-बीच में वह उसे दबाती जिसका मतलब होताः 'शांत रहो और एक लफ़्ज़ भी मत बोलो! अपने को काबू में रखो।'

वह जर्मन सिपाही जो इस सबका कर्त्ता-धर्ता जान पड़ता था दादी तक डग बढ़ाता हुआ गया और चीखा :

'रोटी निकाल लाओ, जो तुमने छिपा रखी है, नहीं तो तुम्हारी खैर नहीं।'

'हमारे पास अब रोटी नहीं है। हमने सब दे डाला है।'—दादी ने शान्त मर्यादा के साथ सिपाही की आँखों से दृढ़ता के साथ आँखें मिलाते हुए कहा।

'यह झूठ है! तुम लोग रो नहीं रहे हो!'

दादी ने नम्रता से जवाब दिया, 'अब हमारी आँखों में आँसू नहीं है। रोते रोते हमारी आँखें सूख गई।' और गर्व के साथ अपना सिर ऊपर उठाया।

इसी वक्त यांक कमरे में लाया गया। घुसने में वह आगा-पीछा कर रहा था। दरवाजे की ड्योढ़ी से चिपका वह एक जानवर की तरह रिरिया और काँप रहा था। लेकिन उसके पीछे आने वाले सार्जेण्ट ने उसे एक ज़ोर की लात दी और वह भहराता हुआ कमरे में आया और फ़र्श पर ढेर हो गया।

सार्जेण्ट ने उस गाउदी को हुक्म दिया, 'हमको दिखलाओ, रोटी कहाँ छिपी है ? तुम अपनी दादी का मकान अच्छी तरह जानते हो।'

लेकिन यांक रिरियाता हुआ ज़मीन पर पड़ा था। उसका चेहरा उसके हाथों में धँसा हुआ था, और वह उठता न था। दो सिपाहियों ने ज़बर्दस्ती उसे पैरों पर खड़ा किया और सार्जेण्ट उस पर चिल्लाया :

'क्या तुमने हमको बाहर नहीं बतलाया था कि इन सबों ने एक बकरी छिपा रखी है?'

सर से पैर तक काँपता हुआ यांक खामोश था। लेकिन वह नौजवान औरत पीली पड़ गई और मर्कों का चेहरा भी ज़रा काँपा। लेकिन दादी ने गंभीरता के साथ कहा, 'जब सज़ा देने वाली टुकड़ी ने पिछली बार हमारे खलिहान को आग लगाई थी तभी हमारी बकरी जल गई थी।'

उसने कसकर दादा का हाथ दबा दिया और वह खामोश रहा लेकिन तरुणी की आँख से एक आँसू गिर पड़ा।

पीला सार्जेण्ट चिल्लाया और उसने दाँत पीसा, 'आहा! मैं देखता हूँ तुम्हारे अब भी कुछ आँसू बाक़ी हैं। इसका मतलब है तुम्हारे पास बकरी है। अच्छा यांक अब शुरू तो करो पट्ठे। हम तुम्हें कुछ सुअर का गोश्त और ब्रांडी देंगे, अगर तुम बकरी पकड़वा दो? सुअर का गोश्त और ब्रांडी, यांक।'

उस गाउदी का कुंद चेहरा एक खीस में फैल गया। फिर वह अपनी गहरी हथेली मुँह तक ले गया और ममने की तरह मिमियाया।

दादा के हाथ के ऊपर दादी की मुट्ठी और कस गई। तरुणी ने घबरा कर बच्चे को छाती से चिपका लिया। मर्कों यकायक चीखने लगा।

'अरे मेरा पैर, मेरा पैर! मेरे पैर में चोट लग गई।'

सार्जेण्ट उस पर गरजा, 'बन्द करो चीख-पुकार।'

एक सिपाही ने कहा, 'उसके पैर को कुछ नहीं हुआ है। वह सिर्फ़ इसीलिए चिल्ला रहा है कि हम जिसमें बकरी की आवाज़ न सुन सकें।'

मर्कों गला फाड़कर चिल्लाने लगा, 'मेरे पैर में कील भुँक गई है! ओह, ओह, कितना दर्द कर रहा है!'

उसने अपना दाहिना पैर उठाया जिसमें सचमुच एक लहूलोहान गड्ढा था और मेज़ की टाँग से निकली हुई कील खून से तर थी।

'उस बदमाश का मुँह बंद करो! और तुम यांक, फिर से MISSS MISSS की आवाज़ दो।' सार्जेण्ट ने हुक्म दिया।

एक सिपाही ने मर्कों के मुँह पर अपना हाथ लगा दिया और यांक को फिर सुअर का माँस और ब्रांडी देने का वादा किया गया। वह गाउदी फिर ममने की तरह मिमियाया। और अब उस निस्तब्ध वातावरण में इस मिमियाने का जवाब देती हुई बकरी की माँ की आवाज़ सुन पड़ी। दो सिपाही बाड़े की तरफ दौड़े।

सार्जेण्ट ने कहा, 'कम से कम अब हमें बकरी तो मिली। बहुत अच्छा हुआ। अब हमें और कुछ करना चाहिए।' दादी के सामने खड़े होकर उसने पूछा, 'तुम्हारे पास आटा नहीं है, तो फिर बच्चे को खिलाती क्या हो?'

दादी ने शान्त मुद्रा से कहा, 'अब तक बच्चे को थोड़ा-सा बकरी का दूध मिल जाता था। अब वह भूखों मरेगा।'

'अच्छा तो फिर हम बच्चे के मुँह की परीक्षा ले सकते हैं कि उसमें खाने के कुछ

चिन्ह हैं या नहीं? उससे पता चल जायगा कि बच्चा क्या खाता रहा है। इधर लाओ ज़रा मुझे उसे देखने तो दो!'

एक सिपाही ने माँ के हाथ से बच्चे को छीना और दूसरा माँ को कसकर पकड़े रहा। एक तीसरा सिपाही बुड्ढे, बुढ़िया और मर्को के सामने संगीन लगाकर खड़ा हो गया। दादी जार्ज का हाथ कसकर पकड़े रहीं।

'अपना मुँह खोल।' सार्जेण्ट ने दो साल के बच्चे से कहा। लेकिन बच्चा कसकर अपने ओंठ दबाये रहा। इस पर एक सिपाही ने अपनी चौड़ी हड्डियों वाले हाथ से बच्चे का मुँह जबर्दस्ती खोला और सार्जेण्ट ने खाने के टुकड़ों की तलाश में उसके मुँह में अपनी तर्जनी घुसेड़ दी। बच्चे ने किचकिचाकर उँगली पर दाँतों को गड़ा दिया।

'उफ़' सार्जेण्ट चिल्लाया और जल्दी से उससे अपना हाथ बाहर निकाल लिया। उसकी उँगली खून से तर थी। वह दूसरी उँगली से फिर कोशिश करने जा रहा था जब कि सड़क पर से अचानक गोलियों की आवाज आई।

'क्या गड़बड़ है' चिल्लाता हुआ वह घबराया सार्जेण्ट घर से बाहर को दौड़ा और तीनों जर्मन सिपाही भारी क़दम रखते हुए उसके पीछे-पीछे। जब वे गाड़ी के पास पहुँचे तो पता लगा कि जो आवाज़ उन्होंने सुनी थी वह गोलियों की नहीं बल्कि मोटर की थी।

'हमें और कुछ नहीं मिला', सार्जेण्ट ने कहा, जो कि यह बतलाने में बड़ी परेशानी महसूस कर रहा था कि क्यों वह और उसके आदमी घर में से इतनी जल्दी-जल्दी दौड़े आये थे।

सार्जेण्ट मेजर ने भला-बुरा कहा। फिर उसने सार्जेण्ट की लहूलुहान अँगुली देखी।

उसने पूछा 'यह क्या है।'

'दाँत काट लिया।'

'दाँत काट लिया? किसने? कहाँ?'

'यह तो......यह तो......।' सार्जेण्ट ने हकलाते हुए कहा, क्योंकि सच बात मानने में उसे बड़ी शर्म आ रही थी। अन्ततः उसने कहा, 'एक सर्ब था।'

'क्या?' सार्जेण्ट मेजर चिल्लाया और उसका फूला हुआ चेहरा लाल पड़ गया। 'एक जर्मन सार्जेण्ट को एक सर्ब ने घायल कर दिया? फ़ौरन ज़िला कमान को रिपोर्ट करो।'

इस हुक्म को उधर से गुज़रती हुई दो औरतों ने सुन लिया। उन्होंने दूसरों से बतलाया, क्योंकि वे जानती थीं कि इसका मतलब होगा एक दूसरी सज़ा देनेवाली चढ़ाई।

जर्मन गार्डों के जाने के साथ झोंपड़ी में अँगीठी के पीछे कोई चीज़ हिली। और तभी पता चला कि घर के बाहर भागते समय सिपाही यांक को बिल्कुल भूल गये थे, जो गोलियों से भयभीत होकर सरक कर अँगीठी के पीछे चला गया था। अब वह भाग जाना चाहता था। लेकिन दादी ने उसका रास्ता रोक लिया।

'ठहरो यांक !' उसने कठोरता से कहा। लेकिन उसकी आवाज़ में सिर्फ़ उदासी और रहम था, नफ़रत नहीं।

यांक एक कोने में काँपता खड़ा था।

दादा जार्ज और मर्को ने अँगीठी की दीवाल में से कुछ ईंटें हटाईं और सूराख में से एक बंदूक और चार कारतूस निकाले। यह एक पुराने ढंग की बन्दूक थी।

जेदेंका ने गिड़गिड़ा कर कहा, यांक का दोष नहीं है। उसका दिमाग ठीक नहीं है।

दादी ने जवाब दिया, 'यांक दोषी नहीं है, अभागा है। इसीलिए अजनबी का हाथ उस पर न पड़ना चाहिए। उसके अपने लोगों को यह करना होगा।'

दादा जार्ज ने बंदूक भरते हुए कहा, 'वह दोषी नहीं है लेकिन अपने लोगों के लिये खतरनाक है। इसीलिए उसे मारना होगा।'

उसका हाथ पकड़कर ले जाते हुए दादी ने कहा, 'यांक, आओ।'

उसने एक बच्चे की तरह अपने को छोड़ दिया और दीवाल से पीठ सटाकर फ़रमाबरदारी के साथ जहाँ दादी ने उसे खड़ा कर दिया वहाँ खड़ा हो गया।

'यांक, झुको। 'अपनी आँखें बन्द कर लो।' उसने कहा और उसकी आवाज़ में गहरी उदासी और रहम था।

यांक घुटनों के बल बैठ गया और चेहरे को हाथों में छिपा लिया।

दादी ने पूछा, 'दादा, तुम्हारे हाथ काँपेंगे तो नहीं ?'

'नहीं, वे न काँपेंगे।'

और वे नहीं काँपे।

× × × ×

दुबित्सा के फ़ौजी हेड क्वार्टर का टेलीफ़ोन आपरेटर बहुत घबराया हुआ था।

'मैं समझ गया।' वह चीखा, यद्यपि वह साफ़ सुन नहीं सका था। 'कई जर्मन सिपाहियों पर सर्वों ने हमला किया है और घायल किया है......।'

इसकी रिपोर्ट मिलने पर कमान ने तैश में कहा, 'नामुमकिन ! अगर हम बेरहमी से पेश नहीं आते तो मुमकिन है हमें बग़ावत का सामना करना पड़े ! फ़ौजी गाड़ियाँ बाहर निकाल दो।'

× × × ×

इस बीच मिलोस और उसकी गोरीला टुकड़ी उस जगह पर छिपी हुई थी जहाँ रुमियानित्सा के चट्टानी घूँसे के ठीक नीचे सड़क दुबित्सा को मुड़ती है।

'गाँव का चुराया हुआ अनाज ले जाने वाली गाड़ियों का इधर से गुज़रना ही होगा। यहीं हम उनपर हमला कर सकते हैं।'

और सचमुच गाड़ियाँ दीख पड़ रही थीं और क़रीब आती जा रही थीं। उनमें से एक पर बुड्ढे जार्ज की बकरी बड़े दर्दनाक तरीक़े से मिमिया रही थी। गोरीले हमले के लिए तैयार हो गये। लेकिन इसी वक़्त उनके खबर देनेवाले दौड़ते आये।

'ठहरो ! जर्मन फ़ौजी गाड़ियाँ दूसरी तरफ से आ रही हैं !'

मिलोस ने हुक्म दिया, 'मुड़ो ! हमें फिर अच्छा मौक़ा मिलेगा।'

गोरीले जंगल में वापस चले गये लेकिन मिलोस सड़क के किनारे झाड़ियों में छिपा ठहरा रहा। और ठीक उसी जगह गाँव से आनेवाली गाड़ियाँ और दूसरी तरफ़ से आनेवाली फ़ौजी गाड़ियों का मेल होता था।

पीले सार्जेण्ट ने पहली फ़ौजी गाड़ी के ड्राइवर से पूछा, 'तुम कहाँ जा रहे हो ?'

जवाब मिला, 'अगले गाँव को, एक सज़ा देने की चढ़ाई पर।'

'किस लिए ?' सार्जेण्ट ने अचकचा कर पूछा। अपनी उँगली के उस ज़रा से घाव को वह कब का भूल चुका था।

'जर्मन सिपाहियों की एक टुकड़ी पर हथियारों से लैस सर्बों ने हमला कर दिया है। बहुत से मारे गये हैं।' ड्राइवर ने मुड़कर जवाब दिया और धड़धड़ करता अपने रास्ते पर आगे बढ़ गया।

लेकिन मिलोस ने सब कुछ सुन लिया था और अपने साथियों को इसकी ख़बर देने के लिए जल्दी-जल्दी चला।

रूमियानित्सा पहाड़ के तंग देशीय उस छोटे से गाँव में एक बार फिर गड़बड़ी फैल गई। 'जर्मन हथियारबंद गाड़ियाँ आ रही हैं।' और बुड्ढे, औरतें और बच्चे, जो भी भाग सकते थे सब जंगल की ओर भागे।

सिर्फ़ गाँव के किनारे वाली आख़िरी झोपड़ी जहाँ से दुबित्सा जानेवाली सड़क दीखती थी, सब कुछ शान्त था। दादा जार्ज एक साफ़ कमीज़ और अपने बेहतरीन कपड़े पहने हुए थे। अब वह अपनी पुरानी बंदूक लिये झोपड़ी से बाहर निकला। वह दुबित्सा सड़क के बीच में उकड़ूँ बैठ गया और अपनी बाक़ी तीन कारतूसों को अपने बगल में ज़मीन पर रख दिया। यह उसने धीरे-धीरे शान्ति के साथ और धीर मन से किया। क्योंकि अब भी उसके पास बहुत वक़्त था।

दादी ड्योढ़ी में खड़ी अपनी पतोहू से बिदा ले रहीं थीं।

बच्चे को गोद में लिये जेदेंका ने मिन्नत की, 'आओ हमारे साथ जंगल को भाग चलो।'

'हम बुड्ढों के लिए खाना काफ़ी नहीं है'। दादी ने शान्ति-पूर्वक कहा और तरुणी के बालों को हलके हाथों से थपथपाया। 'जो कुछ बाक़ी है उन लोगों के लिए बचाना चाहिए जो कि अब भी लड़ सकते हैं' और कठोरता के साथ उसने फिर कहा 'जाओ और रोओ मत। भूख की बनिस्बत जर्मन गोलियों से हमारा यहाँ पर मरना ज़्यादा शान की बात है।'

ज़ेदेंका रोई नहीं बल्कि अपने बच्चे को गोद में लिये हुए औरों के पीछे-पीछे जंगल में चली गयी।

मर्को ने प्रार्थना की, 'मुझे दादा के साथ रहने दो।'

दादी ने जवाब दिया, 'नहीं, तुम्हें एक ज़रूरी काम करना है। भागते हुए अपने भाई के पास जाओ और गोरिलों को बतलाओ कि यहाँ पर क्या हुआ है। वे हमारा बदला लेंगे। जल्दी करो मर्को। उसने कठोरता के साथ कहना समाप्त किया।

मर्को अपने भाई मिलोश और दूसरे गोरिलों की खोज में जंगल की ओर भागा।

एकेशिया की झाड़ी के उस पार गर्द का एक बादल उठ रहा था।

'जर्मन हथियारबन्द गाड़ियाँ आ रही हैं। हम जल्दी ही उन्हें देखेंगे', बुड्ढे जार्ज ने अपनी बुढ़िया बीवी से कहा जो उसके बगल में दुबित्सा सड़क के बीचों-बीच बैठी हुई थी।

उसकी बीवी ने जवाब दिया, 'जार्ज, हम लोग चालीस बरस साथ रहे हैं।'

जार्ज ने कहा 'वे बहुत भले चालीस साल थे।'

'ये लो, जर्मन हथियारबन्द गाड़ियाँ आ पहुँचीं।' बुढ़िया ने कहा और जार्ज को पहली कारतूस थमाई।

जार्ज ने कारतूस बंदूक के अन्दर डाली और अपनी लंबी सफ़ेद दाढ़ी को हाथ से हटाया जिसमें वह उसका निशाना न खराब कर सके......।

जर्मन हथियारबंद गाड़ियाँ उस तीर की तरह सीधी सड़क पर तेज़ी के साथ चली जा रही थीं। वे तीन थीं, तोपों और मशीनगनों से लैस।

उनके सामने सड़क में, शान्ति से बातचीत करते हुए, एक पुरानी बन्दूक और तीन कारतूस लिये हुए दो बुड्ढे सफेद बालों वाले बैठे हुए थे।

वे हथियारबन्द गाड़ियाँ क़िलों की तरह उठती थीं। उनके लोहे की आवाज़ सुन पड़ती थी और आग से उठते धुएँ की तरह धूल उड़ रही थी।

सड़क के बीचो-बीच वह छोटा-सा बूढ़ा घुटनों के बल बैठा हुआ था; उसने बन्दूक कंधे से लगाई और निशाना लिया। बुढ़िया ने मृत लोगों के लिए गाया जाने वाला मर्सिया शुरू कर दिया।

बुड्ढे ने बन्दूक दागी। बुढ़िया ने बिना गाना बन्द किये उसे एक दूसरी कार-तूस दी। हथियारबन्द गाड़ियाँ एक लोहे के गरजते हुए पहाड़ की तरह तेज़ रफ़्तार से पास आ रही थीं।

सड़क के बीचो-बीच एक पुरानी बन्दूक से गोली चलाता हुआ बूढ़ा घुटना के बल बैठा था। गाते गाते बुढ़िया ने उसे आख़िरी कारतूस थमाई।

हथियारबन्द गाड़ियाँ तेज़ रफ़्तार से पास आती जा रही थीं। पहली का तो खुफ़िया छेद भी अब दीख पड़ने लगा। ड्राइवर ने सड़क के बीचो बीच घुटनों के बल बैठी हुई इन दो हास्यापद कृत्यों को देखा। उसने गैस की कुंजी को पैर से दाबा और हँसा।

उसी पल उसकी आँखों के बीच पुरानी शीशे की गोली लगी और वह बेजान होकर ढेर हो गया। हथियारबन्द गाड़ी घूमकर खाई में जा गिरी। दूसरी गाड़ी आगे बढ़ती ही गई। बग़ैर इस बात को जाने कि उसने दो बूढ़े व्यक्तियों को जो चालीस साल रहे थे कुचल दिया था।

× × × ×

मर्को भरसक तेज़ी से रूमियानित्सा की ऊँची चढ़ाई पार कर रहा था। अचा-

नक एक हथियार से लैस गोरीला एक खोखले दरख़्त में से निकला और उसने पूछा, 'तुम कहाँ जा रहे हो ?'

'मुझे अपने भाई मिलोस को ढूँढ़ना है। एक बहुत ज़रूरी बात उसे बतलानी है।' मर्को छापेमारों के खेमे में ले जाया गया। वह पहाड़ के चट्टानी घूसे के नीचे ऊँचाई पर बसा था। छापेमारों ने लड़के को घेर लिया। और आतंकित करने वाली शान्ति के साथ उसकी कहानी सुनी।

'प्रतिशोध !' सबने एक साथ लेकिन मुलायमियत से शब्द कहा। 'प्रतिशोध।'

मिलोस चिल्लाया 'दुवित्सा को लौटती हुई हथियारबन्द गाड़ियों को हम नष्ट कर देंगे। हमारी अपनी धरती हमारी सार्थी होगी; रोमियानित्सा का चट्टानी घूँसा उन्हें चूर-चूर कर देगा !'

रोमियानित्सा की सबसे ऊँची चोटी पर वह बड़ी, सूनी चट्टान जो एक डराते हुए घूँसे की तरह मालूम होती थी उस गहरी खाई को छाये हुए थी जो सड़क की मोड़ पर खत्म होती थी—चट्टान पर डाइनामाइट की सुरंगें बिछी हुई थीं।

मिलोस ने अपने आदमियों के बड़े हिस्से को पेड़ के तनों से रास्ता रोकने के लिए भेज दिया था। हथियारबन्द गाड़ियों को उस जगह पर कुछ देर के लिए रोकना ज़रूरी होगा।

उसने पूछा 'पलीते में आग कौन लगायेगा ?' क्योंकि उनके पास सिर्फ़ एक छोटा-सा फ़्यूज़ था और इससे भी बड़ी बात चिनगारी के धीरे-धीरे बढ़ने देने के लिए उनके पास वक़्त न था। नीचे से इशारा पाने पर एक जलती हुई मशाल सीधे बारूद की ढेर में फेंकनी होगी। जो ऐसा करेगा उसके बच निकलने की कोई आशा नहीं।

फिर भी हर आदमी ने अपनी स्वीकृति दी।

लेकिन इसी वक्त मर्को सामने आया और बोलाः—

फासिस्ट डाकुओं के खिलाफ़ हथियार लेने के लिए अभी मैं बहुत छोटा हूँ। लेकिन मैं एक सर्ब की तरह मरना जानता हूँ। उस तरह मैं भी उद्योगी हो सकता हूँ। मुझे मशाल फेंकने दो।

छापेमारों ने कहा, 'तुम्हारा भाई मिलोस इसे तै करेगा।'

मिलोस ने अपने भाई को चूमा और बिला एक शब्द कहे मशाल उसे थमा दी।

× × × ×

पहाड़ पर चट्टानी घूँसे के नीचे, जलती मशाल लिये मर्को अकेला खड़ा था। नीचे छापेमार सड़क के किनारे एक गड्ढे में छिपे थे जहाँ टूटकर गिरनेवाली चट्टान उनपर न आ सकती थी।

मर्को ने पास आती हुई हथियारबन्द गाड़ियों को काफ़ी दूर ही से देख लिया। लेकिन उसे अपने अधैर्य पर क़ाबू पाकर इशारे का इन्तज़ार करना था। अब हथियार बन्द गाड़ियाँ पेड़ों के पीछे आँख से ओझल हो गई थीं और अभी ही उसे लगने लग गया था कि सारी योजना बेकार गई। लेकिन अचानक उसने एक के बाद एक जल्दी जल्दी छोड़ी गई दो गोलियों की आवाज़ सुनी और मशाल को बारूद की ढेर में फेंक दिया।

एक जबर्दस्त गरज ने हवा को हिला दिया। और जब धुएँ के घने बादलों ने उठकर रुमियानित्सा को छा लिया उस वक्त चट्टानी घूँसा बड़े डरावने ढंग से हिलता दीख पड़ता था। हाँ वह हिलता और डरता रहा और आखिरकार एक भयानक गरज के साथ वह उस गहरी खाई में गिर पड़ा।

मर्को के टुकड़े तक का पता न था। बिला अपना कोई चिन्ह छोड़े वह गायब हो गया था लेकिन जर्मन हथियारबन्द गाड़ियाँ भी चकनाचूर होकर ऐसे छोटे-छोटे अणुओं में बिखर गई थीं कि ज़िले की फ़ौजी कमान ने उनके टुकड़े बीनना फ़िज़ूल समझा।

× × × ×

यह सन् '४१ में काले पहाड़ों में हुआ।

गुज़लित्सा और तंबूरा अब उन काले पहाड़ों में सुन नहीं पड़ते। उनके नौजवान बजाने और गानेवाले या तो धरती के गर्भ में शान्ति के साथ सोये हुए हैं या जंगलों में खामोशी के साथ छिपे हुए हैं। सर्बिया में अब कोई कोलो नहीं नाचता। और जहाँ तक औरतों के करुण गीतों का संबन्ध है वे भी गुज़लित्सा में नहीं गाये जाते।

बूढ़े जार्ज का बूढ़ा बाजा भी गोलियों से छिदा हुआ है। वह अक्सर कहा करता, गुस्से और घृणा से इसकी आवाज़ भारी हो गई है। यह गुज़लित्सा मार्को क्राल्जविक के पुराने गानों की तरह यह अब भी प्रतिशोध और हमारे वीरों की जीत का एक गाना गायेगा।'

अब बूढ़ा जार्ज और उसकी बीवी और उसका पोता मर्को खामोश हैं। लेकिन किसी दिन गोलियों से छिदा हुआ वह गुजलित्सा सर्बिया की आज़ाद जमीन पर उनकी शोहरत का गीत गायेगा।

क्या से क्या

[बलभद्र दीक्षित]

(१)

प्यारेलाल और पियारा दोनों एक खाट पर सोये थे। चैत्र का कृष्णपक्ष, हल्की गर्मी हो रही थी। आधी रात के स्यार बोल चुके थे; प्यारेलाल खर्राटे भरने लगे। सोने के पहले उनको सुलाने के लिए कई प्रयत्न पियारा ने किये। बार-बार जम्हाने लगी। आले में जलते चिराग़ की बत्ती दबाकर बहुत धीमी कर आई। पति की बातों का जवाब ऊँघती-सी अस्पष्ट भाषा में, अन्त में सिर्फ़ हूँ करके दे देती। उसका सिर प्यारेलाल के कन्धे पर था, शरीर सोया-सा शिथिल; परन्तु मन अपने आगे के मनसूबों की गिरहें बाँध-खोल रहा था।

चिराग़ का पूरा तेल जल गया, फिर बत्ती जलती-जलती पेंदी पर पहुँची; अन्त में पछुवा हवा के सिर्फ़ एक हल्की साँस लेने से ही वह गुल हो गया; न ज़्यादा धुवाँ न ग़ुबार! ठीक उस बुड्ढे आदमी की तरह, जिसके कुल दुनियावी अरमान निकल चुके हैं और मरणशय्या की केवल एक ही हिचकी में शांत हो जाना चाहता है।

पियारा ने करवट ली; बाँये हाथ की चूड़ियाँ खनकाईं, सिरवे पर छागल बजाये—सिर्फ़ यह देखने को कि प्यारेलाल सोते हैं या जागते। अपना सिर प्यारेलाल की बाँह से निकालकर, उसे चुपके से उनके सीने पर रख दिया। चारों पैरों पर पड़ी हुई चादर में फँसे पैर निकाले और ज़मीन पर खिसक आई। खाट 'चर्र' से बोली, लोटे पर रक्खा हुआ गिलास पैर लगने से झन्नाता हुआ लुढ़क गया।

प्यारेलाल के कुनमुनाने से थोड़ा ठिठकी; फिर पैरों को चापती अपनी कोठरी की ओर चली गई! पिछवाड़े की इमली पर उल्लू बोला। वसारे में बँधी बकरी की पठिया ने छींक मारा।

बँगले की बग़ल में कुछ दूर पियारा के बाप बलई मिस्सिर सो रहे थे। सिर उठाकर पियारा को एक बार उन्होंने देखा; फिर अपनी पिछौरी सिर से पैर तक तान ली।

कोठरी से आकर एक बार फिर देखा, प्यारेलाल ज़ोर से खर्राटे ले रहे थे।

पियारा ने चिराग़ जलाकर अपनी कपड़ों की पिटारी खोली। आइना निकालकर कंघी से, बिगड़े बाल सँवारे, मुँह में इधर-उधर पान की पीक लग गई थी, जिसे एक कपड़ा भिगोकर पोंछ दिया। लहँगा, ओढ़नी और सलूका निकालकर पहने; सब भड़कीले, सस्ते सिल्क के थे। ओढ़नी का कपड़ा पतला था, इसलिए कि सलूके के स्तनों की पच्ची, देखनेवालों को आकर्षक और सुन्दर जँचे। उसने पाँच-छः बीड़े पान लगाकर डिबिया में रक्खे, एक खा लिया, ऊपर से थोड़ी तम्बाकू भी। फिर उठकर धीरे से कोठरी की साँकल चढ़ाकर, बाप की चारपाई के पास होती हुई, एक बार फिर प्यारेलाल के सोने की पड़ताल करती हुई घर से बाहर हो गई।

बलई ने सिर उठाकर देखा और जब जान लिया कि लड़की चली गई तो एक संतोष की साँस लेकर करवट बदल ली। फिर हमेशा की तरह सिरकटे मुर्गे से तीन-चार बार तड़पकर निर्जीव हो गये। पियारा जब कभी छबीले के पास जाती तो बलई की यही कैफ़ियत होती। जब तक वह चली नहीं जाती, जाने की राह देखा करते; जब चली जाती तो सिर पीट लेते। एक बार लोढ़ा मार लिया था जिससे मत्थे का ज़ख़्म कई महीने पकता-फूटता रहा।

यहाँ उनकी बात नहीं कही जा रही है, जिन्हें खाने-पीने-रहने-सोने का कष्ट नहीं होता और रोज़-बरोज़ ईश्वर की दयालुता के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ती जाती है। वे यदि चाहें तो शिष्टाचार की पवित्र ज़िन्दगी बसर कर सकते हैं। न उनसे कुछ कहना है, जो परम्परा से प्रचलित विकृत रूढ़ियों की चोट खाकर चेतनाशून्य हो गये हैं, और उसी रक्षा के लिए बग़ैर उफ़ किये जघन्यतम काम करने को तैयार हैं। दरअसल यह बात है उन लोगों की जो इन कृत्यों से ऊबकर सामाजिक नियमों में तरमीम व तंसीख करना कर्तव्य समझते हैं, फिर भी नहीं कर पाते, जो समझते हुए मजबूरन पाप करते हैं, जो चाहकर भी सच्चरित्र नहीं रह सकते, फ़ाक़ाकशी में या आबरूरेज़ी में जिन्हें हिये और कपाल से प्रकाश खोजना पड़ता है, जिनके बच्चे व्यभिचारी होने को मजबूर हैं और किये जाते हैं, जिनका हृदय कटकर रो उठता है, जिनकी गहरी निश्वासों से यह भयानक तर्क उठता है कि ईश्वर है या नहीं, यदि है तो कहाँ, यदि नहीं तो कैसे।

गाँव के पच्छिम गोमती की छड़ान (कछार) है, चौड़ी कम लाँबी ज़्यादा। ज़मीन मज़बूत होने की वजह से वसन्तपञ्चमी के क़रीब लोगों ने खरबूज़े और तरबूज़ के बीज थाल्हों में छिटका दिये थे। दो-एक खेत बबूल या बेर की टहनियों से रुँधे थे। अभी फल नहीं आये, इसलिये उन्हें रखाने को रात में यहाँ कोई नहीं रहता। गाँव से तिरछी-तिरछी रेंगती हुई पगडण्डी घाट पर समाप्त हो गई थी, जहाँ एक कंकरीली कगार पर फ़ूस की झोपड़ी है।

नदी के उस पार मरघटियों में एक मुर्दा जल रहा था, दक्षिणी और पछुवा हवा के झोंकों में जलती हुई चर्बी की बदबू भरी थी। बिखरे हुए बेर-बबूल के काँटों और हड्डी के टुकड़ों को रौंदती हुई पियारा घाट की ओर बढ़ रही थी।

इस टिपरा घाट के पूर्व तीन सौ गज़ नदी की धारा के उतार पर बुढ़हा घाट था। किनारे चार-पाँच गूलर और दो पाकड़ के पेड़ थे। यहाँ आकर सगयन मिली है। संगम में बड़ा तेज़ भँवर है। यहीं एक लद्धड़ मगर अपनी घाट बनाकर रहता है। गाँव के लोग दिन में आने से भी डरते हैं। फिर रात के सन्नाटे का तो कहना ही क्या है? छबीले कभी-कभी यहाँ रहता था; उसके साथी-सलाही, उस पार नटिनों के साथ पुरवे से तैरकर आ जाया करते थे। एक टूटी मठिया थी; चबूतरा अभी मज़बूत था। इस वक्त भी छबीले अपने दो दोस्तों के साथ चरस का दम लगा रहा था। लम्बी चिलम अठन्नी भर चरस बिठाकर तैयार की गई थी। पियारा का इन्तज़ार

था। प्यारेलाल की वजह से दो दिन खाली गये थे। लेकिन आज पियारा ने सिर की बाज़ी लगाकर ठीक मौक़े पर पहुँचने का वादा किया था।

दिन को नदी नहाने आकर बात पक्की कर गई थी।

(२)

सन्नाटे में पियारा झोपड़ी की ओर बढ़ रही थी। पैरों की आहट मालूम करके छबीले ने सीटी बजाई। पियारा समझकर उधर ही मुड़ गई। छबीले के साथी 'धड़ाम' 'धड़ाम' नदी में कूदकर उस पार के अँधेरे में समा गये।

छबीले के पास पहुँचते ही पियारा ने चरस की चिलम लेकर कस-कस के तीन-चार दमें लगाईं, जिससे छः अंगुल ऊँची लपटें निकल उठीं। एक छोटी डिबिया से कोई सफ़ेद पाउडर-सा चाक़ू के फल से निकालकर छबीले ने पियारा को चटाया और उसी जूठे में थोड़ा और निकालकर ख़ुद चाट लिया। ज़रा देर दोनों मुँह बन्द किये रहे, फिर पियारा ने डिबिया से पान निकाले। एक ख़ुद खा लिया और एक अजीब अन्दाज से छबीले के मुँह में ठूँस दिया। डिबिया के एक कोने में चूना था, क़रीब छः छ माशे दोनों ने मुँह में रख लिया। फिर साँप के गर्म जोड़े की मुद्रा में आपे से बाहर हो गये।

कृष्ण द्वादशी का चन्द्रमा गाँव के पूर्व आम की बाग़ से झाँका। छबीले की गोद से पियारा ने उसको देखा। किन्तु इतने क़िस्म के नशों से डसे रहने पर भी पियारा ने छबीले की गोद में अपना मुँह छिपा लिया।

पास ही सँभालू के दरख़्तों में कुछ खड़क हुई, फिर सूखी पत्तियाँ चरमराईं। छबीले ने समझा कोई कुत्ता है। थोड़ी ही दूर कमीनों के ढोर निकलने का स्थान था। इसलिए किसी नये केस में वहाँ कुत्तों का होना लाज़िमी होता। छबीले के ज़ोर से दुत कारने पर, कुत्ते के बजाय कुलाँच मारकर प्यारेलाल सामने आ गये। ग़ुस्से में पागल और ग़ुर्राते हुए। उनकी लुंग चढ़ी थी, सिर कपड़े में कसकर बाँधा था। एक हाथ में बँकिया थी, एक में चाक़ू; लाठी बग़ल के नीचे। तीन-चार आवारा लौंडे भी मुख़बिरी करते हुए साथ आये थे। छबीले के डर से सामने न आकर इधर-उधर छपटिआये थे।

प्यारेलाल ने दाँत पीसकर पियारा को एक बेहूदा गाली दी। साँस उनकी फूल रही थी, कुछ उद्वेग और क्रोध के कारण और कुछ दमे के दौरे की वजह से। छबीले प्यारेलाल को सामने देखकर और भी गुस्ताख हुआ। प्यारेलाल की वहशत का क्या कहना था। मरने-मारने को तैयार हो गये। पीकर चले थे। पियारा को भी सोने के वक्त पिलाया था। वह छबीले की ओर सिमटी हुई, प्यारेलाल के काँपते हुए कमज़ोर हाथ में एक बहुत तेज़ चाक़ू की फ़ज़ीहत देख रही थी।

छबीले ने पियारा को अपनी ओर घसीटकर प्यारेलाल से भाग जाने को कहा, लेकिन उन पर अब चांडाली सवार हो चुकी थी। छबीले के दाहने हाथ पर बाँके का वार कर दिया। छबीले बाँक, बिछुआ, बिन्नौट, बाना-बनैठी—इन सबका उस्ताद था। बाँका प्यारेलाल के हाथ से छूटकर गूलर की जड़ में जाकर लगा और वह ख़ुद ज़ोर से बालू में बाज़ू के बल धँस गये। फ़ौरन फिर उठे। इस बार चाक़ू से पियारा की नाक काटने को झपटे। गाली पहले से भी ज़ोरदार थी।

छबीले ने एक हाथ घसीट दिया, जिससे चाकू छूटकर प्यारेलाल के पैर में चुभ गया। साथ ही दो लात और तीन-चार लप्पड़ भी रसीद किये। होश ठिकाने आ गये। छबीले अब अभुआ चुका था। प्यारेलाल की मर्दूमी और देखता, लेकिन पियारा ने उसे अपनी क़सम दिलाकर रोक दिया। फिर पियारा के साथ वह एक ओर चला गया।

प्यारेलाल की निगाह दूर तक दोनों का पीछा करती चली गई; फिर टहलकर कुत्ती की तरह अपने आँखों के घर में आकर पड़ रही। प्यारेलाल ने आँखें बन्द कर लीं। जीवन में पहली बार उनकी निगाह उनके जीवन पर पड़ी। बेइज़्ज़ती का काँटा अंतरतम में खटक उठा। शरीर में कोई ख़ास चोट न आई थी, लेकिन दुर्बल आत्मा इस क़दर घायल हो गई थी कि पागलों की तरह कई दफ़े उन्होंने अपना मुँह पीट लिया और पड़े-पड़े सिर पर बालू उलीच ली। फिर ढह गये, जैसे अंतिम क्षणों की प्रतीक्षा कर रहे हों।

प्यारेलाल के साथ के लड़के छबीले की पहली हाँ तड़प में रफ़ूचक्कर हो गये थे। इस वक़्त उन्हें कोई पानी तक देनेवाला न था। चार-पाँच गीदड़ घेरा बनाकर बैठे थे, मगर चूँकि अभी साँस चल रही थी, इसलिए क़रीब नहीं आ रहे। कुछ देर बाद प्यारेलाल करवट लेकर अँगड़ाये, फिर आँखें खोल दीं। नदी के उसपार एक बबूल पर भुजंगा "ठाकुरजी ठाकुरजी" चिल्ला रहा था। वह उठ बैठे। उनके अब तक के हर साल, हर महीने और हर दिन के जीवन में नशे के बाद व्यभिचार और व्यभिचार के बाद नशा हुआ करता था। सुबह बाग़ में, दोपहर को दालान में, शाम को कोठे में, ग़र्ज़ कि किसी न किसी तरह, किसी न किसी मात्रा में कही न कहीं होता ज़रूर रहे। शहर भरकी गोरी गन्दुमी और साँवरियों का पता और हुलिया उनकी और उनके तमाशबीनों की ज़बान पर लिखा था। यन्त्र बनते, ताबीज़ लिखे जाते, वशीकरण-मन्त्र सिद्ध किये जाते, सिर्फ़ एक गिरे हुए मा-बाप की गिरी हुई लड़की को और गिराने को। अमीर हो या ग़रीब, जौहर हर जगह हो सकता है। ऐसे टुकड़-खोरों का आदमी न पहचान पाना कोई बड़ी बात नहीं है। यदि हो जाते सती की आग के दर्शन तो दुम दबाकर भागते ही दिखाई देते। फिर घर पहुँचकर उसके नाम पर एक ख़ास क़िस्म का व्यभिचार करके मिथ्याचार करते। आख़िर में नशा खाकर ग़म ग़लत किया जाता। बैंकों के ब्याज से, लेन-देन के फँसाव से और जाली प्रोनोट और दस्तावेज़ों की तहरीर से हज़ारों रुपये, केवल इसी ध्येय की पूर्ति के लिए पैदा किया जाता था। शहर और मुहल्ले में सब कोई धी-पूत धराये था। सब कोई सदाचार और ब्रह्मचर्य का मूल्य समझता था। अपनी कमज़ोरियों को अपने बच्चों में न आने देने का शक्ति भर प्रयत्न करता था।

प्यारेलाल ने गोमती में जाकर मुँह-हाथ धोया। एक बार फिर वही कमज़ोरों का सा ग़ुस्सा, बिना कुछ आगा-पीछा सोचे हुए आया कि घाट की ओर चलें और छबीले से अपमान का बदला लें। गूलर पर एक बन्दर बैठा था। प्यारेलाल की ओर देखकर उसने खीसें निपोर दीं। प्यारेलाल ने बीच धारा में एक डुबकी लगाई। भीगे

कपड़े पहने हुए नदी का जल हाथ में उठाकर छबीले से बदला लेने की क़सम खाई। फिर तैरकर नदी पार कर गये।

मिसिरपुर, अपने ससुरालवाले गाँव में अब प्यारेलाल को मुँह दिखाने की हिम्मत न हुई। नंगे सिर, नंगे पैर, पागलों की तरह आधी धोती ओढ़े गलियों में दुबकते हुए वह शहर में अपने घर पहुँचे।

ड्राइंगरूम में एक आलमारी थी। उसमें कई क़िस्म की शराब गँजी पड़ी थी। छः पेटियाँ डन-क्रैगन ह्विस्की की थीं। ससुराल जाने के पहले एक दावत दी गई थी। तमाशबीन दो बजे रात तक यहीं डटे रहे थे। नाच हुआ था, भाँड़ भी आये थे। एक नौची की नथ प्यारेलाल ने उतारी थी। कमरा बिना साफ़ किये ही बन्द कर दिया था। इसमें और बगल के खाने के कमरे में भभक और दुर्गंध भरी पड़ी थी। प्यारेलाल ने दरवाज़ा खोला। बड़ी बदबू आ रही थी, फिर भी अपना किया देखने के लिए अन्दर घुस पड़े। जहाँ रंडियाँ नाची थीं, चारों ओर के फ़र्श, क़ालीन, गाव-तकिये और किसी-किसी गिरदे पर पित्त से भरी शराब पीकर की हुई पीली-पीली क़ै पड़ी थी। एक सफ़ेद चाँदनी पर टोमैटो की चटनी का भरा हुआ शीशे का जार टूट गया था।

नशे की तीसरी अवस्था के पहले खोली हुई शराब की बोतलें कुछ ख़ाली, कुछ भरी, तीन-चार सोडावाटर की बोतलों के ऊपर लुढ़की पड़ी थीं। बीच कमरे की गोल संगमरमर की मेज पर एक नंगी वेनिस की औरत की स्टैच्यू थी। किसी तमाशबीन ने उसे अपनी दुपल्ली ज़रदोज़ी की टोपी पहना दी थी। अब भी आधा मुँह ढके खड़ी थी। बड़ा पीकदान जाज़िम के ऊपर औंध गया था, जैसे बकरा काट दिया गया हो। दो ज़नानी शलवारें तबदील की हुई पड़ी थीं। एक इज़ारबन्द में दो मसकाई हुई चोलियाँ बाँधकर प्रमाद की हालत में लैंप स्टैंड के ऊपर किसी ने कुछ तमाशा बनाया था।

प्यारेलाल खाने के कमरे घुसे। यहाँ की हालत और भी अजीब थी। मेज़ों पर कुर्सियाँ, कुर्सियों पर मेज़ें, फूलदानों पर जूते और जूतों पर गुलदस्ते रखरखकर शराबियों ने अपने दिल के अरमान निकाले थे। कुल्ली करने के ताश, चिलमचियाँ, तश्तरी और रकाबियाँ जूठन में सनी इधर-उधर तितर-बितर पड़ी थीं। खाना ज़्यादा तर हिन्दोस्तानी था, लेकिन नक़ल अँगरेज़ी डिनर की की गई थी। छुरी और काँटे बिना इस्तेमाल किये हुए पड़े थे। लोगों ने हाथों से नोचनोचकर खाया था। चिड़ियों की हड्डियाँ, मछलियों की पसलियाँ और काँटे गूद निकालने के लिए तोड़ी हुई पोंगियाँ मेज़पोशों और फ़र्श पर गिरी पड़ी थीं। तीन चार जगह खसी के पुट्ठे इतने बड़े थे कि बछड़े के से जान पड़ रहे थे। दावत की शाम को प्यारेलाल के कुछ शिकारी दोस्त, एक बहुत बड़ा गोन (बारहसिंघा) इधर नेपाल की तराई से मारकर लाये थे। छोटे-मोटे बधिया बैल-सा था। कुल्हाड़ियों से काट-काटकर बावर्चियों ने उसकी लाश पर क़ाबू किया था। प्यारेलाल नंगे पैर थे। उनके पैर में एक हड्डी चुभ गई। उसे निकालकर बाहर निकले।

बावर्चीखाने की बगल के गोदाम में दो जिन्दा बकरे बँधे मिले, जो इस्तेमाल न हो सके थे। प्यारेलाल और ताला लगानेवाला नौकर दोनों नशे की हालत में थे। बकरे वहीं बँधे रह गये। एक ढाबली में कुछ बटेरें बिना दाना-पानी के मर गई थीं। इस वक्त उन्हें बिमते और चींटे चाट रहे थे। बकरों में एक अभी मरा था। दूसरा प्यारेलाल को देखकर मिमिआया। यह घबराकर पानी लाये। तजुर्बा था नहीं। भरा ताश सामने रख दिया। उसने कसकर पी लिया और ढेर हो गया। प्यारेलाल बकरे को आँखें उलटते न देख सके, बाहर भाग आये।

कई रोज़ तक प्यारेलाल घर की हवेली से बाहर नहीं निकले। एक-दो खास नौकरोंको छोड़कर किसी को अन्दर आने की इजाज़त न थी। बाहर दफ़्तर का काम बड़े मुनीमजी हमेशा करते थे। अब भी कर रहे थे।

प्यारेलाल उच्चकुल के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ज़माने शाही से इस घर का लेन-देन का व्यवसाय मशहूर था। शहर के सेठ लोग रोज़गार के मामले में इस घर से कभी बाज़ी न मार सके। नवाबी में इनके परदादे बरदी रखनेवाले बनजारों को, जो ऊँट की खाल के कुप्पों में घी भरते थे और सोने की सिल्लों में भुगतान करते थे, भरती (लागत) उधार देते थे। प्यारेलाल के बाप रेलवे के बहुत बड़े ठेकेदार थे। उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में ही इन्हें अफ़सरान से इतना मिला-जुला दिया था कि रेलवे से घर का सा मामला रहा करता था। डाली की सजावट इनका पुश्तैनी हुनर था। पढ़े-लिखों और धनिकों में प्यारेलाल की साख मानी जाती थी। ऊँच-नीच की भावना और बिस्वाप्रथा क़ायम करने में इनके पुरखों का बहुत बड़ा हाथ था। इनके दादा के परदादा के आजा उस वक्त कन्नौज के राजा के यहाँ दीवान थे।

शहर के बाहर एक बाग़ था। प्यारेलाल यहीं रहने लगे। आदमी बहुत-सी कमज़ोरियाँ छोड़ देता है, सिर्फ़ एक नई कमज़ोरी को पकड़ने के लिए। प्यारेलाल मिट्टी से सोना हो रहे थे, छबीले से बदला लेने के लिए। वह अपने कस और बल की जाँच करते और जब अपने हिसाब से अपने को छबीले से कम पाते तो फिर साधना में मग्न हो जाते।

(४)

पियारा ब्याह में ससुराल न गई थी। गौने में बिदा होकर वह प्यारेलाल के घर गई, लेकिन पन्द्रह दिन में ही फिर मिसिरपुर आ गई। इसकी वजह थी—'कुछ कानी चर्खी, कुछ गीली कपास।' न प्यारेलाल वहाँ उसे रखना चाहते थे, न खुद ही वह वह वहाँ रहना चाहती थी। उन दिनों पियारा चौदहवें साल में चल रही थी। किशोरपन दूर हो रहा था। वह भरी हुई गाय की कलोर-सी थी, जो बछड़ों को दूर से ही देखकर भड़भड़ाने लगती है। वह घबराकर घंटों इकली बैठना चाहती। किसी से कुछ कहने की हिम्मत न होती न बोलने को जी चाहता।

प्यारेलाल कच्ची उमर में स्कूल से ही अवारा हो चुके थे। इस वक्त तो अपनी पूरी जवानी में थे। जब पियारा से पहली बार मिले, मुँह में शराब की बदबू थी; हाथ से सिगरेट की हीक आ रही थी। पियारा जब मिसिरपुर में थी, नित अक्षत और जल

चढ़ाकर शंकर महादेव की पूजा किया करती थी—प्रार्थना भी तमाम कुलीन और उच्चाभिलाषिणी लड़कियों की तरह कि उसे भी सुन्दर-से-सुन्दर घर और वर मिले। लेकिन इस समय पियारा की निगाह में जो सबसे पहला बेहया आदमी आया, वह उसका पति प्यारेलाल था। पियारा के नागिन-जैसे फन में पहले धक्का यहीं लगा था।

दो महीने के साथ में पियारा प्यारेलाल की हरकतों से आजिज़ आ गई। अंत में मिसिरपुर जाते वक्त वह पीली-पीली छः महीने की बीमार-सी जँचती थी। घृणा का उद्रेक तो उसे तब हुआ, जब वह दो साल मिसिरपुर रहकर कुछ तो अपने हाथ और बहुत कुछ अपनी भावज से सीख-समझकर प्यारेलाल-जैसे मर्द की औरत बनकर आई। पहली दफ़े प्यारेलाल के साथ ग़ैर औरत को मौक़े बे मौक़े देखकर वह जलने लगती थी। लेकिन अब उसने ऐसी औरतें पाल रक्खी थीं, जो उसके इशारे पर प्यारेलाल को नरक तक घसीट ले जाने का दम रखती थीं। प्यारेलाल इस बार कहते थे कि उनके घर में अब बहुत समझदार हो गई थीं। इस बार काले साँप की तरह विषपूर्ण प्यारेलाल के सामने वह 'मउहर' सी बजने लगती। उसका एक-एक अंदाज़ बाँकपन से भरा था। इधर-से-उधर और आगे से पीछे झूमते हुए प्यारेलाल ने जिस दिन पहले-पहल अपने जूठे पैमाने से पियारा को शराब पिलाई, वह नाक के सुरों से कह रहे थे कि उसकी एक-एक अदा लाख-लाख रुपये की थी ; अब वह प्यारेलाल की साक़ी बनने के क़ाबिल हो गई थी।

सिर्फ पंद्रह दिन में ही पियारा ने प्यारेलाल को अपनी मुट्ठी में कर लिया था। यारों के बहुत उखाड़ने पर भी उसने अपने पैर ऐसे जमाये कि थोड़े ही दिनों में लोग घर की मालकिन का लोहा मान गये। जो नहीं माने, उनसे प्यारेलाल को घुमा-फिरा कर ऐसा ख़िलाफ़ किया कि भागते ही बन पड़ा। आने के साथ ही पियारा ने थोड़े दिन तक कुंजी-ताली, रुपया-पैसा, कागज-पत्तर घर में ऐसे रखना शुरू किया कि देखनेवाले उसकी औरत की क़ाबिलियत पर दंग रह गये। लेकिन फिर जिस तरह घरौंदे को पूरा करते-करते बच्चे में अपने हाथ ही उसे बिगाड़ देनेकी प्रकृति जाग जाती है, वही हाल उसका होने लगा। वह यह सब कुछ सिर्फ़ प्यारेलाल को अपने वश में रखने के लिए कर रही थी। उसके अंदर एक अतृप्ति थी जो उसे हर समय और हर काम में बेचैन बनाये रहती थी। खाने-पीने, हँसने-बोलने और कपड़े पहनने में भी उसे कभी आसूदगी न होती थी। मिठाई खाती तो खाती ही चली जाती ; मिर्च उस वक्त छोड़ती जब आँख, नाक और मुँह से आग-जैसी निकलने लगती। जो बहुत सुन्दर साड़ी होती, बदलते वक्त उसमें या तो सूराख़ कर देती अथवा पान की पीक और रोशनाई से उसे बर्बाद कर देती। सुन्दर फूल की ओर वह इतना देखती कि थक जाती, फिर लोगों की आँख बचाकर उसे मरोड़कर मसल देती। इसी तरह उसकी अन्य इच्छाएँ भी किसी समय पूरी न होती थीं ; शरीर दुखने लगे, उसे मूर्च्छा हो जाय—यह बात दूसरी थी।

पियारा को प्यारेलाल से आंतरिक घृणा हो गई थी। जब वह अपने से असंतुष्ट होती तो विचार करती कि प्यारेलाल ही ने उसकी यह गत बनाई है। उस समय

उसे अपनी सोहागरात की याद आ जाती। प्यारेलाल के अनाचार से कच्चे तोड़े हुए उसके अंग जैसे फिर दर्द करने लगते। पति को देखते ही पियारा का जी होता कि कि उसे विनष्ट करके फिर न जाने कहाँ खुद भी वह अपने को मिटा दे। वह प्यारेलाल को ही क्या, आदमी के बच्चे भर को तरसा-तरसाकर मार देना और और खुद तरस-तरस कर मरना चाहती थी।

(५)

पियारा ससुराल से मायके चली आई। उसका गाँव मिसिरपुर किसी समय इन मिसिरों की ही ज़मींदारी में था। अब क़सबा बाड़ी के पठानों की मिलकियत है। बलई मिसिर (पियारा के पिता) के एक बाबा को पाठकों से दहेज में मिला था। इनका खानदान एक अरसे से बड़ा शौक़ीन गिना जाता था। घर की औरतें बाहर पानी भरने न निकलती थीं। बलई मिसिर के एक चाचा को गाँव-जवार के लोग लखनऊ के नवाब कहा करते थे, कोई-कोई योगिराज भी। जब गाँव भर के लोग सो जाते, तब कहीं वह जगते और जब सब जगते, तब उनका आराम शुरू होता। चार बजे सुबह रात का भोजन होता। ज़मींदारी और अमीरी बहुत दिन तक चली, लेकिन उसके बिगड़ने और ग़रीबी के आने में बहुत दिन न लगे। दिन चले तो फिर चलते ही चले गये। पियारा के ब्याह के दिनों में रही-सही ज़मीन भी गिरवी हो गई। यद्यपि घर से खाने और खर्चनेवाले ज्यादा न रहे थे—पूत, पतोहू, पियारा और मिसिरजी खुद; फिर भी कुछ पूरा न पड़ता। चार-छः महीने में सब पुरानी अल्ली-बल्ली साफ़ हो गई। मिसिरवंश ने कमाकर खाना सीखा ही न था। छोटे मिसिर (पियारा के भाई) पठित मूर्ख थे। जब दिन अच्छे थे, उनके चाचा ने ज़िला सीतापुर की गुमानीगंज की चौखट से, जो देहात में संस्कृत व्याकरण-शिक्षा का केंद्र मानी जाती है, उन्हें लघुकौमुदी का पंडित कराया था। लेकिन शुष्क व्याकरण घोखने के बजाय यह एक साहित्यरसज्ञ निकले। श्रीमद्भागवत का अध्ययन उन्होंने स्वयं किया, अतः टीका भी मनमानी ही की। दशमस्कन्ध के शृङ्गाररस में डूबकर छोटे मिसिर बह निकलते। दिन में कोठरी बन्द किये गोपियों के सुन्दरतम चित्रों से बातें किया करते। श्रीजयदेव के गीतगोविन्द के कृष्ण से तो उन्हें डाह-सी होने लगती। उनकी स्त्री अपने बाप के तीसरे ब्याह की चौथी लड़की थी। कुछ पढ़ी भी थीं। सारंगा-सदावृक्ष और तोता-मैना के क़िस्से ज़बानी शुरू होते। भाई खुद पढ़े थे और इसे पढ़ाया था। छोटे मिसिर ने अपनी स्त्री को गोपी बनाया; स्वयं श्यामसुन्दर बने। कवि थे ही, कभी उसकी आँखों को आम की फाँकें बतलाते तो कभी चिबुकाधर को किसी अनूठी उपमा पर तोलकर लाल कर देते। जब तक खाने को अन्न और शरीर में रक्त रहा, यह विलास-लीला दिन दूनी रात चौगुनी चलती रही।

वह पियारा के ब्याह का साल था, जब छोटे मिसिर को अपनी स्त्री क्या, चित्र की गोपियों से भी नफ़रत हो चुकी थी। साहित्य और दशमस्कन्ध का पाठ बन्द हो चुका था। जिस दिन घर में पहला फ़ाक़ा हुआ, छोटे मिसिर इधर कहीं उत्तर में भाँभर की ओर भागकर भीख माँगने लगे।

बलई मिसिर भी कुछ 'त' 'म' कर लेते थे; इतना नहीं कि कुछ पढ़-लिख सकते। इनके बचपन में तुलसीकृत रामायण की कोई खास प्रति घर में थी, जिसके क्षेपक में श्रीराम-जानकी का विवाहोत्सव बड़े रोचक ढंग से लिखा गया था। बलई मिसिर के एक चचाज़ाद भाई उसी रामायण के अंश को रोज़ नियमित रूप से पढ़कर प्रेमाश्रु बहाया करते थे। बलई को अपने किशोरपन में सलहज और सालियों का रामजी से खुला हुआ मज़ाक बड़ा प्यारा लगता, इस कारण कथा का वह अंश कंठ हो गया था। जब तंगदस्ती बढ़ी, तब बलई को जीविकोपार्जन की एक युक्ति सूझी। वह बहुत तड़के नदी में नहाकर टीका-चन्दन कर लेते। पास-पड़ोस के पुरवा से निकल जाते। वहाँ दुपहरी काटते वक्त लोगों को रामायण सुनाते। पुस्तक सामने रेहल पर रख लेते और जहाँ तक हो सकता खूब गा-गाकर ध्यानमग्न भक्तगण को सुनाते। यह दिखाने को कि पुस्तक से कथा पढ़ रहे हैं, वह थोड़ी-थोड़ी देर में पन्ना भी उलट देते।

इस व्यवसाय से कई महीने तक बलई के कुटुम्ब का खाना-पीना और लोन-तम्बाकू चलता गया। जब पैसा था, घर भर पान में बना हुआ ज़र्दा-तम्बाकू खाते थे। जब डली-कत्था लाने की भी ताब न रही तो चूना और सस्ता तम्बाकू मींजकर औरत-मर्द दिन भर फाँका करते। परन्तु बुरे दिनों ने बलई को यहीं से न छोड़ा। वही अपाहिज और पागल छोटे मिसिर एक दिन क़सबे के (क़स्साब से नीलगाव का *) गोश्त लाया। घर में हिरन का बता दिया। गोश्त पकाया गया और खाया भी गया अंत में बात खुल गई। पठानों को क्या ग़रज़ कि वे नीलगाव के गोश्त को बकरे या हिरन का बतलाते। इस दिन से बलई मिसिर का लोटा बन्द हो गया। कथा बाँचने का व्यवसाय भी समाप्त हुआ और सबके सब खूब भूखों मरने लगे।

जिस दिन पहले-पहल पियारा छबीले की ओर खिंची, बड़ा अजीब और पुर-दर्द क़िस्सा था। वह महुआ बीनने गई थी, जिन्हें खा-खाकर चार दिन से घर के तीनों प्राणी पानी पिया करते। अस्ताचल की ओर जानेवाला चैती का पूरा चाँद ग़रीब को उजाला दिखाने के लिए एक छप्पर से अटक-सा रहा था। पियारा ने महुए बिनकर कोंछ में भर लिये थे; फिर जड़ पर बैठकर, थकी-सी कुछ सोच रही थी। छोटे मिसिर भाग चुके थे। लोटा बन्द हो गया था। बलई दिन भर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते थे। पठानों का क़र्ज़ा खाया गया था, इसलिए दो तगादगीर घर घेरे बैठे थे। छबीले के पैग़ाम पर पैग़ाम आ रहे थे। घर का सारा क़र्ज़ा अदा कर देने को कहता था; सबके खाने-पहनने का इन्तज़ाम कर देने को कहता था। पियारा की भावज एक अहीरिन से पवित्रता और पतिपरायणता का मख़ौल उड़ाया करती—पियारा के कोमल स्त्रियोचित भावना के बच्चे की टाँगें उखाड़ देने के लिए।

बलई मिसिर ने एक बार फिर मूछें चिकनाईं। धोती और मिरज़ई चुनकर पहनने लगे। पठानों का क़र्ज़ा अदा कर दिया गया। गाँव भर में उनका मुँह उजाला हो

---

* इतना भाग दीमक चाट गयी हैं।—सं०

गया। टूटे खँडहर घर की एक बार फिर लेसपोत हुई। अफ़ीम का मज़ा दुगना करने के लिए एक गाय खरीदी गई। पियारा अब बड़ी शौक़ीन हो गई थी। प्यारेलाल के छबीले के हाथ पिटने के बाद जैसे हया का बाँध टूट गया था। यह छबीले के अच्छे दिन थे। घाट के ठेके से आमदनी तो बँधी-टकी थी, ज़िले के डाकुओं में उसकी धाक अलबत्ता थी। लोगों से उसने चौथ वसूल करना शुरू किया था। जंगल में मंगल हुआ करता। अँधेरी रातों का जलसा लोग डरते-डरते देखते और खुश होते। वे नटिनें और बेड़िनें, जिनके मुँह से पान और पैर से जूती कभी न निकलती; छबीले का नाम सुनकर सूखतीं; ताल्लु और मुँह का मोह छोड़कर नंगे पैर धूल में नाचने दौड़तीं। जुए की फड़ पर वह छिन भर में सैकड़ों रुपया दान कर देता था। देहाती पंडित उसे जीतने का मुहूर्त बतलाने और सफलता के लिए "बगलामुखी" का अनुष्ठान करके अपनी जीविका जुटाते। दूर की न सोच पानेवाले लोग उसे बिना राज-पाट का राजा कह रहे थे।

मिसिरपुर के ज़मींदार पठानों को पियारा और छबीले का रवैया अच्छा न लगता था। चौहद्दी में बल्ई मिसिर की शहर में ब्याही लड़की मशहूर हो गई। कभी कभी भोले किसानों के नौजवान लड़के भी उसके साथ बेक़ायदे उठते-बैठते पाये गये। पूरी जवार छबीले के ख़िलाफ़ हो गई। दूसरे साल कोशिश करके लोगों ने उसे घाट का ठेका न लेने दिया। एक डाके में चालान कराके तेज़ लोगों ने उसका बहुत-सा रुपया बरबाद करा दिया। पुलिस की तेज़ निगरानी और गाँववालों का विरोध होने से छबीले की ऊपरी आमदनी बन्द हो गई। दूसरे साल के अन्त तक वह क़रीब-क़रीब मुफ़लिस हो गया। पियारा और बल्ई के साथ किसी तरह निर्वाह करता जाता था।

जब दिन फिर से पतले पड़ने लगे, तब एक रात छोटे मिसिर की स्त्री, पियारा की ले भगनेवाली चीज़ें लेकर एक अहीर के साथ बम्बई भाग गई। बल्ई को क्षणिकोन्माद हो गया था। एक दिन सुबह तालाब में डूबकर उन्होंने जान दे दी। छबीले और पियारा की हालत जब बद से बदतर हो गई तो एक दिन गांववालों ने उन्हें गांव से निकल जाने के लिए मजबूर किया। घाट के क़रीब एक झोपड़ा डाल दिया गया; वहीं दोनों रहने लगे।

इधर प्यारेलाल अपनी साधना में लीन थे। जब अपनी समझ से छबीले को पछाड़ लेने योग्य बन चुके तब एक बरसात की अँधेरी रात में छुरा लेकर घर से चल निकले। रातोरात शहर से वह गोमती के किनारे पहुँचे और बुबहा घाट के पास नदी पार की। चलते-चलते वह अचानक ठिठुक गये। यह वह जगह थी, जहाँ छबीले ने उनकी दुर्गति की थी। खून दूने जोश से खौलने लगा। वह आगे बढ़े कि हवा को चीरती हुई कहीं से तेज़ कराहने की आवाज़ उन्हें सुनाई दी। वह आगे बढ़ना चाहते थे, लेकिन वह आवाज़ अजीब दर्द से भरी हुई, सन्नाटे को भेदकर, बार-बार उन तक पहुँचने लगी। वह अटकल से उसी ओर चले। वह आवाज़ उन्हें एक झोपड़े के पास तक खींच लाई और अब एकदम स्पष्ट और दारुण होकर एकाएक बन्द हो गई। झोपड़ी के फड़के को लात मारकर एक बौछार के साथ वह भीतर

दाखिल हो गये। मिट्टी के तेल की डिबिया के प्रकाश में उन्होंने देखा कि एक ओर पियारा बेहोश पड़ी है। खून और मांस के लोथडों में नवजात शिशु उस झोपड़ी में अकेले शब्द कर रहा था। एक ओर किसी चीज़ की भयानक दुर्गंध उठ रही थी। बाघी के आबलों से छबीले का बदन तिल-तिल सड़कर वह रहा था।

एक क्षण-भर स्तब्ध प्यारेलाल ने यह दृश्य देखा ; फिर घृणा से एक ओर छुरा फेककर सोचने लगे कि आदमियत के नाते अब उन्हे क्या करना चाहिए।

अलाव

[सुहैल अज़ीमाबादी]

गाँव से पूरब एक बड़ा सा मैदान है। खेत की सतह से कुछ ऊँचा और चौरस। लोग कहते हैं कि पुराने ज़माने में किसी राजा का यहाँ पर राजमहल था। उसी की मिट्टी और ईंट से ज़मीन ऊँची हो गयी है। मैदान के पूरबी किनारे पर पीपल और बरगद के पेड़ हैं और उसके बाद खेत। उत्तर तरफ़ नागफनी की घनी और लम्बी क़तार है। उसके बीच बीच में कोई नीम या पाकड़ के पेड़ और उसके बाद खेत। दक्खिन में एक किनारे पर एक पीपल का पेड़ है। उसके पास ही एक कुँआ और उसके बाद खेत। पूरब दक्खिन कोने पर एक बड़ा सा गढ़ा है जिसमें बरसात का पानी जमा होकर कई महीने रहा करता है। लोग कहते हैं कि राजमहल का यह पोखर था। इसमें रानी अपनी सहेलियों के साथ नहाया करती थीं। नहाने से पहले पोखर में गुलाब का अर्क़ डाल दिया जाता था, जिसकी महक दूर दूर तक फैल जाती थी। चांदनी रातों में राजा और रानी दोनों नाव पर उस पोखर में सैर किया करते थे। यह पोखर बहुत बड़ा था। भरते भरते भर गया और जो निशान बाक़ी रह गया है वह भी राजा और राजमहल की तरह मिट जायगा।

गाँव में अब किसान ही किसान रहते हैं—प्रजा ही प्रजा। राजा को मरे, बरबाद हुए तो ज़माना बीत गया। उसका राजमहल तो मैदान है।

यह मैदान गाँव वालों के लिये सब कुछ है। हर रोज़ सारे गाँव के ढोर इस मैदान में जमा होते हैं। लोग अपनी अपनी भैंसों को कुँवे पर धोते हैं, फिर घर ले जाते हैं। फ़सल कटने पर खलियान लगाते हैं। ऊख पेरने को कोल्हू बिठाते और कोल्हूसार बनाते हैं। गांव के लड़के सुबह से शाम तक खेलते और बड़े बूढ़े किसी पेड़ के नीचे बैठ कर बातें करते हैं।

\+ \+ \+ \+

कार्तिक का महीना था। ठंढक अच्छी खासी पड़ने लगी थी और मैदान में कतकी धान का खलियान लगाया जाने लगा था। गांव में नयी ज़िन्दगी फैली हुई थी।

कुछ लड़के मैदान में कबड्डी खेल रहे थे। औरतें कुआं में से पानी भरकर अपने घरों को ले रही थीं। फगवा पूरब की तरफ आग जलाकर अपनी लाठी को सेंककर सीधी कर रहा था। उसी दिन वह अपनी बहिन के घर धरमपुर से आया था। बहनोई ने चलते वक्त यह लाठी अपनी बँसवाड़ी में से काटकर दी थी। लाठी नीचे की तरफ़ से जरा टेढ़ी थी। उसका सीधा करना ज़रूरी था।

फगवा ने लाठी सीधी करने को अलाव जला रखा था। पहले लाठी को सेंक कर पीपल की बीड़ में फंसा कर उसे सीधा करता। वह अपनी बहन के यहां से एक गीत सीखकर आया था। उस गीत को हलके हलके सुरों में गाता जा रहा था। साथ

ही उसके दिमाग में बहुत सी बातें घूम रही थीं। सबसे ज्यादः यह कि गांव में एक बहुत बड़ी सभा होनी चाहिये। ठीक वैसी ही या उससे भी बड़ी जैसी उसकी बहिन की ससुराल में हुई थी। और उस सभा में वह खड़ा होकर कुल लोगों को सारी बातें समझाये, जैसे वहां एक आदमी ने समझाया था।

फगवा अपने खयालों में मगन था कि अकलू आ गया। यह अधेड़ उम्र का आदमी था और गांव के नाते में फगवा का चचा था। अकलू ने आते ही कहा—बेटा, लाठी तो अच्छी है मगर इसमें गड़ासा लगे तब।

फगवा ने पलट कर देखा और बोला—हाँ चचा, पर गड़ासा अच्छा मिल जाय तब न।

शाम हो चुकी थी। धीरे धीरे अँधेरा बढ़ता जा रहा था। लाठी सीधी हो चुकी थी। उसने खूब घुमा घुमा कर लाठी को देखा। फिर पीपल के पेड़ के सहारे पर खड़ा करके दो क़दम पीछे हटकर देखने लगा। अकलू भी लाठी को एक ख़ास नज़र से देखता रहा, जिसका मतलब यही हो सकता है कि लाठी अच्छी है, और अगर मिल जाय तो बहुत अच्छा हो।

अभी लाठी को यह दोनों देख ही रहे थे कि सामू और बाढ़ू भी घुमते फिरते आ गये। बाढ़ू ने आते ही कहा—अरे भैया, अभी उतना जाड़ा तो नहीं पड़ता। अभी से अलाव तापने लगे।

अकलू बोला—फागू अपनी लाठी सीधी कर रहा था। अलाव कौन तापेगा अभी।

बाढ़ू बोला—मगर आग भली मालूम होती है भाई। वह आग के पास बैठ गया और आग तापने लगा। उसके बैठते ही और लोग भी बैठ गये। साँवल उसी तरफ आ रहा था और उन लोगों की बातें सुन चुका था। वह आते ही बोला—वाह बाढ़ू चचा, पहले तो दूसरे को टोका और सबसे पहले ही बैठे भी आग तापने, वाह।

बाढ़ू बोला—हां बेटा, अब आग भली मालूम होती है। और हमने टोका कब था। अरे ऐसे ही बोल रहा था।

सबके सब आग तापने लगे। आग अभी ज्यादः थी, इसलिये कुछ दूर ही दूर बैठे। बाढ़ू ने पांव फैलाते हुए कहा—अरे यह लौंडे सब इतने बदमाश होते जा रहे हैं कि क्या कहा जाय।

सामू ने कहा—क्या चचा, हमलोगों ने कोई बदमाशी नहीं की।

बाढ़ू बोला—नहीं, तुम सबकी बात नहीं। यही तो मेरा कहना है, तुम सब जवान और बाल-बच्चे वाले हुए, कभी कोई ऊँची नीची बात सुनने में न आयी। पर अबकी तो दुनिया ही बदलती जा रही है। देख अभी रास्ते में आ रहे थे तो देखा कि छप्पी और छेदू के दोनों लड़के रेंड़ के डंठल जलाकर बीड़ी की तरह भक भक खींचकर धुआँ उड़ा रहे हैं। डाँटा तो दोनों खाँसते हुए भागे। सबका कलेजा जल जायगा।

इतने में छप्पी आ गया और बाढ़ ने उससे भी यह बात दोहरा दी, लेकिन छप्पी

ने कहा—भैया अब ओ जमाना ही न रहा। हम सब भी कभी लड़के थे। एक का क़िस्सा सुनाये तो दंग रह जाओगे। अभी कल की बात है, हम मैदान से आ रहे थे। मेरे हाथ में लोटा था। ख्याल हुआ कि बड़े कुँए पर लोटा माँजकर पानी भर लें। जैसे ही कुँए पर पहुँचे तो देखा रेतू कलुआ की औरत का रास्ता रोके खड़ा है। वह कह रही है—जाने दो रेतू। तो रेतू कहता है—ऐसे नहीं भौजी। वैसे कहो 'मेरी राह छोड दो गिरधारी देर हुई।' याद है कृष्णलीला वाला गाना ? जब उसने बाल्टी उठा कर कहा कि सारा पानी उछल दूँगी तो रास्ता से भागा।

साँवल बड़े जोर से क़हक़हा लगाकर हँसा और बोला—चचा, यह भी कोई बात है। भौजी है, वह हँसी ठट्ठा करता होगा। जानते ही हो रेतू कैसा हँसोड़ है।

लेकिन छप्पी ने बुज़ुर्गाना अन्दाज़ से कहा—हुश ! यह भी क्या ठट्ठा है। ऐसे ही लड़के खराब हो जाते हैं। यह तो हमने देखा था। कोई दूसरा देख लेता तो न जाने कितनी बातें जोड़ कर कहता और बदनामी होती। गाँव में ऐसी बात कभी नहीं हुई।

साँवल चुप हो गया और बाढ़ू न जाने कबतक बोलता रहता लेकिन सामू ने बीच ही में—अरे फागू तूने तो कुछ कहा नहीं ? सुना है धरमपुर में बड़ी बड़ी सभा हुई। बड़े बड़े लोग जमा हुए। किसानों के फायदे की बात हुई।

फागू ने इस अन्दाज़ से सब पर निगाह डाली जैसे वही अकेला सब कुछ जानता है। बाक़ी सब काठ के उल्लू हैं, फिर बोला—हां बहुत बड़ी सभा हुई थी। एक साधूजी भी आये थे। वह सबको एक बात कह गये। सब किसान एक हो जायें। आपस में मिल जुलकर रहें। तब ही जमींदार के ज़ुलम से बच सकते हैं।

सानू बोला—भैया बात पते की है। हमलोगों पर जितना ज़ुलुम होता है उसे कौन जाने। साल भर मेहनत करके उपजाते हैं और हमारे ही बाल बच्चे भूखों मरते हैं।

आग कुछ धीमी हो चली थी इसलिये बाढ़ू कुछ और भी आग से क़रीब हो गया और बोला—बात तो ठीक है पर होना मुश्किल है न ! फागू बोला—मुश्किल क्या है ? आज से हम लोग ठान लें कि आपस में मिल जुलकर रहेंगे। ज़मींदार को बेगार नहीं देंगे। कोई नाजायज़ दबाव नहीं सहेंगे। बस ! धरमपुर में तो ऐसा ही हुआ है। अब तो वहाँ चैन ही चैन है।

अभी बात आगे नहीं बढ़ी थी कि तूफ़ानी मियाँ आ गये। यह बूढ़े आदमी थे और तीस बरस से गाँव में करघा चलाते थे। तूफ़ानी मियाँ ने आते ही अपनी गौरैया (हुक्का) ज़रा अलग रखकर एक दम लगाया, और इस अन्दाज़ से सबकी ओर देखा जैसे एक मजिस्ट्रेट वकीलों की बहस सुनने के लिए तैयार हो। लेकिन तूफ़ानी मियाँ को ध्यान देते देखकर सब के सब चुप हो गये, जैसे अब वह कुछ कहने वाले थे। अब कोई कुछ न बोला तो तूफ़ानी मियाँ बोले—अरे, सब चुप होगये। बात क्या थी ?

साँवल ने जवाब दिया—फागू धरमपुर गया था तूफ़ानी चचा, वहीं की बात थी।

क्या बात थी ?

तूफ़ानी मियां ने इस अन्दाज़ में सवाल किया जैसे अगर उन्हें न बताया गया तो फिर कोई बात हुई ही नहीं. सबका सुनना बेकार हुआ। फागू ने फिर से सारी बात दुहरा दी। तूफ़ानी मियां ने हुक्के का लम्बा दम लगाकर बुज़ुर्गाना अन्दाज़ में कहा—बात तो ठीक है, मगर भाई यह करम की लिखी बातें हैं। आदमी क्या कर सकता है। यह सब खुदाई कारखाना है।

तूफ़ानी मियां ने एक ही वाक्य से सबकी हिम्मत तोड़ दी। अब भला खुदाई कारखाने में बहस करने का सवाल कैसे पैदा होता! छक्कू तेली ने कहा—तूफ़ानी मियां ने सोलह आना ठीक बात कही है। परमात्मा ने सदा के लिये आदमी को बड़ा छोटा बनाया है। अगर ऐसा न होता तो अपना काम ही न चलता—

छुट्टू धोबी ने और आगे बढ़कर प्रशंसा की और कहा—हुँः अगर जमींदार न रहेगा तो कौन रहे। सब जमींदार हो जायें तो फिर खेती कौन करेगा ?

दिल्लू चुपचाप बैठा सुन रहा था। वह बड़ा जोशीला था। सबकी बातें सुनकर उसका खून खौल रहा था, लेकिन उसका चचा तूफ़ानी बैठा था। बात आकर उसके ओठों पर रुक जाती थी। लेकिन अब उससे सहन न हो सका। उसने कहा-अपने किये सब कुछ हो सकता है।

तूफ़ानी मियां ने और उनके साथ दूसरों ने उसको आँखें निकालकर देखा। वह हाल ही में कलकत्ता में जहाज़ घाट पर कुली का काम करता था। दिन रात मेहनत। चीन जापान और अमरीका से आये हुये माल जहाज़ से उतारा करता था। उसको कम्पनी से रोज़ झगड़ना पड़ता था, वह पहले कई हड़तालों में शरीक हो चुका था, और देहात में ज़मींदारों के अत्याचार से भी परिचित था। उसने कहा—हम लोगों को अब तैयार होना ही पड़ेगा।

साँवल ने कहा—ठीक कहते हो दिल्लू। तूफ़ानी मियां ने आग्नेय नेत्रों से दिल्लू को देखा और बड़बड़ाते हुए उठे—सच है, कलकत्ता जाने से आदमी का दिमाग़ खराब हो जाता है।

इसके साथ ही छुट्टू और छक्कू और एक दो आदमी उठकर चले गये और इस ढंग से जैसे उस जगह पर कोई आफ़त आनेवाली है। लेकिन इन लोगों को उनकी परवाह भी न हुई, बल्कि सामू ने कहा—जुलुम पर जुलुम है। परसों ही की बात है, मेघू को पटवारी जी ने मारा है। बात यह थी कि पटवारी जी चाहते थे मेघू की औरत आकर उनका चौका करे और उसने इंकार कर दिया।

यह सब अब नहीं चल सकता। कल मेघू को कहा जाय कि वह भी काम करने न जाय।—दिल्लू ने सलाह दी और सबने हां कही। फिर आगे चलकर क्या होगा, इस पर भी बहस रही लेकिन सबने परिणाम से निश्चिन्त होकर यही निर्णय किया कि पटवारी जी को रसीदाना न दिया जाय। दबाव डालकर दूध घी वसूल कर लेते हैं, वह भी बन्द और बेगारी बिल्कुल समाप्त—

"बेगार खतम" कहते समय दिल्लू ने थोड़ा सा कूड़ा करकट अलाव में डाल

दिया। अलाव से फिर एकबार थोड़ी सी आग ऊँची हुई और बुझ गयी। साँवल ने कहा—तब दिल्लू ठीक है न?

दिल्लू ने कहा—पक्की बात है भाई। मर्द बात से नहीं पलटता।

फागू ने कहा—बिलकुल ठीक।

फिर सीतल बोला—लेकिन दिल्लू भय्या, वह जो पंडित जी आते हैं न, कहते थे कि तुम सब चुपचाप बैठे रहो। यह सब काम कांग्रेस कर देगी।

सीतल के बोलने से जुम्मन को भी हिम्मत हुई। वह भी अपने मामू के घर गया था। वहाँ मुसलमानों का एक बड़ा जलसा हुआ था, जिसमें कांग्रेस की बुराइयां वह सुन चुका था उसने कहा—दिल्लू भाई,—कांग्रेस—मौलाना साहब तो कहते थे—

दिल्लू ने ज़रा तीखे अन्दाज़ में कहा—धत्, यह सब बकते हैं। गरीब का कोई साला नहीं होता। अपने करना होगा जो हो।

यह कहते हुए दिल्लू उठ खड़ा हुआ। रात भी काफ़ी जा चुकी थी। अलाव भी बुझ चुका था और हवा में ठंडक काफ़ी पैदा हो चुकी थी। दिल्लू के उठते ही सब के सब उठ गये।

× × × ×

दूसरे दिन से सारे गांव में हलचल थी। बूढ़े और जवान सब के सब कुछ न कुछ इसी क़िस्म की बातें करते थे। जवान तो हर दरवाज़े पर कहते फिरते थे—'आज सभा होगी।' बच्चे तमाशा समझ रहे थे और बूढ़े नतीजे पर गौर कर रहे थे, कि भुस में चिनगारी पड़ गई। पटवारी ने इन्द्र महतो और तोताराम को बुलाकर खूब डाँटा, गालियां दीं और साफ़ साफ़ कह दिया कि अगर इस साल तुम लोगों ने बक़ाया बेबाक़ नहीं कर दिया तो कोई खलिहान से एक दाना भी उठाकर न ले जा सकेगा। इससे जोश और भी बढ़ गया।

शाम को दो चार जवान मैदान में जमा हुए मगर ज़्यादा लोग क़तराकर निकल गये। सभा करने वालों को सख़्त गुस्सा हुआ। वह सबके घरों में फिर गये और सबसे कहा—सबका हाल इन्द्र महतो और तोताराम का होगा। तुम सब चिड़ियों की टोली की तरह चीं चीं करते रह जाओगे और पटवारी तुम्हें बाज़ की तरह हर रोज़ शिकार करेगा। आज वह, कल वह।

सुबह उठकर साँवल मुँह धोने बैठा था कि प्यादे ने आकर कहा—साँवल भाई, तुम्हें पटवारीजी ने बुलाया है, कोई ज़रूरी बात है।

साँवल का माथा ठनका तो ज़रूर लेकिन वह चोर नहीं था जो मुँह

मुँह हाथ धोकर उसने कुछ खाया-पिया और कचहरी की तरफ़ चला। रास्ते में उसे ख़याल आया कि इसकी खबर दिल्लू को भी करता जाये। जैसे ही दिल्लू के घर की तरफ़ मुड़ा फागू और दिल्लू आते दिखाई पड़े। फागू ने साँवल को देखते ही कहा—भैया, जानते हो, कचहरी से बुलावा आया था। गुमाश्ताजी भी आये हुए हैं और यह भी मालूम हुआ है कि मालिक से कोई खास हुक्म लेकर आये हैं—क्या राय है—

साँवल ने जवाब दिया—चलो तुम्हारे दालान में बैठकर बातें करेंगे।

तीनों गये और बैठकर बातें करने लगे। फागू ने यह भी बताया कि उनकी सारी बातें पटवारी के कानों तक छुट्टू धोबी पहुँचाता है। इससे साँवल को बड़ा गुस्सा आया और वह बोला—दो साले को पकड़कर चार लाठी। हमलोग से खुचड़। खोद-खोदकर बात पूछता है, और अपने बाबा को कह आता है, हरामी।

दिल्लू ने कहा—गुस्सा करने की बात नहीं साँवल, काम करना है। धीरज से काम करना होगा।

साँवल ने कहा—ऐसे सालों को सज़ा ज़रूर मिलनी चाहिये।

फागू ने पूछा—तो अब क्या होगा ?

साँवल ने कहा—डरने की बात क्या है, ठहरो। पटवारी ने बुलाया है, वहाँ से हो आऊँ। देखूँ बात क्या है।

साँवल चला गया ! दिल्लू और फागू कचहरी से होकर आये थे। उन दोनों पर डाँट पड़ चुकी थी। लेकिन उन दोनों ने साँवल से बातें इसलिए नहीं कहीं कि वह और भी गुस्सा हो जायेगा। ज़रा-सी बात में उसको गुस्सा आ जाता है, और रोकने की कोशिश इसलिए न की कि वह हरगिज़ न रुकता। बल्कि बात और भी बढ़ने का डर था। वह दोनों देर तक चुप रहे, लेकिन फागू ने कहा—दिल्लू भाई, साँवल को वहाँ न जाने देना। गुमाश्ताजी अगर टेढ़े होकर बोलेंगे तो साँवल भैया नहीं सह सकते। वह तीखे मिज़ाज के आदमी हैं।

दिल्लू ने एक लंबे साँस के साथ कहा—यह ठीक है, पर न जाने पर भी तो बात बढ़ती है। अब जो भी हो देखा जायगा।

फागू बोला—फिर भी........।

यकायक वह चुप हो गया। साँवल तेज़ी के साथ सामने से आ रहा था। उसका चेहरा लाल हो रहा था और धोती फटी हुई थी। अभी वह दिल्लू से कुछ कह भी न सका था कि साँवल आ गया और आते ही बोला—फागू, लाठी तो दे।

दिल्लू और फागू दोनों खड़े हो गये। दोनों ने साँवल को समझाया, मगर वह तनता जा रहा था। उसने बताया कि वहाँ पटवारी और गुमाश्ता ने डाँटा, बात बढ़ी, इस पर गुमाश्ता ने फाटक बंद करवा दिया और चाहता था कि मारपीट करें मगर वह उस तरफ़ की दीवार को, जो नीची है फाँदकर भाग आया। उसने यह भी बताया कि छट्टू और झीबी हज्जाम सारे फ़साद की जड़ हैं और वह इन दोनों से बदला ज़रूर लेगा।

दिल्लू होशियार आदमी था। उसने साँवल को एक कमरे में बंद कर दिया और बाहर से कुण्डी लगा दी। फागू कुछ जोश में था और कुछ डर रहा था। दिल्लू पर कोई खास असर न था। वह ऐसे झगड़े कलकत्ते में बार बार देख चुका था। फागू के लिए बात नई थी। जोश तो ज़रूर था मगर एक तो दिल का कुछ कच्चा था और दूसरे समझ भी ज्यादा न थी। वह घबराकर दिल्लू का मुँह देखने लगा, फिर बोला—अब क्या होगा, दिल्लू भाई !

दिल्लू बोला—देखा जायेगा।

इतने में गाँव के कुछ बड़े-बूढ़े आ गये और लगे दोनों को समझाने। दिल्लू सब की बात का ठंढे दिल से जवाब देता गया। सबसे यह भी कह दिया कि अब कोई बात न होगी, साँवल चला गया। लेकिन जब कुछ जवान आदमी आये तो उनसे बोला—बोलो अब क्या इरादा है, अब इज़्ज़त चाहते हो या ज़िल्लत?

ज़िल्लत कौन चाहता है! सबने कहा कि कुछ भी हो हम साथ देंगे. लेकिन दिल्लू ने सबको समझा दिया कि कोई ऊँची-नीची बात न होने पाये। सिर्फ अब काम यह करना है कि आस पास के गाँवों में लोगों को तैयार किया जाय। अभी बात ख़त्म भी न होने पाई थी कि कचहरी से ज़मींदार के पियादे लाठियाँ लेकर साँवल को पूछने आये। दिल्लू ने कह दिया कि वह कहीं चला गया है। लेकिन झींबी हज्जाम ने देख लिया था कि वह इसी मकान में आया है और इन दोनों ने उसको कमरे में बंद कर दिया है। झींबी ने प्यादों को बता दिया था और प्यादों ने बात बात में कह दिया कि झींबी से मालूम हो चुका है कि वह इसी मकान में है। एक दो ने यह भी कहा कि वह उसे पकड़कर ले गये बग़ैर नहीं रहेंगे।

अब दिल्लू को ताब न रही। उसका चेहरा ग़ुस्से से लाल हो गया, होंठ काँपने लगे। उसने तनकर कहा—तुम उसे नहीं ले जा सकते। अगर तुम ज़मीन लाल करना चाहते हो तो कुण्डी को हाथ लगाओ—

प्यादे आगे बढ़ना चाहते थे, मगर पंद्रह बीस आदमियों को देखकर उनकी हिम्मत न पड़ी। उनमें से एक दो ने यह भी राय दी कि चलकर मालिक से सारा हाल कह सुनाना चाहिये, बग़ैर हुक्म के झगड़ा मोल लेना ठीक नहीं।

इस वक्त से शाम तक एक ही ख़बर उड़ती रही—गुमाश्ताजी दूसरी जगहों से आदमी बुलवा रहे हैं, कि गाँव को लूट लिया जाय, खलिहान पर क़ब्ज़ा कर लिया जाय। अब खुल्लमखुल्ला लड़ाई का एलान था। गांव के बड़े बूढ़े चुप थे। अब किसकी तरफ़ से बोलते और किसको समझाते—और उनकी सुनता भी कौन था। एक तरफ़ था हुकूमत का ग़ुरूर और दूसरी तरफ़ प्रतिष्ठा की भावना। इन दोनों में समझौते की गुञ्जाइश कहां है।

बात बढ़ी तो काम भी बढ़ गया। आस पास के सारे गाँवों में सनसनी फैल गई। हर गाँव के लोग उठ खड़े हुए। सबके साथ एक ही जैसी बात थी। हर एक को एक ही क़िस्म की मुसीबत का सामना था। अब सब के सब एक दूसरे की मदद करने पर तैयार थे।

ज़मींदार के कारिन्दे किसानों से ज़्यादा अक़लमन्द होते हैं। उनका काम ही है किसानों पर ज़मींदार का रोब बाक़ी रखना, उनके लिए काम करना, तहसील-वसूल और हुक्म न मानने वालों को सज़ा, सर उठाने वालों का सर कुचलना। इसीलिए तो ज़मींदार उन्हें रखता है। ये लोग सब कुछ जानते हैं, किस वक्त क्या काम करना चाहिए। फ़ीलवान जानता है कि हाथी को किस तरह क़ब्ज़े में रखा जाता है।

पटवारी जी कचहरी से निकले और थाने पहुँचे। एक रिपोर्ट लिखाई, गांव के किसान कचहरी को लूटना और खलिहान से सारा ग़ल्ला उठा लेना चाहते हैं। गुमा-

इताजी गये और मालिक के कान भरे और बहके हुए किसानों को रास्ते पर लाने का सामान हो गया। ये लोग गांव में चिड़ियों की तरह चीं चीं करते रहे।

दो चार दिन भी न गुज़रे थे कि साँवल, दिल्लू और फागू के साथ कई आदमी को दफ़ा १४४ की नोटिस मिल गई। वे न तो खलिहान की तरफ़ जा सकते थे और न कचहरी की तरफ़। गांव में एक बड़ी सभा भी हुई तो ये लोग मैदान न जा सके; वहाँ खलिहान था।

सभा होने के बाद कुछ और लोग भी सामने आ गये और उनपर भी बड़ी नज़र पड़ने लगी, लेकिन आग जो लगी थी वह बुझी नहीं, बढ़ती ही गई।

साँवल सुबह सवेरे अपनी ज़रूरत से खेतों की तरफ़ जा रहा था। उसके एक हाथ में पानी से भरा हुआ लोटा था। सामने झीबी आता हुआ दिखाई पड़ा। साँवल ठहर गया। झीबी जैसे ही पास आया, साँवल बोला—तुमको हम सबसे बैर काहे का, झीबी भाई। तुमको सोचना चाहिये कि तुम भी किसान हो।

झीबी बोला—तुम लोग तो झूठमूठ बदनाम करते हो।

साँवल को उसका यह कहना धोखा न दे सकता था। वह सब कुछ जानता था। बोला—देखो झीबी भाई, यह सब कहने से हम न मानेंगे। याद है तुमको, इसी पटवारी ने तुमको मारा था। बात जरा-सी थी न, एक दिन बदन में तेल मलने न गये थे—अपनी बेगैरती भी भूल गये।

झीबी कतराकर निकल जाना चाहता था, बोला—बेकार बात करने का कोई फायदा नहीं।

साँवल ने कहा—यही तो कहता हूँ। ऐसी बात क्यों करते हो जिससे तुम्हारा कोई फायदा नहीं है।

लेकिन साँवल इस बात को भूल गया था कि फागू का बाप गाँव का बराहल था और इसी ज़माने में बहुत सा खेत झीबी से लेकर ज़मींदार ने फागू के बाप को दे दिया था। इससे उसका दिल अब तक साफ नहीं हुआ था, जो बात बहुत पुरानी हो चुकी थी। झीबी ने कहा—सुनो साँवल, तुम बीच में न पड़ो। फागू के बाप ने बड़ा जुलुम ढाया है हम पर..."यह बात बड़ी पुरानी हो चुकी। उसे भूल जाओ, या कहो तो फागू से कहकर तुम्हारा खेत दिलवा दूँ—लेकिन यह तो सोचो खेत तुमसे बाढ़ू चाचा ने तो लिया नहीं। लिया तो था जमींदार ही ने। कसूर किसका है?"

मगर झीबी पर इन बातों का असर क्या होता। उसने कहा—"साँवल मैं तुमसे बहस करने नहीं आया हूँ।"

"सब ठीक! पर यह तो बताओ उस दिन तुम प्यादे क्यों लाये थे। उनको क्यों बताया था कि साँवल फागू के घर पर है। मेरे बाप ने तो तुम्हारा खेत नहीं लिया था।"

झीबी खिसिया गया और उसने कहा, "मुझे बहस करने की फुर्सत नहीं।"

वह दो क़दम आगे बढ़ा, लेकिन साँवल ने उसका रास्ता रोक लिया और ज़रा तीखा होकर बोला, "सुनो झीबी भाई, तुम्हें जवाब देना होगा। किसी की राह में काँटे बिछाना अच्छा नहीं। यह तुम्हारे हक में बुरा होगा।"

झीबी जानता था कि साँवल गुस्सैल आदमी है। इसलिए वह किसी तरह बात काटकर निकल जाना चाहता था। वह खुद अच्छी तरह जानता था कि फागू के बाप पर जो इलज़ाम रख रहा था वह भी ग़लत था। वह यह भी जानता था कि गाँव में किसी ने कुछ उसका बिगाड़ा नहीं था और यह सिर्फ़ अपने फ़ायदे के लिए गाँव भर के आदमियों को नुक़सान पहुँचा रहा था और पटवारी तक ख़बर पहुँचाने के बाद गाँव के सारे लोगों से अलग-सा हो गया था। मगर अब बुरे के फंदे पर क्या था। साँवल को जवाब दिये बग़ैर चले जाना मुमकिन न था। उसने कहा—"साँवल देर हो रही है। हमें काम है। रास्ता छोड़ दो।"

अगर खुला हुआ रास्ता होता तो शायद झीबी किसी दूसरी तरफ़ से चला जाता। मगर रास्ते के लिए एकही पगडंडी थी और उसके दोनों तरफ़ ऊख के घने खेत थे, जिसमें आदमी से ज़्यादा ऊँचे ऊख लहलहा रहे थे। रास्ता बिलकुल न था। उसके कहने पर भी साँवल ने रास्ता न दिया तो झीबी ने चाहा कि उसको हटाकर चला जाय—लेकिन साँवल ने उसका हाथ पकड़ लिया। झीबी ने झटके से हाथ छुड़ा लिया और बोला—"लड़ना चाहते हो क्या?"

साँवल बोला, "हम लड़ना नहीं चाहते, लेकिन उसकी ज़रूरत पड़ी तो भाग भी न जायंगे। हम तो तुमसे यही पूछ रहे हैं कि तुमने ऐसा क्यों किया?"

झीबी को गुस्सा आ चुका था। उसने कहा, "कहा तो इसमें किसी के बाप का क्या—"

साँवल को ऐसी बातों की ताब कहाँ थी। वह देर से अपने गुस्से को दबाये हुए था। गाली झीबी के मुँह से निकली ही थी कि पानी से भरा हुआ लोटा उसने झीबी के सरपर दे मारा। झीबी के सर से खून और लोटे से पानी बहने लगा, और वह चकरा कर गिर गया।

बात और ज़्यादा बढ़ गई, शिकार खुद ही फँस गया, पुलिस आई और साँवल को गिरफ़्तार कर लिया गया। लेकिन सवाल यह था कि गवाह कहाँ से आये? मुक़दमे में दूसरे लोग कैसे फँसें? मगर रुपया हो तो यह भी मुशकिल नहीं। रुपया ख़र्च करनेवाला होना चाहिये, काम कौन सा है जो नहीं होता। रुपया हो तो ईश्वर भी ख़ुश हो सकता है। मंदिर और धर्मशाले बनाकर और किसी को फँसा लेना क्या मुशकिल है। जमींदार ने फ़ैसला कर लिया कि चाहे गाँव उजड़ जाय लेकिन सर उठाने वालों का सर कुचला ज़रूर जाना चाहिए।

एक तरफ साँवल का मुक़दमा खुला, दूसरी तरफ दिल्लू, फागू और दूसरों के ख़िलाफ धड़ाधड़ रिपोर्ट होने लगी। यहाँ तक कि जब पूरा ग़ल्ला खलिहान में आ गया तो उन सब पर जिन पर किसी तरह का शक था दफ़ा १४४ की नोटिस तामील हो गई। सब के सब डर से कांप रहे थे। ज़मींदारी थी ज़मींदार की और राज था पटवारी का।

आख़िर इस तरह कब तक चलता। लोग उकता गये, ग़रीबों के पास इतना रुपया कहाँ से आये जो मुक़दमा लड़ें। इसलिये चुप रहना ही बेहतर। लेकिन चुप

रहें तो कब तक। दिल्लू ने एक दिन फागू को बुलाकर कहा, "कुछ करना चाहिये। अगर चुप रहे तो मतलब यह कि पटवारीजी मनमानी करते जायँगे। अब जो भी हो।"

फागू और दूसरे लोगों ने भी राय कर साथ दिया और बात तय पाई कि जब तक खलिहान उठे दूसरे गाँवों में जलसे किये जायँ। और इसी पर अमल भी किया गया। जब आसपास के सारे गाँवों में आन्दोलन चल पड़ा तो दूसरे लोग भी जिन पर इसका असर पड़ सकता था, सर तोड़कर बैठे और सरपर आने वाली आफत से बचने की तरकीबें सोचने लगे।

बात बढ़ती गई और उसका असर भी बढ़ता गया। रामधनी भी एक किसान था जो इन लोगों के साथ पूरे जोश के साथ काम कर रहा था। जब साँवल की ज़मानत नहीं हुई तो वह कुछ बोल गया और सबके साथ बदमाश की फ़ेहरिस्त में उसका नाम भी आ गया, और निशाना बन गया।

एक दिन सुबह होने से पहले ही वह किसी काम से दूसरे गाँव जा रहा था। बीच में रास्ता था और दोनों तरफ़ ऊख का खेत। हर तरफ़ सन्नाटा और अँधेरा था। वह बहुत दूर जा भी न सका था कि पीछे से किसी ने उसके सर पर लाठी मारी। वह गिर पड़ा, फिर एक दो चार पाँच दस—वह अधमरा हो गया। सारे गाँव में इससे खलबली मच गई।

पुलिस आई, बहुत से लोग गिरफ़्तार हुए। गिरफ़्तार होने वालों में दिल्लू, फागू, जुम्मन, हरखू सभी थे। ये सब के सब थाने सिधारे। उन पर खेत काटने, खलिहान लूटने और रामधनी पर हमला करने का इलज़ाम था। सबका जेल जाना यक़ीनी, पटवारी ख़ुश था। सारे बदमाश पकड़े जा चुके थे—वह अपनी कामयाबी पर ख़ुश था, लेकिन आइन्दा क्या होगा? यह सवाल एक भूत की तरह उसके दिमाग़ में पैदा हो जाया करता था।

× × × ×

खलिहान भरता जा रहा था, लेकिन अब खलिहान में किसानों से ज़्यादा पुलिस के सिपाही नज़र आते थे। उन्हें खलिहान की हिफ़ाज़त करनी थी। किसान सारे बेईमान हो चुके थे और उसकी सज़ा भी पा चुके थे। मगर ये बूढ़े और बच्चे जो गाँव में बच रहे थे वह भी तो आख़िर किसान ही थे।

पूस का महीना था, कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। खलिहान की हिफ़ाज़त करनेवाले सिपाही अपने गर्म कोटों के बावजूद ठंडक से अकड़े जा रहे थे। सब ने मिलकर बड़ा-सा अलाव जलाया था, आग ताप रहे थे, और कहानियाँ कही जा रही थीं। अलाव बुझने लगा। एक सिपाही उठते हुए बोला,—"एक दिन सारी चीज़ इसी तरह ख़त्म हो जायगी।"

दूसरा बोला—"साले पटवारी का खुचड़। ओह, लाइन में कैसे आराम से रहते इस वक़्त।"

उसके उठते ही दूसरे सिपाही भी उठकर झोपड़े में चले गये और अलाव बुझ गया। खलिहान में सिपाहियों का शोर गाँव के सन्नाटे में मिल गया—!

उर्दू

इंसानियत का कोरस

[जोश मलीहाबादी]

बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो

बहादुरो ! वह खम हुईं बलंदियाँ बढ़े चलो
पये सलाम[1] झुक चला वह आसमाँ[2] बढ़े चलो,
फ़लक के उठ खड़े हुए वह पासबाँ[3] बढ़े चलो,
यह माह[4] है वह महर[5] है यह कहकशाँ[6] बढ़े चलो
लिये हुए ज़मीन को कशाँ कशाँ बढ़े चलो

बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो

तुम्हारे ज़ेरे इक़्तदार[7] कारे महर-ओ-माह है,
तुम्हारी ज़ात अस्ल में उलूहियत[8] पनाह है
तुम्हारा दिल रसूल है, तुम्हारा ज़ेहन अल्लाह[9] है,
बस इक नफ़स[11] की देर है, बस इक क़दम की राह है,
सिताराबारों[12] महफ़ुकानों[13] ख़ुरफ़िशाँ बढ़े चलो

बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो

अभी तो दस्ते आदमी में तीर है कमान है
अभी तो तिफ़्लके[15] हयात नौ बरस की जान है
ज़मीन अभी लड़ाइयों शरारतों की कान है,
मिज़ाज छुई मुई है, दिमाग़ धान पान है
नहीं हुई है ज़िन्दगी अभी जवाँ बढ़े चलो

१—सलाम करने के लिए
२—आकाश
३—पहरेदार
४—चाँद
५—सूरज
६—इन्द्र धनुष
७—अधीन
८—परमात्मा
९—परमात्मा
१०—परमात्मा
११—साँस
१२—सितारे फेंकते हुए
१३—चाँद फेंकते हुए
१४—सूरज फेंकते हुए
१५—नन्हीं ज़िन्दगी

बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो

अभी निशां मिला नहीं है मंज़िले नजात का
अभी तो दिन के वलवले[16] में वसवसा[17] है रात का
अभी लिया नहीं है दिल ने जायज़ा[18] हयात[19] का
अभी पता चला नहीं है सर्रे कायनात[20] का
अभी नज़र नहीं हुई है राज़दां[21] बढ़े चलो—

बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो

वह अर्श[22] है यह फ़र्श है, वह वहम यह ख़्याल है
न वह कशादादाम[23] है न यह निहुफ़्ता[24] जाल है
न वह बुरा शगून है न यह ख़राब फ़ाल है
तुम्हारे रास्ते में आय किस की यह मजाल है
ज़मीं ही संगे राह[25] है न आसमाँ बढ़े चलो

बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो

अभी यहां न हूर[26] है न खुल्द[27] बे अदील[28] है
न तायरों[29] के चहचहों में बाँग जिब्रईल है
न सीमो[30] ज़र के क़स्र[31] हैं न मोतियों की झील है
न औजे आबो रंग है न मौजे सिलसबील[32] है
हनोज़[33] दहर[34] का लक़ब है 'ख़ाकदाँ[35]' बढ़े चलो

बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो

१६—चहल पहल १७—सन्देह १८—हिसाब किताब
१९—ज़िन्दगी २०—सृष्टि का उद्गम २१—रहस्य से भरी
२२—आसमान, आठवाँ स्वर्ग २३—खुला हुआ जाल २४—बंद जाल
२५—रोड़ा २६—परी २७—स्वर्ग
२८—अद्वितीय २९—चिड़ियों ३०—धन संपत्ति
३१—पहाड़ ३२—बहती हुई धारा ३३—अभी तक
३४—युग ३५—ग़रीबी

हर एक आहे सर्द में सुरूर का फ़साना है
हर एक अब्रे[३६] दर्द में तरब[३७] का शामियाना है
हर एक बर्गे ज़र्द[३८] में बहार का ख़ज़ाना है
हर एक जेबे चाक में रफ़ू का कारख़ाना है
हर एक संगे राह में है नरदबाँ[३९] बढ़े चलो
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो
तुम्हारी जुस्तजू[४०] में हैं रवाँ जहाँपनाहियाँ[४१]
फ़लक की शहर[४२] यारियाँ, ज़मीं की कुजकुलाहियाँ[४३]
तुम और घिसाते बेदिली पे दिलशिकन जमाहियाँ?
हर एक क़दम पे हैं तो हों तबाहियाँ सियाहियाँ
तबाहियों सियाहियों के दरमियाँ बढ़े चलो
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो
ज़मीं के तूलो-अर्ज़[४४] पर हैं ग़म की क़हमानियाँ[४५]
छिड़ी हुई हैं दह में बवाओं[४६] की कहानियाँ
अलहवाम खुल रही हैं ज़ीस्त की कमानियाँ[४७]
हनोज़ जिन्दगी पे हैं अजल[४८] की हुक्मरानियाँ
हयात अभी नहीं हुई है जाविदाँ[४९] बढ़े चलो—
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो
अभी तो ख़ाक की कली चिटक के मुसकराई है
ज़मीं पे लैलये ख़ुदी अभी तो मुसकराई है
अभी तो फ़र्शे ख़्वाब पर हयात रसमसाई है
अभी तो इस ज़मीन पर 'ख़ुदा' ही की ख़ुदाई है
अभी तो तुम पे अब्दियत[५०] का है गुमाँ बढ़े चलो।

३६—दर्द के बादल | ३७—ख़ुशी | ३८—पतझड़
३९—सीढ़ी | ४०—खोज | ४१—बादशाहतें
४२—बादशाहतें | ४३—बादशाहतें | ४४—विस्तार, लंबाई चौड़ाई
४५—निष्ठुर राज | ४६—संताप
४७—ज़िन्दगी की चूलें ढीली हो रही हैं। ४८—मौत | ४९—चिरंजीवी, अमर
५०—ग़ुलामी

बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो
गुलों में और ख़ार में खिज़ां में और बहार में
फ़िज़ाये लाला रंग में हवाये मुश्कबार में
ख़रोशे बक़्र्-ओ-रअद[51] में, सरोदे आबशार[52] में
अजल[53] के दिन से आज तक बशर[54] के इंतज़ार में
खड़ी हैं कायनात की जवानियाँ बढ़े चलो।
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो
अभी तो क़स्र ज़िन्दगी की नींव है हबाब पर
न सिक्का सतहे ख़ाक पर न मुहर मौजेआब पर
न हल्क़ा पाये वक़्त में, न क़ब्ज़ा है शबाब पर
न पाँव माहताब पर, न हाथ आफ़ताब पर
अभी तो आसमान पर है कहकशाँ बढ़े चलो।
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो
क़रीब ख़त्म रात है रवाँ दवाँ सियाहियाँ
सफ़ीना[55] हाय रंगो बू के खुल रहे हैं बादबाँ[56]
फ़लक धुला धुला सा है ज़मीन है धुँआ धुँआ
उफ़क़[57] की नर्म साँवली सियाहियों के दरमियाँ
मचल रही हैं ज़रनिगार[58] सुर्ख़ियाँ बढ़े चलो
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
बढ़े चलो, बढ़े चलो, रवाँ दवाँ बढ़े चलो,
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो
बढ़े चलो बढ़े चलो रवा दवाँ बढ़े चलो।
रवाँ दवाँ बढ़े चलो रवाँ दवाँ बढ़े चलो॥

५१—बादल की गरज बिजली की तड़प
५२—झरने का संगीत
५३—सृष्टि के दिन
५४—आदमी
५५—किश्ती
५६—पाल
५७—क्षितिज
५८—सुनहली

ज़ंजीर

(नज़र मोहम्मद राशिद)

गोशये ज़ंजीर[१] में
इक नई जुम्बिश[२] हवैदा[*] हो चली।
संगे ख़ारा[३] ही सही, ख़ारे मुग़ीलाँ[४] ही सही;
दुश्मने जाँ, दुश्मने जाँ ही सही;
"दोस्त" से दस्तोगरेबाँ[५] ही सही;—
ये भी तो शबनम नहीं,
ये भी तो मख़मल नहीं, दीबा[६] नहीं, रेशम नहीं!

हर जगह फिर सीनए नख़्चीर[७] में
इक नया अरमाँ, नई उम्मीद पैदा हो चली।
हज्लये सीमाँ[८] से तू भी पीलये रेशम[९] निकल,
वह हसीं और दूरउफ़तादा[१०] फ़िरंगी औरतें,
तूने जिनके हुस्न रोज़ अफ़ज़ूँ[११] की ज़ीनत[१२] के लिए,
सालहा बे दस्तोपा[१३] होकर बुने हैं तारहाये सीमोज़र[१४],
उनके मर्दों के लिए भी आज इक संगीन जाल
हो सके तो अपने पैकर[१५] से निकाल।

शुक्र है दुम्बालये[१६] ज़ंजीर में
इक नई जुम्बिश, नई लग़्ज़िश[१७] हवैदा हो चली।
कोहसारों[१८], रेगज़ारों[१९] से निदा[२०] आने लगी—
"ज़ुल्म परवरदा[२१] ग़ुलामो भाग जावो
पर्दए शबगीर[२२] में अपने सलासिल[२३] तोड़कर।
चार सू छाए हुए ज़ुल्मात[२४] को अब चीर जाओ,
और इस हंगामे बादावर्द[२५] को
हीलये शबख़ूँ[२६] बनावो!"

१—शृङ्खला की कुंडली (भावार्थ-बेड़ी); २—गति; ३—ग्रेनाइट (एक प्रकार का कड़ा पत्थर); ४—बबूल का काँटा; ५—हाथापाई की लड़ाई; ६—एक प्रकार का रेशम; ७—शिकार (भावार्थ—संत्रस्त एवं परतंत्र); ८—रेशम का कोआ; ९—रेशम का कीड़ा; १०—सुदूर स्थित; ११—दिन की चमक को भी बढ़ाने वाला और रात दिन बढ़नेवाला सौंदर्य; १२—शृङ्गार; १३—पंगु और विवश; १४—सोने चाँदी के तार; १५—शरीर; १६—ज़ंजीर का अंतिम छोर; १७—कम्पन; १८—पर्वतों; १९—रेगिस्तानों; २०—पुकार; २१—अत्याचार में पोषित; २२—रात के तीसरे पहर के अंधकार के पर्दे में; २३—ज़ंजीर या बेड़ियाँ; २४—घोर अंधकार (ध्वन्यार्थ अत्याचार) २५—दैवी सुयोग तथा सुअवसर; २६—रात में छापा मारने के लिए बहाना (भावार्थ—मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करने का सुअवसर)। * प्रकट।

यह जंग है जंगे आज़ादी

[मख़्दूम मुहीउद्दीन]

यह जंग है जंगे आज़ादी   आज़ादी के परचम के तले
हम हिन्द के रहनेवालों की   महकूमों की मजबूरों की
आज़ादी के मतवालों की   दहक़ानों की मज़दूरों की

यह जंग है जंगे आज़ादी
आज़ादी के परचम के तले

सारा संसार हमारा है,   पूरब पच्छिम उत्तर दक्खिन
हम अफ़रंगी हम अमरीकी,   हम चीनी जांबाज़ाने वतन
हम सुर्ख़ सिपाही ज़ुल्म शिकन,   आहन पैकर फ़ौलाद बदन

यह जंग है जंगे आज़ादी
आज़ादी के परचम के तले

वह जंग ही क्या वह अमन ही क्या,   जिसमें दुश्मन ताराज न हो
वह दुनिया दुनिया क्या होगी,   जिस दुनिया में स्वराज न हो
वह आज़ादी आज़ादी क्या,   जिसमें मज़दूर का राज न हो

यह जंग है जंगे आज़ादी
आज़ादी के परचम के तले

लो सुर्ख़ सवेरा आता है,   आज़ादी का आज़ादी का
गुलनार तराना गाता है,   आज़ादी का आज़ादी का
देखो परचम लहराता है,   आज़ादी का आज़ादी का

यह जंग है जंगे आज़ादी
आज़ादी के परचम के तले

हम हिन्द के रहनेवालों की   महकूमों की मज़दूरों की
आज़ादी के मतवालों की   दहक़ानों की मज़दूरों की
यह जंग है जंगे आज़ादी   आज़ादी के परचम के तले

आवारा

[मजाज़]

शहर की रात और मैं नाशाद[1] नाकारा फिरूँ
जगमगाती जागती सड़कों पे आवारा फिरूँ
ग़ैर की बस्ती है कब तक दर बदर मारा फिरूँ
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

---

1. खिन्न और निकम्मा।

यह रुपहली छावँ यह आकाश पर तारों का जाल,
जैसे सूफ़ी का तसव्वुर जैसे आशिक़ का ख़याल

आह लेकिन कौन जाने कौन समझे जी का हाल
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

झलमलाते कुमकुमों की राह में ज़ंजीर-सी
रात के हाथों में दिन की मोहनी तस्वीर सी

मेरी छाती पर मगर जलती हुई शमशीर-सी
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

रात हँस-हँसकर यह कहती है कि मैख़ाने में चल
फिर किसी शहनाज़ लालारुख़ के काशाने में चल

यह नहीं मुमकिन तो फिर ऐ दोस्त वीराने में चल
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

हर तरफ बिखरी हुई रंगीनियाँ रानाइयाँ
हर क़दम पर इशरतें लेती हुई अँगड़ाइयाँ
बढ़ रही हैं गोद फैलाये हुए रुसवाइयाँ
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

फिर वह टूटा इक सितारा फिर वह छूटी फुलझड़ी
जाने किसकी गोद में आई यह मोती की लड़ी

हूक सी सीने से उट्ठी चोट सी दिलपर पड़ी
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

इक महल की आड़ से निकला वह पीला माहताब
जैसे मुल्ला का अमामा जैसे बनिये की किताब

जैसे मुफ़लिस की जवानी जैसे बेवा का शबाब
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

रास्ते में रुक के दम ले लूँ मेरी आदत नहीं
लौटकर वापस चला जाऊँ मेरी फ़ितरत नहीं

और कोई हमनवा मिल जाय यह क़िस्मत नहीं
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

मुंतज़िर है एक तूफ़ाने बला मेरे लिए,
अब भी जाने कितने दरवाज़े हैं वाँ मेरे लिए

१ कल्पना। २ सुन्दरी। ३ स्थान। ४ सौन्दर्य। ५ भोग। ६ प्रकृति। ७ सङ्गिनी।

इक मुसीबत है मेरा अहदे वफ़ा मेरे लिए
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

जी में ठानी है कि अब अहदे वफ़ा भी तोड़ दूँ
उनको पा सकता हूँ मैं यह आसरा भी छोड़ दूँ

हाँ मुनासिब है यह ज़ंजीरे हवा भी तोड़ दूँ
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

दिल में इक शोला भड़क उट्ठा है आख़िर क्या करूँ,
मेरा पैमाना छलक उट्ठा है आख़िर क्या करूँ

ज़ख़्म सीने का महक उट्ठा है आख़िर क्या करूँ
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

जी में आता है ये मुर्दा चाँद तारे नोच लूँ,
इस किनारे नोच लूँ और उस किनारे नोच लूँ

एक दो का ज़िक्र क्या सारे के सारे नोच लूँ
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

ऐश दौलत के मज़ाहिर हैं नज़र के सामने,
सैकड़ों सुलतान जाबिर हैं नज़र के सामने

सैकड़ों चंगेज़ नादिर हैं नज़र के सामने
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

लेके इक चंगेज़ के हाथों से ख़ंजर तोड़ दूँ,
ताज पर उसके दमकता है जो पत्थर तोड़ दूँ

कोई तोड़े या न तोड़े मैं ही बढ़कर तोड़ दूँ
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

बढ़ के इस इंदर सभा का साज़ो सामाँ फूँक दूँ
इसका गुलशन फूँक दूँ उसका शबिस्ताँ[1] फूँक दूँ

तख़्ते सुलताँ क्या है सारा क़स्रे सुलताँ फूँक दूँ
ऐ ग़मे दिल क्या करूँ, ऐ वहशते दिल क्या करूँ

---

1 शयनकक्ष ।

धोबी

[उमाशंकर जोशी]

विज्ञानशास्त्री और कवि, ये दो टहलते-टहलते सागर के किनारे जा पहुँचे, धोबी के पास। धोबी, जो कपड़े फींच रहा था, समझ नहीं सका कि ये कौन महान हैं।

कवि बोले : कपड़े धोने से उड़नेवाले जल-सीकरों से बने इन्द्रधनुष पर मेरा हृदय नाच रहा है! कहीं, सौ वर्ष पहले जन्म हुआ होता, तो वर्ड्स्वर्थ का पद मुझे मिलता।

विज्ञानशास्त्री बोले : यह धोबी न्यूटन के पहले तो नहीं हुआ फिर भी यह बात तो कोई भी समझ सकता है कि—प्रकाश ही पानी की बूँदों के आरपार जाते हुए, सात रंगों में बिखर पड़ता है।

कवि ने कहा : धोबी यहाँ क्यों न आये? फिर तो उसने 'रामा' कहकर हाँक दी और पूछा, 'अरे, उड़ते हुए जल के सीकरों से, यह जो सात रंगों वाला धनुष तेरे सामने लहराया करता है, उमंग से भरकर क्या कभी तूने निरखा है?'

बेचारा धोबी मूढ़ होकर, चुपचाप इस महान जन को निहारते निहारते अपने समान क्षुद्र से कही हुई बातें समझने की जैसे कोशिश करने लगा।

विज्ञानशास्त्री ने कहा : सूर्य की ओर पीठ करके ज़रा बगल से कपड़े धो और छींटों में जो अनोखे सात रंग होते हैं उन्हें देख!

धोबी ने अर्ज़ किया : माई-बाप, मैं अगर ऐसी चाल चलूँ तो घर पर बेचारे बाल-बच्चे मर ही जाँय।

कवि बोले : सुन्दरता की पहिचान के लिए एकाध घड़ी तो रंगों की लीला देख लिया कर।

धोबी ने अर्ज़ किया : मैं यह सब निहारूँ तो भला यह अम्बार कब धोऊँ?

इसके बाद वह कपड़े फींचने लगा। अलसाये हुए और उन छींटों से बचने के लिए विज्ञानशास्त्री जी वहां से खिसक कर मर्मपूर्वक हँसे और बोले : देखो, बेचारा न्यूटन व्यर्थ ही जिया। इसके लिए तो आविष्कार हुआ न हुआ सब बराबर है।

कवि हँसे, बोले : (इन्द्रधनुष की रंगीन तरंगों पर) इसका हृदय नहीं नाचता; ओह, वर्ड्स्वर्थ का जीवन व्यर्थ हो गया।

(१९३३ : गंगोत्री से)

—————

[बँगला उच्चारण को निकटतम लाने के लिए अकार को हल्की ओकार ध्वनि से पढ़ना चाहिये। स सर्वदा श, व सर्वदा ब और क्ष सर्वदा क्ख पढ़ा जाता है। संयुक्त व्यंजनान्त शब्दों का उच्चारण प्रथम व्यंजन को द्वित्व करके किया जाता है, जैसे शून्य की जगह पर शून्न।—संपादक]

जन्मदिन १९४०

[रवीन्द्रनाथ ठाकुर]

दामामा ओइ बाजे
दिन बदलेर पाला एल
झोड़ो युगेर माझे।
शुरू होबे निर्मम एक नूतन अध्याय
नइले केन एत अपव्यय।
आशछे नेमे निष्ठुर अन्याय
अन्यायेरे टेने आने अन्यायेरि भूत
भविष्यतेर दूत
कृपनतार पाथर-ठेला विषम वन्या धारा
लोप करे' देय निः स्व माटिर निष्फला चेहारा।
जमे-ओठा मृत बालिर स्तर
भासिये निये भर्ति करे लुप्तिर गह्वर ;
पलि माटिर घटाय अवकाश
मरुके से मेरे मेरेइ गजिये तोले घास।
दुबला खेतेर पुराना सब पुनरुक्ति जत
अर्थहारा हय से बोबार मत।
अन्तरेते मृत
बाइरे तबू मरे ना जे अन्न घरे करेछे सञ्चित
ओदेर घिरे छुटे आसे अपव्ययेर झड़
भाँडारे झाँप भेंगे फेले, चाले ओड़ाय खर।
अपघातेर धाक्का एशे पड़े ओदेर घाड़े
जागाय हाड़े हाड़े।
हठात् अपमृत्युर संकेते
नूतन फसल चासेर तरे आनबे नूतन खेते।
शेष परीक्षा घटाबे दुर्दैवे
जीर्ण युगेर सञ्चयेते कि जाबे कि रइबे।
पालिश-करा जीर्णता के चिनूते हबे आजि
दामामा ताइ ओइ उठेछे बाजि॥

जन्मदिन

दमामा वह बज रहा है
परिवर्तन का अवसर आया
तूफानी युग में
एक नूतन अध्याय शुरू होगा
नहीं तो इतना अपव्यय क्यों है,
निष्ठुर अन्याय अवतरित हो रहा है
अन्याय ही अन्याय को,
भविष्यत् के दूत को, खींच कर ला रहा है।
कृपणता के पत्थर को ठेलनेवाली उग्र बाढ़
ऊसर मट्टी के फलहीन स्वरूप का लोप कर रही है।
जमी हुई मृत मट्टी के स्तर को
अपने साथ बहाकर लुप्ति के गह्वर को भरती है।
नई मिट्टी आकर उसका स्थान लेती है
वह मरुभूमि को पाट पाट कर उस पर घास उगाती है
अशक्त खेत की जो पुरानी कमज़ोरी है
वह सब गूँगे के समान निःशब्द हो जाती है।
अभ्यन्तर में वह मृत है
फिर भी बाहर से नहीं मरता जिसने घर में अन्न संचित किया है
अपव्यय का तूफ़ान आकर उसे लगता है
भाण्डार का द्वार तोड़कर खोलता है, छप्पर उड़ा ले जाता है
अपघात का धक्का उसके शरीर को आकर लगता है
हड्डी-हड्डी को हिला देता है।
हठात् अपमृत्यु के संकेत पर
नई फ़सल नये खेत में उपजेगी।
शेष परीक्षा दुर्दैव निर्णय करेगा
(कि) जीर्ण युग के संचय में क्या जायगा और क्या रहेगा ;
(पर) क़लईदार जीर्णता को आज पहचानना होगा
इसी से दमामा वह बज उठा है।

प्रतिवाद

[सोमेनचन्द की स्मृति में]

[बुद्धदेव बसु]

करेछि शपथ
कत दिन मने-मने
घृणारे करिब घृणा।
तीव्र तार ताप
लक्ष्येरे स्पर्शे ना, शुधू आपनारि अन्तर-कटाहे
धूम्र-नील अन्ध दाहे
फेनिल सर्पिल
विष वाष्प उथलाय।
तार चेये भालो क्षमा, तार चेये उपेक्षा धागालो
ए-कथा बूझेछि मने-मने।
घृण्यजन शुधू घृण्य नय
अति तुच्छ से जे,
अत्यन्त अवज्ञा छाड़ा आर-किछू प्राप्य नेइ तार।
घृणार उत्तरे घृणा बर्बरेर नीति,
आमि यदि घृणा करि, आमिओ जे संगी हबो तबे
घृणितेर क्लेदलिप्त कलङ्की शय्यार।
ताइ आमि निःशब्दे सयेछि
मूढ़तार अत्याचार, हीनतार प्रबल आक्रोश।
जे वीभत्स इतरता चले बङ्गभूमे
समालोचनार छद्मवेशे,
जे-पशुत्व जीवनेर अन्तःपुर लक्ष्य करे हाने
पूतिगन्ध रसिकता अश्लील उल्लासे
तारो जघन्यता
अनायासे उपेक्षा करेछि।
एमन कि, जारा
ए-कुत्सित रङ्गालये उत्साही दर्शक
ट्रामे किंवा बास-ए देखा ह' ले
धाड़ नेड़े भद्र हेसे बलेछि तादेरो
'की खबर? आछेन तो भालो?'
बहु दुःख स' ये, बहु युद्ध क' रे

अन्तरे बिलीन क' रे असंख्य आक्षेप
बूझेछि घृणार चेये घृण्य किछु नय,
घृणितेर उपेक्षा कराइ
मेनेछि मनुष्य धर्म ।
किन्तु आज विश्वग्रासी वर्व्वरवाहिनी
त्याग क'रे भद्रतार शेष स्वच्छ आवरनटुकु
छिन्न क' रे भण्डामिर भव्य वेश
भूले गिये लोकलज्जा-साधुतार अन्तिम आश्रय—
चले दले-दले
प्रलयेर कराल कल्लोले ।
जत क्रूर, ततइ से मूढ़,
जत दम्भ तत हिंसा तार,
आसुरिक तेजे स्फीत हत्यार पिपासा
उलङ्ग उद्धत ।
नारी हत्या शिशु हत्या भ्रूण हत्या क' रे
तृप्ति नेइ तार,
जा-किछु सुसभ्य शान्त जा-किछु सुन्दर,
ए-जीवने जा-किछु चरम मूल्यवान
तारि 'परे प्रचण्ड आक्रोशे
दाँते दाँत घषे
राजपथे स्तूपीकृत ग्रन्थावली दिये
साजाये नारकी चिता सभ्यतार शवदाह करे,
ध्वंस करे विद्यालय, विद्यार्थीर रक्ते करे स्नान ।
जाँरा प्रातः स्मरणीय, जाँरा महाप्राण,
कवि जाँरा शिल्पी जाँरा ज्ञानी जाँरा,
अराजक अंधकारे एकमात्र आलोर इशारा
अत्याचारे अपमाने निर्वासने
रक्त चक्षु शासने त्रासने
ताँदेर विनाश परे पैशाचिक व्रत ।
रयेछे उद्यत
रक्तलोभी सुतीक्ष्ण छुरिका—
जारा चाय शान्ति, स्थिति, मुक्तिर तपस्या जारा करे
तादेर हृत्पिण्ड 'परे
जे कोनो मुहूर्ते विद्ध हबे
क्षिप्र कुक्कुरेर
विषाक्त दाँतेर मतो ।

आज एइ क्रान्तिकाले निजेरे शुधाइ फिरे-फिरे—
क्षमा ? एरो क्षमा आछे ? ए उन्मत्त हनन वृत्तिरे
नीरवे सहिते पारे एत बड़ मानव महिमा
जानि ना संभव किना।
एइ शुधू जानि
जारा मूछे दिते चाय से अमृतवाणी
जार अङ्गीकार
मानुषेर चिरंतन उत्तराधिकार;
उद्दीप्त तरुण प्राणे
घातकेर अस्त्र जारा हाने
मानुषेर जे-मूल्य परम
तारे पदाघात करे जादेर विक्रम
तादेर दुःसह पापे
तीव्र अभिशापे
यदि ना दहिते पारि आग्नेय घृणाय,
यदि ना झङ्कारि' ओठे धिक धिक आमार वीणाय,
तबे व्यर्थ कवि जन्म—मनुष्यत्व, ताओ तबे वृथा।
पशुत्वेर प्रतिवादे निखादे रेखाबे आज होक उद्दीपिता
आमार कविता।

प्रतिवाद

[बुद्धदेव बसु]

शपथ ली है
कितने दिन से मन ही मन,
घृणा को घृणा करूँगा।
उसका ताप तीव्र है
लक्ष्य को वह स्पर्श नहीं करता, केवल अन्तर कटाह में
धूम्र-नील अंधे दाह से
फेनिल सर्पिल
विष-वाष्प घुमड़ता रहता है।
उससे अच्छी है क्षमा, उससे पैनी है उपेक्षा
यह बात मन ही मन समझी है।
घृण्य व्यक्ति सिर्फ घृण्य ही नहीं होता
वह बहुत तुच्छ भी होता है,
अत्यंत अवज्ञा छोड़ उसे और कुछ प्राप्य नहीं
घृणा के उत्तर में घृणा बर्बर की नीति है,
अगर मैं घृणा करूँ, तो मुझे भी संगी होना पड़ेगा

घृणित की कलंकी क्लेदलिप्त शय्या का।
इसीसे मैंने मूक होकर सहा है
मूढ़ता का अत्याचार, हीनता का प्रबल आक्रोश।
जो वीभत्स कुत्सा बंगभूमि में चलती है
समालोचना के छद्मवेश में,
जो पशुत्व जीवन के अंतःपुर पर लक्ष्य कर चोट करता है
अश्लील उल्लास की दुर्गंधपूर्ण रसिकता,
उसकी जघन्यता की भी
अनायास उपेक्षा की है।
यहाँ तक कि, जो
इस कुत्सित रंगालय के उत्साही दर्शक हैं
ट्राम अथवा बस में भेंट होने पर
सिर हिलाकर भद्रतापूर्वक हंसकर उनसे भी बोला हूँ,
'क्या हालचाल है? कुशल मंगल?'
बहुत दुःख सहकर, बहुत युद्ध करके
असंख्य आक्षेपों को हृदय में विलीन कर
समझा है, घृणा से अधिक घृण्य कुछ नहीं होता,
घृणित की उपेक्षा करना ही
माना है मनुष्यधर्म।
किन्तु आज विश्वग्रासी वर्वरवाहिनी
त्यागकर भद्रता के शेष स्वच्छ आवरण को
छिन्नकर पाखंड का भव्य वेश
भूलकर लोक लज्जा-साधुता का अंतिम आश्रय—
चलती है दल दल बाँधकर
प्रलय के कराल कल्लोल में।
जितनी क्रूर उतनी ही वह मूढ़ है,
जितना दंभ उतनी ही उसमें हिंसा है
स्फीतहत्या की पिपासा के आसुरिक तेज में
नंगी और उद्धत (वह है)।
नारी हत्या शिशु हत्या भ्रूण हत्या से
उसे तृप्ति नहीं (होती),
जो कुछ भी सुसभ्य और शान्त है, जो कुछ भी सुन्दर है,
इस जीवन में जो कुछ भी चरम मूल्यवान है
उस पर वह प्रचंड आक्रोश में
दाँत से दाँत घिसती है।
राजपथ में स्तूपीकृत ग्रंथावली इकट्ठी कर

नारकीय चिता सजाकर सभ्यता का शवदाह करती है,
विद्यालय ध्वंस करती है, विद्यार्थियों के रक्त में नहाती है।
जो प्रातःस्मरणीय हैं, जो महाप्राण हैं
जो कवि हैं, शिल्पी हैं, ज्ञानी हैं,
अराजक अंधकार में प्रकाश के अकेले इशारे हैं,
अत्याचार, अपमान, निर्वासन से
रक्त-चक्षु शासन-त्रासन से
उनका विनाश इसका पैशाचिक व्रत है।
उद्यत रहती है
रक्तलोभी सुतीक्ष्ण छूरी—
जो चाहते हैं शान्ति, स्थिति, मुक्ति की तपस्या जो करते हैं
उनके हृत्पिंड में
जिस किसी मुहूर्त में बिंध जायगी
पागल कुत्ते के
विषाक्त दाँतों की तरह।
आज इस क्रान्तिकाल में बारबार मनही मन प्रश्न उठता है—
क्षमा? इसकी भी क्षमा है? इस उन्मत्त हननवृत्ति को
मूक होकर सह पाये इतनी बड़ी मानव महिमा
संभव है कि नहीं, नहीं जानता।
सिर्फ़ इतना जानता हूँ कि
जो उस अमृतवाणी का गला घोंटना चाहते हैं
जिसका अंगीकार
मनुष्य का चिरन्तन उत्तराधिकार है,
उद्दीप्त तरुण प्राण पर
घातक का अस्त्र जो चलाते हैं,
मनुष्य के सबसे प्रिय मानों पर
पदाघात करना जिनका विक्रम है
उनके दुःसह पाप को
तीव्र अभिशाप को
आग्नेय घृणा से क्षार यदि न कर पाऊँ,
यदि मेरी वीणा 'धिक् धिक्' झंकृत न कर सके,
तो (मेरा) कविजन्म व्यर्थ है—मनुष्यत्व, वह भी तब वृथा है।
पशुत्व के प्रतिवाद में निषाद और रेखाबके स्वरों में
में आज उद्दीपिता हो
मेरी कविता।

प्रतिरोध प्रतिज्ञा आमार

[सुभाष मुखोपाध्याय]

एखानेओ आज ताइ प्रतिरोध प्रतिज्ञा आमार,
गड़े तुलि दुर्जय प्राकार;
सम्मुख समरे लाल पल्टनेर खून
मुक्तिर पदाङ्क राखे।
आत्मोत्सर्गेर सेइ पवित्र आगुन
आमादेर रक्ते एसे लागे।
चट्टग्राम जाने तार भाषा।
विशाखापत्तन ज्वले!
(भाँगे खाल केटे बाजीमातेर दुराशार)
इतिहास पथ निलो फेनिल पद्मार बाँके बाँके;
बारूदे जोयार लागे, पीतांगे गोयार बान डाके—
एशियार सूर्य्य ओठे दोर्दण्ड प्रताप।
आर्तनाद करे नीचे अगनित प्रजापुञ्ज;
लुण्ठित खामार, बन्ध वाक्यालाप, भूलुन्ठित गाछेर गोलाय—
माञ्चूरिया कोरियार प्रान जाय-जाय।
मालय, बर्मार भाग्ये पराभव;
विश्वासघातक प्रभु नियेछे विदाय।
जाग्रत चल्लिश कोटि एखाने तैयार।
धारालो संगीन देबे विजयी स्वाक्षर।
गणशक्ति दिके दिके केटे देबे मृत धनतंत्रेर कबर।
जे क्लीब पालाबे, तार मुक्ति नेइ आर।
दुर्भिक्ष बेंधेछे नीड़, तबू एइ दधीचिर हाड़
ध्वंसेर बन्याके बाँधबे खुले देबे मुक्तिर दुयार—
प्रतिरोध प्रतिज्ञा आमार॥

प्रतिरोध हमारी प्रतिज्ञा है

[सुभाष मुखोपाध्याय]

यहाँ भी आज प्रतिरोध हमारी प्रतिज्ञा है,
दुर्जय प्राकार खड़ा करेंगे;
समर में सामने लाल पल्टन का खून
मुक्ति के पद-चिह्न रखता है।
आत्म बलिदान की वही पवित्र अग्नि
हमारे रक्त में आकर लग रही है।
चटगाँव उसकी भाषा जानता है!
विजगापट्टम दहकता है!
(नाक कटाकर असगुन करनेवाली हारी बाज़ी की दुराशा का)
इतिहास ने फेनिल पद्मा के मोड़ का पथ अनुसरण किया है;
बारूद भभक उठती है, पीले दुर्दम जामनियों का ज्वार हहराता है;
एशिया का सूर्य प्रचण्ड प्रताप से उठता है
उसके नीचे अगणित प्रजा आर्तनाद करती है;
खलिहान लुटे पड़े हैं, बातचीत बन्द है,
वृक्ष पर का गुलाब मिट्टी में लोट रहा है—
मंचूरिया, कोरिया म्रियमाण हैं।
मलाया, बर्मा के भाग्य में पराभव है;
विश्वासघातक शासकों ने बिस्तर बाँध लिया।
यहाँ चालीस कोटि जगे तैयार हैं।
तेज़ संगीन विजय लिखेगी।
प्रत्येक दिशा में जनशक्ति मृत धनतंत्र की कबर खोद देगी।
जो कायर भागेंगे, उनकी गति नहीं है।
दुर्भिक्ष ने घर कर लिया है, फिर भी यह दधीचि की हड्डियाँ
ध्वंस की प्रबल धारा रोक देंगी और मुक्ति का द्वार खोल देंगी—
प्रतिरोध हमारी प्रतिज्ञा है।

ए जनतार

[विष्णु दे]

कतोबार एल कतो ना दस्यु ! कतो ना बार
ठगे ठगे हल आमादेर कतो ग्राम उजाड़
कतो बुलबुलि खेल कतो धान,
कतो मा गाइल बर्गीर गान,
तबू बेंचे थाके अमर प्राण

ए जनतार—

कृषान, कुमोर, जेले, माझि, ताँति आर कामार।
अमर देशेर माटिते मानुष अजेय प्राण,
मूढ़ मृत्युर मुखे जागे नाइ कठिन गान।
दीर्घकालेर भागाजले जले
चेतनार पलि सोनालि फसले।
ए देशे बन्धु कतकाल फले।

माटिर टान

दिके दिके ज्वले, पूड़े छारखार तानाका-सान्।
हे बन्धु जेनो, आज जये खोले मुक्ति द्वार।
देशे आर दशे भेदाभेद शुधू भीरुता छार।
एइ जे प्रवीण हिन्दुस्तान
कत सभ्यता आकंठ प्राग
असिदुर्गम लक्ष्ये प्रयाण

कतो ना बार

करेछे, आजके धरेछे चेतनाखर कुठार।

इस जनता के

[विष्णु दे]

कितनी ही बार कितने लुटेरे आये ! कितनी बार
ठगी ही ठगी में हमारे कितने गाँव उजाड़ हुए
कितनी ही बुलबुलों ने कितने ही धान खा लिये
कितनी माताओं ने वर्गी *गान गाया
फिर भी यह अमर प्राण बचे रहे

इस जनता के—

किसान, कुम्हार, मछुआ, माझी, जुलाहा और लोहार
अमर देश की मिट्टी से मानव अजेय प्राण है
इसी कारण मूढ़ मृत्यु के मुख में से कठिन गान उठता है
दीर्घ काल के धाराजल के प्रवाह में
चेतना की नई मिट्टी में सुनहली फसल
हे बन्धु इस देश में कितनी ही बार फली ।

धरती का स्नेह

प्रत्येक दिशा में जल उठा है, तानाका† को राख कर रहा है ।
हे बन्धु समझो कि आज जब मुक्तिद्वार खुलेगा
देश और काल के भेदाभेद की भीरुता राख भर रह जायगी ।

यह प्रवीण हिन्दुस्तान

(जिसने) कितनी सभ्यताओं को पूरी तरह अपनाया हुआ है,
(और जो) कितनी ही बार दुर्गम असिधारा पर से होकर अपने लक्ष्य की ओर गया,
आज चेतना का कुठार तीक्ष्ण किये हुए है ।

---

* नवाब अलीवर्दी खाँ के समय में नागपुर के राजा रघूजीराव भोंसले और उनके मंत्री भास्कर पंडित ने बार बार बंगाल पर आक्रमण कर जो नगर ग्राम आदि को लूटा था तथा प्रजा पर अत्याचार किये थे वह वर्गी हंगामा नाम से विख्यात है । मराठों का अत्याचार इतना बढ़ गया था कि लोग वर्गी नाम सुनकर काँप उठते थे । अंगरेजों ने इनसे बचने के लिये कलकत्ते के चारों ओर मराठा खाई खोदी थी । अभी भी उसका चिह्न अवशिष्ट है । वर्गी नाम से उस समय इतना आतङ्क फैला था कि मातायें अपने बच्चों को सुलाने के लिये गाती थीं—छेले घुमालो पाड़ा जुड़ालो वर्गी एलो देशे ; बुलबुलिते धान खेयेछे खाजना देब किसे ।

† जापानी प्रधान मंत्री तानाका की विश्व साम्राज्य की योजना

सम्पादकीय टिप्पणी

यह प्रगति अंक का दूसरा भाग आपके हाथ में है। आज के हमारे संकट काल में नये जीवन को अगर कोई स्पंदित करा सकता है तो प्रगतिशील साहित्य ही क्योंकि वही जीवन की आशा आकांक्षाओं से प्रेरित होता है; वर्तमान अवसाद से निकालकर मुक्ति के पथ पर अगर कोई हमें आज खड़ा कर सकता है तो प्रगतिशील साहित्य ही क्योंकि वही मुक्ति के ठीक अर्थ जानता है, क्योंकि उसीका विश्वास जनता की रचना शक्ति में है, क्योंकि भावी समाज के विधाता के रूप में सामान्य जनता को वही देखता है। जनचेतना ही आज की विषमता को दूरकर सबको, 'स्वाधीन'-पराधीन जातियों को और गरीब-अमीर को, साम्य के आधार पर प्रतिष्ठित करेगी। फ़ासिस्ट-विरोधी जनयुद्ध में आज जनचेतना ही की जीतें रूस और चीन के मैदानों पर हो रही हैं और कल हमारे यहां हो सकती हैं अगर हम आज चालिस करोड़ हिन्दू मुसलिम जनता की वज्र एकता से अपने लिए राष्ट्रीय सरकार छीन लें।

इसी जनचेतना को उभारना और युद्धोन्मुख करना आज प्रगतिशील साहित्य का कर्तव्य है।

'प्रगति ही क्यों ?' स्तंभ के अंतर्गत लेखों में पूर्ण विचार साम्य का होना अच्छी बात है क्योंकि यह इस बात की घोषणा है कि प्रगतिशील साहित्य संकीर्ण विचार-धाराओं को लेकर चलना हेय मानता है और उन सब साहित्यिकों को साथ लेकर आगे बढ़ना चाहता है जो अपनी विभिन्न विचारधाराओं के होते हुए भी देश की आज़ादी और रक्षा जैसे मोटे उसूलों पर एकमत हैं।

समीक्षात्मक लेखों के साथ साथ इस बार कुछ अधिक रचनात्मक साहित्य देने की कोशिश भी हमने की है।

लेखक परिचय

उदयशंकर भट्ट

आपका क्षेत्र कविता और नाटक है । विश्वामित्र, मत्स्यगंधा, सगर विजय आपके पौराणिक नाटक हैं । दाहर, विसर्जन, मानसी आदि आपकी दूसरी पुस्तकें हैं । सनातनधर्म कालेज, लाहौर में अध्यापक हैं ।

उपेन्द्रनाथ अश्क

आप कवि, कहानी-और नाटक-कार हैं । आपने दर्जनों सामाजिक नाटक लिखे हैं । पर मुख्यतः आप कहानोकार हैं । अढ़ाई-तीन सौ कहानियां लिखी हैं । वर्तमान हिन्दी लेखकों में आपका ऊंचा स्थान है । उर्दू और हिन्दी में समान रूप से लिखते हैं । आप आजकल 'गिरती दीवारें' नामक उपन्यास लिख रहे हैं ।

उमाशंकर जोशी

आयु ३३ वर्ष । आधुनिक गुजराती साहित्यिकों में आपका ऊँचा स्थान है और प्रगतिशील साहित्यिकों का आप नेतृत्व करते हैं । आप कवि, कहानी-और नाटक-कार हैं । आपकी सभी रचनाएँ जीवन के यथार्थों से अनुप्राणित हैं । 'गंगोत्री' आपका कविता-संग्रह, 'साँपना भारा' आपका नाटक और 'श्रावणी मेलो' आपका कहानी-संग्रह है ।

गुलाब राय

आप हिन्दी के पुराने लेखक हैं । हास्य लिखने के साथ साथ रसों पर आपने एक अच्छी पुस्तक लिखी है । दार्शनिक निबंध भी आपने बहुत लिखे हैं । इस वर्ष आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दर्शन-परिषद् के सभापति मनोनीत हुए हैं । आपकी नवीनतम पुस्तक 'मेरी असफलताएं' है । आपकी अन्य पुस्तकें 'प्रसादजी की कला' और 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' हैं ।

जोश मलीहाबादी

आयु ४७ वर्ष । भारतीय क्रांति का कवि । 'शायर की रातें', 'नक्शो निगार', 'फ़िक्रोनिशात', 'शोलओ-शबनम', कविता-संग्रहों के नाम हैं । पहले दिल्ली से 'कलीम' और फिर लखनऊ से 'नया अदब' का संपादन बहुत दिन तक किया ।

बलभद्र दीक्षित "पढ़ीस"

जन्म १८९२, मृत्यु १९४२ । रचनाएँ हंस, संघर्ष, चकल्लस, विप्लव आदि में प्रकाशित हुई हैं । कहानी-संग्रह 'लामज़हब' और कविता-संग्रह 'चकलुस' प्रकाशित हो चुके हैं । प्रेमचंद-से ऊँचे व्यक्तित्व का यह आदमी उन्हीं की सी प्रतिभा भी रखता था । लखनऊ रेडियो में रहकर बहुत दिन तक देहाती प्रोग्राम का संचालन किया । गांव की मिट्टी से बल पाने वाले इस किसान लेखक की अकाल मृत्यु से हिन्दी साहित्य की बहुत बड़ी क्षति हुई है ।

मखदूम मुहीउद्दीन

मजदूरों के एक ख्यातिप्राप्त सुन्दर सरस कवि हैं। हद दर्जे की सादगी के साथ मजदूर जीवन की समस्याओं को मार्मिक ढंग से कविता का रूप देना ही अपनी रचना की एक मात्र सार्थकता समझते हैं। आजकल सिकंदराबाद (हैदराबाद) के रेलवे मज़दूरों के बीच काम करते हैं।

मजाज़

उर्दू के प्रगतिशील नौजवान कवियों में अग्रणी हैं। आपका 'आहंग' नाम का संग्रह प्रकाशित होकर समाप्त हो चुका है। लखनऊ के विशिष्ट सरस स्टाइल में आपने जागरूक भावों की गर्मी और तड़प भर दी है। उर्दू नवयुवक कवियों में सामाजिक विषमता की ट्रैजैडी को शायद आपने सबसे अधिक हृदयंगम किया है। आजकल आप बम्बई में हैं।

राशिद

नज़र मोहम्मद राशिद के बारे में अदबी दुनिया के एडीटर मीराजी ने कहा फरमाया है कि आपकी रचनाओं में पश्चिमी कलाकारों की सी विचार प्रणाली विशेष रूप से मिलती है और आधुनिक सभ्यता से विक्षिप्त, आहत, व्यक्तित्व की मानसिक यातनाओं का चित्रण आपके कला-पुष्ट मुक्तछन्दों की विशेषता होती है। उर्दू की लगभग सभी चोटी के मासिकों में आपकी रचनाओं को आदर का स्थान मिलता है।

यशपाल

षड्यन्त्रकारी के रूप में आप सक्रिय रूप से राजनीति में भाग ले चुके हैं। आपकी साहित्यिक सूझ बड़ी पैनी है। 'विप्लव' मासिक के संस्थापक और सम्पादक। 'विप्लव' के ज़रिये आपने हिन्दी साहित्य की अनुपम सेवा की है। 'पिंजरे की उड़ान' आपका कहानी संग्रह है। 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' नामक उपन्यास भी आपने लिखे हैं।

रामेश्वरशुक्ल 'अंचल'

आप उन पुराने रोमानी कवियों में हैं जिन्हें नई ज़िन्दगी की आहट मिल चुकी है और जो अब इसीलिए नये यथार्थों को अपनाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। कविताओं के अलावा आपने कहानियाँ और आलोचनात्मक निबंध भी लिखे हैं। 'मधूलिका' 'अपराजिता' 'किरण बेला' 'करील' आपकी कविता पुस्तकें हैं और 'तारे' तथा 'ये वे बहुतेरे' कहानी-संग्रह।

विष्णु दे

१९०९ में जन्म। कलकत्ता विश्वविद्यालय में शिक्षा। रिपन कालेज, कलकत्ता में अंग्रेज़ी के अध्यापक। आपके चार कविता-संग्रह निकल चुके हैं—उर्वशी ओ आर्टेमिस, चोरवाली, पूर्वलेख, बाइशे जून। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहते हैं। आधुनिक बङ्गाली कवियों में अग्रणी, सोवियत् सुहृद संघ और विशेषकर फासि-

स्ट विरोधी लेखक और कलाकार संघ के साथ, जिसके आप मंत्री हैं, करते हैं।

सत्येन्द्रनाथ मजूमदार

१८९४ में जन्म। १९१५ में लिखना शुरू किया, देशबन्धु चित्तरंजनदास के मासिक 'नारायण' में काम किया। सन् २१ के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया। सन् २२ से ४१ तक 'आनंदबाजार पत्रिका' के सम्पादक रहे: सुभाष बोस की नीति से मतभेद होने के कारण इस्तीफा दिया; सन् ४१ से 'अरणि' नामक राजनैतिक-सांस्कृतिक साप्ताहिक के संस्थापक और संपादक; सन् ४२ से 'युगांतर' के संपादक-मंडल के अध्यक्ष। दो बार राजद्रोह के अभियोग में सज़ा पा चुके हैं: सन् ३० में सविनय अवज्ञा आंदोलन के संबंध में पकड़े गये। विवेकानंद-चरित, स्तालिन, जवाहरलालेर आत्मजीवनी (अनुवाद), स्वाधीनतार दावी (ज़ब्त) नामक पुस्तकों के अलावा आपने गांधी, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ, चित्तरंजनदास, विपिनपाल प्रभृति राष्ट्र के कर्णधारों के जीवन और कार्य को लेकर आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं।

सत्येन्द्र

आपका मुख्य क्षेत्र आलोचना है। आपने साहित्य की झाँकी, गुप्तजी की कला, कुणाल, नागरिक कहानियाँ आदि पुस्तकें लिखी हैं।

सुहेल अज़ीमाबादी

पटना आपका वतन है। नवयुग के साहित्यकों में आपका अच्छा स्थान है।

सोमेनचंद

पिछले साल बाइस बरस की उम्र में ढाका का यह लाल देशभक्त जापानी दलालों की छुरी से मारा गया। बहुत नहीं लिखा है पर जो लिखा है, वह उच्चकोटि का है। अब तक कोई संकलन संभवतः नहीं प्रकाशित हुआ है।

हीरे नमुकर्जी

१९०७ में जन्म। कलकत्ता और आक्सफर्ड में शिक्षा; बैरिस्टर; १९३४–३५ में आन्ध्र विश्वविद्यालय में अध्यापक; रिपन कालेज, कलकत्ता में प्रोफेसर और कलकत्ता विश्वविद्यालय में इतिहास और राजनीति के अध्यापक; प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापकों में से एक; १९३८–३९ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के सदस्य; बहुत से विद्यार्थी सम्मेलनों विशेषकर अखिल भारतीय विद्यार्थी सम्मेलन, नागपुर, १९४० का सभापतित्व ग्रहण किया; अखिल भारतीय सोवियत् सुहृद संघ के संयुक्तमंत्री; अनेक बँगला और अँग्रेजी पत्रिकाओं में लिखते हैं, प्रगतिशील रचनाओं और आधुनिक बँगला कविता का एक संकलन और सोवियत् संघ पर एक अंग्रेजी लेख-संग्रह तैयार किया है। इंट्रोडक्शन टु सोशलिज़्म, चाइना कॉलिंग तथा भारतवर्ष ओ मार्क्सवाद के रचयिता।

---

[1](4) No evidence of a warranty under proviso (*a*) to sub-section (3) shall be admissible on behalf of the seller—

... within three days of the

TO THE PREJUDICE OF ...
on page 10.

CASES :—See notes on pages 11, 12, 13, 14, 20, 126, 1.7, 128, and 129 and notes on Section 5 of the Madras Prevention of Adulteration Act.

Penalty for **false warranty.**

5. Any person who in respect of an article of food sold by him as principal or agent gives to the purchaser a false warranty in writing shall be [2]punishable for every first offence with fine which may extend to five hundred rupees and for every subsequent offence with simple imprisonment which may extend to six months or with fine which may extend to one thousand rupees or with both.[2]

1 New sub-section (4) was inserted by Bom. xxiii of 1935, s. 5 (3).

... as provided in sub-section (2) the ... of Bombay may by ... the *Bombay Govern-* ...ied person possessing ... public analyst for the ...al area.

...e City of Bombay may ... be a public analyst for ...he City of Bombay.

... an article of food shall, ... seven days after the day ...chase, be entitled, on pay- ... the public analyst of the ...a in which the article is ...ed, of such sum as the Go- ...ay in the *Bombay Government* *Gazette* ... time notify, to have such article, analysed by such analyst and to receive from him in the form specified in Schedule A a certificate

2-2 These words were substituted for the original by Bom. xxiii of 1935, s. 6.